रसरतन

सम्पादक

डॉ. माताप्रसाद गुप्त

महाकवि जायसी द्वारा रचित प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य अपनी उत्कृष्टता और काव्यात्मक उपलब्धि के लिए प्रसिद्ध है। प्राचीन पुस्तक होने के कारण अभी तक इसमें इतने पाठ-भेद प्रचलित थे कि सही और प्रसंग-बद्ध अर्थ करने में पाठक और आलोचक--दोनों को अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

अपने इस नये रूप में यह प्रबन्ध काव्य, सुयोग्य पाठ-विज्ञान-वेत्ता डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित है। साथ ही इसमें शब्दार्थ, अर्थ, अर्थ-प्रसंग और सन्दर्भ कथाओं के बारे में हर छन्द के साथ एक विस्तृत टिप्पणी भी दी गयी है। विद्वान् पाठकों के लिए यह विवेचन निस्सन्देह ग्रन्थ की मौलिकता और उसके महत्त्व के बारे में जानकारी देने में समर्थ सिद्ध होगा।

पद्मावत

सम्पादक

डा० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर (राजस्थान)
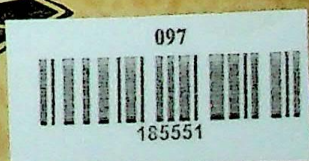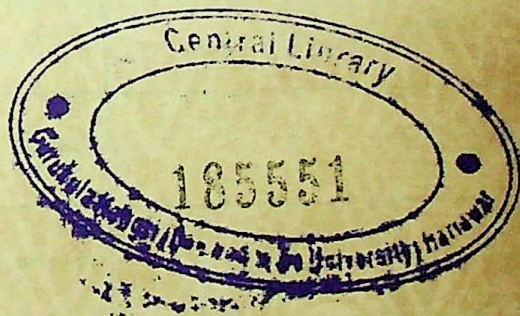
ग्रन्थ-संख्या	२३२
प्रथम संस्करण	नवम्बर, १९६३ ई०
मूल्य	१२·००
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती-भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मुद्रक	श्री० बी० पी० ठाकुर लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

इस बात से हिन्दी के सभी विद्वान् परिचित हैं कि डा० माता प्रसाद गुप्त हिन्दी के एकमात्र विद्वान् हैं, जिन्होंने महाकवि जायसी की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन करके उनका मूल वैज्ञानिक पाठ निर्धारित और सम्पादित किया। उनके द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली' का प्रकाशन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से, आज से कई वर्षों पूर्व हो चुका है। इधर जबसे हिन्दी-साहित्य की उच्चतम कथाओं में जायसी के पद्मावत का अध्ययन अनिवार्य महसूस किया जाने लगा है, हिन्दी के विद्वानों का ध्यान उसके रचना-काल, अर्थ-प्रसंग, पाठ-निर्धारण की वैज्ञानिक उपलब्धि, ग्रन्थ की मूलभूत संवेदना और कथा की ऐतिहासिक स्थिति के निर्णय की ओर आकर्षित हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य की मध्ययुगीन रचनात्मक काव्य-धाराओं में भी इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए डा० गुप्त ने प्रस्तुत ग्रन्थ के पुनर्सम्पादन के साथ ही ग्रन्थ के रचनाकाल, कथा-प्रसंग और उसकी ऐतिहासिकता के बारे में, आरम्भ में एक लम्बी भूमिका दी है। साथ ही प्रत्येक छन्द के अर्थ के साथ एक टीका भी यहाँ उपलब्ध है। अन्त में शब्द-प्रयोगों और उनकी व्युत्पत्ति के आधार पर एक लम्बी अनुक्रमणिका भी लगी हुई है, जिससे अर्थ-प्रसंग समझने में सहायता मिलती है। इन सभी दृष्टियों से पद्मावत का यह पहला महत्त्वपूर्ण संस्करण है, जिसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य के विद्वान पाठकों, आलोचकों, और विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

उत्तर प्रदेश
के
शिक्षा-मंत्री
माननीय
श्री कैलास प्रकाश जी
को
सादर और सस्नेह
समर्पित

प्रस्तावना

प्रत्येक संपादन-कार्य में अर्थ-विमर्श आवश्यक होता है, अतः जब मैंने 'जायसी-ग्रंथावली'[1] का संपादन बारह वर्ष पूर्व किया था, तब मैंने पाठ-निर्धारण के प्रसंग में उस का भी आश्रय लिया था। किन्तु अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण उस समय 'ग्रंथावली' या उसके किसी ग्रंथ की विस्तृत व्याख्या करके उसे प्रकाशित करना संभव न हो सका। उसके पश्चात् मेरे द्वारा निर्धारित पाठ को लेकर 'ग्रंथावली' अथवा 'पद्मावत' के सटीक संस्करणों का एक ताँता-सा बँध गया। यह समस्त प्रयास आर्थिक दृष्टि से किया गया था, अपवाद-स्वरूप केवल एक प्रयास था—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का[2]। उसमें न केवल व्याख्या एक शास्त्रीय पद्धति पर की गई, बल्कि मेरे द्वारा निर्धारित पाठ पर भी आवश्यक विचार किया गया, और अनेक स्थलों पर संशोधन के सुझाव दिए गए।

इन प्रयासों के होते हुए भी मुझे इस दिशा में यथेष्ट संतोष न हुआ, और मैंने एक लेख-माला प्रकाशित करनी प्रारंभ की[3], जिसको देख कर मेरे कुछ मित्रों ने राय दी कि 'पद्मावत' की अपनी व्याख्या मैं ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करूँ। प्रस्तुत कृति उसी सुझाव का परिणाम है।

यह कहना अनावश्यक होगा कि 'ग्रंथावली' के संपादन के बाद के पिछले बारह वर्षों में मैंने पाठालोचन के क्षेत्र में जो कार्य किया है, उससे उक्त क्षेत्र में मेरी ज्ञान-वृद्धि हुई है। फलतः मुझे यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि 'पद्मावत' की व्याख्या का कार्य हाथ में लेते समय एक बार पुनः रचना के समस्त पाठ पर दृष्टि डाल लूँ और जहाँ पर भी संशोधन की आवश्यकता हो, संशोधन कर लूँ। इस प्रसंग में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के सुझावों पर भी मैंने यथेष्ट विचार किया और उनके जिन संशोधनों को भी मैं स्वीकार कर सका, मैंने स्वीकार किया। अपनी संपूर्ण व्याख्या में जहाँ कहीं भी उनके संशोधनों को मैंने ग्रहण किया है, मैंने आभारपूर्वक इस तथ्य का उल्लेख कर दिया है।

---

१. प्रका० हिंदुस्तानी एकैडेमी, यू० पी०, इलाहाबाद, १९५१।

२. प्रका० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।

३. (अ) 'पद्मावत' के कुछ विचारणीय स्थल (छंद २५-४९):
परिषद्-पत्रिका अक्तूबर, १९६१

(आ) 'पद्मावत' में अर्थ की दृष्टि से विचारणीय कुछ स्थल (छंद ४९-१४८):
हिंदुस्तानी १९६१

(इ) वही (छंद १४९-१९८):
हिंदी अनुशीलन, जनवरी-मार्च, १९६१

किन्तु अनेक स्थलों पर उनके सुझाव मैं स्वीकार नहीं कर सका हूँ। ऐसे स्थलों पर मैंने अपने मतभेद के कारण भी दे दिए हैं। इन संशोधनों के परिणामस्वरूप रचना का पाठ निस्संदेह पहले की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ मिलेगा।

मेरी व्याख्या भी अन्य व्याख्याओं से एक किंचित् भिन्न पद्धति पर की हुई मिलेगी। मैंने अर्थ में मूल के आशय की पूरी-पूरी रक्षा करने का यत्न किया है और प्रायः इस प्रकार की व्याख्या की है जो कि कवि की भाषा और भाव-विषयक सूक्ष्मताओं को अनायास ही स्पष्ट करती चले। जहाँ भी अपनी ओर से कोई शब्द या शब्दावली मिलाने की आवश्यकता मुझे प्रतीत हुई है, उसे मैंने चौकोर कोष्ठकों में दिया है। जो पाठक हिंदी और उसकी बोलियों से यथेष्ट रूप से परिचित नहीं हैं, उन्हें इस व्याख्या की सहायता से मध्ययुगीन हिंदी और विशेष रूप से अवधी का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। साथ ही जायसी की शब्द-स्थापना का जो चमत्कार हैं, वह भी इसी विधि से स्पष्ट हो सकता था, इसलिए भी मुझे इसका अवलंबन करना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। अपने अन्य संपादनों में भी मैंने इसी विधि का प्रयोग किया है।

व्याख्या के अतिरिक्त मैंने आवश्यक टिप्पणियाँ दी हैं। ये टिप्पणियाँ एक तो अर्थ-प्रमाण के लिए दी गई हैं, दूसरे कवि की कला और उसके विचारों को स्पष्ट करने के लिए दी गई हैं। यही इन टिप्पणियों का मुख्य लक्ष्य रहा है, इसलिए अन्य प्रकार की सूचनाओं को देने का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

रचना के अंत में एक 'शब्दानुक्रमणी' है, जिसमें इस टिप्पणी के समस्त शब्द अपने पूर्ववती रूपों, अर्थ और स्थल-निर्देश के साथ संकलित किए गए हैं। मध्ययुगीन हिंदी के समस्त अध्येताओं और कोषकारों के लिए यह 'अनुक्रमणी' उपयोगी होनी चाहिए। किन्तु इससे भी अधिक उसकी उपयोगिता रचना के शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ निर्धारित करने में होती है। एक ही शब्द यदि रचना में एक से अधिक स्थलों पर प्रयुक्त मिलता है, तो इस प्रकार की अनुक्रमणियों से हमें उसके अर्थ और प्रयोग का निर्णय करने के लिए एक सुनिश्चित आधार मिल जाता है, जो कि प्राचीन रचनाओं के अर्थ-निर्धारण में अत्यंत मूल्यवान होता है। फलतः इस अनुक्रमणी से 'पद्मावत' के अर्थ-निर्धारण में मुझे स्वयं यथेष्ट सहायता मिली है।

भूमिका मैंने संक्षिप्त ही रक्खी है, और उसमें केवल उन्हीं विषयों पर विचार किया है जो कवि की कला और उसके जीवन-दर्शन पर निश्चित प्रकाश डालते हैं। और, मुझे विश्वास है कि जायसी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर इस भूमिका से एक सर्वथा नवीन प्रकाश पड़ेगा।

आभार-निवेदन शेष है। इस कार्य में ज्ञात और अज्ञात भाव से जिन भी टीकाओं की सहायता दिखाई पड़े, उन सब के रचयिताओं का मैं हृदय से आभारी हूँ। जहाँ तक उसमें नवीनता और मौलिकता मिले, वहीं तक और उतने ही भर के लिए मेरे इस प्रयास की सार्थकता है। और मेरा अनुमान है कि इस दृष्टि से किसी भी पाठक को असंतोष का कारण न होगा।

इसके प्रकाशन के लिए मैं भारती-भंडार, प्रयाग, और उसके व्यवस्थापक श्री वाचस्पति पाठक का आभारी हूँ, जिन्होंने कृति को अधिक-से-अधिक सुथरे ढंग से निकालने का प्रयास किया है। मैं प्रयाग से दूर था जब यह कृति वहाँ पर प्रेस में थी, इसलिए मैं कुछ इने-गिने फार्मों के ही प्रूफ़ देख सका और मुद्रण की कुछ भूलें रह गईं। अंत में एक शुद्धि-पत्र लगा दिया गया है, जिसके अनुसार पाठक कृपया अशुद्धियों को सुधार लेंगे। इस अशुद्धि-पत्र में टिप्पणी की मुद्रण-भूलों में से उन्हीं को दिया गया है जो 'शब्दानुक्रमणी' की सहायता से नहीं दूर की जा सकती हैं। 'शब्दानुक्रमणी' में टिप्पणी में आए हुए रचना के पाठ के समस्त शब्द और उनके अर्थ आ गए हैं; पाठकों को जहाँ पर भी टिप्पणी में भूल दिखाई पड़े, वे उसका निवारण कृपया 'शब्दानुक्रमणी' की सहायता से कर लेंगे। अन्तर के समस्त स्थानों पर यह 'शब्दानुक्रमणी' ही प्रमाण मानी जानी चाहिए।

जयपुर
२४.१०.६३

माताप्रसाद गुप्त

विषय-सूची

संक्षेप और संकेत

पा० स० म०—हरगोविंद त्रिकमजी सेठ कृत 'पाइअ सद्द महण्णवो'

मो० वि० — मोनियर विलियम्स कृत 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'

रचना के स्थल-निर्देश कडवकों और उनकी पंक्ति-संख्याओं के द्वारा किए गए हैं।

भूमिका

पद्मावत की रचना-तिथि

जायसी ने 'पद्मावत' में रचना-तिथि की जो पंक्तियाँ दी हैं, उनका पाठ उसकी विभिन्न प्रतियों में तीन प्रकार से मिलता है, साथ ही रचना में शेरशाह का उल्लेख शाह-ए-वक़्त के रूप में हुआ है। इन दोनों तथ्यों ने रचना की तिथि-समस्या को काफ़ी उलझा दिया है। मैं संक्षेप में इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करूँगा।

रचना के छंद १३ से १७ तक में कवि ने शेरशाह की प्रशंसा की है। उसे कवि ने 'दिल्ली सुलतानू' कहा है (१३.१) और आशीर्वाद दिया है 'करहु जुगहि जुग राज' (१३.८-९)। इससे प्रकट है कि शेरशाह के सम्बन्ध की पंक्तियाँ उसके दिल्ली के सुलतान हो जाने के बाद की हैं। मसनवी काव्य-रूप की रचनाओं में शाह-ए-वक़्त का ज़िक्र करने की परंपरा रही है, और यह उल्लेख उसी का परिणाम है। कभी कवि शेरशाह के दरबार में पहुँचा भी था, यह इन छंदों से प्रमाणित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का कोई उल्लेख उसने इनमें नहीं किया है।

पाठ की दृष्टि से ये पाँच छंद रचना की सभी प्रतियों में मिले हैं और इसलिए प्रामाणिक हैं। 'जायसी-ग्रंथावली' के संपादन में मेरे द्वारा प्रयुक्त लगभग डेढ़ दर्जन प्रतियों में से केवल एक प्रति में १५.८ से १६.७ तक अंश नहीं मिला है--और यह प्रति है पं० १, जो मुझे कॉमनवेल्थ रिलेशन्स ऑफ़िस, लन्दन के पुस्तकालय से प्राप्त हुई थी। यह अंश उसमें भूल से छूटा हुआ है। यदि इस एक छंद के आकारवाले अंश की प्रामाणिकता में संदेह किया जाए, तो भी इससे मुख्य समस्या के समाधान में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, क्योंकि शेष चार छंदों की पंक्तियाँ पर्याप्त रूप से निश्चयात्मक हैं।

रचना के छंद २४ में कवि ने उसकी रचना-तिथि दी है। इस छंद की प्रथम पाँच अर्द्धालियाँ इस प्रसंग में विचारणीय हैं। मैंने 'जायसी-ग्रन्थावली' के अपने संस्करण में इनका पाठ इस प्रकार दिया है :

सन नौ सै सैंतालिस अहै । कथा अरंभ बैन कबि कहै । (१)
सिंघल दीप पदुमिनी रानी । रतनसेन चितउर गढ़ आनी । (२)
अलाउदीं ढिल्ली सुल्तानू । राघौ चेतन कीन्ह बखानू । (३)
सुना साहि गढ़ छेंका आई । हिंदू तुरुकहि भई लराई । (४)
आदि अंत जसि कत्था अहै । लिखि भाषा चौपाई कहै । (५)

रचना की विभिन्न प्रतियों में उपर्युक्त अर्द्धाली (१) के 'नौ सै सैंतालिस' के स्थान पर पाठ 'नौ सै सत्ताइस' और 'नौ सै पैंतालिस' भी मिलते हैं। (१) के 'अहै' तथा 'कहै' फारसी लिपि में 'अहे' तथा 'कहे' से अभिन्न होंगे, और नागरी के लेखक भी 'ऐ' तथा 'ए' की मात्राओं के संबंध में असावधानी कर सकते थे, इसलिए इन 'अहै' और

'कहै' के पाठान्तरों के रूप में 'अहे' और 'कहे' पर भी विचार किया जा सकता है। 'जायसी-ग्रंथावली' के मेरे संस्करण को देखने पर ज्ञात होगा कि 'पदमावत' की एक प्रति में, जिसे उसमें प्र० १ कहा गया है, अर्द्धाली (१) के 'अहै' तथा 'कहै' के स्थान पर पाठ 'अहा' तथा 'कहा' है। इसलिए, एक पाठांतर इसे भी माना जा सकता है। पुनः फ़ारसी लिपि में 'अही' तथा 'कही' भी उसी प्रकार लिखे जाते हैं जिस प्रकार 'अहै' तथा 'कहै'; इसलिए अर्द्धाली (५) के 'अहै' तथा 'कहै' के पाठांतर के रूप में 'अही' तथा 'कही' पर भी विचार किया जा सकता है।

(१) के 'अहै'-'कहै' के स्थान पर 'अहे'-'कहे' पाठ असंभव है; 'अहे'-'कहे' भूतकाल के बहुवचन रूप हैं; 'बैन' एकवचन और बहुवचन दोनों प्रकार से संगत हो सकता है, किन्तु 'सन' एकवचन है : सन नौ सै सैंतालिस 'थे' कथन संभव नहीं है; इसलिए 'अहे'-'कहे' पाठ भी संभव नहीं है। (१) का 'अहा'-'कहा' 'जायसी-ग्रंथावली, के संपादन में प्रयुक्त लगभग डेढ़ दर्जन प्रतियों में से एक में ही मिला है और यह प्रति भी रचना की पाठ-परंपरा में आनेवाली निम्नतम प्रतियों में से है, इसलिए इस पाठ को स्वीकार करना तब तक संभव न होगा जब तक यह रचना की पाठ-परंपरा में किसी ऊँचे स्थान पर आनवाली प्रति या प्रतियों में न मिल जाय। जहाँतक (५) के 'अहै'-'कहै' के 'अही'-'कही' पाठांतर की समस्या है, उसका सीधा संबंध (१) के 'अहै'-'कहै' से है; यदि (१) के लिए 'अहै'-'कहै' पाठ मान्य है, तो (५) के लिए भी 'अहै'-'कहै' ही मान्य होगा, 'अही'-'कही' नहीं।

अब प्रश्न रहा तिथि के पाठ का : (१) के 'अहै'-'कहै' के साथ तीनों पाठ संगत हो सकत हैं : 'नौ सै सतालिस', 'नौ सै सत्ताइस' और 'नौ सै पैंतालिस'। और, तीनों पाठ रचना की एक से अधिक प्रतियों में मिलते भी हैं। रचना के मूल रूप में कौन-सा पाठ रहा होगा, इसी के निर्धारण में उलझन उपस्थित होती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि कवि शेरशाह की प्रशंसा दिल्ली के सुलतान और शाह-ए-वक़्त के रूप में करता है। सन् ९२७ हि० में शेरशाह एक साधारण जागीदार-मात्र था। शक्ति-संचय करते-करते उसने सन् ९४६ हि० में चौसा में हुमायूँ को पराजय दी और तदनन्तर उसने कन्नौज में फिर हुमायूँ को ९४७ हि० में पराजित किया। इस दूसरी पराजय के बाद हुमायूँ जब इस देश को छोड़कर भागा है, तब शेरशाह दिल्ली का सुल्तान हुआ है। इसलिए, ९२७ और ९४५ की तिथियाँ संभव नहीं हैं। एक समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि कवि ने ९२७ में कथा का आरंभ-वचन ही कहा, उसे पूरा किया शेरशाह के समय में। प्रश्न यह उठता है कि यदि कवि ने ९२७ की आरंभ-वचन की तिथि दी, तो उसने शाह-ए-वक़्त के रूप में तत्कालीन सुलतान का उल्लेख क्यों नहीं किया, और यदि रचना को पूरा 'आरंभ-वचन' के १८-२० वर्ष बाद शेरशाह के शासन-काल में किया, तो रचना की समाप्ति-तिथि का उल्लेख उसने क्यों नहीं किया ? कवि ने यह भी कहीं नहीं कहा है कि रचना को पूरा करने में उसे १८-२० वर्ष लगे। अतः, जब तक कोई अन्य उदाहरण मसनवी काव्य-रूप की रचनाओं में इसी प्रकार का न मिले, मेरी समझ में यह समाधान नहीं माना जा सकता है।

कहा गया है कि ९२७ की तिथि रचना के एक प्राचीन बँगला-रूपान्तर में भी मिली है, इसलिए भी यह अधिक प्रामाणिक मानी जा सकती है। आलाओल का किया हुआ यह भाषान्तर जायसी की अपनी प्रति के पाठ को लेकर किया गया था, ऐसा भाषान्तरकार ने कहीं नहीं कहा है, और प्रतिलिपियों में एक पाठ ९२७ मिलता ही है, इसलिए अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि उक्त भाषान्तर 'पद्मावत' की जिस प्रति से किया गया, उसमें पाठ ९२७ था।

इस समस्या पर एक और दृष्टि से भी विचार करना अपेक्षित है; वह है लिपि और लेखन-प्रणाली की दृष्टि : प्रश्न यह उठता है कि 'सत्ताइस', 'सैंतालिस' और 'पैंतालिस' में से कौन-सा पाठ ऐसा हो सकता है जिससे लिपि-जनित विकृतियों के कारण शेष दो पाठ बन गए होंगे। आगे चलकर हम देखेंगे कि 'सैंतालिस' को 'सैताइस' पढ़ने की भूल की गई है और उसका कारण यह है कि शब्द के फ़ारसी लिपि में लिखे जाने पर बीच में आनेवाले 'अलिफ़-लाम' को इस प्रकार लिखने की चलन थी कि बाद में उस चलन से अनभिज्ञ लिपिक उसे 'सैताईस' पढ़ने लगे। फिर तो 'सैताईस' को और बाद के लिपिकों ने 'सत्ताईस' की विकृति समझकर शब्दांश 'सैता' में 'सीन' के साथ लगे हुए 'ये' के नुक्तों को हटा दिया और पाठ 'सत्ताईस' कर दिया। 'सैंतालीस' से 'पैंतालीस' भी इस प्रकार फ़ारसी लिपि की त्रुटियों के कारण बना। फ़ारसी लिपि में 'सैंतालीस' और 'पैंतालीस' की लिखावटों में अन्तर साधारण ही होता है। फ़ारसी में लिखे जानवाले 'सैंतालीस' के 'सीन'-'ये' में दोनों को मिलाकर तीन शोशे होने चाहिए; यदि लिखने में एक शोशा ऐसा लिख गया कि वे तीन के स्थान पर दो ही लगें, तो यह भ्रम होने लगता है कि प्रथम वर्ण के नुक्ते छूट गये हैं, और यदि इस त्रुटि को दूर करने के लिए अनुमान से नुक्ते लगा दिये गये, तो पाठ 'बयालीस', 'तैंतालीस' अथवा 'पैंतालीस' बनाया जा सकता है। पाठ की एक शाखा में, जैसा हम आगे देखेंगे, 'सीन'-'ये' का एक शोशा छूट गया; तदनंतर प्रथम शोशे के नीचे तीन नुक्ते लगाकर उसे 'पैंतालीस' कर दिया गया और, इस प्रकार एक शाखा की प्रतियों में पाठ 'पैंतालीस' हो गया।

फलतः, यह प्रकट है कि रचना की तिथि मूल पाठ में 'नौ सै सैंतालिस' ही रही होगी, और उसी से उसके दो पाठान्तर 'नौ सै सैताइस' और 'नौ सै पैंतालिस' बने होंगे।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'पदमावत का रचनाकाल : सन् ९२७ या ९४७' शीर्षक एक लेख में, जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की पत्रिका 'परिषद्-पत्रिका' के अक्टूबर, १९६२ ई० के अंक में (पृ० ३३-३७ पर) प्रकाशित हुआ है, सन् ९२७ को काव्य के प्रारंभ करने की तिथि और शेरशाह के राज्यकाल की किसी तिथि को उसकी प्रकाशन-तिथि मानते हुए लिखा है, " 'पदमावत' के २३वें दोहे में जायसी ने जो कुछ अपने विषय में लिखा है, उससे सूचित होता है कि वे काफ़ी दिनों तक तपस्वी या सूफ़ी साधक के वेष में छिपे हुए अपनी कविता करते रहे और अपनी उस स्थिति की तुलना वे धूल में छिपे हुए माणिक की स्थिति से करते हैं—

जेंहि के बोल बिरह कै घाया। कहँ तेहि धूप कहाँ तेंहि छाया।
फेरे भेख 'रहा' भा तपा। धूर लपेटा मानिक छपा।"

उनका विचार (पृ० ३४) है कि इस छंद के अन्त में आनेवाला निम्नलिखित दोहा रचना के समाप्त होने पर लिखा गया होगा——

मोहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जिहि मुख देखा तेहि हँसा सुनि कवि आए आँसु॥

इसी प्रकार, उनका विचार है (पृ० ३४) कि 'दीन्ह असीस मुहम्मद जियहु जुगहि जुग राज' के शब्दों में शेरशाह को दिया गया कवि-आशीर्वाद प्रत्यक्ष घटना पर ही आधृत हो सकता है : ऐसे वाक्य की पृष्ठभूमि में यही संभव है कि जायसी शेरशाह के दरबार में दिल्ली गये हों और साक्षात् मिलकर आशीर्वाद दिया। इस स्थिति में पहुँचकर कवि धूल में लिपटे माणिक्य की तरह न थे, वे काफी सम्मानित, यशस्वी और वयोवृद्ध हो चुके थे। अब किसी के लिए उनपर हँसने की ताब मुमकिन न थी।

जहाँतक एक दीर्घ काल तक (१८-२० वर्षों तक) जायसी के तपस्वी या सूफ़ी साधक के वेष में छिपे रहकर 'पद्मावत' की रचना करने की बात है, वह मेरी समझ में उद्धृत पंक्तियों से नहीं निकलती है। इन पंक्तियों का पाठ मेरी 'जायसी-ग्रंथावली' में इस प्रकार है :

जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
फेरे भेस 'रहइ' भा तपा। धूरि लपटा मानिक छपा।

'रहइ' वर्त्तमान काल के स्थान पर ग्रहण किए हुए 'रहा' भूतकाल पाठ के लिए डॉ० अग्रवाल का आधार क्या है, यदि उन्होंने यह भी बताया होता तो अच्छा होता।

जहाँतक उद्धृत दोहे के रचना के समाप्त होने पर लिखे होने की बात है, वह भी उससे नहीं निकलती है; 'सुनि कवि आए आँसु' का अर्थ इतना ही है कि उसके काव्य को सुनकर (उन हँसने वालों की आँखों में) आँसू आ गये। उसने उन्हें काव्य पूरा करके सुनाया, इस प्रकार का आशय निकालना उचित नहीं लगता है : वह उन हँसनेवालों को रचना करते समय भी उसका कोई अंश सुनाकर रुला सकता था, पूरी रचना सुनाकर ही उन्हें रुलाने की उसे आवश्यकता न थी।

जहाँतक शेरशाह को दिए गए आशीर्वाद के प्रत्यक्ष घटना पर आधृत होने की बात है, यदि डॉ० अग्रवाल के तर्कों को मान लिया जाए, तो प्रश्न यह उठता है कि कवि ने यह उल्लेख स्पष्ट रूप से क्यों नहीं किया और उसने यह भी क्यों नहीं बताया कि सुलतान ने उसके आशीर्वाद को किस भाव के साथ अंगीकार किया। इनका उल्लेख करने में उसे कौन-सी अड़चन थी ?

डॉ० अग्रवाल ने ९२७ की तिथि के पक्ष में उसकी क्लिष्टता का भी तर्क दिया है——उनका कहना है कि ९२७ की तिथि के साथ शेरशाह की स्तुति की संगति नहीं बैठती थी, हो सकता है कि इसी कारण ९२७ को बदलकर ९४७ कर दिया गया हो (पृ० ३५)। मैं ऊपर दिखा चुका हूँ कि इस पाठांतर के पीछे पाठ-प्रमाद है। 'सैंतालीस' के 'अलिफ़-लाम' की लिखावट ही एसी रही है कि उसे आसानी से केवल 'अलिफ़' समझा जा सकता था, इसी कारण 'सैंतालीस' को 'सैताइस' पढ़ा गया और तदनंतर 'सैताइस' के 'सै' में लगे हुए 'यें' को निरर्थक या भूल से लगा हुआ समझकर निकाल दिया गया

और पाठ 'सत्ताईस' या 'सत्ताइस' हो गया । यदि 'सैतालिस' और 'सत्ताइस' के बीच का पाठ 'सैताइस' न मिलता, तो भले ही पाठ-क्लिष्टता की कल्पना की जा सकती थी।[१]

पद्मावत के मूलाधार और उसकी अपनी विशेषता

राजस्थान में रत्नसेन की वीरता, पद्मिनी के सतीत्व, और गोरा-बादल की स्वामिभक्ति की कथा बहुत लोक-प्रिय रही है। इसका प्राचीनतम रूप इस समय कदाचित् उपलब्ध नहीं है। उसके आधार पर निर्मित एक कवित्त-बंध रचना 'गोरा बादल रा कवित्त' के नाम से मिलती है। कथा के प्राप्त रूपों में कदाचित् यही सर्वाधिक प्राचीन है, किन्तु न इसकी रचना-तिथि ज्ञात है और न इसके रचयिता का ज्ञान है। इसी प्रकार एक चउपई-बंध रचना भी मिलती है, जो हेमरतन की है, और जिसका रचना-काल सं० १६४५ है। चउपई-बंध रूप में एक-दो और कृतियाँ भी इस कथा की मिलती हैं। वार्ता-बंध रूप में जटमल की कृति 'गोरा बादल की बात' प्रसिद्ध ही है, जो सं० १६८५ की है।[२] इन सब में अनेक छंद ऐसे हैं जो समान रूप से एक से अधिक कृतियों में पाए जाते हैं। हो सकता है कि वे समयानुक्रम से परवर्ती रचनाओं में पूर्ववर्ती रचनाओं से लिए गए हों। राजस्थान में किसी पूर्ववर्ती रचना की सहायता से नई रचना प्रस्तुत करने की एक समृद्ध परंपरा रही है, जो इसी प्रकार सदयवत्स-सावलिंगा, ढोला-मारू, तथा अन्य अनेक आख्यान-काव्यों में देखी जा सकती है।

इन रचनाओं को कथा-भेद के आधार पर दो वर्गों में रक्खा जा सकता है: एक का प्रतिनिधित्व हेमरतन की 'चउपई' करती है और दूसरे का जटमल की 'बात' करती है। नीचे इन दोनों रचनाओं का सार देते हुए संक्षेप में यह बताने की चेष्टा की जाएगी कि 'पद्मावत' पर राजस्थानी परंपरा का ऋण कहाँ तक है, और पात्र और कथा-कल्पना में जायसी की विशेषता किन बातों में है।

सामान्यत: यह समझा जाता रहा है कि 'पद्मावत' की कथा का पूर्वार्द्ध कल्पित है, जिसमें हीरामन सुए की कहानी लोक-परंपरा से लेकर जोड़ दी गई है। इन कृतियों से ज्ञात होगा कि पूर्वार्द्ध भी जायसी की कल्पना नहीं है, वह उन्हें राजस्थान की परंपरा से प्राप्त हुआ है, यह अवश्य है कि उसे अपनी प्रेम-पद्धति की मान्यताओं के अनुसार उन्होंने सर्वथा एक प्रेम-गाथा का रूप दे दिया है। उत्तरार्द्ध के संबंध में इसी प्रकार यह समझा जाता रहा है कि उसका आधार इतिहास है, किन्तु इन कृतियों का सार देखने

---

१. डॉ० अग्रवाल ने इसी प्रसंग में मेरी 'जायसी-ग्रंथावली' में आनेवाले तिथि-संबंधी पंक्ति के पाठ और पाठभेदों के संबंध में भी शंका उठाई है, जिसके संबंध में मेरा समाधान देखिए : 'पद्मावत की रचना-तिथि' (परिषद्-पत्रिका वर्ष २, अंक ४) पृ० ३७-३९।

२. इनमें से चउपई-बंध रूप की कुछ कृतियाँ सादूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से 'पद्मिनी चउपई' नाम से अब प्रकाशित हो गई हैं, हेमरतन की कृति अप्रकाशित है। जटमल की कृति पहले से ही 'गोरा बादल की कथा' के नाम से तरुण भारत ग्रंथावली, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित है।

पर ज्ञात होगा कि उसका आधार भी राजस्थानी परंपरा है, यह अवश्य है कि उसे एक प्रेम-प्रधान जीवन-गाथा का रूप देने का श्रेय जायसी को है। फिर, जायसी की कला पात्रों के भावपूर्ण चित्रण और कथा के मनोरम विस्तारों में दिखाई पड़ती है, जिसे प्रत्येक पाठक स्वयं देख सकता है।

हेमरतन लिखित 'गोरा बादल री चउपई'*

सुन्दर चित्रकूट पर्वत पर अत्यधिक ऊँचा एक गढ़ था (१२-१३)। उसमें गहलोत रत्नसेन राज करता था (२०)। उसकी पटरानी प्रभावती थी (२२)। वह भोजन के सत्तर प्रकार जानती थी (२३)। राजा उससे इतना अधिक प्रेम करता था कि एक क्षण का भी उसका विछोह नहीं सहन करता था और उसका पुत्र वीरभान था जो अत्यधिक शूर था (२६)। एक दिन राजा भोजन पर बैठा था (३१)। उसने कहा "आज भोजन अच्छा नहीं लग रहा है.....कुछ रूरी युक्ति करके रसोई किया करो" (३३-३४)। इस पर प्रभावती ने कहा, "मेरी की हुई रसोई तुम्हें अच्छी नहीं लगती है तो तुम कोई और स्त्री लाओ (३५)। कोई पद्मिनी व्याह लाओ, तो वही तुम्हें तुम्हारे मन की रसोई बना कर जिमाएगी (३६)।" रत्नसेन यह उत्तर पाकर भोजन पर से उठ गया, और उसने कहा, "पद्मिनी स्त्री ला कर ही मैं अब भोजन करूँगा (३७)।" यह कह कर वह चुपचाप पद्मिनी की खोज में निकल पड़ा (४५)।

मार्ग में उसे एक पथिक मिला, जिसने राजा से बताया कि पद्मिनी स्त्री सिंहल द्वीप में होती थी और वह द्वीप दक्षिण दिशा में था; उसके मार्ग में अथाह समुद्र पड़ता था, इसलिए उसमें पहुँचना संभव नहीं था (५६-५९)। यह सुनकर राजा सिंहल द्वीप की ओर चल पड़ा और समुद्र के समीप आ गया (६०-६१)। समुद्र के पार जाने का उसे कोई उपाय न सूझ रहा था (६५)। इसी समय उसे एक योगी दीख पड़ा (६६)। उसका नाम शिव शर्मा था (६७)। उस योगी के पास वह पहुँचा (६८)। अंबरचारिणी विद्या का उस योगी ने स्मरण किया और उसकी सहायता से दोनों सिंहल द्वीप में जा पहुँचे (७४)। वहाँ पहुँच कर राजा ने यह घोषणा सुनी कि वहाँ के राजा को जो [शतरंज के खेल में ?] जीत लेता, उसके साथ राजा की बहिन का जो पद्मिनी थी विवाह हो जाता (७८-८१)। यह सुनकर रत्नसेन सिंहल के राजा के साथ शतरंज खेलने को प्रस्तुत हुआ (८४)। खेल में सिंहलपति हार गया और रत्नसेन के साथ उसकी बहिन पद्मिनी का विवाह हो गया (८९-९०)। रत्नसेन की आशा पूरी हुई (९६)। वहाँ पर कुछ दिन और रह कर रत्नसेन स्वदेश के लिए विदा हुआ। सिंहलपतिने उसे प्रवहण देकर समुद्र पार कराया (१०१)। पद्मिनी को लेकर वह चित्तौर आ गया (१११)। रत्नसेन उस पद्मिनी के साथ सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगा (१२०-१३०)।

उसकी पुरी में एक राघव चेतन व्यास रहता था, जो विद्याओं में बहुत अभ्यास

---

* नीचे आने वाली संख्याएँ छंदों की हैं।

रखता था। राजा उस पर बहुत प्रसन्न था, इसलिए उसे उसने महत्त्व प्रदान कर रक्खा था (१३१)। उसे भीतर-बाहर सर्वत्र आने जाने की अनुमति दे रक्खी थी (१३२)। एक दिन राजा पद्मिनी के पास एकांत में था, उसी समय राघव व्यास पद्मिनी के आवास में पहुँच गया (१३३-३४)। उसे वहाँ आया देखकर राजा कुपित हुआ (१३४)। राघव राजा को कुपित जान कर चित्तौर छोड़कर चुपचाप निकल गया (१५१)। वह दिल्ली पहुँच गया, और वहाँ ज्योतिष में प्रसिद्ध हो गया। (१५३) इसी प्रकार और विद्याओं में भी उसने ख्याति प्राप्ति की (१५४)। उस समय प्रचंड अला-उद्दीन दिल्लीपति था (१५९)। उसने राघव की प्रशंसा सुनकर उसे बुलवाया (१६०)। राघव की कविता सुनकर अलाउद्दीन ने उसका बड़ा सत्कार किया (१६२)। राघव उसकी सेवा में रहने लगा और उसने बादशाह को प्रसन्न कर लिया (१६३)।

एक दिन उसे अभिमान हुआ और उसने रत्नसेन से अपने अपमान का प्रति-शोध लेने का विचार किया (१६५)। उसने संकल्प किया, 'मैं राघव "तब होऊँ जब कि पद्मिनी का अपहरण कराऊँ और उसे चित्तौर से अलग करूँ (१६६)।" यह संकल्प कर उसने एक भाट से भाई-चारा बढ़ाया और उसे तैयार कर लिया कि किसी प्रसंग में वह बादशाह से पद्मिनी नारी का प्रसंग छेड़े (१६७-१६९)। एक दिन बादशाह सभा में बैठा था और हाथ में हंस का कोमल पंख लिए हुए था, उसी समय भाट ने आकर उसे ब्रह्माउ (आशीर्वाद) दिया (१७०)। बादशाह ने हंस के कोमल पंख को लक्ष्य कर प्रश्न किया, "इसके सदृश कोमल कोई वस्तु क्या किसी ने कहीं देखी है?" भाट ने उत्तर दिया, "पद्मिनी नारी इसी प्रकार की पतली और कोमल होती है, किन्तु वह इस कारण इससे भी उत्कृष्ट होती है कि वह गुणवती और स्नेह करने वाली होती है (१७३-१७४)।" यह सुनकर राघव व्यास से, जो सामने ही बैठा हुआ था, बादशाह ने पद्मिनी के लक्षण पूछे (१७७)। राघव ने उसे चारो प्रकार की नारियों के लक्षण बताए (१७८-१९७)। उन लक्षणों को सुनकर बादशाह ने आज्ञा दी कि राघव उसके हरम की स्त्रियों को देख कर बताए कि कौन उनमें से पद्मिनी थी (१९८)। राघव के द्वारा स्त्रियों की परीक्षा के लिए उसने एक मणिमय प्रासाद बनवाया, और राघव ने उसकी मणियों में उनके प्रतिबिम्ब देख कर कहा कि अन्य तीन प्रकार की नारियाँ तो उनमें थीं, पद्मिनी नहीं थी (१९९-२०३)। यह सुनकर बादशाह ने पद्मिनी के पाए जाने का स्थान राघव से पूछा (२०७-२०८)। राघव ने बताया कि वह सिंहल द्वीप में होती थी, जिसके मार्ग में अथाह समुद्र पड़ता था (२०९)।

बादशाह ने सेना लेकर प्रस्थान कर दिया और वह समुद्र के तट तक आ गया (२११-२१५)। प्रवहणों के द्वारा उसने सुभटों को सिंहल द्वीप के लिए रवाना किया (२१९)। किन्तु समुद्र में जा कर वे प्रवहण खंड-खंड हो गए (२२२)। बादशाह ने यह सुना तो उस अश्वपति ने अन्य सुभटों को इसी प्रकार भेजा, फिर भी सफलता न मिली (२२७)। अश्वपति को बड़ी चिन्ता हुई (२२८) और उसने पुनः अन्य सुभटों को रवाना किया (२३२)। यह देखकर सुभटों ने राघव को छिपे-छिपे बुलाया, उसे बुरा-भला कहा (२३४) और उससे अपनी मुक्ति का उपाय पूछा (२३५)। राघव ने

युक्ति यह बताई कि घोड़ों-हाथियों का एक सज्जित दल यदि बादशाह को रत्नादि के साथ यह कह कर वे अर्पित करते कि इन्हें सिंहलपति ने दंड के रूप में बादशाह को दिया था तो अश्वपति संतुष्ट होकर लौट जाता (२३६-२४०)। युक्ति काम कर गई, और अश्वपति संतुष्ट होकर दिल्ली की ओर लौट पड़ा (२४१-२५१)। किन्तु दिल्ली पहुँचने पर लोगों ने पूछा कि वह बिना पद्मिनी को लाए कैसे लौट आया था (२५३)। इसी प्रकार स्त्रियों ने प्रश्न किया (२५४)। उसकी बीबी ने भी परिहास करते हुए खवास के द्वारा पुछवाया कि वह पद्मिनी कहाँ थी जिसके लिए वह गया था (२५९)। अश्वपति ने कुपित होकर अतः राघव व्यास को बुलवाया (२६०) और पूछा कि सिंहल द्वीप के अतिरिक्त पद्मिनी कहाँ मिल सकती थी (२६१)। व्यास ने बताया कि एक चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के घर में थी (२६१-२६२)। यह सुनकर उसने चित्तौर की ओर सेना के प्रस्थान का आदेश किया (२६५) और सेना के साथ चलकर वह चित्तौर आ गया (२७०)।

रत्नसेन ने सामना करने की तैयारी की (२७४)। युद्ध छिड़ गया (२८७-३०१)। संध्या तक संग्राम हुआ किन्तु कोई काम न बना, बहुतेरे मुगल अमीर मारे गए, जिससे अश्वपति हृदय में दुखी हुआ (३०२)। राघव व्यास ने कहा कि कोई गुप्त छल-छद्म रचने से ही काम बन सकता था (३०४)। रत्नसेन के पास तदनुसार अश्वपति ने अपने प्रधान द्वारा कहलाया, "अब हम दोनों में प्रेम-भाव हो जाना चाहिए; तुम्हें बंधु बोल कर यह वचन दे रहा हूँ कि अन्यथा कुछ न होगा, केवल मुझे कोट दिखा दो और पद्मिनी के हाथों से जिमा दो; पद्मिनी नारी को देखने की मेरे मनमें अति प्रबल उत्कंठा है। और कुछ अर्थ नहीं माँगता हूँ, केवल पद्मिनी के हाथों से परसा हुआ भोजन जीमना चाहता हूँ (३०९-३१२)।" यह रत्नसेन ने स्वीकार कर लिया और कहा, "थोड़ी ही सेना के साथ बादशाह आए और हमारे घर पर आकर भोजन करे, जिससे हम दोनों के बीच सद्भाव बढ़े (३१७)।" तदनुसार बादशाह गढ़ के भीतर आया। साथ में वह अपनी सारी सेना भी लाया (३२४)। राजा को भय हुआ, तो बादशाह ने उससे कहा कि उससे डरना न चाहिए, कोई छल-छिद्र उसके मन में नहीं था (३२६), वह तो केवल जीमने के लिए आया हुआ था (३३२)। रत्नसेन आश्वस्त हो गया और दोनों प्रसन्न हुए (३३६)।

रत्नसेन ने पद्मिनी से कहा कि वह बादशाह को भोजन कराए जिससे वह संतुष्ट और प्रसन्न हो, किन्तु पद्मिनी ने कहा कि वह अपने हाथ से बादशाह को भोजन नहीं परस सकती थी (३३८), वह नवरसमयी रसोई कर सकती थी और परस उसकी गुणवती दासियाँ देतीं (३३९)। बादशाह महल के भीतर आया और जीमने के लिए बैठा; दासियाँ परसने के लिए आने लगीं; बादशाह चक्कर में पड़ गया कि इनमें से पद्मिनी कौन-सी थी। (३४४-३४८)। राघव ने बताया कि वे दासियाँ थीं (३४९-३५०)। बादशाह ने पूछा कि पद्मिनी का दर्शन कैसे हो सकता था (३५५), तो राघव ने पद्मिनी का आवास दिखाते हुए बताया कि रत्नसेन ही उसे देख पाता था, अन्य कोई देखता, तो बावला हो उठता (३५८)।

जब इस प्रकार बादशाह और राघव व्यास बातें कर रहे थे, पद्मावती बादशाह को देखने की उत्सुकता-वश गवाक्ष पर आई (३६०)। राघव ने जब उसे देखा, बादशाह को उसे गवाक्ष में देखने के लिए कहा (३६१)। बादशाह उसे देखते ही मूर्छित हो गया और आह छोड़ कर पृथ्वी पर गिर पड़ा (३६५)। राघव ने उसे सान्त्वना दी और उससे कहा "जब रत्नसेन हाथ में पड़ेगा, तभी पद्मिनी हाथ आएगी (३६७)।" भोजन समाप्त हुआ, तो बादशाह ने रत्नसेन से कोट दिखाने को कहा (३७१)। राजा ने सब गढ़ दिखाय। (३७२)। बादशाह ने प्रसन्नता प्रदर्शित की (३७५)। तदनंतर बादशाह को विदा देने के लिए राजा गढ़ से बाहर हुआ (३७६)। इसी समय राघव ने बादशाह से कहा कि उपयुक्त अवसर था, अतः बादशाह के संकेतों पर रत्नसेन को बंदी कर लिया गया और उसे बादशाह की सेना में लाया गया (३७९)। जब यह समाचार गढ़ में पहुँचा, वहाँ हलचल मच गई (३८१) और वीरभान तथा रत्नसेन के सुभट आपस में विचार-विमर्श करने लगे कि क्या करना चाहिए था (३८२-८६)।

इसी समय बादशाह का एक प्रधान आया जिसने बादशाह का संदेश सुनाया, "पद्मिनी के पाने पर मैं राजा को मुक्त कर दूँगा; अन्यथा राजा के प्राण लूंगा (३८८)।" यह कह कर वह चला गया तो उसके चले जाने पर वे चिन्ता में पड़ गए (३९१)। वीरभान ने सोचा कि पद्मिनी ने उसकी माता का सौभाग्य छीन लिया था, इसलिए पद्मिनी को देने में उसे कोई दुःख नहीं था; फलतः उसने पद्मिनी को दे कर शेष सब कुछ बचा लेने का प्रस्ताव रक्खा (३९४)। और सुभटों ने भी इसका समर्थन किया (३९७)। पद्मावती के मन में खलबली मच गई जब उसने यह सुना और उसने निश्चय किया कि वह जल मरेगी किन्तु असुर के घर न जाएगी (३९८)।

इस अवसर पर उस पुर में एक गोरा रावत था, और उसका भतीजा बादल था, और दोनों ही बाहु बल के धनी और गुणी थे (४०४-४०५)। वे राजा से कोई गुज़ारा नहीं लेते थे, इसलिए राजा ने भी उन्हें छोड़ रक्खा था (४०६)। उनका मत किसी ने न लिया (४१०)। पद्मावती ने उनके पास जाने का निश्चय किया और चकडोल पर चढ़ कर सखियों को साथ लिए वह गोरिल के पास आई (४१३)। गोरा ने उसका सत्कार किया और पूछा कि वह क्यों आई थी; पद्मिनी ने सुभटों का मत उसे बताया कि वे उसे बादशाह को देकर राजा को छुड़ाना चाहते थे (४१८-४२०)। गोरा ने यह सुनकर उसे सान्त्वना दी और कहा "स्त्री देकर राजा को छुड़ाने का जो विचार सुभटों ने किया है, वह उनका पाप उदय हुआ है (४२४)"। इसके अनंतर गोरा ने पद्मिनी को साथ लेकर अपने भाई गाजन के पुत्र बादल से जाकर परामर्श किया (४३०-४३५)। पद्मिनी ने उससे भी अपना निश्चय बताया कि वह जल मरेगी किन्तु असुर के घर न जाएगी (४३७-४३८)। बादल ने गोरा से कहा कि वह अकेला राजा को छुड़ा लाएगा, और सुभटों की उसे कोई आवश्यकता न होगी, वह तनिक भी चिन्ता न करे, (४४३-४४४)। पद्मिनी को भी उसने सान्त्वना दी (४४५-४५२)। पद्मिनी आश्वस्त होकर घर गई (४५६)।

पद्मिनी के जाते ही बादल की माता आई, और उसने बादल से कहा कि जब

गढ़ में अनेक सुभट थे, उनके होते हुए उन्हें युद्ध में जाने की क्या पड़ी थी, विशेष रूप से जब कि वे कोई गुज़ारा भी राजा से नहीं लेते थे। वह बालक था, युद्ध करना जानता भी नहीं था; उसके द्वारा बादशाह किस प्रकार गंजित किया जा सकता था? उसके सामने तो वह आटे में नमक जैसा ही था। पुन:, वह उसी दिन व्याह करके बहू लाया था, इसलिए उस दिन तो उसे घर की बहू को देखना चाहिए था, और कुछ बाद में करना चाहिए था (४५६-४६७)। बादल ने माता का समाधान किया (४६८-४७४)। किन्तु माता के मन की खलबली न मिटी और वह रोते हुए बादल की बहू के पास गई; उसने उससे सारी बात कही और कहा कि वह किसी प्रकार अपने हाव-भाव से वश में करके बादल को रोके (४७९-४८०)। बादल की बहू ने भी बादल को समझाया कि ऐसे बलवान शत्रु से युद्ध करना ठीक नहीं था (४८३-४८४)। बादल ने उसकी समस्त शंकाओं का समाधान किया (४९४)। इस प्रकार से अपने को विफल होते देख उसने अपनी विवाहिता के प्रति पुरुष के उत्तरदायित्व की ओर उसका ध्यान दिलाया, तो बादल ने कहा कि वह जब शत्रु को जीत कर आएगा, तभी उससे स्नेह-व्यवहार करेगा(४९९)। यह सुनकर उस स्त्री ने बादल से कहा कि वह सहर्ष रण में जाए किन्तु कादरतावश ऐसा न करे कि उसे लज्जित होना पड़े (५००-५०७)। तदनंतर उसने शस्त्रास्त्रों से बादल को सुसज्जित कर विदा दी और बादल माता का आशीर्वाद ले कर निकल पड़ा (५०९)।

इसके अनंतर बादल सुभटों की सभा में आ गया (५१०)। उन्हें उसने समझाया कि शरीर का मोह न करना चाहिए, कीर्त्ति की रक्षा करनी चाहिए(५२२)। और वह गढ़ से उतर कर शाही सेना में गया(५२६)। बादशाह से मिल कर उसने अपना परिचय देते हुए कहा(५३५), "मैं पद्मिनी को कल प्रभात आपके पास पहुँचा दूँगा; उसने जब से आपको जीमते हुए देखा है, वह आप पर रीझ गई है, और आपके विरह में व्याकुल रहती है (५३७)। वह निरंतर आप का नाम लेती रहती है (५४०)।" यह कह कर उसने पद्मावती की पत्रिका दी, जिसे पढ़ कर बादशाह के नेत्रों से आँसू गिरने लगे (४५०)। उसने बार-बार उस पत्रिका का चुंबन किया (५६०)। तदनंतर उसने बादल का बड़ा सत्कार कर उसे विदा किया (५६५)।

बादल ने लौट कर सुभटों से कहा, "दो सहस्र पालकियाँ साजो, . . .प्रत्येक में दो-दो सुभट सशस्त्र होकर चलें। मैं पालकियों के साथ-साथ चलूँगा और कहूँगा कि इनमें पद्मावती की सहेलियाँ हैं। बीच में पद्मावती की पालकी होगी, जो अच्छी तरह सजाई होगी, उसमें गोरा रावत होगा? . . .पालकियाँ एक से एक मिलाकर लगी होंगी। इस प्रकार वहाँ (बादशाह की सेना में) तुम सब आओगे। इस बीच मैं बादशाह से बातें करके राजा को लाऊँगा और उसे उसके स्थान पर (गढ़ में) पहुँचा दूँगा।" यह मत सब को पसंद आ गया (५७०-५७६)।

दूसरे दिन सबेरे बादल पुन: शाही सेना में आ गया। बादशाह से बादल ने कहा कि एक लाख सेना अपने पास रख कर शेष को वह कूच करा दे, जिससे हिन्दुओं को विश्वास हो जाए [कि पद्मिनी को देने से युद्ध समाप्त हो गया और संधि हो गई]। बादशाह ने तदनुसार सेना को कूच करा दिया(५८१-५८५)। बादल को एक लाख

मुहरें उपहार में देते हुए उसने शीघ्र पद्मिनी को लाने के लिए कहा (५८८)। पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अनुसार पालकियाँ आ गईं : बादल ने जाकर बादशाह से कहा कि उसका अनुरोध था कि बादशाह के पास आने के पूर्व रत्नसेन को मुक्त करके उससे एक बार मिलने की अनुमति दी जाती; बादशाह ने पद्मिनी के इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया (६०३-६०५)। बादल राजा को छुड़ाने गया, राजा उस पर बहुत रुष्ट हुआ, तब बादल ने उसे किसी प्रकार शांत किया और उसे मुक्त कराया (६०९)। राजा पद्मिनी की शिविका में आ गया और फिर एक शिविका से दूसरी शिविका में होता हुआ गढ़ में जा पहुँचा (६१४)। गढ़ में पहुँचकर जब उसने कुशल का डंका दिया, सब सुभट गर्जन कर उठे (६१५)। संग्राम छिड़ गया (६२६-६३५)।

राजा गढ़ के परकोटे पर चढ़ा देख रहा था और पद्मिनी बादल को आशीष दे रही थी (६३६-६४२)। गोरा खेत रहा (६४३)। बादशाह ने बादल से जीवन-दान माँगा और वह फिर लौट गया, इस प्रकार बादल युद्ध में विजयी हुआ (६४६)। बादल का बड़ा विरुद हुआ (६४७)। राजा ने बड़ा उत्सव किया और बादल को आधा राज्य दिया (६४८)। पद्मिनी ने उसका तिलक किया और उसे अपना बांधव करके स्थापित किया (६५१)। बादल की स्त्री ने उसका तिलक किया और उसकी विजय पर विविध प्रकार का बधावा किया (६५५)। गोरा की स्त्री ने बादल से गोरा के युद्ध-कर्म के संबंध में पूछा; बादल ने उसका वर्णन करते हुए बताया जिस प्रकार वह वीरगति को प्राप्त हुआ था (६५८)। यह सुनकर वह बादल के साथ वहाँ गई जहाँ मृत गोरा पड़ा हुआ था, और उसके शव के साथ वह सती हुई (६६३)। बादशाह लौटकर अपनी सेना में पहुँचा, तो उसकी बीबी ने उससे पूछा कि पद्मिनी कहाँ रह गई थी; बादशाह ने सारा वृत्तान्त बताया (६६६-६७२)। तदनंतर बादशाह दिल्ली लौट गया (६७७) और बादल की बड़ी कीर्ति हुई (६७८)।

इस रचना को वाचक हेमरत्न ने सं० १६४५ श्रावण धुरि पंचमी को सादड़ी में निर्मित किया (६८५-८६)। राणा प्रताप के मंत्री भामाशाह के लघु भाई ताराचंद के आदेश से उसने यह बादल की वार्ता रची, जिसमें वीर और शृंगार रस विशेष रूप से हैं (६९०)। [रचना छंद ६९३ पर समाप्त हुई है]।

जटमल कृत 'गोरा बादल री बात'*

चित्तौर नगर में रत्नसेन राज करता था (३)। उसकी रानी प्रभावती थी, और पुत्र वीरभान था (५)। एक दिन राजा के पास सिंहल द्वीप का एक भाट आया (९)। उसने राजा को सिंहल की पद्मिनी नारियों के संबंध में बताया—साथ ही स्त्रियों की शेष तीन जातियों के लक्षण बताए (११-१४)। पद्मिनी के लक्षण सुनकर राजा को उसके प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुई (१५)। इसी समय एक योगी वहाँ आया (१६) उससे राजा ने अपनी आकांक्षा प्रकट की (१७)। योगी ने एक मृगछाला बिछाई,

*आने वाली संख्याएँ छंदों की हैं।

और उसकी मंत्र शक्ति से उसी पर योगी के साथ बैठ कर रत्नसेन सिंहल द्वीप आ गया (१८)। वहाँ पहुँच कर योगी ने रत्नसेन से रावल का वेष करके ,एकशब्दी होकर भिक्षा करने का उपदेश दिया, जिसे स्वीकार कर राजा ने योगी का वेष बनाया और भिक्षा माँगता हुआ वह सिंहलपति के द्वार पर आया, किन्तु वहाँ वह उसकी सुता पद्मावती को देख कर मूर्छित हो गया (१९-२०)। पद्मावती भी उस योगी के रूप पर मुग्ध हो गई, और उसे पानी का छींटा दिवा कर उसने सचेत किया (२१)। तदनंतर उसने अपना नौसर हार उसे भिक्षा में दिया, जिसे लेकर रत्नसेन ने उस योगी को समर्पित कर दिया (२२-२३)। तदनंतर योगी सिंहलपति के पास आया (२४)। सिंहलपति ने अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर के संबंध में उससे प्रश्न किया, तो उसने बताया कि उसकी कन्या के लिए वह चित्तौर के राजा रत्नसेन को साथ लाया है, जिसके साथ वह पद्मावती को ब्याह दे सकता है (२५)। तदनुसार रत्नसेन और पद्मावती का विवाह हो गया और राजा ने सिंहलपति से विदा ली (२६)। सिंहलपति ने राघव को उसके साथ कर पद्मावती को विदा किया, और राजा, पद्मावती, योगी तथा राघव चेतन उड़न खटोले पर चढ़ कर चित्तौर आ गए (२७)।

राजा पद्मावती से अत्यधिक प्रेम करने लगा और उसने यह नियम बना लिया कि पद्मावती को देखे बिना वह जल न ग्रहण किया करे (२९)। एक दिन वह राघव को लेकर आखेट के लिए निकला, और बन में प्यासा हुआ किन्तु पद्मावती वहाँ न थी इसलिए राघव ने उसके व्रत के निर्वाह के लिए पद्मावतीकी एक पुतली बनाई, और उसके जंघे पर एक तिल भी बनाया। यह देख कर राजा को मन में बड़ा क्रोध हुआ, और राघव पर संदेह कर उसने राजधानी में लौटकर उसे देश-निकाला दे दिया (२९-३२)। राघव वहाँ से दिल्ली आ गया और एक उद्यान में रहते हुए वाद्य-यंत्र बजाने लगा। (३२)। एक दिन बादशाह आखेट के लिए जब वन में गया, राघव ने यंत्र बजाया जिससे वन छोड़ कर समस्त मृग उसके पास आ गए (३३)। बादशाह यह देख कर उसे राजधानी को ले आया (३६)।

एक दिन बादशाह ने एक शशक पर हाथ फेरते हुए पूछा कि क्या इससे भी कोमल कोई पदार्थ हो सकता था; राघव ने उत्तर दिया कि पद्मिनी स्त्री इससे सहस्र-गुण कोमल होती है (३७)। तदनंतर राघव ने चारो जातियों की स्त्रियों और चारो जातियों के पुरुषों के लक्षण सुनाए (३८-६०)। पद्मिनी की प्रशंसा सुनकर बादशाह ने राघव से अपने हर्म की स्त्रियों को देख कर बताने को कहा कि उनमें से कोई पद्मिनी थी या नहीं (६१)। राघव ने तैल में उनकी प्रतिच्छाया देख कर बताया कि इनमें से पद्मिनी कोई नहीं थी (६२-६३)। पुनः राघव ने उससे बताया कि पद्मिनी सिंहल-द्वीप में होती थी; यह सुनकर बादशाह ने सिंहल द्वीप पर चढ़ाई के लिए प्रस्थान कर दिया (६४-६५)। किन्तु समुद्र के पास पहुँचकर जब उसने देखा कि उसे पारकर सिंहल द्वीप पहुँचना संभव नहीं है, राघव से उसने पूछा कि अन्यत्र पद्मिनी कहाँ मिल सकती थी; राघव ने बताया कि 'एक पद्मिनी' चित्तौर में थी (६८-६९)। अतः शाहने चित्तौर पर चढ़ाई कर दी और वह चित्तौर आ गया (७०-७२)।

अलाउद्दीन ने गढ़ को घेर लिया किन्तु हाथ कुछ न लगा; जो आम वहाँ लगाए गए थे, वे फलने और पकने लगे; इस प्रकार बारह वर्ष हो गए, किन्तु वह घेरा डाले पड़ा रहा (७४)। तदनंतर राघव से परामर्श करके उसने अपना वकील राजा के पास गढ़ के भीतर भेजा (७५)। वकील ने बादशाह का संदेश दिया, "ऐ राजा, मैं अब गढ़ न लूँगा और न लड़ूँगा; मैंने पद्मिनी को बहिन किया और तुझे भाई; केवल पद्मिनी का मुख देखना चाहता हूँ; तदनंतर तुझे बहुतेरे देश समर्पित कर, गले में कंठ-हार पहनाकर और अपनी नाक नीची कर मैं लौट जाऊँगा (७६)।" वकील ने बादशाह की ओर से कुरआन उठा कर शपथ की, जिससे उसकी बातों पर विश्वास कर राजा ने बादशाह को आमंत्रित किया (७७)। पद्मावती से भी उसने कहा कि बादशाह ने उसे बहिन बना लिया है, इसलिए उसके आने पर उसे वह अपना मुख दिखाए (७८)।

जब बादशाह आया, पद्मावती ने एक सुन्दरी दासी को अपना समस्त शृंगार करा कर बादशाह के समक्ष भेजा, जिसे देख कर बादशाह मूर्छित हो गिर पड़ा (७९)। राघव ने बादशाह से कहा कि वह पद्मावती नहीं थी (८०)। यह जानकर बादशाह राजा पर कुपित हुआ (८१)। राजा ने इस पर पद्मिनी से कुपित होकर उससे शीघ्र बादशाह को अपना मुँह दिखाने को कहा और पद्मिनी ने ज्यों ही अपना मुख उसे दिखाया, बादशाह मूर्छित होकर गिर पड़ा (८३)। होश में आने पर उसने राजा से विदा होने को कहा और प्रथम पोल पार करने पर उसने राजा को बहुतेरा द्रव्य तथा द्वितीय पार करने पर गढ़ आदि दिए। जब राजा उन उपहारों पर लुब्ध हो रहा था, बादशाह ने उसे बंदी बना लिया (८६)।

राजा को तदनंतर उसने नाना प्रकार के कष्ट देना प्रारंभ किया, जिससे राजा कादर हो गया, और उसे पद्मावती को देने पर तैयार हो गया (८८)। उसने रानी के पास इसलिए खवास भी भेजा (८९)। किन्तु रानी ने कहलाया कि अपने ऊपर कलंक लगा कर सत न खोना चाहिए, अपनी स्त्री किसी को न देनी चाहिए (९१)। इसके बाद पद्मावती बादल के पास गई, और उसने बताया कि मंत्रियों ने यह मंत्रणा की थी कि पद्मावती को देकर वे राजा को मुक्त कराएँ; बादल ने उसे ढाढस दिया और कहा कि वह घर जाए और पद्मिनी चली गई (९२)।

तदनंतर गोरा के पास जा कर बादल ने मंत्रणा की (९४-९७)। बादशाह से युद्ध में विजय पाना असंभव समझकर उन्होंने युक्ति से कार्य निकालने का निश्चय किया (९८)। उन्होंने ५०० डोलियाँ तैयार कराकर उनके भीतर बैठने के लिए दो-दो योद्धा और उनको ले जाने के लिए चार-चार योद्धा तैयार किए और पद्मिनी को ले आने का बहाना कर बादशाह के पास संदेशा भेजा कि पद्मावती उसके पास आना चाहती थी (१००)। बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ (१०१)।

बादल जब चलने को हुआ, माता ने उसे मना किया (१०६), किन्तु बादल ने उसे समझा-बुझाकर उससे आज्ञा प्राप्त की (१११)। तदनंतर माता के भेजने पर उसकी बहू आई (११२) उसने शैया-रमण का प्रलोभन देकर उसे रोकना चाहा (११३)। बादल ने उसको भी समझा-बुझा कर उससे विदा ली (११८)। उन डोलियों के साथ गोरा

और बादल गए और जाकर बादशाह से उन्होंने कहा कि पद्मिनी को लज्जा लगती है, इसलिए वह आज्ञा कर दे कि डोलियों को न देखा जाए; बादशाह ने यह आज्ञा प्रचारित करदी (१२१-१२२)। फिर उन्होंने कहा कि रानी की इच्छा है कि राजा को मुक्त किया जाए जिससे कि वह उससे अन्तिम बार मिल ले; बादशाह ने इसके लिए भी स्वीकृति दे दी (१२३-१२४)। तदनंतर बादल राजा के पास आया ; राजा उस पर कुपित हुआ कि कि वह पद्मिनी को बादशाह के पास लाया था, बादल ने वस्तुस्थिति उसे बताई, बेड़ी काटकर उसे घोड़े पर सवार कराया और युद्ध का तबल बजवा कर राजा को गढ़ की ओर रवाना किया (१३६)। घमासान युद्ध हुआ, जिसमें विजय प्राप्त कर बादल गढ़ में लौटा। (१३७)। पद्मिनी ने बादल की आरती उतारी (१३८)। उसकी स्त्री ने भी उसकी स्तुति की (१३९-१४१)। गोरा की स्त्री ने जब बादल से गोरा के बारे में पूछा, तो बादल ने बताया कि वह युद्ध-क्षेत्र में काम आया था। (१४६)। यह सुन कर वह स्त्री सती हुई।

सं० १६८५ में फाल्गुन की पूर्णिमा को यह गोरा बादल की कथा पूर्ण हुई (१४८-१४९)। धर्मसी के पुत्र नाहर जटमल ने सिबुला ग्राम में इसकी रचना की (१५०)।[1]

'पद्मावत' और राजस्थानी परंपरा---एक तुलना

पात्र कल्पना---चित्तौर का वह राजा जिसकी स्त्री पद्मिनी थी, रत्नसेन था यह समस्त रचनाओं में मिलता है और इन समस्त रचनाओं में वह पहले से विवाहित भी है। किन्तु राजस्थानी कथाओं में उसकी विवाहिता का नाम प्रभावती है, जब कि जायसी ने उसका नाम नागमती दिया है। राजस्थानी रचनाओं में उसके एक पुत्र वीरभान का भी उल्लेख मिलता है, जो आगे रत्नसेन के बन्दी होने के बाद पद्मावती को अलाउद्दीन के पास भेजने पर सहमत भी दिखाया गया है---कथा में इतना ही उसका कार्य है। यह वीरभान जायसी की रचना में नहीं आता है। राजस्थानी रचनाओं में एक भाट भी मिलता है, जो रत्नसेन से सिंहल में होने वाली पद्मिनी नारी का बखान करके उसे लाने के लिए प्रेरित करता है। जायसी में यह कार्य हीरामणि शुक करता है।

राजस्थानी कथाओं में रत्नसेन एक योगी की सहायता से सिंहल पहुँचता है, जबकि जायसी की रचना में वह उसी शुक के साथ सिंहल जाता है। सिंहलपति का नाम राजस्थानी कथाओं में नहीं आता है, जब कि जायसी उसका नाम गंधर्वसेन देते हैं।

---

१ किन्तु छंद ७२ की अंतिम पंक्ति है :

फूले पलास बसंत आगम बदै कबिजन बाण।

जिससे ज्ञात होता है कि इसके पूर्व कविजन बाण की कोई रचना इस विषय की थी जिसमें पूरक कृतित्व करके उसे जटमल ने यह रूप दिया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक अन्य पूरक कृतित्व हेमरत्न वाचक ने किया।

पद्मिनी समस्त कथाओं में समान रूप से आती है, और उसका नाम पद्मावती भी सभी रचनाओं में समान रूप से मिलता है। राजस्थानी कथाओं में से किसी में उसे सिंहलपति की कन्या कहा गया है, तो किसी में बहिन। जायसी की रचनामें वह कन्या है। सिंहल में जायसी की रचना में रत्नसेन का एक भाँट भी है, जो राजस्थानी रचनाओं में नहीं है।

राघव समस्त कथाओं में आता है, किन्तु एक राजस्थानी कथा के अनुसार वह सिंहल से पद्मावती के साथ आता है, और दूसरी के अनुसार वह चित्तौर में ही रहता रहा है। जायसी ने उसे सिंहल का कवि कहा है ('पद्मावत' ४४६.३), यद्यपि पद्मावती के साथ उसका आना नहीं कहा है। समस्त कथाओं के अनुसार राघव का व्यक्तित्व एक-सा है: वह विद्वान् है, गुणी है और चित्तौर पर अलाउद्दीन का आक्रमण उसी की प्रेरणा से होता है। समस्त कथाओं में अलाउद्दीन का व्यक्तित्व प्रायः एक सा है। राजस्थानी कथाओं में वह अवश्य ही उतना बुद्धिमान नहीं है जितना जायसी की रचना में है—उसका सिंहल का आक्रमण इसका अच्छा प्रमाण है। अश्वपति वह राजस्थानी रचनाओं में भी कहा गया है और जायसी की रचना में भी। जायसी की रचना में सरजा नाम का एक पात्र और मिलता है जो बादशाह का संदेश लेकर रत्नसेन के पास युद्ध के पूर्व जाता है और पुनः युद्ध के बीच संधि-वार्ता लेकर जाता है। राजस्थानी कथाओं में इसका नाम नहीं है; उनमें इसे प्रधान या वकील कहा गया है और यह केवल एक बार युद्ध के बीच संधि-वार्ता ले कर रत्नसेन के पास जाता है।

रत्नसेन के उद्धार-कर्त्ता के रूप में गोरा और बादल समस्त रचनाओं में समान रूप से आते हैं। दोनों चित्तौर के निवासी हैं। गोरा और बादल चचा-भतीजे हैं। शत्रु के पास पद्मावती को भेज देने के लिए सहमत व्यक्तियों में राजस्थानी रचनाओं में रत्नसेन के पुत्र बीरभान का उल्लेख होता है, जायसी की रचना में यह प्रसंग ही नहीं आता है। जायसी की रचना में बादशाह की भेजी हुई एक दूती पद्मावती के पास आती है; किन्तु ऐसा कोई प्रसंग राजस्थानी कथाओं में नहीं आता है। बादल की माता और पत्नी समान रूप से सभी रचनाओं में आते हैं और वे समानरूप से बादल को युद्ध में जाने से विरत करने का प्रयत्न करते हैं। बादल राजस्थानी रचनाओं में जितना चतुर और काइयाँ है, उतना जायसी की रचना में नहीं है—यह बादशाह को धोखा देने वाले प्रसंग में ज्ञात होता है। जायसी ने गोरा-बादल और अलाउद्दीन के बीच नेगियों को भी रक्खा है, जो घूस लेकर गोरा-बादल के जैसी करने को तैयार हो जाते हैं, राजस्थानी रचनाओं में बादल सीधा ही बादशाह की आँखों में धूल झोंकता है।

जायसी की रचना में इसी बीच कुम्भलनेर का शासक देवपाल आता है जब रत्नसेन बादशाह के यहाँ बन्दी हो कर पहुँचता है। उसकी एक दूती भी कथा में आती है, जो पद्मावती के पास उसका प्रेम-संदेश लेकर पहुँचती है। जायसी की कथा का अंत इस देवपाल से रत्नसेन के द्वन्द्व-युद्ध और उसमें रत्नसेन के आहत होने के साथ होता है। राजस्थानी कथाओं में रत्नसेन-देवपाल के इस संघर्ष की कथा नहीं आती है।

मोटे ढंग पर देखा जाए तो जहाँ तक जायसी की रचना राजस्थानी रचनाओं के

साथ-साथ चलती है, वह एक-दो अंतर के साथ उन्हीं पात्रों को ग्रहण करती है जो राजस्थानी कथाओं में पाए जाते हैं। देवपाल और उससे संबंधित पात्र स्वभावत: राजस्थानी रचनाओं में इसीलिए नहीं आते हैं और जायसी की रचना में आते हैं कि जायसी ने जिस रत्नसेन-देवपाल संघर्ष की अवतारणा अपनी रचना में की है वह राजस्थानी रचनाओं में नहीं आता है। शेष कथा में पात्र-संबंधी मुख्य अन्तर शुक की अवतारणा में दिखाई देता है। रत्नसेन की पूर्वविवाहिता का नाम भी जायसी ने भिन्न दिया है और उसके पुत्र वीरभान का उल्लेख नहीं किया है, यह अंतर भी विचारणीय है। वीरभान का चरित्र राजपूती मर्यादा को गिराने वाला है, और कथा में आवश्यक भी नहीं है, इसलिए हो सकता है कि जायसी ने इसे जान-बूझकर निकाल दिया हो, और भाट तथा योगी के स्थान पर शुक की कल्पना और प्रभावती के स्थान पर नागमती नाम की कल्पना स्वतः कर ली हो। किन्तु कुंभलनेर और देवपाल के जायसी की कथा में आने से यह असंभव नहीं ज्ञात होता है कि कोई राजस्थानी रचना इन अन्तरों के साथ भी जायसी को प्राप्य रही हो और जायसी ने उसका अनुसरण किया हो।

कथा कल्पना—जायसी के 'पद्मावत' में कथा पद्मावती के जन्म से प्रारंभ होती है, किन्तु इस जन्म-प्रकरण की आवश्यकता कवि को पद्मावती को एक दिव्य सौन्दर्य के अवतार के रूप में चित्रित करने के लिए ही हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि मुख्य कथा के लिए यह प्रकरण अनावश्यक था। शुक हीरामणि को उसके साथ सिंहल में रखने की कल्पना कदाचित् इसलिए आवश्यक हुई होगी कि आगे कवि को उसके द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा रत्नसेन के आगे करानी थी और इसके द्वारा कवि को दोनों को मिलाना था। यह दो प्रकार से घटित किया जा सकता था : एक तो पद्मिनी की ओर से रत्नसेन के पास प्रेम-सन्देश भेजकर, जैसा कि सामान्यत: भारतीय साहित्य में मिलता है, अथवा रत्नसेन को पद्मिनी के रूप-गुण की प्रशंसा के द्वारा प्रेरित कर। पूर्ववर्ती पहला उपाय राजस्थानी पद्मिनी कथाओं में भी नहीं मिलता है, दूसरा ही मिलता है, संभव है इसीलिए जायसी ने भी दूसरे ही उपाय का अवलंबन लिया हो। पद्मावती को पाने के रत्नसेन के इस प्रयत्न में जो फ़ारसी प्रभाव की बात कही जाती है, वह उपर्युक्त तथ्य की पृष्ठभूमि में पुनर्विचार की अपेक्षा रखती है। राजस्थानी कथाओं और जायसी की कथा में इस विषय में अन्तर यही है कि राजस्थानी कथाओं में रत्नसेन पद्मिनी जाति की नारी मात्र के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर सिंहल की ओर अग्रसर होता है, जायसी की रचना में एक प्रेम-कथा के अनुरूप वह सिंहल की राजकन्या पद्मावती के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर सिंहल को प्रस्थान करता है।

राजस्थानी कथाओं में वह सिंहल की ओर अकेला चल पड़ता है, जब कि जायसी की रचना में शुक उसके साथ है। चित्तौर से समुद्र-तट तक की यात्रा तक में समस्त रचनाओं में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटित होती है। समुद्र-तट पर पहुंच कर उसे पार करने का प्रश्न आता है। राजस्थानी कथाओं में वह एक योगी की अंबरचारिणी विद्या द्वारा उसके साथ समुद्र पार कर लेता है और सिंहल जा पहुँचता है, जायसी की रचना में वह समुद्र तट के एक राजा गजपति से प्रवहण लेकर समुद्र पार करता है।

जायसी को इस प्रेमपथिक को समुद्र-यात्रा के कष्टों से होकर निकालना था, कदाचित् इस दृष्टि से भी उन्होंने वह दुर्गम मार्ग नहीं अपनाया जो राजस्थानी कथाकारों द्वारा अपनाया गया है।

नायक-नायिका का विवाह-पूर्व का मिलन राजस्थानी कथाओं में भी मिलता है और जायसी की रचनाओं में भी, अन्तर यह अवश्य है राजस्थानी कथाओं में रत्नसेन एक भिक्षुक के रूप में पद्मावती के द्वार पर जाकर उससे मिलता है, और जायसी की रचना में हीरामणि की योजना से वह श्रीपंचमी के दिन शिवमंदिर में मिलता है। रत्नसेन इस प्रथम मिलन के अवसर पर मूर्छित राजस्थानी कथाओं में भी दिखाया जाता है और जायसी की रचना में भी, अन्तर इतना अवश्य है कि जायसी ने पद्मावती के द्वारा उसके वक्षस्थल पर एक लेख भी इस मिलन के संबंध में अंकित कराया है जो राजस्थानी कथाओं में नहीं है। यह मंदिर का मिलन और नायिका द्वारा मूर्छित नायक के किसी अंग पर का लेखन सदयवत्स-सावलिंगा की प्रेमकथा से लिया गया लगता है : उसमें भी नायक-नायिका का मिलन एक बार एक मंदिर में आयोजित किया गया है, और उस समय नायक सोया हुआ है, इसलिए नायिका द्वारा इसी प्रकार का लेख उसके एक हाथ पर अंकित कराया गया है।

नायक-नायिका के इस प्रथम मिलन के अनंतर जायसी ने नायक का वियोगाग्नि में जलना, महादेव द्वारा उस अग्नि का बुझाया जाना और तदनंतर पार्वती द्वारा नायक के प्रेम की परीक्षा लिया जाना और इस परीक्षा में नायक के उत्तीर्ण होने पर सिंहल गढ़ के भीतर पहुँचने के लिए महादेव के द्वारा उसे एक सिद्ध-गुटिका का दिया जाना वर्णित किया है। ये विस्तार जायसी के अपने हैं, और राजस्थानी कथाओं में नहीं मिलते हैं।

पद्मावती के विवाह का प्रस्ताव अवश्य राजस्थानी कथाओं और जायसी की रचना में भिन्न-भिन्न ढंग से मिलता है। राजस्थानी कथाओं में सिंहलपति स्वयं पद्मावती के विवाह की बात उठाता है—एक कथा में वह इसे उस योगी के समक्ष उठाता है जो रत्नसेन को अपने योगबल से सिंहल लिवा गया है, और दूसरी में वह पद्मावती के विवाह के लिए शतरंज की एक प्रतियोगिता का आयोजन करता है और उसमें जीतने वाले के साथ पद्मावती के विवाह की घोषणा करता है। जायसी की रचना में नायक एक गुप्त मार्ग से गढ़ के भीतर पहुँचता है और चोर के रूप में पकड़ा जाकर शूली के लिए लाया जाता है; इसी समय रत्नसेन के भाट द्वारा यह सूचित किया जाता है कि वह योगी नहीं राजा है जो उसकी कन्या के पाणिग्रहण के लिए आया हुआ है और हीरामणि के द्वारा इसका समर्थन होता है। तदनंतर समस्त रचनाओं में नायक-नायिका का विवाह हो जाता है।

विवाह के अनंतर जायसी रत्नसेन का कुछ समय तक सिंहल में पद्मावती के साथ रहना वर्णित करते हैं, और तदनंतर एक पक्षी द्वारा उसके पास नागमती का संदेश पहुँचाते हैं। ये विस्तार राजस्थानी कथाओं में नहीं हैं। राजस्थानी कथाओं में पक्षियों की सहायता नहीं ली गई है, इसीलिए न उनके रचयिताओं को हीरामणि जैसा पद्मावती का प्रशंसक

मिलता है और न पक्षी की भाँति नागमती का विरह-निवेदन करने वाला। तदनंतर रत्नसेन पद्मावती के साथ चित्तौर के लिए प्रस्थान करता है। एक राजस्थानी कथा के अनुसार पद्मावती रत्नसेन के साथ में सिंहलपति राघव को भी कर देता है। जायसी की रचना में राघव सिंहल का कवि अवश्य है, किन्तु वह पद्मावती-रत्नसेन के साथ सिंहल से नहीं आता है।

सिंहल से वापसी राजस्थानी कथाओं के अनुसार एक उड़न-खटोले के द्वारा होती है, जो सिंहलपति के द्वारा रत्नसेन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। जायसी के अनुसार यात्रा पुनः समुद्र मार्ग से होती है, और इसमें नायक-नायिका को अपार कष्ट उठाना पड़ता है : उनका समस्त बेड़ा समुद्र में टूट जाता है और वे बह निकलते हैं ; इसी अवसर पर समुद्र की बेटी लक्ष्मी रत्नसेन के सत की परीक्षा लेती है जिसमें वह सफल होता है, तदनंतर समुद्र नायक-नायिका का मिलन कराता है और पाँच रत्न देकर उन्हें विदा करता है।

जायसी की रचना में चित्तौर पहुचने पर पद्मावती और नागमती में कलह दिखाया जाता है, जो राजस्थानी कथाओं में रत्नसेन की दोनों रानियों में नहीं मिलता है। यह कलह जायसी की अपनी कल्पना प्रतीत होती है।

इसके अनंतर समस्त रचनाओं में राघव के निर्वासित किए जाने का प्रसंग आता है। एक राजस्थानी कथा के अनुसार वह किसी समय पद्मावती की एक मूर्ति बनाकर उसके जंघे पर तिल बनाने से आचरण के विषय में संदेह किए जाने के कारण और दूसरी में रत्नसेन-पद्मावती के केलिगृह में अकस्मात् आने के कारण रत्नसेन द्वारा निर्वासित किया जाता है। जायसी के अनुसार वह अमावास्या को द्वितीया कहकर चन्द्रदर्शन करा देता है, इसलिए निर्वासित होता है। जायसी की रचना में उसे किसी अंश तक संतुष्ट करने के लिए पद्मावती अपने एक हाथ का कंगन भी देती है, जिसका उपयोग वह आगे बादशाह के सम्मुख अपनी साख जमाने में करता है। इसके अनंतर समस्त रचनाओं के अनुसार राघव दिल्ली आ जाता है।

राजस्थानी रचनाओं के अनुसार राघव को अलाउद्दीन उसके गुणों से प्रभावित होकर ले जाता या बुलवाता है, जायसी की रचना के अनुसार राघव स्वयं उसके समक्ष जाता है। जायसी के अनुसार बादशाह की सेवा में पहुँचते ही वह एक हाथ के कंगन को दिखा कर उसके प्रसंग में पद्मावती के रूप की प्रशंसा करने और बादशाह को चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करने का बहाना निकाल लेता है, जब कि राजस्थानी रचनाओं में वह कुछ दिनों तक बादशाह की सेवा में रह कर और उस पर अपना प्रभाव उत्पन्न कर चित्तौर पर बादशाह से आक्रमण करने के लिए युक्ति निकालता है। इस प्रसंग में राजस्थानी रचनाओं और 'पद्मावत' में एक बड़ा अन्तर यह है कि राजस्थानी रचनाओं के अनुसार पहले वह बादशाह को पद्मिनी की प्राप्ति के लिए सिंहल पर आक्रमण के लिए प्रेरित करता है, और जब सिंहल के उस अभियान से भी बादशाह को पद्मावती की प्राप्ति नहीं होती है , वह चित्तौर की पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए उससे चित्तौर पर आक्रमण कराता है, जबकि 'पद्मावत' में वह सीधे चित्तौर पर आक्रमण

कराता है। राजस्थानी रचनाओं का दक्षिण के अभियान का यह विस्तार पद्मावती की कथा की दृष्टि से अनावश्यक लगता है किन्तु अलाउद्दीन के दक्षिण भारत के ऐतिहासिक अभियान को इस कथा से जोड़ने के लिए ही कदाचित् इस प्रकार राजस्थानी कथाओं में उसे चित्तौर के अभियान से संबंधित किया गया है।

जायसी के अनुसार चित्तौर पहुँचकर अलाउद्दीन अपने एक सामंत सरजा को बसीठ बनाकर रत्नसेन के पास भेजता है और उससे समुद्र से पाए हुए पाँचों रत्नों तथा पद्मिनी की माँग करता है, जिसको देना अस्वीकार करने पर वह रत्नसेन से युद्ध छेड़ देता है। राजस्थानी कथाओं के अनुसार वह विना यह किए हुए चित्तौरगढ़ को घेर कर युद्ध छेड़ देता है। जायसी की रचना में इस युद्ध के बीच एक और रोचक प्रसंग का समावेश किया जाता है : यह है अलाउद्दीन के एक सामंत द्वारा रत्नसेन की एक नर्तकी का मारा जाना। रत्नसेन अपनी हेंकड़ी दिखाने को युद्ध के बीच ही गढ़ के ऊपर एक अखाड़े का आयोजन करता है और वह इसे ऐसे स्थान पर आयोजित करता है जो बादशाह के डेरे के ठीक सामने पड़ता है। जब नृत्य प्रारंभ होता है, बादशाह स्वभावतः इस पर कुपित होता है और उसकी आज्ञा से उसका एक सामंत इस प्रकार वाणों का लक्ष्य करता है कि नर्तकी मारी जाती है। यह प्रसंग राजस्थानी कथाओं में नहीं मिलता है। जायसी ने इसे हम्मीर-कथाओं से लिया है, जिनमें यह प्रायः मिलता है। कथा से इसका कोई सीधा संबंध नहीं है।

युद्ध कुछ समय तक चलता है। एक राजस्थानी कथा के अनुसार यह १२ वर्षों तक चलता रहता है—लगे हुए आम के वृक्ष फल देने लगते हैं, और फिर भी युद्ध समाप्त नहीं होता है। ठीक यही बात जायसी की रचना में भी कही गई है। किन्तु जायसी के अनुसार युद्ध में इतने दीर्घ संघर्ष के बाद भी सफलता न मिलना ही नहीं, दिल्ली से इस बात का संदेश आना भी कि हरेवों (मुगलों) ने उसकी राज्य-सीमा में पुनः आक्रमण प्रारंभ कर दिए, हैं बादशाह को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई और उपाय वह करे। राजस्थानी कथाओं के अनुसार युद्ध में सफलता की आशा का अभाव ही इसके लिए बादशाह को प्रेरित करता है। यह नवीन विस्तार भी जायसी का अपना योग ज्ञात होता है। राजस्थानी कथाओं के अनुसार छलपूर्वक संधि की चर्चा चलाने की बात बादशाह राघव के सुझाने पर करता है, जबकि जायसी की रचना में वह स्वतः करता है और इस संबंध में राघव का परामर्श नहीं लेता है। संधि के प्रस्तावों में भी थोड़ा अंतर है; राजस्थानी कथाओं के अनुसार बादशाह रत्नसेन को 'बंधु' और पद्मिनी को 'भगिनी' घोषित करते हुए कोट को दिखाने तथा पद्मिनी के हाथों से परसी हुई रसोईं को जिमाने का प्रस्ताव रत्नसेन से करता है। जायसी के अनुसार बादशाह उससे केवल उन पाँच नगों के लिए प्रस्ताव करता है जो रत्नसेन को सिंहल-यात्रा में समुद्र से प्राप्त हुए थे। जायसी का अलाउद्दीन राजनीतिज्ञ है : वह अपने वास्तविक अभिप्रायों को ज्ञात नहीं होने देता है और रत्नसेन से सद्भाव मात्र उत्पन्न करके उनकी सिद्धि भविष्य पर छोड़ रखता है, बादशाह का संधि-प्रस्ताव समस्त रचनाओं में स्वीकार किया जाता है। जायसी की रचना में संधि के पाँचों रत्न जब एक बसीठ

के द्वारा बादशाह की सेवा में भेजे जाते हैं। बादशाह सद्भाव बढ़ाने के बहाने से दूसरे दिन गढ़ को देखने के लिए पधारने का संदेश उन्हीं बसीठों से भिजवा देता है।

रत्नसेन बादशाह की ओर से आश्वस्त होकर समस्त रचनाओं के अनुसार उसके सत्कार का प्रबंध करता है। जायसी की रचना में इस अवसर पर गोरा-बादल उसे समझाते हैं कि बादशाह का विश्वास करके उससे मेल न करना चाहिए किन्तु राजा उनकी बात नहीं मानता है। राजस्थानी कथाओं में संधि की शर्तों के अनुसार राजा पद्मावती से बादशाह को अपने हाथों से परसने के लिए कहता है। एक राजस्थानी कथा के अनुसार वह इसे मान तो लेती है किन्तु अपने स्थान पर एक सुंदरी दासी को अपने वस्त्राभूषण पहना कर भेज देती है। दूसरी के अनुसार वह इसे स्वीकार नहीं करती है और परसने के लिए अपनी दासियों को नियुक्त कर देती है। जायसी की रचना में यह समस्या ही नहीं उठती है। भोजन तैयार होने पर जब वह बादशाह को परसा जाने लगता है, प्रथम राजस्थानी कथा के अनुसार उक्त सुंदरी दासी को पद्मिनी समझ बैठता है और दूसरी तथा 'पद्मावत' के अनुसार समझता है कि परसने वाली नारियों में से कोई पद्मिनी होगी। किन्तु राघव जब उसे बताता है कि ऐसा नहीं है, प्रथम राजस्थानी कथा कथा के अनुसार बादशाह राजा पर कुपित होता है, और इस पर राजा पद्मिनी को बुला कर उसका मुख बादशाह को दिखाता है, तथा दूसरी राजस्थानी कथा और 'पद्मावत' के अनुसार पद्मावती स्वयं बादशाह को देखने की उत्सुकतावश अपने झरोखे पर आती है। इसी समय बादशाह उक्त राजस्थानी कथा के अनुसार सीधा उसे देखता है, और जायसी की रचना के अनुसार उसकी प्रतिच्छाया मात्र एक दर्पण में देखता है, जिसे उसने इसी उद्देश्य से एक विशेष कोण पर लगा रक्खा है। पद्मिनी को देखते ही बादशाह के मूर्च्छित होने की बात समस्त रचनाओं में समान रूप से आती है।

इसके बाद राघव की बादशाह के पास जाने और उसे पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए उपाय करने के लिए प्रेरित करने की बात सभी रचनाओं में आती है। गढ़ देखने की बात सभी रचनाओं में आती है। किन्तु राजस्थानी रचनाओं में वह भोज के बाद आती है, जब कि जायसी में पहले ही आ जाती है। पुनः समस्त रचनाओं के अनुसार जब रत्नसेन बादशाह को बिदा करने के लिए उसके साथ चलता है, प्रत्येक पोल पर अपने उपहारों से रत्नसेन को पुरस्कृत करते और उसके कंधे पर टेक दिए हुए वह उसे गढ़ के बाहर लाता है, तथा उसी समय उसे बन्दी बना लेता है। राजस्थानी कथाओं के अनुसार वह राघव के संकेत से ऐसा करता है किन्तु जायसी की रचना के अनुसार वह स्वतः करता है। इसके अनंतर राजस्थानी रचनाओं के अनुसार वह उसे अपने सैनिक बंदीगृह में भेज देता है जब कि जायसी की रचना के अनुसार वह उसे दिल्ली भेज देता है और वहाँ के कारागार में उसे बंद करा देता है।

जायसी की रचना में इसके बाद एक प्रसंग आता है जो राजस्थानी रचनाओं में नहीं है। यह है कुंभलनेर के देवपाल का एक दूती द्वारा पद्मावती के पास प्रेम-प्रस्ताव भेजे जाने का प्रसंग। पद्मावती स्वभावतः इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है और

उस दूती को पिटवा कर निकलवा देती है। यह एक महत्वपूर्ण नवीनता है जो 'पद्मावत' की कथा को आगे एक विशिष्ट मोड़ देती है।

रत्नसेन के बंदी होने के अनन्तर बादशाह का एक दूत राजस्थानी कथाओं में आकर कहता है कि राजा तभी मुक्त किया जाएगा जब बादशाह पद्मिनी को पा जाएगा, अन्यथा वह राजा के प्राण ले लेगा और इस संदेश को सुनकर वीरभान तथा रत्नसेन के सामंत पद्मिनी को बादशाह के पास भेजने का निश्चय कर लेते हैं। जायसी की रचना में वह राजा को अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ देते हुए पद्मिनी के पास एक दूती को योगिनी के वेष में भेजता है, जो उसे राजा की यंत्रणाओं का समाचार देती है और पद्मिनी को इस बात के लिए तैयार करती है कि वह उसे दिल्ली ले जा कर राजा के पास पहुँचा देगी किन्तु पद्मावती की सखियाँ उस दूती के अभिप्राय को ताड़ लेती हैं और पद्मावती को गोरा-बादल के पास सहायता-प्राप्ति के लिए जाने के लिए प्रेरित करती हैं। परिणामतः समस्त रचनाओं में चौडोल पर चढ़कर पद्मावती गोरा-बादल के पास जाती है।

गोरा-बादल रानी का बड़ा सत्कार करते हैं और उसके आगमन का कारण पूछते हैं। राजस्थानी रचनाओं में रानी बताती है कि उसके सामंत उसे बादशाह के पास भेजकर रत्नसेन को छुड़ाना चाहते हैं, किन्तु वह भले ही जल मरेगी, बादशाह के पास न जाएगी। जायसी की रचना में वह उनसे कहती है कि अब वह योगिन बनकर उसी मार्ग से जाना चाहती थी जिस मार्ग से उसका प्रिय गया था। परिणामतः समस्त रचनाओं में वे दोनों वीर राजा को छुड़ाने का संकल्प करते हैं। इस अवसर पर बादल की माता और उसकी नवविवाहिता वधू का घर पर रहने का अनुरोध सभी रचनाओं में समान रूप से है, जिस पर बादल नहीं रुकता है। किन्तु जब कि राजस्थानी कथाओं में वे सामंत अपने संकल्प को तत्काल कार्यान्वित करते हैं, जायसी की रचना में वे वर्षा के समाप्त होने पर निकलते हैं।

राजा को मुक्त करने के लिए डोलियों की सहायता समस्त रचनाओं में ली जाती है। उन डोलियों में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित राजपूत समस्त रचनाओं में बिठाए जाते हैं। राजस्थानी कथाओं में इतना और आता है कि उन डोलियों की एक श्रृंखला बना दी जाती है जो बादशाह के शिविर से गढ़ तक जा पहुँचती है और जब राजा को पद्मिनी से भेंट कराने के बहाने उसकी डोली के भीतर किया जाता है, वह उन डोलियों में से होता हुआ गढ़ में पहुँच जाता है। 'पद्मावत' में क्योंकि राजा दिल्ली में बंदी है वह उस डोली के पास जाकर एक घोड़े पर बादल के साथ भाग निकलता है और चित्तौरगढ़ पहुँच जाता है। डोलियों के सैनिक गोरा के नेतृत्व में बादशाही सेना को रोकते हैं और सभी रचनाओं के अनुसार उस युद्ध में गोरा मारा जाता है। समस्त रचनाओं के अनुसार गढ़ में पहुँचने पर बादल की आरती उतारी जाती है। राजस्थानी कथाओं के अनुसार गोरा के शव के साथ उसकी स्त्री चितारोहण करती है तथा राजा बादल को अपना आधा राज्य देता है।

जायसी की रचना में यह कथा आगे बढ़ती है। पद्मिनी से जब राजा को कुंभ-

लनेर के देवपाल के दुष्कृत्य का पता लगता है, वह तत्काल वहाँ के लिए चल देता है और देवपाल को ललकारता है। दोनों में द्वन्द्व युद्ध होता है जिसमें दोनों घायल होते हैं। देवपाल युद्धभूमि में ही मरता है, और रत्नसेन किसी प्रकार चित्तौर पहुँच कर। चित्तौर पहुँचकर वह 'पद्मावत' के अनुसार बादल को अपना पूरा राज्य सौंप देता है। जायसी की रचना के अनुसार उसके मरने पर उसकी दोनों स्त्रियाँ शव के साथ चितारोहण करती हैं। बादशाह चित्तौर उस समय पहुँचता है जब पद्मिनी चिता पर जल चुकी होती है, और यह देखकर दुःखी होता है।

'पद्मावत' की विशेषता

कथा-विषयक इस तुलनात्मक अध्ययन पर दृष्टि डालने से ज्ञात हुआ होगा कि कुछ परिवर्तन जायसी को एक सामान्य वार्ता को एक प्रेम-कथा, और गोरा-बादल कथा की अपेक्षा अधिक पद्मावती-रत्नसेन कथा बनाने के लिए करने आवश्यक हुए होंगे, किन्तु कथा को अधिक संतुलित और बुद्धि-संमत बनाने के लिए भी उन्होंने स्थान-स्थान पर सुधार किए इसमें सन्देह नहीं; उदाहरणार्थ भाट के स्थान पर शुक की कल्पना, समुद्र पार करने के लिए अंबरचारिणी विद्या और उड़न-खटोले के स्थान पर प्रवहणों की कल्पना, योगी के कह देने अथवा शतरंज के खेल में जीतने मात्र से सिंहलपति के पद्मावती को रत्नसेन को दे देने के स्थान पर अपने शुक हीरामणि के द्वारा यह जानने पर कि प्रेमी चित्तौर का अधिपति है कन्या को देने की कल्पना, सिंहल से पद्मावती को लेकर रत्नसेन के अपने-आप लौट पड़ने के स्थान पर नागमती का संदेश पाकर उसके चित्तौर लौटने की कल्पना, पद्मावती और नागमती के सपत्नी-कलह की कल्पना, राघव व्यास के निष्कासन के लिए किसी आचरण-विषयक प्रवाद की कल्पना के स्थान पर यक्षिणी-सिद्धि के द्वारा राजा को भ्रम में डालने के उसके अपराध की कल्पना, बादशाहद्वारा सिंहल पर एक बार आक्रमण कराने और इस प्रकार पद्मिनी की प्राप्ति की दुर्गमता प्रमाणित करने के अनंतर उसे राघव के द्वारा चित्तौर की पद्मिनी का भेद बताए जाने और उसके द्वारा चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए बादशाह को प्रेरित करने की कल्पना के स्थान पर पद्मावती के दिए हुए कंगन से अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करके उससे सीधे चित्तौर पर आक्रमण कराने की कल्पना; आक्रमण से पूर्व रत्नसेन के पास बसीठ भेजकर बादशाह की अपनी माँगों को कहलवाने की कल्पना, युद्ध में असफलता मात्र को कारण-रूप में दिखाने के स्थान पर हरेवों के आक्रमण की भी सूचना दिला कर बादशाह से छद्मपूर्ण उपायों के ग्रहण कराने की कल्पना, संधि के प्रस्तावों में पद्मिनी के द्वारा रसोई के परसे जाने को न रख कर रत्नसेन से समुद्र से प्राप्त पाँच रत्नों मात्र की माँग को रखने की कल्पना, पद्मिनी के साक्षात् दर्शन के स्थान पर उसकी प्रतिच्छाया मात्र के दर्शन से बादशाह के संतुष्ट होने की कल्पना, पद्मिनी के पास बादशाह और देवपाल के दूती भेजने की कल्पनाएँ, और अन्ततः देवपाल से रत्नसेन के द्वन्द्व युद्ध की और उसमें घायल होकर रत्नसेन के मरने और उसके शव के साथ उसकी दोनों-रानियों पद्मावती तथा नागमती

के चितारोहण करने की कल्पनाएँ जायसी की उच्चकोटि के प्रबन्धकार की प्रतिभा का परिचय देती हैं और प्रायः उन का मौलिक योग ज्ञात होती है। असंभव नहीं है कि इनमें से भी कुछ उन्हें अन्य पद्मिनी-रचनाओं से मिली हों किन्तु सभी उन्हें अन्यत्र से मिली होंगी यह मानना असंभव है, और फिर उन सबको लेते हुए इस प्रकार एक अत्यन्त संतुलित और बुद्धिसंमत रूप में पात्र-कल्पना औरकथा-कल्पना करना तो उनकी अपनी विशेषता ही।

'पद्मावत' का जीवन-दर्शन

जायसी ने 'पद्मावत' की रचना एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के प्रतिपादन के लिए की है। नीचे रचना के आधार पर उसी के निरूपण का प्रयास किया जा रहा है।

मरण : एक अनिवार्य सत्य

जायसी जीवन की नश्वरता की ओर ध्यान आकृष्ट कर प्रत्येक पाठक को सजग करना चाहते हैं। यों तो यह प्रबोधन उनकी रचना में बार-बार आता है किन्तु कहीं भी इतने कलात्मक रूप में नहीं जितने कलात्मक रूप में निम्नलिखित पंक्तियों में :

नवौ पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू।
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी।
जबहि घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा।
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माँटी कर भाँडा।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे।
घरी जो भरै घटै तुम्ह आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ।
पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।
मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम्मा बीति॥ ४२

मरण से बचने का उपाय : मरण की साधना

काल के इस भय से बचने का एक मात्र उपाय जायसी के अनुसार मरण की साधना है, क्योंकि जायसी कहते हैं कि मरे हुए को मृत्यु भी नहीं मारती है :

जौं पहिले सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई। १४२

इसलिए जायसी इस 'मरण-लाभ' को ही साधु का सर्वप्रमुख लक्षण मानते हैं :

चढ़े बेगि औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पँथ खेले।
पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ।
एहि जीवन कै आस का जस सपना पल आधु।
मुहमद जिअतहि जे मरहिं तेइ पुरुष कहु साधु॥ १४६

मरण साधना के गुरु-शिष्य : भृंगी-फनिग

इस मरण-साधना का उपदेश जायसी मुख्यतः भृंगी-फनिग रूपक की सहायता से

करते हैं : भृंगी फनिग को लेकर उसे नवजीवन और नव काया प्रदान करता है, जिससे वह फनिग न रह कर भृंगी हो जाता है :

सबदि एक होइ कहा अकेला। गुरु जस भृंग फनिग जसचेला।
पंखिहि ओहि भृंगि पै लेई। एकहि बार छुएँ जिउ देई।
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ नव काया।
होइ अमर अस मरिकै जिया। भँवर कमल मिलि कै मधु पिया। १८२

रत्नसेन और पद्मावती दोनों प्रेम-साधक फनिग-जीवन त्याग कर भृंगी बनना चाहते हैं। रत्नसेन सुए से कहता है :

अब करु फनिग भृंग कै करा। भँवर होहुँ जेहि कारन जरा। १२५

और पद्मावती की विरहावस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है:

सो धनि विरह पतंग होइ जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृंग होइ को चंदन तन लीप॥ १६८

किन्तु जायसी अन्य रूपकों की भी सहायता लेकर उस प्रक्रिया को और भी अधिक विशदता के साथ स्पष्ट करने का यत्न करते हैं, जब वे साधक रत्नसेन के विषय में पद्मावती से कहलाते हैं :

कहेसि सुआ मोसौं सुनु बाता। चहौं तौ आजु मिलौं जस राता।
पै सो मरमु न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा।
हौं जानति हों अबहूँ काँचा। न जनहुँ प्रीति रंग थिर राँचा।
न जनहुँ भएउ मलैगिरि बासा। न जनहुँ रबि होइ चढ़ा अकासा।
न जनहुँ होइ भँवर कर रंगू। न जनहुँ दीपक होइ पतंगू।
न जनहुँ करा भृंगि कै होई। न जनहुँ अबहिं जिअै मरि सोई।
न जनहुँ पेम औटि एक भएऊ। न जनहुँ हिय महँ कै डर गएऊ।
तेहि का कहिअ रहन खिन जो है प्रीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेइ धँसि का पानी का आगि॥ २३१

अथवा उसी प्रेमिका के द्वारा 'मरण' का उपदेश रत्नसेन को कराते हैं :

तोहि जौं प्रीति निबाहै आँटा। भँवर न देखु केतु महँ काँटा।
होहु पतंग अधर गहु दिया। लेहु समुंद धँसि होइ मर जिया।
रातु रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती।
चातिक होहु पुकारु पिआसा। पिउ न पानि रहु स्वाति कै आसा।
सारस कै बिछुरी जिमि जोरी। रैनि होहु जस चक्क चकोरी।
होहु चकोर दिस्टि ससि पाहाँ। औ रबि होहु केवल दधि माहाँ।
हहूँ ऐसि हौं तो सौं सकसि तौ प्रीति निबाहु।
राहु बेधि होइ अरजुन जीति द्रौपदी ब्याहु॥ २३४

हठयोग द्वारा मरण-साधना

निम्नलिखित पंक्तियों में सिंहलगढ़ का वर्णन करते हुए जायसी ने योग की

मान्यताओं के अनुसार काया-गढ़ का एक सुन्दर परिचय उपस्थित किया है :

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसी दुरुपदी।
औरु कुंड एक मोंती चूरू। पानी अंब्रित कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पिआ। बिरिध होइ नहि जौ लहि जिआ।
कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इंद्र कबिलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।
चाँद पात औ फूल तराईं। होइ उजिआर नगर जहँ ताईं।
वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई।
राजा भए भिखारी सुनि वह अंब्रित भोग।
जेइँ पावा सो अमर भा ना किछु ब्याधि न रोग॥ ४३

इन पंक्तियों में वर्णित मानव शरीर ही वह गढ़ है, जिसमें इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियाँ ही नीर तथा क्षीर की नदियाँ हैं। सुषुम्णा मोती चूर्ण का कुण्ड है। चेतना-वल्ली ही कंचन-वृक्ष है, जो पाताल (मूलाधार चक्र) से लेकर आकाश (सहस्रार) तक फैली हुई है। कायागढ़ में उसी का प्रकाश भी होता रहता है। आत्मानुभव ही उस अमृत-वल्ली का सुन्दर फल है, जिसके सेवन से जरा-मरण का भय शेष नहीं रहता है। इसी को प्राप्त करने के लिए तप की आवश्यकता होती है। इसी को प्राप्त करने के लिए भर्तृहरि आदि ने राज्य-त्याग किया था। इस को प्राप्त कर लेने के अनन्तर प्राणी को किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियाँ नहीं रह जाती हैं।

सिंहलगढ़ को काया के समान दुर्जेय बताते हुए जायसी उस पर चढ़ने की जो युक्ति बताते हैं, वह हठयोग की चक्रभेदन क्रिया का ही एक सांकेतिक रूप है :

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया।
पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे।
नौ पौरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।
दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी।
गढ़ तर सुरँग कुंड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ।
चोर पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जेउँलाव जुआरी।
जस मरजिया समुंद धँसि मारै हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेहि ओहि सरग दुवारी औ चढु सिंघल दीप॥ २१५

इन पंक्तियों के सिंहलगढ़ को काया गढ़ स्वयं कवि ने कहा है; नौ पौरियाँ शरीर के नवद्वार हैं, पाँच कोटपाल संभवतः पञ्चप्राण हैं; दशम द्वार ब्रह्मरंध्र है, चींटी होना चक्रभेदन की पिपीलिका गति का अनुसरण करना है, सुरंग (सुंदर) कुंड मूलाधार चक्र है, और उसमें का पंथ सुषुम्णा है और वही स्वर्ग का द्वार है।

इस गढ़-भेदन अथवा चक्र-भेदन की क्रिया को विवृत करते हुए जायसी जो

कुछ कहते हैं उससे हठयोग द्वारा मरण-साधना के उनके सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वे कहते हैं :

दसवँ दुवार तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी।
तूं मन नाँथ मारिकै स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहि करु नाँसा। २१६

परकाय प्रवेश में जायसी का विश्वास व्यापक रूप से पाया जाता है। जायसी ने भी कथानायक रत्नसेन का पद्मावती की काया में प्रवेश बताते हुए कहा है कि वह इस युक्ति से काल से बच गया है, और तदनंतर उन्होंने इस युक्ति का विस्तार से निरूपण किया है। जब शुक पद्मावती से कहता है :

अब तुम्ह जीव कया वह जोगी। कया क रोग जीव पैं रोगी।
रूप तुम्हार जीव कै आपन पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खँड होइ काल न पावै हेरि॥ २५६

पद्मावती उससे प्रश्न करती है :

कौनि सो करनी कहु गुरु सोई। परकाया परवेस जो होई।
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला। चेला गुरू गुरू भा चेला।
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल हेरि फिरि जाई।
चेला सिद्धि सो पावै गुरु सौं करै अछेद।
गुरू करै जौं किरिपा कहै सो चेलहि भेद॥ २५७

और उत्तर में शुक उससे 'परकाय प्रवेश' की विधि का स्पष्टीकरण करता है :

अनु रानी तुम्ह गुरु वह चेला। मोहि पूंछहु कै सिद्ध नवेला।
तुम्ह चेला कहँ परसन भई। दरसन देइ मँडप चलि गई।
रूप गुरू कर चेलैं डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा।
जीव काढि लै तुम्ह अपसई। वह भा कया जीव तुम्ह भई।
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान जान पै जीऊ।
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओहि बिथा सो तुम्ह कहँ आई।
तुम्ह ओहि घट वह तुम्ह घट माहाँ। काल कहाँ पावै ओहि छाहाँ।
अस वह जोगी अमर भा परकाया परवेस।
आवै काल तुम्हहिं तहँ देखै बहुरै कै आदेस॥ २५८

यह परकाय प्रवेश भी मरण-साधना का ही एक रूप है। जायसी हठयोगियों की भाँति एक ऐसी स्थिति में भी विश्वास करते हैं जो द्वन्द्वात्मक भौतिकता से परे है। वे कहते हैं :

जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा कोरे मिलावै आनि॥ ६८

प्रेमयोग द्वारा मरण-साधना

जिस 'मरण' की प्राप्ति का उपदेश जायसी ने योग-मार्ग के द्वारा किया है,

अन्यत्र उन्होंने उसी 'मरण' का उपदेश प्रेम-मार्ग अथवा भाव-मार्ग द्वारा भी किया है। वल्कि देखा जाए तो प्रेम-मार्ग वाला 'मरण' ही जायसी के द्वारा मुख्य रूप से प्रतिपादित हुआ है; योग मार्ग द्वारा 'मरण' की उपलब्धि में विश्वास रखते हुए भी जायसी ने उसका उपदेश इसके पूरक के रूप में ही किया है। इन्द्रियों और मन से चेतना को समस्त रूप से हटा लेने पर जिस प्रकार समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार विरह की उत्कटता में भी एक ऐसी अवस्था आ सकती है जब इंद्रियाँ और मन चेतना-शून्य हो जाएँ। प्रेम की इस दशम अवस्था को भी 'मरण' कहा गया है। जायसी अमरत्व लाभ करने के लिए इस 'मरण' का विधान अपनी रचना भर में करते हैं, और कहते हैं कि इस 'मरण' का आस्वादन कर लेने पर पुनः मरण का भय नहीं रहता है।

यह 'मरण' रत्नसेन को प्रथम बार उस समय प्राप्त होता है जब शुक उसे पद्मावती का नख-शिख सुना कर उसे उसके अलौकिक सौन्दर्य से सूचित करता है। जायसी कहते हैं :

सुनतहि राजा जा मुरुछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई।
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा।
बिरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहिं लेई।
खिन हि निसास बूड़ि जिउ जाई। खिन हि उठै निसँसै बौराई।
खिन हि पीत खिन होइ मुख सेता। खिन हि चेत खिन होइ अचेता।
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिअँ जिवन न दसइँ अवस्था।
जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ हरहिं तरासहिं ताहि।
एतना बोल न आव मुख करहिं तराहि तराहि ॥ ११९

इस 'मरण' अवस्था को जायसी ने परमसुख की अवस्था माना है : इसीलिए रत्नसेन जब चेत में आता है, वह रो पड़ता है, और कहता है :

जौं भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा।
आवन जग बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ज्ञान सो खोवा।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएहुँ कहाँ।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा।
सोवत अहा जहाँ सुख साखा। कस न तहाँ सोवत बिधि राखा। १२१

रत्नसेन को यह 'मरण' दूसरी बार सिंहल में पुनः पद्मावती के बिरह में प्राप्त होता है। इस बार का मरण केवल प्रेम की दशम अवस्था का 'मरण' नहीं है, वरन् वह समाधि से संवेष्ठित भी है; इसके अतिरिक्त वह इस पूर्णता के साथ घटित हुआ है कि सुए को संजीवनी लाकर रत्नसेन को जीवित करना पड़ा है :

राजा इहाँ तैस तपि झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा।
मदन नवाए गएउ बिमोही। भा निरजिउ जिउ दीन्हेसि ओही।
गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि गौ तारी।

बुंदहि समुंद जैस होइ मेरा । गा हेराइ तस मिलै न हेरा ।
रंगहि पानि मिला जस होई । आपुहि खोइ रहा होइ सोई ।
सुआ आइ देखा भा नासू । नैन रकत भरि आए आँसू ।
सदा जो पीतम गाढ़ करेई । वहु न भूल भूला जिउ देई ।
मूरि सँजीवन आनि कै औ मुख मेला नीर ।
गरुर पंख जस झारै अंब्रित बरसा कीर ।। २३५

अपने 'मरण' का उल्लेख रत्नसेन स्वयं पद्मावती से करता है जब विवाहोपरांत दोनों मिलते हैं :

अनु तुम्ह कारन पेम पियारी । राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी ।
नेह तुम्हार जो हिए समाना । चितउर माँहि न सुमिरेउ आना ।
जस मालति कहँ भँवर वियोगी । चढ़ा बियोग चलेउँ होइ जोगी ।
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी । दीप पतंग होइ अँगएउँ आगी ।
भँवर खोजि जस पावै केवा । तुम्ह काँटे मैं जिव परछेवा ।
एक बार मरि मिलै जो आई । दोसरि बार मरै कत जाई ।
कत तेहि मीचु जो मरि कै जिया । भा अम्मर मिलि कै मधु पिया । ३०५

रत्नसेन का एक और 'मरण' कवि तब उपस्थित करता है जब वह चित्तौर की वापसी में जलयान के टूटने के कारण पद्मावती से वियुक्त होने पर प्राण देने के लिए उद्यत हो जाता है । समुद्र इस समय एक पंडित के वेष में उसके सामने उपस्थित होता है, और 'मरण' का वास्तविक रूप स्पष्ट करता है जो माया से मुक्त हो कर ऐकान्तिक स्थिति की प्राप्ति है । समुद्र उससे कहता है :

जौ तूँ मवा कस रोवसि खरा । न मुवा मरै न रोवै मरा ।
जौं मर भया औ छाँड़ेसि माया । बहुरि न करै मरन कै दाया ।
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा । जैस राम दसरथ कर बेटा ।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा । एहि समुंद्र महँ फिरि फिरि रोवा ।
पुनि जौं राम खोइ भा मरा । तब 'एक अंत' भएउ मिलि तरा ।
तस मर होहि मूँदु अब आँखी । लावौं तीर टेकु बैसाखी ।

रत्नसेन का यह 'मरण' ज्ञान-संवेष्ठित है, जिस प्रकार इसके पूर्व का योग-संवेष्ठित था । फलतः जायसी का 'मरण' 'मरण' के लिए नहीं है, वह इसी ऐकान्तिक स्थिति की प्राप्ति के लिए है ।

जिस प्रकार जायसी ने 'मरण' दशा रत्नसेन को प्राप्त कराई है, उसी प्रकार उन्होंने पद्मावती को भी प्राप्त कराई है :

कोइ कमोद परसहिं कर पाया । कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया ।
कोइ मुख सीतल नीर चुवावा । कोइ अंचल सौं पौनु डोलावा ।
कोइ मुख अंब्रित आनि निचोवा । जनु बिख दीन्ह अधिक धनि सोवा ।
जोवहिं स्वाँस खिनहिं खिन सखी । कब जिउ फिरै पवन औ पँखी ।
बिरह काल होइ हिए पईठा । जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा ।

खिन एक मूंठि बाँध खिन खोला। गही जीभ मुख जाइ न बोला।
खिनहिं बेझ कै बानन्हि मारा। कँपि कँपि नारि मरै बिकरारा।
कैसेहुं बिरह नहि छाड़ै भा ससि गहन गरास।
नखत चहूँ दिसि रोवहिं अँधिअर धरति अकास। २४९

चार घड़ियों तक उसकी यह दशा बनी रहती है तब उसके शरीर में प्राण लौटते हैं :

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि बिधि जोति हिएँ परगासी।
निसँसि ऊभि भरि लीन्हेसि स्वाँसा। भई अधार जिअन कै आसा।। २५०

इस नारी के घट में प्राणों के लौटने पर विरह की जिस क्रूरता का वर्णन जायसी ने किया है, उसकी तुलना में वास्तविक 'मरण' सचमुच उसके लिए अधिक सुखकारी होता :

भानु नाउँ सुनि कँवल बिगासा। घिरिकै भँवर लीन्ह मधु बासा।
सरदचंद मुख जानुं उघेली। खंजन नैन उठे कै केली।
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीव बरिआईं।
दवैं बिरह दारुन हिय काँपा। खोलि न जाइ बिरह दुख झाँपा।
उदधि समुंद जस तरँग देखावा। चखु कोटिन्ह मुख एक न आवा।
यह सुठि लहरि लहरि पर धावा। भँवर परा जिउ थाह न पावा।
सखी आनि बिष देहु तौ मरऊँ। जिउ नहिं पेट ताहि डर डरऊँ।
खिनहिं उठै खिन बूड़ै अस हिय कँवल सँकेत।
हीरामनिहि बोलावहु सखी गहन जिउ लेत।। २५१

और दगध कर कहाँ अपारा। सुनै सो जरै कठिन असि झारा।
होइ हनवंत बैठ है कोई। लंका डाह लाग तन होई।
लंका बुझी आगि जौं लागीं। यह न बुझै तसि उपजि बजागी।
जनहुँ अगिन के उठहिं पहारा। वै सब लागहिं अंग अँगारा।
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु माँसु सब रोवा।
खिनु एक मारि माँसु अस भूंजा। खिनहिं जिआइ सिंघ अस गूंजा।
एहि रे दगध हुँत उतिम मरीजै। दगध न सहिअ जीउ बरु दीजै।
जहँ लगि चंदन मलैगिरि औ साएर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं बुझै न आगि सरीर।। २५३

प्रेम मार्ग : मुक्ति-मार्ग

अतः जायसी के अनुसार प्रेम एक ऐसा पदार्थ है जो साधक को दोनो जगत् में सिद्धि और मुक्ति प्रदान करने वाला है :

भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला। ८९

इसलिए वे कहते हैं कि इस पृथ्वी तल पर अवतीर्ण होकर जिसने प्रेम-पथ में सिर नहीं दिया, वह इस पृथ्वी तल पर अवतीर्ण ही क्यों हुआ ?

जेइँ नहिं सीस पेम पँथ लावा । सो प्रिथिमी महँ काहे को आवा । ८९

जायसी के अनुसार प्रेम ही मनुष्य में एकमात्र दिव्यतत्व है, अन्यथा वह मुट्ठी भर राख के अतिरिक्त कुछ नहीं है :

मानुस पेम भएउ बैकुंठी । नाहित काह छार एक मूंठी । १६६

प्रेम : सौंदर्य-विधायक

जायसी के अनुसार प्रेम ही वह तत्व है जो सौन्दर्य की सृष्टि करता है; इस सृष्टि में जो सौन्दर्य है वह प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है :

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि ।
पेम छाँड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि ।। ९६

सौंदर्य का रत्नाकर : मानव-हृदय

जायसी के अनुसार सौन्दर्य एक मुक्ता-बिन्दु है, जिसे प्रेमी साधक के नेत्र-कौड़िया अनायास उसके हृदय-समुद्र से चुगते रहते हैं जब वह आन्दोलित होकर उमड़ता है :

सरग सीस धर धरती हिया सो पेम समुंद ।
नैन कौड़िया होइ रहे लै लै उठहिं सो बुंद ।। १४३

जायसी के अनुसार सौन्दर्य का क्षेत्र यह हृदय-कमल देखने में भले ही निकट ज्ञात होता है किन्तु इसे प्राप्त करना दुष्कर है :

अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह ।
नैनन्हि जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह ।। १२१

प्रेम लोक : ज्योति लोक

जायसी कहते हैं कि प्रेमलोक ऐसा ज्योतिःपूर्ण है कि जो उसका एक बार दर्शन कर लेता है, उसे यह लोक अन्धकारपूर्ण लगता है, और इससे वह आँखें हटा लेता है :

सुनि सो बात राजा मन जागा । पलक न मार पेम चित लागा ।
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूंगा । जस गुर खाइ रहा होइ गूंगा ।
हिऐ की जोति दीप वह सूझा । यह जो दीप अँधिअर भा बूझा ।
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी । पलटि न फिरी जानि कै झूठी । १२५

प्रेम मार्ग : जीवनोत्सर्ग का मार्ग

किंतु जायसी के अनुसार सिंहल का राज्य (प्रेम का भोग) लौकिक साधनों से प्राप्य नहीं है; उसे प्राप्त करने के लिए प्राणी को उदासी, योगी, यती, तपी और संन्यासी बनना पड़ता है; उसकी सिद्धि सिर काटकर अर्पित करने पर ही होती है :

सुअैं कहा मन समुझहु राजा । करब पिरीत कठिन है काजा ।
जानहिं भँवर जो तेहि पँथ लूटे । जीउ दीन्ह औ दिएँ न छूटे ।
कठिन आहि सिंघल कर राजू । पाइअ नाहिं राज के साजू ।

ओहिं पँथ जाइ जो होइ उदासी । जोगी जती तपा संन्यासी ।
भोग जोरि पाइत वह भोगू । तजि सो भोग कोइ करतन जोगू ।
साधन्ह सिद्धि न पाइअ जौलहि साध न तप्प ।
सोई जार्नाहं बापुरे जो सिर करहिं कलप्प ॥ १२३

जायसी ने इस तथ्य को अपनी कथा-योजना से भी प्रमाणित किया है। योगी, यती, तपी और संन्यासी बन कर रत्नसेन तो पद्मावती को प्राप्त कर लेता है किन्तु अला-उद्दीन अपने समस्त राजकीय वैभव की सहायता से भीउसे नहीं प्राप्त कर सकता है। प्रेम और सौन्दर्य-लोभ में यही अन्तर है। सौन्दर्य-लोभी वहीं तक अपने लोभ का प्रसार करेगा जहाँ तक उसे प्राणों की बाज़ी न लगानी पड़ेगी, प्राणों की बाज़ी लगाकर सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए निकलने का साहस प्रेमी ही कर सकता है।

इसीलिए जायसी के अनुसार प्रेम मार्ग और मार्गों से भिन्न है: और मार्गों पर पैरों से चला जाता है, किन्तु प्रेम मार्ग में सिर के बल चलना पड़ता है; वह शूलियों का मार्ग है, जिस पर चलने का साहस या तो चोर करता है, या मंसूर जैसा संत :

पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा । सो पै चढ़ै-सीस सों चढ़ा ।
पँथ सूरिन्ह कर उठा अँकूरू । चोर चढै कि चढ़ै मंसूरू । १२४

जायसी का प्रेम प्रेमपात्र को संतुष्ट करने केलिए जीवनोत्सर्ग की भावना का ही एक दूसरा नाम है। पद्मावती रत्नसेन से अपने मिलन का उल्लेख करते हुए कहती है:

हिए छोह उपना औ सीऊ । पिउ न रिसाइ लेइ बरु जीऊ । ३२४

अन्यत्र पद्मावती के लिए इसी प्रकार रत्नसेन कहता है :

ओहि न मोरि कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ ॥ २१०

प्रेम मार्ग की सबसे बड़ी बाधा : शरीरासक्ति

प्रेम की प्राप्ति जायसी के अनुसार उतनी ही दुर्गम है जितनी काल पर विजय की प्राप्ति, और उसकी उपलब्धि में सब से बड़ी बाधा अपना शरीर है; साढ़े तीन हाथों का यह शरीर बीच में सुमेरु बनकर आ जमता है, इसलिए जो सिर देकर इसके पथ पर पैर रखता है, वही इसे छू पाता है :

सबन्हि कहा मन समुझहु राजा । काल सतें कै जूझि न छाजा ।
तासौं जूझि जात जौं जीता । जात न किरसुन तजि गोपीता ।
औ नहिं नेहु काहु सौं कीजै । नाउँ मीठ खाएँ जिउ दीजै ।
पहिलेहिं सुक्ख नेहु जब जोरा । पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा ।
अहुठ, हाथ तन जैस सुमेरू । पहुँचि न जाइ परा तस फेरू ।
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा । पेम अदिस्ट गँगन सौं ऊँचा ।
धुव तें ऊँच पेम धुव उवा । सिर दै पाँउ देइ सो छुवा ।
तुम्ह राजा औ सुखिया करहु राज सुख भोग ।
एहि रे पंथ सो पहुँचै सहै जो दुक्ख वियोग ॥ १२२

जायसी के प्रेम पंथ में काया के नवद्वारों और पंचविकारों पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है, अन्यथा सिद्धि असंभव होती है; शुक कहता है :

तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरें घटहि माँह दस पंथा।
काम क्रोध तिस्ना मद माया। पाँचौ चोर न छाड़हि काया।
नव सेधै ओहि घर मँझिआरा। घर मूसहिं निसि कै उजिआरा।
अबहूँ जागु अयाने होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागिहि मूसि जाहिं जब चोर॥ १२४

जायसी इसीलिए द्रव्य-संचय को भी विनाश का कारण बताते हैं। द्रव्य के इसी लोभ के कारण रत्नसेन वापसी की यात्रा में संकट में पड़ता है: उसका बोहित्थ लंका की ओर बहक जाता है, और अन्त में टूट भी जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप पद्मावती और वह दोनों अलग-अलग बह जाते हैं। इसी पर जायसी ने उक्ति की है :

दरब भार सँग काहु न ऊठा। जेइँ सैंता तेहि सौं पुनि रूठा।
गहि पखान लै पंखि न उड़ा। मोर मोर जेइँ कीन्ह सो बुड़ा।
दरब जो जानहिं आपन भूलहिं गरब मनाह।
जौ रे उठाइ न लै सके बोरि चले जलमाँहँ॥ ३२९

जायसी संसार के भोगवाद के विरोधी हैं; वे कहते हैं जो शरीर के पोषण में लग जाते हैं, वे अन्त में संसार के बंधन में पड़ जाते हैं; उससे वे ही उबर पाते हैं जो शरीर को कृश करते हैं :--

माँटी खाइ मंछ नहिं बाँचे। बाँचहिं का जो भोग सुख राँचे।
मारै कहँ सब अस कै पाले। को उबरा एहि सरवर घाले।
एहि दुख कंठ सारि कै अगुमन रकत न राखा देह।
पंथ भुलाइ आइ जल बाझे झूठे जगत सनेह॥ ५४२

उनका कहना है कि प्राणी इंद्रियों के प्रलोभनों में पड़कर दुर्गति को प्राप्त होता है। हीरामणि सुए के पकड़े जाने का वर्णन करते हुए वे अपनी सांकेतिक शैली में कहते हैं कि प्राणी ही पक्षी है, काल व्याध है, संसार के आकर्षण-प्रलोभन उस व्याध की टट्टी हैं, पञ्च कर्मेन्द्रियों को सुख देने वाले पदार्थ पञ्चबाण हैं, और पंचतन्मात्राएँ : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध उनमें लगे हुए पाँच लासे हैं :--

पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तनु अरुझा कत मारे बिनु बाँच॥ ६९

वे कहते हैं कि विषयों की माया मनुष्य के मन को भुलावा देकर उसकी बुद्धि को ठग लेती है और उस का परिणाम यह होता है कि काल-व्याध मनुष्य को फाँस लेता है :

जौं न होति चारा कै आसा। कत चिरिहार ढुकत लै लासा।
एइँ बिखचावैं सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लै लगी।

एहि झूठी माया मन भूला। चूके पाँख जैस तन फूला।
यहु मन कठिन मरै नहिं मारा। जार न देख देख पै चारा॥ ७०

बाद के छंद में भी कवि ने इसी विचार का विस्तार जाल के स्थान पर टट्टी का रूपक लेते हुए किया है।

जायसी पक्षी का रूपक लेकर कहते हैं कि जीव को परमात्मा ने सब कुछ देते हुए वह निर्मल बुद्धि नहीं प्रदान की जिसके द्वारा वह काल-व्याध से अपनी रक्षा कर सकता। उड़ने (मुक्ति) की शक्ति देते हुए भी उसने इस जीव-पक्षी को तृष्णा, लोभ, गर्व और प्रमाद दिए जिनके कारण वह काल-व्याध के वश में हो जाता है :

सुनि कै उतर आँसु सब पोंछे। कौनु पंख बाँधा बुधि ओछे।
पंखिन्ह बुधि जौं होति उज्यारी। पढ़ा सुआ कत धरति मंजारी।
कत तीतर बन जीभि उघेला। सकति हँकारि फाँद गियँ मेला।
ता दिन व्याध भएउ जिउलेवा। उठे पाँख भा नाउँ परेवा।
भै बिआधि त्रिस्ना सँग खाधू। सूझै भुगुति न सूझ बिआधू।
हमहिं लोभ ओइँ मेला चारा। हमहिं गरब वह चाहै मारा।
हम निचित वह आउ छपाना। कौन बिआधहि दोख अपाना।
सो औगुन कत कीजै जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना किछु नाहीं मस्ट भली पंछिराज॥७२॥

प्रेम और काम

जायसी की प्रेम-साधना में काम निषिद्ध नहीं है, यदि वह प्रेम के साथ आता है तो वह स्पृहणीय भी है। जायसी ने 'काम', 'मार' तथा 'अनंग' आदि शब्दों का प्रयोग प्रेम-प्रसंगों में बिना किसी संकोच के किया है, और पति के साथ काम क्रीड़ा को स्त्री का एक आवश्यक धर्म माना है :

किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेंहि नहिं सो न सुनारी।
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू।
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी।३१७
चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत डँड न रहै थिर 'मार'।
होइ कै भसम पवन सँग धावौं जहाँ सो पान अधार॥१६७
आँक 'अनँग' अस कँवल सरीरा। हिय भा पिअर पेम की पीरा।१६९
मुहमद चिनगी 'अनँग' की सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया जहँ अस आगि समाइ॥ २०५
जस सूरुज देखत होइ ओपा। तस भा बिरह 'कामदल' कोपा। १७९
'मदन' नवाए गएउ बिमोही। भा निरजिउ जिउ दीन्हेंसि ओही। २३५

किन्तु निर्बंध काम का वे समर्थन नहीं करते हैं, वे काम को सत्य से बाँधने

का उपदेश करते हैं; वे कहते हैं कि जिस प्रकार पंच पवनों को बाँधने वाला ही योगी-यती होता है उसी प्रकार जो काम को बाँधती है वही कामिनी-सती होती है :

जोबन तुरै हाथ गहि लीजै। जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै।
जोबन जो रे मतँग गज अहै। गहु गिआन जिमि आँकुस गहै।१७१
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त मन डोल न भारी।
जेहि जिय महँ सत होइ पहारू। परै पहार न बाँकै बारू।
सती जो जरै पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ तौ सीतलि आगी।
जोबन चाँद जो चौदसि करा। बिरह कि चिनगि चाँद पुनि जरा।
पवन बंध होइ जोगी जती। काम बंध सोइ कामि नि सती।१७३

रत्नसेन के सत्य की जो परीक्षा कवि ने पार्वती (छंद २०९-१०) तथा लक्ष्मी (छंद ४१६) से कराई है, वह भी इसी तथ्य के प्रतिपादन की दृष्टि से हुई है।

प्रेम और सत्य

सत्य निष्ठा पर जायसी बहुत बल देते हैं। उनके अनुसार सृष्टि सत्य से ही बँधी हुई है; लक्ष्मी सत्य से अनायास प्राप्त हो जाती है; जो सत्यवादी होता है, पुरुष वही कहलाता है; सत्य की रक्षा के लिए ही सती चितारोहण करती है, और सत्य से ही प्राणी मुक्ति प्राप्त करता है :

राजैं कहा सत्त कहु सुआ। बिनु सत कस जस सेंवर भुआ।
होइ मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धरम सँघाता।
बाँधी सिस्टि अहै सत केरी। लखिमी आहि सत्त की चेरी।
सत्त जहाँ साहस सिधि पावा। जौं सतवादी पुरुष कहावा।
सत कहँ सती सँवारै सरा। आगि लाइ चहुँ दिसि सत जरा।
दुइ जग तरा सत्त जेइँ राखा। औ पिआर दैअहि सत भाखा।
सो सत छांड़ि जो धरम बिनासा। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा। ९२

जायसी के अनुसार साधक को सिद्धि प्रदान करने वाला वह सत्य अनन्य मनोयोग का ही दूसरा नाम है :

निसत धाइ जौं मरै तौ काहा। सत जौं करै बैसेइ होइ लाहा।
एक बार जौं मनु कै सेवा। सेवहि फल परसन होइ देवा।१६६

प्रेम मार्ग : सेवा मार्ग

परमेश्वर और जीव के संबंध में पति-पत्नी का रूपक लेते हुए जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार पत्नी को पति की सेवा में सदैव सतर्क रहना चाहिए, उसी प्रकार जीव को भी परमेश्वर की सेवा में सतर्क रहना चाहिए, और उसे पति (परमेश्वर) की कितनी ही कृपा क्यों न प्राप्त हो, उस पर गर्व न करना चाहिए, क्योंकि गर्व प्राणी को प्रहेला करने, उपेक्षा करने के लिए प्रेरित करता है। इसलिए जायसी का कहना है कि जिसे पति (परमेश्वर) का डर अधिक होता है, वही उसको अधिक

प्रिय भी होता है । नागमती सौभाग्य के गर्व में रत्नसेन की प्रहेला करती है, जिसका कठोर परिणाम यह होता है कि उसे उसका कोप-भाजन बनना पड़ता है। जायसी कहते हैं :

चाँद जैस धनि उजिअरि अही । भा पिउ रोस गहन अस गही ।
परम सोहाग निबाहि न पारी । भा दोहाग सेवाँ जब हारी ।
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा । जो पिउ आपन कहै सो झूठा ।
अैसें गरब न भूलै कोई । जेहि डर बहुत पिआरी सोई ।
मैं पिय पीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माँह ।
तेहि रिसि हौं परहेलिउँ निगड़ रोस किअ नाँह ॥८९

इसी संदेश को जायसी ने पुनः और अधिक स्पष्ट किया है जब नागमती को उन्होंने उसकी धाय से रोष का परित्याग करने का उपदेश कराया है :

उतर धाइ तब दीन्ह रिसाई । रिसि आपुहि बुधि औरहि खाई ।
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला । को न गएउ एहि रिसि कर घाला ।
कंत सोहाग कि पाइअ साँधा । पावै सोइ जो ओहि चित बाँधा ।
रहै जो पिय के आएसु औ बरतै होइ खीन ।
सोइ चाँद असि निरमरि जरम न होइ मलीन ॥९०

जायसी ने रस (प्रीति) और रिसि (रोष) का पारस्परिक विरोध बताया है। उनके अनुसार प्रेम की साधना में रोष एक बड़ी बाधा है : वह विरसता और विरोध उत्पन्न करता है, इसलिए वह प्रेम के साधक के लिए सर्वथा त्याज्य है :

तूं रिसि भरी न देखिसि आगू । रिसि मँह काकर भएउ सोहागू ।
बिरस बिरोध रिसिहि पै होई । रिसि मारै तेहि मार न कोई ।
जेहि कै रिसि मरिए रस जीजै । सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै ।
जेहि रिसि तेहि रस जोगै न जाई । बिनु रस हरदि होइ पिअराई ।९०

साधक और सृष्टि का दर्पण भाव

जायसी के अनुसार रूपवान एक मात्र वही (परमात्मा) है, और जगट् में जो रूप दिखाई पड़ता है, वह उसका अपना नहीं है : सृष्टि तो जड़ और रूपहीन थी, उसमें रूप का आविर्भाव तब हुआ जब उस आदि रूप की प्रतिच्छाया इस सृष्टि में पड़ी और जब दर्पण हो कर इस सृष्टि के पदार्थों ने उस परमरूप का साक्षात्कार किया। यह दर्पण भाव जब तक किसी में नहीं आता है, उस परम सौन्दर्य का लाभ वह नहीं कर सकता है :

गहा मानसर चहा सो पाई । पारस रूप इहाँ लगि आई ।
भा निरमर तेहि पायन्ह परसें । पावा रूप रूप के दरसें ।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा । भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा ।
पाए रूप रूप जस चहे । ससि मुख सब दरपन होइ रहे ।
नैन जो देखे कँवल भए निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर ॥ ६५

जायसी के अनुसार सृष्टि में जो भी ज्योति संपन्न पदार्थ हैं वे सभी एक आदि ज्योति की प्रतिच्छाया ग्रहण कर ज्योतित हुए हैं। इस तथ्य को उन्होंने पद्मावती के दाँतों का वर्णन करते हुए इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
दामिनि दमकि न सरबरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा।
बिहँसत हँसत दसन तस चमके पाहन उठे झरक्कि।
दारिवँ सरि जो न कैस का फाटेउ हिया दरक्कि ॥१०७

सृष्टि मात्र सौंदर्य तथा प्रेम से पूरित

अन्यत्र प्रकृति भर को जायसी ने उस दिव्य सौन्दर्य के वाणों से बिद्ध बताया है:

उन्ह बानन्ह असको को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा।
गँगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी।
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े।
बरुनि बान सब ओपहँ बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ पंखहि तन सब पंख ॥१०४

जायसी के अनुसार प्रकृति के समस्त प्राणी इस प्रेम के क्रूर पाश में आवद्ध हैं :

पेम सुनत मन भूलु न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा।
पेम फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह वहु फाँद न टूटा।
गिरगिट छंद धरै दुख तेता। खिन खिन रात पीत खिन सेता।
जानि पुछारि जो भैं बनवासी। रोवँ रोवँ परे फाँद नगवासी।
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू। उड़ि न सकै अरुझी भा बाँदू।
मुयों मुयों अह निसि चिरलाई। ओहि होस नागन्ह धरि खाई।
पाँडुक सुआ कंठ ओहि चीन्हा। जेहि गियँ परा चाह जिय दीन्हा।
तीतर गियँ जो फाँद है नितहि पुकारै दोखु।
सकति हँकारि फाँद गियँ मेलै कब मारै होइ मोखु ॥९७

जायसी के अनुसार प्रकृति के प्राणी ही नहीं, सूर्य-चन्द्रादि भी प्रेम और विरह से अभिभूत हैं :

बिरह कि आग सूर नहि टिका। रातिहुँ विवस जरा औ धिका।
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा। थिर न रहै तेहि आगि अपारा।१८०

अद्वैत-सिद्धि

जायसी की मरण-साधना अद्वैत-वेदान्त-मूलक है : किन्तु वे 'अहम् ब्रह्मास्मि'

मंत्र की अपेक्षा 'तत्त्वमसि' में वे अधिक विश्वास रखते हैं, और सिद्धि की अवस्था को वे अद्वैत-स्थिति के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

परगट लोकचार कहु बाता । गुपुत लाउ जासौं मन राता ।
हौं हौं कहत मंत सब कोई । जौं तू नाहिं आइ सब सोई ।
जियतहि जौ रे मरै इक बारा । पुनि कत मीचु को मारै पारा ।
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला । आपुहि सब सो आपु अकेला ।
आपुहि मीचु जिअन पुनि आपुहि आपुहि तन मन सोई ।
आपुहि आपु करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ ।।२१६

जायसी ने अपने इस अद्वैत सिद्धान्त को एकान्तवाद कहा है, और 'मरण' से वह किस प्रकार प्राप्त होता है, इसकी बड़ी ही विशद व्याख्या उस प्रसंग में की है जिसमें पद्मावती से समुद्र में बिछुड़ने पर रत्नसेन अपने जीव को खोने के लिए तुल जाता है । पंडित उससे कहता है :

जौं तूं मुवा कस रोवसि खरा । न मुवा मरै न रोवै मरा ।
जौं मर भया औ छाँड़ेसि माया । बहुरि न करै मरन कै दाया ।
जौं मर भया न बूड़ै नीरा । बहत जाइ लागै पै तीरा ।
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा । जैस राम दसरथ कर बेटा ।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा । एहि समुंद्र महँ फिरि फिरि रोवा ।
पुनि जौं राम खोइ भा मरा । तब एक अंत भएउ मिलि तरा ।
तस मर होहि मूंदु अब आँखी । लावौं तीर टेकु बैसाखी ।
बाउर अंध पेम कर लुबुधा सुनत ओहि भा बाट ।
निमिख एक महँ लेइगा पदुमावति जेहि घाट ।। ४१३

प्रेम मार्ग के गुरु-शिष्य : प्रेमपात्र-प्रेमी

जायसी के अनुसार गुरु वह है जो विरह की चिनगारी देता है, और चेला वह है जो उस विरह की चिनगारी को प्रेम की अग्नि के रूप में प्रज्वलित कर लेता है :

गुरू बिरह चिनगी पै मेला । जो सुलगाइ लेइ सो चेला । १२५

इसी भाव को उन्होंने अन्यत्र और स्पष्ट किया है :

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा । कोटि अँतर पट बिच हुत दीन्हा ।
जौं चीन्हा तौ औरु न कोई । तन मन जिउ जोबन सब सोई ।
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं । जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं ।
मारै गुरू कि गुरू जिआवा । औरु को मार मरै सब आवा ।
सूरी मेलु हस्ति कर पूरू । हौं नहिं जानौं जानै गूरू ।
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा । जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा ।
अंध मीन जस जल महँ धावा । जल जीवन जल दिस्टि न आवा ।
गुरु मोरे मोरें हित दीन्हे तुरँगहि ठाठ ।
भीतर करैं डोलावै बाहर नाचै काठ ।। २४५

जायसी पुरुष और नारी का प्रेम-वर्णन करते हुए अनायास ही जीव और ब्रह्म के प्रेम के संकेत करने लगते हैं, यथा जब पद्मावती अपनी सखियों से रत्नसेन से हुए मिलन के बारे में कहती है :

कै सिंगार तापहँ कहँ जाऊँ । ओहि कहँ देखौं ठांवहि ठाऊँ ।
जौ जिउ नहँ तौ उहै पिआरा । तन महँ सोइ न होइ निनारा ।
नैनन्ह माँह तौ उहै समाना । देखउँ जहाँ न देखउँ आना ।
आपुन रस आपुहि पै लेई । अधर सहें लागे रस देई ।
हिया भार कुच कंचन लाड़ू । अगुमन भेंट दीन्ह होइ चाड़ू ।
हुलसी लंक लंक सों लसी । रावन रहसि कसौटी कसी ।
जो बन सबै मिला ओहि जाई । हौं रे बीच हुति गई हेराई ।
जस किछु दीजै धरै कहँ आपन लीजै सँभारि ।
तस सिंगार सब लीन्हेसि मोहि कीन्हेसि ठठियार ।।३२५

अथवा, पद्मावती के निम्नलिखित उद्गारों में, जो उसने समुद्र में बोहित्थ के टूटने पर रत्नसेन से बिछुड़ने पर व्यक्त किए हैं :

कया उदधि चितवौ पिय पाहाँ । देखौं रतन सो हिरदय माहाँ ।
जानु आहि दरपन मोर हिया । तेहि महँ दरसन देखावै पिया ।
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी । अब तेहि लागि मरौं सुठि झूरी ।
पिउ हिरदै महँ भेंट न होई । को रे मिलाव कहौं केहि रोई ।
साँस पास नित आवै जाई । सो न सँदेह कहै मोहिं आई ।
नैन कौड़िया भै मँडराहीं । थिरकि मारि लै आवहिं जाहीं ।
मन भँवरा ओहि कँवल बसेरी । होइ मरजिया न आनहिं हेरी ।
साथी आथि निआथि भै सकेसि न साथ निबाहि ।
जौं जिउ जारें पिउ मिलै फिटु रे जीय जरि जाहि ।। ४०१

अथवा, रत्नसेन के बंदी होने के बाद के पद्मावती के कथन में :

कवन खंड हौं हेरौं कहाँ मिलहु हो नाहँ ।
हेरें कतहुँ न पावौं बसहु तौ हिरदै माहँ ।।५८३

अथवा रत्नसेन के लौटने पर उसके द्वारा सूचित किए गए मन के प्रबोधनमें :

बास फूल घिउ छीर जस निरमल नीर मठाहँ ।
तैस निकट घट पूरुख ज्यों रे अगिनि कठाहँ ।।६४४

पद्मावती : एक स्वर्गीय ज्योति

जायसी ने पद्मावती के रूप को एक अद्भुत रहस्यात्मकता प्रदान की है। इस विषय में अलाउद्दीन के द्वारा उसके संबंध में किया गया कथन दर्शनीय है :

देखि एक कौतुक हौं रहा । अहा अँतरपट पै नहिं अहा ।
सरवर एक देख मैं सोई । अहा पानि पै पानि न होई ।
सरग आइ धरती महँ छावा । अहा धरति पै धरति न आवा ।

तेहि महँ है पुनि मँडप ऊँचा । करहि अहा पै कर न पहूँचा ।
तेहि मंदिल मूरति मैं देखी । बिनु तन बिनु जिय जियँ बिसेखी ।
चाँद सँपूरन जनु होइ तपी । पारस रूप दरस दै छपी । ५७१

पद्मावती को जायसी ने एक स्वर्गीय ज्योति के रूप में अवतरित भी किया है : जिस समय चंपावती अपने रूप के सर्वोत्कृष्ट काल में होती है, उस समय उसके मन की छाया में पद्मावती की ज्योति प्रविष्ट होती है । जायसी कहते हैं कि आदि में वह ज्योति आकाश (शिवलोक) में निर्मित हुई थी, तदनंतर वह पिता के मस्तक पर मणि (दीप्ति) के रूप में अवतरित हुई थी, तदनंतर वह माता के घट में आई और उसके उदर में उसने बहुतेरा आदर प्राप्त किया । जायसी कहते हैं कि ज्यों-ज्यों ज्योति की वह धरोहर आकार ग्रहण करती जा रही थी, त्यों-त्यों माता के हृदय में उसका प्रकाश बढ़ता जा रहा था, और जिस प्रकार क्षीण अंचल में से दीपक झलमलाता है, उसी प्रकार माता का प्रकाशपूर्ण हृदय भी दिखाई पड़ने लगा था । वह शिवलोक की इस दिव्य मणि के अवतार से अवगत हो कर राजमंदिर को सोने से सँवारती तथा चंदन से लीपती थी :

चंपावति जो रूप उतिमाहाँ । पदुमावति कि जोति मन छाहाँ ।
भैं चाहै असि कथा सलोनी । मेटि न जाइ लिखी जसि होनी ।
सिंघल दीप भएउ तब नाऊँ । जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊँ ।
प्रथम सो जोति गगन निरमई । पुनि सो पिता माथें मनि भई ।
पुनि वह जोति मातु घट आई । तेहि ओदर आदर बड़ पाई ।
जस औधान पूर होइ तासू । दिन दिन हिएँ होइ परगासू ।
जस अंचल झीने महँ दिआ । तस उजिआर देखावै हिआ ।
सोनै मँदिर सँवारै औ चंदन सब लीप ।
दिया जो 'मनि सिवलोक महँ' उपना सिंघल दीप ॥ ५०

पद्मावती को जायसी ने एक अलौकिक सौन्दर्य-ज्योति के रूप में बताया है, जिसको जानने भर का यत्न करना चाहिए, जो प्रत्यक्ष-दर्शन से तत्काल प्राणापहरण करती है । राघव से पद्मावती की सखियाँ कहती हैं :

वह पदुमावति आहि अनूपा । बरनि न जाइ काहु के रूपा ।
जेइँ चीन्हा सो गुपुत चलि गएऊ । परगट गाहि जीउ बिनु भएऊ ।
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए । धुनि धुनि सीस जीउ दै गए ।
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गीवा । उतरु न देइ मार पै जीवाँ । ४५५

किन्तु पद्मावती परमात्मा का प्रतीक नहीं है, यह अन्यत्र भी आए हुए रत्नसेन के उद्गारों से प्रकट है । समुद्र में पद्मावती से बिछुड़ने पर वह कहता है :

तूं जिउ तन मेरवसि दै आऊ । तुंही बिछोवसि करसि मेराऊ ।
चौदह भुवन सो तोरें हाथा । जहँ लगि बिछुरे औ एक साथा ।
सब कर मरम भेद तोहि पाहाँ । रोवँ जमावसि टूटै जहाँ ।
जानसि सबै अवस्था मोरी । जस बिछुरी सारस कै जोरी ।

एक मुए सँग मरै सो दूजी । रहा न जाइ आइ सब पूजी ।
झूरत तपत दगधि का मरऊँ । कलपौं सीस बेगि निस्तारऊँ ।
मरौं सो लै पदुमावति नाऊँ । तूं करतार करसि एक ठाऊँ ।
दुख जो पिरीतम भेंटि कै सुख जो न सोवै कोइ ।
इहै ठाउँ मन डरपै मिलि न बिछोवा होइ ।।४०८

जायसी पद्मावती को एक दिव्य जोति के रूप में ही चित्रित करते हैं, परमात्मा के रूप में नहीं, यह बात उस समय और स्पष्ट हो जाती है जब रत्नसेन को शूली दी जाने को होती है, और उससे कहा जाता है कि वह जिसे स्मरण करना चाहता है, स्मरण करे। उस समय वह पहले परमेश्वर का स्मरण करता है, और तदनंतर पद्मावती का :

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा । हम तोहि करहिं केत कर भँवरा ।
कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा । मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा ।
औ सवरौं पदुमावति रामा । यह जिउ निवछावरि जेहि नामा ।२६२

अवश्य ही उसका सारा अस्तित्व इस समय पद्मावतीमय हो रहा है :

रकत के बूंद कया जेत अहहीं । पदुमावति पदुमावति कहहीं ।
रहहु त बुंद बुंद महँ ठाऊँ । परहुँ तौ सोई लै लै नाऊँ ।
रोवँ रोवँ तन तासौं ओधा । सोतहि सोत बेधि जिउ सोधा ।
हाड़ हाड़ महँ सबद सो होई । नस नस माँह उठै धुनि सोई ।
खाइ बिरह गा ताकर गूद माँस की खान ।
हौं होइ साँचा धरि रहा वह होइ रूप समान ।। २६२

किन्तु इस समय भी वह परमेश्वर का स्मरण पहले करता है।

रत्नसेन : धरती का सर्वाधिक निर्मल रत्न

जायसी रत्नसेन को भी इसी प्रकार इस धरती के सर्वाधिक निर्मल कान्ति युक्त रत्न के रूप में अवतरित बताते हैं। वे कहते हैं कि सूर्य और स्पर्शमणि की पारस्परिक क्रीड़ा से संसार में जो हीरे की उत्पत्ति हुई है, उससे भी अधिक उस पदार्थ की कला थी जो निर्मल रत्न के रूप में [पद्मावती के वर होने के] योग्य उत्पन्न हुआ :

सूर परससों भएउ किरीरा । किरिन जामि उपजा नग हीरा ।
तेहिं ते अधिक पदारथ करा । रतन जोग उपजा निरमरा । ५२।।

जायसी का ऐहिक पंथ

जीवन में प्रेम की साधना के लिए जायसी ने सुखों का त्याग आवश्यक माना है किन्तु अन्यथा वे समाज के लिए ऐसे जीवन-दर्शन में विश्वास रखते हैं जो सुखभोग से युक्त है। इसको वे 'ऐहिक पंथ' कहते हैं। रत्नसेन अपनी प्रेम-साधना के पूर्व और अनंतर इसी 'ऐहिक पंथ' का पथिक रहता है। जायसी ने 'पद्मावत' में सिंहल और शिवलोक की जो कल्पना की है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। वे सिंहल की तुलना

कैलास के अन्तर्गत बसी हुई इन्द्रपुरी से करते हैं और उसके निवासियों की तुलना 'शिवलोक' के निवासियों से करते हुए वे कहते हैं कि सिंहल के नागरिक 'ऐहिक पंथ' का निर्माण करते हैं :

सिंघल नगर दीख पुनि बसा । धनि राजा असि जाकरि दसा ।
ऊँची पँवरी ऊँच अवासा । जनु 'कबिलास' इन्द्र कर बासा ।
राउ राँक सब घर घर सुखी । जो देखिअ सो हँसता मुखी ।
जनहुँ सभा देवतन्ह कै जुरी । परी दिस्टि इंद्रासन पुरी ।
सबै गुनी पंडित औ ज्ञाता । संसकिरत सबके मुख बाता ।
'अैहिक पंथ' सँवारहिं जस 'सिवलोक' अनूप ।
घर घर नारि पदुमिनी मोहहिं दरसन रूप ॥ ३६

इसी प्रकार का वर्णन जायसी के समकालीन मंझन ने 'मधुमालती' में अपने नगर चुनार के निवासियों का है :

गढ़ सुहाव गढ़पति सुर ज्ञानी । नगर लोक सभ सुखी 'नियानी' ।
सभ सुरहरी भगत औ ग्यानी । आनंदी पर दुखी बिनानी ।
दाता औ दयाल धरमिस्टा । सभै पेम रसलीन गरिस्टा ।
भागिवंत 'भोगी' सब लोगा । औ सभ कहँ कुलवंत संजोगा ।
मोहिं अस्तुति मुँह कही न जाई । जानु 'सरग' भुइँ छावा आई ।
खोरि खोरि सभ घर घर नगर अनंद हुलास ।
कलिजुग महँ जस प्रिथिमीं उतरि बसी 'कबिलास' ॥ ३५

जिस प्रकार जायसी ने कहा है कि सिंहलवासी ऐहिक (=इहलोक सम्बन्धी) पंथ सँवारते थे, उसी प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में मंझन ने चुनारवासियों को नियानी (निदानी=किसी हेतु या उद्देश्य से काम करने वाला), आनंदी (=आनंद-विश्वासी), और भोगी (=भोगवादी) कहा है। पुनः इन कवियों की शिवलोक और कैलास कल्पना भी एक ही प्रकार की है। जायसी ने दिए हुए उद्धरण में सिंहल निवासियों की तुलना 'कबिलास' अथवा 'सिवलोक' के निवासियों से की है तो मंझन ने भी दिए हुए उद्धरण में चुनार-निवासियों की तुलना 'कबिलास' (=शिवलोक) के निवासियों से की है।

जायसी गृही से उदासी बनने का उपदेश नहीं करते हैं। न केवल उनकी सारी कहानी इसकी ओर संकेत करती है, उन्होंने इसे स्वयं कहा भी है। किन्तु साथ ही वे पृथ्वी के उन प्रलोभनों से बचे हुए रहने का भी उपदेश करते हैं जो बुद्धि को भ्रष्ट कर मनुष्य को बंधन में डालने वाले होते हैं। नागमती के संदेश-वाहक पक्षी को जब रत्नसेन अपने पास बुलाता है, वह कहता है :

कहा बिहंगम जो बनबासी । कित गिरही तें होइ उदासी ।
जेहि तरिवर तर तुम अस कोऊ । कोकिल काग बराबरि दोऊ ।
धरती महँ बिखचारा परा । हारिल जानि पुहुमि परिहरा ।
फिरौं बियोगी डारहि डारा । करौं चलै कहँ पँख सँवारा ।
जियनि की घरी घटत निति जाहीं । साँसहि जिउ है देवसहि नाहीं ।

जौं लहि फेरि मुकुति है परौं न पिंजर माँह ।
जाउँ बेगि थरि आपनि हैं जहाँ बिंझ बनाँह ।। ३७१

प्रेम साधना के चार प्रमुख उपादान

जायसी ने प्रेम साधना के चार प्रमुख उपादानों का उल्लेख किया है, और उन्हें करम, धरम, सत, नेम कहा है, उनका करम संभवतः 'शरीअत' है, धरम 'तरीक़त', सत 'हक़ीक़त' और नेम 'मारिफ़त' :

दस महँ एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम ।
बोहित पार होइ जौं तौ कूसल औ खेम ।। १४८

मानव मन : मोक्ष और बन्धन का कारण

जायसी कहते हैं कि मनुष्य का मन ही शक्ति है और शिव है :

गजपति यह मन सकती सीऊ ।। १४२

समस्त सृष्टि पुरुष तथा नारी तत्वों से निर्मित और व्याप्त है । इन्हीं को शैव मत में शिव तथा शक्ति माना गया है और इनके सामरस्य का उपदेश किया गया है । और चूँकि मन इस बहिर्गत सृष्टि के अनुरूप स्वयं भी एक सृष्टि की रचना करता है, इसलिए मन को भी शिव और शक्ति-स्वरूप माना गया है ।

किन्तु रत्नसेन का उदाहरण लेते हुए जायसी कहते हैं इन मरणों के बाद भी मन ऐसा कठिन है कि वह नहीं मरता है, और जैसे ही उसे अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती हैं, पुनः वह गर्व से ऐंठ जाता है । जायसी कहते हैं कि इसको मारना असंभव है; इसे मारना तभी संभव है जब कि ज्ञान-शिला पर इसे निरंतर घिसा जाए ; घिसते-घिसते ही यह विलीन हो सकता है :

चितउर आइ नियर भा राजा । बहुरा जीति इंद्र अस गाजा ।
बाजन बाजै होइ अँदोरा । आवहिं हस्ति बहुल औ घोरा ।
पदुमावति चंडोल बईठी । पुनि गै उलटि सरग सौं दीठी ।
यह मन ऐंठा रहै न सूधा । बिपति न सँवरै सँपतिहि लुबुधा ।
सहस बरिख दुख जरै जौं कोई । घरी एक सुख बिसरै सोई ।
जोगिन्ह इहै जानि मन मारा । तउव न मुवा यह मन औ पारा ।
रहै न बाँधा बाँधा जेही । तेलिया मुवा डारु पुनि तेही ।
मुहमद यह मन अमर है कहु किमि मारा जाइ ।
ग्यान सिला सौं जौं घँसै घँसतहि घँसत बिलाइ ।। ४२२

योग मार्ग तथा प्रेम मार्ग : वेद-वाह्य किन्तु दक्षिण मार्ग

ऊपर हमने देखा है कि जायसी ने 'मरण' के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति दो मार्गों द्वारा संभव बताई है : एक तो योग मार्ग है और दूसरा है प्रेम मार्ग । भारतीय जनता योग मार्ग के द्वारा प्राप्त होने वाली मरण-साधना से तो परिचित थी, प्रेम मार्ग

के द्वारा प्राप्त होने वाली मरण-साधना से परिचित नहीं थी। यही मार्ग सूफ़ियों का था, जिसे स्पष्ट करने में सबसे अधिक सफलता जायसी को प्राप्त हुई है।

जायसी योग मार्ग और प्रेम मार्ग को वेद-वाह्य बताते हैं : रत्नसेन के पकड़े जाने पर जब गंधर्वसेन वेदज्ञ पंडितों को बुलाता है और उनसे उसके दंड की व्यवस्था चाहता है, वे पंडित कहते हैं :

कर्हाहि बेद पढ़ि पंडित बेदी। जोगी भँवर जस मालति भेदी।
जैसें चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस भे दुवौ जीव पर खेलहिं।
पंथ न चलहिं बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे।
चोरहि होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरी तेहि नहीं दोखू। २३९

इसी ओर संकेत करते हुए। हीरामणि पद्मावती से कहता है :

पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी॥ २५६

किन्तु जायसी ने अपने समय में प्रचलित वाम मार्ग की निन्दा की है और अपने योग-प्रेम-प्रधान साधन-पथ को दक्षिण मार्ग कहते हुए उस का समर्थन किया है। नागमती का संदेश देने वाला पक्षी रत्नसेन से कहता है :

पूंछसि काह सँदेस बियोगू। जोगी भया न जानसि जोगू।
दहिने संख न सिंगी पूरै। बाएँ पूरि बादि दिन झूरै।
तेलि बैल जस बाएँ फिरै। परा भौंर महँ सौंह न तिरै।
तुरी औ नाव दाहिन रथ हाँका। बाएँ फिरै कोंहार क चाका।
तोहि नाहीं अस पंखि भुलाना। उड़ै सो आदि जगत महँ जाना।
दहिनें फिरै सो अस उँजिआरा। जस जग चाँद सुरुज औतारा।
मुहमद बाईं दिसि तजे एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु परपीहा पाँखि॥ ३६७

जायसी का प्रेम-सन्देश

जायसी के प्रेम-संदेश के संबंध में कुछ परिणाम फलतः सुगमता से निकाले जा सकते हैं :

(१) जायसी की कथा प्रतीकात्मक नहीं है; जिस प्रेम का विकास उन्होंने रत्नसेन-पद्मावती के बीच किया है वह जीव और ईश्वर के प्रेम का प्रतीकात्मक रूप नहीं हैं। वह विशुद्ध रूप में पुरुष और नारी का प्रेम है, जो परमेश्वर की ज्योति लेकर अवतीर्ण होते हैं।

(२) प्रेम मात्र को जायसी दिव्य मानते हैं; इसलिए उनके अनुसार पुरुष और नारी का प्रेम भी दिव्य है, यदि वह प्रेम हो, सुख लोभ मात्र न हो अर्थात् उसमें प्रेम-पात्र की प्राप्ति के लिए जीवनोत्सर्ग की भावना हो। इस प्रकार का प्रेम मनुष्य के जीवन को पवित्र बनाता है और उसे सार्थक करता है।

(३) जीव और ईश्वर का प्रेम पुरुष-नारी प्रेम से किंचित् भिन्न है। जीवन में उसका कदाचित् और अधिक महत्व है। किन्तु पुरुष, नारी प्रेम की सहायता से जायसी ने

उसकी ओर जब-तब संकेत मात्र किए हैं, वह प्रस्तुत कृति में जायसी का वर्ण्य नहीं है।

(४) पुरुष-नारी प्रेम में काम के लिए भी विहित स्थान है, वह निषिद्ध नहीं है, ऐसा जायसी का स्पष्ट मत है।

'पद्मावत' से संबंधित कुछ अन्य समस्याएं

ऊपर हमने 'पदमावत' की रचना-तिथि, उसकी कथा और उसके चरित्रों के मूलाधार तथा उसमें व्यक्त किए गए कवि के जीवन-दर्शन पर पूरे विस्तार के साथ विचार किया है। इनके अतिरिक्त 'पदमावत' से संबंधित कुछ समस्याएँ और रह जाती हैं जिन पर विचार करना अपेक्षित है। इन पर हम नीचे विचार करेंगे।

(१)

अपनी 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि जायसी के प्रेम का प्रारंभ रूप-लोभ से होता है—सुए के मुख से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनते ही बिना उसे देखे रत्नसेन जो उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ पड़ता है, यह उसका रूप-लोभ है, प्रेम नहीं। (भूमिका, प्रथम संस्करण, पृ० ३७)। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने लोभ और प्रेम के अन्तर को विस्तार से स्पष्ट किया है। प्रश्न यह है कि क्या शुक्ल जी का यह मत मान्य है अथवा इसका कोई अन्य समाधान भी संभव है।

वस्तुतः यह समस्या जायसी के अध्ययन की ही समस्या नहीं है, हिन्दी के समस्त सूफ़ी कवियों के अध्ययन में हमारे सामने आती है। प्रेम का प्रादुर्भाव गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से इन सभी की कृतियों में होता है। इसलिए इस समस्या का समाधान भी कुछ अधिक व्यापक रूप से खोजा जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि जायसी ने इसका कोई समाधान न दिया हो किन्तु वह बहुत संक्षिप्त है, और कदाचित् इसीलिएं इतना संक्षिप्त है कि वे अपने प्रेम रस के रसिक और विज्ञ पाठकों से यह अपेक्षा करते थे कि उनके लिए यही पर्याप्त होगा। संभव है कि जिन्हें वे अपने काव्य का पाठक समझते थे, उनके सामने यह समस्या उस प्रकार रही भी न हो, जिस प्रकार यह आज हमारे सामने है। अस्तु।

जायसी का रत्नसेन पद्मावती से विवाह के बाद के प्रथम मिलन में वार्तालाप के प्रसंग में कहता है :—

अनु धनि तूं ससिअर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तूं छाहाँ।
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज कि जोति चाँद निरमरा। (३०७.१-२)

और पद्मावती भी इसका समर्थन करती है, जब वह कहती है :—

हीरा दिपै जौं सुरुज उदोती। नाहिं त कित पाहन कहँ जोती।
रवि परगासें कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर कित बासा। (३१५.६-७)

उनके इन कथनों का स्पष्टीकरण तब होता है जब हम प्रसिद्ध सूफ़ी संत और दार्शनिक इब्नुल अरबी (मृत्यु १२४० ई०) के सिद्धान्तों पर दृष्टि डालते हैं। उसने 'फ़ुसूसुल हिकाम' में कहा है :—

"जिस प्रकार ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप में मनुष्य का निर्माण हुआ है, उसी

प्रकार पुरुष की प्रतिच्छाया के रूप में स्त्री की रचना हुई है। इसीलिए पुरुष ईश्वर तथा स्त्री दोनों से प्रेम करता है। स्त्री का पुरुष से वही संबंध है जो प्रकृति का ईश्वर से है। अतः इस अर्थ में जब स्त्री से प्रेम किया जाता है, तो वह प्रेम ईश्वरीय होता है।"[1]

जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती के वार्त्तालाप में इसी मत को सूर्य और चन्द्र, सूर्य और हीरा तथा सूर्य और कमल के प्रतीकों को लेकर प्रस्तुत किया है।

मंझन ने अपनी रचना 'मधुमालती'[2] में इस प्रेम के रहस्य का उद्घाटन और भी विस्तार के साथ किया है। प्रथम दर्शन में ही उनकी कथा का नायक मनोहर 'मधुमालती' से अपने इस प्रथम दर्शन जनित प्रेम का रहस्य स्पष्ट करता है।

वह इस प्रकार कहता है :—

कहै कुंवर सुनु पेम पियारी। तोहि मोहि प्रीति पुब्ब बिधि सारी।
एहि जग जीवन मोहि तोहि लाहा। मैं जिउ दै तोर दुक्ख बेसाहा।
मैं न आजु तोरें दुक्ख दुखारी। तोरें दुख सेउं मोहि आदि चिन्हारी।
जोहि दिन सिरेउ आँस बिधि मोरा। तेहि दिन मोहि दरसेउ दुख तोरा।
बर कामिनि तोहि प्रीति के नीरू। मोहि माँटी भा सानि सरीरू।
पुब्ब दिनन सेउँ जानहुँ तुम्हरी प्रीति के नीर।
मोहि माँटी बिधि सानि कै तौ यह सिरेउ सरीर ॥ (११३)

मंझन के अनुसार नायक और नायिका का यह प्रेम-प्रसंग उसी समय से प्रारम्भ होता है जब कि दोनों का निर्माण होता है, प्रेमी का शरीर भी प्रेमिका की प्रीति के जल से पंचतत्वों की मिट्टी सान कर बनाया जाता है। मंझन तो यहाँ तक कहते हैं कि जब जीव भी नायक के आदि-घट में नहीं आया था, तभी प्रेमिका का विरह-दुःख उसके घट में आ गया था :—

प्रान आदि घट होत न आवा। बिधि तोर दुख मोहि तब दरसावा ॥ (११४.२)

और इसी दुःख की बदौलत उन दोनों के जीव भी अभिन्न हो गए थे :—

मैं सभ तजि संकरेउँ दुख तोरा। मोर जिउ तोर तोर जिउ मोरा ॥ (११४.१)

इस विचार को वे आगे और भी पल्लवित करते हैं। उनका नायक कहता है :—

मैं तैं दुवौ सदा संघ बासी। औ संतत एक देह नेवासी।
औ मैं तुइँ दुइ एक सरीरा। दुइ माँटी सानी एक नीरा।
एक बारी दुइ बहै पनारी। एक दिया दुइ घर उजियारी।
एक जीउ दुइ घट संचारा। एक अगिनि दुइ ठाएँ बारा।
एकै हम दुइ कै औतारे। एक मंदिल दुइ किए दुवारे।
एकै जोति रूप पुनि एकै एक परान एक देह।
आपुहि आपु जो देइ कोइ चाहै तेहि कर कौन संदेह ॥ (११७)

---

१. डॉ० श्यामसनोहर पाँडेय, 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० १९।

२. उद्धरणों के लिए देखिए, प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित संस्करण, प्रकाशक—मित्र प्रकाशन प्रा० लिमिटेड, प्रयाग, १९६१।

इसीलिए मंझन दोनों को एक दूसरे से सदैव के लिए अविच्छेद्य भी बताते हैं:—

तैं जौ समुंद लहरि मैं तोरी। तैं रबि मैं नग किरनि अंजोरी।
मोहि आपुहि जनि जानु निरारा। मैं सरीर तुइं प्रान पियारा।
मोहि तोहि को पारै बेगराई। एक जोति दुइ भाउ देखाई।
सभ गियान चखु देखेउं हेरी। हम तुम्ह दुहुँ परिचै कब केरी।
अजहूँ मोहि न चीन्हेसि बारी। संवरि देखु चित आदि चिन्हारी।
अरुझा फांद पेम कर अहा जो दुहुं जिय केर।
होत आपु महं परिचै सइं नर धर जिउ फेरि॥ (११८)

मंझन के अनुसार इस प्रेमिका की प्राप्ति पर प्रेमी को जैसे वह सत्य मिल जाता है जिसकी खोज वह अनेकानेक जन्म धारण करके करता रहा है; नायिका को पाकर उसे जैसे समस्त सृष्टि का रहस्य, उसकी समस्त समस्याओं का समाधान एक साथ मिल जाता है और इसीलिए उसके पहिचानने में उसे देर भी नहीं लगती है :—

अब लहि बिनु जिय जीवन सारा। आजु देखि तोहि जीउ संभारा।
देखत खिन पहिचानाँ तोही। इहै रूप जेइं छंदरा मोही।
इहै रूप तब अहेउ छपानाँ। इहै रूप अब सिस्टि समानाँ।
इहै रूप सकती औ सीऊ। इहै रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
इहै रूप परगट बहु भेसा। इहै रूप जग राँक नरेसा।
इहै रूप त्रिभुवन जग बरसै महि पयाल आगास।
सोइ रूप परगट मैं देखा तुव साथें परगास॥ (११९)

मंझन के अनुसार प्रेमी को फिर यह प्रेमिका का रूप ही रूप मात्र की इयत्ता की अनुभूति कराता है। मनोहर कहता है :—

इहै रूप परगट बहु रूपा। इहै रूप बहु भाउ अनूपा।
इहै रूप सभ नैनन्ह जोती। इहै रूप सभ सायर मोती।
इहै रूप सभ फूलन्ह बासा। इहै रूप रस भँवर बेरासा।
इहै रूप ससिहर औ सूरा। इहै रूप जग पूरि अपूरा।
इहै रूप अंत आदि निदाना। इहै रूप धरि धर सो छिपानाँ।
इहै रूप जल थर औ महिअर भाउ अनेग देखाउ।
आपु गँवाइ जो रे कोइ देखै देखै सो किछु पाउ॥ (१२०)

शुक्ल जी कहते हैं कि अलाउद्दीन भी तो यही करता है, वह भी तो राघव के मुख से वैसा ही वर्णन सुनकर चित्तौर पर चढ़ाई कर देता है, जिस प्रकार सुए के द्वारा पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन उसके लिए योगी बन कर निकल पड़ता है; फिर क्यों एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूप-लोभी लंपट के रूप में? वे कहते हैं, अलाउद्दीन के विपक्ष में दो ही बातें हैं—(१) पदमावती का दूसरे की विवाहिता होना और (२) अलाउद्दीन का दुष्ट प्रयत्न करना।...यदि अनौचित्य का यह विचार छोड़ दिया जाए तो पद्मावती का रूप-वर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदयों में उसके प्रति जो चाह उत्पन्न हुई, वह एक दूसरे से भिन्न नहीं जान पड़ती है। (पृ० ३९)

इस अनौचित्य की जो दो बातें शुक्ल जी ने उठाई हैं, उनमें से प्रथम सूफ़ियों के लिए निषिद्ध नहीं है। 'फ़ारस' की सूफ़ी कथाओं में यह एक सामान्य प्रवृत्ति है। शीरीं-फ़रहाद और लैला-मजनूँ की कहानियों में शीरीं और लैला दोनों अन्य पुरुषों की विवाहिताएँ हैं।

प्रसिद्ध कवि निज़ामी की 'ख़ुसरो-शीरीं' को देखिए। शीरीं ख़ुसरो की विवाहित होती है। इसके अनंतर फ़रहाद नाम का शिल्पी शीरीं पर अनुरक्त हो जाता है। ख़ुसरो जब यह सुनता है, वह उसे अपने प्रेम को प्रमाणित करने के लिए बेसतून पर्वत को काट कर शीरीं के लिए दूध की नहर लाने के लिए कहता है। फ़रहाद शीरीं का चित्र सामने रख कर पहाड़ काटने लगता है और अन्त में अपने काम में सफल भी होता है। किन्तु जब ख़ुसरो को यह ज्ञात होता है, वह यह ख़बर फैला देता है कि शीरीं मर गई, और इस समाचार को सुन कर फ़रहाद अपने प्राण छोड़ देता है। शीरीं उसका मज़ार बनवाती है। कुछ समय बाद ख़ुसरो का एक बेटा उसकी हत्या कर डालता है और शीरीं उसको दफ़न करके आत्म-हत्या कर लेती है।[1]

निज़ामी की 'लैला-मजनूँ' की कथा इस प्रकार है। क़ैस (जो पीछे 'मजनूँ' के नाम से प्रसिद्ध होता है) लैला के साथ एक ही मकतब में पढ़ता है। दोनों में प्रेम हो जाता है। जब लैला के माँ-बाप को यह ज्ञात होता है, वे लैला का क़ैस (मजनूँ) से मिलना बंद कर देते हैं, और उसका विवाह इब्ने सलाम से कर देते हैं। फिर भी, क़ैस (मजनूँ) का प्रेम बना रहता है, और वह उसके विरह में पागलों की भाँति घूमता रहता है। इसीलिए उसको लोग 'मजनूँ' कहने लगते हैं। कुछ समय बाद इब्ने सलाम की मृत्यु हो जाती है। तब लैला और मजनूँ मिलते हैं, किन्तु शीघ्र ही लैला की मृत्यु हो जाती हैं और मजनूँ भी उसकी क़ब्र पर प्राण दे देता है।[2] ख़ुसरो की देवल देवी और ख़िज्र ख़ाँ की कहानी में भी इसी प्रकार के प्रेम का चित्रण है।

हिन्दी की सूफ़ी कथाओं में भी इस प्रकार का प्रेम चित्रित हुआ है, यद्यपि इसका प्रचलन बहुत प्रारंभ में ही मिलता है और बाद में भारतीय वातावरण में इसका निषेध-सा हो गया। मुल्ला दाऊद का 'चंदायन' इसी प्रकार के प्रेम की कथा है। उसकी नायिका चंदा बावन की विवाहिता है, लोरिक और वह एक-दूसरे को देख कर परस्पर मुग्ध होते हैं और प्रेम करने लगते हैं। पीछे वे कुछ बाधाओं के अनंतर परस्पर विवाहित भी हो जाते हैं। फलतः भारतीय सूफ़ी-साधना में भी इस प्रकार का प्रेम वर्जित नहीं था, यह प्रकट है, और केवल इसके आधार पर अलाउद्दीन की भावना को एक नाम और रत्नसेन की भावना को दूसरा नाम नहीं दिया जा सकता है।

अनौचित्य की जो दूसरी बात शुक्ल जी ने कही है, वह अवश्य कुछ ज़ोर रखती है। अलाउद्दीन का प्रयत्न दुष्ट है। फ़ारसी सूफ़ी प्रेम-कथाओं में हम देखते हैं कि प्रेमी अन्य की विवाहिताओं से प्रेम करते हैं, किन्तु प्रेमपात्र को अपनाने के लिए कोई दुष्ट

१. देखिए, श्यामनोहर पाँडेय, 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० २६-२७।
२. देखिए, श्याममनोहर पाँडेय, 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० २८-२९।

प्रयत्न नहीं करते हैं। हिन्दी सूफ़ी प्रेम-कथाओं के नायक भी इसी प्रकार कोई दुष्ट प्रयत्न नहीं करते हैं। केवल एक अपवाद है : वह है 'चन्दायन' का लोरिक। वह चन्दा को लेकर भाग निकलता है। किन्तु इसी कारण 'चन्दायन' को सूफ़ी काव्य कहने में भी कुछ आलोचकों को आपत्ति भी है। अधिक-से-अधिक एक ही बात लोरिक के इन दुष्ट प्रयत्नों के संबंध में उसके पक्ष में कही जा सकती है, और वह यह है कि चाँदा स्वयं भी लोरिक के साथ बावन के घर से निकल भागना चाहती है; कारण अनेक बताए जाते हैं, किन्तु कम-से-कम इतना निश्चित है कि न बावन उससे प्रेम करता है, और न वह बावन से प्रेम करती है। ख़ुसरो की देवल देवी–खिज्र खाँ कहानी में भी दुष्ट प्रयत्नों का समावेश है। इसलिए अलाउद्दीन के दुष्ट प्रयत्नों के आधार पर भी उसकी भावना को सूफ़ी प्रेम कोटि से बाहर करना कदाचित् संभव न होगा।

मेरी समझ में प्रेम का अनिवार्य लक्षण इन समस्त सूफ़ी रचयिताओं के अनुसार विरहानुभूति है। जिस चाह के साथ विरह का दुःख है, वही प्रेम है, अन्यथा वह लोभ है। इसीलिए इन कवियों ने विरह पर बहुत बल दिया है। अरबी-फ़ारसी सूफ़ी कहानियों में तो प्रेम विरह का ही एक प्रकार से दूसरा नाम है। इस जीवन में प्रेमी और प्रेमिका मिलन-सुख नहीं उठा पाते हैं। 'शीरीं-फ़रहाद' और 'लैला-मजनूँ' में तो ऊपर हमने यह देखा ही है, 'यूसुफ़-ज़ुलेखा' में भी यही बात दिखाई पड़ती है, यद्यपि उसमें फिर विरह का रूप बदल जाता है और वह दिव्य हो जाता है। अपनी प्रसिद्ध रचना 'अहयाउल उलूम' में अलग़ज़ाली ने 'यूसुफ़-ज़ुलेखा' की कथा इस प्रकार दी है। ज़ुलेखा यूसुफ़ पर मरती रहती है। यदि कोई कहता है कि उसने यूसुफ़ को देखा है, तो वह उसे गले का हार उतार कर दे देती है। उसके पास ७० ऊँट हीरे हैं। वे सब धीरे-धीरे इसी प्रकार ख़त्म हो जाते हैं और अन्त में यूसुफ़ से उसका विवाह हो जाता है। किन्तु विवाह हो जाने के बाद वह यूसुफ़ के साथ रहना भी अस्वीकार कर देती है और कहती है "मैं तुमसे उसी समय तक प्रेम करती रही जब तक ईश्वर को नहीं जानती थी। अब मेरे हृदय में ईश्वरीय प्रेम ने घर कर लिया है। वहाँ अब और किसी को नहीं रख सकती हूँ।"[1]

इस विरह-दुःख पर प्रत्येक सूफ़ी लेखक ने बड़ा बल दिया है। इसका एक भी अपवाद नहीं मिलता है। जायसी ने विरह पर जो बल दिया है, वह तो भलीभाँति विदित ही है, मंझन भी इस दुःख-तत्व के स्पष्टीकरण में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं।

मंझन की कथा का नायक नायिका से कहता है कि उसने जीव को देकर उसका दुःख (उसके विरह का दुःख) मोल लिया था :—

एहि जग जीवन मोहि तोहि लाहा। मैं जिउ दै तोर दुक्ख बेसाहा।
मैं न आजु तोरे दुक्ख दुखारी। तोरे दुख सेउं मोहि आदि चिन्हारी।
जेहि दिन सिरेउ आँस बिधि मोरा। तेहि दिन मोहि दरसेउ दुख तोरा। (११३.२-४)

दुःख का व्रत ग्रहण करने से ही मानव मानव हुआ :—

दुख मानुस कर आदि गरासा। ब्रह्म कंवल महं दुख कर बासा।

---

१. डॉ० श्याममनोहर पाँडेय : 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० २२।

जेहि दिन तेहि दुख सिस्टि समानाँ। तेहि दिन तें जिउ कै जिउ जानाँ।
मोहि न आजु उपजेउ दुख तोरा। तोर दुख आदि संघाती मोरा।
अब लै बहौं दुक्ख कै काँवरि। दुइ जग सुक्ख देउं नेउछावरि।
मैं अपान दै तोर दुख लिया। मरि कै अब सो अमृत पिया।
तोर दुक्ख मधुमालति सुखदायक संसार।
जेहि जिय माँहि तोर दुख उपजा धनि सो जग औतार ॥ (११५)

और, प्रेम ने दुःख को देख कर ही मानव के हृदय में बसेरा लिया :—

सुनिउं जाहि दिन सिस्टि उपाई। प्रीति परेवा दिहेंउ उड़ाई।
तीनिउ लोक ढूंढ़ि कै आवा। आपु जोग कहुँ ठाउँ न पावा।
तब फिरि मोहि घट पैसेउ आई। रहेउ लोभाइ न गएउ उड़ाई।
तीनि भुवन तब पूंछीं बाता। कस तुइँ मानुस के घट राता।
कहेसि दुक्ख मानुस कर आँसा। जहाँ दुक्ख तहँ मोर नेवासा।
जेहि ठाँ दुक्ख होइ जग भीतर प्रीति होइ बस ताहि।
प्रीति बात का जानै बपुरा जेहि सरीर दुख नाहिं ॥ (११६)

मेरी समझ में अब हम इस स्थिति में हैं कि समस्या का समाधान दे सकें। जायसी के रत्नसेन की भाषा वही है जो मंझन के मनोहर की है, किन्तु अलाउद्दीन की भाषा दुःख वाली भाषा नहीं है, वह मंझन के मनोहर की भाँति यह नहीं कह सकता है :—

अब लै बहौं दुक्ख कै काँवरि। दुइ जग सुक्ख देउं नेउछाउरि। (११५)

इन सूफ़ी कवियों की दृष्टि में जब तक कोई भी प्रेम का दम भरने वाला दुख की काँवरि नहीं ढोता है और दोनों जगत् के सुख उस दुःख पर न्यौछावर करने को प्रस्तुत नहीं होता है, वह प्रेमी नहीं है, रूप-लोभी है, दंभी है, छली है। अलाउद्दीन यही है, और इसलिए रत्नसेन से भिन्न है। रत्नसेन और अलाउद्दीन को एक ही पथ का पथिक नहीं माना जा सकता है।

(२)

शुक्ल जी ने इसी प्रकार एक दूसरी समस्या यह उठाई है कि 'पद्मावत' एक प्रेम-गाथा मात्र है या कि एक जीवन-गाथा, और, उन्होंने उत्तर दिया है कि वह "एक प्रेम-गाथा ही है, पूर्ण जीवन-गाथा नहीं।. . .दाम्पत्य के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ, जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है, यात्रा, युद्ध, सपत्नी-कलह, मातृस्नेह, स्वामि-भक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व हैं, पर इनके होते हुए भी 'पद्मावत' को हम शृंगार प्रधान काव्य ही कह सकते हैं। 'रामचरित' के समान मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत-सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है।" (भूमिका, पृ० ३५-३६)।

शुक्ल जी का यह कथन रचना के पूर्वार्द्ध तक के लिए तो मान्य है किन्तु यदि पूरी रचना को लिया जाए तो इसके मानने में कठिनाई प्रतीत होती है। 'पद्मावत' अपने उत्तरार्द्ध में आने वाले परिस्थिति और संबंध-वैविध्य में 'रामचरित मानस' से कम नहीं

४०

है, बल्कि इस विषय में दोनों लगभग समान हैं। 'मानस' में छल से सीताहरण होता है इसमें छल से रत्नसेन बंदी किया जाता है। उसमें सुग्रीव-हनुमान की सहायता से लंका पर आक्रमण होता है, इसमें गोरा-बादल की सहायता से दिल्ली का अभियान होता है। 'मानस' में राम सीता को छुड़ाने में कृतकार्य होते हैं, इसमें पद्मिनी रत्नसेन को छुड़ाने में कृतकार्य होती है। उसमें शूर्पणखा रावण को सीताहरण के लिए प्रेरित करती है, इसमें राघव अलाउद्दीन को पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। 'मानस' में राम सत्य-पालन के लिए वन जाते हैं और भरतादि के अनुरोध पर भी अयोध्या नहीं लौटते हैं, इसमें भी रत्नसेन अलाउद्दीन की माँगों को एक बार ठुकरा देता है तो डट कर उसका सामना करता है और इसी प्रकार अलाउद्दीन से संधि कर लेने के बाद बादशाह के गढ़ के भीतर आने पर गोरा-बादल कितना ही उसे समझाते हैं कि तुर्क का विश्वास न करना चाहिए और गढ़ में उसको पाकर उसे बन्दी कर लेना चाहिए, किन्तु वह सत्य पर डटा रहता है और उनकी बातों को नहीं मानता है। देवपाल से रत्नसेन का युद्ध और उसमें उसका मारा जाना तथा उसके शव के साथ पदमावती और नागमती का चिता-रोहण करना राजपूती वीरता और सतीत्व के ऐसे उदाहरण हैं जो 'पद्मावत' में विशेष हैं। ये ऐसे तत्व हैं कि जो भुलाए नहीं जा सकते हैं। इसलिए जहाँ तक रचना का उत्तरार्द्ध है वह उतनी ही जीवन-गाथा है जितनी कोई भी अन्य रचना हो सकती है। रचना का पूर्वार्द्ध अवश्य प्रेम-गाथा मात्र है। जायसी ने पूर्वार्द्ध में प्रेम तत्व को जान-बूझ कर अधिक विस्तार दिया है। किन्तु 'मानस' में भी तो बालकांड का पूर्वार्द्ध और समस्त उत्तरकांड अवतारवाद और भक्तितत्व का निरूपण मात्र करते हैं ? यदि काव्य-प्रबन्ध की दृष्टि से विचार करें तो 'मानस' के ये अंश उसके उतने भी अनिवार्य अंश नहीं माने जा सकते हैं जितने 'पदमावत' के पूर्वार्द्ध के विभिन्न अंश। और, इसी प्रकार के तत्त्वों के कारण कुछ समालोचक 'रामचरित मानस' को काव्य की अपेक्षा 'पुराण' कहना अधिक उचित समझते हैं। किन्तु तुलसीदास के लिए तो ये अंश नितान्त आवश्यक थे, भले ही उनकी रचना को कोई 'काव्य' न कह कर 'पुराण' कहे। वही बात जायसी के संबंध में भी कही जा सकती है। उनके लिए भी रचना के पूर्वार्द्ध में प्रेम तत्व को प्रमुखता देते हुए उसको असाधारण विस्तार देना आवश्यक था, भले ही उनकी रचना को कोई आलोचक जीवन-गाथा न कह कर प्रेम गाथा ही कहे। वस्तुतः जीवन-गाथाएँ दोनों ही हैं, अन्तर यही है कि एक भक्ति प्रधान जीवन-गाथा है और दूसरी प्रेम प्रधान जीवन-गाथा।

(३)

एक तीसरी समस्या जो शुक्ल जी ने उठाई है, और दूसरे भी अनेकानेक आलोचकों ने उठाई है, वह रचना के अन्योक्ति परक अथवा समासोक्ति परक होने की है। मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा...और तन चित उर मन राजा कीन्हा...आदि पंक्तियों वाला छंद निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। 'जायसी ग्रन्थावली' के संपादन में प्रस्तुत लेखक ने १६ प्राचीन प्रतियों का उपयोग किया था। उनमें से केवल तीन प्रतियों में और एक प्रति के उस अंश में जो उसके खंडित हो जाने के बाद किसी अन्य प्रति के आधार पर पूरा किया

गया था, यह छंद मिला था। ये तीनों प्रतियाँ भी रचना की पाठ-परंपरा में सब से नीचे की पीढ़ियों में आती हैं। इसलिए यह निश्चित है कि उक्त छंद प्रक्षिप्त है और बहुत पीछे का प्रक्षेप है। अभी तक जायसी के आलोचक इस छंद का मोह नहीं छोड़ सके हैं और किसी-न-किसी प्रकार से इसका विवेचन-विश्लेषण करते ही हैं। फिर भी जो स्थिति है वह इतनी स्पष्ट है कि उसके संबंध में और कुछ कहना अनावश्यक होगा। किन्तु इस छंद को छोड़ देने पर भी समस्या पर विचार करना ही चाहिए।

अन्योक्ति वहाँ होती है जहाँ कथा प्रसंग से भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यंजना होती है; इसी प्रकार जहाँ पर वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है और कोई व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत होता है, वहाँ पर समासोक्ति होती है। रचना में अन्योक्तियाँ बहुत ही कम आई हैं, समासोक्तियाँ अवश्य अधिक आई हैं। फिर भी, सर्वत्र समासोक्ति मिलती हो, ऐसा नहीं है। रचना के उत्तरार्द्ध में तो अधिकतर वाच्यार्थ ही अभिप्रेत है और पूरी रचना में किसी अन्योक्ति या समासोक्ति-माला का निर्वाह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

(४)

एक और समस्या 'पद्मावत' के प्रेम निरूपण की सचाई के संबंध में उठती रही है। इस प्रसंग में एकाध समालोचकों द्वारा यहाँ तक कहा गया है कि 'पद्मावत' का प्रेम मूलतः लौकिक है, कदाचित् उसे समाज के लांछन से बचाने के लिए रचना के बीच-बीच में परमार्थ की व्यंजना की गई है।

सूफ़ियों में स्त्री-पुरुष के प्रेम के संबंध में दो विचारधाराएँ रही हैं। एक तो वह रही है जिसके नेता इब्नुल अरबी रहे हैं। इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर और मनुष्य का जो संबंध है, वही पुरुष और स्त्री का है, इसलिए स्त्री-पुरुष का प्रेम भी उसी प्रकार दिव्य है, जिस प्रकार ईश्वर और मनुष्य का। दूसरी विचारधारा के नेता अल् ग़ज़ाली रहे हैं, जिनके अनुसार स्त्री-पुरुष का प्रेम उस ईश्वर-मनुष्य प्रेम के लिए एक पुल मात्र है। ईश्वर प्रेम की प्राप्ति के लिए ही इसकी उपयोगिता है; उसकी अनुभूति कर लेने के बाद इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसीलिए जैसा ऊपर कहा गया है, यूसुफ़-जुलेखा की कथा देते हुए उन्होंने दिखाया है कि यूसुफ़ से विवाह कर लेने के बाद जुलेखा उसके पास तक नहीं फटकती है और कहती है कि उसने ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति कर ली है, इसलिए वह इस प्रेम को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकती है। जायसी संभवतः प्रथम विचारधारा को स्वीकार करते हुए भी इनमें से द्वितीय विचार-धारा के पोषक हैं।[1] हिन्दी के अन्य अनेक सूफ़ी कवि भी प्रायः इन विचार-धाराओं के पोषक हैं। हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम स्त्री-पुरुष के संबंध को किसी भी आध्यात्मिक स्तर पर स्थित नहीं देख पाते हैं। ऐसा हमारे संस्कारों के कारण है। इन संस्कारों से ऊपर उठे बिना सूफ़ियों के प्रेम-तत्व को हम भली भाँति न समझ सकेंगे।

---

१. देखिए, 'पद्मावत का जीवन-दर्शन' के अन्तर्गत 'जायसी का प्रेम-सन्देश' शीर्षक।

(५)

इसी प्रसंग में एक और समस्या को लेकर यह विवेचन समाप्त करूँगा, वह है 'पद्मावत' तथा अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों में संभोग-चित्रण की। प्रायः सभी में नायक-नायिका का संभोग चित्रण मिलता है, इसका कारण क्या है ? जायसी ने इसका उत्तर दिया है। वे कहते हैं :—

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै।
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेहिं नहिं सो न सुनारी।
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू।
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी। (३१७)

प्रेमपात्र की परितुष्टि के लिए आत्मोत्सर्ग का जो सिद्धान्त इन सूफ़ियों ने अपने सामने रक्खा है, उसका यह एक स्वाभाविक विकास ज्ञात होता है। एक स्थान पर जायसी का नायक कहता है :—

ओहि न मोरी कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ॥ (२१०)

जिस निरास (निरपेक्ष) प्रियतम को प्रेमी अपना जीव देने के लिए इतना आतुर है, उसे अपना शरीर देना तो (नायिका) धर्म ही होना चाहिए।

यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि फ़ारस तक में रची हुई सूफ़ी प्रेम-कथाओं में यह शारीरिक संबंध चित्रित नहीं हुआ है। ख़ुसरो कदाचित् पहले सूफ़ी कवि हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में इस शारीरिक संबंध को स्थान दिया है। भारतीय प्रेम-कथाओं का अवश्य यह एक अनिवार्य अंग-सा रहा है। हिन्दी की असूफ़ी प्रेमकथाओं में भी यह बात दिखलाई पड़ती है। इसलिए ज्ञात होता है कि यह तत्व यहाँ के सूफ़ियों ने भारतीय परंपराओं से ग्रहण किया है।[1]

---

१. देखिए, डॉ० श्याममनोहर पांडेय : 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', पृ० १५६-१५९।

पद्मावत

(पाठ तथा अर्थ)

सँवरौं आदि एक करतारू । जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू । कीन्हेसि तेहिं पिरीत कबिलासू ।
कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा । कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा ।
कीन्हेसि धरती सरग पतारू । कीन्हेसि बरन बरन अवतारू ।
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मंडा । कीन्हेसि भुवन चौदहउ खंडा ।
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती । कीन्हेसि नखत तराइन पाँती ।
कीन्हेसि धूप सीउ औ छाहाँ । कीन्हेसि मेघ बीजु तेहि माहाँ ।
कीन्ह सबइ अस जाकर दोसरहि छाज न काहु ।
पहिलेहिं तेहिक नाउँ लइ कथा कहौं अवगाहु ॥ १ ॥

अर्थ–(१) आदि (आरंभ) में मैं उस एक कर्त्ता (सृष्टिकर्त्ता) का स्मरण करता हूँ, जिसने हमें जीव दिया और जिसने संसार की रचना की, (२) जिसने आदि ज्योति (ह० मुहम्मद के नूर) का प्रकाश किया, और उसी के प्रीत्यर्थ कैलास की रचना की, (३) जिसने अग्नि, वायु, जल, और मिट्टी का निर्माण किया, और जिसने बहुतेरे रंगों में [भाँति भाँति के] उरेह (चित्रांकन) किए, (४) जिसने धरती, आकाश और पाताल का निर्माण किया और जिसने नाना वर्ण के अवतार किए (प्राणियों को अवतरित किया), (५) जिसने सप्तद्वीप और ब्रह्माण्ड की रचना की, और जिसने चौदह खंड भुवनों की रचना की, (६) जिसने दिन, दिनकर, चन्द्रमा और रात्रि की रचना की, और जिसने नक्षत्रों तथा तारिकाओं की पंक्तियों की रचना की, (७) जिसने धूप, शीत और छाया का निर्माण किया, और ऐसे मेघ का निर्माण किया कि उसमें बिजली निवास करती है। (८) जिसकी ऐसी समस्त सृष्टि की हुई है जो दूसरे किसी को भी शोभा न दे सकी, (९) सर्वप्रथम उसी कर्त्ता का नाम लेकर मैं [अपनी] विस्तृत कथा (की रचना) कर रहा हूँ।

टिप्पणी––(१) इस्लाम और उसके धर्म-ग्रन्थ 'क़ुरआन' के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि और उसके समस्त पदार्थों का कर्त्ता है। जीव भी उसी ने शरीर की रचना कर के प्रत्येक घट में डाला है। एक-एक पदार्थ का नाम गिना कर उसके कर्त्ता के रूप में ईश्वर का उल्लेख और स्मरण 'क़ुरआन' में स्थान-स्थान पर पर पाया जाता है। स्मरण की यह शैली सूफ़ी रचनाओं में मूलतः वहीं से ली हुई है। (२) आदि जोति––ह० मुहम्मद का नूर (दे० ११.२)। कीन्हेसि तेहि पिरीति कबिलासू (दे० ११.२) कबिलास<कैलास=शिवलोक। आगे रचना में जहाँ भी 'कबिलास' आया है, शिवलोक के अर्थ में आया है, जिसमें इन्द्र और उसकी अप्सराओं का भी निवास है। (३) उरेह<उल्लेह<उल्लेख=रेखांकन, चित्रांकन। (६) दिनअर<दिन-कर=सूर्य। तराई<तारिका। (७) सीउ<सीअ<शीत। छांह<छाया। बीज=बिज्ज विद्युत (८) छाज्<छज्ज [दे०]=शोभा देना। (९) अवगाह<अवगाढ़=गंभीर, गहरा, व्याप्त।

कीन्हेसि हेवँ समुंद्र अपारा । कीन्हेसि मेरु खिखिंदु पहारा ।
कीन्हेसि नदी नार औ झरना । कीन्हेसि मगर मंछ बहु बरना ।

कीन्हेसि सीप मोंति बहु भरे । कीन्हेसि बहुतइ नग निरमरे ।
कीन्हेसि बनखँड औ जरि मूरी । कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी ।
कीन्हेसि साउज आरन रहहीं । कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहँ चहहीं ।
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा । कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा ।
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू । कीन्हेसि बहु ओषद बहु रोगू ।
निमिख न लाग करत ओहि सबइ कीन्ह पल एक ।
गगन अंतरिख राखा बाजु खंभ बिनु टेक ॥ २ ॥

अर्थ--(१) उसी ने हेम (हिम) तथा अपार समुद्रों की रचना की, उसी ने सुमेर तथा किष्किंधा पर्वतों की रचना की, (२) उसी ने नदियों, नालों और सोतों की रचन की, उसी ने [उनमें रहने वालों] नक्रों, और अनेक वर्णों के मत्स्यों की रचना की, (३ उसी ने सीपियों का निर्माण किया और उनमें बहुतेरे मोती भरे और उसीने बहुतेर निर्मल [कान्ति वाले] नगों का निर्माण किया , (४) उसी ने वन खंड और [उसमें पाई जाने वाली] जड़ों और मूलों का निर्माण किया, और उसी ने [उसके] ताड़ खजूर [आदि] तरुवरों का निर्माण किया, (५) उसी ने श्वापदों का निर्माण किया जो अरण्य में रहते हैं, और उसी ने पक्षियों का निर्माण किया, जो जहाँ चाहते हैं उड़ जाते हैं, (६) उसी ने श्वेत और श्याम [जैसे] वर्णों का निर्माण किया, और उसी ने भूख, नींद, और विश्राम का निर्माण किया, (७) उसने पान (ताम्बूल), फूलों आदि बहुतेरे भोज्य पदार्थों का निर्माण किया, और उसी ने बहुतेरी ओषधियों तथा रोगों का भी निर्माण किया । (८) [इन सब की] रचना करते हुए उसे एक निमेष भी नहीं लगा और उसने सब कुछ एक पल में कर डाला, (९) पुनः उसी ने आकाश को भी [बना कर] उसे अन्तरिक्ष में बिना खंभे और बिना किसी टेक (थाम-थूनी) के रख दिया ।

टिप्पणी--(१) हेवँ<हिम । खिखिंद<किष्किन्ध । (३) सीप<सुत्ति<शुक्ति । (५) साउज<श्वापद=जंगली जन्तु । आरन<अरण्ण<अरण्य । (६) बरन<वर्ण=रंग । सेत<श्वेत । (७) पान<पण्ण<पर्ण=ताम्बूल । (८) निमिख<निमेष=पलकों के गिरने में जितना समय लगता है । (९) अंतरिख<अंत-रिक्ख<अन्तरिक्ष ।बाजु<वज्ज<वर्ज=बिना । खांभ<स्कम्भ=खंभा । टेक=टेकने या थामने वाली वस्तु ।

कीन्हेसि मानुस दिहिसि बड़ाई । कीन्हेसि अन्न भुगुति तेहि पाई ।
कीन्हेसि राजा भूँजहिं राजू । कीन्हेसि हस्ति घोर तिन्ह साजू ।
कीन्हेसि तिन्ह कहँ बहुत बेरासू । कीन्हेसि कोइ ठाकुर कोइ दासू ।
कीन्हेसि दरब गरब जेहिं होई । कीन्हेसि लोभ अघाइ न कोई ।
कीन्हेसि जिअन सदा सब चहा । कीन्हेसि मीचु न कोई रहा ।
कीन्हेसि सुख औ कोड अनंदू । कीन्हेसि दुख चिंता औ दंदू ।
कीन्हेसि कोइ भिखारि कोइ धनी । कीन्हेसि सँपति बिपति पुनि घनी ।
कीन्हेसि कोइ निभरोसी कीन्हेसि कोइ बरिआर ।
छार हुते सब कीन्हेसि पुनि कीन्हेसि सब छार ॥ ३ ॥

अर्थ--(१) उसने मनुष्य को निर्मित किया और [सृष्टि के समस्त पदार्थों में] उसे बड़प्पन दिया; उसने उसे अन्न दिया, और [उसी से] उसने भुक्ति (भोजन) पाया। (२) उसने राजाओं को बनाया जो राज्यों का भोग करते हैं, और हाथियों घोड़ों को उनके साज के रूप में बनाया। (३) उनके लिए उसने बहुतेरे विलास बनाए, और किसी को उसने स्वामी बनाया तो किसी को दास बनाया। (४) उसने द्रव्य को बनाया, जिसके कारण मनुष्य को गर्व होता है, और उसने लोभ को बनाया, जिस के कारण [द्रव्य से] कोई मनुष्य तृप्त नहीं होता है। (५) उसने जीवन का निर्माण किया, जिसे सदैव सभी चाहते हैं, और उसने मृत्यु का निर्माण किया, जिसके कारण कोई भी [सदैव] नहीं रह सका है। (६) उसने सुख, कौतुक (खेल-खिलवाड़) और आनन्द का निर्माण किया, [साथ ही] उसने दुःख, चिन्ता और द्वन्द्व की भी रचना की। (७) किसी को उसने भिखारी बनाया तो किसी को धनी बनाया ; उसने सम्पत्ति बनाई तो बहुतेरी विपत्तियाँ भी बनाईं। (८) किसी को उसने निराश्रित बनाया तो किसी को बलशाली। (९) क्षार (मिट्टी) से ही उसने सब कुछ बनाया और पुनः सबको उसने क्षार (मिट्टी) कर दिया।

टिप्पणी--(१) भुगुति<भुक्ति=भोजन। (२) भूँज्>भुज्=भोग करना। (३) बेरास<विलास। (४) अवाय्<अग्धव [दे०]=पूर्त्ति करना, पूरा करना, तृप्त होना। (५) जिअन<जीवन। मीचु<मृत्यु। (६) कोड<कोड्ड [दे०]=कौतुक, खेल-खिलवाड़। दंद<द्वन्द्व। (७) भिखारि<भिक्षाकारिन्=भिखमंगा। (९) छार<क्षार=राख, धूल।

कीन्हेसि अगर कस्तुरी बेना। कीन्हेसि भीवँसेन औ चेना।
कीन्हेसि नाग मुखहि विष बसा। कीन्हेसि मंत्र हरइ जेहिं डसा।
कीन्हेसि अमिअ जिअन जेहि पाएँ। कीन्हेसि बिक्ख मीचु तेहि खाएँ।
कीन्हेसि ऊखि मीठि रस भरी। कीन्हेसि करुइ बेलि बहु फरी।
कीन्हेसि मधु लावइ लइ माखी। कीन्हेसि भवँर पतंग औ पाँखी।
कीन्हेसि लोवा उंदुर चाँटी। कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माँटी।
कीन्हेसि राकस भूत परेता। कीन्हेसि भोकस देव दयंता।
कीन्हेसि सहस अठारह बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेसि पुनि सब कहँ सकल साजना साजि॥ ४॥

अर्थ--(१) उसने अगुरु, कस्तूरी और खस का निर्माण किया, उसी ने भीमसेनी तथा चीनी कपूरों की रचना की। (२) उसने नागों का निर्माण किया, जिनके मुख में ही विष निवास करता है और उसने उन मंत्रों की रचना की जो उन के दंश [के विष] को हरते हैं। (३) उसने अमृत बनाया, जिसके पाने से जीवन होता है, और उसने विष बनाया, उसके खाने से मृत्यु होती है। (४) उसने ईख की रचना की, जो मीठी और रसभरी है, और उसने कड़वी बेल (लता) भी बनाई, जो बहुत फलती है। (५) उसने मधु का निर्माण किया, जिसे [फूलों से] लेकर मक्खियाँ [छत्तों में] लगाती हैं, तथा उसने भ्रमरों, पतिंगों और पक्षियों का निर्माण किया। (६) उसने लोमड़ियों, चूहों,

और चीटियों को बनाया, और ऐसे बहुतेरे जीव-जन्तुओं का निर्माण किया जो मिट्टी को खोद कर और बिल बना कर रहते हैं। (७) उसने राक्षसों, भूतों और प्रेतों का निर्माण किया, और उसीने चाण्डालों, देवों और दैत्यों की रचना की। (८) उसने भाँति-भाँति के निर्माण कर अट्ठारह सहस्र प्रकार की [जीव-] सृष्टि की (९) और तदनंतर समस्त व्यवस्था करके सब को उसने भोजन दिया।

टिप्पणी--(१) बेना<वीरण=खस, उशीर। भीवँसेन<भीमसेन=एक प्रकार का कर्पूर। चेना=एक प्रकार का चीनी कर्पूर। (२) डसा<दंश=सर्पदंश, सर्प के काटने से उत्पन्न विष। (४) ऊखि<इक्षु=ईख। करुअ<कटु। (५) माखी<मक्षिका। पाँखी<पक्षिन्=चिड़िया। (६) लोवा<लोपाक=लोमड़ी। उंदुर<उन्दुर=चूहा। (७) भोकस <पुक्कस<पुल्कस=एक घृणित मानी जाने वाली जाति, अथवा बुक्कस=चाण्डाल। दयंत<दैत्य। (८) उपराज्<उपरच्=निर्माण करना। (९) भुगुति<भुक्ति=भोजन।

धनपति उहइ जेहिक संसारू। सबहि देइ नित घट न भँडारू।
जावँत जगति हस्ति औ चाँटा। सब कहँ भुगुति रात दिन बाँटा।
ताकरि दिस्टि सबहिं उपराहीं। मित्र सत्रु कोइ बिसरइ नाहीं।
पंखि पतंग न बिसरइ कोई। परगट गुपुत जहाँ लगि होई।
भोग भुगुति बहु भाँति उपाई। सबहि खियावइ आपु न खाई।
ताकर इहइ सो खाना पिअना। सब कहँ देइ भुगुति औ जिअना।
सबहि आस ताकरि हरि स्वाँसा। ओह न काहु कइ आस निरासा।
जुग जुग देत घटा नहिं उभै हाथ तस कीन्ह।
अउर जो देहिं जगत महँ सो सब ताकर दीन्ह॥ ५॥

अर्थ--(१) धनपति वही है, जिसका यह संसार है; वह सभी को देता है फिर भी उसका भांडार घटता नहीं है। (२) इस संसार में जितने भी [जीव] हाथी से लेकर चींटी तक हैं, वह सभी को रात-दिन भोजन बाँटता रहता है। (३) उसकी दृष्टि सब के ऊपर [सब की देख-भाल करती] रहती है, और मित्र-शत्रु कोई भी उसे विस्मृत नहीं होता है। (४) पक्षी हो या पतिंगा, जहाँ तक भी वह प्रकट या गुप्त होता है, कोई भी उसे विस्मृत नहीं होता है। (५) उसने बहुत प्रकार से भोगों-भुक्तियों को उत्पन्न किया है, और वह सभी को खिलाता है किन्तु स्वयं नहीं खाता है। (६) उसका खाना-पीना यही है कि वह सब को भुक्ति और जीवन (जीविका) देता रहता है। (७) सभी को हर साँस में उस की आशा (अपेक्षा) रहती है, किन्तु उसे किसी की आशा (अपेक्षा) नहीं, वह 'निरास' है। (८) युग-युग से देते हुए भी वह (उस का भांडार) घटा नहीं, [यद्यपि] उसने दोनों हाथों से इस प्रकार दिया। (९) और जो [प्राणी] संसार में देते हैं, वे सब उसी का दिया हुआ देते हैं।

टिप्पणी--(२) जाँवत<यावत्=जितना। (३) बिसर<वि-स्मृ=भूलना। (५) उपाय्<उप्पाय्<उत्+पादय्=उत्पन्न करना, बनाना। (७) निरास<निराश=निराश्रित, निरपेक्ष।

आदि सोई बरनौं बड़ राजा । आदिहुँ अंत राज जेहि छाजा ।
सदा सरबदा राज करेई । औ जेहिं चहइ राज तेहिं देई ।
छत्रहि अछत निछत्रहि छावा । दोसर नाहिं जो सरबरि पावा ।
परबत ढाह देख सब लोगू । चाँटिहि करइ हस्ति कर जोगू ।
बज्रहि तिन कै मारि उड़ाई । तिनहि बज्र की देइ बड़ाई ।
ताकर कीन्ह न जानइ कोई । करै सोइ जो मन चित होई ।
काहू भोग भुगुति सुख सारा । काहू भीख भवन दुख भारा ।
सबइ नास्ति वह अस्थिर अइस साज जेहिं केर ।
एक साजइ अउ भाँजइ चहइ सँवारइ फेर ॥ ६ ॥

अर्थ--(१) आदि में उसी बड़े राजा (ईश्वर) का वर्णन करता हूँ, जिसका राज्य [सब के] आदि में भी था और [सबके] अंत में भी शोभित रहता है, (२) जो सदा-सर्वदा राज्य करता है और जिसे चाहता है राज्य दिया करता (राजा बनाया करता) है, (३) जो छत्रयुक्त (राजा) को छत्रहीन करता और छत्रहीन को छाता रहता है (छत्र युक्त करता रहता है), जिसकी समानता पाने वाला दूसरा नहीं है, (४) जिसे सब लोग देखते हैं कि वह पर्वतों को ढाहता (गिराता) रहता है और चींटी को भी हाथी का समकक्ष बनाता रहता है, (५) जो वज्र को तृण के समान मार (नष्ट) कर उड़ा देता है और तृण को वज्र का बड़प्पन दे देता है, (६) उसका किया हुआ कोई नहीं जान पाता है, और वह वही करता रहता है जो उसके मन और चित्त में होता है, (७) किसी के लिए उस ने [विविध प्रकार के] भोग, भुक्ति (भोजन) तथा सुख सार (सिद्ध कर) रक्खे हैं, और किसी के लिए भिक्षा कर रक्खी है तथा ऐसा भवन कर रक्खा है जो दुःखों का भार है [अथवा भिक्षार्थ भ्रमण और दुःखों का भार कर रक्खा है]।(८) सभी नास्ति (नाशवान्) हैं, वही स्थिर है, ऐसा जिसका साज है, (९) वह एक (किसी) को सजाता और तोड़ता (नष्ट करता) रहता है, और चाहता है तो पुनः उसे सँवार (बना) देता है ।

टिप्पणी--(१) छाज् <छज्ज [दे०]=शोभा देना । (३) सरबरि=सादृश्य, समानता । (४) जोग<योग=जोड़ा, समकक्ष । (७) भुगुति<भुक्ति=भोजन । सार<सारय्=सिद्ध करना । (९) भांज्<भञ्ज्=तोड़ना, नष्ट करना ।

अलख अरूप अबरन सो करता । वह सब सों सब ओहि सों बरता ।
परगट गुपुत सो सरब बियापी । धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी ।
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना ओहि कुटुँब न कोइ सग नाता ।
जना न काहु न कोइ ओइँ जना । जहँ लगि सब ताकर सिरजना ।
ओइँ सब कीन्ह जहाँ लगि कोई । वह न कीन्ह काहू कर होई ।
हुत पहिलेइँ औ अब है सोई । पुनि सो रहिहि रहिहि नहिं कोई ।
अउर जो होइ सो बाउर अंधा । दिन दुइ चारि मरइ करि धंधा ।
जो ओइँ चहा सो कीन्हेसि करइ जो चाहइ कीन्ह ।
बरजन हार न कोई सबइ चाहि जिअ दीन्ह ॥ ७ ॥

अर्थ--(१) वह कर्त्ता अलक्ष्य (अदर्शनीय) है, अरूप है, और अवर्ण (वर्णहीन) है, और वह सबसे और सब उससे संबंधित है। (२) वह [सृष्टि के रूप में] प्रकट है, और गुप्त भी है, तथा वह [सृष्टि के] समस्त पदार्थों में समाया हुआ है; उसे धर्मात्मा ही पहिचान पाता है, पापी नहीं। (३) न उसका कोई पुत्र है, न उसके माता-पिता हैं, न उस का कुटुंब है और न कोई सगा (आत्मीय) अथवा नातेदार है। (४) वह किसी से जन्मा (उत्पन्न) नहीं है, और न कोई उससे जन्मा (उत्पन्न) है; जहाँ तक भी सृष्टि के पदार्थ हैं, वे सब उसी की रचनाएँ हैं। (५) उसी ने, जहाँ तक भी कोई [प्राणी] है, सब को किया (बनाया) है, और वह किसी का बनाया हुआ नहीं है। (६) वह पहले ही था, अब भी वही है तथा पुनः भी वही रहेगा, और [अन्य] कोई न रहेगा। (७) और कोई जो [बड़ा से बड़ा भी] होता है, वह बावला और अंधा होता है, तथा दो-चार दिनों तक धंधे करके मर जाता है। (८) उसने जो कुछ चाहा वह किया और जो कुछ चाहता है, वह करता है, (९) उसे मना करने (रोकने) वाला कोई नहीं है, उसे देख कर सभी ने अपने प्राण दे दिए हैं।

टिप्पणी--(१) अलख<अलक्ष्य=जो देखा न जा सके। अबरन<अवर्ण=वर्ण या रंग से रहित। बरता<वर्तित=व्यवहृत, संबंधित। (३) सग<स्वक=अपना, आत्मीय। नात<ज्ञाति=सजातीय। (९) बरजन<वर्जन=निषेध।

एहि बिधि चीन्हहु करहु गिआनू। जस पुरान महँ लिखा बखानू।
जीउ नाहिं पै जिअइ गोसाईं। कर नाहीं पै करइ सबाईं।
जीभ नाहिं पै सब किछु बोला। तन नाहीं जो डोलाव सो डोला।
स्रवन नाहिं पै सब किछु सुना। हिअ नाहीं गुनना सब गुना।
नैन नाहिं पै सब किछु देखा। कवन भाँति अस जाइ बिसेषा।
ना कोई है ओहि के रूपा। न ओहि काहु अस तइस अनूपा।
ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन ठाऊँ। रूप रेख बिनु निरमल नाऊँ।
ना वह मिला न बेहरा अइस रहा भरिपूरि।
दिस्टिवंत कहँ निअरें अंध मुरुख कहँ दूरि॥ ८॥

अर्थ--(१) इस प्रकार उस (कर्त्ता) को पहचानो और ज्ञान करो, जैसा कि उसका वर्णन पुराणों (धर्म-ग्रंथों) में लिखा हुआ है। (२) [उसमें] जीव नहीं [होता] है, फिर भी वह स्वामी [सदैव] जीवित रहता है, [उसके] हाथ नहीं हैं, किन्तु वह करता सब कुछ है। (३) [उसके] जिह्वा नहीं है, किन्तु बोलता सब-कुछ है, शरीर नहीं है, किन्तु जिसे वह डुलाता है, वही डोलता है। (४) [उसके] कान नहीं है, पर वह सुनता सब-कुछ है, [उसके] हृदय नहीं है, किन्तु समस्त [प्रकार के] विचारों को गुनता रहता है। (५) [उसके] नेत्र नहीं हैं, किन्तु वह देखता सभी कुछ है, ऐसे [ईश्वर] को किस प्रकार विशेषणों से अन्वित किया जाए? (६) न कोई उसके रूप का है और न वही किसी के जैसा है, वह ऐसा अनुपम है। (७) न उसका कोई स्थान है और न कोई स्थान उसके बिना है; वह समस्त रूप-रेखा विहीन है और निर्मल नाम मात्र है। (८) न वह [सृष्टि के किसी पदार्थ में] मिला है, और न अलग है, इस प्रकार

वह [संसार में] भरित और पूरित हो रहा है, (९) वह [ज्ञान-] दृष्टि वालों के लिए निकट ही है, किन्तु अन्धे मूर्ख (ज्ञानहीन) के लिए दूर है।

टिप्पणी--(२) गोसाईं<गोस्वामी=स्वामी। (४) गुनना<गुणन=आकलन, विचार करना। गुन्<गुणय्=गिनना, विचार करना। (५) बिसेख<वि+शेषय्=विशेषणों से अन्वित करना। (८) बेहरा<विघटित=अलग किया हुआ, पृथक्।

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानइ भोला।
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहसइ जोगू।
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाँहा।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो पै जान जेहि दीन्हेसि नाहीं।
जोबन गरम जान पै बूढ़ा। मिला न तरुनापा जब ढूँढ़ा।
सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जाकहँ दुख बाजा।
कया क मरम जान पै रोगी भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं जानइ जो घट घट महँ नित॥ ६॥

अर्थ--(१) और उसने जो अमूल्य रत्न दिए, उनका मूल्य यह भोला (बुद्धिहीन) [मनुष्य] नहीं जानता है। (२) उसने रसना दी और [उसके प्रयोग के लिए] रस-भोग दिए, उसने दाँत दिए जो हँसने के योग्य हैं। (३) जगत् को देखने के लिए उसने नेत्र दिए, और वचनों को सुनने के लिए उसने कान दिए। (४) उसने कंठ दिया, जिस में बोल रहता है, और उसने कर-पल्लव तथा श्रेष्ठ बाहु दिए। (५) उसने अनुपम चरण दिए, जो चलते हैं, और हो न हो वही [उनकी उपयोगिता] जानता है जिसे उसने इन्हें नहीं दिया है। (६) यौवन का मर्म, हो न हो, बुड्ढा ही जानता है, क्योंकि जब उस ने [संसार भर में उसको ढूँढा] तरुणत्व न मिला। (७) सुख का मर्म राजा नहीं जानता है, उसे दुखिया ही जानता है, जिस पर दुःख आ पड़ता है। (८) [स्वस्थ] काया का मर्म, हो न हो, रोगी ही जानता है, भोगी उससे निश्चिन्त रहता है। (९) [पुनः] सब का मर्म वह स्वामी जानता है, जो घट-घट में नित्य रहता है।

टिप्पणी--(१) भोला<भोलविय, भोलिअ [दे०]=वञ्चित, बुद्धि से वञ्चित किया हुआ। (३) बैन<वयण<वचन। (५) पै<परम्=हो न हो। (६) तरुनापा<तरुणत्व। (७) बाज्<वज्ज<व्रज=जाना, पहुँचना। (८) निंत<नित्य।

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पारइ बरना।
सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुँद मसि भरई।
जावँत जग साखा बन ढाँखा। जावँत केस रोवँ पँखि पाँखा।
जावँत रेह खेह जहँ ताईं। मेघ बूँद औ गगन तराईं।
सब लिखनी कइ लिख संसारू। लिखि न जाइ गति समुँद अपारू।
एत कीन्ह सब गुन परगटा। अबहूँ समुँद बूँद नहिं घटा।
अइस जानि मन गरब न होई। गरब करइ मन बाउर सोई।

बड़ गुड़वंत गोसाईं चहइ सो होइ तेहि बेगि ।
औ अस गुनी सँवारइ जो गुन करइ अनेग ॥१०॥

अर्थ--(१) उस कर्त्ता का करण अत्यंत अपार है, उसके वर्णों (रूपों) का कोई वर्णन नहीं कर सकता है । (२) सात आकाशों को यदि काग़ज़ किया जाए, और धरती के सात समुद्रों में यदि मसि भरी जाए; (३) तथा जगत् में जितनी शाखाएँ हैं, वनों में जितने ढाँख (पलाश आदि वृक्ष) हैं, जितने भी [मनुष्यों के] केश और रोम तथा पक्षियों के पंखे हैं, (४) जितनी भी रेह तथा जहाँ तक भी धूल है, जितनी भी मेघों की बूँदें तथा गगन की तारिकाएँ हैं, (५) इन सभी की लेखनियाँ करके संसार भर लिखे, तो भी उस की अपार गति के समुद्र का लिखना संभव नहीं है । (६) इतना उसने किया और उसने समस्त गुणों को प्रकट किया, [फिर भी] अब तक उस समुद्र में एक बूँद भी कम नहीं हुई है । (७) ऐसा जान कर [मनुष्य के] मन में गर्व न होना चाहिए; [फिर भी] जो मन में गर्व करता है, वह बावला है । (८) वह स्वामी बड़ा गुणी है; जो भी चाहता है, वह उससे तुरंत हो जाता है, (९) और वह ऐसे गुणियों की भी रचना करता है जो अनेक गुण (गुणपूर्ण कार्य) करते हैं ।

टिप्पणी--(१) करन<करण=गति, क्रिया, विधान । पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना । (२) कागर<काग़ज़ [फा०] (३) पंखि<पक्षिन् । पाँख<पंख<पक्ष=डैना । (४) तराई<तारिका । (६) एत<इयत्=इतना (७) बाउर<बाउल<वातूल=वातग्रस्त, बावला ।

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा । नाउँ मुहम्मद पूनिउँ करा ।
प्रथम जोति बिधि तेहि कै साजी । औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी ।
दीपक लेसि जगत कहँ दीना । भा निरमल जग मारग चीन्हा ।
जौं न होत अस पुरुष उज्यारा । सूझि न परत पंथ अँधियारा ।
दोसरइँ ठाँव दई ओइँ लिखे । भए धरमी जो पाढ़ित सिखे ।
उमति बसीठ दई ओइँ कीन्हे । दोउ जग तरा नाउँ ओहि लीन्हे ।
जेइँ नहिं लीन्ह जरमि सो नाउँ । ताकहँ कीन्ह नरक महँ ठाउँ ।
गुन अवगुन बिधि पूँछत होइहि लेख अउ जोख ।
ओन्ह बिनउब आगे होइ करब जगत कर मोख ॥११॥

अर्थ--(१) उसने एक निर्मल पुरुष का निर्माण किया, जो पूर्णिमा की चन्द्रकला [जैसा] था, और जिसका नाम मुहम्मद था । (२) विधाता ने पहले उसी की ज्योति का निर्माण किया और [तदनंतर] उसी की प्रीति में उसने सृष्टि की रचना की । (३) उसने [ह० मुहम्मद के रूप में] जगत्को एक दीपक जला कर दिया, जिसके मार्ग को पहचान कर जगत् निर्मल हो गया । (४) यदि ऐसा उज्ज्वल पुरुष न [हुआ] होता, तो अँधेरा मार्ग सूझ न पड़ता । (५) दूसरे स्थान पर [उसके अनंतर] दैव (ईश्वर) ने उसी को लिखा (अंकित किया), जो [उससे] मंत्र सीख कर धर्मारूढ़ हुआ । (६) उसे दैव (ईश्वर) ने उम्मत में [अपना] बसीठ [निर्मित] किया, और उस का नाम लेने से मनुष्य दोनों जगत्--इहलोक और परलोक--में तर गया । (७) जिसने

[मनुष्य-] जन्म ग्रहण कर उसका नाम नहीं लिया, उसके लिए [ईश्वर ने] नर्क में स्थान बनाया ।(८) जब विधाता गुण-अवगुण (सत्कर्म-दुष्कर्म) पूछेगा, और [उनका] लेखा-जोखा होगा, (९) [उस समय] वह आगे आकर [अपने अनुयायियों की ओर से] उससे निवेदन करेगा और जगत् को मुक्ति दिलाएगा ।

टिप्पणी--इस छंद में इस्लाम की मान्यताओं के अनुसार हजरत मुहम्मद की प्रशंसा की गई है ।(२) उपराज्<उपरच्=निर्माण करना । (३) लेस>लिश्=प्रकाशित करना ('लेश्य' और 'लेश्या' शब्दों में धातु का यही अर्थ है)। (४) उज्यार<उज्ज्वल । (५) पाढ़ित<पाठित=पढ़ाया हुआ, मंत्र । (६) उमत<उम्मत=धर्म, धर्मानुयायी जाति, इस्लाम । बसीठ<वसिट्ठ< वसिष्ठ (?)=दूत, पैग़म्बर । (९) मोख< मोक्ख=मोक्ष ।

चारि मीत जो मुहमद ठाऊँ । चहुँक दुहूँ जग निरमर नाऊँ ।
अबाबकर सिद्दीक सयाने । पहिलइँ सिदिक दीन ओइ आने ।
पुनि जो उमर खिताब सुहाए । भा जग अदल दीन जौं आए ।
पुनि उस्मान पँडित बड़ गुनी । लिखा पुरान जो आयत सुनी ।
चौथइँ अली सिंघ बरियारू । सौंह न कोई रहा जुझारू ।
चारिउ एक मतइँ एक बाता । एक पंथ औ एक सँघाता ।
बचन जो एक सुनाएन्हि साँचा । भा परवान दुहूँ जग बाँचा ।
जौं पुरान बिधि पठवा सोई पढ़त गिरंथ ।
अउर जो भूले आवत ते सुनि लागत तेहि पंथ ॥ १२ ॥

अर्थ--(१) मुहम्मद के स्थान पर जो चार यार (चार ख़लीफ़ा) हुए, उन चारों के नाम दोनों जगत्--इहलोक और परलोक--में निर्मल हैं। (२) [इनमें से पहले] अबूबक्र हुए, जो सत्यनिष्ठ और ज्ञानी थे ; दीन (इस्लाम) में सत्यता पहले-पहल उन्होंने स्थापित की । (३) पुनः (तदनंतर) जो उस ख़िताब (पदवी) से सुशोभित हो कर उमर दीन (इस्लाम) [के इतिहास] में आए, (उनके द्वारा) संसार में न्याय हुआ (न्याय की प्रतिष्ठा हुई) । (४) पुनः (तदनंतर) पंडित और महागुणवान् उसमान आए, जिन्होंने सुनी हुई आयतों को लेकर पुराण (क़ुरआन) को लिपिवद्ध किया । (५) चौथे (ख़लीफ़ा) सिंह सदृश बली अली हुए, जिनके सम्मुख कोई युद्ध करने वाला न रहा । (६) चारो एक मत, एक बात, एक पंथ, और एक समूह के थे । (७) उन्होंने जो एक सच्चा वचन (कलमा) सुनाया, वह प्रमाण हुआ और दोनों जगत्--इहलोक तथा परलोक--ने उसे पढ़ा । (८) जिस पुराण (क़ुरआन) को विधाता ने भेजा था, ये (चारो) उसी ग्रंथ को पढ़ते थे, (९) और जो भूले-भटके आते थे, वे [उनसे इस ग्रंथ को] सुनकर उस (इस्लाम) के मार्ग में आ लगते थे ।

टिप्पणी--(२) अबाबकर<अबूबक्र=एक ख़लीफ़ा । सिद्दीक<सिद्दीक़ [अ०]< सत्यनिष्ठ । सयान<सआण<सज्ञान । सिदिक<सिद्क़ [अ०]=सत्य-निष्ठा । (३) खिताब<ख़िताब [अ०]=पदवी । अदल=अद्ल [अ०]=न्याय । (६) सँघात< संघात=समूह ।

सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू । चारिउ खंड तपइ जस भानू ।
ओही छाज छात औ पाटू । सब राजा भुइँ धरहिं लिलाटू ।
जाति सूर औ खाँडइ सूरा । औ बुधिवंत सबइ गुन पूरा ।
सूर नवाई नवउ खँड भई । सातउ दीप दुनी सब नई ।
तहँ लगि राज खरग बर लीन्हा । इसकंदर जुलकराँ जो कीन्हा ।
हाथ सुलेमाँ केरि अँगूठी । जग कहँ जिअन दीन्ह तेहि मूठी ।
औ अति गरुअ पुहुमिपति भारी । टेकि पुहुमि सब सिस्टि सँभारी ।
दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज ।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज ॥ १३ ॥

अर्थ--(१) [इस समय] दिल्ली का सुल्तान शेरशाह [सूर] है, जो [पृथ्वी के] चारों खंडों में भानु के समान तप्त हो रहा है। (२) छत्र और सिंहासन उसी को शोभा देते हैं, और समस्त राजा [उसके सामने] भूमि पर माथा टेकते हैं। (३) उसकी जाति 'सूर' है, और वह [स्वयं भी] खड्ग-शूर है, तथा वह बुद्धिमान और समस्त गुणों से पूरित है। (४) उसके द्वारा शूरों को नमित (दमित) किए जाने की क्रिया [पृथ्वी के] नवों खंडों में हुई, और सप्तद्वीप की समस्त दुनिया ने उसको नमस्कार किया। (५) उसने वहाँ तक खड्ग के बल से राज्य प्राप्त कर लिया है, जहाँ तक ज़ुल्क़रनैन (सिकंदर) ने किया था। (६) उसके हाथ में सुलेमान की अँगूठी है, इसी से वह जगत् मात्र को उस मुट्ठी से जीवन देता है। (७) वह पुनः अत्यधिक गुरु और भारी पृथ्वीपति है, उसने पृथ्वी को टेक कर समस्त सृष्टि को सँभाल लिया है। (७) [ऐ शेरशाह,] मुहम्मद (जायसी) ने तुम्हें आशीर्वाद दिया कि तुम युग युगान्तर तक राज्य करो। (९) तुम जगत् के बादशाह हो और जगत् तुम्हारा आश्रित है।

टिप्पणी--(२) छाज्<छज्ज् [दे०] = शोभित होना। पाट<पट्ट = फलक, सिंहासन (३) खाँड<खड्ड<खड्ग । (४) नव्<नम् = नमित होना । (५) जुलकराँ< ज़ुलकरनैन [अ०] = दो सींगों वाला, सिकन्दर की एक उपाधि । (६) सुलेमाँ केरि अँगूठी = सुलेमान की अँगूठी । कहते हैं कि सुलेमान के पास एक अँगूठी थी, जिसके द्वारा उसने जिनों को अपने वश में कर रक्खा था, और वह जो चाहता था, उन जिनों से मँगवा लेता था । (७) गरू<गुरु = बड़ा । पुहुमि<पृथ्वी । (९) मुहताज [अ०] = आश्रित, अपेक्षित ।

बरनौं सूर पुहुमिपति राजा । पुहुमि न भार सहइ जौ साजा ।
हय गय सेन चलइ जग पूरी । परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी ।
रेनु रैनि होइ रबिहि गरासा । मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा ।
ऊपर होइ छावइ महि मंडा । षट खँड धरति अष्ट ब्रह्मंडा ।
डोलइ गगन इंद्र डरि काँपा । बासुकि जाइ पतारहिं चाँपा ।
मेरु धसमसइ समुँद सुखाई । बन खँड टूटि खेह मिलि जाई ।
अगिलहि काहिं पानि खर बाँटा । पछिलेहि काहिं न काँदौ आँटा ।

जो गढ़ नए न काऊ चलत होहिं सब चूर ।
जबहि चढ़इ पुहुमीपति सेर साहि जगसूर ॥ १४ ॥

अर्थ––(१) अब मैं पृथ्वीपतियों के राजा [शेरशाह] वर्णन करता हूँ, [जो ऐसा है कि] जब वह [सेना की] साज करता है, पृथ्वी उसका भार नहीं सह पाती है। (२) घोड़े-हाथियों की उसकी सेना जगत् को पूरित करते हुए चलती है और [उसके चलने से] पर्वत टूट-टूट कर धूल हो कर उड़ते हैं। (३) रेणु रजनी [की भाँति अंधकार-प्रसविनी] हो कर रवि को ग्रस लेती है, [जिसके कारण] मनुष्य तथा पक्षी [अपने निवासों को] लौट कर वास (बसेरा) ले लेते हैं। (४) यह मही-मंड ऊपर होकर जब छा जाती है, तब धरती [सात के स्थान पर] छः खंडों की ही रह जाती है, जब कि ब्रह्मांड [सात के स्थान पर] आठ खंडों का हो जाता है। (५) [उस की सेना के प्रयाण से] आकाश डोलने लगता है, इन्द्र डर कर काँपने लगता है तथा वासुकी पाताल में जाकर भी [उसके भार से] दब जाता है, (६) सुमेरु ध्वस्त हो जाता है, समुद्र सूख जाता है, तथा वन-खंड टूट-टूट कर धूल में मिल जाते हैं; (७) अगलों (सेना के अग्रभाग वालों) को ही रूखा-सूखा पानी बँट पाता है और पिछलों (पीछे आने वालों) को [पानी की कौन कहे ?] कर्दम (पानी का कीचड़) भी नहीं अँटता है। (८) जो गढ़ पहले कभी नहीं नमित हुए, उसकी [सेना के] चलते ही वे सब चूर- चूर हो जाते हैं, (९) जभी पृथ्वीपति और जगत्-शूर शेरशाह उन पर चढ़ाई करता है।

टिप्पणी––(३) रइनि<रयणी<रजनी=रात्रि । (४) महिमंड=पृथ्वी का कीचड़, धूल की गुबार। (६) धसमस्=धसमस करना, गिरना। (७) खर=रूखा। काँदौ<कद्दम<कर्दम=कीचड़ ।

अदल कहौं जस प्रिथिमी होई । चाँटहि चलत न दुखवइ कोई ।
नौसेरवाँ जो आदिल कहा । साहि अदल सरि सोउ न अहा ।
अदल कीन्ह उम्मर की नाईं । भइ अहानि सिगरी दुनिआईं ।
परी नाथ कोइ छुअइ न पारा । मारग मानुस सोन उछारा ।
गउव सिंघ रेंगहिं एक बाटा । दूअउ पानि पिअहिं एक घाटा ।
नीर खीर छानइ दरबारा । दूध पानि सो करइ निरारा ।
धरम निआउ चलइ सत भाषा । दूबर बरिय दुनहुँ सम राखा ।
सब पिरथिमी असीसइ जोरि जोरि कै हाथ ।
गाँग जउँन जौ लहि जल तौ लहि अम्मर माथ ॥ १५ ॥

अर्थ––(१) [अब मैं उसके] न्याय का वर्णन करता हूँ, [जिसके प्रताप से] चलती हुई चींटी को भी कोई दुःख नहीं पहुँचाता है। (२) नौशेरवाँ जो न्यायी कहा गया है, शाह (शेरशाह सूर) की समानता में न्याय में वह भी नहीं रहा। (३) [शेरशाह ने] उमर की भाँति इन्साफ़ किया, [जिसके परिणाम स्वरूप] सारी दुनिया में ही वह आख्यान का विषय हो गया। (४) [सोने की] नथें पड़ी रहती हैं, जिन्हें कोई छू नहीं सकता है, और मार्गों में मनुष्य सोना उछालते हुए चलते हैं। (५) गाय तथा सिंह एक ही मार्ग में चलते हैं और दोनों एक ही घाट पर पानी पीते हैं। (६) वह दरबार में [बैठ कर]

नीर-क्षीर को छान कर निकाल लेता है, और वह दूध तथा पानी को एक दूसरे से अलग कर देता है। (७) वह धर्म के न्याय पर चलता है, सत्य भाषण करता है और वह दुर्बलों तथा बलशालियों-- दोनों- को समान भाव से रखता है। (८) ऐ शेरशाह, समस्त पृथ्वी दोनों हाथों को ज़ोड़-जोड़ कर तुम्हें आशीर्वाद देती है कि (९) गंगा और यमुना में जब तक जल रहे, तब तक तुम्हारा मस्तक अमर रहे।

टिप्पणी--(१) चाँट=चींटी। (२) नौसेरवाँ<नौशेरवाँ=ईरान का एक प्रसिद्ध न्यायप्रिय शासक। सरि<सदृश्। (३) उमर=खलीफा उमर (दे० १२ ३)। नाई<न्याय। अहानि>आख्यान+इका=किंवदन्ती, कहावत, लोकोक्ति। सिगरी<सगल सकल। (४) नाथ<नत्थ<नस्त=नथ, नाक में पहना जानेवाला छल्ला। (५) उछार्<उत्+शालय्=ऊँचा फेंकना। (६) निरार<निरालय=बाहर। (७) बरिअ<बलिन्=बलवान्, बलिष्ठ। (९) गाँग<गंगा। जउँन<यमुना।

पुनि रुपवंत बखानौं काहा। जावँत जगत सबइ मुख चाहा।
ससि चौदसि जो दइअ सँवारा। तेहूँ चाहि रूप उजिआरा।
पाप जाइ जौं दरसन दीसा। जग जोहारि कइ देइ असीसा।
जइस भान जग ऊपर तपा। सबइ रूप ओहि आगें छपा।
भा अस सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दह आगरि करा।
सौंह दिस्टि कइ हेरि न जाई। जेइँ देखा सो रहा सिर नाई।
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। बिधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा।
रूपवंत मनि मांथें चंद्र घाट वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लोभानी अस्तुति बिनवइ ठाढ़ि॥ १६॥

अर्थ--(१) पुनः इसके रूपवंत होने का क्या वर्णन करूँ? जगत् में जितने प्राणी हैं, सभी इसका मुख देखते रहते हैं, (२) दैव ने जो चतुर्दशी का चंद्र निर्मित किया है, इसका रूप उस से भी उज्ज्वल है। (३) यदि इसका दर्शन देख ले (कर ले), तो पाप चले जाएँ, [इसीलिए] जगत् इसे जुहार कर (नमस्कार कर) आशीर्वाद देता है। (४) जैसे भानु जगत् के ऊपर तप्त होता है, [और उसके तप्त होने पर संसार के अन्य समस्त ज्योतिर्मय पदार्थ छिप जाते हैं], उसी प्रकार इसके सामने सभी रूप छिप गए हैं। (५) यह सूर [शेरशाह] ऐसा निर्मल पुरुष हुआ कि सूर्य से दस कलाएँ बढ़ कर हुआ। (६) इसके सम्मुख दृष्टि करके (इसकी ओर) देखा नहीं जाता है, और जिसने भी इसे देखा, वह सिर झुका कर रहा। (७) दिन-प्रतिदिन इसका रूप सवाया (सवा गुना) हो कर चढ़ता जा रहा है, विधाता ने इसे संसार के ऊपर [ऐसा] सुरूप गढ़ा (बनाया) है। (८) इसके मस्तक पर जो मणि [की कान्ति] है, उसके कारण यह ऐसा रूपवान [प्रतीत होता] है कि चन्द्र इससे घट कर है और यह उससे बढ़ कर है। (९) समस्त पृथ्वी इसके दर्शनों पर लुब्ध है और [इसके समक्ष] खड़ी हो कर स्तुति-निवेदन करती है।

टिप्पणी--(२) उजिआर<उज्ज्वल। (५) चाहि=अपेक्षा। आगरि<अग्र=बढ़ी हुई। करा<कला। (६) सौंह<सउँह<सम्मुख। (९) बिनव्<विण्णव<विज्ञपय्=निवेदन करना।

पुनि दातार दइअ बड़ कीन्हा । अस जग दान न काहूँ दीन्हा ।
बलि औ विक्रम दानि बड़ अहे । हेतिम करन तिआगी कहे ।
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ । समुँद सुमेर घटहिं नित दोऊ ।
दान डाँक बाजइ दरबारा । कीरत गई समुद्रहँ पारा ।
कंचन बरिस सोर जग भएऊ । दारिद भागि देसंतर गएऊ ।
जौं कोइ जाइ एक बेर माँगा । जरमहु होइ न भूखा नाँगा ।
दस असुमेध जग्गि जेइँ कीन्हा । दान पुन्नि सरि सेउ न दीन्हा ।
अइस दानि जग उपना सेरसाहि सुलतान ।
ना अस भएउ न होइहि ना कोइ देइ अस दान ॥१७॥

अर्थ--(१) पुनः इसे दैव ने बड़ा भारी दनी बनाया है; जगत् में ऐसा दान [अन्य] किसी ने नहीं दिया है।(२) बलि और विक्रम बड़े दानी थे, हातिम और कर्ण भी त्यागी कहे गए हैं, (३) किन्तु शेरशाह की समानता कोई नहीं कर सकता है ; समुद्र और सुमेरु भी [जो रत्नराशि तथा सोना यह उनसे दान देने के लिए लेता रहता है उसके कारण] नित्य क्षीण होते जा रहे हैं। (४) इसके दरबार में दान का डंका बजता रहता है, [इसलिए] इसकी [दान की] कीर्ति समुद्रों के पार तक पहुँच चुकी है। (५) जगत् में यह शोर हो गया है कि [इसके दरबार में] कञ्चन बरसता है, जिससे दारिद्रय भाग कर देशान्तर (अन्य-अन्य देशों) को चला गया है। (६) यदि कोई इसके समक्ष जाकर एक बार भी माँग लेता है, तो वह जन्म (जीवन) भर भूखा-नंगा नहीं रहता है। (७) जिसने दश अश्वमेध यज्ञ किए होंगे, दान और पुण्य में उसने भी इसके समान नहीं दिया होगा। (८) सुल्तान शेरशाह जगत् में ऐसा दानी उत्पन्न हुआ है (९) कि न ऐसा कोई [पहले] हुआ है, न [आगे] होगा, और न [इस समय] कोई ऐसा दान दे रहा है।

टिप्पणी--(३) सरि<सादृश्य । पूज<पुज्ज<पूरय्=पूरा पड़ना । (५) देसंतर<देशान्तर ।(७) उपन्<उत्+पत्=उत्पन्न होना । (२) बलि=प्रसिद्ध पौराणिक दानी दानव । विक्रम=विक्रमादित्य । हेतिम<हातिम=एक प्रसिद्ध यवन दानी और ज्ञानी। करन<कर्ण=महाभारत का एक प्रसिद्ध योद्धा और दानी ।

सैयद असरफ पीर पिआरा । तिन्ह मोहिं पंथ दीन्ह उजिआरा ।
लेसा हिएँ पेम कर दिया । उठी जोति भा निरमल हिया ।
मारग हुत अँधियार असूझा । भा अँजोर सब जाना बूझा ।
खार समुद्र पाप मोर मेला । बोहित धरम लीन्ह कइ चेला ।
उन्ह मोर करिअ पोढ कर गहा । पाएउँ तीर घाट जो अहा ।
जाकहँ अइस होहिं कँड़हारा । तुरति बेगि सो पावइ पारा ।
दस्तगीर गाढ़े के साथी । जहँ अवगाह देहिं तहँ हाथी ।
जहाँगीर ओइ चिस्ती निहकलंक जस चाँद ।
ओइ मखदूम जगत के हौं ओन्हकर घर बाँद ॥ १८ ॥

अर्थ--(१) सैयद अशरफ़ [जहाँगीर] मेरे प्रिय पीर हैं : उन्होंने मुझे मेरे

[अध्यात्म-] मार्ग में प्रकाश दिया। (२) उन्होंने [मेरे] हृदय में प्रेम का दीपक जलाया, जिससे ज्योति उठी और हृदय निर्मल हो गया। (३) जो मार्ग [इसके पूर्व] अँधेरा और असूझ था, इस प्रकाश को पाकर वह उज्ज्वल (प्रकाशित) हो गया और [उसमें] सब कुछ जाना-बूझा हो गया। (४) मुझे मेरे पापों ने खारे समुद्र में डाल ही दिया था कि उन्होंने अपना चेला बना कर मुझे धर्म के बोहित्थ (जलयान) पर ले लिया। (५) उन्होंने मेरी पतवार को पोढ़े हाथों से पकड़ लिया, जिसके परिणाम-स्वरूप मैं तट पर [पहुँच कर] जो घाट था, उस को पा गया। (६) जिसको ऐसा कर्णधार मिले, वह तुरंत और शीघ्रता से पार पा (लग) जाता है। (७) वे दस्तगीर (विपत्ति के समय हाथ पकड़ने वाले) और गाढ़ (विपत्ति) के साथी हैं, और जहाँ पर [जल का] विस्तार होता है, वे हाथी (हथेली—हाथ का सहारा) देते हैं। (८) वे चिश्ती [संप्रदाय] के जहाँगीर ऐसे निष्कलंक हैं जैसे चन्द्रमा हो। (९) वे जगत् के स्वामी हैं और मैं उनका घर का दास हूँ।

टिप्पणी—(१) उजियार<औज्ज्वल्य। (२) लेस्<लिश्=प्रकाशित करना ('लेश्य' और 'लेश्या' शब्दों में धातु का यही अर्थ है)। (३) अँजोर<उज्ज्वल=प्रकाशित। (४) खार<क्षार=एक समुद्र का नाम (दे० १४१.८,१५०) बोहित<बोहित्थ [दे०] अथवा वहित्र=जलयान। चेला<चेड<चेट=भृत्य, शिष्य। (५) करिअ =पतवार (कड<कट=काष्ठ-फलक)।

उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइँ भरा।
तिन्ह घर दुइ दीपक उजिआरे। पंथ देइ कहँ दइअ सँवारे।
सेख मुबारक पूनिउँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा।
दुऔ अचल धुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिनहुँ उपराहीं।
दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुं जगत की ताईं।
दुहूँ खंभ टेकी सब मही। दुहुँ के भार सिस्टि थिर रही।
जिन्ह दरसे औ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया।
मुहमद तहाँ निचिंत पथ जेहि सँग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिआ औ खेवक बेग पाव सो तीर ॥१९॥

अर्थ—(१) उनके घर में एक निर्मल रत्न हुए, जिनका नाम हाजी शेख़ था और जो सुन्दर भाग्य से पूरित थे। (२) उनके घर में दो उज्ज्वल दीपक पंथ [को प्रकाश] देने के लिए दैव ने निर्मित किए। (३) [एक] शेख़ मुबारक थे, जो पूर्णिमा की कला के थे और [दूसरे] शेख़ कमाल थे, जो जगत् में निर्मल थे। (४) दोनों ही अचल ध्रुव थे और [किन्हीं भी परिस्थितियों में] हिलते नहीं थे; सुमेरु और किष्किंधा से भी [इस विषय में] वे ऊपर (बढ़ कर) थे। (५) उन्हें ईश्वर ने ज्योति और रूप दिया था, और दोनों जगत्—इहलोक और परलोक—के लिए उन्हें खंभों के सदृश किया (बनाया) था। (६) इन दोनों खंभों ने समस्त पृथ्वी को टेक (थाम) लिया था, और इन दोनों पर भार डाल कर सृष्टि स्थिर हो रही। (७) जिन्होंने भी इनके दर्शन किए और पैर छुए, उनके पाप हर उठे और उनकी काया निर्मल हो गई।

(८) मुहम्मद (जायसी) कहता है, वहाँ पर मार्ग निश्चिन्त होता है जहाँ पर साथ में पीर और मुर्शिद होते हैं, (९) [क्योंकि] जिस नाव पर करिआ (पतवार पकड़ने वाला) और खेवक (नाव को खेनेवाला) [दोनों] होते हैं, वह नाव शीघ्र ही तीर (तट) पा जाती है।

टिप्पणी--(४) खिखिद<किष्किन्ध। (५) खाँभ<खंभ<स्कम्भ=खंभा। (७) परस्<स्पृश्=स्पर्श करना। (८) मुरसिद<मुर्शिद [अ०]=अध्यात्म का उपदेश करने वाला, गुरु। पीर [फा०]=महात्मा, सिद्ध। (९) करिआ=पतवार पकड़ने वाला। खेवक=नाव खेने वाला।

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गिआनू।
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखुरू।
सैयद मुहमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहिं खेला।
दानिआल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए।
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरए जहँ सैयद राजे।
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी।
ओइ सो गुरु हौं चेला नित बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं दरस गोसाईं केर॥ २०॥

अर्थ--(१) मैंने [अपनी] नाव को खेने वाले मुहीउद्दीन की सेवा की, जिनका खेवा तेज़ी से चलता है। (२) शेख़ बुरहान उनके अगुआ हुए थे, जिन्होंने [उन्हें] पंथ से लगा कर ज्ञान दिया था। (३) भद्र (अच्छे) अलहदाद उनके गुरु थे, जो दीन (इस्लाम) और दुनिया--दोनों क्षेत्रों में रौशन और सुर्ख़रू थे। (४) वे सैयद मुहम्मद के चेले थे, जिनके संग में सिद्धपुरुष खेलते थे। (५) उन्हें [उनके] गुरु दानियाल ने मार्ग दिखाया था, और उन दानियाल को हज़रत ख़्वाजा ख़िज़्र ने पाया था। (६) उन्हीं हज़रत ख़्वाजा (ख़िज़्र) ने प्रसन्न हो कर उन्हें ले जा कर वहाँ मिलाया था जहाँ सैय्यद राजे थे, (७) उन (मुहीउद्दीन) से जब मैं ने [काव्य] करने की शक्ति पाई, तब मेरी जीभ खुली और मैंने प्रेम-कविता का वर्णन किया। (८) वे गुरु हैं, मैं उनका चेला हूँ, और मैं नित्य उनका सेवक होकर उनसे निवेदन करता हूँ। (९) उन्हीं की बदौलत मैं ईश्वर का दर्शन पाऊँ [यह मेरी कामना है]!

टिप्पणी--(१) खेवक=खेनेवाला। खेवा<खेव<क्षेप्य=खेप, नाव के द्वारा पार ले जाया जाने वाला यात्रीदल। (३) रोसन<रौशन [फा०]=प्रकाशित। सुरखुरू<सुर्ख़रू [फा०]=तेजस्वी, कांतिवान। (७) उघर्<उद्+घट्=खुलना। कबि<कविता (दे० २१.१, २३.१, २४.६, ६५२.१)। (८) बिनव्<विण्णव<विज्ञपय् =निवेदन करना। चेर<चेट=सेवक।

एक नैन कबि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइँ कबि सुनी।
चाँद जइस जग बिधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजिआरा।
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ।

जौ लहि अंबहि डाभ न होई । तौ लहि सुगँध बसाइ न सोई ।
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा । तौ अति भएउ असूझ अपारा ।
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा । भा कंचनगिरि लाग अकासा ।
जौं लहि घरी कलंक न परा । काँच होइ नहिं कंचन करा ।
एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ ॥ २१ ॥

अर्थ--(१) यह कविता एक नेत्र वाले कवि मुहम्मद द्वारा गुनी हुई है, जिसने भी यह कविता सुनी, वह इस पर विमुग्ध हो गया। (२) इसे विधाता ने चन्द्रमा के समान अवतरित किया, [क्योंकि] जहाँ इसे [एक नेत्र से हीन होने का] कलंक दिया, इसे [गुण का] औज्ज्वल्य भी दिया। (३) इसे एक ही नेत्र से समस्त जगत् सूझ पड़ा, इस प्रकार यह नक्षत्रों में शुक्र [के समान] उदित हुआ है। (४) जब तक आम में बौर नहीं होते हैं, तब तक वह सुगंध से सुवासित नहीं होता है। (५) [विधाता ने] समुद्र के पानी को जब खारा बनाया, तभी तो वह अत्यन्त असूझ और अपार हुआ ! (६) जब उसने सुमेरु को त्रिशूल से विनष्ट किया, तभी तो वह कंचन का गिरि (पर्वत) हुआ और आकाश से जा लगा। (७) जब तक घरिए में कलंक (कोयला) नहीं पड़ता है, काँच (कच्चा सोना) कंचन की कला का नहीं होता है। (८) मेरा एक नेत्र दर्पण [तुल्य] है, और उसका भाव निर्मल है, (९) इसी कारण सब रूपवान [मेरे] पैर पकड़ कर और चाव (रुचि) करके मेरा मुख जोहते (देखते) हैं।

टिप्पणी--(१) कबि<कविता (दे० २०.७, २३.१, २४.६, ६५२.१)। (२) उजिआर<उज्ज्वल। (३) उव्<उग्ग<उद्+गम्=उगना, उदित होना। (४) डाभ<दब्भ<दर्भ=अंकुर, मंजरी। (६) कंचनगिरि : सुमेरु के त्रिशूल से विनष्ट किए जाने पर उसके कंचनगिरि होने की कथा ज्ञात नहीं है; संभव है यह कोई लोक-कथा रही हो। (७) घरी<घटी=घरिया, वह पात्र जिसमें सोना गलाया जाता है। (९) जोव्<जोअ [दे०]=देखना।

चारि मीत कबि मुहमद पाए । जोरि मिताई सरि पहुँचाए ।
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी । पहिलैं भेद बात उन्हँ जानी ।
पुनि सलार कादँन मति माहाँ । खाँडै दान उभै निति बाहाँ ।
मिआँ सलोने सिंघ अपारू । बीर खेत रन खरग जुझारू ।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने । कइ अदेस सिद्धन्ह बड़ माने ।
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े । औ सँग जोग गोसाईं गढ़े ।
बिरिख जो आछहिं चंदन पासाँ । चंदन होहिं बेधि तेहि बासाँ ।
मुहम्मद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त ।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित्त ॥ २२ ॥

अर्थ—(१) मुहम्मद कवि ने चार मित्र प्राप्त किए हैं, जिन्होंने उससे मित्रता जोड़ कर उसे सीमा तक पहुँचाया है। (२) मलिक युसूफ जो पंडित और ज्ञानी हैं, मेरी भेद की बातें पहले उन्होंने जानीं। (३) तदनंतर (दूसरे) सालार कादन [मेरी]

मति (विचारणा) में [आए], जिनके बाहु खड्गदान में नित्य उठे रहते हैं। (४) [तीसरे] सलोने मियाँ हैं, जो सिंह [सदृश] हैं, जो रण-क्षेत्र में अपार वीर और खड्ग से लड़ने वाले हैं। (५) [चौथे] बड़े शेख हैं, जो बड़े सिद्ध बखाने (कहे) जाते हैं, और जिन्हें सिद्धों ने [भी] आदेश (नमस्कार) करके बड़ा माना है। (६) ये चारों ही चौदहों गुणों (विद्याओं) में पठित है, और ईश्वर ने इन्हें संग [करने] के योग्य गढ़ा (निर्मित किया) है। (७) जो वृक्ष चन्दन के पास [होते] हैं, वे भी उसकी वासना से विद्ध होकर चन्दन हो जाते हैं। (८) मुहम्मद कहता है, ये चारों मित्र मिलकर जो एकचित्त हो गए (९)और जो इस जगत् में इनका सार्थ निबट गया, तो उस जगत् (पर लोक) में [इनमें परस्पर] बिछुड़ना कहाँ होगा ?

टिप्पणी---(१) सरि<सरिअं=सृतम्<अल, सीमा। (३) सलार<सालार [फ़ा०]=प्रधान, नेता। काँदन=नाम, विशेष। शेख़ कादन नाम के एक संत की कुछ रचनाएँ प्राचीन संत-वाणी-संग्रहों में मिलती हैं, किन्तु वे इन सालार कादन से भिन्न प्रतीत होते हैं। (४) जुझारु<युद्धालु=युद्ध के लिए तत्पर। (५) बड़े शेख : जायसी ने समकालीन मंझन ने प्रसिद्ध संत शेख मुहम्मद ग़ौस का उल्लेख 'बड़े शेख' करके किया है, किन्तु यह बड़े शेख़ उनसे भिन्न प्रतीत होते हैं। (६) चतुरदसौ गुन = चतुर्दश विद्याएँ: ४ वेद+६ वेदांग+१ पुराण+१ मीमाँसा+१ न्याय+१ धर्मशास्त्र। किन्तु जायसी के ये मित्र मुसलमान हैं, इसलिए जायसी का अभिप्राय संभवतः इससे कुछ मिलता-जुलता ही हो सकता है, ठीक-ठीक यह नहीं हो सकता है। (७) आछ्<अस्=होना। (९) कित्त<कुत्र=कहाँ।

जाएस नगर धरम अस्थानू। तहाँ अवनि कवि कीन्ह बखानू।
बिनती करि पंडितन्ह सों भजा। टूट सँवारेहु मेरएहु सजा।
हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा।
हिअ भँडार नग आहि जो पूँजी। खोली जीभैं तारा कै कूँजी।
रतन पदारथ बोलइ बोला। सुरस पेम मधु भरी अमोला।
जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा।
मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा सुना तौ आए आँसु॥ २३॥

अर्थ—(१) जायस नगर एक धर्मस्थान है, वहाँ मैंने इस वर्णहीन कविता का बखान किया। (२) और पंडितों से यह विनती करके मैंने [उनकी] सेवा की, "जो कुछ टूटा (त्रुटित) हो, उस को बना लेना और [अपना] स्वाध्याय इसमें मिला देना।(३) मैं समस्त कवियों का अनुचर हूँ, तबल (की ध्वनि) पर डग देता हुआ मैं भी कुछ कह चला हूँ।" (४) मेरे हृदय-भांडार में जो नगों (उत्तमोत्तम विचारों) की पूँजी थी, मैंने उसके ताले में जिह्वा की कूँजी लगाकर उसे खोला है। (५) [जिह्वा अतः] रत्न (तथा रत्नसेन) पदार्थ (तथा पद्मावती) के बोल बोल रही है, और वह सुरस प्रेम-मधु से भरी हुई तथा अमूल्य है! (६) जिसके वचनों में विरह का घाव हो, उसे तुम्हीं कहो,

कहाँ भूख और कहाँ छाया [की इच्छा] हो सकती है। (७) वह वेष बदले हुए तपस्वी हुआ (बना) रहता है; वह धूल में लिपटा हुआ माणिक [जैसा] होता है। (८) मुहम्मद कहता है, जो प्रेम का कवि होता है, उसके शरीर में न रक्त होता है और न मांस। (९) जिसने भी उसका मुख देखा, वही हँस पड़ा, [किन्तु] जब उसने [उसका काव्य] सुना, उसे आँसू आ गए।

टिप्पणी—(१) जायस : जायस नाम का एक नगर जो उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले में है। अवन<अवण्ण<अवर्ण=वर्णहीन, चमत्कारहीन, ओछा। कबि=कविता (दे० २०.७, २१.१, २४.६, ६५२.१) (२) भज्=सेवा करना। सजा<सज्झाय<स्वाध्याय=अध्ययन, शास्त्र का पठन। (३) पछिलगा=पश्चात्<लग्न=पीछे लगा हुआ, अनुचर। तबल[तु०]=एक प्रकार बड़ा ढोल जो सेना के प्रयाण के लिए बजाया जाता था। डग=क़दम। (४) तारा<ताल=ताला। कुंजी<कुञ्चिका। (६) घाय<घात=घाव।

सन नौं से सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कबि कहै।
सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी।
अलाउदीं ढिल्ली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू।
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिंदू तुरुकहिं भई लराई।
आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कबि बिआस रस कँवला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी।
निअरहि दूरि फूल सँग काँटा। दूरि जो निअरैं जस गुर चाँटा।
भँवर आइ बनखंड हुति लेहिं कँवल कै बास।
दादुर बास न पावहिं भलेहिं जे आछहिं पास ॥ २४ ॥

अर्थ—(१) यह सन् ९४७ है, जब कि कथा के आरंभ के वचन, कवि कह रहा है। (२) सिंहल द्वीप में पद्मिनी रानी थी, उसे रत्नसेन चित्तौरगढ़ ले आया था। (३) [उस समय] दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन था; [उससे] राघव चेतन ने [उस पद्मिनी का] बखान किया। (४) बादशाह ने जब [वह बखान] सुना, उसने आकर [चित्तौर] गढ़ को घेर लिया और हिन्दुओं तथा तुर्कों में लड़ाई हुई। (५) आदि से लेकर अंत तक जैसी कथा वह है, उसे [यह कवि] भाषा में लिख कर चौपाइयों में कह रहा है। (६) कविता का [विकास] रसपूरित कमला (नारंगी) का (सा) होता है; जो दूर होते हैं, [यदि वे उसके रसिक हैं तो] वे उसके निकट ही हैं, और जो निकट होते हैं (यदि वे उसके अरसिक हैं तो) वे उससे दूर ही हैं। (७) वह निकटवाले [अरसिक] के लिए किस प्रकार दूर होती है जैसे फूल के साथ काँटा होता है, और दूर वाले (रसिक) कैसे उसके निकट होते हैं, जैसे गुड़ के निकट चींटा होता है। (८) भ्रमर [वन खंड से आकर कमलिनी की वासना लेते हैं, (९) किन्तु दर्दुर (मेढक) उसकी वासना नहीं पाते हैं, भले ही जो वे [उसके] पास होते हैं।

टिप्पणी—(१) बैन<वयण<वचन। (३) बखान<वक्खान<व्याख्यान=वर्णन। (५) भाखा<भाषा=औक्तिक भाषा, बोली। (६) कबि<कविता (दे०

२०.७, २१.१, २३.१, ६५२.१)। बिआस<विकास। कँवला<कमला = एक प्रकार की नारंगी। कविता रसपूरित कमला के समान इस अर्थ में होती है कि कमला के ऊपर भी एक आवरण होता है; जो जानकार हैं, वे उसे हटा कर उसका रस ले लेते हैं, और जो उसके जानकार नहीं हैं, उन्हें उसका रस नहीं मिल पाता है। (९) दादुर<दद्दुर<दर्दुर = मेढक। आछ्<अस् = होना। (८-९) तुल० गुणिनि गुणज्ञो रमन्ते नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः। अलिरेति वनात् कमलं न दर्दुरस्तन्निवासोऽपि॥ माधवानलाख्यानम्, छंद ३९ (गायकवाड़ सीरीज)।

सिंघल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं।
बरनक दरपन भाँति बिसेखा। जेहिं जस रूप सो तैसेइ देखा।
धनि सो दीप जहँ दीपक नारी। औ सो पदुमिनि दइअँ अवतारी।
सात दीप बरनहिं सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू।
दिया दीप नहिं तस उजिआरा। सराँ दीप सरि होइ न पारा।
जंबू दीप कहौं तस नाहीं। पूज न लंक दीप परिछाहीं।
दीप कुसस्थल आरन परा। दीप महुस्थल मानुस हरा।
सब संसार परथमैं आए सातौं दीप।
एकौ दीप न उत्तिम सिंघल दीप समीप॥ २५॥

अर्थ–(१) अब मैं सिंहल द्वीप की कथा का गान कर रहा हूँ, और उस पद्मिनी का वर्णन करके सुना रहा हूँ। (२) [मेरा वर्णन पूर्ववर्ती वर्णनों से भिन्न होगा, क्योंकि] इनका वर्णक दर्पण की भाँति ऐसा विशिष्ट था कि जिस [कवि अथवा कथाकार] का जैसा रूप था, उसने इनको वैसा ही (उसी रूप का) देखा (पाया)। (३) वह [सिंहल] द्वीप धन्य था, जहाँ पर दैव ने दीपक तुल्य नारियों और पद्मिनी को अवतरित किया। (४) सब लोग सात द्वीपों का वर्णन करते हैं, किन्तु उससे तुलना के योग्य एक भी द्वीप नहीं था। (५) दिया द्वीप में [नाम के लिए भले ही वह दीपक द्वीप हो] वैसा प्रकाश नहीं, सराँ द्वीप उसके बराबर हो नहीं सका, (६) जम्बू द्वीप को मैं उसके सदृश नहीं कह सकता हूँ, लंका द्वीप उसकी प्रतिच्छाया को भी नहीं पूज (पूरा पड़) सकता। (७) कुशस्थल द्वीप में अरण्य ही पड़ा हुआ है और मधुस्थल द्वीप मनुष्य का अपहरण करने वाला है। (८) समस्त संसार में सप्त द्वीप [सृष्टि के] प्रथम (प्रारंभ) में (साथ ही साथ) आए थे, (९) किंतु सिंहल द्वीप के समीप (नैकट्य में) एक भी द्वीप उत्तम न था।

टिप्पणी--(१) सिंघल दीप : सिंहल से सामान्यतः लंकाद्वीप का अर्थ लिया जाता है किंतु लंक द्वीप इस छंद में आगे अलग आता है। छंद १३८ में सिंहल के मार्ग का जो विवरण दिया है, और पुनः छंद ४२० में जगन्नाथपुरी में सिंहल से लौटते हुए आने का वर्णन है। उससे यह प्रकट है कि जायसी का सिंघल उड़ीसा के पास भारत के पूर्वीय समुद्र तट पर था। पदुमिनी<पद्मिनी : कथा की नायिका पद्मावती। (२) बरनक<वर्णक [तुल० इहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल। --बिहारी] अर्धाली की तुलना कीजिए--जिनकी रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन्ह

तैसी ।--तुलसी । (४) सात दीप : सप्तद्वीप : जायसी के सात द्वीपों की सूची का निश्चित आधार ज्ञात नहीं होता है : कुछ नाम उसमें पौराणिक सूचियों के हैं, कुछ यात्रियों के विवरणों से मेल खाते हैं, किन्तु फिर भी कुछ नाम कल्पित ज्ञात होते हैं । दिया दीप : संभवतः दीउ नामक द्वीप जो भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर है, और इधर पुर्तगाल के अधिकार में रहा है । सराँ दीप : सरन द्वीप : इस द्वीप का उल्लेख नवीं शताब्दी ईस्वी तक से मुसलमान यात्रियों के यात्रा-विवरणों में मिलता है, यथा अबूजैद, इब्न खुरदाद बा (इलियट, भाग १, पृ० १०, १३, १६)। अलइस्ताख़री (वही, पृ० ३०) तथा इदरीसी (वही, पृ० ८९) के वर्णनों से यह अरब सागर में स्थित फारस की खाड़ी का कोई द्वीप ज्ञात होता है । रशीदुद्दीन (वही, पृ० ६६,७०) इसे लंका द्वीप का पर्याय बताया है, जो यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि लंकद्वीप का आगे उल्लेख होता ही है । लंकदीप <लंकाद्वीप : जायसी की लंका वही है जिसके राजा रावण और विभीषण थे : लंका लंका सुना जो रावनराजू । (२६.२)। छांड़ी लंक भभीखन जो भावै सो लेउ । (६४७.९) कुसस्थल (कुशस्थल) दीप<कुश द्वीप--जिसका वर्णन महाभारत तथा पुराणों में मिलता है (दे० महाभारत १३.६७३, भागवतपुराण ५.१.३२) । महुस्थलद्वीप : यह नाम कहीं अन्यत्र नहीं मिता है । यह ध्यान देने योग्य है कि सिंहल द्वीप का सारा वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है मानो उसने स्वयं उसे देखा हो ।

गंध्रपसेन सुगंध नरेसू । सो राजा यह ताकर देसू ।
लंका सुना जो रावन राजू । तेहु चाहि बड़ ताकर साजू ।
छप्पन कोटि कटक दर साजा । सबै छत्रपति ओरगहिं राजा ।
सोरह सहस घोर घोरसारा । सावँकरन बालका तोखारा ।
सात सहस हस्ती सिंघली । जिमि कबिलास एरापति बली ।
असुपती क सिरमौर कहवा । गजपती क आँकुस गज नावा ।
नरपती क कहवाव नरिंदू । भुउपती क जग दोसर इंदू ।
अइस चक्कवै राजा चहूँ खंड भै होइ ।
सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोइ ॥ २६ ॥

अर्थ-(१) गंधर्वसेन नाम का एक सुगंध-नरेश था; वही इस सिंहलद्वीप का राजा था, और यह उसका देश था । (२) लंका में जो रावण का राज्य सुना गया है, उससे भी बड़ा उसका साज (वैभव) था । (३) छप्पन करोड़ का उसका सैनिक दल का साज था और सभी छत्रपति उस राजा की सेवा करते थे । (४) उसकी घुड़साल (अश्वशाला) में सोलह सहस्र घोड़े थे जो श्यामकर्ण, बलख़ी अथवा तुखारिस्तानी थे । (५) उसकी गजशाला में सात सहस्र सिंहली हस्ती थे, जो उसी प्रकार बलवान थे जैसे कैलास (शिवलोक) में ऐरापति है ।(६) अश्वपतियों का वह शिरो मुकुट कहलाता था, और गजपतियों को [इस प्रकार नमित किए हुए था] जिस प्रकार गज को अंकुश नमित करता है । (७) नरपतियों का वह नरेन्द्र कहलाता था, और भूपतियों का वह जगत् में दूसरा इन्द्र था । (८) वह ऐसा चक्रवर्ती राजा था कि चारों खंडों में

उसका भय होता था। (९) सभी [देशों के राजा] आकर उसको सिर झुकाते थे, और कोई उसकी समता नहीं करता था।

टिप्पणी--(१) सुगंधनरेस=सुगंधों का राजा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है वहाँ की रानी चंपावती थी, राजकन्या पद्मनी थी और वहाँ की समस्त नारियाँ विभिन्न पुष्पों के गंध की थीं : जेहिजेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी। (९५.४)। (३) दर<दल=सैन्य। ओरग<ओलग्ग<अवलग्=सेवा करना। इस शब्द का प्रयोग सेवा और सेवक के अर्थों में प्राचीन हिंदी साहित्य में बहुत हुआ है : केवल वीसलदेव रास में देखिए: १--ऊलग कइ मिसि गम करउं। (३५.५) २--सइभरिधणीय किउं ऊलग जाइ। (३७.१) ३--ऊलग जाण कहइ धणी कउण। (३९.१) ४--किणिदुखदेवर ऊलग जाइ। (४६.६) ५--ऊलग जाण कउ परउ कुसूत (४८.२) ६--स्पानी ऊलग जाणकी षरीय जगीस। (६०.१) ७--सषीय इणि कति नाह कोइ ऊलग जाइ (६५.६) ८--तिहि घरि ऊलग काइं करेइ। (७५.६) ९--ऊलग पूगि घरि आवियउ भरतार। (१२१.१) १०--म्हाकउ वार्‌यउ तूकिउं ऊलगइ जाइ। (१२५.४) उसी सेवा वाचक शब्द 'ओरग' से 'ओरग्' क्रिया का निर्माण हुआ है। (४) सावंकरन--श्यामकर्ण--घोड़ों की एक प्रसिद्ध जाति। बालका--बलख प्रान्त का (?) : यह घोड़ों की एक विशिष्ट जाति ज्ञात होती है। दे० जाति बालका समुंद थहाए। (५१३.३) कहाँ मोर तुरंग बालका बली। (४०४-७) तोखार--तुखारिस्तान के घोड़े ; किंतु इस शब्द का प्रयोग प्रायः 'घोड़ा' के पर्याय के रूप में हुआ है। (५) कबिलास<कैलास=शिवलोक। जायसी शिवलोक में ही इन्द्र को भी मानते हैं। राजा कहै गरब कै हौ रे इन्द्र सिवलोक (५२.८)। (६-७) असुपती--अश्वपति; गजपती--गजपति ; नरपती--नरपति ; भूअपति --भूपति। आईन-ए-अकबरी (भाग १, पृ० ३१८) में राजाओं के चार भेद बताए गए हैं। तीन तो उपर्युक्त प्रथम तीन हैं और चतुर्थ 'गढ़पति' है। आगे जायसी ने भी ये चार प्रकार गिनाए हैं। गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति गजपति औ नरपती। (४४.१) 'आईन' के अनुसार 'अश्वपति' वे कहे जाते थे जिनकी अश्वसेना बलवती होती थी, इसी प्रकार 'गजपति' वे कहे जाते थे जिनकी गजसेना बलवती होती थी, 'नरपति' वे कहे जाते थे जिनकी पदाति सेना बड़ी होती थी, और 'गढ़पति' वे कहलाते थे जिन्हें अपने दुर्गों का बल विशेष रूप से होता था। ये उपाधियाँ बड़े प्राचीनकाल से चली आ रही थीं और शिलालेखों में मिलती हैं। (७) इंदर<इन्द्र (८) चक्कवै<चक्कवइ<चक्रपति=चक्रवर्ती, छः खण्डभूमि का अधिपति राजा (पा० स० म०), किंतु जायसी ने चार ही खंड माने हैं, जैसा पंक्ति ८ से प्रकट है। अन्यत्र भी उन्होंने चार ही खंड कहे हैं : भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी। (५६.३)

जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कविलास निअर भा आई।
धन अँबराउँ लाग चहुँ पासा। उठै पुहुमि हुति लाग अकासा।
तरिवर सबै मलैगिरि लाए। भै जग छाँह रैनि होइ छाए।
मलै समीर सोहाई छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।

ओही छाँह रैनि होइ आवै । हरिअर सबै अकास दिखावै ।
पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू । दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ।
जिन्ह वह पाई छाँह अनूप । बहुरि न आइ सही यह धूपा ।
अस अँबराउँ सघन घन बरनि न पारौं अंत ।
फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसंत ।। २७।।

अर्थ–(१) जभी कोई जाकर उस द्वीप (सिंहल) के निकट पहुँचता था, उसे ऐसा लगता था मानो वह कैलास (शिवलोक) के निकट आ गया हो । (२) घनी आम्र-वाटिका चारो पार्श्व में लगी हुई थी, और वह [ऐसी थी मानो] पृथ्वी से उठती हो और आकाश से जा लगती हो । (३) [उसके] सभी तरुवर ऐसे सुगंधित थे मानो वे मलय-गिरि चन्दन के वृक्ष लगाए हुए हों और उनकी छाया जगत् पर ऐसी हो रही थी मानो रजनी छा रही हो । (४) [परिणामतः] मलय-समीर के साथ उस सुंदर छाया का संयोग होने से, उस (आम्राराम) में ज्येष्ठ मास में भी जाड़ा लगता था । (५) और वह छाया रजनी बन कर आती थी, इसलिए समस्त आकाश [नीले के स्थान पर] हरा दिखाई पड़ता था । (६) [फलतः] यदि यात्री घाम (धूप) सहन कर [उस द्वीप में] पहुँचता था, [उसका] दुःख विस्मृत हो जाता था और उसे विश्राम-सुख प्राप्त होता था । (७) जिन्होंने भी [सिंहल की] वह अनुपम छाया प्राप्त कर ली, वे लौट कर नहीं आए और पुनः उन्होंने यह [संसार की] धूप सहन नहीं की । (८) वह सघन (अत्यधिक घना) आम्राराम ऐसा था कि अन्त तक उसका वर्णन नहीं कर सकता । (९) वह आम्राराम छवों ऋतुओं में फूलता-फलता रहता था, मानो सदैव ही [उसके लिए] वसंत हो ।

टिप्पणी–(१) कबिलास–कैलास = शिवलोक । निअर<णिअड<निकट । (२) (८) अँबराउँ<अंबाराम<आम्राराम<आम्रवाटिका । (३) रैनि<रयणी<रजनी= रात । (४) हरिअर<हरिअ–डा<हरित=हरा । (७) जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा, बहुरि न आइ सही यह धूपा: इस कथन में पारमार्थिक सांकेतिकता भी संभव है ।

फरे आँब अति सघन सोहाए । औ जस फरे अधिक सिर नाए ।
कटहर डार पींड सो पाके । बड़हर सोउ अनूप अति ताके ।
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी । जाँबु जो पाकि भँवर असि डीठी ।
नरिअर फरे फरी खुरहुरी । फुरी जानु इंद्रासन पुरीं ।
पुनि महु चुवै सो अधिक मिठासू । मधु जस मीठ पुहुप जस बासू ।
और खजहजा आव न नाऊँ । देखा सब रावन अँबराऊँ ।
लाग सबै जस अंब्रित साखा । रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा ।
गुआ सुपारी जायफर सब फर फरे अपूरि ।
आस पास घनि इँबिली औ घन तार खजूरि ।।२८।।

अर्थ–(१) [उस आम्राराम में] आम के वृक्ष अत्यधिक सघन रूप से और सुंदर फले हुए थे, और जैसे (जितना ही अधिक) वे फले हुए थे, उतना ही अधिक वे सिर झुकाए हुए थे । (२) कटहल के फल डालों से लेकर पींड तक पके हुए थे, और उस

(आम्राराम) के जो वड़हल थे, वे भी अत्यधिक अनुपम थे। (३) खीरनी पक कर खाँड ऐसी मीठी हो गई थी, और जो जामुन पकी थी, वह भौरों के ऐसी दीख पड़ती थी। (४) नालिकेर (नारियल) फले थे और खुरहुरी भी फली थी ; [ऐसा लगता था] मानो इन्द्र की पुरी (अमरावती) स्फुरित हुई हो। (५) पुनः [उस आम्राराम में] जो मधूक (महुवा) चूता था, वह बहुत मीठा था; वह मधु जैसा मीठा और पुष्प जैसा सुवासिक था। (६) और भी समस्त खाद्य-भ्रज्य पदार्थ थे, जिनके नाम मुझे नहीं आते हैं, उन सभी को मैंने उस प्रसन्न करने वाले आम्राराम में देखा (७) सभी फल इस प्रकार शाखाओं में लगे हुए थे जैसे अमृत-फल हों; जो ही उन्हें चखता था लुब्ध हो रहता था। (८) गुआ, सुपारी तथा जायफल [आदि] समस्त फल आपूरित होकर फले हुए थे। (९) [उनके आस पास] घनी इमली थी और घने ताड़ और खजूर के वृक्ष थे।

टिप्पणी--(१) आँब<आम्र<आम। (२) कटहर=कण्टफल। पींड<पिण्ड=वृक्ष का जड़ के ऊपर का वह भाग जो भूमि के नीचे रहता है। कटहल कभी-कभी पींड तक में फलता है; पींड का फल तब जाना जाता है जब पींड की भूमि फट जाती है, अथवा जब फल के पक जाने पर भूमि से कटहल की सुगन्ध निकलने लगती है। वड़हर<वडहर<वट-फल=बड़े के (सदृश) फलवाला वृक्ष। [बड़ा उड़द की दाल का बनाया जाता है।] अँग्रेजी में इसे इसी प्रकार 'ब्रेड-फ्रूट ट्री' कहा जाता है। (३) खिरनी<क्षीरिणी=एक छोटा फल जिसमें दूध होता है, और उसका वृक्ष। जामुन<जम्बु। (४) नरियर्<नालिकेर=नारियल। खुरहुरी<खुद्दहुल्ली<क्षुद्रफुल्ली (?)=गूलर की जाति का एक फल। 'हुर' का यह प्रयोग 'हुरहुर' पौदे के नाम में भी देखा जा सकता है जिसका यह अपभ्रंश कदाचित् 'फुल्ल-फुल्ल' से हुआ है। (५) महु<मधूक=महुवा। (६) खजहजा<खज्ज-भज्ज<खाद्य-भ्रज्ज्य=खाद्य वे फलादि होते हैं जो उसी रूप में खाए जा सकते हैं और भ्रज्ज्य वे होते हैं जो भून कर खाए जाते हैं। 'भाजी' शब्द इसी धातु 'भ्रज्ज्' से बना है। रावन=प्रसन्न करने वाला। राव्<रञ्जय्=प्रसन्न करना)। (८) गुआ (गुवाक=सुपारी की जाति का एक फल। तुल० कोइ जैफर औ लौंग सुपारी। कोइ कमरख कोइ गुवा छुहारी। (१८७.४)। जायफर<जातीफल। (९) इंबिली<अम्लिका। खजूरि<खर्जूरिका।

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाषा। करहिं हुलास देखि कै साखा।
भोर होत बासहिं चुहचुही। बोलहिं पाँडुक एकै तुही।
सारौ सुवा सो रहचह करहीं। घुरहिं परेवा औ करबरहीं।
पिउ पिउ लागै करै पपीहा। तुही तुही कह गुडुरू खीहा।
कुहू कुहू कोइल करि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा।
दही दही कै महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनि हारा।
कुहकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा।
जावँत पंखि कहे सब बैठे भरि अँबराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउँ॥ २६॥

अर्थ--(१) [उस आम्राराम में] जो पक्षी बसते थे, वे बहुतेरी भाषाएँ बोलते थे। वे [फलवती] शाखाओं को देख कर उल्लास करते थे। (२) सवेरा होते ही चुहचुही बोलने लगती थी; पंडुक बोलते थे 'एक मात्र तू ही है।'

(३) मैना और सुआ जो थे, वे [उस आम्राराम में] रहचह करते (हर्षोत्साहपूर्वक चहकते) थे; पारावत घुरते (चक्कर लगाते) और कलबल करते थे। (४) पपीहा 'प्रिय', 'प्रिय' करने लगता था, और उन्मत्त (प्रेमोन्मत्त) गुडरू 'तूही', 'तूही' ('तूही मेरा सर्वस्व है') कहने लगता था। (५) कोयल ने [जैसे मर्माहत हो कर] 'कुहू' 'कुहू' कर रक्खा था और भृंगराज [अपनी व्यथा-निवेदन करता हुआ] अनेक बोल (वचन) बोल रहा था। (६) 'दही', 'दही', ('मैं दग्ध हुई', 'मैं दग्ध हुई') कह कर वहाँ महरी (एक प्रकार की पक्षी) पुकारती थी, और हारिल अपनी हार का निवेदन करता था। (७) मोर कुहकते थे, तो सुहावना लगता था, और [उसी प्रकार] जब काग बोलते थे, कोलाहल होने लगता था। (८) जितने भी पक्षी कहे गए हैं, वे सभी उस आम्राराम में भरे बैठे थे (९) और वे सभी अपनी-अपनी भाषा में दैव (ईश्वर) का नाम लेते थे।

टिप्पणी- (१) हुलास<उल्लास। (२) भोर<सवेरा। वास्<वाश्=पशु-पक्षियों का बोलना, चिल्लाना अथवा गान करना। चुहचुही=एक बहुत छोटी चिड़िया जो फूलों का मधु चूसती है। 'पांडुक बोलहिं एकै तुही' में एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की झलक है। (३) सारौं<सारिका=मैना। सुआ<शुक। रहचह : रह + चह : रह (रभस्=हर्ष, उत्साह) का चहकना। घुर्<धुर्म्=घूमना, चक्कर लगाना। करब : कलबल करना, अस्फुट वचन कहना, यथा : कल बल बचन तोतरे बोलत। (गीतावली १.२८)। (४) पपीहा<पप्पीआ (दे०) = चातक पक्षी। 'पिउपिउ लागै करै पपीहा' में सूफ़ी प्रेम साधन की ओर संकेत है। गुडरू=पक्षी-विशेष। खीह<खीव<क्षीब अथवा क्षीव=उन्मत्त, प्रमत्त 'तुही तुही कह गुडुरू खीहा' में एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की झलक है। (५)-(६)। कोइल<कोकिल। भिंगराज=भृंगराज<एक प्रकार का पक्षी। दह=दग्ध होना। महरि = महरी, पक्षी-विशेष। कोकिल के 'कुहू-कुहू', महरी की 'दही-दही' और हारिल के हार-निवेदन में सूफ़ी प्रेमी का व्यथा-निवेदन है।

इस छंद में कवि ने पक्षियों की बोलियों का वर्णन करते हुए, उनके शब्दों को प्रायः सार्थक अथवा साभिप्राय रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। ये पक्षी सांकेतिक रूप से प्रेमी साधक हैं, जिनमें से कुछ प्रिय से मिलकर हर्षोत्फुल्ल हो रहे हैं और कुछ उससे विछुड़ कर कराह रहे हैं।

पैग पैग पर कुआँ बावरी। साजी बैठक औ पाँवरी।
औरु कुंड बहु ठाँवहि ठाऊँ। सब तीरथ औ तिन्ह के नाऊँ।
मढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे।
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी।
कोई ब्रह्मचर्ज पँथ लागे। कोइ दिगंबर आछहिं नाँगे।
कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी।

कोइ महेसुर जंगम जती । कोइ एक परखै देवी सती ।
सेवरा खेवरा बानप्रस्ती सिध साधक अवधूत ।
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत ॥३०॥

अर्थ–(१) [उस सिंहल में] पग-पग पर कूप थे और वापियाँ थीं, जिनकी बैठकें (जगतें) और सीढ़ियाँ सजी हुई थीं (सजधज के साथ बनी हुई थीं)। (२) स्थान-स्थान पर बहुत से कुंड [बने हुए] थे, और समस्त तीर्थ तत्तत् नामों के साथ [वहाँ पर] स्थापित थे। (३) [उस सिंहल के] चारों ओर मठ और मंडप संभारपूर्वक निर्मित थे, [जहाँ पर] जापक तथा तपस्वी आसन लगाए थे। (४) [उनमें से कोई] ऋषीश्वर था तो कोई सन्यासी, कोई रामदासी था तो कोई मासभर वास करने वाला। (५) कुछ ब्रह्मचारी थे तो कोई दिगंबर थे जो नग्न थे। (६) कोई सरस्वती था, तो कोई सिद्ध था, कोई योगी था, तो कोई निराश्रित (निरपेक्ष—परमात्मा) के [प्रेम-]पथ का वियोगी था। (७) कोई माहेश्वर था, कोई जंगम, कोई यती, और कोई देवी अथवा सती (शक्ति) को परखने (उनके भरोसे रहने) वाला था। (८) [वहाँ] सेवरा, खेवरा, वानप्रस्थी, सिद्ध, साधक तथा अवधूत थे, (९) जो अपने भूत (भौतिक व्यक्तित्व) को जला (समाप्त) कर आसन लगाए हुए बैठे थे।

टिप्पणी—(१) बावरी<वापी। बैठक = कूप की जगत, जिस पर लोग बैठते हैं। पांवरी<पादत्री = सीढ़ी : वापिकाओं में उतरने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं। (२) सब तीरथ औ तिन्ह के नाऊँ : तीर्थों में अन्य प्रसिद्ध तीर्थों की स्थापना भी बहुत प्राचीनकाल से होती रही है; काशी में कामाख्या (कमच्छा) की स्थापना किसी समय इसी प्रकार हुई थी। (३) मंडप=देवालय का भीतरी भाग, देवालय। (४) मसवासी=एक ही स्थान पर मास भर वास करने का अनुष्ठान करने वाला। प्रयाग में माघ मास भर हजारों आदमी प्रति वर्ष गंगा तट पर निवास करते हैं, जिसे 'कल्पवास' कहते हैं। इसीको मासकल्प>मासकप्प भी कहा जाता था (पा० स० म०)। (६) निरास<निराश्रित= निरपेक्ष (निर्गुण) ईश्वर, यथा : काहे न पूजिअ सोइ निरासा। मुएँ जिअत मन जाकर आसा। (२०२.७) ओहि न मोरि कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ। तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ॥ (२१०.७) माहेसुर<माहेश्वर=महेश्वर (शिव) का उपासक। जंगम=एक शैव संप्रदाय और उसका अनुयायी। सती<सत्ति<शक्ति : जायसी के समय में शक्ति-उपासना काफ़ी प्रचलित थी; कबीर ने तो शाक्तों की निंदा भी बार-बार की है। (८) सेवरा<सेवड+अ<श्वेतपट+क=श्वेताम्बर जैन साधु। खेवरा< खवग डा<क्षपक=तपस्वी जैन मुनि।

इस छंद में जायसी की धार्मिक सहिष्णुता स्पष्ट है। सभी प्रकार के साधक और उपासक इस छंद की सूची में आते हैं और किसी के प्रति हीनता की भावना उनमें नहीं दिखाई पड़ती है।

मानसरोदक देखिअ काहा। भरा समुँद अस अति अवगाहा।
पानि मोति अस निरमर तासू। अंब्रित बानि कपूर सुबासू।
लंक दीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई।

खँडखँड सीढ़ीं भई गरेरी । उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी ।
फूला कँवल रहा होइ राता । सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता ।
उलथहिं सीप मोंति उतिराहीं । चुगहिं हंस औ केलि कराहीं ।
कनक पंखि पैरहिं अति लोने । जानहु चित्र सँवारे सोने ।
ऊपर पाल चहूँ दिसि अंब्रित फर सब रूख।
देखि रूप सरवर कर गइ पिआस औ भूख ॥३१॥

अर्थ–(१) [सिंहल के] मानसरोदक को क्या देखिए ? वह समुद्र के जैसा भरा हुआ था और अत्यधिक विस्तीर्ण था । (२) उसका पानी मोती के जैसा निर्मल था और वह अमृत के वर्ण का तथा कपूर की सुगंध का था । (३) लंका द्वीप की शिलाएँ मँगा-कर और घाट बना कर उस सरोवर को बाँधा गया था । (४) उसके खंड-खंड में घुमाव-दार सीढ़ियाँ (निर्मित) हुई थीं, जिनके द्वारा लोग [उस सरोवर के] चारों ओर उतरते-चढ़ते थे (५) फुल्ल कमल रक्त [वर्ण का] हो रहा था और उसका छत्ता सहस्र-सहस्र पंखुड़ियों का था । (६) सीप [उस सरोवर में जब] ऊपर आ जाते थे, मोती [उनसे निकल कर] पानी पर तैरने लगते थे,तथा उन्हें [पानी पर तैरता देख कर] हंस चुन लेते थे और केलि करते थे । (७) उसके जल पर सोने के [वर्ण के] अत्यधिक लावण्यपूर्ण पक्षी तैरते रहते थे। [वे ऐसे लगते थे] मानो वे किसी चित्र में सोने से सँवारे (अलंकृत) किए हुए हों। (८) [उस सरोवर के] पाल में ऊपर चारों ओर समस्त वृक्ष अमृत-फल फलते थे। (९) [फलत:] जिसने भी उस सरोवर के रूप को देखा, उसकी प्यास और भूख मिट गई ।

टिप्पणी--(१) मानसरोदक = मानसर का जल, किन्तु यहाँ पर अभिप्राय 'मान-सरोवर के से जल वाला सरोवर' है । अवगाह>अवगाढ= गहरा, (२) बानि< र्वाणन् = वर्णक । (३) अनाई< आनाय्य= मँगा कर। (५) रात<रत्त<रक्त=लाल वर्ण का । पंखुडी<पंख+डी<पक्ष=पत्र । (६) उलथ् = उल्लत्थ [<उल्लस्त=उत्+लस्त] होना, ऊपर आकर प्रकट होना। (७) जानहु चित्र सँवारे सोने : चित्रांकन में सोने का प्रयोग मध्ययुग में काफ़ी मिलता है । (८) पाल<पालि=तालाब का बाँध ।

पानि भरइ आवहिं पनिहारी । रूप सुरूप पदुमिनी नारीं ।
पदुम गंध तेन्ह अंग बसाहीं । भँवर लागि तेन्ह संग फिराहीं ।
लंक सिंघिनी साँरग नैनी । हंसगामिनी कोकिल बैनी ।
आवहिं झुंड सो पाँतिहि पाँती । गवन सोहाइ सो भाँतिहि भाँती ।
केस मेघावरि सिर ता पाईं । चमकहिं दसन बीज की नाईं ।
कनक कलस मुख चंद दिपाहीं । रहस कोड सो आवहिं छाहीं ।
जासौं वै हेरहिं चख नारीं । बाँक नैन जनु हनहिं कटारीं ।
मानहु मैन मुरति सब अछरी बरन अनूप ।
जहँकी ये पनिहारी सो रानी केहि रूप ॥३२॥

अर्थ–(१) [उस मान सरोवर पर] पानी भरने के लिए जो पनिहारिनें आती थीं,

वे रूप में सुरूप (अच्छे रूपवाली) और पद्मिनी नारियाँ होती थीं। (२) कमल की सुगंध से उनके अंग (शरीर) सुवासित होते थे और [इस कारण] भ्रमर उनके संग लगे फिरते थे। (३) उनकी कटि सिंहनी की [कटि जैसी] होती थी और वे मृग के [नेत्रों जैसे] नेत्रों की होती थीं, वे हंस की [जैसी] गतिवाली और कोकिल के [से] बोल वाली होती थीं। (४) वे समूहों में [अथवा] पंक्ति ही पंक्ति में आती थीं, और उनका गमन जो होता था, वह भी भाँति-भाँति का होने के काण सुहाता था। (५) उनके केश मेघ-पंक्ति [के से–श्याम] तथा सिर से पैर तक [लंबे] होते थे, और उनके दाँत विद्युत् की भाँति चमकते थे। (६) उनके कनक-कलश और मुखचन्द्र चमकते [हुए होते] थे, और वे हर्ष तथा कौतुक के साथ आती-जाती थीं। (७) जिसके सम्मुख (जिसकी ओर) उन नारियों के चक्षु देखते थे, [उसे ऐसा लगता था] मानो वे अपने वक्र नयनों की कटार से मार रही हों।

(८) [वे ऐसी लगती थीं] मानो सभी मोम की]बनी] मूर्तियाँ हों, वे अप्सराएँ [ऐसे] अनुपमवर्णों की थीं ।(९) [फलतः] पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं कि जहाँ की ये (ऐसी) पनिहारिनें थीं, वह (वहाँ की) रानी किस रूप की रहीं होगी ?

टिप्पणी—(१) **पदुमिनी नारी** : इसके लक्षण जायसी ने आगे छंद ४६६ में दिए हैं। (२) **बसाव्**=सुवास युक्त होना। (३) **लंक**=कटि। **सारँग**<शार्ङ्ग=सींगोंवाला जीव–यहाँ मृग। (४) **पाँति**<पंक्ति। (५) **मेघावरि** : मेघ<आवलि=मेघ-पंक्ति। **पाइ**<पाद=चरण। **बीज**<विज्जु<विद्युत्=बिजली। (६) **दिप्**=दिप्प<दीप्=चमकना। **रहस**<रभस्=हर्ष। **कोड**<कोड्ड [दे०]=कौतुक। (७) **सौं**<सौंह<सउह<सम्मुख। **चख**<चक्षु। **बाँक**<वंक<वक्र। (८) **मैन**<मयण<मदन=मोम **अछरी**<अप्सरस्=अप्सरा।

ताल तलावरि बरनि न जाहीं। सूझइ वारपार तेन्ह नाहीं।
फूले कुमुद केत उजियारे। जानहुँ उए गगन महँ तारे।
उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी। चमकहिं मंछ बीजु की बानी।
पैरहिं पंखि सो संगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा।
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं औ दिनहिं मिलाहीं।
कुरुलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा।
केंवा सोन ढेक बग लेदी। रहे अपूरि मीन जल भेदी।
नग अमोल तेन्ह तालन्ह दिनहिं बरहिं जनु दीप।
जो मरजिआ होइ तहँ सो पावइ वह सीप ॥३३॥

अर्थ—(१) ताल और तालाब[सिंहल में]ऐसे थे जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है ; उनका वार और पार नहीं सूझता था। (२) [उनमें जो] कितने ही उज्ज्वल कुमुद खिले हुए थे, [वे ऐसे लगते थे] मानो गगन में तारे उदित हुए हों। (३) मेघ [आकाश से] उतर कर [उन तालों-तलावरियों से] पानी लेते और [आकाश पर पुनः] चढ़ जाते थे और (उन ताल-तलावरियों में) मच्छ विद्युत् के वर्ण में [हुए] चमकते थे। (४) [उनमें] जो पक्षी तैरते थे, वे झुंड के झुंड होते थे, और श्वेत,

पीत तथा रक्त [आदि] अनेक रंगों के होते थे। (५) [उनके तट पर] चक्रवाक और चक्रवाकी केलि करते थे ; वे रात्रि में परस्पर बिछुड़ जाते थे और दिन में मिल जाते थे। (६) [उनमें] सारस उल्लास से भर कर शब्द करते (कहते) थे, "हमारा जीवन ही ऐसा है कि हम पास-पास मरते हैं [मृत्यु भी हमें अलग नहीं कर सकती है]।" (७) केंवा, सोन, ढेक, बक, लेदी तथा जलभेदी मीन [उन ताल-तलावरियों को] आपूरित कर रहे थे। (८) उन तालों में अमूल्य नग थे जो [ऐसे लगते थे] मानो दिन में ही दीपक जलते हों। (९) जो कोई वहाँ (उन ताल-तलावरियों में) मरजीवा होता (बन सकता) था, वही उस [मूल्यवान] सीपी को प्राप्त करता था [जिसमें वे अमूल्य नग उत्पन्न होते थे]।

टिप्पणी--(१) ताल<तल्ल [दे०] तलावरि<तलाग+डी<तडाग। बार< आराओ<आरतस्=निकटवर्त्ती छोर। (३) केत<कियत्=कितने ही। बान<वण्ण<वर्ण =रंग। (४) रात<रत्त<रक्त=लाल। (५) चकवा<चक्रवाक। चकई<चक्रवाकी। (६) कुरुल (दे दे शब्द करना। हुलास=उल्लास। जिअन हमार मरहिं एक पासा: सारसों के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि वे जोड़ों में रहते हैं और एक उनमें से यदि मरता या अलग कर दिया जाता है तो दूसरा अपने प्राण दे देता है। (७) केंवा, सोन, ढेक, बक, लेदी : ये सभी जल-पक्षी हैं। (९) मरजीआ<मरजीवय<मरजीवक [दे०]= जल में डुबकी लगाकर मोती आदि निकालने वाला। जो मर जिआ होइ तहँ सो पावइ वह सीप : इस शब्दावली में कदाचित् सांकेतिकता है। मरजीआ का अर्थ है 'मरकर जीने वाला'। जायसी ने इस 'मरजीआ' का बहुत विशद विवेचन आगे छंद २१५-२१६ में किया है।

पुनि जो लागि बहु अंब्रित बारी। फरीं अनूप होइ रखवारी।
नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा। औ बादाम बेद अंजीरा।
गलगल तुरँज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे।
किसमिस सेब फरे नौ पाता। दारिवँ दाख देखि मन राता।
लागि सोहाई हरपारेउरी। ओइन रही केरन्ह की घउरी।
फरे तूत कमरख औ निउँजी। राय करौंदा बैरि चिरउँजी।
संखदराउ छोहारा डीठे। औरु खजहजा खाटे मीठे।
पानी देहिं खँडवानी कुअँहि खाँड़ बहु मेलि।
लागीं घरी रहँट की सींचहिं अंम्रित बेलि॥ ३४॥

अर्थ--(१) पुनः [सिंहल में] जो बहुतेरी अमृत [तुल्य फलों की] वाटिकाएँ लगी थीं, वे अनुपम रूप में फली थीं और उनकी रखवाली (देखभाल) होती थी। (२) [उन वाटिकाओं में] नवीन-नवीन रंगों के नीबू, सुंदर जंभीर, बादाम, बेर और अंजीर [फले हुए] थे। (३) गलगल, तुरंज, सदाफल फले हुए थे, और नारंग अत्यधिक रक्त वर्ण के और रस भरे [फले हुए] थे। (४) किशमिश और सेब नवीन पत्तों के साथ फले हुए थे, और दाड़िम तथा दाख को देख कर मन [उन पर] मुग्ध हो जाता था। (५) [उन वाटिकाओं में] सुंदर हरपारेवड़ी लगी हुई थी और केले की घौदें

उन्नमित हो रही थीं। (६) शहतूत, कमरख न्यौंजी, राय करौंदा, बेर और चिरौंजी [के वृक्ष] फले हुए थे। (७) इसी प्रकार [वहाँ] शंख-द्राव और छुहाड़ा दिखाई पड़ते थे और दूसरे भी अनेक खट्टे-मीठे खाद्य-भ्रज्य (यों ही खाए जाने वाले तथा भून अथवा पका कर खाए जाने वाले फलादि) थे। (८) [फलों को अधिक से अधिक सुरस बनाने के लिए] कुओं में बहुत-सी खाँड डाल कर [वृक्षों को] खँडवानी दी जाती थीं, (९) और रहट की घड़ियाँ लगी हुई (उनकी) अमृत बल्लियों को सींचती रहती थीं।

टिप्पणी--(१) बारी<वाडिआ<वाटिका। (२) जंभीर=एक जाति का खट्टा नीबू। बेद<वेतस = अम्लवेतस। (३) गलगल=एक प्रकार रसीला खट्टा नीबू। तुरंज तथा सदाफल भी नीबुओं के प्रकार हैं। नारंग=नारंगी। रात<रत्त<रक्त=लाल वर्ण का। (४) दाडिम=अनार। दाख<द्राक्षा=अंगूर। रात<रक्त=मुग्ध। (५) हरपारेउरी= कमरख की जाति का एक छोटा फल जो खट्टा होता है और प्रायः चटनी-अँचार बनाने में प्रयुक्त होता है। केर<कदलि=केला। घउरी<घओद<घृतोद=घौद। (६) तूत= शाहेतूत। कमरख<कर्मार्क=एक प्रकार का खट-मिट्ठा फल। निउँजी<निकुञ्जिका= एक प्रकार की झरबेरी (?)। रायकरौंदा<राजकरमर्द=बड़ी जाति का करौंदा। (७) संख दराउ<शंख-द्राव। खजहजा।<खज्जभज्ज<खाद्य+भ्रज्ज्य=प्रकृत रूप में खाए जाने वाले तथा भून या पका कर खाए जाने वाले, फल-भाजियाँ। (८) खंडवानी<खण्ड +पानीय=खाँड का पानी। (९) रहँट<अरहट्ट<अरघट्ट=पानी निकालने का एक यंत्र जिसमें घटिकाएँ [घरियाँ] लगी होती हैं। घरी<घडिआ<घटिका=घरिआ।

पुनि फुलवारि लागि चहुँ पासा। बिरिख बेधि चंदन भै बासा।
बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुंद चँबेली।
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा। सुगँध बकौरी गंध्रप पूजा।
नागेसरि सद बरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी।
सोन जरद फूली सेवाती। रूप मंजरी औ मालती।
जाही जूही बकचुन लावा। पुहुप सुदरसन लाग सोहावा।
बोलसिरी बेइलि औ करना। सबहि फूल फूले बहु बरना।
तेन्ह सिर फूल चढ़हिं वै जेन्ह माथें मनि भागु।
आछहिं सदा सुगंध भे जनु बसंत औ फागु॥ ३५॥

अर्थ-(१) पुनः [सिंहल में] चारों ओर पुष्प वाटिकाएँ लगी हुई थीं, जिनके वृक्ष [उनमें लगे हुए चंदन वृक्षों की सुगंध से] विद्ध हो कर चंदन की सुवास के हो गए थे। (२) [उनमें] सघन लताएँ थीं जो बहुतेरे फूलों से फूली हुई थीं, तथा केवड़ा, चंपा, कुंद और चमेली [की झाड़ें] थीं। (३) सुंदर गुल्लाला, कदम्ब और कुब्जक [के वृक्ष] थे तथा सुगंध-युक्त बकावली थी जिससे गंधर्वों की पूजा की जाती थी। (४) नागकेशर, सदबर्ग, नेवारी तथा शृंगारहार उन पुष्पवाटिकाओं में थे। (५) सोन-ज़र्द और सेवती [की बेलें] फूली हुई थीं और [इसी प्रकार] रूप मंजरी और मालती की भी। (६) जाही, जूही, और बकुचुन लगाए हुए थे, और सुदर्शन पुष्प शोभायमान

लगता था। (७) मौलिश्री, बेला और करना भी [वहाँ] थे : [वस्तुतः] अनेक वर्णों के सभी फूल फूले हुए थे। (८) वे फूल उन्हीं के मस्तकों पर चढ़ते थे, जिनके मस्तकों पर भाग्य की मणि होती थी। (९) वे सदैव ऐसे सुगंध युक्त हुए [बने] रहते थे, मानो वे वसंत और फाग के दिनों में [फूले हुए] हों।

टिप्पणी--(१) फुलवारि<फुल्ल+वाडिआ=पुष्प-वाटिका। (२) बेली<वेली [दे०] =लता। केवरा<केतक=केवड़ा-केतकी की जाति का एक प्रसिद्ध सुगंधित पुष्प। चमेली<चम्पक=मल्लिका (?) (३) गुलाल<गुल-ए-लाल: [फ़ा०]=गहरे लाल रंग का एक फूल। कूजा<कुज्जय<कुब्जक। बकौरी<बक+आवलि। (४) नागेसरि<नागकेसर। सदबरग<सदबर्ग=एक प्रकार का बड़ा फूल। (५) सोनजर्द=एक प्रकार का पीला फूल। सेवती<शतपत्रिका=एक प्रकार का गुलाब। (६) जाही<जाति=एक प्रकार की चमेली। जही<यूथिका=एक प्रकार की चमेली। बकचुन<मुचुकुन्द (?)। (७) बोलसिरी<मौलिश्री: एक प्रसिद्ध पुष्प। करना<कर्णक। (९) फाग<फग्गु<फल्गु=वसंत।

सिंघल नगर दीख पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा।
ऊँची पँवरी ऊँच अवासा। जनु कबिलास इंद्र कर बासा।
राउ राँक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हँसता मुखी।
रचि रचि राखे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा।
सब चौपारिन्ह चंदन खँभा। ओठँघि सभापति बैठे सभा।
जनहुँ सभा देवतन्ह कै जुरी। परी द्रिस्टि इंद्रासन पुरी।
सबै गुनी पंडित औ ग्याता। संसकिरत सब के मुख बाता।
ऐहिक पंथ सवाँरहिं जस सिवलोक अनूप।
घर घर नारि पदुमिनी मोहहिं दरसन रूप॥ ३६॥

अर्थ--(१) पुनः सिंहल नगर बसा हुआ दिखाई पड़ा। [अब उसका वर्णन सुनो।] वह राजा धन्य था जिसकी ऐसी (वभवपूर्ण) दशा थी। (२) [उस नगर की] प्रतोली ऊँची थी और ऊँचे उसके आवास थे, जो [ऐसे लगते थे] मानो कैलास (शिव-लोक) में इन्द्र के निवासस्थान हों। (३) राजा-रंक सभी लोग घर-घर में सुखी थे, और जिसे देखिए वही प्रसन्न-मुख था। (४) [उन्होंने] चंदन के चबूतरे भली भाँति निर्मित कर रक्खे थे, जो अगुरु, मेद और केवड़े से पुते हुए थे। (५) [उनकी] समस्त चौपालों में चन्दन के खंभे थे और [उनमें आयोजित] सभाओं में सभापति [उन खंभों से] पीठ को टेके हुए बैठे होते थे। (६) [वे सभाएँ ऐसी लगती थीं] मानो देवताओं की सभाएँ लगी हुई हों, जो इन्द्रपुरी (अमरावती) में दीख पड़ी हों। (७) [उन सभाओं में] सभी गुणवान, पंडित और ज्ञाता होते थे और सभी के मुख में संस्कृत के वचन होते थे। (८) वे ऐहिक पथ को सँवारते थे, जैसे अनुपम शिवलोक में [ऐहिक पथ को सँवारा जाता है), (९) और घर-घर में पद्मिनी नारियाँ थीं जो [दर्शक को] अपने रूप के दर्शन से मोहित करती थीं।

टिप्पणी--(२) पँवरी<पओली<प्रतोली=नगर का द्वार। कबिलास

कैलास = शिवलोक । जायसी शिवलोक में ही इन्द्र को मानते हैं : राजा कहै गरब कै हौं रे इंद्र सिवलोक । (५२.८) (४) चउरा <चउरय <चत्वरक = चबूतरा । अगर < अगुरु । मेद = एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य जो कस्तूरी की भाँति किसी पशु की नाभि से निकलता था । [दे० आईन-ए-अकबरी] । केवरा <केतक = केवड़े का सुगंधित जल । (५) चौपारी <चउप्पल्ली <चतुः + पल्ली = चौकोर भवन । खंभ <स्कम्भ । ओठँघ् <अवष्टम्भ् = पीठ टेकना । (७) बात <वत्ता <वार्त्ता = बात । (८) ऐहिक पंथ = इहलोक-संबंधी [कर्म] मार्ग । तुल० भोग बेरास सदा सुख माना । दुख चिंता कोउ जरम न जाना । (४४.४) सँवार <समारचय् = निर्मित करना, दुरुस्त करना, ठीक करना । (९) पदुमिनी : पद्मिनी नारी के लक्षण कवि ने छंद ४६६ में बताए हैं ।

इस प्रसंग में 'मधुमालती' में मंझन द्वारा किया गया अपने समय के चुनार के निवासियों का वर्णन तुलनीय है :

> गढ़ सुहाव गढ़पति सुर ज्ञानी । नगर लोक सभ सुखी नियानी ।
> सभ सुर हरी भगत औ ग्यानी । आनंदी पर दुखी बिनानी ।
> दाता और दयाल धरमिस्टा । सभै प्रेम रस लीन गरिस्टा ।
> भागिवंत भोगी सब लोगा । औ सभ कहं कुलवंत संजोगा ।
> मोहिं अस्तुति मुंह कही न जाई । जानु सरग भुंइ छावा आई ।
> खोरि खोरि सभ घर घर नगर अनंद हुलास ।
> कलिजुग महं जस प्रिथिमीं उतरि बसी कबिलास ।।

इन पंक्तियों में भी चुनार की स्वर्ग और कैलास (शिवलोक) से तुलना करते हुए वहाँ के निवासियों को 'नियानी' <निदानी (किसी हेतु या उद्देश्य से काम करने वाला), 'आनंदी' (आनंदवादी) तथा 'भोगी' कहा गया है ।

> पुनि देखिअ सिंघल कै हाटा । नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा ।
> कनक हाट सब कुंकुहँ लीपी । बैठ महाजन सिंघल दीपी ।
> रचे हथौड़ा रूपइँ ढारी । चित्र कटाउ अनेक सँवारी ।
> रतन पदारथ मानिक मोती । हीर पँवारि सो अनबन जोती ।
> सोन रूप सब भएउ पसारा । धवलसिरी पोतहिं घर बारा ।
> औ कपूर बेना कस्तूरी । चंदन अगर रहा भरिपूरी ।
> जेइँ न हाट एहि लीन्ह बेसाहा । ताकहँ आन हाट कित लाहा ।
> कोई करै बेसाहना काहू केर बिकाइ ।
> कोई चला लाभ सौं कोई मूर गवाँइ ।। ३७ ।।

अर्थ—(१) पुनः, सिंहल की हाटों को देखिए, [जिनके] समस्त मार्गों में नव निधियाँ और लक्ष्मी [दीख पड़ती] थीं । (२) [वहाँ की] सब की सब कनकहाट कुंकुम (केसर) से लिपी हुई थी और उसमें सिंहल द्वीप के महाजन बैठते थे । (३) उस में चाँदी को ढाल कर रचित हाथों के कड़े थे, जो अनेक (प्रकार)के चित्रों के कटाव से सँवारे हुए थे । (४) रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती, हीरा और प्रवाल (मूँगा) जो थे, उनकी

ज्योति अद्भुत वर्ण की थी । (५) सोने और चाँदी का अच्छा प्रसार [उस हाट में] हुआ [दिखाई पड़ता] था और घर-द्वार श्वेत रोली से पोते हुए थे । (६) [उसमें] कर्पूर, बेना, कस्तूरी, चंदन, और अगुरु भर कर पूरित हो रहे थे । (७) जिसने इस हाट में क्रय नहीं किया, उसको अन्य हाट में कहाँ लाभ हो सका ? (८) कोई क्रय करता था और किसी का विक्रय होता था । (९) कोई [इस हाट से] लाभ के साथ जा रहा था और कोई अपना मूलधन भी गँवा कर ।

टिप्पणी--(१) हाट<हट्ट=आपण, बाज़ार। बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग। (२) कुंकुह <कुङकुम=केसर। महाजन=श्रेष्ठी, सार्थवाह, व्यापारी। (३) हँथौड़ा<हस्त-कटक= हाथ का कड़ा। रूप<रौप्य=चाँदी। (४) पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य पत्थर। पँवार< पवाल<प्रवाल=मूंगा। अनबन=अन-बन=जो बन न सकता हो, जिसका बनाना मानव शक्ति से परे हो, अथवा : अनबन<अण्ण वण्ण<अन्य वर्ण=भिन्न वर्ण का, अद्भुत वर्ण का। (५) पसार<प्रसार। धवल सिरी<धवल श्री = श्वेत रोली। (६) बेना< वीरण=उशीर, खस। (७) बेसाह<वि-साध्य=क्रय की जाने वाली वस्तु। (८) बेसाहना<वि-साधन=क्रय। (९) सौं<सम्म्=साथ। मूर<मूल=मूल धन, पूँजी।

छंद की अंतिम तीन पंक्तियों में कवि ने कनक हाट को साधना लोक का प्रतीक बना कर जीवन के सदुपयोग और दुरुपयोग को व्यापार के लाभ और हानि के प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है।

पुनि सिंगार हाट धनि देसा । कइ सिंगार तहँ बैठी बेसा ।
मुख तँबोर तन चीर कुसुंभी । कानन्ह कनक जराऊ खुंभी ।
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं । नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं ।
भौंह धनुक तह नैन अहेरी । मारहिं बान सान सौं फेरी ।
अलक कपोल डोल हस देहीं । लाइ कटाख मारि जिउ लेहीं ।
कुच केंचुकि जानहुँ जुग सारी । अंचल देहि सुभावहिं ढारी ।
केत खेलार हारि तेन्ह पासा । हाथ झारि होइ चलहिं निरासा ।
चेटक लाइ हरहिं मन जौ लहि गथ है फेंट ।
साँठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट ।। ३८ ।।

अर्थ--(१) पुनः, [सिंहल का] शृंगार हाट तो धन्य (निराला ही) देश था : वहाँ शृंगार करके वेश्याएँ बैठी थीं । (२) उनके मुख में ताम्बूल था, और शरीर पर कुसुंभी चीर ; उनके कानों में सोने की जड़ावदार खुंभी थी । (३) उनके हाथों में वीणा थी, जिसे सुन कर मृग [सुधि-बुधि] भूल जाते थे, मनुष्य मोहित हो जाते और पग भर भी [आगे] न जाते थे । (४) उनकी भौंहें धनुषों तथा उनके नेत्र अहेरियों के सदृश थे, जो [कटाक्ष के] बाण शाण पर चढ़ा कर के (तीक्ष्ण करके) मारते थे । (५) उनकी अलकें कपोलों पर हिलती थीं ; वे [अपनी ओर दृष्टिपात करने वाले को] देख कर हँस देती थीं तथा कटाक्ष [के बाण] मार कर [उसके] प्राण ही लेती थीं । (६) उनकी कञ्चुकी के भीतर उनके कुच मानो दो सारियाँ (चौसर की गोटियाँ) थीं, [जिन पर से] वे अपने अंचल स्वभावतः सरकाती रहती थीं । (७) कितने ही

(पाँसा) खेलने वाले उन को पाँसों का दाँव हारकर, हाथ झाड़ कर (समस्त पूंजी समाप्त कर) वहाँ से निराश हो कर जाते थे। (८) चेटक (जादू-टोना या-वशी करण) लगाकर वे अपने पास आने वालों का मन हरती थीं, जब तक उनके फेंटों में पूंजी होती थी। (९) किन्तु ज्यों ही उनकी दशा बिगड़ती, [वे उन्हें पूछती तक न थीं]; तदनंतर [विवश होकर] वे उठ कर अपने मार्ग लगते (उन्हें मार्ग का पथिक बनना पड़ता) मानो उनसे उनकी कभी की न पहिचान हो और न भेंट हो।

टिप्पणी– (१) बेसा<वेश्या। (२) तंबोर<ताम्बूल=पान। खुंभी=कुकर मुत्ता, कुकुर मुत्ते के आकार का एक कर्णाभरण। (३) बीन<वीणा। पैग=पग। (४) तह <तथा। अहेरी<आखेटक=आखेट करने वाले। सान<शाण=शान का पत्थर, जिस पर घिस कर शस्त्रास्त्र तीक्ष्ण किए जाते थे। (६) केंचुकि<कञ्चुकी=चोली। सारी <शारि=चौसर की गोट। (७) केत<कियत्=कितना। पासा<पार्श्व=पाँसा। (८) चेटक=जादू-टोना। गथ<ग्रथ=पूँजी। (९) साँठि<संठिइ<संस्थिति=अवस्था, दशा।

लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी।
सोंधा सबै बैठु लै गाँधी। बहुल कपूर खिरौरी बाँधी।
कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू।
कतहूँ कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाँच कोड भल होई।
कतहुँ छरहटा पेखन लावा। कतहुँ पाखँड काठ नचावा।
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला।
कतहुँ काहुँ ठग बिद्या लाई। कतहुँ लेहिं मानुस बौराई।
चरपट चोर धूत गँठिछोरा मिले रहहि तेहि नाँच।
जो तेहि नाँच सजग भा अगुमन गथ ताकर पै बाँच॥ ३६॥

अर्थ--(१) [सिंहल नगर में] फुलहारी (फूल बनाने वाले ?) फूल ले लेकर बैठे थे, [जिनके साथ] अपूर्व पर्ण (पत्ते) सँवार (सजा) कर रक्खे हुए थे। (२) गंधिक (सुगंधित फुलेल आदि के विक्रेता) समस्त सुगंधित द्रव्यों को ले कर बैठे हुए थे और कर्पूर की बहुत-सी बट्टियाँ भी बाँधकर वे लिए हुए थे। (३) कहीं पर पंडित पुराण पढ़ते (पढ़ कर सुनाते) थे, और धर्म-मार्ग की व्याख्या करते थे। (४) कहीं पर कोई कुछ कथा कहता था और कहीं पर अच्छे नृत्य और कौतुक होते थे। (५) कहीं पर छल-हाट का तमाशा लगाया हुआ था, और कहीं पर पाखंड और कठ-पुतलियों का नाच हो रहा था। (६) कहीं पर अच्छा नाद-शब्द होता था, और कहीं पर नाटक तथा इन्द्रजाल की कला [दिखाई जाती] थी। (७) कहीं पर कोई ठग-विद्या का प्रदर्शन करते थे और कहीं पर कोई मनुष्यों को बावला (पागल) कर लेते थे। (८) चरपट (बहुमिथ्यावादी) चोर, धूर्त तथा उचक्के उन नृत्यों में सम्मिलित रहते थे; (९) जो उन नृत्यों में पहले से सजग होता था, केवल उसीकी पूंजी [उनसे] बच पाती थी।

टिप्पणी–(१) फुलहारी<फुल्ल+कारिन् (?)=फूल बनाने वाला (?)। पान <पण्ण<पर्ण=पत्ता। (२) सोंधा<सुगंधक=सुगंधित द्रव्य (फुलेल आदि)। गाँधी

<गन्धिक=गंधी। बहुल=बहुतेरे। इस प्रकार 'बहुल' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है, यथा तहवाँ बहुल पंखि खर भरहीं। (७०.२) खिरौरी<खदिर+वटी=कत्थे की टिकिया, किन्तु यहाँ टिकिया कपूर की है। (३) बखान>वक्खाण<व्याख्यान। (४) नाच<नृत्य। कोड<कोड्ड (दे०)=कौतुक। (५) छरहटा<छल-हट्ट=छल-छद्म की हाट। पेखन<पेक्खणअ<प्रेक्षणक=खेल-तमाशा। (६) चेटक कला=जादू-टोना की कला, इन्द्रजाल [दे० ३८.८, तथा ४४८.५ में 'चेटक']। (७) बाउर<वाउल<वातूल=बावला, पागल। (८) चरपट<चप्पलअ<चर्पटक (?)=बहुमिथ्यावादी। 'चर्पटक' का यह प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता है, किन्तु 'चप्पलअ' शब्द प्राकृत में मिलता है, जिसे देशज मान कर 'बहु मिथ्या वादी' अर्थ किया गया है (देखिए पा० स० म०)। वह संभवतः 'चर्पटक' का ही प्राकृत रूप है। धूत<धूर्त। गँठिछोरा=गाँठ (गठरी) छीनकर भागने वाला, उचक्का। गथ<ग्रथ=पूँजी।

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौं जस लाग अकासा।
तरहिं कुरुँभ बासुकि कै पीठी। ऊपर इंद्रलोक पर डीठी।
परा खोह चहुँ दिसि तस बाँका। काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका।
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सपत पतारन्ह जाई।
नव पँवरीं बाँकी नव खंडा। नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा।
कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा।
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका।
हिअ न समाइ दिस्टि नहिं पहुँचै जानहु ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लगि कहौं ऊँचाई ताकरि कहँ लगि बरनौं फेर ॥४०॥

अर्थ--(१) पुनः सिंहलगढ़ के पास आइए। उसका क्या वर्णन करूँ? वह [इतना ऊँचा था] जैसे आकाश से लगा (मिला) हुआ हो। (२) उसके नीचे ही कूर्म तथा वासुकी (शेष) की पीठें थीं [उसकी नीव उनकी पीठ पर दी हुई थी], और ऊपर उसकी दृष्टि इन्द्रलोक पर थी। (३) [उसके] चारों ओर ऐसी बाँकी (अद्भुत) खांई पड़ी हुई थी कि उसको देखते समय जाँघें काँपने लगती थीं, और वह झाँकी (देखी) नहीं जा सकती थी। (४) वह ऐसी अगम्य और असूझ थी कि [देखने वाला] देखते ही भय खाता था, और जो उस में पड़ (गिर) जाता था, वह तो सात पातालों को चला जाता था। (५) उसमें के नौ खंडों में बाँकी नौ पौरियाँ थी। जो उन नौ खंडों तक चढ़ जाता था, वह ब्रह्माण्ड को चला जाता था। (६) उसका कंचन का परकोटा शीर्ष पर (अपने शीर्ष भाग में) नगों के जड़े हुए होने के कारण नक्षत्रों (तारों) से भरे विद्युत् के जैसा दीख पड़ता था। (७) वह गढ़ लंकागढ़ से भी ऊँचा दिखाई पड़ता था, [इसलिए] वह देख नहीं जा सकता था, [उसकी ओर देखते हुए] दृष्टि तथा मन थक जाते थे। (८) वह [विशाल इतना था कि] हृदय (कल्पना) में नहीं समा सकता था, और [उसकी ऊँचाई तक] दृष्टि नहीं पहुँच सकती थी, [क्योंकि] वह ऐसा था मानो सुमेरु [ही] खड़ा हो। (९) उसकी ऊँचाई कहाँ तक कहूँ और कहाँ तक उसके घेर (विस्तार) का वर्णन करूँ?

टिप्पणी– (१) कुरुँभ<कूर्म=कच्छप। बासुकि=वासुकि। पृथ्वी को धारण करने वाले सर्पराज को जायसी ने बासुकि ही कहा है: देखिए 'पद्मावत' १४.५, १७९.८, २४१.५। (३) खोह=खाई। बाँक<वंक<वक्र=विचित्र, अद्भुत। (५) खंड<मंजिल। पौरी<पओली<प्रतोली=मुख्य द्वार। नव खंडों के नव द्वारों में कवि ने शरीर के नव द्वारों की व्यंजना भी रक्खी है। उस ने अगले छंदों में भी इस व्यंजना का निर्वाह किया है। ब्रह्मंडा: ब्रह्मांड से जायसी का अभिप्राय स्वर्ग से है: अन्यत्र 'ब्रह्म-मंडल' शब्द का भी प्रयोग जायसी ने इसी अर्थ में किया है: महि मंडल तौ ऐसन छोई। ब्रह्म मँडल जौं होइ तौ होई। (६) कोट=परकोटा। सीस<शीर्ष: अपने 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में मैंने 'नग सीसा' को स्वीकृत पाठ में रक्खा है और 'कौसीसा' को पाठान्तर में, क्योंकि 'नग सीसा' पाठ के संबंध का साक्ष्य स्पष्ट ही दृढ़तर है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पदमावत' की व्याख्या में 'कौसीसा' का सुझाव दिया है। 'कौसीसा' पाठ की संभावना 'कोट' के प्रसंग में अवश्य ही विचारणीय है। पूरी पंक्ति का अर्थ उन्होंने किया है, "कंचन के कोट पर जड़े हुए कँगूरे हैं। वह ऐसा दिखाई देता है मानो नक्षत्रों से भरे आकाश में बिजली चमकती हो।" किंतु कर्म-विहीन सक० 'जर' का प्रयोग रचना में अन्यत्र नहीं मिलता है, और 'सीसा' वस्तुतः; 'कपिशीर्ष' है ही, इसलिए 'कौसीसा' पाठ ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। बीज<विद्युत्=बिजली।

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहि त बाजि होइ रथ चूरू।
पँवरी नवौ बज्र कइ साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी।
फिरहिं पाँच कोटवार सो भँवरी। काँपै पाँय चँपत वै पँवरी।
पँवरिहि पँवरि सिंघ गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े।
बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े।
टारहिं पूँछि पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा।
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं।
नवौ खंड नव पँवरीं औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरें सों चढ़ै सत सौं चढ़ै जो पार ॥४१॥

अर्थ–(१) नित्य ही [उसकी ऊँचाई के कारण] सूर्य-शशि उस गढ़ को बचाकर चलते थे, नहीं तो उससे टकरा कर उनके रथ चूर-चूर हो जाते। (२) [उसके नौ खंडों की] नौ पौरियाँ वज्र (फौलाद) की बनी हुई थीं, और वहाँ (उन पौरियों पर) एक-एक सहस्र पदाति बैठे हुए थे। (३) पाँच कोटपाल [निरंतर] चक्कर लगाते हुए फिरते रहते थे। उन पौरियों पर पैर पड़ते ही वे काँपने लगते थे। (४) प्रत्येक पौरी पर [पत्थरों को] गढ़ कर सिंह निकाले हुए (निर्मित किए हुए) थे, [और वे ऐसे भयावने थे कि] राजागण उन्हें खड़े देख कर डर जाते थे। (५) बहुत-से बनावों के वे सिंह गढ़े हुए थे, और वे ऐसे [सजीव] लगते थे कि मानो गर्ज रहे हों और [उछल कर] सिर पर चढ़ना चाहते हों। (६) वे अपनी पूँछे टालते (हिलाते) रहते और जिह्वा (बार-बार) फैलाते (आगे बढ़ाते–निकालते) रहते थे, [इस कारण] उन्हें देख कर कुञ्जर [भी] डर जाते थे कि गर्जना करके वे उन्हें ले न डालें। (७) कनक शिलाओं

को गढ़ कर [उन पौरियों पर] सीढ़ियाँ लगाई गई थीं, जो गढ़ के ऊपर (ऊपरी भाग) तक जगमगाती रहती थीं। (८) [गढ़ के] नौ खंडों में [इस प्रकार कुल] नौ पौरियाँ थीं वहाँ और [उनमें] वज्र (फौलाद) के किवाड़ (लगे हुए) थे। (९) यदि कोई अपने सत्त्व (अथवा सत्य) के द्वारा चढ़ भी सकता तो चार बसेरे करके ही वह [उस गढ़ पर] चढ़ सकता था।

टिप्पणी- (१) सूर<सूर्य। चूर<चूर्ण। (२) बज्र<वज्र=फौलाद। पाजी<पदाति=पैदल सैनिक। (३) कोटवार<कोट्टपाल=कोट रक्षक। चंप [दे०] =दबना। (४) पवँरी<पओली<प्रतोली। पवँरिहि पँवरि सिंघ गढ़ि काढ़े : प्रतोली पर सिंहों की रचना मध्ययुग का एक बहु प्रचलित अभिप्राय था। राय<राजा। (५) बनाने:√वन्=तैयार करना; बनाना इसी √वन् से बना है। गाज्<गर्ज्=गर्जना करना। (६) पूँछि<पिच्छ=दुम। जीहा<जिह्वा। पसार्<प्रसारय्=फैलाना। गुंजर्=गुंजार (गर्जना) करना। (८) बज्र<वज्र=फौलाद। केवार<कवाड<कपाट। (९) बसेरा =पड़ाव। 'चारि बसेरे' के द्वारा जायसी ने इस छंद में सूफ़ी साधना के चार मुक़ामात शरीअत तरीक़त, हक़ीक़त और मअरिफ़त की ओर संकेत किया है, जिन्हें उन्होंने करम, धरम, सत और नेम कहा है : दस महँ एक जाइ कोइ करम, धरम, सत, नेम। (१४८.८)

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू।
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी।
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा।
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माँटी कर भाँड़ा।
तुम्ह तेहिं चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे।
घरी जो भरै घटै तुम्ह आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ।
पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।
मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति ॥४२॥

अर्थ-(१) उन नवों पौरियों के परे (बाद) दसवाँ द्वार था, और उस पर राजकीय घड़ियाल बजता था। (२) घड़िआली (घड़ियाल बजाने वाले) जो घड़ियाँ होती थीं, उन्हें बैठ कर गिनते रहते थे। एक-एक पहर पर उनकी अपनी-अपनी बारी आती थी। (३) जभी घड़ी पूरी होती थी, घड़िआली [मुँगरी] मारता [और उसे बजाता] था, और इस प्रकार प्रत्येक घड़ी वह घड़ियाल पुकार लगाता था। (४) [उस घड़ियाल पर] जब डंडा पड़ता था, समस्त जगत् दंडित होता था [क्योंकि दंड के रूप में काल समस्त जगत् की आयु में से एक घड़ी ले लेता था]। ऐ मिट्टी के भांड (मिट्टी से निर्मित शरीर वाले प्राणी), तुम निश्चिन्त क्या (क्यों) हो ? (५) तुम कच्चे (कच्ची मिट्टी) होकर उस [काल के] चक्र पर चढ़े हो, जिससे लौटने के लिए तुम आए हो; तुम स्थिर हो कर बच नहीं सकते हो। (६) एक घड़ी जो भरती (पूरी होती) है, वह एक घड़ी तुम्हारी आयु घटती है, [इसलिए] ऐ पथिक, तुम निश्चिन्त क्या

(क्यों) सोते हो ? । (७) [पुनः] एक-एक पहर [व्यतीत होने] पर नित्य ही गजर होता है, किन्तु हृदय ऐसा निष्ठुर है कि (फिर भी) नहीं जागता। (८) मुहम्मद (जायसी) कहता है, कि यह जीवन, जल भरने वाली रहँट की घटिका की रीति का है। (९) उसकी घटिका आती है और ज्यों हीं वह भरती है, ढलक जाती (पानी ढाल देती) है; [इसी प्रकार] हमारा जन्म (जीवन) भी व्यतीत हो जाता है।

टिप्पणी– (१) दसौं<दशम। शरीर का दशम द्वार ब्रह्म रंध्र माना जाता है, 'दसौं दुआरू' में कवि का उस की ओर भी अस्फुट संकेत हो सकता है। घरिआर<घटीकाल (?) = घड़ी-घड़ी पर बजने वाला घंटा--विशेष विस्तार के लिए दे० आईन-ए-अकबरी, जिल्द २, पृ० १७-१८। (२) घरिआरी=घड़ियाली, घड़ियाल (घंटा) बजाने वाला। बारी<वेला। (४) डाँड़<डंड<दंड=डंडा, घड़ियाल की मुंगरी। भाँडा<भाण्ड= बर्त्तन। (५) चाक<चक्क<चक्र=कुम्हार का चक्र। (६) आऊ<आयु। (७) गजर<गज्ज+ड=गर्जना : एक प्रहर हो जाने पर घड़ियाल पर कुछ क्षणों तक अनवरत चोट पड़ती रहती थी, उसे 'गजर' बजाना कहते थे। निसोगा<णिस्सूग<निःशूक : निष्करुण, निष्ठुर। रहँट<अरहट्ट<अरघट्ट=कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र जिसमें घरियाँ लगी रहती हैं।

इस छंद में कवि ने जीवन की अनित्यता के संबंध में मार्मिक शब्दों में कहा है। किसी आध्यात्मिक उद्देश्य से लिखी गई प्रेम-कथा में ही इस प्रकार के कथन आ सकते हैं, इसलिए रचना किस उद्देश्य से की गई है, वह कवि के इस प्रकार के कथनों से निश्चित हो जाता है।

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसी दुरुपदी।
औरु कुंड एक मोंती चूरू। पानी अंम्रित कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पिआ। बिरिध होइ नहि जौं लहि जिआ।
कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इंद्र कबिलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।
चाँद पात औ फूल तराईं। होइ उजिआर नगर जहँ ताईं।
वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई।
राजा भए भिखारी सुनि वह अंम्रित भोग।
जेइँ पावा सो अमर भा ना किछु ब्याधि न रोग॥ ४३॥

अर्थ–(१) उस गढ़ पर नीर और क्षीर नाम की दो नदियाँ थीं, [जिनमें] द्रौपदी जैसी [सुंदरियाँ] पानी भरती थीं। (२) और उस पर एक मोतियों के चूर्ण का [बना] कुंड था, जिसका पानी अमृत तथा कीचड़ कपूर था। (३) राजा ही उस का पानी पीता था, और [उसके प्रभाव से] जब तक जीता था, वृद्ध नहीं होता था। (४) उसके (कुंड के) पास एक कंचन का वृक्ष था, जिस प्रकार कैलास (शिवलोक) में इन्द्र का कल्पतरु है। (५) उसकी जड़ें पाताल तथा शाखाएँ स्वर्ग तक [पहुँचतीं] थीं; वह अमर बेली (अमृत वल्ली) थी; उसको कौन पाता और [उसके फल को] कौन चखता ? (६) उसके पत्ते चन्द्रमा और फूल तारागण थे, [जिनसे] जहाँ तक नगर था, उजाला होता

था। (७) उसका फल कोई तपस्या करके [ही] पाता था, और वृद्ध उसे खाता था तो नवयुवक हो जाता था। (८) उस अमृत-भोग को सुनकर [उसको प्राप्त करने के लिए] राजे भिखारी हो गए, (९) और जिसने उसे पा लिया, उसे [फिर] न कोई व्याधि हुई और न कोई रोग हुआ।

टिप्पणी– (१) खीर<क्षीर=दूध। दुरुपदी<द्रौपदी। (२) मोंती चूर<मौक्तिक-चूर्ण। (३) जौ<जउ<यदा=जब। (४) बिरिख<वृक्ष। कबिलासा<कैलास=शिव-लोक। जायसी शिवलोक में ही इंद्र का निवास मानते हैं: राजा कहै गरबकै हौं रे इंद्र सिव-लोक। (५२-८)। (५) बेलि<वेली [दे०]=बल्लरी। (६) पात<पत्र। फूल<फुल्ल। उजिआर<उद्+ज्वाल=उजाला। (८) भिखारि<भिक्षा+कारिन् (?)=भिखमंगा।

इस छंद में हठयोग के तत्त्वों की ओर कुछ इस प्रकार संकेत किया गया ज्ञात होता है: यह मानव शरीर ही गढ़ है, यथा: गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया, परखि देखु ओही कै छाया। (२१५.१) इस काया गढ़ में नीर तथा क्षीर नाम की नदियाँ इड़ा तथा पिंगला नाड़ियाँ हैं। मोती-चूर्ण का कुण्ड सुषुम्णा है। कंचन-वृक्ष (अमृतवल्ली) चेतना-वल्ली है, जो पाताल (मूलाधार चक्र) से लेकर आकाश (सहस्रार) तक फैली हुई है। उसी का प्रकाश समस्त काया-गढ़ में होता रहता है—काया की समस्त चेतना उसी का परिणाम है। उस अमृतवल्ली का फल आत्मानुभव है, जिसका सेवन करने से जरा-मरण का भय नहीं रहता है। इस अमृत-फल को तप द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसको प्राप्त करने के लिए भर्तृहरि जैसे राजा राज्य छोड़ कर भिखारी बने। इस को प्राप्त करने के अनंतर प्राणी को किसी प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ कष्ट नहीं पहुँचा सकती है।

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति गजपति औ नरपती।
सब क धौरहर सोनै साजा। औ अपने अपने घर राजा।
रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पँवरि तेन्ह लागे।
भोग बेरास सदा सब माना। दुख किंता कोइ जरम न जाना।
मँदिर मँदिर सबकें चौपारी। बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी।
पाँसा ढरै खेल भलि होई। खरग दान सरि पूज न कोई।
भाँट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोर सिंघली।
मँदिर मँदिर फुलवारी चोवा चंदन बास।
निसि दिन रहै बसंत भा छहु रितु बारहु मास॥ ४४॥

अर्थ–(१) गढ़ पर चार प्रकार के [राजे] बसते थे: गढ़पति, अश्वपति, गजपति और नरपति। (२) सब के धवलगृह सोने से तैयार किए हुए थे, और वे [सब] राजा अपने-अपने घरों में [रहते] थे। (३) वे रूपवान, धनवान और भाग्यवान थे, और उनकी पौरियों पर स्पर्श-पाषाण लगे हुए थे। (४) वे सभी सदैव भोग-विलास में आस्था रखते थे, जनम (जीवन) भर में किसी ने यह नहीं जाना था कि दुःख और चिन्ता क्या होते हैं। (५) सब के मंदिरों (भवनों) में चौपालें थीं, जिनमें समस्त राज कुमार [चौसर की] गोटियाँ खेलते थे। (६) पाँसे ढाले जाते थे और नित्य ही [चौसर की]

भली खेल होती थी; [दूसरी ओर वे योद्धा भी थे और] कोई भी खड्ग-दान (तलवार चलाने) में उनकी समानता नहीं कर पाता था। (७) भाँट उनकी अच्छी कीर्ति का वर्णन और कथन करके पुरस्कार में सिंहली हाथी और घोड़े पाते थे। (८) प्रत्येक मंदिर (भवन) में पुष्पवाटिका थी, और चोवा तथा चंदन की सुगंध रहती थी। (९) छओं ऋतुओं और वारहों महीनों में रात-दिन [उन वाटिकाओं में] वसंत [बना] हुआ रहता था।

टिप्पणी– (१) गढ़पति, अश्वपति, गजपति और नरपति के संबंध में देखिए २६.६-७ की टिप्पणी तथा 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० ३१८। (२) धौरहर <धवलगृह=प्रासाद। साज्<सज्ज<सृज=तैयार करना। (३) पँवरि<पओली< प्रतोली=मुख्यद्वार। परस पखान<स्पर्श-पाषाण=पारस पत्थर। (४) भोग बेरास सदा सुख माना : तुल० ऐहिक पंथ सँवारहि जस सिवलोक अनूप। (३६.८) जरम<जन्म= जीवन। (५) चौपारी<चउपल्ली<चतुः+पल्ली=चौकोर भवन, चौपाल। सारी <शारि<चौसर=गोट। (६) पाँसा<पार्श्व=पाँसा, जिससे चौसर खेली जाती है। पूज् <पुज्ज्<पूरय्=पूर्ति करना, पूर्ति होना, पूरा पड़ना। (७) भाँट<भट्ट। (८) चोवा< अगुरु के रस से भपके के द्वारा तैयार किया गया एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ।

पुनि चलि देखा राज दुआरू। महिं घूँविअ पाइअ नहिं बारू।
हस्ति सिंघली बाँधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा।
कवनौ सेत पीत रतनारे। कवनौ हरे धूम औ कारे।
बरनहि बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठ जनु थेघा।
सिंघल के बरने सिंघली। एकेक चाहि सो एकेक बली।
गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं।
मात निमत सब गरजहिं बाँधे। निसि दिन रहहिं महाउत काँधे।
धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हालि।
कुरुँभ टूट फन फाटै तिन्ह हस्तिन्ह की चालि॥ ४५॥

अर्थ–(१) पुनः (आगे) चल कर [कवि ने] राज द्वार देखा। पृथ्वी भर घूम आइए किंतु [ऐसा] राज-द्वार न पाइएगा। (२) [उस] द्वार पर सिंहली हाथी बँधे हुए थे, जो सभी [ऐसे लगते थे] मानो सजीव पर्वत खड़े हों। (३) कोई [उनमें से] श्वेत कोई पीले और रतनारे (लालिमा लिए हुए), कोई हरे, कोई धूमिल और कोई काले थे। (४) वे [उसी प्रकार] रंग-रंग के थे जिस प्रकार गगन में मेघ होते हैं, और [वे ऊँचे इतने थे] मानो उन्होंने अपनी पीठों पर आकाश को थाम रक्खा हो। (५) यह मैंने सिंहल के सिंहली हाथियों का वर्णन किया, जो एक-एक की अपेक्षा एक-एक बलवान थे ? (६) वे गिरि, पहाड़, और पर्वत–सभी को पकड़ कर ठेल देते थे, और वृक्षों को उखाड़ कर तथा झाड़ कर मुख में डाल लेते थे। (७) जो मत्त थे और जो मत्त नहीं थे, दोनों ही प्रकार के हाथी बँधे हुए चिग्घाड़ रहे थे, और [इसीलिए] महावत उनके कंधों पर रात-दिन रहते थे। (८) धरती उनके भार को अपने अंगों पर नहीं धारण कर सकती थी, [इसलिए] वह उनके पैर रखते ही हिल उठती थी; [यहीं तक नहीं]

उन हाथियों के चलने पर कूर्म की पीठ टूट जाती थी, और वासुकि का--जायसी ने वासुकि के ही फण पर पृथी को टिकी बताया है--(दे० ४०.२) फण फट जाता था।

टिप्पणी– (१) बार<वार<द्वार। घूँब<घुम्म<घुर्ण्=घूमना। (३) सेत <श्वेत। धूम=धुएँ के वर्ण के। (४) बरन<वर्ण=रंग। (५) चाहि=अपेक्षा। (६) पब्बै <पव्वइ<पर्वत। पेल् पेर्<प्रेरय्=ठेलना, धक्का देना। झार्<शादय्=झाड़ना। (७) महाउत=हस्ति-चालक। (८) अँगव्=अंगों पर लेना, सहन करना। (९) कुरुँभ<कूर्म= कच्छप।

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा। का बरनौं जस उन्हके रंगा।
लील समंद चाल जग जानै। हाँसुल भँवर किआह बखानै।
हरिअ कुरंग महुअ बहु भाँती। गुर्र कोकाह बुलाह सो पाँती।
तीख तोखार चाँड़ औ बाँके। तरपहिं तबहि तायन बिनु हाँके।
मन तें अगुमन डोलहिं बागा। देत उसास गगन सिर लागा।
पावहिं सांस समुँद पर धावहिं। बूड़ न पावँ पार होइ आवहिं।
थिर न रहहिं रिस लोह चबाहीं। भाँजहिं पूँछि सीस उपराहीं।
अस तोखार सब देखे जनु मन के रथवाह।
नैन पलक पहुँचावहिं जहँ पहुँचा कोउ चाह॥ ४६॥

अर्थ–(१) पुनः राज-द्वार पर घोड़े बँधे हुए थे। उन के रंग जैसे थे, उसका क्या वर्णन करूँ? (२) लील और समंद घोड़ों की चाल जगत् जानता है, तथा हाँसुल, भँवर और किआह को [जगत्] बखानता है। (३) हरिअ, कुरंग, और महुअ बहुत भाँति के थे, तथा गुर्रा, कोकाह और बुलाह की [तो] पंक्तियाँ थीं। (४) वे तीक्ष्ण तुखार (घोड़े) चंड और बाँके थे: वे चाबुक से बिना हाँके ही तड़पते रहते थे। (५) मन से भी आगे-आगे वे वल्गा (लगाम) देने पर ही चलते थे, और यदि उसास (आदेश) [का संकेत] दीजिए, तो वे आकाश के सिर लगते थे। (८) सास (आदेश) [का संकेत] पाने पर वे समुद्र पर दौड़ जाते थे; उनके पैर पानी में डूबते नहीं थे और वे समुद्र के पार हो आते थे। (७) वे स्थिर नहीं रहते थे, वे [मुँहड़ी का] लोहा चबाते रहते थे, तथा पूँछ को सिर के ऊपर किए हुए भागते थे। (८) ऐसे तुखार (घोड़े) [कवि ने] देखे मानो वे मन के रथ को खींचने वाले [अश्व] हों; (९) वे नयनों की पलक [भाँजते भर] में वहाँ पहुँचा देते थे जहाँ कोई पहुँचना चाहता हो।

टिप्पणी– (२) लील<नीलक=नीले रंग का घोड़ा। समंद [फ़ा०]=बादामी रंग का घोड़ा। हाँसुल=मेंहदी के रंग का घोड़ा जिसका पैर काला होता है। भँवर= भौंरे के रंग का काला घोड़ा। किआह=कुछ कालापन लिए लाल घोड़ा, जिसका रंग पके ताड़ के फल जैसा होता है। (३) हरिअ<हरित=सब्ज़ा घोड़ा। कुरंग=लाख के रंग का घोड़ा। महुअ=महुए के रंग का घोड़ा। गुर्र<गुर्र: [अ०]। कोकाह=सफ़ेद रंग का घोड़ा। बुलाह<बोल्लाह=पीले रंग की गर्दन और पूँछ वाला घोड़ा। (४) तोखार= तुखारिस्तान के घोड़े, किन्तु यहाँ पर 'घोड़ा' मात्र। चाँड़<चण्ड=उग्र। बाँक<वंक <वक्र=सुंदर। तायन<ताजियान: [फा०]=चाबुक। (५) बाग<वल्गा = लगाम।

उसास<उत्सास<उत्+शास=आदेश। (६) सास<शास=आदेश। (७) पूँछि<पिच्छ =दुम। (८) रथवाह=रथ वहन करने (खींचने) वाले।

घोड़ों की विभिन्न जातियों के लिए जो भारत में मध्ययुग में अधिक प्रसिद्ध रही हैं, दे० प्रेमी-अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ८१। 'पद्मावत' के युग के कान्हड दे प्रबंध (राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर) ३.४६ तथा 'छिताई वार्ता' (नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी) छंद ७२४ में भी इसी प्रकार की सूची मिलती है।

राज सभा पुनि दीखि बईठी। इंद्रसभा जनु परि गइ डीठी।
धनि राजा असि सभा सँवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी।
मुकुट बंध सब बैठे राजा। दर निसान नित जेन्ह के बाजा।
रूपवंत मनि दिपै लिलाटा। माँथें छात बैठ सब पाटा।
मानहु कँवल स रोवर फूलै। सभा क रूप देखि मन भूलै।
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगँध बास भरि रही अपूरी।
माँझ ऊँच इंद्रासन साजा। गंध्रपसेनि बैठ जहँ राजा।
छत्र गगन लहि ताकर सूर तवै जसु आपु।
सभा कँवल जिमि बिगसै माँथे बड़ परतापु ॥४७॥

अर्थ–(१) पुनः [कवि को] राज सभा बैठी (लगी) हुई दीख पड़ी, [और उसे लगा कि] मानो इन्द्र सभा उसकी दृष्टि में पड़ गई हो। (२) वह राजा धन्य था जिसने ऐसी सभा सँवारी (सजाई) थी कि मानो पुष्पवाटिका फूल रही हो। (३) [उस सभा में] जो राजा बैठे थे, वे सब मुकुट-बन्ध थे, जिनके द्वार पर नित्य ही निशान बजता था। (४) वे रूपवान थे और उनके ललाट में [मानो] मणि चमकती थी। उनके मस्तक पर छत्र होता था तथा वे सब पाट (सिंहासनों) पर बैठते थे। (५) [सभा में] वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो सरोवर में कमल खिले हुए हों; [अतः] उस सभा का रूप देख कर मन भ्रमित हो जाता था। (६) पान, कपूर, मेद तथा कस्तूरी की सुगंधित वासना (महक) [उस सभा में] आपूर्ण रूप से भर रही थी। (७) [सभा के] मध्य में ऊँचा इन्द्रासन [जैसा सिंहासन] था, और उस पर राजा गंधर्वसेन बैठा था। (८) उसका छत्र गगन तक [ऊँचा] था, और वह [ऐसा लगता था] जैसे स्वतः सूर्य तप रहा हो। (९) उसकी सभा (उसकी समक्षता में) कमल के समान खिल रही थी और उसके मस्तक पर बड़ा प्रताप था।

टिप्पणी–(१) डीठि<दृष्टि। (२) फुलवारी<फुल्ल+वाडिका=पुष्पवाटिका। (३) मुकुट बंध=वे राजा जिन्हें मुकुट बाँधने का अधिकार हो। दर [फ़ा०]=द्वार। निसान<निशान [फा०]=वाद्य। नित<नित्य। (४) दिप्<दिप्प< दीप्=चमकना। छात छत्त<छत्र। पाट<पट्ट=सिंहासन। (६) मेद=एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ जो किसी पशु की नाभि से बनाया जाता था। (दे० आईन-ए-अकबरी)। (८) तव्<तप्=तप्त होना। (९) बिगस्<विकस्–फूलना, खिलना।

साजा राजमँदिर कबिलासू। सोने कर सब पुहुमि अकासू।
सात खंड धौराहर साजा। उहै सवाँरि सकै अस राजा।

हीरा ईंट कपूर गिलावा । औ नग लाइ सरग लै लावा ।
जाँवत सबै उरेह उरेहे । भाँति भाँति नग लाग उबेहे ।
भा कटाव सब अनबन भाँती । चित्र होत गा पाँतिहि पाँती ।
लागे खँभ मनि मानिक जरे । जनहु दिया दिन आछत बरे ।
देखि धौरहर कर उँजियारा । छपि गे चाँद सूर औ तारा ।
सुने सात बैकुँठ जस तस साजे खँड सात ।
बेहर बेहर भाउ तेन्ह खँड खँड ऊपर जात ॥ ४८ ॥

अर्थ–(१) राज मंदिर (राज भवन) कैलास (शिव लोक) [के सदृश] सजा (बना) हुआ था। उसकी भूमि (फर्श) और आकाश (गच) सभी सोने के थे। (२) वह (राज मंदिर) सप्तभूमिक प्रासाद के रूप में सजा हुआ था। वही (गंधर्वसेन) उसको सँवार (निर्मित करा) सकता था, ऐसा वह राजा था। (३) हीरों की ईंटों, कपूर के गिलावे और नगों को लगा कर [निर्मित किया हुआ] वह ले जाकर स्वर्ग (आकाश) से मिला दिया गया था। (४) यावत् [संभव] हो सकते थे, सभी उरेह उरेहे हुए थे और वे भाँति-भाँति के नग लगा कर उबेहे (उभाड़े) हुए थे। (५) उनमें [ऐसा] अनबन (अद्‌भुत) भाँति का कटाव [का कार्य] हुआ था, कि चित्र पंक्ति ही पंक्ति में होता (बनता) चला गया था। (६) [उस राज भवन में] मणि-माणिक्य जटित खंभे लगे थे, जो ऐसे लगते थे मानो दिन रहते ही दीपक जल रहे हों। (७) उस धवल गृह (प्रासाद) के औज्ज्वल्य को देखकर चंद्रमा, सूर्य तथा तारे छिप गए (मंद पड़ गए)। (८) जिस प्रकार के सात स्वर्ग सुने गए थे, उसी प्रकार के उसने [राज मंदिर के] सातों खंड सजाए (बनाए) थे, (९) [अतः] जैसे एक खंड से चलकर उसके ऊपर के खंड में जाइए, दोनों में पृथक्-पृथक् भाव मिलेंगे।

टिप्पणी– (१) साजा<सज्जिअ<सर्जित=बनाया हुआ। कबिलास<कैलास= शिव लोक। (२) धौराहर<धवलगृह=प्रासाद। (४) जाँवत<यावत्=जितना। उरेह <उल्लेह<उल्लेख=चित्रादि। उरेह्<उल्लिह्<उल्लिख्=रेखांकन करना। उबेह< उद्‌व्यध्=उभाड़ना। (५) अनबन<अण्ण+वण्ण अन्य वर्ण=भिन्न ही वर्ण का, अद्‌भुत। (७) धौरहर<धवलगृह=प्रासाद। उजिआरा<औज्ज्वल्य=उज्ज्वलता (९) बेहर <विहडिअ<विघटित : पृथक्, भिन्न।

बरनौं राज मँदिर रनिवासू । अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू ।
सोरह सहस पदुमिनी रानीं । एक एक तें रूप बखानीं ।
अति सुरूप औ अति सुकुवारा । पान फूल के रहहिं अधारा ।
तिन्ह ऊपर चंपावति रानी । महा सुरूप पाट परधानी ।
पाट बैसि रह किए सिंगारू । सब रानी ओहि करहिं जोहारू ।
निति नव रंग सुरंगम सोई । प्रथमै बैस न सरबरि कोई ।
सकल दीप महँ चुनि चुनि आनी । तेन्ह महँ दीपक बारह बानी ।
कुअँरि बतीसौ लक्खनी अस सब माँह अनूप ॥
जाँवत सिंघल दीपइ सबै बखानइ रूप ॥ ४९ ॥

अर्थ--(१) (अब) मैं उस राजमंदिर के रनिवास का वर्णन कर रहा हूँ; वह मानो अप्सराओं से भरा कैलास (शिवलोक) था। (२) उस रनिवास में सोलह सहस्र पद्मिनी रानियाँ थीं, जो रूप में एक-से-एक बढ़ कर कही जाती थीं। (३) वे अत्यधिक रूपवती और अति सुकुमार थीं और पान-फूल के आधार पर (केवल पान-फूल का सेवन कर) [जीवित] रहती थीं। (४) उन रानियों के ऊपर राजा की चंपावती नाम की रानी थी, जो महा रूपवती और पाट (सिंहासन) की प्रधान थी--अर्थात् पटरानी थी। (५) वह श्रृंगार किए हुए पाट (सिंहासन) पर बैठी रहती थी और सब रानियाँ उसे जुहार (नमस्कार) करती थीं। (६) वह नित्य ही सुन्दर और नवीन रंग की ज्ञात होती थी; अब भी उसकी प्रथम वयस् ही थी और उसकी समानता की कोई नहीं थी। (७) [उस रनिवास की रानियाँ] समस्त द्वीप में से चुन-चुन कर लाई गई थीं, और उनमें वह बारह वर्ण के (खरे) सोने की कांति वाली रानी दीपक [तुल्य] थी। (८) वह बत्तीस शुभ लक्षणों वाली कुमारी थी, इस प्रकार वह सब (रानियों) में अनुपम थी; (९) जितना भी सिंहल द्वीप था, वह समस्त उसके रूप का बखान करता था।

टिप्पणी--(१) अछरी<अप्सरस्=अप्सरा। कबिलास<कैलास=शिवलोक। इंद्र भी जायसी के अनुसार शिवलोक में रहता है: यथा--राजा कहै गरब कै हौं रे इंद्र सिवलोक। (५२.८) (२) बखान्<वक्खाण्<व्याख्यानय्=वर्णन करना, कहना। (४) पाट<पट्ट=सिंहासन। (५) जोहार [दे०]=नमस्कार। (६) बैस<वयस=अवस्था। 'प्रथम् वयस्' से तात्पर्य यौवन की प्रारंभिक अवस्था अर्थात् मुग्धावस्था से है। (७) बारहबानी<द्वादश वर्णिन्=बारह वर्ण का, खरा सोना। सोने के खरेपन की उस समय बारह कक्षाएँ मानी जाती थीं। बारह वर्णों या कक्षाओं का सोना खरा माना जाता था। [देखिए आईन-ए-अकबरी] (८) बत्तीस लक्खन (लक्षण): बत्तीस शुभ लक्षण [दे० १९३.५ की टिप्पणी जिसमें पुरुषों के ३२ लक्षण दिए गए हैं। स्त्रियों के संभव है भिन्न हों]। (९) जाँवत<यावत्=जितना।

चंपावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाहाँ।
भै चाहै असि कथा सलोनी। मेंटि न जाइ लिखी जसि होनी।
सिंघल दीप भएउ तब नाऊँ। जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊँ।
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथें मनि भई।
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई।
जस औधान पूर होइ तासू। दिन दिन हिएँ होइ परगासू।
जस अंचल झींने महँ दिया। तस उजिआर देखावै हिया।
सोनै मँदिर सँवारैं औ चंदन सब लीप।
दिया जो मनि सिव लोक महँ उपना सिंघलदीप ॥५०॥

अर्थ-(१) चंपावती इस समय जो [अपने] रूप के सर्वोत्कृष्ट दिनों (सर्वोत्कृष्ट काल) में थी, उसका कारण यह था कि उसके मन (हृदय) की छाया में पद्मावती की ज्योति [आ गई] थी। (२) [अब] इस प्रकार की सलोनी (सुंदर) कथा [घटित] होना ही चाहती थी (कि पद्मावती उसकी कन्या के रूप में अवतार ग्रहण करे)

और जैसी भवितव्यता लिखी होती है वह मिट [भी] नहीं सकती है। (३) सिंहल द्वीप नाम तभी [सार्थक] हुआ जब उस स्थान ने [पद्मावती के रूप में] ऐसा दीपक [जगत् को] दिया। (४) आदि में वह ज्योति आकाश (शिव लोक) में निर्मित हुई, तदनंतर वह पिता के मस्तक पर मणि (दीप्ति) के रूप में (अवतरित) हुई। (५) तदनंतर वह ज्योति माता (चंपावती) के घट (हृदय) में आई और उसके उदर में उसने बहुत आदर प्राप्त किया। (६) ज्यों-ज्यों उस (ज्योति) का अवधान (गर्भ के रूप में धरोहर) पूरा होता था, त्यों-त्यों उसके हृदय में उस ज्योति का प्रकाश [अधिक] होता था। (७) जिस प्रकार हलके (झीने) अंचल में दीपक (झलमल-झलमल करता) होता है, उसी प्रकार उसका हृदय भी उज्ज्वल (उद्भासित) दिखाई पड़ने लगा था। (८) वह राजमंदिर को सोने (के मुलम्मे) से सँवारती और चंदन से लीपती, क्योंकि (वह जानती थी कि) वह [दिव्य] दीपक जो शिवलोक में मणि (के रूप में था) था, सिंहल द्वीप में उत्पन्न (अवतरित) हो गया था।

टिप्पणी--उतिमाह<उत्तमाह=उत्तम दिन, सर्वोत्कृष्ट समय । मन=हृदय [तुल० तस उजियार देखावै हिया। ५०.७]। छांह<छाया। (२) सलोनी<स-लवण+इका=लावण्यमयी । होनी=भवितव्यता। (४) गगन=आकाश, स्वर्ग, शिवलोक [तुल० दिया जो मनिकसिवलोक-महं]। मनि : ललाटकी दीप्ति [तुल० तेन्ह सिर फूल चढ़हिं वै जेन्ह माथें मनि भागु। ३५.८ रूपवंत मनि दिपै लिलाटा।४७.४ सभा कँवल जिमि विगसै माँथे बड़ परतापु ४७.९। (५) घट=हृदय [तुल० तस उजियार दिखावै हिया। ५०.७] (६) अवधान=धरोहर। (७) झीन<क्षीण। दिया<दीअअ< दीपक। उजियार<उज्ज्वल। (८) लीप<लिप्=लीपना। (९) उपन<उत्+पत् = उत्पन्न होना।

भए दस मास पूरि भै घरी। पदुमावति कन्या औतरी।
जानहु सुरुज किरिन हुति काढ़ी। सूरुज करा घाटि वह बाढ़ी।
भा निसि माँह दिन क परगासू। सब उजिआर भएउ कबिलासू।
अतें रूप मूरति परगटी। पूनिउँ ससि सो खीन होइ घटी।
घटतहि घटत अमावस भई। दुइ दिन लाज गाड़ि मुइँ गई।
पुनि जौं उठी दुइजि होइ नई। निहकलंक ससि बिधि निरमई।
पदुम गंध बेधा जग बासा। भँवर पतंग भए चहुँ पासा।
अतें रूप भइ कन्या जेहि सरि पूज न कोइ।
धनि सो देस रुपवंता जहाँ जनम अस होइ ॥५१॥

अर्थ-(१) दस महीने हो गए तो [गर्भ की] घड़ी पूरी हुई और पद्मावती कन्या ने अवतार लिया। (२) [वह कन्या जन्म के समय ऐसी लगी] मानो सूर्य की किरण हो जो [इस प्रकार] बाहर की गई हो, बल्कि सूर्य की कला (किरण) भी उससे घट कर और वह उससे बढ़ कर थी। (३) रात्रि में ही [उसके अवतरित होने पर] दिन का [सा] प्रकाश हो गया और समस्त [राजमंदिर] उज्ज्वल (प्रकाशित) होकर कैलास (शिवलोक) हो गया। (४) इतने [अधिक] रूप की मूर्ति [हो कर वह]

प्रकट हुई कि पूर्णिमा का शशि [उससे हार मान कर] क्षीण हो कर घटने लगा। (५) वह शशि इतना घटा कि उसके घटते-घटते अमावास्या [की रात्रि] हो गई और वह शशि दो दिनों (द्वितीया) तक लज्जा से भूमि में गड़ा रहा। (६) [तद-नंतर] जो वह शशि पुनः उत्थित (उदित) हुआ, वह द्वितीया का नया शशि होकर उदित हुआ, जब कि विधाता ने [उसकी उस पराजय की कालिमा को किसी प्रकार दूर कर] निष्कलंक कर दिया था [और वह पुनः मुँह दिखाने के योग्य हो गया था] । (७) उस कन्या की कमल-गंध ने [अपनी] वासना से जगत् को विद्ध कर दिया, और रस और रूप के ऊपर न्यौछावर होने वाले भ्रमर तथा पतिंगे उसके चारों ओर इकट्ठे होने लगे। (८) वह कन्या रूप में इतनी (अधिक) हुई कि जिसकी समानता कोई कर सका। (९) वह रूपवान देश धन्य है जहाँ पर ऐसे (दिव्य रूप) का जन्म होता है।

टिप्पणी—(२) काढ़<कड्ढ<कृष्=खींचना, बाहर निकालना। करा<कला। (३) उजिआर<उज्ज्वल, प्रकाशित। कबिलास<कैलास=शिवलोक। (४) अत<इयत्, इतना=इतना बड़ा, इतना अधिक। पूनिउँ<पूर्णिमा। ससिः<शशि। यह दर्श-नीय है कि जायसी ने 'ससि' को सर्वत्र स्त्रीलिंग में रक्खा है। (७) बास<वासना=सुगंध। भँव्<भ्रम्= चक्कर लगाना। (८) अत<इयत्=इतना, इतना बड़ा, इतना अधिक। पूज<पुज्ज्<पूरय्=पूरा पड़ना।

भइ छठि राति छठी सुख मानी। रहस कोड सों रैनि बिहानी।
भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।
उत्तिम घरी जनम भा तासू। चाँद उवा भुइँ दिपा अकासू।
कन्या रासि उदौ जग किया। पदुमावती नाउँ जिसु दिया।
सूर परस सों भएउ किरीरा। किरिन जामि उपना नग हीरा।
तेहि तें अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा।
सिंघल दीप भएउ अवतारू। जंबू दीप जाइ जम बारू।
रामा आइ अजोध्याँ उपनी लखन बतीसौ संग।
रावन राइ रूप सब भूलै दीपक जैस पतंग ॥५२॥

अर्थ—(१) [जन्म की] छठी रात को सुख मानकर छठी [मनाई गई] और हर्ष तथा कौतुक (खेल-तमाशे) के साथ रात्रि परित्यक्त (व्यतीत) हुई। (२)सवेरा हुआ और समस्त पंडित आए; उन्होंने पुराणों (पुरातन ग्रंथों) को निकाल (खोल) कर [कन्या के] जन्म (जन्म-समय के ग्रह-नक्षत्रादि)का अर्थ लगाया। (३) [उन्होंने कहा] "उसका जन्म उत्तम मुहूर्त्त में हुआ है; वह ऐसा चन्द्रमा है जो भूमि पर उदित हुआ है किन्तु जिस [के उदय] से आकाश (स्वर्ग) [भी] दीप्त (उद्भासित) हुआ है। (४) उसने कन्या राशि में जगत् में उदय किया (अवतार लिया) है जिसे (तुमने) पद्मावती नाम दिया है। (५) [संसार में] सूर्य की स्पर्श-मणि से जब क्रीड़ा हुई, उसकी किरण (के) जन्म ग्रहण करने से हीरा नग उत्पन्न हुआ। (६) किन्तु उस (नूतन) पदार्थ की कला [यों कहिए कि] उस (हीरे) से भी अधिक है, जो कि [इस कन्या के] योग्य [ही] निर्मल रत्न (रत्नसेन) के रूप में उत्पन्न हुआ है। (७) [इस कन्या का]

अवतार [भले ही] सिंहलद्वीप में हुआ है, यह [उसी रत्नसेन की होकर] जम्बू द्वीप में यम-द्वार (मृत्यु) को जाएगी। (८) यह [तो] रामा है, जो आकर अयोध्या में बत्तीस लक्षणों के साथ उत्पन्न हुई है; (९) इसका रागी रमण इसके रूप के वशीभूत होकर उसी प्रकार सब कुछ भूल बैठेगा जैसे दीपक के वशीभूत होकर पतिंगा [सब कुछ भूल बैठता है]।

टिप्पणी--(१) छठि, छठी<षष्ठी। जन्म के छठे दिन नवजात शिशु की छठी मनाई जाती है। रहस<रभस्=हर्ष। कोड<कोड्ड [दे०]=कौतुक। बिहाव्<वि+हा=परित्याग करना। (२) बिहान<विहाण [दे०]=प्रभात, सवेरा। काढ़<कड्ढ>कृष्=खींचना, निकालना। (३) भुइं<भूमि। दिप्<दिप्प्<दीप्=चमकना, उद्भासित होना। (४) उदौ<उदय। (५) परस<स्पर्शमणि=स्पर्श पाषाण, पारस पत्थर। किरीरा>क्रीड़ा। उपन्<उत्+पत्=उत्पन्न होना। (६) पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि। करा<कला। जोग<योग्य। (७) जमबार<यम्-द्वार=मृत्यु। (८) रामा=स्त्री। अयोध्या में उत्पन्न किस स्त्री से कवि का तात्पर्य है, यह ज्ञात नहीं होता है। किन्तु यह रामा सीता नहीं है, यह प्रकट है। लखन<लक्षण : पुरुषों के ३२ लक्षणों के लिए देखए १९३.५ की टिप्पणी; स्त्रियों के बत्तीस लक्षण भिन्न भी हो सकते हैं। (९) रावन<रमण=रमण करने वाला, पति। राइ<रागिन्=प्रेमी।

अही जनम पत्री सो लिखी। दै असीस बहुरे जोतिषी।
पाँच बरिस महँ भई सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी।
भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी।
सिंघल दीप राज घर बारी। महा सुरूप दैयँ औतारी।
एक पदुमिनि औ पंडित पढ़ी। दहुँ केहि जोग दैयँ असि गढ़ी।
जाकहँ लिखी लच्छि घर होनी। असि सो पाव पढ़ी औ लोनी।
सत्त दीप के बर जो ओनाहीं। उतर न पावहिं फिरि फिरि जाहीं।
राजा कहै गरब कै हौं रे इंद्र सिवलोक।
को सरि मोसों पावै कासों करौं बरोक॥ ५३॥

अर्थ--(१) [जैसी कुछ] पद्मावती की जन्म-पत्रिका थी वह उन्होंने लिखी और [तदनंतर] आशीर्वाद देकर ज्योतिषी वापस हुए। (२) पाँच वर्षों में जब वह बालिका हो गई, उसे पुराण (पुरातन ज्ञान) पढ़ने के लिए बिठा दिया गया। (३) पद्मावती पंडिता और गुणवती हो गई और यह [बात] चारों खंडों के राजाओं ने सुनी (४) कि सिंहल द्वीप के राजा के घर की बालिका को दैव ने महासुरूप अवतरित किया है। (५) [वे सोचने लगे,] "एक तो वह पद्मिनी है, दूसरे पंडिता और पढ़ी हुई है; पता नहीं किस वर के योग्य दैव ने ऐसी कन्या का निर्माण किया है। (६) जिसके भाग्यमें घर में लक्ष्मी का होना (आना) लिखा होगा, वही ऐसी पढ़ी हुई और लावण्यवती को प्राप्त करेगा।" (७) पद्मावती के रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर सातों द्वीपों के वर आते थे, किन्तु कोई उत्तर न पाकर वे वापस चले जाते थे। (८) राजा

(गंधर्वसेन) गर्व करके कहता, "मैं शिव लोक का इन्द्र हूँ। (९) कौन मुझ से समानता पा सकता है, और मैं किस से [अपनी कन्या का] बरिच्छा करूँ?"

टिप्पणी—(१) असीस<आशिष्। बहुर<बाहुड<व्याघुट् =वापस होना। (२), (४) बारी<बालिका। (५) पदुमिनी<पद्मिनी, जिसके लक्षण जायसी ने आगे छंद ४६६ में दिए हैं। (६) लच्छि<लक्ष्मी। लोनी<लवण+इका=लावण्यवती। (७) ओनाय्=सुनना, सुनकर आना। (९) सरि=सादृश्य, तुल्यता। बरोक<वर्+औत्क्य=बरिच्छा, फलदान।

बारह बरिस माँह भइ रानी। राजैं सुना सँजोग सयानी।
सात खंड धौराहर तासू। पदुमिनि कहँ सो दीन्ह नेवासू।
औ दीन्हीं संग सखी सहेली। जो संग करहिं रहस रस केली।
सबै नवल पिय संग न सोईं। कँवल पास जनु बिगसहिं कोईं।
सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पंडित हीरामनि नाऊँ।
दैयँ दीन्ह पंखिहि असि जोती। नैन रतन मुख मानिक मोंती।
कंचन बरन सुआ अति लोना। मानहु मिला सोहागहि सोना।
रहहिं एक सँग दोउ पढ़हिं सास्तर बेद।
ब्रम्हा सीस डोलावहिं सुनत लाग तस भेद॥ ५४॥

अर्थ—(१) [जब] रानी (पद्मावती) ने बारहवें वर्ष में पदार्पण किया, और राजा ने सुना कि वह संयोग (विवाह) के योग्य सयानी हो गई है, (२) उसका [एक] सात खंडों का धवल गृह (प्रासाद) था, उस निवास (भवन) को पद्मावती को [रहने के लिए] दिया, (३) और उसे उसने सखियाँ-सहेलियाँ भी दीं जो उसके साथ हर्ष और सुख की केलियाँ करती थीं। (४) वे सभी नवलाएँ (नव वयस्काएँ) थीं, पिय (पति) के साथ सोईं न थीं, और वे पद्मावती के पास ऐसी लगती थीं मानो कमल (कमलिनी) के पास कुमुदिनियाँ विकसित हो रही हों। (५) पद्मावती के उस स्थान पर एक शुक [भी रहता] था, वह महापंडित था और हीरामणि उसका नाम था। (६) दैव ने [पुनः] उस पक्षी को ऐसी ज्योति दी थी कि उसके नेत्रों में रक्त और मुख में माणिक्य-मुक्ता रहते थे; (७) वह कंचनवर्ण का शुक अत्यधिक लावण्यपूर्ण था; [उसमें पांडित्य के साथ-साथ इस प्रकार का लावण्य होना ऐसा ही था] मानो सोने में सुहागा मिल गया हो। (८) दोनों एक साथ रहते थे और वेद-शास्त्र पढ़ते थे। (९) और उनकी उस शास्त्र-चर्चा को सुनने से वह भेद (औरों से भिन्न अनुभव) लगता (प्राप्त होता था) कि ब्रह्मा भी [सर हिलाने लगते।]

टिप्पणी—(१) सयानी<सआण+इका<सज्ञान+इका। (२) सात खंड=सप्त भूमिक, सात मंज़िलों का। धौराहर<धवलगृह=प्रासाद। (३) रहस<रभस्=हर्ष। (४) कोईं<कुमुदिनी। (५) सुआ शुक=सुग्गा, तोता। (७) लोन<लवण=लावण्यपूर्ण।

भइ ओनंत पदुमावति बारी। धज धोरैं सब करी सँवारी।
जग बेधा तेइँ अंग सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा।

बेनी नाग मलैगिरि पीठी । ससि माँथे होइ दुइजि बईठी ।
भौंहैं धनुक साँधि सर फेरी । नैन कुरँगिनि भूलि जनु हेरी ।
नासिक कीर कँवल मुख सोहा । पदुमिनि रूप देखि जग मोहा ।
मानिक अधर दसन जनु हीरा । हिअ हुलसै कुच कनक जँभीरा ।
केहरि लंक गवन गज हरे । सुर नर देखि माथ भुइँ धरे ।
जग कोइ दिस्टि न आवै आछहिं नैन अकास ।
जोगी जती सन्यासी तप साधहिं तेहि आस ॥ ५५ ॥

अर्थ--(१) पद्मावती रूपिणी वाटिका उन्नमित हुई, क्योंकि उसके धज (तनों) और धोरों (शाखाओं) ने (पद्मावती पक्ष में--उसके तन और विभिन्न अंग-प्रत्यंग ने) कलियाँ सजा लीं (पद्मावती पक्ष में--यौवन का लावण्य प्रस्फुटित किया)। (२) उस (पद्मिनी) के अंगों की सुवास से जगत् विद्ध हो गया, और भ्रमर आ-आकर उसके चारों ओर लुब्ध हो [फिरने लग] गए। (३) उसकी मलयगिरि (सदृश) पीठ पर नाग के रूप में उसकी वेणी (आबैठी), और द्वितीया के शशि के रूप में शशि उसके मस्तक पर आकर बैठा। (४) उसकी भौंहें धनुप हो गईं, जिन पर वह [कटाक्ष के] वाण रख कर उन्हें फेरने लगी; उसके नेत्र कुरंगिनी के नेत्र हो गए, जैसे भ्रमित हो कर देख रही हो। (५) नासिका के रूप में शुक उसके कमल-मुख पर शोभित हुआ, [फलतः] ऐसी पद्मिनी का रूप देख कर संसार उस पर मोहित हो उठा। (६) उसके अधर मानो माणिक्य थे, दाँत मानो हीरे थे और उसके हृदय पर उसके कुच इस प्रकार उल्लसित हो रहे थे मानों सोने के जँभीर हों। (७) उस ने केसरी की कटि तथा गजों की गति हरण कर ली; (यह सब) देख कर देवताओं और मनुष्यों ने उसके सम्मुख अपने मस्तक भूमि पर टेक दिए। (८) जगत् में तो कोई (उसके समान) दृष्टि न आता था, इसलिए लोगों की दृष्टि आकाश पर जा लगी थी, (९) योगी, यती और संन्यासी उसी आशा में [आकाश की ओर दृष्टि लगाए] तप साधने लगे।

टिप्पणी--(१) ओनंत<उन्नमित=झुकी हुई। बारी<वाडिआ=वाटिका। धज ध्वज=शरीर, तना। धोर<धुर=अग्रभाग, शाखाएँ। (३) दुइजि=द्वितीया। (४) भौंह=भ्रू। साँध्<सं+धा=जोड़ना, वाण को धनुष पर रखना। (६) हुलस्=उल्लस्=उल्लसित होना। जँभीर=एक प्रकार का बड़ा नीबू। (७) केहरि<केसरिन्=सिंह। (८) आछ्<अस्=होना। (८-९) दोहे की पंक्तियों में जायसी ने सांकेतिक रूप में समस्त साधनाओं का लक्ष्य ईश्वर के सौन्दर्य का साक्षात्कार करना बताया है।

राजैं सुना दिस्टि भइ आना । बुधि जो देइ सँग सुआ सयाना ।
भएउ रजाएसु मारहु सुआ । सूर सुनाव चाँद जहँ उआ ।
सतुरु सुआ के नाऊ बारी । सुनि धाए जस धाव मँजारी ।
तब लगि रानी सुआ छपावा । जब लगि आइ मँजारिन्ह पावा ।
पिता क आएसु माँथे मोरे । कहहु जाइ विनवै कर जोरे ।
पंखि न कोई होइ सुजानू । जानै भुगुति कि जान उड़ानू ।
सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना । तेहि कत बुधि जेहि हिएँ न नैना ।

मानिक मोति देखावहु हिएँ न ग्यान करेइ ।
दारिवँ दाख जानि कै अवहिं ठोर भरि लेइ ॥ ५६ ॥

अर्थ--(१) राजा की दृष्टि अन्य हो गई, जब उसने सुना कि उसके साथ रहकर वह चतुर शुक उसको बुद्धि (मंत्रणा) दे रहा था। (२) इसलिए राजाज्ञा हुई, "सुए को मार डालो, अन्यथा जहाँ चन्द्रमा (प्रेमिका) का उदय हुआ है, वहाँ वह सूर्य (प्रेमी) को भी सुनावेगा।" (३) नाई-वारी जो सूए के शत्रु थे [क्योंकि वह पद्मावती का मुँह-लगा हो गया था] यह (राजाज्ञा) सुनते ही इस प्रकार दौड़ पड़े जैसे बिल्ली । (४) किन्तु रानी (पद्मावती) ने [जब उसे इस राजाज्ञा की सूचना मिली] उस सूए को [तब तक] छिपाए रक्खा जबतक इन बिल्लियों को वह मिल सकता, (५) [और उनसे उसने कहा,) "पिता का आदेश मेरे मस्तक पर है (उसको मैं सिर पर लेती हूँ), किन्तु इतना जाकर कहो कि [तुम्हारी पुत्री] हाथ जोड़ कर यह निवेदन करती है (६) कि कोई भी पक्षी ज्ञानवान नहीं होता है, वह या तो भोजन जानता है, या उड़ना; (७) सूआ जो-कुछ पढ़ता है, वह (अपनी बुद्धि से नहीं पढ़ता) दूसरों के पढ़ाए वचन ही पढ़ता है; उसे क्या बुद्धि हो सकती है जिसके हृदय में नेत्र (ज्ञान-नेत्र) न हों? (८) [और इसका प्रमाण यह है कि सूए को] माणिक्य-मोती दिखाओ, तो हृदय में वह उनकी वास्तविकता का ज्ञान न करेगा (९) और उन्हें दाडिम और द्राक्षा जान कर अभी अपनी चोंच में भर लेगा।

टिप्पणी--(१) आन<अण्ण<अन्य। सयान<सआण=सज्ञान । (२) रजाएसु< राजादेश=राजाज्ञा। सूर--चाँद : सर्वत्र जायसी ने सूर्य-चन्द्र को प्रेमी-प्रेमिका के प्रतीक के रूप में रक्खा है। (३) नाऊ, बारी : ये अवधी-क्षेत्र में गृह कार्य में सेवा करने वाली जातियाँ हैं। मँजारी<मार्जारी=बिल्ली। (५) आएसु<आदेश=आज्ञा । (६) पंखि<पक्षिन्। सुजान=सु+ज्ञान=सयाना, अच्छा जानकार। (७) बैन<वयण =वचन। हिअ<हृदय। (९) दाडिम=अनार के दाने । दाख <द्राक्षा = अंगूर के दाने। ठोर [दे०]=चञ्चु, चोंच ।

वै तौ फिरे उतर अस पावा । बिनवा सुअैं हिएँ डरु खावा ।
रानी तुम्ह जुग जुग सुख आऊ । हौं अब बनोबास कहँ जाऊँ ।
मोंतिहि जौं मलीन होइ करा । पुनि सो पानि कहाँ निरमरा ।
ठाकुर अंत चहै जौं मारा । तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा ।
जेहि घर काल मँजारी नाचा । पंखी नाउँ जीउ नहि बाँचा ।
मैं तुम्ह राज बहुत सुख देखा । जौं पूँछहु दै जाइ न लेखा ।
जो इंछा मन कीन्ह सो जेंवा । भा पछताउ चलेउँ बिनु सेवा ।
मारै ,सोइ निसोगा ,डरै न अपने दोस ।
केला केलि कर का जौं भा बरी परोस ॥ ५७ ॥

अर्थ--(१) वे (हीरामणि को मारने के लिए आए हुए राज-सेवक) तो लौट गए जब उन्होंने (पद्मावती का) इस प्रकार का उत्तर पाया, किन्तु [इस घटना से] डर खाकर सुए ने (पद्मावती से) बिनती की; (२) "हे रानी, तुम्हारी युग-युगान्तर की

सुखपूर्ण आयु हो ! [मुझे आज्ञा हो कि] मैं अब वनवास के लिए जाऊँ (निकलूँ), (३) क्योंकि मोती की कला यदि मलिन हो गई (मेरे उज्ज्वल चरित्र के संबंध में संदेह किया गया) तो पुनः उस मोती का पानी कहाँ निर्मल हो सकता है (मेरे संबंध का सन्देह कैसे दूर हो सकता है) ? (४) यदि स्वामी अंततः मारना ही चाहे, तो सेवक का उससे उबार (बचाव) कहाँ संभव है ? (५) जिस [पक्षी] के घर में काल रूपी मार्जारी नाचती (फिरती) हो, वह पक्षी नाम (प्राणधारी) का जीव नहीं बच सकता है। (६) मैंने तुम्हारे राज्य (तुम्हारी छत्रछाया) में बहुत सुख देखा है, [और इतना अधिक देखा है कि] यदि तुम पूछो तो उसका विवरण नहीं दिया जा सकता है। (७) मैंने मन में जो [जिस पदार्थ की] इच्छा की, उसे खाया। पछतावा यह हो रहा है कि मैं बिना सेवा [किए] जा रहा हूँ। (८) जो मारता है, वह निष्ठुर होता है; वह अपने उस दोष के लिए [ईश्वर से] डरता नहीं है, (९) और यदि [बैरी के रूप में] बैर का पड़ोस हो तो केला क्या केलि कर सकता है (यदि मेरे प्रति इस प्रकार का दुर्भाव राजा के मन में बना रहा और राज-सेवक मेरे प्राणों के पीछे पड़े ही रहे, तो मैं सुख से क्या रह सकता हूँ ?)

टिप्पणी--(२) आऊ<आयु। (३) करा<कला=कान्ति। पानी<पानीय= कान्ति। (४) ठाकुर<ठक्कुर [दे०] = स्वामी। (५) मँजारी<मार्जारी। (७) जेंव्<जिम् [दे०]=जीमना, खाना। पछताउ<पश्चात्ताप। (८) निसोग>णिस्सूग< निःशूक=निष्करुण, निष्ठुर। (९) केला>केल>कदल। बैरि [१] बइर<बदर=बेर का वृक्ष [२]<वैरिन्=बैरी।

रानी उतर दीन्ह कै मया। जौं जिउ जाइ रहै किमि कया।
हीरामनि तूँ प्रान परेवा। घोख न लाग करत तेहि सेवा।
तोहि सेवा बिछुरन नहि आखौं। पींजर हिए घालि तोहिं राखौं।
हौं मानुस तूँ पंखि पिआरा। धरम पिरीति तहाँ को मारा।
का सो प्रीति तन माहँ बिदाई। सोइ प्रीति जिअ साथ जो जाई।
प्रीति भार लै हिएँ न सोचू। ओहिं पंथ भल होइ कि पोचू।
प्रीति पहार भार जौं काँधा। सो कस छूट लाइ जिअ बाँधा।
सुआ न रहै खुरुक जिअ अबहिं काल सो आउ।
सतुरु अहै जो करिआ कबहुँ सो बौरै नाउ ॥ ५८ ॥

अर्थ--(१) रानी (पद्मावती) ने मया (स्नेहपूर्ण कृपा) करके उत्तर दिया,"यदि जीव चला गया, तो काया किस प्रकार रह सकती है (यदि तुम चले गए तो मैं कैसे जीवित रहूँगी) ? (२) ऐ हीरामणि, तू मेरा प्राण-पक्षी है, मेरी सेवा करने में तुझ से धोखा नहीं लगा (हुआ) है, (३) इसलिए तुझे अपनी सेवा से अलग होने के लिए मैं नहीं कह सकती; मैं तुझे [तेरे प्राणों की रक्षा के लिए] अपने हृदय के पिंजड़े में डाल कर रक्खूँगी। (४) मैं मनुष्य हूँ और तू मेरा स्नेह-भाजन पक्षी है; मुझ में और तुझ में जो प्रीति है, वह धर्म-प्रीति है, इसलिए तुझे कौन मार सकता है ? (५) वह प्रीति ही क्या है जिसकी विदाई शरीर रहते हो जाए ? प्रीति तो वह है जो जीव के साथ-साथ (पर-

लोक तक) जाए। (६) प्रीति का भार कंधों पर लेने के बाद हृदय में यह सोच नहीं होता है कि उस (प्रीति के) मार्ग में भला होगा या बुरा। (७) एक बार प्रीति का वह पर्वत (तुल्य भार) जब कंधों पर ले लिया तो वह भार कैसे छूट सकता है जो प्राणों से लगा कर बाँध दिया गया है (जो प्राणों के साथ ही दूर हो सकता है)?" (८) फिर भी, सूआ वहाँ बने रहने के लिए तैयार नहीं हुआ, क्योंकि उसके जी में यह खटका बना हुआ था कि वह काल अभी--किसी भी समय--आ सकता था; (९) वह सोचने लगा, "यदि कर्णधार शत्रु है, तो कभी भी वह नौका को डुबा सकता है।"

टिप्पणी--(१) उतर<उत्तर। मया<माया=स्नेहपूर्ण कृपा। जौं<जउ<यदि। (२) परेवा<पारावत=कबूतर, किन्तु यहाँ 'पक्षी' मात्र। (३) बिछुर<विच्छुड् [दे०]=अलग होना। आख्<आक्खा+आख्या=कहना। (४) मानुस<मानुष= मनुष्य। पंखि<पक्षिन्=पक्षी, चिड़िया। पिआर<प्रियालु। (५) बिदाई<विदाअ [अ०]=प्रस्थान। (६) पोच<पोच्च [दे०]=असार, मलिन, बुरा। (७) काँध्= कंधे पर लेना। (८) खुरुक<खुडुक्क [दे०]=खटका, काँटे की भाँति चुभ कर पीड़ा देने वाली वस्तु। (९) करिआ<करिअ=पतवार पकड़ने वाला। नाव<नौका।

इस छंद की अर्द्धाली ५-७ में जायसी ने प्रेम-धर्म का संक्षेप में उल्लेख किया है।

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।
पदुमावति सब सखीं बोलाईं। जनु फुलवारि सबै चलि आईं।
कोइ चंपा कोइ कुंद सहेली। कोइ सुकेत करना रस बेली।
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन बिहँसाती।
कोइ सु बोलसरि पुहुपावती। कोइ जाही जूही सेवती।
कोई सोनजरद जेउँ केसरि। कोइ सिंगारहार नागेसरि।
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोई कदम सुरस रस बेली।

चलीं सबै मालति सँग फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप बास परिमलामोद॥५६॥

अर्थ-(१) एक दिवस कोई (पर्व की) तिथि आई, और पद्मावती मानसरोदक में स्नान करने के लिए चल पड़ी। (२) उसने अपनी समस्त सखियों को बुलाया, और वे सब की सब इस प्रकार आ गईं मानो [कोई] पुष्प-वाटिका ही आ गई हो। (३) कोई सहेली चंपक थी, कोई कुंद थी, कोई केत (केवड़ा) थी, कोई रस-वल्ली करना थी, (४) कोई गुल्लाला थी, कोई सुदर्शन के समान सुंदर (मनोरम) थी, कोई बकावली थी, कोई विहसती हुई मुचुकुन्द, (५) कोई मौलिश्री थी, कोई पुष्पावती, कोई जाही थी, कोई जूही थी, और कोई सेवती थी, (६) कोई केसर जैसी सोनजर्द थी, कोई श्रृंगारहार, और कोई नागकेसर, (७) कोई कूजा थी, कोई सदवर्ग, कोई चमेली, कोई कदम्ब, और कोई सुरस रसबेलि थी। (८) वे सभी जब मालती (पद्मावती) के साथ चल पड़ीं, तो ऐसा लगा कि कमलिनी (पद्मावती) और कुमुदिनियाँ (सहेलियाँ) फूल उठी हों। (९) उनके वास, परिमल और आमोद से गन्धर्व-गण बिद्ध हो रहे।

टिप्पणी--(१) तिथि=किसी पर्व की तिथि, कोई 'तीज-त्यौहार'। मानसरोदक=

मानसरोवर का जल, किन्तु यहाँ अभिप्राय 'मानसरोवर के से जल वाला सरोवर' से ज्ञात होता है। (२) फुलवारि<फुल्ल+वाडिआ<पुष्पवाटिका । (३) चंपा=चंपक< एक पीला सुगंधयुक्त पुष्प । कुंद=हल्के रंग का एक श्वेत पुष्प । केत<केतक=केवड़ा, पीलापन लिए श्वेत एक बड़ा पुष्प। करना<कर्णक=एक छोटा श्वेत पुष्प । रसवेली< रस+वल्ली=आनंद की वल्लरी । (४) गुलाल<गुलेलाल=एक गहरा लाल फूल । सुदरसन=एक श्वेत पुष्प । रात<रत्त<रक्त=सुंदर, मनोरम । बकौरि< बकावलि=बक पुष्प । बकचुन<मुचुकुन्द (?)।(५) बोलसरि<मौलश्री=एक प्रसिद्ध छोटा पुष्प । पुहपावती<पुष्पावती=एक प्रकार का फूल । जाही<जाति=एक प्रकार की चमेली । जही<यूथिका=एक प्रकार की चमेली । सेवती<शतपत्रिका=एक प्रकार का गुलाब । (६) सोनजरद<सोनजर्द=एक प्रकार का पीला फूल । केसरि= कुंकुम । सिंगारहार=हरश्रृंगार नाम का प्रसिद्ध पुष्प । नागेसरि<नागकेसर । (७) कूजा<कुज्जय<कुब्जक=गुलाब की जाति का एक फूल । सदबरग=एक प्रकार का बड़ा फूल । चंबेली<चम्पक-मल्लिका (?)=एक प्रसिद्ध पुष्प । कदम<कदम्ब=हल्के नारंगी रंग का एक सुगंध युक्त पुष्प । रसबेली=बेला नाम का प्रसिद्ध पुष्प । (८) मालति=पुष्प-विशेष, कलिका, कुमारी । कँवल<कमल=कमलिनी । कमोद< कुमुद=कुमुदिनी । (९) गंधप<गन्धर्व । वास=वासना, हल्की सुगंध । परिमल= भीनी सुगंध । आमोद=कड़ी सुगंध ।

जायसी ने सिंहल की नारियों के संबंध में प्रायः कहा है कि उनके शरीर से विभिन्न प्रकार के पुष्पों की सुगंध निकलती थी : पदमावती के शरीर से कमल की तथा शेष के शरीरों से अन्य प्रकार के पुष्पों की । यही भाव उन्होंने यहाँ पर प्रकाशित किया है । [तुल० जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी । तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी ।९५.४]

खेलत मानसरोवर गईं । जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं ।
देखि सरोवर रहसहिं केली । पदुमावति सौं कहहिं सहेलीं ।
ऐ रानी मन देखु बिचारी । एहि नैहर रहना दिन चारी ।
जौं लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जौं खेलहु आजू ।
पुनि सासुर हम गौनब काली । कित हम कित एह सरवर पाली ।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ । कित मिलिकै खेलब एक साथाँ ।
सासु ननँद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारुन ससुर न आवै देहीं ।
पिउ पिआर सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ काह ।
दहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जरम निबाह ॥ ६० ॥

अर्थ--(१) वे खेलती हुई मानसरोवर को गईं, और जाकर उसकी पाली पर खड़ी हुईं । (२) सरोवर को देख कर वे जब केलि में आनन्द लेने लगीं, पद्मावती से उसकी [कुछ] सखियाँ कहने लगीं, (३) "ऐ रानी, [अपने] मन में विचार कर देखो, इस पितृगृह में चार (गिनती के थोड़े से) दिन रहना है, (४) इसलिए जब तक [तुम्हारे ऊपर] पिता का राज्य (उसकी छत्र छाया) है, यदि तुम खेल रही हो तो [जी भर कर] खेल लो (५) तदनंतर हम कल श्वसुर गृह जाएँगी, और

कहाँ हम होंगी और कहाँ यह सरोवर की पाली होगी ? (६) पुनः [यहाँ] आना भी कहाँ अपने हाथ (वश) में होगा, और कहाँ एक साथ हम सब का मिलकर खेलना (संभव) होगा ? (७) [श्वसुर-गृह में] सास और ननदें [व्यंग्यपूर्ण] वचनों से हमारे प्राण ले लेंगी और दारुण (निष्ठुर) हमें श्वसुर [यहाँ] आने न देंगे। (८) और जो प्यारा पति होगा, जो हमारे लिए सब से अधिक मान्य होगा, वह पता नहीं क्या करेगा, (९) पता नहीं वह हमें सुखपूर्वक रक्खेगा या दुःख-पूर्वक और पता नहीं किस प्रकार जन्म (जीवन) का निर्वाह होगा ।

टिप्पणी--(१) मानसरोवर : छंद ३१ तथा ५९ में सरोवर का नाम 'मानसरोदक' है जब कि यहाँ 'मानसरोवर' : दोनों नाम पर्याय रूप से प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। पालि<पाली=[दे०] सरोवर के किनारे का बाँध। ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा। (२) रहस्<रभस्=हर्ष। (३) नैहर<णाइहर<ज्ञाति+गृह=माता-पिता का घर। (५) सासुर=श्वशुर-गृह। कालि<कल्ल<कल्य=कल। कित<कुत्र=कहाँ। (७) सासु<श्वश्रु। ननँद<णणंदा<ननान्दृ=पति की बहिन। (८) पिआर<प्रियालु। (९) जरम<जन्म=जीवन।

अर्द्धाली ३ से ९ तक कवि ने सांकेतिक शैली में इस लोक और परलोक के संबंध में स्थूल रूप से कुछ इस आशय के कथन किए हैं कि यह लोक नैहर है और परलोक सासुर। बालाएँ जीवात्माएँ हैं। इस लोक में पुनरागमन अपने बस की बात नहीं है। 'प्रिय' (पति) परमात्मा है। उक्ति के शेष विस्तारों के अध्यात्म-परक अर्थ क़दाचित् कवि-द्वारा अभिप्रेत नहीं हैं।

सरवर तीर पदुमिनीं आईं। खोंपा छोरि केस मोकराईं।
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरघानी।
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा।
भूलि चकोर दिस्टि तहँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौंहैं धनुक गगन लै राखी।
नैन खँजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारँग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप बिमोहा हिएँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावौं तेहि मिसु लहरैं देइ ॥ ६१ ॥

अर्थ--(१) वे पद्मिनियाँ [तदनंतर] सरोवर के तट पर आ गईं और अपने बँधे हुए खोंपों को खोल कर उन्होंने केशों को मुक्त किया। (२) रानी (पद्मावती) के शशि [सदृश] मुख और मलय गिरि (चंदन) [सदृश] शरीर को उन केशों ने इस प्रकार आच्छादित कर लिया मानो नाग उन्हें ढँक कर सुगन्ध ले रहे हों। (३) [उन केशों के उसके मुख पर आ जाने से उस समय ऐसा प्रतीत हुआ] मानो मेघ आकाश में उन्नमित हो आए हों और [समस्त] संसार पर [उनकी] छाया पड़ रही हो, अथवा मानो चन्द्रमा ने राहु की शरण ली हो (चन्द्र ग्रहण हुआ हो)। (४) दिन रहते ही सूर्यदेव की (उन्नत) दशा छिप गई, और रात तथा नक्षत्रों (तारागण) को लेकर [आकाश

में] चन्द्रमा प्रकाशित हो गया। (५) चकोर ने भ्रमित होकर उधर (पद्मिनी के मुख की ओर) [अपनी] दृष्टि लगाई, और मेघ घटा (केशों) में उसे [यह] चन्द्रमा (चन्द्र-मुख) दिखाई पड़ा। (६) वह दामिनी के से दाँतों वाली और कोकिल के से बोल वाली थी, और उसने गगन से धनुष लेकर उसकी भौंहें कर रक्खीं थीं। (७) उसके दोनों नेत्र ऐसे खंजन थे जो केलि कर रहे थे। उसके कुच नारंग थे, जिनका रस मधुकर (कुच-मुख) ले रहे थे। (८) सरोवर उसके उस रूप पर विमुग्ध होकर हृदय में हिल्लोल कर रहा था, और (९) 'भले ही पाँव भर छूने पाऊँ', इस बहाने से वह लहरें दे रहा था (लहरों को उसकी ओर प्रेरित कर रहा था।)

टिप्पणी--(१) खोंपा=बालों का जूड़ा। मोकर्<मुच्=मुक्त करना, खोलना। (२) झांप<झम्प् [दे०]=आच्छादित करना। (३) राह<राहु। (८) हिलोर<हिल्लोल।

अर्द्धाली ३-५ में कवि ने पद्मावती के सौन्दर्य का ऐसा अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है कि उसमें रहस्यात्मकता प्रतीत होती है। रचना में अन्यत्र भी जायसी ने इस शैली का प्रयोग किया है।

धरीं तीर सब छीपक सारीं। सरवर महँ पैठीं सब बारीं।
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं कास कै केलीं।
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरीं।
करिल केस बिसहर बिस भरे। लहरैं लेंहि कँवल मुख धरे।
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम कै साखा।
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा।
धनि सो नीर ससि तरईं उईं। अबकहँ दिस्टि कँवल औ कुईं।
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दोसर जल माँह॥ ६२॥

अर्थ—(१) उन समस्त [सुंदरियों] ने अपनी छीपक साड़ियाँ [सरोवर के] किनारे रख दीं, और तदनंतर वे सभी बालिकाएँ [स्नान करने के लिए] सरोवर में प्रविष्ट हुईं (२) सरोवर में वे ऐसी लगने लगीं मानों वे सभी वल्लरियाँ हों जो जल पाने से उल्लसित हो कर काम-केलि कर रही हों, (३) और नवल वसंत में वे वल्लरियाँ [निकलते हुए उरोजों के रूप में निकली हुई] कलिकाओं से अपना संभार कर रही हों जो प्रकट होकर रस से भरना चाहती हों। (४) उनके काले केश विष से पूरित विषधर थे जो [उनके मुखों को घेरे हुए ऐसे लग रहे थे] जैसे कमल को मुख में लिए हुए लहरें ले रहे हों। (५) (अपने रक्त अधरों से) वे ऐसी लगती थीं मानों दाडिम और द्राक्षा कोंपलों से लद गए हों और [इसलिए] उनकी प्रेम-स्निग्ध शाखाएँ उन्नमित हो रही हों। (६) सरोवर फूल कर अपने संसार (अपनी सीमाओं) में समा नहीं रहा था क्योंकि उसके जल में चन्द्रमा स्नान करने के लिए तारागणों को लिए हुए प्रविष्ट हुआ था। (७) सरोवर का वह जल भी धन्य [हो रहा] था जिसमें यह चन्द्रमा और तारागण उदित हुए थे, [इसलिए] अब कमल और कुमुद कहाँ दृष्टि में आते? (८) पद्मिनी को

उस सरोवर में स्नान करते देख कर उसके मुख के संबंध में चकवी को चन्द्रमा का भ्रम हुआ और वह चकवे से अलग हो कर पुकारने लगी, "हे नाथ अब तुम से मिलना कहाँ [संभव] होगा, (९) जबकि एक चन्द्रमा रात्रि में स्वर्ग (आकाश) में उदित होता है और दूसरा दिन में भी जल में (उदित होने लगा) है ?"

टिप्पणी--(१) छीपक<छिम्पक=छापेकी। बारी<बालिका। (२) बेली<बेली [दे०]=लता। हुलस्<उल्लस्=हर्षित होना। (३) करी<कलिका। (४) करिल<करिल्ल [दे०]=काला। बिसहर<विषधर=सर्प। (५) कोंप<कुंपल<कुड्मल=नए पत्ते। दारिवँ<दाडिम। दाख<द्राक्षा। ओनंत<उन्नमित=झुकी हुई। (७) तरई<तारिका। कुईं<कुमुदिनी। (८) बिच्छुर्<विच्छुड् [दे०]=अलग होना। नाह<नाथ=स्वामी। (९) सरग<स्वर्ग=आकाश।

लागीं केलि करै मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा।
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी।
बाद मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा।
सँवरिहि साँवरि गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी।
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराएँ हाथा।
आजुहि खेल बहुरि कित होई। खेल गएँ कत खेलै कोई।
धनि सो खेल खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा।
मुहमद बारि परेम की जेउँ भावै तेउँ खेलु।
तीलहि फूलहि संग जेउँ होइ फुलाएल तेल ॥ ६३ ॥

अर्थ--(१) वे [सुंदरियाँ] जल में जब केलि करने लगीं, [विवेकी] हंस [सरोवर के] तीर पर जा कर लज्जित हो कर बैठ रहे। (२) उन सुंदरियों ने कहा "हम [इस समय] एक कौतुक (का आयोजन) करें और उसमें हे शशि, तुम [हम सब] तारागण की साक्षी होओ।" (३) [तदनंतर] उन्होंने बाज़ी लगा कर खेल का प्रसार किया, और यह निश्चय किया कि जो खेलते हुए हार जाए वह अपना हार दे। (४) साँवरी ने साँवरी को और गोरी ने गोरी को अपनी-अपनी जोड़ी (के रूप में) लिया, (५) और आपस में उन्होंने कहा, "समझ-बूझ कर एक-साथ ऐसा खेलो कि हार दूसरे के हाथ में न जाए। (६) खेल आज ही भर है, पुनः खेल कहाँ होगा; खेल के समाप्त होने पर कहाँ कौन खेलेगा ? (७) वह खेल धन्य है जो प्रेमरस में खेला जाए; अन्यथा रावतपना (बड़प्पन का भाव) और कुशल-क्षेम--दोनों एक साथ कब संभव हुए हैं ? (८) मुहम्मद जायसी कहते हैं, प्रेम की ही बारी (बाज़ी) ऐसी होती है कि उसे जिस प्रकार से खेलना चाहो खेल लो [और फिर भी उसका परिणाम मधुर होगा]: (९) तिल और फूल के संग (पारस्परिक सहयोग) से तेल फुलेल [अवश्य ही] होता है।

टिप्पणी--(१) मँझ<मध्य=में। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा : 'हंस' में अस्फुट संकेत कदाचित् कवि ने अपनी ओर किया है : वह स्नान कर रही युवतियों के नखशिख वर्णन में उरोजों के नीचे नहीं आता है और उस नख-शिख वर्णन से विरत हो जाता

है। (२) तराई<तारिका । साखी<सक्खि<साक्षिन् । (३) बाद<वाद=बाज़ी । पसार<प्रसारय्=फैलाना । (७) रौताई<राजपुत्रता=रावतपन, बड़प्पन का भाव । खेम<क्षेम। (८) बारि<वेला=खेल में बारी, दाँव, अवसर। (९) फुलाएल<फुल्ल+तैल=फुलेल ।

सांकेतिल शैली में इस छंद में कवि मर्त्यलोक में अवतरित हो कर जीवन का इस प्रकार सदुपयोग करने के लिए संदेश देता है कि पीछे पछताना न पड़े ; वह संसार में सब से मिल कर रहने और चलने की सम्मति देता है, जो कि पारस्परिक प्रेम से ही संभव हो सकता है, और उसका कहना है कि इस प्रकार प्रेम पूर्वक चलने में लाभ ही हो सकता है, हानि की संभावना नहीं हो सकती है ।

सखी एक तेइँ खेल न जाना । चित अचेत भइ हार गँवाना ।
कँवल डार गहि भै बेकरारा । कासों पुकारौं आपन हारा ।
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ । हार गँवाइ चलिउँ सैं हाथाँ ।
घर पैठत पूँछब एहि हारू । कौनु उतर पाउबि पैसारू ।
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे । जानहु मोंति गिरहिं सब ढरे ।
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला । कौनु पानि जेहि पौनु न मिला ।
हारु गँवाइ सो ऐसेहिं रोवा । हेंरि हेराइ लेहु जौं खोवा ।
लागी सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ ।
कोई उठी मोंति लै घोंघा काहू हाथ ।। ६४ ।।

अर्थ--(१) [पद्मावती की] एक सखी थी, उसने खेल को न जाना (समझा) था; वह चित्त से अचेत हुई जब उसका हार खो गया। (२) वह कमल की डाल पकड़ कर बेक़रार (अशांत) हो गई [और कहने लगी] "किससे अपनी हार पुकार कर कहूँ? (३) मैं इस सार्थ (टोली, समूह) में कहाँ खेलने आ गई कि अपने हाथ से हार गँवा कर चली। (४) घर में घुसते ही इस हार के बारे में मुझ से प्रश्न किया जाएगा, तब वह कौन-सा उत्तर होगा जिस पर मैं उसमें प्रवेश पाऊँगी ?" (५) उसके सीप जैसे नेत्रों में आँसू इस प्रकार भर आए मानो वे मोती हों और सब ढुलक कर गिर ही पड़ते हों। (६) उसकी सखियों ने कहा, "ए अज्ञान कोकिला, वह पानी कौन-सा है जिसमें पवन न मिल (प्रवेश कर) सके ? (यदि और कोई युक्ति काम न करेगी, तो इस पद्मिनी के शरीर से लगकर शीतल हुआ मलय-पवन सरोवर के हृदय में पैठ कर उसका दाह शीतल कर देगा और जहाँ भी तुम्हारा हार चुराकर उसने रक्खा होगा, वहाँ से उसे निकाल लाएगा।) (७) हार गँवाकर इस प्रकार रोना चाहिए ? यदि वह (सचमुच) खोया है तो उसे ढूँढ़-ढूँढ़ा लो।" (८) [यह कहने के अनंतर] वे सब मिलकर और उसमें एक साथ डुबकी लगाकर उस हार को ढूँढ़ने लगीं, (९) तो कोई (हाथ में) मोती लेकर ऊपर आई और कोई हाथ में घोंघा लिए हुए ।

टिप्पणी--(२) बेकरार<बेक़रार [फ़ा०] =अशांत । (३) साथ<सत्थ<सार्थ=समूह, टोली। सैं<सइं<स्वयं । (४) पैठ्<प्रविश्=घुसना । पैसार=प्रवेश। (५) सीप<सुत्ति<शुक्ति=सीपी। आँसु<अस्सु<अश्रु । (६) भोरा<भोल<

भद्द<भद्र=सरल चित्त वाला। (७) रोव्>रुद्=रोना। हेर् [दे०] =खोजना, ढूँढ़ना। हेराव् [दे०]=खोज कराना, ढुँढ़वाना।

इस छंद की पंक्तियों में कवि ने सांकेतिक शैली में एक तो यह कहना चाहा है कि मनुष्य को आदि में दिव्य अनुभूति प्राप्त थी किंतु अपने अज्ञान के कारण उसने उस अनुभूति को खो दिया; साधकों ने उस अनुभूति को खोज निकालने के अनेक प्रयत्न किए हैं, जिन से मानवता को अनेक मूल्यवान और मूल्यहीन तत्वों की प्राप्ति हुई है, किंतु किसी सप्रयास साधना से वह दिव्य अनुभूति नहीं प्राप्त हुई है। दूसरे यह कि जगत् में युक्तियों से जो तात्त्विक उपलब्धि संभव नहीं हुई है, वह उस रूप-स्रोत का आश्रय लेने पर अनायास ही संभव हो जाती है। हार-विषयक एक उक्ति कबीर में भी है: मेरो हार हिरानौ मैं लजाऊँ। 'कबीर ग्रंथावली' (डॉ० श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित), पद ३७)

गहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप रूप कें दरसे।
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा।
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे।
नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर॥ ६५॥

अर्थ--(१) मानसरोवर ने जो-कुछ वांछित था, उसे पाकर ग्रहण किया (उसकी समस्त कामना पूरी हुई) जब रूप की स्पर्श-मणि यहाँ (उसके पास तक) आई। (२) स्पर्शमणि के उन [निर्मल] चरणों के स्पर्श से वह निर्मल हो गया और उसके [दिव्य] रूप के दर्शन से उसने [दिव्य] रूप भी प्राप्त किया। (३) जब उस पद्मिनी के तन की सुवास मलय समीर के साथ लिपटी हुई [उसके निकट] आई, वह मानसरोवर शीतल हो गया और उसका [समस्त] दाह बुझ गया। (४) उसने कहा, "न जाने कौन (उस स्पर्श-मणि के शरीर का स्पर्श किए हुए) इस पवन को ले आया, जिससे मेरी पुण्यदशा हो (आ) गई और मैंने अपने पापों को गँवा दिया।" (५) [जैसे ही मानसरोवर का हृदय उस शीतल मलयसमीर के संस्पर्श से शीतल होकर उमड़ा] वह [खोया हुआ,] हार तत्क्षण शीघ्रता से जल के ऊपर आ गया। जब सखियों को वह मिल गया, वह [रूप का] शशि (पद्मिनी) हँस पड़ा। (६) (रूप के) शशि की यह [स्मिति] रेखा देखकर कुमुद विकसित हो उठे, और जिन (पदार्थों) ने भी उसके जिस अंग की छटा का दर्शन किया, वे उसी के रूप के हो गए। (७) उन्होंने जैसा भी रूप चाहा था, वैसा ही रूप प्राप्त किया, क्योंकि वे उस शशिमुख के लिए दर्पण-रूप हो रहे थे। (८) जिन पदार्थों ने उसके नेत्रों को देखा, वे कमल हो गए, जिन्होंने उसके [निर्मल] शरीर को देखा, निर्मल नीर हो गए, (९) जिन्होंने उसे

हँसते देखा, वे हंस हो गए और जिन्होंने उसकी दशन-ज्योति देखी, वे हीरों के नग हो गए।

टिप्पणी--(१) चहा=वाँछित : उसे उस पारस के चरणों का स्पर्श वाँछित था: पाय छुवै मकु पावौं तेहि मिसु लहरें देइ। (६१.९) पारस<स्पर्श=स्पर्श-मणि, पारस पत्थर। (५) ततखन<तत्क्षण। उतिराय<उत्+तॄ=ऊपर आना, बाहर आना। (६) बिगस<विकस्=विकास को प्राप्त होना, खिलना। (९) जोति<ज्योति।

इस छंद की पंक्तियों में कवि एक तो यह कहना चाहता है कि मूलतः रूपवान एकमात्र वही (परमात्मा) था; संसार में जो रूप की सृष्टि हुई वह सृष्टि की अपनी वस्तु नहीं थी – सृष्टि तो जड़ और रूप हीन थी, उस रूप की प्रतिमा की जब सृष्टि पर छाया पड़ी, तब उसमें रूप का विकास हुआ; दूसरे यह कि उस रूप को सृष्टि तभी प्राप्त कर सकी जब वह दर्पणरूप हो कर उस रूप-स्रोत के संपर्क में आई। अतः साधक भी जब तक इस दर्पणभाव की सिद्धि नहीं कर लेता है, वह अपने को संपूर्ण रूप से उसकी छवि को धारण करने के योग्य नहीं बना लेता है, उसे सफलता नहीं मिलती है।

पदुमावति तहँ खेल धमारी। सुआ मँदिर महँ देखि मँजारी।
कहेसि चलौं जौं लहि तन पाँखा। जिउ लै उड़ा ताकि बन ढाँखा।
जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हे। मिले पंखि बहु आदर कीन्हे।
आनि धरीं आगें बहु साखा। भुगुति न मिटै जौं लहिं बिधि राखा।
पाई भुगुति सुक्ख मन भएऊ। अहा जो दुक्ख बिसरि सब गएऊ।
ऐ गोसाईं तू अैस बिधाता। जाँवत जीउ सब क भख दाता।
तब लगि सोग बिछोह कर भोजन परा न पेंट।
पुनि बिसरा भा सँवरना जनु सपने भइ भेंट॥ ६६॥

अर्थ--(१) वहाँ तो पद्मावती धमार (ऊधम पूर्ण खेल) खेल रही थी, और यहाँ [पद्मावती के] मंदिर (भवन) में सूए (हीरामणि) ने एक बिल्ली को देखा। (२) [मन में अतः] उसने कहा, "यहाँ से भाग चलूँ जब तक शरीर में पंख हैं।" और वह एक ढाक के बन [में रहने] का विचार कर अपने प्राणों को लेकर उड़ निकला। (३) जब वह इस प्रकार अपने प्राण लिए-दिए उस वन-खंड में जा पड़ा (पहुँच गया), उसे अनेक पक्षी मिले जिन्होंने उसका आदर किया, (४) और उन्होंने उसके आगे बहुतेरी (फलयुक्त) शाखाएँ लाकर रख दीं। [सच है,] जब तक विधाता रक्षा करता रहता है, भुक्ति नहीं मिट सकती है। (५) जब (इस प्रकार) उसे भुक्ति मिली, उसके मन में सुख [का उदय] हुआ और जो भी दुःख था, सब उसे विस्मृत हो गया। (६) हे स्वामी, तू ऐसा विधायक है कि [जगत् में] जितने भी जीव हैं, तू सब का भक्ष्य-दाता है; (७) पाषाण [की दरारों] में रहने वाले पतिंगे को भी तूने नहीं भुलाया है, और किसी ने जहाँ-कहीं भी तुझे स्मरण किया, तूने उसे चारा दिया है। (८) [किन्तु] तेरे विछोह का दुःख प्राणी को तभी तक रहता है जब तक उसके पेट में भोजन नहीं पड़ता है; (९) तदनंतर (जहाँ उसे भोजन मिला) उसे तेरा स्मरण इस प्रकार विस्मृत हो जाता है मानो तुझसे उसकी भेंट स्वप्न में हुई रही हो।

टिप्पणी--(१) मँजारी<मार्जारी=बिल्ली । (२) पाँख<पक्ष=डैना । ढांख= पलाश । ताक<तक्क<तर्क्=तर्क करना, विचार करना । (४) भुगुति<भुक्ति= भोजन । (६) जाँवत<यावत्=जितने भी । भख<भक्ख<भक्ष्य=भोजन । (७) पाहन<पाषाण=पत्थर । सँवर<समर<स्मृ=याद करना । चार [दे०]=भक्ष्य । (९) सपन<स्वप्न ।

इस छंद में कवि ने अपनी सांकेतिक शैली में कदाचित् एक तो यह कहना चाहा है कि मनुष्य की बुद्धिमानी इसी में है कि काल के आ दबोचने से पहले ही परमार्थ-साधन में दत्त-चित्त हो । दूसरे यह कि साधक के लिए सुख बाधक होते हैं । दुःख उसे सतत स्वामी का स्मरण कराते रहते हैं, इसलिए दुःखों को उसे सहर्ष अंगीकार करते रहना चाहिए ।

पदुमावति पहँ आइ भँडारी । कहेसि मँदिर महँ परी मँजारी ।
सुआ जो उतर देत हा पूँछा । उड़ि गा पिंजर न बोलै छूँछा ।
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ । जनु निसि परी अस्त दिन भएऊ ।
गहनै गही चाँद कै करा । आँसु गगन जनु नखतन्ह भरा ।
टूटि पालि सरवर बहि लागे । कँवल बूड़ मधुकर उड़ि भागे ।
एहिं बिधि आँसु नखत होइ चुए । गगन छाँड़ि सरवर भरि उए ।
चिहुर चुवहिं मोतिन्ह कै माला । अब सँकेति बाँधा चह बाला ।।
उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु ।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु ।। ६७ ।।

अर्थ--(१) [इस घटना के बाद] पद्मावती के पास आकर उसके भांडार-रक्षक ने कहा, " [तुम्हारी अनुपस्थिति में] मंदिर में बिल्ली का आना हुआ, (२) और [उसको आया देखकर] तुम्हारा वह सुआ जो प्रश्न किए जाने पर उनका उत्तर देता था, उड़ गया; उसका ख़ाली पिंजड़ा निःशब्द है। (३) रानी (पद्मावती) ने ज्योंही [यह समाचार] सुना, उसका समस्त सुख जाता रहा, और [उसकी दशा ऐसी हो गई] मानो रात्रि का आगमन हुआ हो और दिन अस्तमित हो गया हो। (४) उस चन्द्र-कला को ग्रहण ने धर पकड़ा (उसकी सारी उत्फुल्लता समाप्त हो गई) और उसके नेत्र-गगन में अश्रु-नक्षत्र भर आए। (५) [उसकी उस व्यथा से द्रवित होकर उसके अश्रुप्रवाह के पूर्व ही) सरोवर की पाली [सरोवर के उमड़ पड़ने के कारण] टूट गई और सरोवर वह निकला, कमल डूब गए और मधुकर उड़कर भाग गए। (६) [तदनंतर] उसके आँसू इस प्रकार नक्षत्र (तारे) हो कर चुए कि मानो वे गगन को छोड़ कर उस सरोवर में भरपूर रूप से उदित हो गए हों। (७) [साथ ही पद्मावती के] चिकुर मौक्तिक-माल (जल-विन्दु) गिराने लगे, क्योंकि उन्हें वह बाला सकेल कर बंधन में डालना चाहती थी। (८) वह कहने लगी, "वह सुआ उड़ कर कहाँ जा बसा ? हे सखियो, उस स्थान की खोज करो। (९) वह धरती पर ही है, या स्वर्ग (आकाश) में चला गया, जहाँ उसे पवन भी न पा सके ?"

टिप्पणी--(१) मँजारी<मार्जारी=बिल्ली । (२) छूंछ<छुच्छ<तुच्छ=

खाली, रिक्त। (४) गहन<ग्रहण। नखत<नक्षत्र=तारागण। (५) पालि=बाँध। (६) उव्<उग्ग<उद्+गम्=उदय करना। (७) चिहुर<चिकुर=केश। सँकेत्=सं+केतय्=सकेलना, सिकोड़ना, बिखरी हुई वस्तु को इकट्ठा करना। (९) सरग<स्वर्ग=आकाश।

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाइअ गा पँखी।
जौ लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा।
तेहिं बँदि हुतें जौं छूटै पावा। पुनि फिर बाँद होइ कित आवा।
ओइँ उड़ान फर तहिअै खाएँ। जब भा पंखि पाँख तन पाए।
पिंजर जेहि क सौंप तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ।
दस बाटैं जेहि पिंजर माहाँ। कैसैं बाँच मँजारी पाहाँ।
एइँ धरती अस केतन लीले। तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले।
जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न घानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि॥ ६८॥

अर्थ--(१) [पद्मावती के] चारों ओर आकर उसकी सखियाँ समझाने लगीं, "वह पक्षी चला गया, तो अब उसे पाना कहाँ संभव होगा? (२) जब तक वह पक्षी पिंजड़े में था, वह दास [बना हुआ] था, और [इसलिए] उसने तुम्हारी सेवा की। (३) उस बंदी गृह से जब वह छूटने में समर्थ हुआ, तो वह लौटकर पुन: दास होने कहाँ आएगा? (४) उड़ने का [मधुर] फल तो वह तभी चख चुका था जब वह पक्षी होकर जन्मा था और उसके शरीर पर डैने निकले थे। (५) अब वह पिंजड़ा उसको सौंप कर चला गया है जिसका वह (पिंजड़ा) था, और जो जिसका था, वह उसका हो गया। (६) जिस पिंजड़े में दस मार्ग (द्वार) हों, वह पिंजड़ा (उसका पक्षी) बिल्ली से कैसे बच सकता है? (७) इस धरती ने ऐसे कितनों ही को निगल लिया है, और उसका पेट इतना कठिन है कि उसने तदनंतर उन्हें निकाल बाहर नहीं किया। (८) जहाँ पर न रात है, न दिन, जहाँ पर न पवन है और न सुगंध है, (९) उस [अद्‌भुत] वन में जा कर वह सुआ बस रहा है, [अत:] उसको लाकर (तुम से) कौन मिला सकता है?"

टिप्पणी--(१) पँखी<पक्षिन्। (२) परेवा<पारेवय<पारावत=पक्षी। (२३) बाँद<बन्द:[फा०] (२) निति<नित्य। (५) सौंप<समप्प<सम्+अर्पय्=समर्पण करना, देना। (६) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग, द्वार। मँजारी<मार्जारी=बिल्ली। (७) लील्<णिगल्<निगल्=निगलना। गाढ़=कठिन। ढील्=शिथिल करना। (८) घानि<घ्राण=सुगंध।

इस छंद में कवि संकेत करता है कि जीव दिव्य है, शरीर इस जगत् का है, जीव इस शरीर में बंदी जैसा है और एक बार इस बंदीगृह से निकल जाने के बाद लौट कर उसमें नहीं आता है। इस बंदीगृह से मुक्त होने के बाद वह ऐसे दिव्य लोक को चला जाता है जो भौतिक तत्त्वों से निर्मित नहीं है; और उस लोक में उसके चले जाने पर कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो पुन: उसे उस शरीर में लाकर रख सके जिसको वह छोड़ कर जाता है। इस पिंजड़े के दस द्वार शरीर के दस द्वार हैं, मार्जारी काल है ही।

सुअँ तहाँ दिन दस कलि काटी । आइ बिआध ढुका लै टाटी ।
पैग पैग भुइँ चाँपत आवा । पंखिन्ह देखि सबन्हि डर खावा ।
देखहु कछु अचरिजु अनभला । तरिवर एक आवत है चला ।
एहि बन रहत गई हम आऊ । तरिवर चलत न देखा काऊ ।
आजु जो तरिवर चल भल नाहीं । आवहु एहि बन छांड़ि पराहीं ।
वै तौ उड़े औरु बन ताका । पंडित सुआ भूलि मन थाका ।
साखा देखि राज जनु पावा । बैठ निचिंत चला वह आवा ।
पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच ।
पाँख भरे तनु अरुझा कत मारे बिनु बाँच ॥ ६६ ॥

अर्थ--(१) सुए ने वहाँ (उस वन खंड में) दस दिन (कुछ समय) तक मौज की, तब तक व्याध (बहेलिया) अपनी टट्टी लिए वहाँ आ धमका (पहुँचा)। (२) वह [उस टट्टी के पीछे छिपा हुआ] पग-पग भूमि को दबाते हुए (पैरों को इस प्रकार रखते हुए कि कोई पद-ध्वनि न हो) आया। पक्षियों ने [उस टट्टी को] देख कर भय का अनुभव किया, (३) [और वे आपस में कहने लगे,] "देखो, यह कुछ अनिष्टकारी आश्चर्य है कि एक वृक्ष ही चला आ रहा है। (४) इस वन में रहते हुए हमारी आयु समाप्त हो रही है, किन्तु [इसके पूर्व] हमने किसी वृक्ष को चलते नहीं देखा है। (५) आज यह जो वृक्ष चल रहा है, यह कुछ अच्छा नहीं है, [अत:] आओ, हम इस वन को छोड़ कर भाग निकलें।" (६) यह कहते हुए वे तो वहाँ से उड़ निकले और उन्होंने अन्य वन [में रहने] का विचार किया, किन्तु वह पंडित सुआ (हीरामणि) भूल कर [वहीं] रह गया। (७) [फल से लदी] वृक्ष की शाखा देख कर उसे ऐसा हर्ष हुआ मानो वह राज्य पा गया हो, और वह आकर [उस शाखा पर] निश्चिन्ततापूर्वक बैठ गया। (८) [व्याध उसका] खोंचा पाँच बाणों का था, और उसमें चेप भी पांच प्रकार के लगे हुए थे। (९) [वह खोंचा जब हीरामणि के शरीर में लगा,] उसके कहाँ पंखे [खोंचे की चेप से] भर गए, उसका शरीर उलझ गया, और अब वह बिना मारे बच सकता था ?

टिप्पणी--(१) कलि=चैन, सुख, मौज। बिआध<व्याध=बहेलिया, चिड़ीमार। ढुक्<ढुक्क्<ढौक्=पहुँच जाना, उपस्थित होना। टाटी<टट्टइआ अथवा टट्टिआ [दे०]=आड़, पर्दा : बहेलिये वृक्षों की फलवती डालों की टट्टियाँ बनाते हैं। (२) पैग पग्। भुइँ<भूमि। चाँप्<चंप [दे०]=दबाना। (३) अचरिजु<आश्चर्य। अनभला<अभद्र। तरिवर<तरुवर। (४) आउ<आयु। काउ<कआ+उ=कदापि। (५) पराय<पलाय्<परा+अय्<भाग जाना। (६) ताक<तक्क<तर्क्=तर्क करना, विचार करना। भूल<भुल्ल्<भ्रंश्=विचार-च्युत होना। थाक्<थक्क्=रहना, बैठना, स्थिर होना। (८) लासा<लासय<लासक=चेप, चिपकने वाली वस्तु। खोंचा=गड़ाने या चुभाने की लकड़ी : बहेलिए बाँस की कई पतली कैनियों को लेकर उन्हें एक लग्गी के रूप में बना लेते हैं और सबसे ऊपर की कैनी में, जो नुकीली होती है, चेप लगा लेते हैं। इसी नुकीली कैनी को 'खोंचा' कहते हैं। जब पक्षी टट्टी

पर बैठता है, बहेलिया उसकी आड़ में से इस खोंचे को पक्षी के शरीर में गड़ा या चुभा देता है। (देखिए : तब जाना खोंचा हिय गड़ा । (७१.५) तथा 'बिहार पीज़ेंट लाइफ', पृ० ८०। (९) पाँख<पंख<पक्ष=पंखा, डैना । अरुझ्<उत्+लुभ्= फँसना, उलझना ।

इस छंद में कवि ने अपनी सांकेतिक शैली में यह कहना चाहा है कि प्राणी इन्द्रियों के प्रलोभनों में पड़ कर दुर्गति को प्राप्त होता है। पक्षी प्राणी है, व्याध काल है (७०.५) । टट्टी संसार की रमणीयता है। पंचबाण वे पदार्थ हैं जो पञ्चेन्द्रियों को सुख देते हैं, उनमें लगे हुए पाँच लासे पंचतन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध हैं। (स्पष्टीकरण के लिए देखिए छंद ७०)

बंदि भा सुआ करत सुख केली । चूरि पाँख धरि मेलेसि डेली ।
तहवाँ बहुल पंखि खरभरहीं । आपु आपु महँ रोदन करहीं ।
बिख दाना कत दैय अँकूरा । जेहि भा मरन डहन धरि चूरा ।
जौं न होति चारा कै आसा । कत चिरिहार ढुकत लै लासा ।
एइँ बिख चारैं सब बुधि ठगी । औ भा काल हाथ लै लगी ।
एहि झूठी माया मन भूला । चूरे पाँख जैस तन फूला ।
यहु मन कठिन मरै नहिं मारा । जार न देख देख पै चारा ।
हम तौ बुद्धि गँवाई बिख चारा अस खाइ ।
तूँ सुअटा पंडित हता तूँ कत फाँदा आइ ॥ ७० ॥

अर्थ—(१) सुखों की केलि करता हुआ सुआ [इस प्रकार] बंदी हुआ, और [व्याध ने] पंखों को तोड़-ताड़ कर उसे अपनी डेली में डाल लिया। (२) वहाँ (उस डेली में) [पहले से पकड़े हुए] बहुत-से पक्षी खर-भर कर रहे थे, और अपने-अपने में (आपस में) रुदन कर रहे थे। (३) [वे कह रहे थे] "दैव ने वह विष-धान्य क्यों अंकुरित किया, जिसके कारण मरण (मरणान्तक कष्ट) हुआ और हमारे डैनों को पकड़ कर चूर-चूर कर डाला गया? (४) यदि [प्राणी को] चारे की अपेक्षा न होती, तो चिड़ीमार क्यों लासा लेकर यहाँ आ धमकता? (५) इस विष-धान्य ने ही समस्त बुद्धि को भुलावा देकर [हमसे] छीन लिया, और [सच पूछिए तो] यही हाथ में लग्गी लिए हुए [हमारा] काल हुआ। (६) यह मन इसकी झूठी माया पर जब [मुग्ध होकर] भूल उठा, तब जैसे ही हमारा शरीर (सुख की आशा से) प्रफुल्लित हुआ, हमारे पंखे [काल-व्याध द्वारा] तोड़ डाले गए। (७) [प्राणी का] यह मन [जो विषयों की ओर प्रधावित होता रहता है) कठिन पदार्थ है, [क्योंकि] मारने से भी नहीं मरता है; यह [काल-व्याध द्वारा बिछाए हुए] जाल को न देख कर चारे (विषय) को ही देखता है। (८) (उन्होंने हीरामणि को संबोधित करते हुए कहा,) "हम ने तो इस प्रकार के विष-धान्य को खा कर बुद्धि खोई, (९) तू तो ऐ सुआ, पंडित था; तू कैसे आ फँसा?"

टिप्पणी—(१) पाँख<पंख<पक्ष=पंखा, डैना। डेली<डल्ल[दे०]+इक=पिटिका, डाला, बाँस का बना हुआ डिब्बा। चूर<चूरय्<चूर्णय्=तोड़ना । (२) बहुल=बहुतेरे। शब्द का इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है : बहुल कपूर खिरौरा बाँधे।

(३९.२) (३) दाना<धान्य=नाज। अकूर्=अंकुरित करना। डहन<डयन=डैना, पंखा। (४) जौं<जउ<यदि। ढुक्<ढुक्क<ढौक्=आ पहुँचना। लासा<लासय<लासक=चेप, चिपकने वाली वस्तु। (५) ठग्<स्थग्=किसी को भुलावा देकर उसकी वस्तु छीन लेना। लगी<लग्ग<लग्न=संसक्त, संबद्ध : बाँस के कई टुकड़ों को जोड़-बाँध कर बनाई गई लंबी लकड़ी। (६) भूल्<भुल्ल्<भ्रंश्=विचार-च्युत होना। (७) जार<जाल=पशु-पक्षियों को फँसाने का फंदा। (९) फाँद्<फँद्<स्पन्द्=फँसना।

यह छंद पिछले छंद से संबद्ध है, और इसमें उन्हीं बातों का स्पष्टीकरण है जो पिछले में कही गई हैं।

सुएँ कहा हमहूँ अस भूले। टूट हिंडोर गरब जेहिं भूले।
केरा के बन लीन्ह बसेरा। परा साथ तहँ बैरी केरा।
सुख कुरुआर फरहरी खाना। बिख भा जबहिं बिआध तुलाना।
काहे क भोग बिरिख अस फरा। अड़ा लाइ पंखिन्ह कहँ धरा।
होइ निचिंत बैठे तेहि अड़ा। तब जना खोंचा हिय गड़ा।
सुखी चित जोरब धन करना। यह न चित आगे है मरना।
भूले हमहु गरब तेहि माहाँ। सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ।
चरत न खुरुक कीन्ह तब जब सो चरा सुख सोइ।
अब जो फाँद परा गियँ तब रोएँ का होइ॥ ७१॥

अर्थ--(१) सुए (हीरामणि) ने कहा, "हम भी उसी प्रकार भूल कर बैठे जैसे तुम सब ने की थी, हमारा वह (सुख-साधन के गर्व का) हिंडोला टूट गया जिस पर हम झूल रहे थे। (२) केले के वन (सुख के संसार) में हमने बसेरा लिया, किंतु वहाँ बैर (काल) का साथ पड़ गया। (३) सुख की कूद-फाँद थी और फल तथा फलियों का भोजन करना था, किन्तु (वहीं) विष हो गया जब व्याध (काल) तुलकर आ पहुँचा। (४) किस हेतु भोग-वृक्ष इस प्रकार फल-पूरित हुआ कि उसने (उसके माध्यम से व्याध ने) अड़ा (टट्टी) लगा कर पक्षियों को पकड़ लिया। (५) हम (भी) निश्चिन्त होकर उस अड़े (टट्टी) पर जा बैठे और हमने [वस्तुस्थिति को] तब जाना जब [व्याध का] खोंचा हमारे हृदय में आ चुभा। (६) सुखिया यह चिन्ता करता है कि वह धन और करण (जीविका का साधन) जोड़ेगा, उसे यह चिन्ता नहीं रहती है कि आगे मरण है। (७) हम भी उसी (धन और करण) के गर्व में [अपने को] भूल बैठे, और हमें वह विस्मृत हो गया जिससे [वह सब] पाया था। (८) तब जब कि सुख में सो (भूल) कर हमने उस (चारे) को चरा, हमने तब जी में खटका नहीं किया; (९) अब जब फंदा गले में पड़ गया, तब रोने से क्या हो सकता है?"

टिप्पणी--(१) हिंडोर<हिन्दोल=हिंडोला, झूला। झुल्<अन्दोल्=झूलना। (२) केरा<केल<कदल=केला। बैरि<बइर<बदर=बेर। (३) कुरुआर<कुल्ल+आर<कूर्द+जाल=कूद-फाँद। फरहरी<फल+फली। तुल्=तुलना, पहुँचना। (४) अड़ा<अड्ड [दे०]=आड़, जो पदार्थ आड़े आता हो। (५) खोंचा=गड़ने

या चुभने वाली वस्तु। बहेलिया कई पतले बाँसों को जोड़ कर लम्बी लग्गी बनाता है, उनमें से सब से ऊपर की नुकीली कमाची 'कम्पा' या 'खोंचा' कहलाती है। (दे० बिहार पीजेंट लाइफ़, पृ० ८०)। (६) करन<करण=जीविका का साधन। (७) बिसर=बिस्सर <वि+स्मृ=विस्मृत होना। (८) खुरुक<खुड्डक [दे०]=खटका, काँटा जैसी चुभने वाली वस्तु। (९) फांद<फंद<स्पन्द=फंदा, पाश।

इस छंद का संबंध पूर्ववर्ती दो छंदों से है, और इसमें भी कवि ने साँकेतिक रूप से वही सन्देश रक्खा है, जो उसने पूर्ववर्ती दो छंदों में रक्खा है। इस छंद की अर्द्धाली ७ में इतना और कहा गया है कि धन और सुख साधन के अभिमान में प्राणी उस ईश्वर को भी भुला देता है जिससे उसे यह सब प्राप्त होता है, और उसका यह भी अभिप्राय ज्ञात होता है कि प्राणी यदि उसको विस्मृत न करता तो वह उन संकटों में न पड़ता जिनमें वह गर्व के कारण पड़ जाता है।

सुनि कै उतर आँसु सब पोछे। कौनु पंख बाँधा बुधि ओछे।
पंखिन्ह बुधि जौं होति उज्यारी। पढ़ा सुआ कत धरति मजारी।
कत तीतर बन जीभ उघेला। सकति हँकारि फाँदि गियँ मेला।
ता दिन ब्याध भएउ जिउ लेवा। उठे पाँख भा नाउँ परेवा।
मै बिआधि तिस्ना सँग खाधू। सूझै भुगुति न सूझ बिआधू।
हमहिं लोभ ओइँ मेला चारा। हमहि गरब वह चाहै मारा।
हम निचिंत वह आउ छपाना। कौनु बिआधहि दोख अपाना।
सो औगुन कत कीजै जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना किछु नाहीं मस्ट भली पँखिराज॥ ७२॥

अर्थ—(१) (हीरामणि का) उत्तर सुनकर सब (पक्षियों) ने आँसू पोंछे, और कहा, "यह कौन था जिसने हमारे पंखों के साथ बुद्धि ओछी बाँधी? यदि उस ने हमें ऐसे पंख दिए जिनके द्वारा हम उड़कर अपनी रक्षा कर सकते थे, तो साथ ही उसे इस सुविधा का सदुपयोग करने की सूझ-बूझ देने वाली उत्तम बुद्धि भी हमें देनी चाहिए थी।) (२) यदि पक्षियों को उज्ज्वलित (उद्दीप्त) बुद्धि [भी] प्राप्त हो सकती, तो [हीरामणि जैसे] पढ़े (पंडित) सुए को बिल्ली क्योंकर (कैसे) पकड़ पाती? (३) तीतर ने [बुद्धि-हीनता करके] वन में अपनी जिह्वा क्यों खोली कि उसने अपनी शक्ति भर (स्वयं) पुकार [लगा] कर (अपने) गले में फंदा डाल लिया [और वह बंदी हो गया]? (४) पक्षी के लिए उसी दिन व्याध प्राण लेने वाला हुआ [जिस दिन] उसके शरीर में पंखे निकले और उसका नाम परेवा (पक्षी) हुआ। (५) तृष्णा के साथ-साथ हमें यह दुःखदायक व्याधि भी [प्राप्त] हुई कि भुक्ति ही सूझती है [उसके साथ-साथ लगा हुआ] व्याध (काल) नहीं सूझता है। (६) हमें लोभ है, तो वह चारा (भक्ष्य) डालता है, हमें [अपने सामर्थ्य का] गर्व है, तो वह हमें मारना चाहता है, (७) हम निश्चिन्त हैं, इसलिए वह छिपा-छिपा आता है, इसमें व्याध (काल) का क्या दोष? दोष अपना है। (८) वह अपराध ही क्यों कीजिए जिसके कारण प्राण देने पड़ें? (९) अब (और) कुछ नहीं कहना है, हे पक्षिराज, चुप्पी ही भली है।"

टिप्पणी--(१) उतर<उत्तर। पोंछ्<पुंछ<प्र+उञ्छ्=पोंछना। ओछ<उच्छ<तुच्छ। (२) उज्यारी<उज्ज्वल=उद्दीप्त, प्रकाशित। मँजारी<मार्जारी=बिल्ली। (३) कत<कुतः=किसलिए, कैसे। उघेल्<उद्+घाटय्=खोलना। सकति<शक्ति=सामर्थ्य। हँकार्<हक्कार<आ+कारय्=पुकारना, आह्वान करना। फाँद>फंद<स्पन्द। गिय<ग्रीवा। मेल्<मेलय्=मिलाना, डालना। (४) परेवा<पारेवय<पारावत=पक्षी। (५) खाधू<खादुक [दे०]=दुखदायक, कष्टकारक, उत्पीड़क। भुगुति<भुक्ति। (७) अपाना<अप्पणय<अप्प+तणय (?)=अपना, स्वकीय, निजी। (९) मस्ट (<मृष्=ध्यान न देना, बुरा न मानना, उपेक्षा करना)=मौन, चुप्पी।

इस छंद में कवि ने कदाचित् कहना चाहा है कि विधाता ने प्राणी को सभी प्रकार से समर्थ और साधन-सम्पन्न बनाते हुए भी बुद्धि निर्मल नहीं दी, इसीलिए वह काल के पाशों में सुगमता से आ जाता है। अपने तृष्णा, लोभ, गर्व और प्रमाद के कारण ही प्राणी काल के वश में होता है, अन्यथा न होता।

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोट चित्र जेइँ साजा।
तेहि कुल रतनसेन उजिआरा। धनि जननी जनमा अस बारा।
पंडित गुनि सामुद्रिक देखहिं। देखि रूप औ लगन बिसेखहिं।
रतनसेन एहि कुल औतरा। रतन जोति मन माथें बरा।
पदिक पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरुज जसि होइ अँजोरी।
जस मालति कहँ भँवर बियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी।
सिंघल दीप जाइ ओहि पावा। सिद्ध होइ चितउर लै आवा।
भोग भोज जस मानै बिक्रम साका कीन्ह।
परखि सो रतन पारखी सबै लखन लिखि दीन्ह॥ ७३॥

अर्थ--(१) [इधर] चित्तौरगढ़ में चित्रसेन नाम का राजा था, जिसने गढ़ निर्मित [कराकर] परकोटे को चित्र (विचित्र) [रूप से सुदृढ़] निर्मित कराया था। इसीलिए उसका नाम चित्तौर (चित्रकोट) था। (२) उसी के कुल में प्रकाश [तुल्य] रत्नसेन हुआ, और वह जननी धन्य थी जिसने ऐसा बालक उत्पन्न किया। (३) पंडित विचार करके सामुद्रिक (अंग प्रत्यंग के लक्षण) देखते हैं और उसके रूप को देखकर [इस प्रकार] लग्न का विवेचन करते हैं, (४) "इस कुल में [अब] रत्नसेन अवतरित हुआ है, जिसके मस्तक पर रत्न-ज्योति जल (देदीप्यमान हो) रही है। (५) पदिक और पदार्थ की जोड़ी [इसकी जन्मपत्री में] लिखी हुई है, उस जोड़ी की उज्ज्वलता चंद्र-सूर्य की उज्ज्वलता के जैसी होगी। (६) [किन्तु] जिस प्रकार मालती के लिए भ्रमर (मधुकर) वियोगी [हुआ था], उसी प्रकार उसके लिए यह भी योगी होगा। (७) सिंहल द्वीप जाकर यह उसे प्राप्त करेगा, और वहाँ पर सिद्ध होकर यह उसे चित्तौर लाएगा। (८) भोग यह भोज के समान मानेगा (करेगा) और साका विक्रम के समान करेगा।" (९) [इस प्रकार] उस रत्न को परख कर पारखी ने सभी लक्षण लिख दिए।

टिप्पणी--(१) चित्रसेन : 'कान्हड़ दे प्रबंध' तथा ऐतिहासिक सूत्रों से रत्नसेन

के पिता का नाम समरसी प्रमाणित होता है। 'चित्रसेन' नाम कल्पित है। कोट=पर-कोटा। साज्<सज्ज्<सृज्=निर्माण करना, बनाना। (२) उजिआरा<उज्जल्ल=औज्ज्वल्य। बार<बाल=बालक। (३) बिसेख्<वि+शेषय्=गुण आदि द्वारा दूसरे से भिन्न करना, व्यवच्छेद करना, विवेचन करना। (५) पदिक=माला के बीच में नीचे की ओर लगने वाली चौकी, जिसमें बहुमूल्य पत्थर जड़े जाते हैं। पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि। 'चाँद-सुरज' : चन्द्र और सूर्य : यहाँ इनका युग्मपरक प्रतीकात्मक अर्थ प्रेमिका-प्रेमी भी व्यंजित है। (६) मालती-भँवर : मालती-मधुकर का प्रेम प्रसिद्ध ही है, वे प्रेमिका-प्रेमी के प्रतीक हैं: इसके अतिरिक्त मधुकर-मालती नायक-नायिका रूप में भी किसी तत्कालीन प्रेम कथा में आते रहे होंगे, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि 'बियोगी' और 'योगी' बनने का भी उल्लेख उनके प्रसंग में होता है, जो कि सामान्य मालती पुष्प और भ्रमर के संबंध में घटित नहीं होता है। अन्यत्र भी इस प्रकार का एक उल्लेख 'पद्मावत' में हुआ है: साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू। (२३३.६) किन्तु उसके नायक-नायिका भिन्न प्रतीत होते हैं। (८) भोज के वैभव और विक्रम के पराक्रम की कथाएँ बहुप्रसिद्ध हैं। वह मध्ययुग के वैभव और पराक्रम का प्रतीक बन गया था। साका<शाक=शत्रु से पराजय निश्चित जानकर उसके हाथों में बन्दी होने से बचने के लिए लड़कर प्राण देने का चलन। यह प्रथा संभव है शकों से प्राप्त हुई हो, इसलिए इसका नाम यह पड़ा। (९) लखन<लक्खन=लक्षण।

चितउर गढ़ क एक बनिजारा। सिंघल दीप चला बैपारा।
बाँभन एक हुत नस्ट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी।
रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहँ गएँ होइ किछु बाढ़ी।
मारग कठिन बहुत दुख भएँ। नाँघि समुद्र दीप ओहि गए।
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत किछु दीख न थोरा।
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ निधनी मुख हेरा।
लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहससन्हि केर न कोइ ओनाई।
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोरि।
बाँभन इहाँ लेइ का गाँठि साँठि सुठि थोरि॥ ७४॥

अर्थ—(१) चित्तौरगढ़ का एक व्यापारी था जो व्यापार करने सिंहल द्वीप चला। (२) और एक ब्राह्मण था जो नष्ट (नष्टार्थ—जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई हो) और [इसीलिए] भिखारी था। उस व्यापारी के प्रस्थान करते समय वह भी [उसके साथ] चल पड़ा। (३) किसी से उसने इस विचार से ऋण ले लिया कि वहाँ जाने पर [और पूंजी लगाने पर] कुछ बाढ़ी (आमदनी) हो जाती। (४) कठिन मार्ग में उन्हें दुःख बहुतेरे हुए, और वे समुद्र पार करके उस द्वीप को गए। (५) [उस द्वीप की] हाट को देखने पर उसका अन्त ही नहीं सूझ पड़ता था; सभी पदार्थ अधिकता से थे, कुछ भी थोड़ी मात्रा में नहीं दिखाई पड़ा। (६) अवश्य ही, वहाँ का वाणिज्य अत्यधिक ऊँचा (ऊँचे दामों का) था; धनिक ही उसको [ले] पाता था, निर्धन [दूसरों का] मुख देखता ही रह जाता था। (७) वहाँ वस्तुएँ लाखों और करोड़ों के मूल्यों में बिकती

थीं, हजारों की [बात-चीत] कोई सुनता न था। (८) सभी ने बेसाहनी की (जो क्रय करना था क्रय किया), और वे घर की ओर पलट पड़े। (९) वह ब्राह्मण वहाँ क्या लेता ? उसकी गाँठ में पूँजी बहुत ही थोड़ी थी।

टिप्पणी--(१) बनिजारा<वणिज्जारय<वाणिज्यकारव=वाणिज्य करने वाला, व्यापारी। बैपार<व्यापार। (२) नस्ट=नष्टार्थ, जिसकी सम्पत्ति चली गई है। भिखारी<भिक्षा+कारिन्=भिक्षा से निर्वाह करने वाला। बैपारी<व्यापारी। (३) रिनि=ऋण। काढ्<कड्ढ<कृष्=निकालना। बाढ़ी<बड्ढि<वृद्धि। (४) नाँघ्<लंघ्=लाँघना, अतिक्रमण करना। (५) हाट<हट्ट=बाजार। ओर<अपर (?)=दूसरा छोर, अंत। थोर<थोव<स्तोव=अल्प, थोड़ा। (६) सुठि<सुट्ठु<सुष्ठु। बनिज<वाणिज्य=व्यापार। हेर् [दे०]=देखना, निरीक्षण करना। (७) ओनाय्=तुलना: यथा–सात दीप के बर जो ओनाहीं। (५३.७) (८) बेसाहना<वि+साधनीय=क्रय की जाने वाली वस्तु। बहोर् (<वाहुड्<व्याघुट्)=वापस होना। (९) गाँठि<गंठिइ<संस्थिति=पूँजी।

झूरै ठाढ़ कहाँ हौं आवा। बनिज न मिला रहा पछितावा।
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ। मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ।
का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउँ मरै मीचु हुति लिखी।
अपने चलत न कीन्ह कुवानी। लाभ न दीख मूर भै हानी।
का मैं बोवा जरम ओहि भूँजी। खाइ चलेउँ घरहू कै पूँजी।
जेहि बेवहरिआ कर बेवहारू। का लै देब जौं छेंकिहि बारू।
घर कैसे पैठब मैं छूँछे। कौन उतर देबेउँ तिन्ह पूँछे।
साथ चला सत बिचला भए बिच समुँद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं तूँ बिधि देहि अधार॥ ७५॥

अर्थ–(१) वह हक्का-बक्का हुआ संतप्त हो रहा था, "मैं कहाँ आया कि बनिज मिला नहीं, और पछतावा ही [हाथ] रहा। (२) लाभ समझ कर मैं इस हाट में आया, किन्तु उसी मार्ग में मूलधन [भी] गँवा कर [वापस] जा रहा हूँ! (३) मैंने [भी] क्या यह मरने की सीख सीखी ? मैं यहाँ मरने के लिए ही आया, मेरी मृत्यु (यहीं) लिखी थी। (४) अपने चलते (भरसक) मैंने कोई बुरा व्यापार नहीं किया, [फिर भी] लाभ दिखाई न पड़ा और [उल्टे] हानि हुई! (५) क्या मैंने उस (पूर्व के) जन्म में (धान्य) भून कर बोया था कि घर की पूँजी भी खा-पी कर (समाप्त कर) [यहाँ से वापस] जा रहा हूँ ? (६) जिस धनी का ऋण [मेरे ऊपर] है, उसे मैं क्या ले [जा]कर दूँगा जब वह मेरा द्वार रोकेगा ? (७) घर में रिक्त (हाथों के साथ) मैं कैसे प्रवेश करूँगा, और उन्हें (घर वालों को) पूँछे जाने पर कौन-सा उत्तर दूँगा ? (८) वह सार्थ [लौट] चला है [जिसके साथ मैं आया था], मेरा सत्त्व विचलित हो रहा है [क्योंकि मैं अकेला पड़ जाऊँगा] और [मेरे देश तथा मेरे] बीच में [अब] समुद्र और पर्वत आ गए। (९) अपनी आशा से निराश होकर मैं लौट रहा हूँ; हे विधाता तू मुझे [जीवन का] आधार दे!"

टिप्पणी--(१) झूर्<ज्वल्=संतप्त होना। ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध=हक्का-बक्का, कुंठित। बनिज<वाणिज्य=व्यापार। पछताव<पश्चात्ताप। (२) हाट<हट्ट=बाज़ार। मूर<मूल=पूंजी। बाट<वट्ट<वर्त्मन्=मार्ग। (३) सिखावन<सिक्खावण<शिक्षण=सीख। मीचु<मृत्यु। (४) कुबानी<कुवाणिअ<कु वाणिज्ज<कुवाणिज्य। (५) जरम<जन्म। (६) बेवहरिआ<व्यवहारिन्=धन उधार देने वाला। बेवहार<व्यवहार=उधार धन। जौं<जउ<यदा=जब। छेंक्=घेरना, रोकना। बार<वार<द्वार। (७) छूँछ<छुच्छ<तुच्छ=हलका, रिक्त। (८) साथ<सत्थ<सार्थ=व्यापारी-समूह। सत<सत्त<सत्त्व=शक्ति।

तबहि बिआध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा।
बेंचै लाग हाट लै ओहीं। मोल रतन मानिक जहँ होहीं।
सुआ को पूँछ पतिंग मँदारे। चलन देखि आछै मन मारे।
बाँमन आइ सुआ सौं पूँछा। दहुँ गुनवंत कि निरगुन छूँछा।
कहु परबते जो गुन तोहिं पाहाँ। गुन न छपाइअ हिरदै माहाँ।
हम तुम्ह जाति बराभन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ।
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिन पूँछे पाइअ नहिं भेदू।
हौं बाँभन औ पंडित कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहिं होइ॥ ७६॥

अर्थ--(१) उसी समय व्याध एक सुए को ले आया जो कंचन वर्ण का और अनुपम रीति से सुखदायक (सुंदर) था। (२) उसको लिए हुए वह उस हाट में बेचने लगा जहाँ पर रत्न-माणिक्य आदि का मोल-तोल होता था। (३) [वह मन में कहने लगा,] "[इस हाट में] मंद आचरण वाले पतिंगे इस सुए को कौन पूछने वाला है?" [अतः] वहाँ के चलन (व्यापार) को देख कर वह मन मारे हुए था। (५) [इसी समय] ब्राह्मण ने [वहाँ] आकर सुए से, यह समझने के लिए कि वह गुणवान् है अथवा निर्गुण और छूँछा है, यह प्रश्न किया, (५) "हे परवत्ते, जो गुण तुम पर (तुम्हारे पास) है, वह बताओ; गुण को हृदय में न छिपाए रखना चाहिए। (६) हम और तुम दोनों ही जाति के द्विज हैं, और सजातीय से जाति सभी कोई पूछता है। (७) यदि तुम पंडित (पढ़े हुए) हो, तो वेद सुनाओ; बिना पूछे भेद नहीं मिलता है (इसलिए तुमसे यह प्रश्न कर रहा हूँ)। (८) मैं तो ब्राह्मण और पंडित हूँ, तुम अपना भी वह गुण बताओ कि तुम में ब्राह्मणत्व और पांडित्य कहाँ तक है। (९) पढ़े हुए [व्यक्ति] के आगे (सम्मुख) जो पढ़ता है (पढ़ कर सुनाता है), उसे दूना लाभ होता है [उसका अपना ज्ञान तो रहता ही है, उस पढ़े हुए श्रोता से भी कुछ नया ज्ञान मिल जाता है]।"

टिप्पणी--(१) सोहावा<सुहावय<सुखायक=सुखजनक। (३) मँदारा<मन्द+आरअ<मन्द+कारक=बुरा कार्य करने वाला: तुल० देखु यह सुअटा है मँद चाला। भएउ न ता कर जाकर पाला। (८५.५) (४) सौं<समम्=से। छूंछ<छुच्छ<तुच्छ=रिक्त, खाली। (५) परबता<पर्वतक=पर्वत का निवासी। (६) जाति=ज्ञाति। (९) पढ़ा<पढिअ<पठित=पढ़ा हुआ।

तब गुन मोहि अहा हो देवा । जब पिंजर हुँत छूट परेवा ।
अब गुन कवन जो बँदि जजमाना । घालि मँजूसा बेंचै आना ।
पंडित होइ सों हाट न चढ़ा । चहौं बिकान भूलि गा पढ़ा ।
दुइ मारग देखौं एहि हाटाँ । दैय चलावै दहुँ केहि बाटाँ ।
रोवत रकत भएउ मुख राता । तन भा पिअर कहौं का बाता ।
राते स्याम कंठ दुइ गीवाँ । तहँ दुइ फाँद डरौं सुठि जीवा ।
अब हौं कंठ फाँद गिवँ चीन्हा । दहुँ कै फाँद चाह का कीन्हा ।
पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं है आगें डरु सोइ ।
धुँध जगत सब जानि कै भूलि रहा बुधि खोइ ॥ ७७ ॥

अर्थ--(१) "हे [ब्राह्मण] देवता", सुए ने कहा, "मुझ में गुण तब था, जब मैं पक्षी पिंजर से छूटा (अपने को पिंजर से मुक्त कर सका)। (२) अब मुझ में कौन-सा गुण [शेष] है, जबकि, हे जजमान (पुण्यात्मा), मैं बंदी हूँ और मुझे मंजूषा में डालकर अन्य [व्यक्ति] वेंच रहा है ? (३) जो पंडित होता है, वह हाट नहीं चढ़ता है (बिकता नहीं है); अब तो मैं बिकना चाहता हूँ और जो कुछ पढ़ा हुआ था, वह मुझे विस्मृत हो गया है। (४) मैं तो इस हाट में दो मार्ग देखता हूँ, पता नहीं दैव मुझे किस मार्ग से चलने के लिए विवश करेगा। (५) रक्त [के आँसू] रोते-रोते मुख राता (लाल) हो गया और शरीर पीला, इसलिए क्या कोई बात कहूँ ? (६) मेरी ग्रीवा में रक्त और श्याम [वर्णों के] दो कंठे हैं; [वस्तुतः] वहाँ वे दो फंदे हैं और उन्हें मैं अपने जी में अत्यधिक डरता हूँ। (७) अब मैंने इन कंठों को पहिचान लिया कि वे [कंठे नहीं] ग्रीवा के फन्दे हैं, और फन्दा [डाल] कर पता नहीं क्या करना चाहते हैं। (८) पढ़ कर और गुन कर मैंने बहुतेरा देखा, आगे [जीवन में] वही डर है [कि ये दो ग्रीवा के फन्दे पता नहीं क्या अनिष्ट करेंगे]। (९) जगत् (मेरे लिए) धुँधला (अस्पष्ट) हो रहा है, और बुद्धि खो कर मैं सब कुछ जानते हुए भी भूल रहा (भ्रमित) हो रहा हूँ।"

टिप्पणी--(१) परेवा<पारेवय<पारावत = पक्षी । (२) बँदि<बन्दी । जजमान<यजमान = यज्ञ कराने वाला, पुण्यात्मा : व्याध के हाथों से मुक्ति दिलाने वाला होकर वह ब्राह्मण उससे प्रश्न कर रहा था, इसलिए सुए ने उसे जजमान कहा । मँजूसा<मञ्जूषा = पिटारी, डेली । आन<अण्ण<अन्य । (३) भूल<भुल्ल् <भ्रंश् = बिसरना, विस्मृत होना। (४) पिअर<पीअ + डा<पीत = पीला। (६) कंठा = कण्ठ-सूत्र, कंठ का एक आभरण। गीवा<ग्रीवा । फांद<फंद<स्पंद = फंदा, पाश । (८) गुन्<गुणय् = गिनना, याद करना, मनन करना ।

इस छंद की अर्द्धाली ४ में दो मार्ग कहे गए हैं, और ६ में कहा गया है कि ग्रीवा में दो कंठे हैं। दो मार्ग--प्रवृति मार्ग और निवृत्ति मार्ग हैं, और दो कंठे सत् और असत् अथवा शुक्ल और कृष्ण कर्मों के प्रतीत होते हैं। सुआ यहाँ पर स्पष्ट ही संसार का प्राणी है।

सुनि बाँभन बिनवा चिरिहारू । करु पंखिन्ह कहँ मया न मारू ।
कत रे निठुर जिउ बधसि परावा । हत्यां केर न तोहि डरु आवा ।

कहेसि, पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे परमँसु खवा।
आवहिं रोइ जाहिं कै रोवना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोवना।
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखहिं माँसु पराएँ माँसू।
जौं न होत अस परमँस खाधू। कत पंखिन्ह कहँ धरत बिआधू।
जौं रे ब्याध पंखी निति धरई। सो बेंचत मन लोभ न करई।
बाँभन सुआ बेसाहा सुनि मति बेद गरंथ।
मिला आइ कै साथिहिं भा चितउर के पंथ॥ ७८॥

अर्थ--(१) ब्राह्मण ने यह [उत्तर] सुनकर चिड़ीमार से विनय की, "पक्षियों पर मया (स्नेहपूर्ण कृपा) कर, और उन्हें न मार। (२) ऐ निष्ठुर, तू क्या (क्यों) दूसरों के जीव का वध करता है? तुझे हत्या [के पाप] का डर नहीं आता (लगता) है?" (३) पक्षियों के उत्पीड़क उस मानव व्याध ने कहा, "निष्ठुर उन्हें कहना चाहिए जो पर-मांस-भक्षी हैं। (४) लोग आते (संसार में जन्म लेते) समय रोते हैं और जाते समय रुदन करके जाते हैं, तब भी वे भोग-सुख तथा सोना नहीं त्यागते हैं। (५) और, जानते हैं कि यह शरीर नष्ट होगा, [तब भी] अपने मांस का पोषण अन्य [जीव] के मांस से करते हैं। (६) यदि ऐसे परमाँस-भक्षी न होते तो, पक्षियों को व्याध क्यों पकड़ता? (७) यदि व्याध पक्षियों को नित्य पकड़ता [रहता] है, वह उन्हें बेच ही तो डालता है; उन्हें बेंचते हुए वह मन में (उन्हें खाने का) लोभ नहीं करता है।" (८) ब्राह्मण ने वेदों तथा ग्रन्थों के भाव [हीरामणि से] सुनकर उस शुक को [व्याध से] क्रय कर लिया। (९) [तदंनतर] वह [अपने] साथ से आ मिला तथा चित्तौर के मार्ग पर लगा।

टिप्पणी--(१) मया<माया (?) = स्नेहपूर्ण कृपा। (२) कत<कुतः = क्यों। निठुर<णिट्ठुर<निष्ठुर। (३) खाधुक = खादुक<दुःख देने वाला, उत्पीड़क। (४) रोवन<रुदन। सोवन<सोअण<स्वपन = शयन। (५) जौं<जउ<यदि। खाधु<खादक = खानेवाला। (६) जौं<जओ<यतः = क्योंकि। निति<नित्य। (७) बेसाह्<वि + साधय = क्रय करना। (८) साथ<सत्थ<सार्थ = समूह, व्यापारी-दल।

तब लगि चित्रसेनि सिव साजा। रतनसेनि चितउर भा राजा।
आइ बात तेहिं आगें चली। राजा बनिज आव सिंघली।
हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। औरु बस्तु बहु सिंघल दीपी।
बाँभन एक सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा।
राते स्याम कंठ दुइ काँठा। राते डहन लिखे सब पाठा।
औ दुइ नैन सोहावन राता। राता ठोर अमिअ रस बाता।
मस्तक टीका, काँध जनेऊ। कबि बिआस पंडित सहदेऊ।
बोल अरथ सौं बोले सुनत सीस पै डोल।
राजमँदिर महँ चाहिअ अस वह सुआ अमोल॥ ७९॥

अर्थ--(१) तब तक (जब तक कि वह ब्राह्मण चित्तौर लौटा) चित्रसेन ने शिव को आलिंगन किया (शिव से सायुज्य-लाभ किया) और रतनसेन चित्तौर में राजा हुआ।

(२) उसके आगे आकर यह वार्ता चल पड़ी, "हे राजा, सिंहल का बनिज आया है। (३) [उसमें] गज हैं, मुक्ता से भरी समस्त [जातियों की] सीपियाँ है और सिंहल द्वीप की और भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं। (४) एक ब्राह्मण सुआ ले आया है, जो कि कंचन वर्ण का और अनुपम रीति से सुन्दर है। (५) उसकी ग्रीवा में रक्त और श्याम (वर्णों के) दो कंठे हैं और उसके डैने [ऐसे] रक्त हैं [मानो] उन डैनों पर [ज्ञान-विज्ञान के] समस्त पाठ लिखे हुए हैं। (६) और उसके दोनों नेत्र सुहावने तथा रक्तवर्ण के हैं, उसका ठोर रक्तवर्ण का है और उसकी बातों में अमृत का रस है। (७) उसके मस्तक पर तिलक तथा कंधे पर यज्ञोपवीत है, वह [महा] कवि व्यास [अथवा] पंडित सहदेव है। (८) वह अर्थ युक्त वचन बोलता है, जिन्हें सुनते ही सिर अवश्य हिलने लगता है। (९) राजमंदिर में उसे होना चाहिए, ऐसा अमूल्य वह सुआ है।

टिप्पणी--(१) साज् <सज्ज् <सञ्ज् = आलिंगन करना, सायुज्य प्राप्त करना। [तुल० टीका दीन्ह पुत्र कहँ आपु कीन्ह सिवसाज। (१७६.९)] (२) बात <वत्ता < वार्त्ता। बनिज <वणिज्य = सौदा। (३) सीपी <सुत्ति <शुक्ति। (५) काँठा <कण्ठ = कंठा, गले का एक आभूषण। रात <रत्त <रक्त = लाल। डहन <डयन = डैना, पंखा। लिखे सब पाठा : समस्त पाठ लिखे हुए हैं। उसके डैने ग्रंथ के सदृश हैं और मध्य युग में शीर्षकादि के लिखने के लिए लाल स्याही का प्रयोग किया जाता था, इसलिए यह कल्पना की गयी है कि वे पन्ने लाल स्याही से लिखे हुए हैं। (६) ठोर [दे०] = चञ्चु। अमी <अमिअ <अमृत। (७) टीका <तिलक। जनेऊ <जण्णोवईय् <यज्ञोपवीत = यज्ञ-सूत्र। बिआस <व्यास, महाभारत के रचयिता। सहदेऊ <सहदेव = कुन्ती पुत्र सहदेव। (८) बोल [दे०] = कथन, वचन। सों <समम् <साथ। डोल् < दोलय् = हिलना।

भई रजाएसु जन दौराए। बाँभन सुआ बेगि लै आए।
बिप्र असीसि बिनति ओधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा।
पै यह पेट महा बिसवासी। जेहिं नाए सब तपा सन्यासी।
डासन सेज जहाँ जेहि नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिव बाहीं।
अंध रहै जो देख न नैना। गूँग रहै मुख आव न बैना।
बहिर रहै सरवन नहिं सुना। पै एक पेट न रह निरगुना।
कै कै फेर अंत बहु दोषी। बारहिं बार फिरै न सँतोषी।
सो मोहिं लिहें मँगावै लावै भूख पिआस।
जौं न होत अस बैरी तौ केहि काहू कै आस ॥ ८० ॥

अर्थ--(१) राजादेश हुआ और सेवक दौड़ाए गए। वे ब्राह्मण तथा सुए को शीघ्र ही ले आए। (२) ब्राह्मण ने [राजा को] आशीर्वाद दिया और निवेदन किया, "सुआ मेरा जीव (प्राण) है, इसे अलग नहीं कर सकता हूँ। (३) किन्तु यह पेट महा हत्यारा है, जिसने समस्त तपस्वियों और संन्यासियों को भी नमित किया है। (४) बिछावन और शैया जहाँ जिसे नहीं मिलते हैं, वह गर्दन में (के नीचे) बाहें लगा कर भूमि पर ही पड़ जाता है, (५) अंधे होकर भी नेत्र बने रहते ही हैं, यद्यपि वे देखते नहीं हैं, मुख

गूंगा हो कर भी बना रहता ही है, भले ही उससे वचन न आवे (निकले), (६) श्रवण बधिर होकर भी बने रहते ही हैं, भले ही वे सुनते न हों, किन्तु यह पेट ऐसा निर्गुण (गुणहीन) है कि [इस प्रकार] नहीं रह सकता है। (७) [अनेक] फेरे कर-करके अन्त में बहुत दोषी (संचित दोषों का भागी) होते हुए भी द्वार-द्वार फिरता रहता है और संतुष्ट नहीं होता है। (८) वही पेट मुझे लिए हुए माँगने के लिए विवश करता है, और भूख-प्यास लगाता है। (९) यदि यह वैरी न होता, तो किसे किसी की आशा (अपेक्षा) होती ?"

टिप्पणी<(१) रजाएसु<राजादेश=राजाज्ञा। (२) बिनति<विज्ञप्ति=प्रार्थना। अवधार्<अव+धारय्=प्रस्तुत करना। निनार<णिण्णार<निर्नगर=नगर से बाहर; अलग। (३) बिसवास्[<बिसवस्<वि+शवस्=हत्या करना, बध करना]। नाव्<नमय=नमित करना। (४) सेज<शय्या। गिव<ग्रीवा। (५) बैन<वयण<वचन। (६) बहिर<बधिर। सवन<श्रवण। (७) फेर [दे०]=चक्कर, पुनरागम। बार<वार<द्वार। (८) भूख<भुक्खा<बुभुक्षा। पिआस=पिपासा।

सुऐं असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू।
भागवंत बड़ बिधि औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा।
कोउ केहु पास आस कै गौना। जो निरास दिढ़ आसन मौना।
कोउ बिनु पूँछे बोल जो बोला। होइ बोल माँटी के मोला।
पढ़ि गुनि जानि बेद मत भेऊ। पूँछी बात कही सहदेऊ।
गुनी न कोई आपु सराहा। जौ सो बिकाइ कहा पै चाहा।
जौं लहि गुन परगट नहिं होई। तौ लहि मरम न जानै कोई।
चतुर बेद हौं पंडित हीरामनि मोहि नाउँ।
पदुमावति सों मेरवौं सेव करौं तेहि ठाउँ ॥ ८१ ॥

अर्थ—(१) सुए ने आशिष् दिया, "[हे राजा,] तुम्हारा बड़ा साज, बड़ा प्रताप और अखंडित राज्य हो। (२) विधाता ने तुम्हें बड़ा भाग्यवान अवतरित किया है, और जहाँ भाग्य है, वहाँ रूप भी [तुम्हें] नमस्कार कर रहा है। (३) कोई किसी के पास गमन करता है तो आशा करके; जो निराश है (जिसे किसी से कोई अपेक्षा नहीं है) वह अपने आसन पर दृढ़ तथा मौन रहता है। (४) कोई बिना प्रश्न किए यदि कुछ बोलता है, तो उसका बोल मिट्टी के मूल्य का हो जाता है। (५) वेद-मत का भेद पढ़ कर, गुन कर, जानकर भी सहदेव केवल पूछी बात कहता था। (६) कोई गुणी अपनी सराहना नहीं करता है, किन्तु यदि वह बिकता हो तो, हो न हो, वह कहना चाहेगा ही, (७) क्योंकि जब तक [उसके] गुण प्रकट नहीं होते हैं, तब तक कोई [उसका] मर्म नहीं जानता है। (८) मैं चारों वेदों में पंडित हूँ और हीरामणि मेरा नाम है। (९) मैं तुम्हें पद्मावती से मिलाऊँगा, मैं उसी के स्थान पर सेवा करता हूँ।

टिप्पणी—(१) असीस<आशिष्=आशीर्वाद। (३) दिढ<दृढ़। (४) बोल [दे०]=वचन। माँटी<मट्टिआ<मृत्तिका=मिट्टी। (५) भेउ<भेद। पूंछ्<

पुच्छ<प्रच्छ् = पूछना, प्रश्न करना । सहदेउ<सहदेव = कुन्ती पुत्र सहदेव । (६) पै<परम् = हो न हो । (९) मेरव्<मेलय् = मिलाना ।

रतनसेनि हीरामनि चीन्हा । एक लाख बाँभन कहँ दीन्हा ।
विप्र असीसा कीन्ह पयाना । सुआ सोराज मँदिर महँ आना ।
बरनौं काह सुआ कै भाखा । धनि सो नाउँ हीरामनि राखा ।
जौं बोलै तौ मानिक मूँगा । नाहिं तौ मौन बाँध होइ गूँगा ।
जौं बोलै राजा मुख जोवा । जनहुँ मोति हिअ हार पिरोवा ।
जनहुँ मारि मुख अंम्रित मेला । गुर होइ आपु कीन्ह चह चेला ।
सुरुज चाँद कै कथ्था कहा । पेम क गहन लाइ चित रहा ।
जौ जौ सुनै धुनै सिर राजा प्रीति क होइ अगाहु ।
अस गुनवंत नाहिं भल सुअटा बाउर करिहै काहु ॥ ८२ ॥

अर्थ--(१) रत्नसेन ने हीरामणि को [परख कर] पहिचान लिया और [उसके मूल्य के रूप में] ब्राह्मण को एक लाख दिया। (२) ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया और वहाँ से प्रयाण किया, तथा सुआ जो था, वह राज मंदिर में लाया [गया]। (३) उस सुए की भाषा (बोली) का क्या वर्णन करूँ ? उसका नाम जिसने हीरामणि रक्खा था, वह धन्य था। (४) यदि वह बोलता था, तो माणिक्य और मूँगे [जैसे उसके वचन होते], नहीं तो वह मौन साधकर मूक [बना] रहता था। (५) जब वह बोलता था, राजा उसका मुँह देखने लगता था, और उसे लगता था कि मानो वह सुआ मोतियों [जीव को मुक्त करने वाले शब्दों] से हृदय का हार गूँथ रहा हो। (६) [राजा को] ऐसा लगता कि मानो वह [पहले] मारकर [और तदनंतर] मुख में अमृत डाल [कर उसे पुनरुज्जीवित कर] रहा था, और स्वयं गुरु होकर उसे शिष्य बनाना चाहता था। (७) वह सूर्य और चन्द्र (प्रेमी-प्रेमिका) की [प्रेम की] कथा कहता था, जिसको सुना कर वह राजा के चित में प्रेम का ग्रहण लगाता था। (८) जब जब राजा इन कथाओं को सुनता, वह सिर पीटता और प्रीति के विषय में [अधिकाधिक] आगाह होता। (९) [अतः लोग कहते,] "ऐसा गुणवान् सुआ अच्छा नहीं है, क्योंकि यह कभी न कभी [राजा को] बावला कर देगा।"

टिप्पणी--(२) पयान<प्रयाण। आन्<आण्<आ+नी = लाना । (४) मूँगा = मुग्ग<मुद्ग = मूँगा। (५) जोव् [दे०] = देखना, ताकना। हिअ<हृदय । पिरोव्< पूरय् = पूरना, गूँथना । (६) मेल्<मेलय् = मिलाना । चेला<चेड<चेट = सेवक शिष्य । (८) जौ-जौ<यदा-यदा = जब-जब । अगाह<आगाह [फ़ा०] = सूचित, जानकार, वाक़िफ़ । (९) बाउर<बाउल<वातूल = वातग्रस्त, उन्मत्त, बावला । काहु<कआ + हु<कदा + अपि = कभी भी ।

अर्द्धाली ६ में जायसी ने मर-मर कर जो पुनः जीवित होने का उल्लेख किया है, उसको कथा में आगे चरितार्थ भी किया है, और कहा है कि यही अमरत्व का मार्ग है ।

दिन दस पाँच तहाँ जो भए । राजा कतहुँ अहेरें गए ।
नागमती रुपवंती रानी । सब रनिवास पाट परधानी ।

कै सिंगार दरपन कर लीन्हा । दरसन देखि गरब जियँ कीन्हा ।
भलेहि सो और पिआरी नाहाँ । मोरे रूप कि कोइ जग माहाँ ।
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी । दीन्हि कसौटी औ बनवारी ।
सुआ बान दहुँ कहु कसि सोना । सिंघलदीप तोर कस लोना ।
कौन दिस्टि तोरी रुपमनी । दहुँ हौं लोनि कि वै पदुमिनी ।
जौं न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन ।
है कोई एहि जगत महँ मोरें रूप समान ॥ ८३ ॥

अर्थ–(१) वहाँ [सुए को आए] दस-पाँच दिन हुए थे कि राजा कहीं आखेट के लिए गए । (२) नागमती [नाम की] उनकी रूपवती रानी थीं, वह समस्त रनिवास में पट्ट -प्रधान रानी (पट्टराज्ञी) थी । (३) उसने शृंगार करके हाथ में दर्पण लिया और [उसमें] अपना रूप देखकर जी में गर्व किया [तथा अपने-आप से कहा,] "भले ही स्वामी की और प्यारियाँ हों, किन्तु क्या मेरे समान रूप में भी संसार में कोई है ?" (४) वह नारी [इसके बाद] हँसती (प्रसन्नमुख) सुए के पास आई और उसे उसने कसौटी और बनवारी दीं । (५) [इन्हें देकर सुए से उसने कहा,] (६) "ऐ सुए, इस सोने को (मेरे रूप को) कस कर बतला कि यह सोना (मेरा रूप) कैसा है, और तेरा सिंहल द्वीप कैसा लावण्यपूर्ण है ? देखने में तेरी (सिंहल की) रूप-मणियाँ कैसी हैं ? मैं लावण्यवती हूँ कि वे पद्मिनियाँ । (८) ऐ सुआ, यदि तू सत्य नहीं कहता है, तो तुझे राजा की सौगंध है। (९) बता, क्या कोई जगत् मेरे रूप के समान (रूप में मेरे समान) है ?

टिप्पणी––(१) अहेर<आखेट = मृगया । (२) पाट<पट्ट = सिंहासन । (४) पिआरी<प्रिय + आलि = प्यारी । नाह<नाथ = स्वामी । माहँ<मझ<मध्य =में । (५) कसौटी<कषपट्टिका = वह पत्थर का टुकड़ा जिस पर कस कर सोने का वर्ण देखा जाता है । बनवारी<वर्ण-मालिका : सोने का वर्ण परखने के लिए विभिन्न शलाकाओं में विभिन्न वर्ण––खरेपन––का सोना लगाकर रख लेते थे जिन पर उनका वर्ण भी अंकित रहता था और जब किसी सोने का वर्ण आँकना होता था, कसौटी पर उसकी रेखाएँ खींच कर तथा ज्ञात वर्ण की शलाकाओं की रेखाएँ खींच कर और उनका मिलान कर यह आँक लेते थे कि वह सोना किस वर्ण का है । इन्हीं शलाकाओं को 'बनवारी' कहते थे । अकबर की टकसालों में इनका प्रयोग किया जाता था और 'आईन-ए-अकबरी' (जिल्द १, पृ० १९) में इनका वर्णन है। (६) बान<वण्ण<वर्ण । लोन<लवण = लावण्यपूर्ण । (८) आन<आज्ञा<सौगंध ।

सँवरि रूप पदुमावति केरा । हँसा सुआ रानी मुख हेरा ।
जेहि सरवर महँ हंस न आवा । बकुली तेहि जल हंस कहावा ।
दैयँ कीन्ह अस जगत अनूपा । एक एक तें आगरि रूपा ।
कै मन गरब न छाजा काहू । चाँद घटा औ लागा राहू ।
लोनि बिलोनि तहाँ को कहा । लोनी सोइ कंत जेहि चहा ।
का पूँछहु सिंघल की नारी । दिनहिं न पूजै निसि अँधिआरी ।

पुहुप सुगंध सो तिन्ह कै काया । जहाँ माँथ का बरनौं पाया ।
गढ़ी सो सोने सोंधे भरी सो रूपै भाग ।
सुनत रूखि भै रानी हिएँ लोन अस लाग ॥ ८४ ॥

अर्थ—(१) पद्मावती के रूप का स्मरण कर सुआ हँस पड़ा, और उसने रानी के मुख को देखा। (२) [तदनंतर उसने कहा,] "जिस सरोवर में हंस नहीं आता है, उस जल (जलाशय) में बकुली ही हंस कहलाती है। (३) दैव ने जगत् को ऐसा अनुपम बनाया है कि एक एक से बढ़े हुए रूप की है। (४) मन में गर्व करके कोई शोभा नहीं पा सका है; [पूर्णिमा की अपनी पूर्णता का गर्व कर] चंद्रमा को [भी] नीचा देखना पड़ता है और उसे राहु ग्रसता है। (५) लावण्यवती कौन है और लावण्यहीन कौन, इस विषय में कौन (कुछ) कहे? लावण्यवती तो वही है जिसे कान्त (पति) चाहे। (६) सिंहल की नारियों को क्या पूछती हो? [सुंदरता में तुम उन्हें उसी प्रकार नहीं पा सकती हो जैसे] दिन को अँधेरी रात नहीं पा सकती है। (७) पुष्पों में जो सुगंध होती है, वह उनके शरीरों में होती है, [अतः] उनके साथ तुम्हारी क्या तुलना की जाए? जहाँ पर मस्तक हो, वहाँ पर पैरों का क्या वर्णन करूँ? (८) वे सोने [की कान्ति] और सुगंध से गढ़ी तथा रूप और भाग्य से भरी होती हैं।" (९) यह सुनते ही रानी रुक्ष हो गई, क्योंकि उसके हृदय में [कटेपर] नमक जैसा लगा।

टिप्पणी—(१) सँवर्<सम्भर<स्मृ=स्मरण करना। हेर् [दे०]=देखना, निरीक्षण करना। (३) आगरि<अग्र=आगे। (४) छाज्<छज्ज् [दे०] <शोभना, चमकना। (५) लोनि<लवण+इका<लावण्यवती। कंत<कान्त<पति। चह<वाञ्छ(?)<चाहना। (६) पूज<पुज्ज्<पूरय<पूरा पड़ना। (७) पुहुप< पुष्प। (८) सोंध<सुगंध। भाग<भाग्य। (९) रूख<रुक्ष<रूखा।

जौं यह सुआ मँदिर रहई । कबहुँ कि होइ राजा सौं कहई ।
सुनि राजा पुनि होइ बियोगी । छाड़ै राज चलै होइ जोगी ।
बिख राखै नहिं होइ अँकुरू । सबद न देइ बिरह तवँचूरू ।
धाइ धामिनी बेगि हँकारी । ओहि सौंपा जिअ रिसि न सँभारी ।
देखु यह सुअटा है मँदचाला । भएउ न ताकर जाकर पाला ।
मुख कह आन पेट बस आना । तेहि औगुन दस हाट बिकाना ।
पंखि न राखिअ होइ कुभाखी । तहँ लै मारु जहाँ नहिं साखी ।
जेहि दिन कहँ हौं निति डरौं रैनि छपावौं सूर ।
लै चह दीन्ह कँवल कहँ मोकहँ होइ मँजूर ॥ ८५ ॥

अर्थ—(१) (उसने सोचा,) "यदि यह सुआ राज मंदिर में है (रहता है), तो हो सकता है कि कभी [यह बात] वह राजा से कहे, (२) और राजा तदनंतर वियोगी हो जाए (वियोग-व्यथित हो) और राज्य छोड़कर तथा योगी होकर (सिंहल की पद्मिनी की खोज में) निकल पड़े। (३) इस विष [बेलि] की यदि रक्षा की गई तो कहीं यह अंकुरित न हो [और अनिष्ट न करे]। [इस ताम्रचूड़ को यदि रक्खा गया तो] कहीं

यह ताम्रचूड़ [मुर्ग़] विरह [के प्रभात] की बाँग न दे [किसी भी प्रभात को हम पाएँ कि राजा हमें छोड़ कर चला गया है]।" (४) [यह सोचकर] उसने [अपनी] धामिनी नाम की धाय को शीघ्र बुलाया, और अपने क्रोध को न सँभाल कर उस सुए को [उस धाय को] सौंप दिया, (५) और कहा, "देख, यह सुआ बुरी चाल का है, [यह इससे प्रकट है कि] यह उसी का नहीं हुआ [और उसी को छोड़ कर भाग आया] जिसका यह पालित था। (६) यह मुख से अन्य कहता है और पेट में इसके अन्य ही कुछ रहता है, इसी अवगुण से यह दस (अनेक) हाटों में बिक चुका है। (७) पक्षी यदि कुभाषी (दुर्भाषी) हो तो उसे न रखना चाहिए, [इसलिए] इसे ले जाकर वहाँ मार डाल जहाँ कोई साक्षी न हो। (८) [अपने] जिस दिन (सुहाग) के लिए मैं नित्य डरती रहती हूँ, और रात [भुलावे] में सूर्य (ज्वलंत सत्य) को छिपाती हूँ, (९) [मेरे] उस दिन (सुहाग) को यह मुझ नागमती के लिए मयूर हो कर [मुझ से छीन कर] कमल (पद्मिनी) को देना चाहता है।"

टिप्पणी—(१) मँदिल<मन्दिर<भवन। (३) अँकूरू : मेरे 'जायसी ग्रंथावली संस्करण में पाठ 'अँगूरू' था; डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसके स्थान पर 'अँकरू' का सुझाव दिया है, जो अधिक संगत है। तवँचूर<ताम्रचूड<मुर्ग़। (४) धाइ<धात्री< पालन पोषण करने वाली। हँकार<हक्कार्<आ + कारय् = बुलाना। रिस [दे०]< क्रोध। (५) मंद = बुरा। (७) साखी<सक्खि<साक्षिन्। (९) मो कहँ होइ मँजूर : नागमती नाम में 'नाग' शब्द है और मयूर और नाग का विरोध प्रसिद्ध ही है, इसलिए सुए के साथ अपने विरोध को वह नाग-मयूर के अप्रस्तुतों से व्यक्त करती है।

धाइ सुआ लै मारैं गई। समुझि गिआन हिएँ मति भई।
सुआ सो राजा कर बिसरामी। मारि न जाइ चहै जेहि सामी।
यह पंडित खंडित बैरागू। दोस ताहि जेहि सूझ न आगू।
जौं तिवानि कै काज न जाना। परें धोख पाछें पछिताना।
नागमती नागिनि बुधि ताऊ। सुआ मँजूर होइ नहिं काऊ।
जो न कंत के आएसु माहाँ। कौनु भरोस नारि कै नाहाँ।
मकु एहि खोज होइ निसि आई। तुरिअ रोग हरि माथें जाई।
दुइ सो छपाए नां छपैं एक हत्या औ पापु।
अंतहु करहिं बिनास ये सैं साखी दै आपु॥ ८६॥

अर्थ—(१) धाय सुए को लेकर उसे मार डालने के लिए गई, किन्तु ज्ञान [की इस बात को] समझ कर उसके हृदय में बुद्धि हुई। (२) [उसने सोचा,] "सुआ जो है, वह राजा को विश्राम देने वाला है, [इसलिए उसे प्रिय है] और जिसे स्वामी चाहता हो वह मारा नहीं जाता है। (३) यह [पूर्व जन्म का] पंडित है, जो वैराग्य ग्रहण करने के अनंतर लौटकर पुनः गार्हस्थ्य में आ गया था [इसीलिए] यह मानव से पक्षियोनि में आया]। [दोष इसका नहीं है,] दोष तो उसका है जिसे भविष्य (परिणाम) क्या होगा यह नहीं सूझ रहा है। (४) यदि [उस] स्त्री ने [ऐसा अपराध का] कार्य करके [उसका परिणाम] न जाना, तो धोखा पड़ने (होने) पर पीछे पछताना

होगा। (५) नागमती जो है, उसकी उस समय नागिन [तुल्य] बुद्धि थी : सुआ कभी भी [उसके लिए] मयूर नहीं हो सकता है। (६) जो [नारी] कान्त(पति) की आज्ञा में न रहती हो, उसका पति को ही कौन-सा भरोसा होगा ? (७) कहीं ऐसा न हो कि रात आ रही है, [राजा आखेट से आता हो] और इसकी खोज हो, तथा घोड़े का रोग बन्दर के मत्थे जाए (रानी के अपराध का दण्ड मुझे भोगना पड़े)। (८) ये दो छिपाने से नहीं छिपते हैं---एक तो हत्या और दूसरे पाप। (९) ये दोनों अपनी साक्षी स्वयं दे कर अन्त में भी विनाश करते हैं।"

टिप्पणी--(३) आग<अग्ग<अग्र=भविष्य। (४) तिवानि<स्त्री-वर्ण (?)। जौं<जउ<यदि। (५) ताऊ<ताव<तावत्। मँजूर<मयूर। काउ<कआ+उ<कदापि। (६) कंत<कान्त=पति। आएसु<आदेश=आज्ञा। नाह<नाथ=पति। (७) तुरिअ<तुरय<तुरग=घोड़ा। हरि=बन्दर। तुरै रोग हरि माँथें जाई : कथा यह है कि एक राजा की अश्वशाला के पास कुछ बन्दर रहते थे और एक कुत्ता था जो राजकीय भोजनालय में अक्सर पहुँच जाया करता था। एक दिन भोजनालय के भृत्यों ने उसकी यह आदत छुड़ाने के लिए आग का अँगारा उस पर फेंकने का निश्चय किया। बन्दरों के सरदार को किसी प्रकार यह बात ज्ञात हो गई। उसने सोचा यदि कुत्ता जलता हुआ भाग कर इधर आया तो अश्वशाला जलने लगेगी और अश्वों के जलने पर बन्दरों की चर्बी निकाल कर अश्वों के व्रणों पर लगाई जाएगी। इसलिए उसने अपने साथियों को वहाँ से भाग चलने की सलाह दी, किन्तु उसके साथियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। एक दिन यही हुआ : अश्वशाला जलने लगी और फिर अश्वों के व्रणों पर उनकी चर्बी निकाल कर लगाई गई। (९) सैं<सइं<स्वयं। साखी<साक्खि<साक्षिन्।

राखा सुआ धाइ मति साजा। भएउ खोज निसि आएँ राजा।
रानी उतर मान सौं दीन्हा। पंडित सुआ मँजारी लीन्हा।
मैं पूँछा सिंघल पदुमिनी। उतरु दीन्ह तूँ को नागिनी।
वै जस दिन तूँ निसि अँधियारी। जहाँ बसंत करील को बारी।
का तोरु पुरुष रैनि का राऊ। उलू न जान देवस कर भाऊ।
का वह पंखि कोटि महँ कोटी। अस बड़ बोल जीभ कह छोटी।
रुहिर चुऐ जब जब कह बाता। भोजन बिनु भोजन मुख राता।
माथें नहिं बैसारिअ सठहि सुआ जौं लोन।
कान टूट जेहि अभरन का लै करव सो सोन॥ ८७॥

अर्थ---(१) धाय ने बुद्धिमानी की तथा सुए की रक्षा कर ली, और राजा जब रात में [आखेट से लौट कर] आया, [सुए की] खोज हुई। (२) रानी ने [पूछने पर] अभिमान से उत्तर दिया, "उस पंडित सुए को बिल्ली ने ले डाला। (३) मैंने उससे सिंहल की पद्मिनी नारियों के विषय में पूछा, और उसने उत्तर दिया, 'ऐ नागिनी, तू [उनकी तुलना में] कौन है ? (४) वे यदि दिन जैसी हैं, तो तू अँधेरी रात जैसी है ; जहाँ पर वसन्त का वैभव हो, वहाँ पर करील, ऐ बालिका, किस गिनती में हैं ? (५) और, तेरा पति

भी क्या है ? वह रजनी का राजा (स्वामी) है : [वह] उल्लू दिन का भाव नहीं जानता है।' (६) वह पक्षी क्या है ? वह निकृष्टतम में भी निकृष्टतम है, [इसीलिए तो] ऐसी बड़ी बात [अपनी] ऐसी छोटी चिह्वा से कहता है। (७) जब जब वह बातें कहता है [उसके मुख से] रुधिर चूता है, और भोजन किए रहने पर तथा बिना भोजन किए भी उसका मुख रक्त वर्ण का रहता है। (८) यदि सुआ सुंदर हो, तो भी वह शठ है, इसलिए उसे मत्थे पर मत बिठाइए (सिर न चढ़ाइए), (९) [क्योंकि] जिस आभरण से कान टूटे, उस स्वर्णाभरण को लेकर ही क्या करना होगा ?"

टिप्पणी--(१) धाइ<धात्री = पालन-पोषण करने वाली। साज्<सज्ज्<सस्ज् = तैयार करना, सजाना। (२) मँजारी<मार्जारी = बिल्ली। (४) करील<करीर : एक झाड़ जिसमें वसन्त में भी पत्ते इतने छोटे होते हैं कि जान नहीं पड़ते हैं। (५) राउ<राअ<राजा। उलू<उलूक = उल्लू। (६) कोटी<कोडिअ<कोटिक = निकृष्टतम, दुष्ट, पिशुन, चुगुलखोर। जीभ<जिह्वा। (७) रुहिर<रुधिर = रक्त। चुअ<श्चुत् = झरना, टपकना। बात<वत्ता<वार्त्ता। रात<रत्त<रक्त = लाल। (८) लोन<लवण = लावण्यपूर्ण। (९) अभरन<आभरण = अलंकार।

राजैं सुनि बियोग तस माना। जैसें हिएँ बिक्रम पछिताना।
वह हीरामनि पंडित सुआ। जौं बोले तौ अंब्रित चुआ।
पंडित दुख खंडित निरदोखा। पंडित हुतें परै नहिं धोखा।
पंडित केरि जीभि मुख सूधी। पंडित बात न कहै निबूधी।
पंडित सुमति देइ पंथ लावा। जो कुपंथ तेहि पंडित न भावा।
पंडित राते बदन सरेखा। जो हत्यार रुहिर पै देखा।
कै परान घट आनहु मती। कै चलि होहु सुआ संग सती।
जनि जानहु कै औगुन मंदिर होइ सुख साज।
आएसु मेटि कंत कर काकर भा न अकाज॥ ८८॥

अर्थ--(१) राजा ने यह सुना तो उसने उसी प्रकार वियोग का अनुभव किया जैसे विक्रमादित्य हृदय में पछताया था। (२) "वह हीरामणि," [उसने रानी से कहा,] "पंडित सुआ था, और वह बोलता था, तब अमृत चूता था। (३) पंडित दुःख से खंडित (अलग) और निर्दोष होता है और पंडित से धोखा (धोखे का काम) नहीं होता है। (४) पंडित की जिह्वा उसके मुख में शुद्ध (सरल) होती है, और पंडित बुद्धिहीनता की बात नहीं कहता है। (५) पंडित सद्बुद्धि दे कर [उचित] मार्ग पर लगाता है, और जो कुपंथ (अनुचित मार्ग) होता है, उसपर पंडित को भाव नहीं होता है। (६) पंडित और सरेख (ज्ञाता) रक्त [वर्ण के] वदन के होते ही हैं; जो हत्यारा होता है, वही [उनके मुख पर] रुधिर देखता है। (७) यह जानकर या तो उसके [मृत] शरीर में प्राण [वापस] लाओ, अथवा उस सुए के साथ चल कर सती हो। (८) यह न समझो कि अवगुण (बुराई) करने से मंदिर (भवन) में सुख का साज होता है; (९) पति का आदेश मेटने से किस [स्त्री] का अकार्य नहीं हुआ है ?"

टिप्पणी--(१) बिक्रम पछिताना : कहते हैं कि विक्रमादित्य के पास एक सुआ

था; उसने एक दिन कहीं से एक अमृत फल लाकर राजा को दिया। राजा ने उस फल को उगाने के लिए अपने माली को दे दिया। वह जब वृक्ष हुआ और फला, उसका एक फल माली ने लाकर राजा को दिया। संयोग से वह फल भूमि पर जब गिरा था, उसे एक सर्प ने चख लिया था, जिसके कारण वह विषाक्त हो गया था। राजा ने उस फल को रानी को दिया, और रानी ने परीक्षा के लिए उसे एक कुत्ते के आगे डाल दिया। कुत्ता उस फल को खाते ही मर गया। इसका समाचार जब राजा को मिला, उन्होंने उस सुए को मरवा डाला। इसके बाद ही एक दिन बुड्ढ़े माली और उसकी बुढ़िया मालिन में कुछ कहा-सुनी हुई और उस मालिन ने आत्महत्या करने के लिए उसी वृक्ष का एक फल तोड़ कर खा लिया, किन्तु मरने के स्थान पर उल्टे वह तरुणी हो गई। इसका समाचार जब राजा को दिया गया, सुए को मरवाने पर वह बहुत पछताया। (२) चुअ<श्चुत्=झरना, टपकना। (४) सूधि<शुद्ध=सरल। (५) पँथ<पन्थ=मार्ग। (६) सरेख<सल्लेहिय<संलेखित=तपस्या आदि से जिसने अपने शरीर को क्षीण किया हो। पंडित राता बदन : तुल० होइ मुख रात सत्त की बाता।(९२.२)। (७) मती<मत्वा=जानकर। (९) आएसु<आदेश। कंत<कान्त=पति।

चाँद जैस धनि उजिआरि अही। भा पिउ रोस गहन अस गही।
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवाँ जब हारी।
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा।
ऐसें गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पिआरी सोई।
रानी आइ धाइ कें पासाँ। सुआ मुआ सेंवर कै आसाँ।
परा प्रीति कंचन महँ सीसा। बिथुरि न मिलै स्याम पै दीसा।
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ। देइ सोहाग करै एक ठाऊँ।
मैं पिय प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिअ माहँ।
तेहि रिसि हौं परहेलिउँ, निगड़ रोस किअ नाहँ॥ ८६॥

अर्थ--(१) वह स्त्री चन्द्रमा जैसी उज्ज्वल थी, किन्तु प्रिय (पति) का रोष हुआ और वह ग्रहण से गृहीत जैसी हो गई, (२) [वह पति से प्राप्त अपने] परम सौभाग्य का निर्वाह न कर सकी, और सेवा में जब चूक गई, [वह सौभाग्य] दौर्भाग्य हो गया। (३) (अपने मन में उसने कहा,) "इतने एक [इतने अल्प] दोष की कल्पना कर प्रिय (पति) रूठ गया, [इसलिए] जो प्रिय (पति) को अपना (अपने वश का) कहे, वह झूठा है। (४) [जिस प्रकार मैं नागमती गर्व में भूली,] इस प्रकार कोई न गर्व में भूले; वास्तव में जिसे प्रिय (पति) का डर अधिक रहता है, वही [पति की] प्रिया होती है।" (५) [तदनंतर] रानी धाय के पास आई, [और कहने लगी,] "[मैंने अब तक अपने पति की जो सेवा की थी, वह सब व्यर्थ गई,] सेंमल के फल की आशा में उसका सेवन करने वाले सुए को भुआ मिला। (६) [हमारी और हमारे प्रिय (पति) की] प्रीति रूपी कंचन में सीसा पड़ गया, जिसके कारण वह कंचन बिथर गया और अवश्य ही श्याम दिखाई पड़ने लगा। (७) वह सोनार (स्वर्णकार) कहाँ मिलेगा जिसके पास मैं जाऊँ, जो सोहागा (प्रीति पक्ष में खोया हुआ सौभाग्य) दे और बिथरे हुए

सोने (प्रीति पक्ष में छिन्न भिन्न प्रीति) को इकट्ठा (प्रीतिपक्ष में अविच्छिन्न) कर दे? (८) मैंने प्रिय (पति) की प्रीति के भरोसे पर मन में गर्व किया। (९) उसी (गर्व) के आवेश में मैंने प्रहेला की और मेरे स्वामी ने [मेरे पैरों में] रोष की बेड़ी कर दी (डाल दी)।"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री। उजिआर<उज्ज्वल। गहन<ग्रहण। (२) सोहाग<सौभाग्य। दोहाग<दोहग्ग<दौर्भाग्य=दुष्ट भाग्य। (३) रूठा<रुष्ट। झूठा<झुट्ठ [दे०]=अलीक, असत्य। (४) पिआरी<प्रिय+आलि=प्यारी। (५) भुआ<भूत=सेमल से निकली हुई रूई, जो पेड़ में फल के फटने से निकल कर हवा में उड़ने लगती है। सेंवर<सामलि<शाल्मलि। (६) सीसा<सीस=कुछ श्यामता लिए हुए प्रसिद्ध धातु। बिथुर्<वि+स्तृ=फैलना, तितर-बितर होना। (७) सोनार<स्वर्णकार। (८) परहेल्=प्रहेला करना, कर्त्तव्य में असावधानी करना, धृष्टता करना, खिलवाड़ करना। निगड़<निगड=बेड़ी।

इस छंद में कवि का सांकेतिक अभिप्राय प्रकट है। पति परमेश्वर है, स्त्री जीव है। जीव को अपनी सेवा में सदैव सतर्क रहना चाहिए; उस पर कितनी भी कृपा परमेश्वर की हो, किन्तु उसे उस पर गर्व न करना चाहिए और न उस गर्व के आवेश में प्रहेला करनी चाहिए। परमेश्वर से जो विशेष रूप से डरता रहता है, वही वास्तव में उसका प्रीतिपात्र होता है।

उतर धाइ तब दीन्ह रिसाई। रिसि आपुहि बुधि औरहि खाई।
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला। को न गएउ एहि रिसि कर घाला।
तूँ रिसि भरी न देखसि आगू। रिसि महँ काकर भएउ सोहागू।
बिरस बिरोध रिसिहि पै होई। रिसि मारै तेहि मार न कोई।
जेंहि कै रिसि मरिए, रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै।
जेंहि रिसि तेहि रस जोगै न जाई। बिनु रस हरदि होइ पिअराई।
कंत सोहाग कि पाइअ साँधा। पावै सोइ जो ओहिं चित बाँधा।
रहै जो पिय के आएसु औ बरतै होइ खीन।
सोइ चाँद अस निरमरि जरम न होइ मलीन॥ ९०॥

अर्थ--(१) धाय ने तब क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, "रिस अपने [करने वाले] को तथा बुद्धि अन्य को खाती है। (२) मैंने जो तुम से [पहले भी] कहा था, हे बाला, रिस न किया करो। इस रिस का [फेंका] (मारा) कौन नहीं [बरबाद] गया? (३) तुमने रिस से भर कर आगा (परिणाम) नहीं देखा, [यह तो सोचो कि] रिस में किसका सोहाग (सौभाग्य) हुआ है। (४) रसहीनता और विरोध अवश्य ही रिस ही के परिणाम-स्वरूप होते हैं; [इसलिए] जो रिस को मार लेता है, उसे कोई नहीं मार सकता है। (५) जिस रिस के परिणाम-स्वरूप हम मरते हैं, और जिस रस के परिणाम-स्वरूप हम जीते हैं, उस रस को छोड़ कर रिस कभी न करिए। (६) जिसे रिस होती है उससे रस (पेड़) की रक्षा नहीं की जा सकती है, और [तुम जानती ही हो] रस के अभाव के कारण ही हलदी में पीतता होती है। (७) कान्त (पति) का सोहाग (अनु-

राग) क्या कहीं [स्वतः] संहित (संलग्न) रूप में मिलता है ? उसे वह प्राप्त करती है जो उससे अपने चित्त को बाँधती है। (८) जो नारी पति के आदेशों [का पालन करने] में [दत्त-चित्त] रहती है, और उससे क्षीण (गर्वहीन) हो कर बर्त्तती है, (९) वही [द्वितीया के क्षीण] चन्द्रमा जैसी निरमल [बनी] रहती है और जन्म (जीवन)-पर्यन्त मलिन नहीं होती है।

टिप्पणी––(१) घाल्<घल्ल् [दे०]=फेंकना। (३) आग<अग्ग<अग्र=आगे आने वाली स्थिति। सोहाग<सोहग्ग<सौभाग्य=पति का प्रेम। (६) जोगव्=योजय् (?)=रक्षा करना। । पिअराई<पीतता। (७) साँधा<संहित=संलग्न। (८) आएसु<आदेश। खीन<क्षीण=गर्वहीन। बरतय्<वर्तय्=बर्त्तना।

इस छंद में कवि का सन्देश स्पष्ट है : पति ही परमेश्वर है, स्त्री साधक जीवात्मा है। परमेश्वर का स्नेह, चाहने मात्र से नहीं प्राप्त होता है, वह तब प्राप्त होता है जब साधक अपने चित्त को उससे बाँध देता है, जब वह उसके आदेशों का पालन करने में अनवरत रूप से दत्तचित्त होता है, और सर्वथा क्षीण (गर्वहीन) होकर उससे बर्ते।

जुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहँ आनी।
मान मते हौं गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हार मरम मैं लीन्हा।
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करह बिनासा।
जौं तुम्ह देइ नाइ कै गीवाँ। छाँड़हु नहिं बिनु मारें जीवाँ।
मिलतहि महँ जनु अहहु निनारे। तुम्ह सौं अहै अदेस पिआरे।
मैं जाना तुम्ह मोहीं माहाँ। देखौं ताकि तौ हहु सब पाहाँ।
का रानी का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भलि सोई।
तुम्ह सौं कोइ न जीता हारे बररुचि भोज।
पहिलें आपु खोइ कै करै तुम्हारा खोज ॥ ६१ ॥

अर्थ––(१) इस जुए के खेल (भाग्य की परीक्षा) में हारकर रानी ने मन में समझा, और [धाय से] सुए को लाकर राजा को दिया। (२) [तदनंतर उसने राजा से कहा,] "मान की मति (अथवा मान के मंत्र से) मैंने जो गर्व किया, उससे हे कान्त, मैंने तुम्हारा मर्म [मात्र] लिया था, (३) [और उससे मैं इस परिणाम पर पहुँची कि] जो बारह महीने (सदैव ही) सेवा करता रहे, [उसके] इतने एक [अल्प] अवगुण पर तुम [उसका] विनाश कर देते हो। (४) यदि तुम्हें [कोई] अपनी ग्रीवा झुका कर दे, तो तुम उसका जीव मारे (प्राण समाप्त किए) बिना नहीं छोड़ते हो। (५) तुम मिलते ही में मानो अलग हो जाते हो; तुम्हें, हे प्रिय, आदेश (प्रणाम) है! (६) मैंने समझा था कि तुम मुझ में ही [रमे हो, किन्तु जब अच्छी तरह देखती हूँ, तो देखती हूँ कि तुम सभी में रमे] हो। (७) क्या कोई रानी है और क्या कोई दासी है? [सच पूछो तो] जिसको तुम मया (स्नेह, पूर्णकृपा) करते हो, वही भली है। (८) तुम से कोई न जीत पाया (तुम्हें कोई वश में नहीं कर सका), और इस प्रयास में वररुचि [जैसे पंडित] और भोज [जैसे वैभवशाली राजा] भी असफल ही रहे, (९) [क्योंकि] जो तुम्हारी खोज में कोई तब पड़े, जब वह पहले अपने-आप को मिटा दे।"

टिप्पणी--(१) जुआ<धूत। आन्<आ+नी=लाना। (२) मते=मति से, काया विचार से। (४) गीव<ग्रीवा। (५) निनार<णिण्णार<निर्नगर=बाहर हुआ, अलग। अदेस<आदेश=प्रणाम। (७) चेरी<चेडिआ<चेटी=दासी। मया<माया--स्नेह, कृपा।

जायसी लौकिक विषय का निर्वाह करते हुए अनायास ही किस प्रकार अलौकिक विषय पर आते हैं, यह छंद इसका एक अच्छा उदाहरण है। पंक्ति ५ तथा (६) में सांकेतिक शैली में परमेश्वर की जीव से अभिन्नता में भिन्नता और उसकी सर्वात्मकता का प्रतिपादन किया गया है। पंक्ति ८ तथा ९ में उसको प्राप्त करने का सबसे अनिवार्य साधन अपने-आपको मिटाना कहा गया है, और कहा गया है कि पांडित्य तथा महान् से महान् लौकिक समृद्धि से वह प्राप्य नहीं है। इन पंक्तियों में कवि संकेत की सीमाओं से निकल कर एकदम बाहर आ जाता है, 'तुमसों कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज' किन्हीं भी अर्थों में रतनसेन के लिए नहीं ठीक माना जा सकता है: उससे भोज और बररुचि के जीतने-हारने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। यह कथन केवल परमेश्वर के संबंध में सार्थक है।

राजैं कहा सत्त कहु सुआ। बिनु सत कस जस सेंवर भुआ।
होइ मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धरम सँघाता।
बाँधी सिस्टि अहै सत केरी। लछिमी आहि सत्त की चेरीं।
सत्त जहाँ साहस सिधि पावा। जौं सतबादी पुरुष कहावा।
सत कहँ सती सँवारै सरा। आग लाइ चहुँ दिसि सत जरा।
दुइ जग तरा सत्त जेइँ राखा। औ पिआर दैअहि सत भाखा।
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनासा। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा।
तुम्ह सयान औ पंडित असत न भाखहु काउ।
सत्त कहहु सो मोसों दहुँ का कर अनियाउ॥ ६२॥

अर्थ--(१) राजा ने कहा, "ऐ सुए, सत्य कह, बिना सत्य के [मनुष्य कैसा होता है] जैसे सेमल का भुआ। (२) सत्य की बात से मुख रक्तवर्ण का होता है। और जहाँ पर सत्य होता है वहाँ धर्म का संघात होता ही है। (३) सृष्टि सत्य ही की बाँधी है और लक्ष्मी सत्य की दासी है। (४) जहाँ सत्य है, साहस और सिद्धि [स्वतः] प्राप्त हो जाते हैं, और सत्यवादी ही [वास्तव में] पुरुष कहलाता है। (५) [अपना] सत्य [पालन] के लिए ही सती चिता सजाती है और उसमें चारों ओर से आग लगाकर सत्य [के पालन] में जलती है। (६) जिसने सत्य की रक्षा की, वह दोनों जगतों में--इस लोक और परलोक में--तर गया, और जिसने सत्य-भाषण किया, वह दैव को भी प्यारा हुआ। (७) उस सत्य को छोड़कर जिसने [अपने] धर्म का विनाश किया, हृदय में कौन सी मति कर उसने सत्य का नाश किया? (८) तुम सज्ञान और पंडित हो और कभी असत्य नहीं बोलते हो, (९) अतः तुम मुझ से सत्य-सत्य कहो कि [इस घटना में] किसका अन्याय (अपराध) था।"

टिप्पणी--(१) सत्त<सत्य। सेंवर<सामलि<शाल्मलि। भुआ<भूत=वह

रूई जो सेमल के फल से निकलती है और हवा में उड़ने लगती है। (२) होइ पुखरात की बाता : तुल० पंडित रातेबदन सरेखा। (८८.६)। संघात=समूह। (३) जाँधी सिस्टि अहै सत केरी : तुल० ऋतं च सत्यंच। लखिमी<लक्ष्मी। चेरी<चेटी=दासी। (५) सरा<शर=चिता। (६) भाख्<भाव=कहना। (८) सयान<सआणे<सज्ञान। (९) अनियाउ<अन्याय<अपराध।

इस छंद में जो सत्य की महिमा पाई गई है, उसमें जायसी की उपदेश-वृत्ति कुछ स्फुट हो गई है; कथा की आवश्यकताओं के लिए छंद के प्रारंभ तथा अंत की दो-दो पंक्तियाँ ही पर्याप्त थीं।

सत्त कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ।
हौं सत लै निसरा एहि पतें। सिंघल दीप राज घर हतें।
पदुमावति राजा कै बारी। पदुम गंध ससि बिधि औतारी।
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी।
हँहिं जो पदुमिनी सिंघल माहाँ। सुगँध सुरूप सो ओहि की छाहाँ।
हीरामनि हौं तेहि क परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा।
औ पाएउँ मानुस कै भाखा। नाहिं त कहाँ मूँठि भरि पाँखा।
जौ लहि जिऔं रात दिन सुमिरौं मरौं तो ओहि लै नाउँ।
मुख राता तन हरिअर कीन्हे ओहूँ जगत लै जाउँ ॥६३॥

अर्थ--(१) "हे राजा," [सुए ने कहा,] "सत्य-भाषण करते हुए भले ही प्राण चले जाएँ, किन्तु असत्य-भाषण कदापि नहीं करूँगा। (२) मैं सिंहल द्वीप के राजगृह (राज-कुल) से इसी प्रत्यय (विश्वास) से निकला हूँ। (३) पद्मावती [वहाँ के] राजा की बालिका है, जो पद्मगंधा (पद्मिनी) और शशि [के रूप में] विधि द्वारा अवतरित की गई है। (४) उस रानी का मुख शशि जैसा और शरीर मलयगिरि (चंदन) जैसा है; वह सुगंध युक्त द्वादस वर्ण का [खरा] कनक है। (५) जो (अन्य) पद्मिनियाँ सिंहल में है, वे सुगंध और रूप में उसकी छाया (मात्र) हैं। (६) मैं हीरामणि उसी का पारावत (पक्षी) हूँ, और मेरे कंठ में कंठा उसी की सेवा करते हुए फूटा, (७) और [उसीकी सेवा करते हुए] मैंने मनुष्य की भाषा पाई, नहीं तो मैं मुट्ठी भर पाँखें (पाँखों वाले पक्षी) हैं क्या (कौन-सी) हस्ती है? (८) जब तक मैं जीवित रहूँगा, रात-दिन उसका स्मरण करूँगा और [जब] मरूँगा तो उसका नाम लेकर; (९) [जिससे कि] मुख को रक्त वर्ण का और शरीर को हरा किए हुए उन्हें मैं उस जगत् (परलोक) में [परमेश्वर के समक्ष] भी ले जा सकूँ।"

टिप्पणी--(१) सत<सत्य। (२) पत<प्रत्यय=विश्वास। (३) बारी<बालिका। (४) दुआदस बानी<द्वादश<वर्णित्=द्वादश वर्णों का : जायसी के समय में सोने के खरेपन के बारह वर्ण माने जाते थे, और बारह वर्णों का सोना सर्वोत्कृष्ट माना जाता था (विस्तार के लिए देखिए ऊपर छंद ८३.५ की 'बनवारी' विषयक टिप्पणी तथा आईन-ए-अकबरी भाग, १, पृ० १८) (६) परेवा<पारेवय<पारावत=पक्षी। कंठा=सुए के कंठ में पाया जाने वाला कंठ-सूत्र जैसी रेखा। कंठा फूटना : सुओं के कंठ

में कंठा तब फूटता है जब वे तरुण होते हैं। (७) मूँठि<मुष्टि। पाँख<पंख<पक्ष। (९) रात<रत्त<रक्त=लाल वर्ण का, : हरिअर<हरिअ+डा<हरित=हरे वर्ण का।

हीरामनि जौं कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भँवर भुलाना।
आगें आउ पंखि उजियारे। कहहि सो दीप पतंग कै बारे।
रहा जो कनक सुबासिक ठाऊँ। कस न होइ हीरामनि नाऊँ।
को राजा कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू।
सुनि सो समुँद चखु भे किलकिलाँ। कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला।
कहु सुगंध धनि कसि निरमरी। भा अलि संग कि अबहीं करी।
औ कहु तहाँ जो पदुमिनि लोनी। घर घर सब के होहिं जेहिं होनी।
सबै बखान तहाँ कर कहत सो मोसौं आउ।
चहौं दीप वह देखा सुनत उठा तस चाउ॥ ६४॥

अर्थ--(१) हीरामणिने जब कमल (पद्मिनी) का बखान किया, राजा उसे सुन कर भ्रमर (प्रेमी) होकर भूल रहा। (२) उसने कहा, "ऐ उज्वल पक्षी, आगे आ, और उस द्वीप रूपी दीप का कथन कर जिसका पतिंगा बना कर तू मुझे जला रहा है। (३) जो सुवासिक कनक (पद्मावती) के स्थान पर [इतने समय तक] रहा, उसका नाम हीरामणि क्यों न हो ? । (४) वह राजा कौन है, और [उसका] वह उत्तुंग (ऊँचा) द्वीप कैसा है जिसको सुनते ही मेरा मन (दीपक पर मँडरानेवाला) पतिंगा हो गया है ? (५) उस समुद्र को सुन कर मेरे चक्षु किलकिल (समुद्र की हिलोर) हो गए; अब मैं उस कमल (पद्मिनी) से भ्रमर हो कर मिलना चाहता हूँ। (६) यह बता कि वह सुगंधवाला कैसी (कितनी) निर्मल (अछूती) है: अलि (भ्रमर-प्रेमी) का संग उसे प्राप्त हुआ है या वह अभी कलिका ही है; (७) और वहाँ जो [अन्य] लावण्यवती पद्मिनियाँ हैं, उनके संबंध में बता तथा वहाँ घर-घर में जिस होनी के साथ वे होती हैं, उसे बता। (८) वहाँ का सब वर्णन कहते (करते) हुए मेरे साथ चला आ, (९) [तेरी बातें सुनकर] ऐसा चाव उठा है कि उस द्वीप को देखना चाहता हूँ।

टिप्पणी--(१), (५) कँवल-भँवर: 'पद्मावत' में ये प्रेमिका और प्रेमी के प्रतीक हैं। (२) पंखि<पक्षिन्। उजिआर<उज्वल=प्रकाशपूर्ण, दीप्त। दीप: द्वीप, तथा दीप। बार्<बात्<ज्वालय्=जलाना। (४) उतंग<उत्तुंग<ऊँचा। (५) किल-किल: समुद्र की हिलोर: दया: पुनि किलकिला समुंद महँ आए। किलकिल उठा देखि डरु खाए। अधीरज वह देखि हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा। (१५५.१-२) (६) करी<कलिआ<कलिका। (७) लोण<लवण=लावण्यपूर्ण। होनी=होने वाली बात, दिनचर्या। (८) बखान<बक्खाण<व्याख्यान=वर्णन। सों<समम्=साथ। (९) दीप<द्वीप।

का राजा हौं बरनौ तासू। सिंघल दीप आहि कबिलासू।
जो गा तहाँ भुलानेउ सोई। गे जुग बीत न बहुरा कोई।
घर घर पदुमिनि छतिसौ जाती। सदा बसंत देवस औ राती।

जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी । तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी ।
गंध्रपसेनि तहाँ बड़ राजा । अछरिन्ह माहँ इंद्र बिधि साजा ।
सो पदुमावति ताकरि बारी । औ सब दीप माहिं उजिआरी ।
चहूँ खंड के बर जो ओनाहीं । गरबन्ह राजा बोलै नाहीं ।
उअत सूर जस देखिअ चाँद छपै तेहि धूप ।
औसै सबै जाहिं छपि पदुमावति के रूप ॥६५॥

अर्थ (१) [सुए ने कहा,] "हे राजा मैं उसका क्या वर्णन करूँ ? सिंहल द्वीप तो शिवलोक है। (२) जो भी वहाँ गया, वहीं भटक गया और युग बीत गए, फिर भी कोई वहाँ से लौटा नहीं। (३) वहाँ की छत्तीसो जातियों के घर-घर में पद्मिनियाँ हैं [जिनके शरीरों की वर्ण-वर्ण की सुगंध के कारण] वहाँ सदैव दिन तथा रात बसंत रहता है। (४) फुलवाड़ियों में जिन-जिन वर्णों के फूल [होते] हैं, उन्हीं-उन्हीं वर्णों की उन नारियों [के शरीर] की सुगंध [होती] है।(५) गंधर्वसेन वहाँ [उसी प्रकार] महाराजा है, [जिस प्रकार] अप्सराओं के मध्य विधाता ने इन्द्र को सजाया (बनाया) है। (६) वह पद्मावती उस राजा की बालिका है और वह समस्त द्वीप में उज्ज्वल (प्रकाशित) है। (७) (उसको वरण करने के लिए) जब चारों खंडों के वर उसकी ओर ध्यान देते हैं, तो गर्व के कारण राजा उनसे बोलता [भी] नहीं। जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य को आप देखते हैं कि उसकी धूप से चंद्रमा छिप जाता है, (९) इसी प्रकार पद्मावती के रूप के आगे [अन्य] समस्त [रूप] छिप जाते हैं।"

टिप्पणी—(१) कबिलास<कैलास=शिवलोक । (२) भूल्<भुल्ल्<भ्रंश्= भूल जाना, भटक जाना। बहुर्<बाहुड्<व्याघुट्=लौटना। (२) छत्तीस जाति: जायसी के युग में महानगरों में छत्तीस जातियों के बसने का एक प्रसिद्ध अभिप्राय था। स्वभावतः जातियों की यह सूची देश-काल-भेद के अनुसार बदलती हुई मिलती है। (४) जेहि जेहि वरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध से नारी। : पद्मिनी के शरीर से कमल की तथा सिंहल की अन्य नारियों के शरीरों से अन्य पुष्पों की गंध निकलती रहती थी, यह उल्लेख जायसी ने अनेक बार किया है, और छंद ५९ में इसी भाव को उन्होंने पल्लवित भी किया है। (५) अछरी<अप्सरस् । साज्<सज्ज्<सृज्= बनाना। (६) बारी<बालिका। दीप<द्वीप । उजिआरि<औज्ज्वल्य=प्रकाश। (७) ओनाय्=सुन कर आना (तुल० ५३.७) (८) उव्<उग्गे<उद्+गम्=उदय होना।

सुनि रवि नाउँ रतन भा राता । पंडित फेरि इहै कहु बाता ।
तुइँ सुरंग मूरति वह कही । चित महँ लागि चित्र होइ रही ।
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी । सब घट पूरि हिऐं परगसी ।
अब हौं सुरुज चाँद वह छाया । जल बिनु मीन रकत बिनु काया ।
किरिनि करा भा प्रेम अँकूरू । जौं ससि सरग मिलौं होइ सूरू ।
सहसहुँ कराँ रूप मन भूला । जहँ जहँ दिस्टि कँवल जनु फूला ।
तहाँ भँवर जेउँ कँवला गंधी । भै ससि राहु केरि रिनि बंधी ।

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि ।
पेम छाँड़ि किछु औरु न लोना जौं देखौं मन बूझि ।।८६।।

अर्थ (१) 'सूर्य' का शब्द सुनते ही रत्न (रूपी रत्नसेन) रक्त वर्ण का हो गया [यह सुनते ही कि वह नारी रूप के नक्षत्र मंडल का सूर्य है, रत्नसेन उस पर अनुरक्त हो गया] [और कह उठा,] 'हे पंडित (हीरामणि), पुनः यही वार्ता कह; (२) तूने ऐसी सुंदर मूर्त्ति का कथन किया है जो [मेरे] चित्त में लग (चिपक) कर [इस समय] चित्र [जैसा स्पष्ट] हो रहा है; (३) [मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है] मानो वह सूर्य होकर और मेरे मन में आकर बस गई है और समस्त शरीर में आपूरित होकर हृदय में प्रकाशित हुई है। (४) इस प्रकार मेरे समस्त व्यक्तित्व में आपूरित होने के कारण अब मैं ही सूर्य हो गया और वह चन्द्र के रूप में छाया [मात्र] रह गई; वह जल के निःशेष होने पर मीन और रक्त के निःशेष होने पर काया [जैसी] हो गई। (५) अब तो [सूर्य की] किरण के इस अंश (रत्न) में प्रेम-अंकुर उत्पन्न हो गया है, इसलिए यदि वह शशि स्वर्ग (आकाश) में [भी] होगा, तो मैं सूर्य होकर उससे मिलूंगा। (६) अब अपनी सहस्र-कलाओं (अथवा सहस्र करों) के साथ (अपने समस्त प्रेम-वैभव के साथ) इस सूर्य (प्रेमी) का मन उस (पद्मिनी–प्रेमिका के) रूप पर भूल उठा है और जहाँ-जहाँ भी इसकी दृष्टि जाती है, इसे मानो वहीं-वहीं वह कमलिनी (प्रेमिका) फूली हुई [दिखाई देती] है। (७) [अब] सुवासिक उस कमलिनी के वश में मेरा जीव-भ्रमर उसी प्रकार हो रहा है जैसे राहु के ऋण के कारण शशि उसके बंधन में पड़ा। (८) तीनों लोकों तथा चौदहों भुवनों का समस्त रहस्य अब मुझे सूझ रहा (मुझ पर खुलने लगा) है (९) और जब मैं अपने मन में विचार करके देखता हूँ तो जान पड़ता है कि प्रेम को छोड़ कर [संसार में] और कुछ भी लावण्यपूर्ण नहीं है।"

टिप्पणी—(१) बात<वत्ता<वार्त्ता । (३) परगस्<प्र+काशय्=प्रकाश करना। (५) करा<कला। सरग्<स्वर्ग=आकाश। (६) सहसहुँ कराँ : सूर्य की सहस्र किरणें मानी जाती हैं, उन्हीं को यहाँ कर अथवा कला कहा गया है। (७) गंधी<गंधिक—सुवासिक, सुवासयुक्त। भइ ससिराहु हेर रिनि बंधी : लोक में ऐसा विश्वास है कि चन्द्रमा राहु का ऋणी है, और वह ऋण उस पर शेष है, इसलिए उसे उगाहने के लिए राहु चन्द्रमा को बन्दी किया करता है। (९) लोन<लवण=लावण्यपूर्ण।

पंक्ति ३-४ में 'परकाया-प्रवेश' की उस युक्ति का आश्रय लिया गया है जिसको आगे जायसी ने आगे छंद २५६–२५७ में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। इसका उल्लेख तत्कालीन तथा कुछ पूर्ववर्ती साहित्य में प्रायः हुआ है : 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (हिन्दी अनु०) पृ० ८, तथा 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' पृ० ८२।

दोहे में जायसी ने प्रेम-दर्शन और सौन्दर्य-विज्ञान के एक बहुत ही मौलिक तत्व का निरूपण किया है।

पेम सुनत मन भूलु न राजा । कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा ।
पेम फाँद जो परा न छूटा । जीउ दीन्ह बहु फाँद न टूटा ।
गिरगिट छंद धरै दुख तेता । खिन खिन रात पीत खिन सेता ।

जानि पुछारि जो भै बनवासी । रोवँ रोवँ परे फाँद नगवासी ।
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू । उड़ि न सकै अरुझी भा बाँदू ।
मुएउँ मुएउँ अहनिसि चिललाई । ओहि रोस नागन्ह धरि खाई ।
पाँडुक सुआ कंठ ओहि चीन्हा । जेहि गियँ परा चाह जिउ दीन्हा ।
तीतिर गियँ जो फाँद है नितहि पुकारै दोख ।
सकति हँकारि फाँद गियँ मेलै कब मारै होइ मोख ॥८७॥

अर्थ--(१) [सुए ने कहा,] "'प्रेम' शब्द को सुनते ही, ऐ राजा, मन में मत बहक; प्रेम इतना कठिन है कि [उसके निर्वाह में] कोई सिर दे (प्राण दे) तो शोभा पाता है। (२) प्रेम-पाश में जो पड़ गया वह छूटा नहीं; उसने प्राण भी दे दिए किन्तु फन्दा नहीं टूटा। (३) गिरगिट जो छद्म [वेश] धारण करता है, वह उतने (प्राण देने के) ही दुःख के कारण धारण करता है और क्षण-प्रतिक्षण वह लाल, पीला और श्वेत होता है। (४) पुनः उस दुःख को मोरिनी जानती है जो वनवासिनी हो गई, क्योंकि उसके रोम-रोम में [प्रेम के] नागपाशिक फंदे पड़ गए। (५) उसके पंखों में पुनः-पुनः वही फंदा पड़ता रहा है, जिसके कारण वह उड़ नहीं सकती है और बन्द (क़ैदी) हो गयी है। (६) वह इसी कारण रात-दिन 'मुएउँ-मुएउँ' (मृत हुई, मृत हुई) चिल्लाती (चीत्कार करती) रहती है, और इसी रोष के कारण नागों को पकड़-पकड़ कर खाती है। (७) पंडुक और सुए के कंठ में भी वही (प्रेमी का) चिह्न है, और वह जिसकी भी ग्रीवा में पड़ा वही अपने प्राण देना [देकर उस पाश से मुक्त होना] चाहता है। (८) तीतर की ग्रीवा में क्योंकि वह [प्रेम का] फन्दा पड़ा हुआ है, वह नित्य ही उस दोष की पुकार लगाता है, (९) और [अपनी] शक्ति को पुकार कर [पूरी शक्ति से] अपनी ग्रीवा में [व्याध का] फन्दा डाल लेता है कि वह कब (कितने शीघ्र) उसे मार डाले और उसे [प्रेम-पाश से] मोक्ष मिल जाए।"

टिप्पणी--(१) छाज् < छज्ज् (दे०) = शोभना, चमकना। (२) फांद < फन्द < स्पन्द = फन्दा। टूट् < तुट्ट < त्रट् = टूटना, खंडित होना। (३) छंद < छद्म = छद्म-वेश। तेत < तेत्तिअ < तावत् = उतना। खिन < क्षण। सेत < श्वेत। (४) पुछारि < पिच्छ + आलु (?) = मयूर। रोवँ < रोमन्। नगवासी < नागपाशिक। (६) बांदू < बंद (दे०) = कैदी, कारावद्ध प्राणी। (६) मअ् < मृत होना। चिललाय् = चीत्कार करना। (७) गिय < ग्रीवा। (९) हँकार् < हक्कार् < आ + कारय् = पुकारना। मोख < मोक्ख = मोक्ष।

इस छंद में जायसी ने प्रकृति के प्राणियों को भी प्रेम के पाश में आबद्ध बताया है।

राजैं लीन्ह ऊभ भरि साँसा । ऐस बोल जनि बोलु निरासा ।
भलेहिं पेम है कठिन दुहेला । दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला ।
दुख भीतर जो पेम मधु राखा । गंजन मरन सहै सो चाखा ।
जेइँ नहिं सीस पेम पँथ लावा । सो प्रिथिमी महँ काहे कों आवा ।
अब मैं पेम पंथ सिर मेला । पाँव न ठेलु राखु कै चेला ।
पेम बार सो कहै जो देखा । जेइँ न देख का जान बिसेखा ।

तब लगि दुख प्रीतम नहिं भेंटा । मिला जौं गा जरम क दुख मेंटा ।
जसि अनूप तुइँ देखी नख सिख बरनि सिंगार ।
है मोहि आस मिलन कै जौं मेरवै करतार ।।६८।।

अर्थ--(१) राजा ने ऊभ कर भरी साँस ली, [और कहा,] "ऐसे निराश वचन मत कह। (२) भले ही प्रेम कठिन और दुर्हेल्य है किन्तु जिसने इस प्रेम की खेल को खेला वह दोनों जगत्--इहलोक और परलोक--में तर गया। (३) प्रेम-मधु को दुःख के भीतर जो रक्खा गया है, [उसके कारण] जो गंजन (अपमान, तिरस्कार) और मरण सहन करता है, वहीं उस मधु को चाखता है। (४) जिसने प्रेमपंथ में अपने सिर (जीवन) को नहीं लगाया, वह पृथ्वी (जगत्) में क्यों आया? (५) अब मैंने अपने सिर (जीवन) को प्रेम-पंथ में डाल दिया है, पैरों से तू मुझे मत ठुकरा, मुझे चेला बनाकर रख। (६) प्रेम के द्वार का कथन (निर्देश) वही कर सकता है जिसने उसे देखा हो। जिसने उसे देखा ही न हो वह उसके लक्षण क्या जाने? (७) दुःख तभी तक रहता है जब तक प्रियतम से मिलना नहीं होता है; वह मिल गया तो जाकर उसने जन्मों का दुःख मिटा लिया। (८) तूने उसे जैसा अनुपम देखा है, उसके नख-शिख का शृंगार वर्णन कर। (९) मुझे उससे मिलने की आशा है, यदि कर्त्तार मिला दे।"

छंद की पंक्ति २, ३ में प्रेम को दुस्साध्य कहते हुए भी उसके भीतर उस शिव-तत्व की विद्यमानता कही गई है जो प्रेम की साधना करने वाले को दोनों जगतों में पार लगाता है। पंक्ति ७ में प्रियतम के मिलन को जन्म-जन्मान्तर के दुःख को मिटाने वाला कहा गया है।

टिप्पणी--(१) ऊभ्<उब्भ्<ऊर्ध्वय् = उठना। ऐस<ईदृश् = इस प्रकार का। (२) दुहेल<दुर्हेल्य। (३) गंजन<गञ्जन = अपमान, तिरस्कार। (५) मेंल<मेलय् = डालना, मिलाना। चेला<चिल्ल (दे०) = बालक, शिष्य। (६) बार<वार<द्वार। (७) जरम = जन्म।

का सिंगार ओहि बरनौं राजा । ओहि क सिंगार ओहि पै छाजा ।
प्रथम हि सीस कस्तुरी केसा । बलि बासुकि को औरु नरेसा ।
भँवर केस वह मालति रानी । बिसहर लुरहिं लेहिं अरधानी ।
बेनी छोरि झारु जौं बारा । सरग पतार होइ अँधियारा ।
कोंवल कुटिल केस नग कारे । लहरन्हि भरे भुअंग बिसारे ।
बेधे जानु मलैगिरि बासा । सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा ।
घुँघुरवारि अलकैं बिख भरीं । सिंकरीं पेम चहहिं गियँ परीं ।
अस फँदवारे केस वै राजा परा सीस गियँ फाँद ।
अस्टौ कुरी नाग ओरगाने भै केसन्हि के बाँद ।।६९।।

अर्थ--[सुए ने कहा,] (१) "हे राजा, मैं उसके शृंगार का क्या वर्णन करूँ? उसका शृंगार उसी को शोभा देता है। (२) प्रथम ही उसके सिर पर कस्तूरी [वाले] केश हैं, [उनका वर्णन करता हूँ]; उन पर वासुकी बलि है, और कौन [उनके सामने

ठहर सकता] है ? (३) वह मालती ऐसे भ्रमर-केशों की रानी है, जो [मानो] विषधर हैं और उस पर लोल (लहराते हुए) हुए उस (के शरीर) की सुगंध ले रहे हैं। (४) वेणी खोल कर वह यदि उन बालों को झाड़ दे, तो स्वर्ग (आकाश) और पाताल में [भी] अंधकार हो जाए। (५) वे कोमल, कुटिल और नंगे (नितान्त) काले केश लहरों से भरे (लहरें लेते हुए) विषाक्त भुजग हैं, (६) जो [ऐसे लगता है] मानो मलयगिरि (चंदन) [रूपी शरीर] की सुवास से विद्ध हो कर उसके सिर पर चढ़े चारों ओर लोट रहे हैं। (७) उसकी विष-पूरित घुँघराली अलकें प्रेम की शृंखलाएँ हैं, जो [किसी के] गले में पड़ना चाहती हैं। (८) हे राजा, वे केश ऐसे फंदेवाले हैं कि उनका फंदा [नागों के] सिर और ग्रीवा में पड़ गया। (९) जिसके परिणाम-स्वरूप आठों कुल के नाग उनकी सेवा में आ गए और उन केशों के बंदी हो गए।

टिप्पणी--(१) सिंगार<शृंगार = शोभा, सजावट। छाज्<छज्ज् (दे०) =शोभा देना, चमकना। (२) बासुकि : पुराण प्रसिद्ध नागराज: तीन सर्वश्रेष्ठ नागाधिपति माने जाते थे उनमें से एक वासुकि था, और शेष दो थे तक्षक और शेष। (३) मालती = पुष्प विशेष, कलिका, कुमारी कन्या। बिसहर<विषधर। लर्<लल् = लोल होना। अरघानि<आघ्राण = सुगंध। (४) बेनी<वेणी। झार्<झाड्य् = झटकना। बार<बाल = केश। जौं<जइ<यदि। सरग<स्वर्ग = आकाश। अँधिआर<अन्धकार। (५) नग<णग्ग<नग्न। लहर लेना = सर्पों का लहरों के सदृश हिलना। बिसार<विषाक्त, । (६) लोट्<लोट्ट<लठ्। (७) सिकरी< शृंखला। गिय<ग्रीवा = गर्दन, गला। (८) फंद<स्पन्द। (९) अस्टौ कुरी नाग : महाभारत तथा संस्कृत काव्य-साहित्य में नाग-कुल के आठ प्रसिद्ध राजाओं का उल्लेख मिलता है, वे हैं : वासुकि, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड, महापद्म तथा धनञ्जय। ओरग्<अव + लग् = सेवा करना (दे० २६.३ टिप्पणी)। बाँद<बंद<बंदी = कैदी, कारावद्ध मनुष्य।

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं।
बिनु सेंदुर अस जानहुँ दिया। उजिअर पंथ रैन महँ किया।
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी।
सुरुज किरन जस गगन बिसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी।
खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा।
तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती। जमुना माँझ गाँग कै सोती।
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू।
कनक दुआदस बानि होइ चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत औ तरई उऔ गगन निसि गाँग ॥१००॥

अर्थ--"(१) [अब] मैं सिर के ऊपर की माँग का वर्णन करता हूँ ; उस पर अभी [विवाह का] सिन्दूर नहीं चढ़ा है। (२) बिना सिन्दूर के वह माँग उसके काले बालों में [ऐसी लगती है] मानो दीपक हो, जिसने रात्रि [तुल्य केशों] में पथ

उज्ज्वल किया हो। (२) वह माँग [मानो] कसौटी [तुल्य केशों] में कसी हुई कंचन-रेखा हो अथवा मानो [कृष्णकाय] बादल [तुल्य केशों] में प्रकाशित दामिनी हो। (४) वह माँग [ऐसी लगती है] जैसे गगन [तुल्य केशों] में झलकती हुई सूर्य की विशेष किरण हो, अथवा यमुना [तुल्य केशों] में दीख पड़ती हुई सरस्वती हो। (५) वह माँग [ऐसी लगती है] मानो रुधिर-पूरित उस खाँडे की धार हो जो किसी के द्वारा करवत लेने के अनंतर वेणी (त्रिवेणी) पर रक्खा हुआ हो। (६) उस माँग पर जो मोती पूर कर रक्खे हुए हैं, वे [ऐसे लगते हैं मानो] यमुना [की धारा] में गंगा का स्रोत हो। (७) तपस्वी [उस खांडे से] चूर हो कर इसलिए [इस त्रिवेणी पर] करवत लेते हैं कि वह उस [करवत से पदातित] रुधिर को लेकर उस का सिन्दूर धारण करे। (८) वह माँग द्वादश वर्ण का कनक होने के लिए सौभाग्य रूपी सोहाग की आकांक्षा कर रही है, (९) और [उसके आस पास जो केशों के आभरण हैं वे ऐसे प्रतीत होते हैं] मानो रात्रि में गगन में आकाश-गंगा के उदित होने पर नक्षत्र और तारिकाएँ उस की सेवा कर रहे हों।

टिप्पणी--(१) सेंदुर<सिन्दूर। सेंदुर चढ़ना = विवाह के समय वर कन्या की माँग में सिन्दूर डालता है। (२) दिया<दिअअ<दीपक। उजिअर<उज्ज्वल। रैनि <रयणी<रजनी। (३) कसौटी<कसवट्टिया<कषपट्टिका। (५) खांड< खड्ड<खड्ग (विवरण के लिए दे० आईन-ए-अकबरी जिल्द १, पृ० ११७)। बेनी< वेणी = त्रिवेणी। (६) मोती<मौक्तिक। गाँग<गंगा। सोति<स्रोत। (७) करवत<करपत्र = वह आरा जिससे मुक्ति लाभ के लिए लोग तीर्थों में किसी समय सिर चिराते थे। चूर<चूर्ण। (८) दुआरस + बानि<वर्णिन = बारह वर्ण का अर्थात् पूर्णतः खरा सोना। इस संबंध में दे० ऊपर ८३.५ की टिप्पणी तथा 'आईन-ए-अकबरी', भाग १, पृ० १८)। (९) नखत<नक्षत्र। तरई<तारिका।

कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहि जोति कहाँ जग ओती।
सहस कराँ जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई।
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू।
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा।
तेहि लिलाट पर तिलक बईठा। दुइजि पाट जानहुँ ध्रुव डीठा।
कनक पाट जनु बैठेउ राजा। सबै सिंगार अत्र लै साजा।
ओहि आगें थिर रहै न कोऊ। दहुँ काकहँ अस जुरा सँजोऊ।
खरग धनुक औ चक्र बान दुइ जग मारन तिन्ह नाउँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै राजा मो कहँ भए एक ठाउँ ॥१०१॥

अर्थ--"(१) [अब] ललाट का वर्णन कर रहा हूँ, जो कि द्वितीया के चन्द्रमा की ज्योति का है; किन्तु द्वितीया के चन्द्रमा में भी इस जगत् में उतनी ज्योति कहाँ है? (२) सहस्र कलाओं से जो सूर्य दीप्त होता है, वह भी उस ललाट को देख कर [नित्य] छिप जाता है। (३) उसकी समानता मैं मृगांक (चंद्रमा) को क्या दूँ? चन्द्रमा कलंकवाला है और वह (ललाट) निष्कलंक है; (४) और पुनः चन्द्रमा

को राहु ग्रसता है और वह (ललाट) राहु के द्वारा ग्रस्त हुए विना सदा प्रकाशित रहता है। (५) उस ललाट पर तिलक (इस प्रकार) बैठा हुआ (इस प्रकार लगता है मानों द्वितीया के चन्द्रमा के सिंहासन पर बैठा हुआ ध्रुव दीखता हो ; (६) अथवा कनक के सिंहाँसन पर राजा बैठा हुआ हो, और उसने समस्त श्रृंगार तथा अस्त्र सजा लिए हों। (७) उस तिलक के आगे कोई स्थिर नहीं रहता है; पता नहीं किसके लिए इस प्रकार का संयोग जुड़ा (इकट्ठा हुआ) है। (८) [उस ललाट के राजा के अस्त्रों में] खड्ग, धनुष, चक्र तथा वाण ऐसे हैं कि वे दोनों जगत् (भूलोक तथा स्वर्गलोक) के मारनेवाले कहे जाते हैं।" (९) यह सुन कर राजा (रत्नसेन) मूर्च्छित होकर गिर पड़ा [और इतना ही कह सका,] "मेरे [प्राणों के] लिए ऐसे ऐसे अस्त्र एकत्र हो गए हैं!"

टिप्पणी--(१) दुइजि<द्वितीया। ओति<वावत् (?) = उतनी। (२) करा <कला। दिप् = चमकना। (३) सरबरि = समानता। मयंक<मृगांक। (५) बईठा बइट्ठ<उपविष्ठ = बैठा हुआ। पाट<पट्ट = फलक, सिंहासन। धुव<ध्रुव। डीठा <दिट्ठ<दृष्ठ = देखा हुआ, विलोकित। (६) अत्र<अस्त्र। (७) थिर<स्थिर। सँजोउ<संयोग। (८) खरग, धनुक, चक्र, बान : खरग (खड्ग) नायिका की नासिका है : यथा : नासिक खरग देउँ केहि जोगू। (१०५.१); धनुक (धनुष) उसकी भौंहें हैं : यथा : भौंहें स्याम धनुक जनु ताना। (१०२.१); चक्र उसके नेत्रों का फिराव हैं : यथा : जबहिं फिराव गगन गहि बोरा। अस ओइ भँवर चक्र के जोरा। (१०३. ६) और बान (वाण) उसकी बरौनियाँ हैं, यथा : बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जान दुइ अनी। (१०४.१)

भौंहें स्याम धनुकु जनु ताना। जासौं हेर मार विख बाना।
उहै धनुक उन्ह भौहन्ह चढ़ा। केइँ हतियार काल अस गढ़ा।
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा।
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा।
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सर बाहू।
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा। धानूक आपु बेझ जग कीन्हा।
उन्ह भौहन्हि सर केउ न जीता। आछरिं छपीं छपीं गोपीता।
भौंह धनुक धनि धानुक दोसर सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगवै लाजन्ह छपि जाइ ॥१०२॥

अर्थ--(१) [सुए ने पुनः कहना प्रारंभ किया,] "उसकी भौंहें [ऐसी हैं] मानो काले धनुष तने हुए हों, और वह जिसके सम्मुख (जिसकी ओर) देखती है, [उसे ऐसा लगता है मानो उन धनुषों से] विष के वाण मारती हो। (२) [इस प्रकार के] उन धनुषों को, जो उन भौंहों पर चढ़े हुए हैं, किसने काल जैसा हत्यारा गढ़ा है ? (३) वही धनुष कृष्ण के पास था, और उसी धनुष को राघव ने हाथों में ग्रहण किया था। (४) [राम ने] उसी धनुष से रावण का संहार किया था, और कृष्ण ने उसी धनुष से असुर कंस को मारा था। (५) [अर्जुन के द्वारा] उसी धनुष से राधा-

वेध किया गया था, और [परशुराम के द्वारा] उसी धनुष से सहस्रबाहु मारा गया था। (६) उसी धनुष को मैंने उस के पास पहिचाना है, और [उस धनुष के साथ] वह स्वयं धानुष्क बनी है और उसने जगत् को वेध्य किया (बनाया) है। (७) उन भौंहों की समानता में कोई नहीं जीत सका, इसीलिए अप्सराएँ छिप गई और [व्रज की] गोपियाँ भी छिप गई। (८) उस धन्या (स्त्री) धानुष्य की भ्रू-धनुषों की अन्य कोई (अस्त्र अथवा पदार्थ) समानता नहीं कर सकता है; (९) [इसी कारण] गगन में जो धनुष उदित होता है, वह लज्जावश छिप जाता है।"

टिप्पणी--(१) सौं<सउँह<सम्मुख। (५) राहु<राहा<राधा=राधा-वेध में रक्खी जाने वाली पुतली। (६) धानुक<धाणुक्क<धानुष्क--धनुर्धर, धनु-विद्या में कुशल। बेझ<वेज्झ<वेध्य=विद्ध किया जाने वाला पदार्थ। (७) सरि=सदृशता। आछरि<अच्छरा<अप्सरस्। गोपीता गोप+प्रीता=गोप-प्रिया। (८) धनि<धन्या=स्त्री। (९) ऊगव्<उग्ग<उद्+गम्=उदित होना।

नैन बाँक सरि पूज न कोऊ। मान समुँद अस उलथहिं दोऊ।
राते कवँल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माँति चहहिं अपसवाँ।
उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा। चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा।
पवन झकोरहिं देहिं हिलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा।
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अडार चाह पल माहाँ।
जबहिं फिराव गँगन गहि बोरा। अस वै भवर चक्र के जोरा।
समुँद्र हिंडोर करहँ जनु झूले। खंजन लुरहिं मिरिग जनु भूले।
सुभर समुँद अस नैन दुइ मानिक भरे तरंग।
आवत तीर जाहिं फिरि काल भँवर तेन्ह संग॥१०३॥

अर्थ--(१) उसके नयन ऐसे बाँके हैं कि कोई उनकी सादृश्य नहीं पूरा कर सकता है; वे दोनों मान समुद्र की भाँति उलथते (ऊपर उठते) हैं। (२) [वे ऐसे लगते हैं मानो] रक्त कमल में अलि (भ्रमर) भ्रमण कर (चक्कर लगा) रहे हों, [जो] मत्त हो कर घूम रहे हों और [उड़ कर] भागना चाहते हों। (३) अथवा, वे तुरंग हों, जो बाग न ले (मान) रहे हों और उलथ कर गगन को लगना चाहते हों। (४) वे नेत्र ऐसे हैं कि पवन को झकोर कर [उसमें] हिलोरें [उठा] देते हैं, और उसे [तदनंतर] स्वर्ग (आकाश) से लगा (मिला) कर भूमि तक वापस कर लेते हैं। (५) उन नेत्रों के डोलते ही जगत् डोल उठता है, और [ऐसा लगता है कि] वे पलभर में उसको उलट कर डाल देना चाहते हैं। (६) वह जभी उनको फिराती है [ऐसा लगता है कि] वे गगन को पकड़ कर डुबा देंगे, भँवर-चक्रा के वे ऐसे जोड़े हैं। (७) वे ऐसे लगते हैं मानो समुद्र के हिंडोले पर झूलते हुए करभ (हस्तिशावक) हों, अथवा लोल हो रहे खंजन, अथवा वन में भटकते हुए मृग हों। (८) वे दोनों नेत्र भली-भाँति भरे हुए समुद्र ऐसे [जैसे] हैं और उनके तरंग माणिक्य से भरे हुए हैं; (९) वे तरंग (नेत्र-समुद्रों के) तीर पर आते ही लौट जाते हैं, और उनके साथ काल की (प्राण लेने वाली) भँवरें होती हैं।

टिप्पणी--(१) बाँक-वंक<वक्र = सुन्दर । सरि<सादृश्य = समानता । पूज्<पुज्ज<पूरय् = पूर्त्ति करना । मानसमुंद = मानस समुद्र (दे० छंद १५८ में उसका वर्णन) । उलथ् = उल्लस्त होना, ऊपर आकर प्रकट होना । (२) राते कमल = रक्त वर्ण के नेत्र । अलि = कृष्ण वण की पुतलियाँ-। भँव्<थम्<भ्रम् = घूमना, चक्कर लगाना । घूम्<घुम्म्<घूर्ण = चक्राकार फिरना । माँत् = मत्त होना । अपसव्<अपसृ = हट जाना, भाग जाना, उड़ जाना । (३) बाग<वग्गा<वल्गा = लगा । (४) झकोर् = झोंका देना । हिलोर<हिल्लोल = (समद्र की जैसी) ऊँची लहर । लाव्<लागय् = लगाना, जोड़ना । बहोर् = वापस लाना । (५) अडार् = डालना । (७) हिंडोर<हिंडोल<हिन्दोल = झूला । करह<करभ = हस्ति-शावक । लुर = लोल (चंचल) होना । (८) सुभर--भलीभाँति भरा हुआ ।

बरुनी का बरनौं इमि बनी । साँधे बान जानु दुइ अनी ।
जुरी राम रावन कै सैना । बीच समुंद भए दुइ नैना ।
वारहिं पार बनावरि साँधी । जासौं हेर लाग बिख बाँधी ।
उन्ह बानन्ह अस को को न मारा । बेधि रहा सगरौं संसारा ।
गँगन नखत जस जाहिं न गने । हैं सब बान ओहि के हने ।
धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ि देहिं सब साखी ।
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े । सोतहि सोत बेधि तन काढ़े ।
बरुनि बान अस ओपहिं बेधे रन बन ढंख ।
सउजन्ह तन सब रोवाँ पंखिन्ह तन सब पंख ॥ १०४ ॥

अर्थ--"(१) उसकी बरौनियों का क्या वर्णन करूँ ? वे इस प्रकार बनी हैं जैसे बाणों को धनुष पर लगाए हुए दो सेनाएँ हों; (२) मानो राम और रावण की सेनाएँ इकट्ठी हुई हों और उनके बीच में दोनों नेत्र समुद्र हो गए हों । (३) उन सेनाओं ने इस पार से उस पार तक वाणावली धनुषों पर लगाई हुई है, और वह ऐसी है कि जिसके सम्मुख देखती है, उसे वह विष-संश्लिष्ट [वाणावली] लग जाती है । (४) इस प्रकार उन वाणों से कौन कौन नहीं मारा गया है ? समस्त संसार उनसे विद्ध हो रहा है । (५) यथा, गगन में जो नक्षत्र हैं, जो गिने नहीं जा सकते हैं, वे सब वाण हैं जो उसके मारे हुए हैं । (६) उसने समस्त धरती को भी अपने वाणों से विद्ध कर रक्खा है, जिसकी साक्षी समस्त शाखाएँ खड़ी हो कर दे रही हैं । (७) मानव-शरीर के रोम-रोम जो खड़े हैं, वे उसी के वाण हैं जो उसने शरीर को विद्ध कर उस के स्रोत-स्रोत से बाहर निकाल दिए गएँ हैं । (८) उस के पास बरौनियों के ऐसे वाण हैं कि उन्होंने समस्त अरण्य-वन के ढाँखों (ढाँख आदि वृक्षों) को विद्ध कर दिया है, (९) और [इसी प्रकार उन्होंने उनके श्वापदों और पक्षियों को भी विद्ध कर रक्खा है,] श्वापदों के शरीर के समस्त रोम और पक्षियों के तन के समस्त पंख [उसके बरौनियों के वाण ही] हैं ।"

टिप्पणी--(१) बरुनी = पलकों के बाल । साँध्<संध्<सं+धा = जोड़ना, लगाना । अनी<अनीक = सेना । (३) वार<आरओ<आरतस् = पूर्व का (छोर)

वह (छोर) जो पहले पड़ जाता हो। बनावरि<वाण + अवलि। सौं<सउँह<सम्मुख। हेर् (दे०) = देखना, निरीक्षण करना। बिख<बाँधी, बन्धकी<विष = बन्धित = विष-संश्लिष्ट। (५) नखत<नक्षत्र। (६) साखी<साक्खि<साक्षिन्। (७) ठाढ़< ठड्ढ<स्तब्ध = खड़ा। सोत<स्रोत = रोम कूप। काढ़ा<कृष्ट = निकाला हुआ। (८) रन<अरण्य। ढंख = पलाश। (९) साउज<साउज्ज<श्वापद = जन्तु। पाँखि <पंखि<पक्षिन्। पंख<पक्षी।

इस छंद की पंक्ति ४–९ में कवि ने उस परम सौन्दर्य के द्वारा समस्त विश्व के विद्ध होने का भाव पल्लवित किया है।

नासिक खरग देउँ केहि जोगू। खरग खीन ओहि वदन सँजोगू।
नासिक देखि लजानेउ सुआ। सूक आइ बेसरि होइ उआ।
सुआ सो पिअर हिरामनि लाजा। औरु भाउ का बरनौं राजा।
सुआ सो नाँक कठोर पँवारी। वह कोंवलि तिल पुहुप सँवारी।
पुहुप सुगंध करहिं सब आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम बासा।
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिवँ देखि सुआ मन लोभा।
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस को पाव को नाहीं।
देखि अमिअ रस अधरन्हि भएउ नासिका कीर।
पवन बास पहुँचावै अस रम छाँड़ न तीर॥ १०५॥

अर्थ—"(१) नासिका और खड्ग का योग [दोनों की पारस्परिक तुलना] किस आधार पर करूँ जब कि खड्ग क्षीण है और उसको (नासिका को) [उस नारी के सुंदर] वदन का संयोग (प्राप्त) है। (२) उस नासिका को देख कर सुआ लज्जित हो रहा और शुक्र उसकी (नाक की) बेसर में हो (आ) उदित हुआ (३) [नासिका की सुंदरता में उससे हार कर] मैं ही रामणि सुआ लाज से ही पीला हो गया, और अधिक उस नासिका का सौन्दर्य क्या वर्णित करूँ? (४) सुए की नासिका प्रवाल (मूँगे) की (के समान) कठोर होती है, और वह ऐसी कोमल है [मानो] तिल के पुष्प की बनी हो। (५) सभी सुगंधित पुष्प आशा करते [रहते] हैं कि संभव है उन्हें हिलगा कर (अपने पास ला कर) उनकी सुगंध ग्रहण करे। (६) अधरों तथा दाँतों के ऊपर उसकी नासिका की शोभा ऐसी है [मानो] दाड़िम (अनार) [के दानों] को देख कर किसी सुए का मन [उस पर] लुब्ध हो। (७) उस नासिका के दोनों ओर खंजन (नेत्र) केलि करते हैं! किन्तु पता नहीं कौन उस [नासिका के] रस को पाता है (पाएगा) और कौन नहीं। (८) [ऐसा ज्ञात होता है कि] उसके अधरों के अमृत रस को देख कर [कोई] कीर ही नासिका हो गया, (९) और वायु उसे सुगंध पहुँचाता है, इस कारण वह वहाँ ऐसा रम गया है कि [उन अधरों का] तीर (नैकट्य) वह नहीं छोड़ रहा है।"

टिप्पणी—(१) खरज<खड्ग = तलवार। खीन<क्षीण। (२) सूक<शुक्र-तारा। बेसरि<द्विग + इका = नाक का एक आभरण, जिसमें छोटे बड़े दो वृत्त होते हैं और वे ऊपर के छोर पर परस्पर मिले हुए होते हैं। 'बेसर' का 'सर' 'नीसरहार'

में भी है। (३) पिअर<पीअ+डा<पीत=पीला । (४) पँवार<प्रवाल= मूंगा। कोंव<कोमल। (५) हिरकाव्=हिलगाना, शरीर से सटाना, पास लाना। (६) दारिवँ<दाडिम=अनार। लोभा<लुम्भ<लुब्ध।

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे।
फूल दुपहरी मानहुँ राता। फूल झरहिं जब जब कह बाता।
हीरा गहै सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजिआरा।
भए मँजीठ पानन्ह रँग लागें। कुसुम रंग थिर रहा न आगें।
अस कै अधर अमिअ भरि राखे। अबहिं अछूत न काहूँ चाखे।
मुख तँबोल रँग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंबित बसा।
राता जगत देखि रँग राते। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाते।
अमिअ अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कँवल बिगासा को मधुकर रस लेइ॥ १०६॥

अर्थ--"(१) उसके अधर सुन्दर और अमृतरस से भरे हैं, [जिनसे] लज्जित हो सुंदर बिम्ब (कुँदुरू--जिसके फल पकने पर लाल होते हैं) वन में फलने लगे। (२) वे ऐसे रक्त वर्ण के हैं जैसे दुपरिये के फूल हों, और जब जब वह बात कहती है [मानो] फूल झड़ते हैं। (३) [उन अधरों का प्रतिबिम्ब पड़ने पर] हीरा विद्रुम की धारा (शक्ल) ग्रहण कर लेता है, और उसके विहँसते ही जगत् में प्रकाश हो जाता है। (४) वे (अधर) पानों का रंग लगते रहने के कारण मंजिष्ठा [सदृश] हो गए हैं, और कुसुम के फूल का [डाल] रंग उनके आगे स्थिर नहीं रह सका है। (५) उन अधरों को इस प्रकार का बना कर उनमें [विधाता ने] अमृत भी रक्खा है और वे अब भी अछूते हैं [अस्पष्ट] किसी के चखे हुए नहीं हैं। (६) मुख के ताम्बूल के रसे हुए रंग को जो धारण करते हैं, उन अधरों में बसा हुआ (संचित) अमृत किस के मुख के योग्य है? (७) उन्हें इस प्रकार रक्त वर्ण का देख कर जगत् रक्त वर्ण का हो गया है, [यह देख कर] वे रुधिर से भरे हुए विहँसते रहते हैं। (८) उसके अधरों के अमृत की समस्त जगत आशा करता है। (९) [किन्तु पता नहीं] किसके लिए वह कमलिनी (पद्मिनी) विकसित हुई है और कौन-सा मधुकर उसका [अधर-] रस लेगा।"

टिप्पणी--(२) दुपहरी=दुपहरिये का फूल, बन्धूक पुष्प: यह एकहरी पंखुड़ियों का एक छोटा अत्यन्त लाल फूल होता है और दोपहर में खिलता है। बात<बत्ता< वार्त्ता। (३) माँजीठ<मञ्जिष्ठा=एक लकड़ी जिसमें से गहरा लाल रंग निकलता है। (५) अछूत<अस्पृष्ट। चाख<चक्ख (दे०)=स्वाद लेना। (६) रस्=धीरे-धीरे निकलना, धीरे-धीरे बहना। (७) रात<रत्त<रक्त=लाल वर्ण का।

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रँग स्याम गँभीरा।
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठी तसि भीनि बतीसीं।
वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दीपहिं सो तेहि परिछाहीं।
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।

रबि ससि नखत दीन्हि ओहिं जोती । रतन पदारथ मानिक मोंती ।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजा । बिनु वह जोति औरु को दूजा ।
बिहँसत हँसत दसन तस चमके पाहन उठे झरक्कि ।
दारिवँ सरि जो न कै सका फाटेउ हिया दरक्कि ॥१०७॥

अर्थ--"(१) उसके दाँतों के चौके ऐसे हैं मानो हीरे बिठाए हों, और उनके बीच-बीच में गंभीर श्याम रंग [की मिस्सी] है (२) [उस गहरे श्यामरंग की मिस्सी के बीच उस से] भिन्न रंग की [होने के कारण] उसकी बत्तीसी (दंतपंक्ति) इस प्रकार चमक उठती है मानो भादों की निशा में दामिनी [चमकती हुई] दीख पड़ी हो । (३) [उसके दाँतों की] वह ज्योति हीरे [की ज्योति] से भी उत्कृष्ट है ; वस्तुतः हीरे जो चमकते हैं, वह उसकी प्रतिच्छाया प्राप्त करके ही [चमकते हैं] । (४) [विधाता ने] जिस दिन उस ज्योति का निर्माण किया, उसी दिन उस ज्योति से बहुतों (सृष्टि के बहुतेरे पदार्थों) को ज्योति [प्राप्त] हुई । (५) सूर्य, शशि और नक्षत्रों को [भी] उसी ने ज्योति दी, और [उसी ने] रत्नों, बहूमूल्य पत्थरों माणिक्य-मौक्तिक [आदि] को [भी ज्योति दी] । (६) वह ज्योति जहाँ पर स्वभावतः ही विहँसित हो कर हँसी, वहाँ वहाँ पर छिटक कर ज्योति प्रकाशित हुई । (७) दामिनी चमककर उस ज्योति की समानता न कर सकी, [क्योंकि] उस ज्योति के अतिरिक्त कोई दूसरी [ज्योति] नहीं है । (८) उसके हँसने पर दाँत ऐसे चमक उठे कि पाषाण भी [बहुमूल्य पत्थरों के रूप में] झलक उठे । (९) दाड़िम उन दाँतों की समानता नहीं कर सका, इसलिए [उसका] हृदय दरक कर फट गया ।

टिप्पणी--(१) चौक<चउक्क<चतुष्क = सामने के चार दाँत : दो ऊपर के और दो नीचे के । (२) भीनि<भिन्न । बत्तीसी = बत्तीस दाँतों की पंक्ति । (३) दिप् दिप्प्<दीप = चमकना । (४) तुल० : कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू । (१.२) । (५) नखत<नक्षत्र । (८) चमक<चमत्कृ = दीप्त होना । पाहन + पाहाण< पाषाण । झलक्<ज्वल् । (९) दारिवँ<दाडिम । सरि<सादृश्य । दरक्<दल् = फटना, खंडित होना ।

इस छंद में कवि ने एक आदि ज्योति की प्रतिच्छाया से ही सृष्टि के सम ज्योतिपूर्ण पदार्थों का ज्योति प्राप्त करना बताया है ।

रसना कहौं जो कह रस बाता । अंम्रित बचन सुनत मन राता ।
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला । बीन बंसि वह बैनु न मिला ।
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहीं । सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं ।
भरे पेम मधु बोलै बोला । सुनै सो माति घुर्मि कै डोला ।
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ । रिग जजु साम अथर्बन माहाँ ।
एक एक बोल अरथ चौगुना । इंद्र मोह बरम्हा सिर धुना ।
अमर भारथ पिंगल औ गीता । अरथ जूझ पंडित नहिं जीता ।

भावसतीं ब्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहिं बान ॥१०८॥

अर्थ--"(१) [अब] मैं उसकी रसना का कथन (वर्णन) करता हूँ, जो रस-वार्ता कहती है ; [उससे कहे गए] अमृत वचनों को सुनते ही मन रक्त (प्रसन्न) हो जाता है। (२) वह उस रसना चातक और कोकिल के स्वरों को हर लेती थी; वीणा और वंशी को [भी] वह सरस बोल नहीं प्राप्त हुए। (३) चातक और कोकिल जो [समस्त ऋतुओं में] नहीं रहते हैं, [उसका कारण यह है कि] उसके बोल सुन कर वे लज्जित हो कर छिप जाते हैं। (४) वह [ऐसे] प्रेम-मधु-पूरित बोल बोलती है कि जो उन्हें सुनता है मत्त हो कर और घूर्णित होकर झूमने लगता है। (५) उस [रसना] के पास चारों वेदों की वह [समस्त] मति है जो ऋक्, यजु, साम तथा अथर्वण में पाई जाती है। (६) उसका एक-एक बोल इस प्रकार चार-चार गुने अर्थ से भरा हुआ होता है, कि [उसको सुनकर] इन्द्र मुग्ध हो जाता है और ब्रह्मा सिर पीटने लगता है। (७) अमरकोश, (महा) भारत, पिंगल और (भगवद्)गीता संबंधी अर्थ-युद्ध (शास्त्रार्थ) में [कोई] पंडित उसे नहीं जीत सकता है। (८) भास्वती (ज्योतिष) व्याकरण, कण्ठाभरण (अलंकार), सरस्वती पिंगल (छंद-शास्त्र) और पुराणों और वेदों के भेदों (रहस्यों) के संबंध में स्वयं [बिना किसी के सिखाए] इस प्रकार की बातें कहती है जो सुनने वालों को बाणों की भाँति लगती हैं।"

टिप्पणी--(१) बात<वत्ता<वार्त्ता। रात<रत्त<रक्त = प्रसन्न। (२) बीन<वीणा। बैन<वयण<वचन। (४) घुम्<घुर्ण् = घूमना, चक्कर खाना। डोल<दोलय् = हिलना, झूलना, झूमना। (७) अरथ जूझ<अर्थ-युद्ध = शास्त्रार्थ। (८) भावसती<भास्वती = सूर्य-नगर, सौरमंडल की विद्या, शतानंद विरचित इस नाम का ज्योतिष ग्रंथ। सुरसती<सरस्वती = 'सरस्वती कण्ठाभरण' नाम का प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ, जिसके रचयिता भोज माने जाते हैं। पिंगल = छन्द-सूत्रों के प्रसिद्ध रचयिता, जिनके नाम पर छन्द-शास्त्र ही पिंगल कहे जाने लगे। पाठ = शास्त्र। (९) सैं<सइँ<स्वयम्।

पुनि बरनौं का सुरँग कपोला। एक नारँग किए दुओ अमोला।
पुहुप पंक रस अंब्रित साँधे। केइँ ये सुरँग खिरौरा बाँधे।
तेहि कपोल बाएँ तिल परा। जेइँ तिल देख सो तिल तिल जरा।
जनु घुँघुची वह तिल करमुहाँ। बिरह बान साँधा सामुहाँ।
अगिनि बान तिल जानहुँ सूझा। एक कटाख लाख दुइ जूझा।
सो तिल काल मेंटि नहिं गएऊ। अब वह गाल काल जग भएऊ।
देखत नैन परी परिछाहीं। तेहितें रात स्याम उपराहीं॥
सो तिल देखि कपोल पर गँगन रहा ध्रुव गाड़ि।
खिनहि उठै खिन बूड़ै डोलै नहिं तिल छाँड़ि ॥१०९॥

अर्थ--(१) "पुनः, उसके सुन्दर कपोलों का क्या वर्णन करूँ? वे अमूल्य [कपोल मानो] एक ही नारंगी के दो [खंड] किए गए हों। (२) पुष्पों के पराग में अमृत

रस को सानकर किसने इन सुंदर खिरौरों को बाँधा है ? (३) उसके बाएँ कपोल पर एक तिल पड़ा हुआ है ; उस तिल को जिसने भी देखा, वह तिल-तिल करके जल गया। (४) [लाल वर्ण के कपोल पर] वह काले मुख का तिल मानो घुँघुची है, [अथवा] विरह का वाण है जो [दर्शक के] सम्मुख साँधा हुआ (धनुष पर रक्खा हुआ) है। (५) वह तिल मानो शुद्ध अग्निवाण है, जिसके एक कटाक्ष में दो लाख जूझ जाते हैं। (६) वह तिल काल के द्वारा मेटा नहीं जा सका, इसलिए अब उसका वह [बायाँ] गाल जगत् का काल हो गया है। (७) [उस गाल को] देखते ही नेत्रों में जो उसकी प्रतिच्छाया पड़ी वे [पुतलियों के रूप में] ऊपर श्यामता लिए हुए रक्त वर्ण के हो गए। (८) उस तिल को उसके [बाएँ] कपोल पर देख कर ध्रुव गगन में [ऐसा हो गया जैसे] गाड़ दिया गया [हो]। (९) एक क्षण वह उदित होता है और एक क्षण डूबता है, किन्तु उस तिल को छोड़ कर हिलता (हटता) नहीं है।"

टिप्पणी--(१) अमोल<अमोल्ल<अमूल्य। (२) साँध्<संध>सं+धा= जोड़ना, सानना। खिरौर>खीर+वट्टय<क्षीर+वर्तक=दूध के लड्डू।(५) जूझा< सुज्झ<शुद्ध। जूझ्<युध्=लड़ाई करना, लड़ कर मृत्यु को प्राप्त होना। (७) परि-छाहीं<प्रतिच्छाया। (८) धुव<ध्रुव। (९) खिन<क्षण। उठ्<उट्ठ्<उत्+स्था=उठना, उदित होना। बुड्ड<ब्रुड्=डूबना। डोल्<दोलय्=हिलना।

स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उजिआरे।
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने।
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ ध्रुव दुऔ खूँट बैसारे।
पहिरे खुंभी सिंघल दीपी। जानहुँ भरी कचपची सीपी।
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा। काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा।
डरपहिं देव लोक सिंघला। परै न बीज टूटि एहि कला।
करहिं नखत सब सेवा स्रवन दिपहिं अस दोउ।
चाँद सुरुज अस गहने औरु जगत का कोउ॥ ११०॥

अर्थ--"(१) उसके कानों में उज्ज्वल कनक-कुण्डल इस प्रकार सँवारे हुए हैं मानो दो सीपों में दीपक सँवारे हुए हों। (२) उन कुण्डलों में अत्यधिक लावण्यपूर्ण मणि इस प्रकार चमकते हैं, मानो [आकाश] के दो कोनों में बिजलियाँ लौक (कौंध) रही हों। (३) दोनों ओर वे [मणिजटित कुण्डल ऐसे लगते हैं मानो] चंद्र तथा सूर्य चमक रहे हों, जो नक्षत्रों से पूरित हों और देखे न जा सकते हों। (४) उन [कुण्डलों] पर दो खूंट हैं [जो ऐसे लगते हैं मानो] दो दीपक जलाए हुए हों, अथवा दो ध्रुव हों जो [आकाश के] दो छोरों पर बिठाए हुए हों। (५) [पुनः,] वह कानों में सिंहलद्वीप की बनी खुंभी पहने हुए है जो [उसके कानों में] ऐसी लगती है मानो सीपियों में कृत्तिका की नक्षत्र-माला भरी हुई हो। (६) क्षण-क्षण पर जब वह [सरकते हुए] वस्त्र को सिर पर रखती है [तो उसके कुण्डल हिलने लगते हैं और ऐसा लगता है कि] दोनों ओर बिजलियाँ काँप रही हो। (७) और जब वे बिजलियाँ इस प्रकार

सिंहल में लौकती (कौंधती) हैं, तब देवता भी डरने लगते हैं कि वे इस ढंग से [कौंधतीं-कौंधतीं] कहीं टूट न पड़ें। (८) फलतः वे श्रवण इस प्रकार चमकते हैं, कि [मानो] सभी नक्षत्र उनकी सेवा करते हों। (९) जिनके चन्द्र और सूर्य ऐसे गहने (आभरण तथा बन्धक) हों, जगत् में और क्या कोई [उनके सदृश] हो सकता है ?"

टिप्पणी--(१) सीप<सुत्ति<शुक्ति। उजिआर<उज्ज्वल। (२) चमक्<चमत्क्=चमकना। लोन<लवण=लावण्यपूर्ण। (४) खूँट<खुंट [दे०]=खूँटी के आकार का एक प्रकार का कर्णफूल (बिहार पीजेंट लाइफ़, पृ० १५३)। खूँट=छोर। बार्<बाल्<ज्वालय्=जलाना। (५) खुंभी=कुकुरमुत्ता, अथवा उसके आकार का एक कर्णाभरण। कचपची<कृत्ति-प्रचित=कृत्तिका से समृद्ध नक्षत्र-माला। (६) खिन<क्षण। बीज<विद्युत्। (८) दिप्<दिप्प्<दीप्=चमकना। (९) गहना<गहणय [दे०]=(१) आभूषण, (२) बन्धक, धरोहर, गिरों।

उपर्युक्त पंक्ति २ आगे पुनः ४७९.२ होकर आई है।

बरनौं गीवँ कूँज कै रीसी। कंज नार जनु लागेउ सीसी।
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी। हरी पुछारि ठगी जनु ठाढ़ी।
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा। तेहि तें अधिक भाउ गिउ बाढ़ा।
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा। बाँक तुरंग जानु गहि लीन्हा।
गिउ मंजूर तँवचुर जो हारा। वहै पुकारहिं साँझ सँकारा।
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा। घूँटत पीक लीक सब देखा।
धनि सो गीव दीन्हेव विधि भाऊ। दहुँ कासौं लै करै मेराऊ।
कंठ सिरी मुकुताहल माला सोहै अभरन गीवँ।
को होइ हार कंठ ओहि लागै केइँ तपु साधा जीवँ॥ १११॥

अर्थ--"(१) [अब] उसकी ग्रीवा का वर्णन करता हूँ जो क्रौञ्च [की ग्रीवा] के सदृश है, अथवा जो मानो स्तवक [के रूप] में लगा हुआ कंज-नाल है। (२) वह ग्रीवा [ऐसी सुडौल और चिकनी है] मानो खराद पर चढ़ा कर उतारी हुई हो, अथवा [वह किसी मोरिनी से छीन ली गई हो, जिसके कारण वह] वंचित मोरिनी ठगी सी खड़ी हो। (३) [अथवा वह] मानो उस पारावत की ग्रीवा हो जो अपनी छाती को निकाल कर खड़ा हो, बल्कि उससे भी अधिक सौन्दर्य [उस सुन्दरी की] ग्रीवा का बढ़ा हुआ है। (४) वह ग्रीवा मानो चक्र पर चढ़ा कर सच्ची (सुडौल) की हुई है, अथवा वह ऐसी लगती है मानो उस बाँके (घोड़े) तुरंग की हो जो पकड़ लिया गया हो। (५) ग्रीवा के विषय में उस से जो मयूर और कुक्कुट हार गए, उसी से वे संध्याकाल में तथा सवेरे पुकार लगाते हैं। (६) पुनः उसी स्थान (ग्रीवा) में [एक] तिर्यक् रेखा पड़ी हुई है और जब वह पान [का लाल रस] गले से उतारती है, उसकी समस्त लीक दिखाई पड़ती है। (७) वह ग्रीवा धन्य है जिसे विधाता ने यह भाव (सौन्दर्य) दिया है; पता नहीं वह [विधाता] उस ग्रीवा को लेकर उसे किससे मिलावेगा। (८) उस ग्रीवा में कंठश्री तथा मुक्ताहार के आभरण शोभा देते हैं। (९)

[पता नहीं] कौन हार होकर उस कंठ से लगेगा, और किस जीव ने [उसके लिए आवश्यक] तप की साधना की है।"

टिप्पणी--(१) गीव<ग्रीवा। कूंज<कुंच<क्रौञ्च। रीसि<सदृश। नार<नाल। सीस<शीर्ष=स्तबक। (२) कुंद<खराद। काढ़<कडढ्<कृष्=खींचना, निकालना। हरी<हृत=वंचित। पुछारि<पिच्छाल=मोरिनी। ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध। (३) परेवा<पारेवय<पारावत=कबूतर। (४) चाक<चक्क<चक्र=चक्का (यथा कुम्हार की 'चाक')। बाँक<बंक<वक्र। तुरंग<तुरग=घोड़ा। (५) मंजूर<मयूर। तँवचुर<ताम्रचूड=कुक्कुट, मुर्ग। साँझ<संध्या। सँकार<सकाल=सबेरा। (६) तिरि<तिरिअ<तिर्यच्=तिरछी, बाँकी। (७) भाउ<भाव=सौन्दर्य। मेराउ<मेलावय<मेलापक=मिलाप, मिलन। (८) कंठसिरी<कण्ठश्री=एक कण्ठाभरण। मुकताहल<मुक्ताफल=मोती। अभरन<आभरण।

कनक दंड दुइ भुजा कलाई। जानहुँ फेरि कुँदेरें भाई।
कदलि खाँभ की जानहुँ जोरी। औ राती ओहि कँवल हथोरी।
जानहुँ रकत हथोरीं बूड़ीं। रबि परभात तात वह जूड़ी।
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथाँ। रकत भरी अँगुरी तेहि साथाँ।
औ पहिरें नग जरी अँगूठी। जग बिनु जीव जीव ओहि मूठी।
बाहू कंगन टाड़ सलोनी। डोलति बाँह भाउ गति लोनी।
जानहुँ गति बेड़िनि देखराई। बाँह डोलाइ जीव लै जाई।
भुज उपमा पौनारि न पूजी खीन भई तेहि चिंत।
ठाँवहिं ठाँव बेह भे हिरदैं ऊभि साँस लेइ निंत॥ ११२॥

अर्थ--"(१) कनकदंड सदृश दोनों भुजाएँ और कलाइयाँ [ऐसी चिकनी और सुडौल हैं] मानो वे खराद पर चढ़ा कर खरादी के द्वारा भाई (घुमाई) गई हों। (२) [उसकी भुजाएँ] मानो कदली खंभ की जोड़ियाँ हैं, और उसकी कमल तुल्य हथेलियाँ रक्त वर्ण की हैं। (४) वे हथेलियाँ मानो रक्त में डूबी हुई हैं; ललाई में [प्रभात के रवि से यदि उनकी तुलना की जाए तो] प्रभात का रवि गर्म होता है और वे ठंडी हैं। (४) [ऐसा लगता है] मानो उसने [किसी का] हृदय निकाल कर उन हाथों में लिया हो, इसीलिए उसकी उँगलियाँ भी [उन हथेलियों के साथ] रक्त से भरी [जैसी] हैं। (५) और उसके नगजटित अँगूठियों के पहनने पर तो जगत् निष्प्राण हो जाता है, क्योंकि जगत् का प्राण उसकी मुट्ठी में हो जाता है। (६) बहुटों, कंगनों और टड्डों से लावण्यपूर्ण बनी हुई उसकी बाहें इस प्रकार भावपूर्वक तथा सुंदर गति से डोलती हैं (७) मानो कोई बेड़िन (पातर) [किसी भाव-नृत्य की] गति दिखा रही हो; वह [इस प्रकार] बाहों को संचालित करके [दर्शकों के] प्राण [हर] लेती है। (८) उन भुजाओं की उपमा में पद्मनाल नहीं पूरी उतर सकी, इसी चिन्ता में वह क्षीण हो गई, (९) उसके हृदय में स्थान-स्थान पर वेध (छिद्र) हो गए तथा वह नित्य खड़ी-खड़ी साँस भरती है।"

टिप्पणी--(१) कलाई<कलाइआ<कलाचिका=प्रकोष्ठ, कुहनी से लेकर

मणिबन्ध का हस्तावयव । कुंदेरा<कुंदआर<कन्दकार = खरादी । भाई<भामिअ <भ्रमित = घुमाया हुआ। (२) खाँभ<स्कम्भ = खंभा। हथोरी=हस्तपुटी। (३) तात<तत्त=तप्त । जूड़ = ठंडा । (४) काढ़<कड्ढ्<कृष् = खींचना, निकालना । (५) पहिर्<परि+धा = पहिनना । मूठी<मट्ठि=मुष्टि । (६) बाँहू<बाहु = बँहुटा : बाहु का एक आभूषण। टाँड़ = टड्डा, टँड़िया : बाहु का एक आभरण । सलोन <स+लवण = लावण्ययुक्त । (७) बेड़िआ<विड<विट = भँड़आ (तुल० भाइ विड़ाणीं बाप विड़ हम भी मंझ विड़ांह। 'कबीर ग्रंथावली' साखी १२.५६। सोई आँसू सज्जणा सोई लोक विड़ांहि। वही साखी ३.३६। (८) पोनारी<पद्मनलिका । पूज् पुज्ज्<पूरय् = पूरा पड़ना। खीन=क्षीण। (९) बेह<वेह<वेध = छिद्र । ऊभ्< उब्भ्<ऊर्ध्वय् = उठना ।

हिया थार कुच कंचन लाड़ू । कनक कचोर उठे करि चाड़ू ।
कुंदन बेल साजि जनु कूँदे । अंब्रित भरे रतन दइ मूँदे ।
बेधे भँवर कंट केतुकी । चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी ।
जोबन बान लेहिं नहि बागा । चाहिं हुलसि हिएँ हठि लागा ।
अगिनि बान दुइ जानहु साँधे । जग बेधहिं जौं होहिं न बाँधे ।
उतंग जँभीर होइ रखवारी । छुइ को सकै राजा कै बारी ।
दारिवँ दाख फरे अनचाखे । अस नारंग दहुँ का कहँ राखे ।
राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुइँ माथ ।
काहूँ छुऐ न पारे गए मरोरत हाथ ॥ ११३ ॥

अर्थ—"(१) उसके हृदय की थाल में कुच कंचन के लड्डू हैं, अथवा सोने के कटोरे हैं जो [प्रिय की] चाटु (खुशामद) में उठ खड़े हुए हैं ; (२) अथवा वे कुंदन (खरे सोने) के बेल हैं, जो निर्मित करके खरादे गए हैं, और अमृत से [प्रिय के लिए] रत्नों से भर कर मुद्रित कर दिये गए हैं, (३) अथवा वे केतकी के काँटे हैं, जिन्होंने भौंरों को वेध रक्खा है, और कंचुकी (चोली) को [भी] वेधना चाहते हैं, (४) अथवा वे यौवन के वन्य (अश्व) हैं जो मुँह में बाग नहीं ले रहे हैं और उल्लसित हो कर हठपूर्वक [प्रिय के] हृदय से लगना चाहते हैं, (५) अथवा वे दो अग्निवाण हैं, जो [धनुष पर] रक्खे हुए हैं, और यदि [कंचुकी में] बँधे नहीं तो जगत् को वेध डालें ; (६) अथवा वे उत्तुग जंभीर हैं, जिनकी रखवाली होती है। राजा की वाटिका (राजगृह) में [सुरक्षित] उन जंभीरों को कौन छू सकता है ? (७) अथवा वे दाड़िम और द्राक्षा के [गुच्छे] हैं जो [उस राज-वाटिका में] फले हुए हैं और अभी अनचखे हैं, अथवा वे [उस राजवाटिका की ऐसी] नारंगियाँ हैं जो पता नहीं किसके लिए रख छोड़ी गई हैं। (८) [उन्हें प्राप्त करने के लिए] बहुतेरे राजा भूमि से मस्तक लगा लगा कर के तथा तपस्या करके मृत्यु को प्राप्त हुए, (९) किन्तु उन्हें कोई छू न सके और वे हाथ मरोड़ते (मलते) हुए चले गए।"

टिप्पणी—(१) थार<थाल<स्थाल । लाड़<लड्डुअ<लड्डुक = मोदक ।

कचोर<कच्चोर<कच्चोलक = कटोरा, प्याला (दे० बिहार पीजेंट लाइफ़ : पृ० १३०) चाड़<चाडु<चाटु = खुशामद । (२) बेल<विल्व। साज्<सज्ज्<सृज् = बनाना। मूँद<मुद्द<मुद्रय् = बंद करना। (३) केंचुकी<कञ्चुकी = चोली। (४) बान<वण्ण<वन्य = जंगली, जो कभी जोते न गए हों। बाग<वग्ग<वल्गा = लगाम। (तुल० बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे (मानस)। हुलस्<उल्लस्<हर्षित होना। (५) साँध्<संध<सं+धा = लगाना, जोड़ना। (६) उतँग<उत्तंग<उत्तुंग<ऊँचे, बड़े' सुन्दर। बारी<वाडिआ<वाटिका। (७) दारिवँ<दाडिम। दाख<द्राक्षा। (९) पार्<पारय् = सकना, समर्थ होना।

पेट पत्र चंदन जनु लावा। कुँकंह केसरि बरन सोहावा।
खीर अहार न कर सुकुवाँरा। पान फूल के रहै अधारा।
स्याम भुअंगिनि रोमावली। नाभी निकसि कँवल कहँ चली।
आइ दुहूँ नारंग बिच भई। देखि मँजूर ठमकि रहि गई।
जनहुँ चढ़ी भँवरन्हि कै पाँती। चंदन खाँभ बास कै माँती।
कै कालिंद्री बिरह सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई।
नाभी — कुंडर बानारसी। सौंह को होइ मीचु तहँ बसी।
सिर करवत तन करसी लै लै बहुत सीझे तेहि आस।
बहुत धूम घूँटत मैं देखे उतरु न देइ निरास॥ ११४॥

अर्थ—"(१) उसका पेट ऐसा है मानो चन्दन का पत्र (पत्ता) हो जिस पर सुंदरवर्ण का कुंकुम का केसर (पुष्परेणु) लगाया हुआ हो। (२) वह पेट ऐसा सुकुमार है कि दूध का आहार भी नहीं [ग्रहण] कर सकता है, और केवल पत्तियों-फूलों के आधार से रहता है। (३) [नाभि से कुछ ऊपर तक फैली हुई] उसकी रोमावली ऐसी लगती है मानो कोई सर्पिणी हो जो नाभि [कुण्ड] से निकलकर [मुख-] कमल की ओर अग्रसर हो रही हो (४) और दोनों नारंगियों [कुचों] के बीच होने [आने] पर [ग्रीवा]-मयूर को देख कर ठिठककर रुक गई हो, (५) अथवा मानो भ्रमर-पंक्ति हो जो चन्दन के खंभे पर उसकी सुवास से मत्त हो कर चढ़ी हो; (६) अथवा मानो [समुद्र के] विरह से संतप्त कालिन्दी हो जो प्रयाग में अरइल के बीच आ गई हो, (७) और [जो आगे न जा रही हो क्योंकि आगे] उसका नाभि-कुंडल है जो वाराणसी है; कौन उसके सम्मुख हो सकता है जब कि उस [नाभिकुंडल वाराणसी] में मृत्यु निवास करती है? (८) सिर पर करवत (आरा) और तन पर कंडे की आग ले ले कर बहुतेरे उस [को प्राप्त करने] की आशा में सीझ चुके हैं, (९) और बहुतेरों को मैंने मुँह के बल टँगे हुए धूम घूटते देखा है, किन्तु वह निरपेक्ष किसी को उत्तर नहीं देती है।"

टिप्पणी—(१) कुंकुह्<कुकुंम=जाफरान, केसर। केसर=पुष्प-रेणु, किञ्जल्क। (२) खीर<क्षीर=दुग्ध। पान<पण्ण<पर्ण=पत्ती। (३) भुअंग<भुजंग=सर्प। (४) मँजूर<मयूर=मोर। (५) खाँभ<खंभ<स्कम्भ=खंभा। माँत<मत्त। (६) कालिंद्री<कालिन्दी=यमुना। (७) कुंडर<कुण्डल। सौंह<सउँह<

सम्मुख। मीचु<मृत्यु। मींचु तँह बसी=वाराणसी में लोग मृत्यु लाभ करने के लिए प्राचीन-काल से ही जाकर निवास करते रहे हैं। (८) करवत<करपत्र=आरा: पहले लोग मध्य युग में स्वर्ग की कामना से तीर्थ-स्थानों में आरे से सिर चिराते थे। करसी<कारीस<कारीष=कंडे की आग: लोग स्वर्ग की कामना से प्रयाग आदि तीर्थों में मध्य-युग में शरीर को उपलों के बीच रख कर जीवित दग्ध होते थे। सीझ<सिज्झ<सिध्=पकना, निष्पन्न होना। (९) धूम घूँटन: स्वर्ग की कामना से लोग तीर्थों में उलटे टँग कर धुआँ भी पीते थे। निरास<निराश्रित=जिसे किसी का आश्रय, किसी की अपेक्षा न हो।

वेणी पीठ लीन्ह ओइ पाछें। जनु फिरि चली अपछरा काछें।
मलयागिरि कै पीठि संवारी। वेनी नाग चढ़ा जनु कारी।
लहरैं देत पीठि जनु चढ़ा। चीर ओढ़ावा केंचुकि मढ़ा।
दहुँ का कहँ असि वेनी कीन्ही। चंदन वास भुअंगन्ह दीन्ही।
किस्न कै करा चढ़ा ओहि माथें। तब सो छूट अब छूट न नाथें।
बारी कंवल गहे मुख देखा। ससि पाछें जस राहु बिसेखा।
को देखो पावै वह नागू। सो देखै माथें मनि भागू।
पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बईठ।
छात सिंघासन राज धन ता कहँ होइ जो डीठ ॥११५॥

अर्थ--"(१) उसने वेणी को जो पीठ पर धर रक्खा है, उससे वह ऐसी लगती है मानो वस्त्राभूषणों से सजी हुई कोई अप्सरा पीठ घुमा कर चल पड़ी हो। (२) उसकी पीठ [मानो] मलयगिरि चन्दन की बनी हुई है और उस पर लटकती हुई उसकी वेणी ऐसी लगती है मानो कालीयनाग हो, (३) जो पीठ पर चढ़ा हुआ लहरें दे रहा हो, और जो चीर से ढका अथवा कञ्चुकी (केंचुल) से मंडित हो। (४) पता नहीं किसके लिए [विधाता ने] ऐसी वेणी बनाई है, जो [उसकी पीठ पर] ऐसी लगती है मानो चन्दन ने भुजंगों को बसेरा दिया हो। (५) [उस समय--द्वापर में] कला करके उस [कालीय] के मस्तक पर चढ़ गए थे, और पुनः उस पर दया कर उन्होंने उसे मुक्त कर दिया था, किन्तु इस बार वह पुनः जो (इस सुंदरी के द्वारा) नाथा गया है, वह मुक्त नहीं हो सकेगा। (७) [यह काली (वेणी) सुन्दरी के कमल-वत् मुख के पीछे ऐसी लगती है मानो] कालीय अपने मुख में कमल लिए हुए दिखाई पड़ा हो, अथवा जैसे शशि के पीछे [लगा हुआ] राहु जान पड़ा हो। (७) कौन उस नाग को देख पाएगा? वही उसे देख सकेगा जिसके मस्तक में मणि [जैसा दैदीप्यमान] भाग्य हो। (८) वह सर्प मुख में ऐसा कमल लिए हुए है जिस पर [दो] खंजन बैठे हुए हैं। (९) जो कोई इस [शुभ शकुन] को देख सकेगा, उसे छत्र, सिंहासन, राज्य तथा धन की प्राप्ति होगी।"

टिप्पणी--(१) वेणी: 'जायसी ग्रंथावली' में प्रतियों के साक्ष्य के आधार पर मैंने 'बैरिनि' पाठ रक्खा है, किन्तु 'बैरिनि' प्रसंग-सम्मत नहीं है। अब मेरा ध्यान है कि मूल-पाठ नागरी लिपि में 'वेणी' था, जिसको एक ओर फ़ारसी लिपि में ठीक-ठीक रखना

संभव समझ कर सरलीकरण के द्वारा 'बेनी' और पर्यायकरण के द्वारा 'चोटी' में परिवर्तित किया गया, दूसरी ओर फारसी लिपि में अधिक से अधिक शुद्धता के साथ उतारने के प्रयास में 'बेड़ी' लिखा गया जिससे बिगड़ कर 'बेड़िनि' और पर्याय 'पातर' बने और पुनः इस बेड़िनि' का 'बैरिनि' हो गया। इस संशोधन से जितने भी पाठान्तर मिलते हैं, सबका समाधान हो जाता है, इसलिए इसे मूलपाठ के रूप में रख रहा हूँ। (३) चीर : एक प्रकार का वस्त्र जिसमें सोने का काम किया होता था। (आईन-ए-अकबरी, जिल्द, १ पृ० ९९) केंचुकि<कञ्चुकी=सर्प का केंचुल। (४) भुअंग<भुजंग=सर्प। बिसेख्<विशेषय्=विशेष युक्त करना, विशेषण से उचित करना। (८) सर्प : वेणी। कमल : मुख। खंजन : नेत्र। (९) छात<खत्त<छत्र।

लंक पुहुमि असि आहि न ब्राहूँ। केहरि कहौं न ओहि सरि ताहूँ।
बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह खीनी।
परिहँस पिअर भए तेहिं बसा। लीन्हे लंक लोगन्ह कहँ डँसा।
जानहुँ नलिनि खंड दुइ भई। दुहुँ बिच लंक तार रहि गई।
हिय सों मोरि चलै वह तागा। पैग देत कत सहि सक लागा।
छुद्र घंटि मोहहि नर राजा। इंद्र अखार आइ जनु साजा।
मानहु बीन गहे कामिनी। रागहि सबै राग रागिनी।
सिंघ न जीता लंक सरि हारि लीन्ह बन बासु।
तेहिं रिसि रकत पिअै मनई कर खाइ मारि कै माँसु ॥११६॥

अर्थ—"(१) उसकी कटि ऐसी है कि वैसी पृथ्वी में किसी की नहीं है; केसरी की यदि वैसी कहूँ तो वह भी उसके सदृश नहीं है। (२) जगत् बसा (बर्र) की कटि को क्षीण कहता है, किन्तु वह कटि उससे भी अधिक क्षीण है। (३) इसी परिहास में बर्र पीले हो गए और अपनी [क्षीण] कटि लिए हुए लोगों (मनुष्यों) को डसते रहते हैं। (४) वह कटि ऐसी [सूक्ष्म] है मानो नलिनी [की नाल] दो खंड हो गई हो और दोनों के बीच में वह लंक-रूपी तंतु रह गया हो। (५) वह तंतु हृदय [की गति] के साथ मुड़ चलता है, तो कैसे वह [उस सुंदरी के] पैर रखते समय उसका बल (धक्का) सहन कर सकता होगा? (६) [उस कटि में] जो क्षुद्र घंटिका [वह पहने हुए] है, उस पर, ऐ राजा, मनुष्य मुग्ध हो जाते हैं, [और उन्हें ऐसा लगता है] मानो इन्द्र का अखाड़ा आ कर सजा हो (७) और [उसमें] कोई कामिनी (गायिका) वीणा लिए हुए समस्त राग-रागिनियाँ प्रस्तुत कर रही हो। (८) सिंह उस कटि की समता में जीत न पाया, अतः हार कर उसने वनवास ले लिया (९) और उसी रिस से मनुष्य का रक्त पीता है और उसे मार कर उसका माँस खाता है।"

टिप्पणी—(१) पुहुमि<पृथ्वी। केहरि<केसरिन्=सिंह। सरि<सदृश। (२) झीन<क्षीण। खीन<क्षीण। (३) परिहँस<परिहास। पिअर<पीअडा<पीत=पीला। (६) अखार<आपाट<अक्षवाटक=अखवाड़ा, नृत्य-संगीत—मंडली। (९) रकत<रक्त=रुधिर। मनई<मानव।

नाभी कुंडर मलै समीरू। समुँद भँवर जस भँवै गँभीरू।
बहुतै भँवर बौंडरा भए। पहुँचि न सके सरग कहँ गए।
चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू। दहुँ को पाव को राजा भोजू।
को ओहि लागि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखी ऐस को रीझा।
तीवइ कँवल सुगँध सरीरू। समुँद लहरि सोहै तन चीरू।
झूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मदन दहुँ कापहँ कोपा।
अबहिं सो आहि कँवल कै करी। न जनौं कवन भँवर कह धरी।
वेधि रहा जग बासना परिमल मेद सुगंध।
तेहि अरघानि भँवर सब लुबुधे तजहिं न नीवी बंध ॥११७॥

अर्थ--"(१) उसका नाभिकुंडल ऐसा [चक्करदार] है कि [उससे लगकर बहते हुए] मलय समीर से गंभीर समुद्र भौंरे के समान भ्रमित होने लगता है---उसमें भँवरें पड़ने लगती हैं। (२) पुनः [उसी मलय-समीर से आन्दोलित होकर वायु में] अनेक आवर्त बवंडर के रूप में उठे और जब [उसके पास तक] न पहुँच सके तो वे स्वर्ग (आकाश) को चले गए। (३) वह चंदन में पड़ी हुई कुरंगिनी की खोज है, उसको पता नहीं कौन पाएगा, और कौन [उसे प्राप्त करने के लिए] राजा भोज [होकर अवतरित हुआ] है? (४) कौन [उसको प्राप्त करने] के लिए हिमांचल में सिद्ध हो चुका [अपने को सिझा चुका] है? वह किसके भाग्य में लिखी हुई है और ऐसा कौन है जो [इस प्रकार] समृद्ध हुआ है। (५) उस स्त्री के शरीर में कमल की सुगंध है और उसके शरीर पर चीर समुद्र की लहर जैसा शोभित होता है। (६) [उस चीर में] रत्नों और रेशम के गुच्छे [लगे हुए] झूलते रहते हैं, पता नहीं इस प्रकार की तैयारी करके मदन किस पर कुपित हुआ है। (७) अभी वह [बाला] कमल-कलिका ही है, और पता नहीं किस भ्रमर के लिए सुरक्षित है। (८) उसकी मेद (सुगंधयुक्त नाभि) की वासना, परिमल तथा सुगंध से जगत् बिद्ध हो रहा है; (९) उसी की महक से समस्त भ्रमर उस पर लुब्ध रहते हैं और उसका नीवी-बंध नहीं छोड़ते हैं।"

टिप्पणी--(१) कुंडर<कुण्डल। भवँ<भ्रम्=घूमना। (२) बौंडर<बवंडर <बाउंडल<वात+मण्डल। वात+कुण्डल (?)। सरग<स्वर्ग=आकाश। (२) खोज =चरण (खुर) का चिह्न। 'कुरंगिनीखोज' से अभिप्राय साधारणतः स्त्री गुह्यांग से लिया जाता है किन्तु यहाँ पर अभिप्राय नाभि से ही है, क्योंकि छंद की अंतिम पंक्ति तक उसी का वर्णन चलता है। नितंब और जुड़े हुए जंघों का वर्णन बाद के छंद में आता है। (४) सीझ<सिज्झ्<सिध्---सिद्ध होना, निष्पन्न होना, पकना। रीझ्< रिज्झ्<ऋध्=समृद्ध होना। (५) तीवइ<ती<स्त्री। (७) करी<कलिआ< कलिका। (८) वासना=हल्की महक। परिमल=भीनी महक। मेद=सुगंधयुक्त नाभि (आईन-ए-अकबरी में एक प्रकार की मेद का उल्लेख है जो किसी जानवर की सुगंधयुक्त नाभि से तैयार की जाती थी।) (९) अरघानि<आघ्राण=सुगंध। नीवी-बंध्=नारा, ईजारबंद।

बरनौं नितँब लंक कै सोभा । औ गज गवन देखि सब लोभा ।
जुरे जंघ सोभा अति पाए । केरा खाँभ फेरि जनु लाए ।
कँवल चरन अति रात बिसेखे । रहहिं पाट पर पुहुमि न देखे ।
देवता हाथ हाथ पगु लेही । पगु पर जहाँ सीस तहँ देहीं ।
माथें भाग को दहुँ अस पावा । कँवल चरन लै सीस चढ़ावा ।
चूरा चाँद सुरुज उजिआरा । पायल बीजु करहिं चमकारा ।
अनवट बिछिया नखत तराईं । पहुँचि सकै को पावन्हि ताईं ।
बरनि सिंगार न जानेउँ नखसिख जैस अभोग ।
तस जग किछौ न पावौं उपमा देउँ ओहि जोगि ॥११८॥

अर्थ--"(१) अब मैं उसके नितंबों का वर्णन करता हूँ जो उसकी कटि की शोभा हैं, और गजगति [वाले उसके चरणों] का जिनको देख कर सभी लुब्ध हैं। (२) उसके जुड़े हुए जंघों ने अत्यधिक शोभा प्राप्त की है, वे ऐसे हैं मानो केले के खंभे हों जो उलट कर लगाये (रक्खे) गए हों। (३) उसके कमल जैसे चरण विशेष रूप से अत्यधिक रक्त वर्ण के हैं; वे पीढ़ों पर रहते हैं और पृथ्वी को उन्होंने देखा (छुआ) नहीं है। (४) उन चरणों को देवता हाथों-हाथ लेते रहते हैं, और जहाँ वे चरण पड़ते हैं, वहाँ अपने सिर [काट कर चढ़ा] देते हैं। (५) अपने मस्तक में ऐसा भाग्य पता नहीं किसने पाया है कि उसके कमलवत् चरणों को लेकर सिर पर चढ़ाएगा। (६) जिसके पैरों में पड़े हुए चूड़ उज्ज्वल चन्द्र-सूर्य हैं, पायल विद्युत् हैं, जो चमत्कार करते रहते हैं, (७) तथा अनवट और बिछियाँ नक्षत्र तथा तारागण हैं, ऐसे चरणों तक कौन पहुँच सकता है? (८) वह शृंगार नख से शिखा तक जैसा अभोग्य है, उसके अनुरूप वर्णन करना मैं जान नहीं पाया, (९) और संसार में वैसा कुछ भी नहीं पाता हूँ कि उसके योग्य (उपयुक्त) उपमाएँ दूँ।"

टिप्पणी--(१) गवन<गमन। लोभा<लुब्ध<लुब्ध। (२) केरा<केल<कदल। खाँभ<खंभ<स्कम्भ=खंभा, तना। (३) रात<रत्त<रक्त=लाल। पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा। पुहुमि<पृथ्वी। (४) पर्<पड़्<पत्=पड़ना। (५) भाग<भाग्य। (६) चूरा<चूड (दे०)=पैरों के वलय। (७) अनवट<अंकुष्ठ=पैर के अँगूठे में पहना जाने वाला छल्ला। बिछिया<वृश्चिका=बिच्छी के आकार का एक छल्ला जो पैरों की उँगलियों में पहना जाता है। (८) अभोग<अभोग्य। (९) जोग<योग्य।

सुनतहि राजा गा मुरुछाई । जानहुँ लहरि सुरुज कै आई ।
पेम घाव दुख जान न कोई । जेहि लागै जानै पै सोई ।
परा सो पेम समुंद अपारा । लहरहि लहर होइ बिसँभारा ।
बिरह भँवर होइ भाँवरि देईं । खिन खिन जीव हिलोरहि लेईं ।
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई । खिनहिं उठे निसँसे बौराई ।
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता । खिनहि चेत खिन होइ अचेता ।
कठिन मरन तें पेम बेवस्था । ना जिअ जिवन न दसइँ अवस्था ।

जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिव हरहिं तरासहिं ताहि ।
एतना बोल न आव मुख करहि तराहि तराहि ॥ ११९ ॥

अर्थ--(१) राजा [इस वर्णन को] सुनते ही [इस प्रकार] मूर्छित हो गया मानो सूर्य की लहर (लू) आ (लग) गई हो। (२) प्रेम के घाव का दुःख कोई नहीं जानता है; जिसे वह (घाव) लगता है, हो न हो वही उसे जानता है। (३) वह अपार प्रेम-समुद्र में जा पड़ा और उसकी प्रत्येक लहर की चपेट से बेचेत होने लगा। (४) वह विरह की भँवरों में पड़ कर चक्कर काटने लगा, और क्षण-क्षण उसका जीव हिलोरें लेने--हिलोरों के साथ डूबने-उतराने--लगा। (५) किसी क्षण वह बिना साँस के हो जाता था, और उसका जीव (प्राण) डूबने लगता था, तथा किसी क्षण वह उठ बैठता और बावला होकर निःश्वास लेने लगता। (६) उसका मुख किसी क्षण पीला और किसी क्षण श्वेत हो जाता, किसी क्षण वह चेत उठता था और किसी क्षण [पुनः] अचेत हो जाता था। (७) प्रेम-व्यवस्था मरण से भी अधिक कष्टकारक होती है, जिसमें न जीव में जीवन रह जाता है और न उसको दशम अवस्था (मृत्यु) ही प्राप्त होती है। ८) [ऐसा लगता था] मानो प्राण लेने वालों (यम-दूतों) ने उसके प्राण निकाल लिए थे और वे उन प्राणों को बलात् ले जाना चाहते थे, इसलिए उन्हें त्रास पहुँचा रहे थे, (९) फलतः [रत्नसेन के] मुख से इतना भी बोल नहीं निकल पा रहा था कि वह 'त्राहि' 'त्राहि' करे।

टिप्पणी--(१) घाव<घात। (३) बिसंभारा<बिसम्भार=बेचेत। (४) भाँवरि <भ्रामरी=प्रदक्षिणा, चक्कर। (५) हिलोर<हिल्लोल=समुद्र की लहर। निसस्< णीसस्<निर्+श्वस्: निश्वास लेना। (६) सेत<श्वेत। (७) दसइँ अवस्था: काम की दस अवस्थाएँ कही गई हैं, जिनमें से अंतिम मरण है: अभिलाषाश्चिन्ता स्मृतिगुणकथनोद्वेग संप्रलापश्च। उन्मादो अथ व्याधिर्जड़ता मृतिरिति दशात्र काम दशा॥ (साहित्य दर्पण--संपा० शालिग्राम शास्त्री पृ० १०७)। (९) तराहि< त्राहि=रक्षा करो।

इस छंद में जायसी ने 'मरण-दशा' का अच्छा चित्रण किया है। जायसी की प्रेम-साधना में यह मरण-मार्ग एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी के द्वारा जायसी के अनुसार साधक को अमरत्व की उपलब्धि होती है।

जहँ लगि कुटुँब लोग औ नेगी। राजा राय आए सब बेगी।
जाँवत गुनी गारुरी आए। ओझा बैद सयान बोलाए।
चरचहिं चेस्टा परिखहिं नारी। निअर नाहिं ओषद तेहि बारी।
है राजहिं लक्खन कै करा। सकति बान मोहा है परा।
नहिं सो राम हनिवँत बड़ी दूरी। को लै आव सजीवनि मूरी।
बिनौ करहिं चेतहु गढ़पती। का जिव कीन्ह कवनि मति मती।
कहहु सो पीर काह बिनु खाँगा। समुँद सुमेरु आव तुम्ह माँगा।
धावन तहाँ पठावहु देहु लाख दस रोक।
है सो बेलि जेहि बारी आनहिं सबै बरोक ॥ १२० ॥

अर्थ--(१) जहाँ तक [रत्नसेन के] कुटुंबी, लोक (प्रजाजन) और नेगी (नेग पाने वाले--भृत्यादि), राजा और राय थे वे सब [उसकी यह दशा सुन कर] शीघ्र आए। (२) जितने भी गुणी और गारुड़ी थे, वे आए; ओझा, वैद्य और चतुर लोग बुलाए गए। (३) वे रत्नसेन की चेष्टा (अंगों की क्रियाशीलता) का अध्ययन करते हैं, नाड़ी परखते हैं और कहते हैं, "ओषधि और उसकी वाटिका [तथा बालिका] निकट नहीं हैं। (४) राजा को लक्ष्मण की कला (वेदना) है, वह शक्ति-बाण के लगने से मूर्छित पड़ा है। (५) और वे राम हैं नहीं [जो उसे अपने बाणों की शक्ति से मँगा सकते थे] और वे हनुमान भी बड़ी दूर [किष्किंधा में] हैं [जो राम के बाणों पर चढ़ कर गए थे और संजीवनी लाए थे]; अतः उस संजीवनी को कौन लावेगा?" (६) जितने भी [वहाँ उपस्थित] हैं, वे विनय करते हैं, "हे गढ़पति, चेत करो, तुमने अपने जी में क्या कर लिया है? कौन सी मति तुमने कर ली है? (७) वह पीड़ा हमें बताओ। वह कौन-सी वस्तु है जिसके अभाव में तुम्हें पूरा नहीं पड़ रहा है? (७) तुम्हारे माँगने पर समुद्र तथा सुमेरु भी आ सकते हैं। (८) वहाँ दूत भेजो, उन्हें हम दस लाख रुपये [मार्ग-व्ययादि के लिए] देंगे, (९) जिस वाटिका में वह वेली है (जिस देश में वह कन्या है), उस वाटिका (देश) से वे सब तुम्हारे लिए बरिच्छा (फलदान) लावें।"

टिप्पणी--(१) नेग=विवाहादि के मांगलिक अवसरों पर पुरस्कार के रूप में दिया जानेवाला द्रव्य। (२) जाँवत्<यावत्=जितने भी। गारुरी<गारुड़िक=मंत्र-शास्त्रज्ञ। ओझा<ओज्झा<उपाध्याय=भूत-प्रेतादि की बाधा के चिकित्सक। सयान<सज्ञान=अनेक विषयों के जानकार, चतुर। (३) चरन्<चर्च्=अध्ययन करना, निरीक्षण करना। नारी<नाडि=नाड़ी। निअर<णिअड<निकट। बारी<वाडिआ<वाटिका। (४) लक्खन<लक्ष्मण। करा<कला। (५) हनिवँत<हनुमत्=हनुमान। (६) बिनौ<विज्ञप्ति। गढ़पती=वे राजा जिनका युद्ध-बल गढ़-प्रमुख होता है। (७) खाँग्=कम पड़ना। (८) रोक<रूवग<रूपक=रुपया। (९) बरोक<वर+औत्क्य=बरिच्छा, फलदान।

जौ भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा।
आवत जगत बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ग्यान सो खोवा।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा।
सोवत अहा जहाँ सुख साखा। कस न तहाँ सोवत विधि राखा।
अब जिउ तहाँ इहाँ तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना।
जौ जिव घटिहि काल के हाथाँ। घटन नीक पै जीउ निसाथाँ।
अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें कर पहुँचत अगवाह॥ १२१॥

अर्थ--(१) जब उसे चेत हुआ, वह बिरक्त उठ बैठा, जैसे कोई बावला सोकर जागा हो। (२) वह जगत् में [पुनः] आने के विषय में बालक की भाँति रोने लगा; वह रो उठा, "हा! जो ज्ञान था, वह मैंने गँवा दिया। (३) मैं तो वहाँ था जहाँ अमर-

लोक है; यहाँ मृत्युलोक में मैं कहाँ आ गया ? (४) वह मेरे मरण का उपकार किसने किया था ? किसने मेरी [दिव्य] शक्ति को जगा कर मेरे जीव को हर लिया था ? (५) मैं [पक्षी] तो वहाँ सो रहा था जहाँ सुख की शाखा थी; विधाता ने मुझे वहाँ सोता हुआ क्यों नहीं रहने दिया ? (६) अब मेरा जीव वहाँ पर है और यहाँ पर मेरा सूना (शून्य) शरीर [मात्र] है; इससे अलग किए हुए मेरे प्राण कब तक [अकेले] रहेंगे ? (७) [ऐसी दशा में] यदि मेरे प्राण काल के हाथों में चले जाएँ तो वह [उनका] जाना अच्छा ही होगा, यह अवश्य होगा कि वे [इस शरीर के बिना] निसाथ (बिना साथ के) होंगे।" (८) [उस मरणावस्था की अनुभूति का संकेत वह इस प्रकार करता है,] (८) साढ़े तीन हाथ का ही [शरीर] सरोवर है, और हृदय-कमल उसी में है(९) नेत्रों के लिए तो वह मानो निकट ही है, किन्तु हाथों के पहुँचने में अवगाढ (दूर) है।"

टिप्पणी--(१) बैरागा<विरागिन्=विरक्त । बाउर<बाउल<वातूल=बावला । (२) सकति=शक्ति । (४) सूना=शून्य । बिहुन्<विहुण्<वि-धू=पथक्करना, अलग करना । (८) अहुठ<अहुट्ठ<अध्युष्ठ=साढ़े तीन । (९) निअर<णिअड=निकट । अवगाह<अवगाढ=गंभीर, गहरा, व्याप्त ।

छंद की प्रथम सात पंक्तियों में कवि ने 'मरण' और उसका दर्शन स्पष्ट किया है। जायसी के अध्यात्म में इस 'मरण' का स्थान बहुत महत्व का है। योगी को यह 'मरण' समाधि से प्राप्त होता है, प्रेममार्गी को विरह की उत्कट अनुभूति से। इस प्रकार का साधक 'मरण' जीव को शरीर के समस्त विकारों से मुक्त कर परम सत्ता में विलीन होने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

कवि ने छंद की अंतिम दो पंक्तियों में अलौकिक (दिव्य) सौन्दर्य (कमल) की स्थिति हृदय में बताई है, जो सक्त शारीरिकता के परे है। वह यद्यपि शरीर के भीतर ही है, किन्तु उसे प्राप्त करना दुष्कर है।

सबन्हि कहा मन समुझहु राजा । काल सतें कै जूझि न छाजा ।
तासौं जूझि जात जौं जीता । जात न किरसुन तजि गोपीता ।
औ नहिं नेहु काहु सौं कीजै । नाउँ मीठ खाएँ जिउ दीजै ।
पहिलेहिं सुक्ख नेहु जब जोरा । पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा ।
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू । पहुँचि न जाइ परा तस फेरू ।
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा । पेम अदिस्ट गगन सौं ऊंचा ।
धुव तें ऊँच पेम धुन उवा । सिर दै पाउ देइ सो छुवा ।
तुम्ह राजा औ सुखिआ करहु राज सुख भोग ।
एहि रे पंथ सो पहुँचै सहै जो दुक्ख वियोग ॥१२२॥

अर्थ--(१) सबने कहा, "हे राजा, मन में इसे समझ लो कि काल से युद्ध करके कोई भी शोभा (विजय) नहीं पा सका है। (२) यदि उससे युद्ध कर उसे जीता जा सकता तो कृष्ण [जैसे महा बलशाली] गोपियों को छोड़ कर न जाते । (३) और स्नेह तो किसी से न कीजिए; उसका नाम अवश्य मधुर है, [किन्तु वह विष है] उसके खाने से प्राण देने पड़ते हैं। (४) स्नेह में पहले ही सुख होता है जब वह किसी से जोड़ा

(लगाया) जाता है, किन्तु उसके बाद अन्त तक उसका निबाहना कठिन होता है। (५) [उसकी प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा अपना शरीर ही है,] यह साढ़े तीन हाथों का शरीर सुमेरु जैसा [बीच में आता है], जिसके कारण ऐसा फेर पड़ गया है कि उस स्नेह-लोक तक पहुँचा नहीं जाता है। (६) गगन पर तो दृष्टि से पहुँचा जा सकता है, किन्तु प्रेम अदृष्ट है, क्योंकि वह गगन से भी ऊँचा है। (७) प्रेम का ध्रुव [गगन के] ध्रुव से भी ऊँचा उदित होता है, उसको वही छू (पा) सकता है जो पहले अपना सिर देता है (जीवनोत्सर्ग करता है) और तदनन्तर [उसके मार्ग में] पैर रखता है। (८) तुम राजा हो और सुखाभ्यासी हो, तुम राज-सुख का भोग करो; (९) इस मार्ग में तो वह पहुँचता है जो वियोग का दुःख (अथवा दुःख और वियोग) सहन करता है।

टिप्पणी--(१) सतें<सत्रा (स-त्रा)<साथ, से। (२) जूझ्<जुज्झ्<युध्= लड़ाई करना, लड़ना। (३) नेह<स्नेह। (४) ओर<अवर<अपर=दूसरा छोर। (५) अहुठ<अहुट्ठ<अर्ध चतुर्थ। अध्युष्ठ=साढ़े तीन।

इस छंद में कवि ने प्रेम-पंथ की गहनता का वर्णन किया है: वह कहता है कि प्रेम की उपलब्धि में सबसे बड़ी बाधा अपना शरीर ही है; प्रेम अदृष्ट है; उसके निकट वही पहुँच सकता है जो अपना सिर (जीवन) देकर उसके मार्ग पर अग्रसर हो, और जो आगे भी वियोग का दुःख सहन कर सके।

सुअँ कहा मन समुझु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा।
तुम्ह अबहीं जेईं घर पोईं। कँवल न बैठि बैठ हहु कोईं।
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिए न छूटे।
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहिं राज के साजू।
ओहि पँथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी जती तपा सन्यासी।
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू।
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा।
साधन्ह सिद्धि न पाइअ जौ लहि साध न तप्प।
सोई जानहिं बापुरे सीस जो करहिं कलप्प॥ १२३॥

अर्थ--(१) सुए (हीरामणि) ने कहा, "हे राजा, तुम अपने मन में इस बात को समझ लो कि प्रीति करना कठिन कार्य है। (२) तुमने अभी तक घर की पकाई रोटी खाई है (जो कुछ घर-बैठे अनायास मिलता रहा है उसी से सन्तुष्ट रहे हो), किन्तु तुम [भ्रमर] अभी तक कुमुदिनी पर ही बैठे हो कमल पर नहीं। (३) कमल से प्रेम करने का परिणाम वही जानते हैं जो उसके [प्रेम के] मार्ग में लूटे जा चुके हैं, जिन्होंने उसके लिए जीवन दिया और जीवन देकर भी उससे छुटकारा नहीं पा सके। (४) सिंहल का राज्य (भोग) कठिन है; उसे [अपने] राज्य के आडंबर (वैभव) से नहीं प्राप्त कर सकते। (५) सिंहल के मार्ग पर वह जाता है जो उदासीन होता है, योगी, यती, तपस्वी या सन्यासी होता है। (६) यदि भोग्य पदार्थों का संग्रह कर कोई उस [सिंहल के] भोग को पा सकता, तो उस [भोग्य पदार्थों के] भोग को छोड़ कर कोई योग की साधना न करता। (७) तुम राजा हो और सुख प्राप्त करना चाहते हो। योग और भोग में

[परस्पर] कहाँ सद्भाव रहा है। (८) साधों के द्वारा ही सिद्धि नहीं मिलती है, जब तक तप न साधा जाए; (९) [सिद्धि प्राप्त करना] वे ही बेचारे जानते हैं जो [अपना] सिर काट [कर उस सिद्धि को अर्पित] करते हैं।

टिप्पणी--(२) जेंव्<जिम्=भोजन करना। कोई=कुमुदिनी। (४) साज< सज्ज=आडंबर। (७) कत<कुत्थ<कुत्र=कहाँ। (८) साध<सद्धा<श्रद्धा= इच्छा, आकाँक्षा। (९) बापुरा<वप्पुडा (दे०)=बेचारा। कलप्प क्लृप्त=काटा हुआ।

इस छंद में जायसी ने प्रेम-मार्ग की साधना पद्धति का निरूपण किया है। उनके अनुसार प्रेम की साधना योग और तप की साधना है; वह संसार के समस्त वैभवों द्वारा भी नहीं प्राप्त हो सकता है। [कवि ने कथा में पद्मावती की उपलब्धि के लिए जहाँ रत्नसेन की तप और साधना की सफलता चित्रित की है, वहीं अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली सम्राट् के समस्त वैभव की विफलता भी इसी उद्देश्य से चित्रित की है।]

का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथें।
जौं लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई।
पेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा।
पंथ सूरिन्ह कर उठा अंकूरू। चोर चढ़ कि चढ़ै मंसूरू।
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरें घटहि माँह दस पंथा।
काम क्रोध तिस्ना मद माया। पाँचौ चोर न छाड़हि काया।
नव सेंधै ओहि घर मँझियारा। घर मूसहिं निसि कै उजियारा।

अबहूँ जागु अयाने होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागिहि मूसि जाहि जब चोर॥ १२४॥

अर्थ--(१) और, योग की कथा कहने से क्या [प्राप्त] होता है? [वह तो करने की वस्तु है।] दही को मथे बिना घी नहीं निकलता है। (२) जब तक कोई [साधक] स्वतः उस [प्रेम की साधना] में खो नहीं जाता है, तब तक उस [प्रेम] को खोजते हुए नहीं पाता है। (३) विधाता ने प्रेम को दुर्गम पर्वत [के समान] बनाया है; उस पर वही चढ़ सकता है जो सिर के बल चढ़ता है। (४) उस (प्रेम के) पथ में शूलियों का उठा हुआ अंकुर (नुकीला अग्रभाग) है, जिस पर या तो चोर चढ़ता है और या तो मंसूर [जैसा प्रेम-मार्गी]। (५) ऐ राजा तू कंथा क्या [क्यों] पहिनता है? [अभी तो] तेरे शरीर में ही [दस इंद्रियाँ] दस मार्ग हैं। (६) काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया--ये पाँच चोर तुम्हारी काया को छोड़ते नहीं हैं [उस पर अधिकार किए रहते हैं]। (७) नव छिद्र उस [काया] गृह में हैं, [जिनसे प्रविष्ट हो कर वे तेरा गृह, चाहे रात हो चाहे [दिन का] प्रकाश, [निरंतर] मूसते रहते हैं। (८) ऐ अज्ञानी, अब भी जाग जा, क्योंकि अब तो बिल्कुल प्रभात होता आ रहा है; (९) जब वे चोर सब कुछ चुरा ही ले जाएँगे, तब कुछ न हाथ लगेगा।"

टिप्पणी--(१) बाजु<वज्ज<वर्ज्ज=विना। मथ्<मंथ्=मंथन करना (२) हेराय्=गुम होना, खो जाना। हेर्=खोजना। पाव्<पाअ<प्राप=पाना।

(३) सिर सों चढ़ा : समस्त एन्द्रियता को त्याग कर आगे बढ़ता है। (४) चोर चढ़ : पहले चोरों को शूली दी जाती थी। मंसूर : मंसूर हल्लाज नाम का एक बहुत प्रसिद्ध सूफ़ी साधक हुआ है, जिसे इसलिए सूली दी गई थी कि वह 'अन-अल-हक़' 'मैं सत्य हूँ' कहता था। (५) कंथा : गूदड़ों को टाँक कर बनाया गया वस्त्र। दशपंथ––दस मार्ग दस इन्द्रियाँ : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (कंठ, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ) (७) सेंध<संधि = छिद्र, विवर, चोर घर में घुसने के लिए घर की दीवाल में जो छिद्र बनाते हैं। नवछिद्र<नवद्वार : दो आँखें, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुख, गुदा, उपस्थ। मूस<मुस<मुष्=चोरी करना, चुरा ले जाना। (८) अयान<अज्ञान = मूर्ख। निसु=सम्पूर्ण रूप से, बिल्कुल।

इस छंद में भी कवि ने प्रेम-पंथ की दुर्गमता का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार प्रेम के मार्ग में सर के बल चलना पड़ता है––अर्थात् समस्त ऐन्द्रियता के ऊपर उठना पड़ता है। वह कठिनाइयों का मार्ग है, और उसमें प्राणों का मोह छोड़ कर ही अग्रसर होना चाहिए। प्रेम-पथ के पथिक को दस इंद्रियों तथा पंचविकारों से सावधान रहना चाहिए और शरीर के नवद्वारों पर नियंत्रण रखना चाहिए।

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार पेम चित लागा।
नैनन्ह ढरहि मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा।
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिअर भा बूझा।
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी।
जौ पे नाहीं अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा।
गुरू बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।
अब कै फनिग भृंगि कै करा। भँवर होउँ जेहिं कारन जरा।
फूल फूल फिरि पूछौं जौं पहुँचौं ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिलौं ज्यौं मधुकर जिउ देत॥ १२५॥

अर्थ––(१) सुए की यह बातें सुन कर राजा मन में जाग उठा (सचेत हुआ) और निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा, क्योंकि उसका चित्त प्रेम में लग चुका था। (२) उसके नेत्रों से मोती (आँसू) तथा मूँगे (रक्त-विन्दु) ढलक रहे थे, और उसकी वही दशा हो रही थी जो गुड़ खाने पर गूंगे हुए की होती है [उसे अपने समाधिजनित अनुभवों का वर्णन करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे थे]। (३) [उसने कहा,] "हृदय की ज्योति में मुझे वह द्वीप (सिंहल) अब सूझ रहा है, और यह जो द्वीप (जम्बू) है, मुझे अंधकारपूर्ण हुआ लगता है। (४) मेरी दृष्टि बदल गयी है : वह माया (सांसारिक वैभवादि) से रूठ गई है और इन्हें झूठा जान कर [इनकी ओर] लौट नहीं रही है। (५) यदि [जगत् की] दशा स्थिर नहीं रहती है, तो जगत् उजड़ा हो तो क्या और बसा रहे तो क्या? मुझे उससे क्या करना है? (६) [प्रेम पथ का] गुरु हो न हो, विरह की चिनगारी ही डालता है, जो उस चिनगारी को सुलगा (कर प्रेम की आग को प्रज्वलित कर) लेता है, चेला वास्तव में वही है। (७) अब तू [मेरे साथ] वह कला कर जो भृंगी फनिग के साथ करता है [तू भी मुझे उसी प्रकार अपने जैसा कर

ले जैसे भृंगी कीट को कर लेता है), जिससे कि मैं जिसके लिए दग्ध हो चुका हूँ, उसका भ्रमर (मधुपान करने वाला—मधुप) हो सकूँ। (८) मैं फूल-फूल (प्राणी-प्राणी) से पूछने को प्रस्तुत हूँ, ताकि किसी भी प्रकार से उस केतकी (प्रेम-पात्र) तक पहुँच सकूँ, (९) और जिस प्रकार मधुकर अपने प्राण देता है (केतकी से मिलने के लिए अपने शरीर को उसके तीक्ष्ण काँटों से बिंधवा देता है), उसी प्रकार मैं भी अपने शरीर (जीवन) की बलि देकर मिलने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

टिप्पणी—(२) मोंति<मौक्तिक। मूँगा<मुग्ग<मुद्ग=प्रवाल। (३) दीप< द्वीप। (४) रूठा<रुट्ठ<रुष्ट। (५) उजार<उज्जड [दे०]=बस्ती-रहित स्थान। (६) सुलगाव्=आग को भलीभाँति लगाना (जलाना)। चेला<चेड<चेट=दास, शिष्य। (७) फनिग<फडिंग=घास की पत्तियाँ खाने वाला कीट-विशेष। (८) जौं<जओ<यतः=ताकि। केत=केतकी पुष्प, जिसकी पत्तियों में कोर पर बहुत नुकीला और कड़ा काँटा होता है। (९) नेवछावर<णिवच्छ+आवलि = उतार कर दिया जाने वाला द्रव्य-समूह। ज्यौं<जेम [दे०]=यथा।

इस छंद में कवि ने कहा है कि एक बार प्रेम का दिव्यलोक जब उपर्युक्त मरण-साधना से दिखाई पड़ जाता है तो साधक को इहलोक का आकर्षण नहीं रह जाता है। तब वह अपने शरीर की भी बलि दे कर प्रियतम से मिलना चाहता है। इसमें कवि ने गुरु-शिष्य धर्म का भी निरूपण किया है। उसके अनुसार गुरु वह है जो साधक में विरह की वेदना अंकुरित करता है, और साधक वह है जो उस अंकुर को अपनी साधना से अधिकाधिक पल्लवित करता है।

तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी।
तन बिसँभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम परी सिर जटा।
चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा।
मेखलि सिंगी चक्र धँधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी।
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।
मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान काँध बघछाला।
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता।
चला भुगुति माँगै कहँ साजि कया तप जोग।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ हिरदै जेहि क बियोग ॥१२६॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) ने राज्य छोड़ दिया, वह योगी हो गया और हाथ में किंगरी (किन्नरी वीणा) लिए हुए वह वियोगी बन गया। (२) वह शरीर से बेचेत और मन से बावला तथा लुब्ध था, वह प्रेम से उलझा हुआ था, और उसके सिर पर जटा पड़ गई थी। (३) चन्द्र जैसे मुख और चंदन जैसे देह पर भस्म (राख) पोत कर उसने शरीर को मिट्टी कर लिया। (४) मेखली, शृंगी, चक्र, धँधारी, योगपट्ट और रुद्राक्ष और आधारी [ग्रहण कर] (५) तथा कंथा पहिन कर उसने हाथ में दंड लिया तथा सिद्ध होने के लिए गोरखनाथ का नाम लिया। (६) कानों में मुद्राएँ, कंठ में जप-माला, हाथ में उदपान, कंधे पर व्याघ्रचर्म, (७) पावों में पाँवरी और सिर पर

छत्र लिए और रक्त वर्ण का वेष कर उसने [हाथ में] खप्पर ले लिया। (८) काया को तपस्या के योग्य सजा कर वह भुक्ति (भोजन) माँगने के लिए चल पड़ा; (९) [मन में उसने संकल्प किया,] "मैं उस पद्मावती को पाकर सिद्ध हूँगा, जिसका मेरे हृदय में वियोग है।"

टिप्पणी--(१) किंगरी<किन्नरी : एक प्रकार का ताँतों का छोटा बाजा जिसे ताँतों से ही बजाया भी जाता है। (२) लटा=लुब्ध। (३) खेह [दे०]=धूल, मिट्टी। (४) मेखली=कांची, करधनी। सिंगी<शृंग=सींग का बाजा। चक्र=एक गोलाकार अस्त्र जो फेंक कर चलाया जाता था। अकाली सिक्ख इसे सिर पर पगड़ी के साथ धारण करते हैं। मंझन ने भी 'मधुमालती' में इसे योगी मनोहर के मस्तक पर धारण कराया है : चक्रमाँथ मुख भसम चढ़ावा। १२७.४। धँधारी=गोरखधंधा। जोगौट< जोगवट्ट<योगपट्ट : योगियों का वस्त्र-विशेष जिसे वे ध्यान करते समय सिर से पैर तक डाल लेते हैं। रुद्राछ<रुद्राक्ष=रुद्राक्ष की माला। आधारी=एक लकड़ी जिसके सहारे योगी बैठते हैं। (५) कंथा=चिथड़ों से बना हुआ वस्त्र। दंड=डंडा। (६) मुंद्रा<मुद्रा=कानों में पहनने का छल्ला। उदपान=जलपात्र। (७) पाँवरी= पादत्री=जूती या खड़ाऊँ। खप्पर<कर्पर=नारियल का खोपड़ा। (८) भुगुति< भुक्ति=भोजन। जोग<योग्य।

इस छंद में कवि ने गोरखपंथी योगी की वेष-भूषा का वर्णन किया है।

गनक कहहिं करु न गवन आजू। दिन लै चलहि फरै सिधि काजू।
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा।
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू।
पँडित भुलान न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूँछ न कालू।
सती कि बौरी पूँछै पाँड़े। औ घर पैठि समेटै भाँड़े।
मरि जो चलै गाँग गति लेई। तेहि दिन घरी कहाँ को देई।
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घर काया पुनि अंत परावा।
हौं रे पँखेरू पँखी जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम्ह आपन घर जाहु ॥१२७॥

अर्थ--(१) गणक (ज्योतिषी) कहने लगे, "आज न जाओ; [उपयुक्त] दिन का निर्धारण करके [उस दिन] यदि जाए तो कार्य में सिद्धि फलती है।" (२) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "प्रेम-पथ में [पथिक] दिन और घड़ी नहीं देखता है, वह तो इन्हें तब देखे जब बुद्धिमान (समझदार) हो। (३) जिसके तन में प्रेम हो जाता है, उसके शरीर में मांस कहाँ रह जाता है? उसकी काया में न रक्त रह जाता है, और न उसके नेत्रों में आँसू। (४) पंडित भूल रहा है, वह चलन (रीति-भाँति) नहीं जानता है, क्योंकि जीव (प्राण) लेते समय काल [भी तो] दिन नहीं पूछता है। (५) चितारोहण करती हुई बावली सती भी क्या पांडे (पंडित) से [दिन-घड़ी] पूछ कर चितारोहण करती है और [तब तक] क्या घर में प्रविष्ट होकर बर्तन-भांड़े एकत्र करती है? (६) जो गंगा-गति लेने के लिए प्राण-विसर्जन करने चला है, उसे दिन-घड़ी कौन बताता है?

(७) मैंने घर-द्वार कहाँ का पाया है ? घर और काया अंत में दूसरे के ही तो होते हैं। (८) मैं तो पक्षधर (पंखों वाला) पक्षी हूँ; [अब] जिस वन में मेरा निर्वाह होगा, (९) उसी वन को मैं [इस वन से] क्रीड़ापूर्वक जा रहा हूँ, तुम [भी] अपने घर जाओ।"

टिप्पणी––(१) गवन<गमन=प्रस्थान। (२) सरेख<संलेखित=वह जिसने तपस्या द्वारा अपने शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी, समझदार। (३) कया<काया। (५) बाउर<वाउल<वातूल=बावला। भाँड़<भाण्ड=बर्तन। (६) गाँग-गति= पहले लोग स्वर्गादि की कामना से गंगा में डूब कर शरीर-त्याग करते थे, उसे गंग-गति लेना कहते थे। (७) बार<वार=द्वार। (८) पँखेरू<पक्षधर=पंखों को धारण करने वाला, पक्षी। निबाह<णिव्वाह<निर्वाह। (९) खेल्=क्रीड़ा करना, कौतुक करना : किन्तु पक्षियों और योगियों के प्रसंग में जायसी ने इस शब्द का प्रयोग 'क्रीड़ा अथवा कौतुक पूर्वक जाना' के अर्थ में किया है, यथा : हंस लजाइ समुँद कहँ खेले। (४८४.५), जोगी आपु कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहिअ खेला। (१४०.३)।

चहुँ दिसि आन सोंटिअन्ह फेरी। भै कटकाई राजा केरी।
जाँवत अहै सकल ओरगाना। सांबर लेहु दूरि है जाना।
सिंघल दीप जाइ सब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा।
सब निबहिहि तहँ आपनि साँठी। साँठी बिना रहब मुख माँटी।
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलै सब लोगू।
गरब जो चढ़े तुरिअ की पीठी। अब सो तजहु सरग सौं डीठी।
मंत्रा लेहु होहु सँग लागू। गुदर जाइ सब होइहि आगू।
का निचिन्त रे मनुसे आपनि चिंता आछु।
लेहि सजग होइ अगुमन फिरि पछिताहिं न पाछु ॥१२८॥

अर्थ––(१) राजा के सोंटाबरदारों ने राजा की आज्ञा फेरी (प्रचारित की), "राजा की कटक [तैयार] हो गई है; (२) [उसमें सम्मिलित होने के लिए] जितना भी [राजकीय] भृत्य-समुदाय है, सब के सब संबल ले लो, दूर जाना है। (३) सबको सिंहल द्वीप जाना है, जहाँ पर क्रय किया हुआ कुछ न पाओगे। (४) वहाँ पर सब अपनी ही साँठी से काम चलेगा, साँठी के बिना मुख में मिट्टी रहेगी––मिट्टी फाँकनी पड़ेगी। (५) राजा योग (योगी का वेष) सजा कर चला है, तुम सब लोग चलने की शीघ्र तैयारी करो। (६) [तुम सब] जो गर्वपूर्वक घोड़े की सवारी करते थे, अब स्वर्ग (आकाश) से दृष्टि लगाना छोड़ो। (७) अपनी मात्रा (सामान) ले लो और [राजा के कटक के] साथ सम्मिलित हो जाओ, सभी [राजा की] सैनिक पेशी में उपस्थित होकर उसके आगे-आगे होंगे (चलेंगे)। (८) ऐ मनुष्य, तू निश्चिन्त क्या (क्यों) है ? अपनी चिन्ता में हो। (९) तू सजग होकर पहले ही से [अपना स्थान] ले, जिससे पीछे न पछताए।"

टिप्पणी––(१) आन<आज्ञा। सोंटिआ=सोंटाबरदार, वैत्रिक। कटकाई<कटकिका=छोटी सेना। (२) ओरगाना=सेवक-समुदाय [दे० 'ओरग' २६.३ टिप्पणी]। साँबर<शम्बल=पाथेय। (३) बेसाह्<विसाधय्=क्रय करना। (४) साँठि<संठिइ<संस्थिति=दशा, आर्थिक स्थिति। (६) तुरिअ<तुरय<तुरग=

घोड़ा। सरग<स्वर्ग=आकाश । (७) मंत्रा<मात्रा=सामान । लाग<लग्ग<लग्न=संबद्ध, सम्मिलित । गुदर<गुज़र=सैनिक पेशी (दे० २४१.१) । आगू<अग्ग<अग्र । (८) आछ्<अस्=होना । (९) पाछु<पच्छ<पश्चात्=पीछे ।

बिनवै रतनसेनि कै माया । माँथें छत्र पाट निति पाया ।
बेरसहु नव लख लच्छि पिआरी । राज छाँड़ि जनि होहु भिखारी ।
निति चंदन लागै जेहि देहा । सो तन देखु भरब अब खेहा ।
सब दिन रहेउ करत तुम्ह भोगू । सो कैसे साधब तप जोगू ।
कैसें धूप सहब बिनु छाहाँ । कैसें नींद परिहि भुइँ माहाँ ।
कैसें ओढ़ब काँवरि कंथा । कैसें पाउँ चलब तुम्ह पंथा ।
कैसें सहब खिनहि खिन भूखा । कैसें खाएब कुरकुटा रूखा ।
राज पाट दर परिगह सब तुम्ह सौं उजिआर ।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अँधिआर ।।१२६।।

अर्थ--(१) रत्नसेन की माता उससे विनय करती है, "[हे पुत्र,] तुम्हारे मस्तक पर छत्र रहता है और तुम्हारे पैर नित्य पीढ़ों पर रहते हैं, (२) और तुम नौ लाख लक्ष्मी [जैसी] प्रियाओं का भोग करते हो, [एसे सुख-सौख्य को भोगते हुए] तुम राज्य छोड़ कर भिखारी मत बनो । (३) जिस देह में नित्य ही चन्दन लगता है, वही देह, तुम देखो, अब धूल (राख) भरेगा । (४) सब दिन (सदैव) तुम भोग करते रहे हो, वही तुम कैसे तप और योग साधोगे ? (५) बिना छाया के तुम धूप कैसे सहोगे ? और कैसे तुम्हें भूमि में (पर) नींद पड़गी ? (६) कैसे तुम कमली और गुदड़ी ओढ़ोगे, और कैसे तुम्हारे [नंगे] पाँव मार्ग में चलेंगे ? (७) कैसे तुम क्षण-प्रतिक्षण भूख सहन करोगे ? और कैसे तुम रूखा कुरकुटा खाओगे ? (८) राज-पाट, दल-प्रतिग्रह--सब तुम्हीं से प्रकाशित हैं, (९) [इसलिए] तुम [यहाँ] बैठे रहकर भोग का आनन्द मानो (प्राप्त करो) और इन सब को अंधकारपूर्ण करके प्रस्थान न करो ।"

टिप्पणी--(१) विनव्<विज्ञापय्=अपनी बात कहना, निवेदन करना । माया <माइ<मातृ=माँ । पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा । पाय<पाअ<पाद=पैर । (२) बेरस्<विलस्=विलास करना । लच्छि<लक्ष्मी । भिखारी<भिक्षाकारिन् =भिखमंगा । (३) खेह=मिट्टी, धूल । (५) नींद<निद्रा । भुइं<भूमि । (६) काँवरि<कम्बल । कंथा=गुदड़ा, गुदड़े से बना वस्त्र । (७) कुरकुटा=वह उबाला हुआ चावल जो सूखकर ऐंठ गया हो [कूर=उबाला हुआ चावल, कुटित=टेढ़ा हो गया हुआ, ऐंठा हुआ] । रूखा<रुक्ख<रुक्ष=नीरस । (८) दर<दल=सैन्य । परिगह<प्रतिग्रह=सेना का वह भाग जो आवश्यकता के लिए रखा जाता है । उजिआर<उज्ज्वल=प्रकाशित । (९) अँधिआर<अन्धकार=अँधेरा ।

मोहिं यह लोभ सुनाउ न माया । काकर सुख काकरि यह काया ।
जौं निआन तन होइहि छारा । माँटी पोखि मरै को भारा ।
का भूलहु एहि चंदन चोवाँ । बैरी जहाँ आँग के रोवाँ ।
हाथ पाउ सरवन औ आँखी । ये सब ही भरिहैं पुनि साखी ।

सोत सोत बोलहिं तन दोखू। कहु कैसें होइहि गति मोखू।
जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद कस साधत जोगू।
ओनहूँ सिस्टि जौं देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा।
देखु अंत अस होइहि गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघल दीप जाब मैं माता मोर अदेस ॥१३०॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने कहा], "हे माता, मुझे यह मोह मत सुनाओ। यह सुख किसका है और यह काया किसकी है ? (२) यदि अंत में शरीर राख ही होगा, तो इस मिट्टी [के शरीर] को पुष्ट करके, उसके भार से कौन मरे ? (३) इस चन्दन और चोए पर क्या भूलती हो, जहाँ पर (जब कि) शरीर के रोम-रोम हमारे वैरी हैं ? (४) पुन: (इसके अतिरिक्त) हमारे हाथ, पैर, कान और आँखें--यह सभी [उस कर्त्ता के सम्मुख हमारे किए हुई कर्मों के संबंध में] साक्षी भरेंगे। (५) [शरीर का] एक-एक स्रोत (रोमकूप) शरीर के द्वारा किए हुए दुष्कर्मों को कह उठेगा, तब बताओ कैसे मोक्ष-गति मिल सकेगी ? (६) यदि राज्य और भोग भले होते, तो राजा गोपीचन्द कैसे (क्यों) योग साधते ? (७) उन्होंने भी जब सृष्टि को पारावत [के समान उड़ जाती हुई--आँखों से ओझल हो जाती हुई] देख लिया, राज्य का त्याग कर दिया और कज्जली-वन का सेवन किया। (८) तू देख ले, अंत इसी प्रकार का होगा; [अत:] गुरु ने [जैसा] उपदेश दिया है, (९) मैं सिंहल द्वीप जाऊँगा; हे माता, तुम्हें मेरा आदेश है।"

टिप्पणी--(१) माया>माइ<मातृ=माता। (२) निआन<निदान=अन्त में। छार<क्षार=राख। (३) चोवा=अगुरु के रस से भबके द्वारा उतारा हुआ एक सुगंधित पदार्थ। रोवँ<रोमन्। (४) सरवन<श्रवण=कान। आँखि<अक्खी< अक्षि=आँख। साखी<सक्खि<साक्षिन्। (५) सोत<स्रोत=रोमकूप। मोख< मोक्ख<मोक्ष। (६) भल<भल्ल<भद्र=अच्छा। गोपीचन्द: बंगाल के एक राजा जो गोरखनाथ के उपदेशों से योगी बन गए थे। (७) परेवा<पारेवय<पारावत= पक्षी। कजरी वन<कज्जलीवन=कज्जली तीर्थ (?) (मो० वि०)। (९) अदेस <आदेश=प्रणाम।

रोवै नागमती रनिवासू। केइँ तुम्ह कंत बन बासू।
अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी।
कै हम लावहु अपने साथाँ। कै अब मारि चलहु सैं हाथाँ।
तुम्ह अस बिछुरे पीउ पिरीता। जहँवा राम तहाँ सँग सीता।
जौ लहि जिउ सँग छाड़ न काया। करिहौं सेव पखरिहौं पाया।
भलेहिं पदुमिनी रूप अनूपा। हमतें कोइ न आगरि रूपा।
भँवै भलेहि पुरुषन्ह कै डीठी। जिन्ह जाना तिन्ह दीन्ही पीठी।
देहिं असीस सबै मिलि तुम्ह माथें निति छात।
राज करहु गढ़ चितउर राखहु पिय अहिबात ॥१३१॥

अर्थ--(१) नागमती और रत्नसेन का [शेष] रनिवास रो रहा है, "हे कान्त, तुम्हें किसने वनवास दिया ? (२) अब हमको भोगिनी कौन करेगा ? हम भी तुम्हारे

साथ योगिनी होंगी। (३) या तो तुम हमें अपने साथ लगाओ (लो), और या तो अपने हाथों से अब हमें मार कर जाओ। (४) तुम्हारे ही ऐसे प्रिय पति के विछुड़ने पर जहाँ-जहाँ राम गए थे, वहाँ-वहाँ सीता भी तो गई थीं। (५) जब तक हमारे प्राण काया का साथ न छोड़ेंगे, हम तुम्हारी सेवा करेंगी और तुम्हारे पैर पखारेंगी। (६) पद्मिनी का रूप भले ही अनुपम हो, किन्तु कोई भी रूप में हमसे आगे (बढ़ी-चढ़ी) नहीं हो सकती है। (७) भले ही पुरुषों की दृष्टि [उन पर] मँडराए, किन्तु जिन्होंने भी [एक बार] उनको जान लिया है, उन्होंने उन्हें पीठ दे दी है (उनकी ओर से मुँह फेर लिया है)। (८) सभी रानियाँ मिलकर रत्नसेन को आशीर्वाद देती हैं, "तुम्हारे मस्तक पर नित्य ही छत्र रहे! (९) तुम चित्तौर गढ़ में राज्य करते रहो, और हे प्रिय, तुम हमारा अहिवात रक्खो!"

टिप्पणी—(१) कंत<कान्त=पति। (३) सैं<सइं<स्वयं। (४) बिछुर् <विच्छुड् [दे०]=विछुड़ना, अलग होना। पिरीत<प्रीत=प्रेम-पात्र, प्रिय। (५) पखार्<प्रक्षालय=पखालना, धोना। पाय<पाअ<पाद=पैर। (६) आगर< अग्र=आगे, बढ़कर। (७) भवँ<भम्<भ्रम्=घूमना, चक्कर लगाना, मँडराना। (८) छात<छत्त<छत्र। (९) अहिवात=सौभाग्य।

तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घर नारी।
राघौ जौं सीता सँग लाई। रावन हरी कवन सिधि पाई।
यहु संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानहु नहिं देखा।
राजा भरथरि सुनि रे अयानी। जेहि के घर सोरह सै रानी।
कुचन्ह लिहें तरवा सहराईं। भा जोगी कोइ साथ न लाईं।
जोगिहिं काह भोग सों काजू। चहै न मेहरी चहै न राजू।
जूड़ कुरकुटा पै भखु चाहा। जोगिहि तात भात दहुँ काहा।
कहा न मानै राजा तजी सबाईं भीर।
चला छाड़ि सब रोवत फिरि कै देइ न धीर ॥१३२॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "तुम स्त्री हो, तुम्हारी बुद्धि हीन (ओछी) है, वह मनुष्य मूर्ख होता है जो घर में स्त्री से मत (मंत्रणा) [कर के कोई कार्य] करता है। (२) राम ने जो सीता को संग लिया, [उसी से तो] रावण ने सीता का हरण किया; उन्होंने कौन सी सिद्धि [सीता को साथ ले जाने पर] प्राप्त की? (३) यह संसार स्वप्न के लेखे का (जैसा) है; [जब तक संयोग है सभी नाते-रिश्ते हैं,] विछुड़ने के बाद ऐसा हो जाता है मानो पहिले देखा भी न हो (सभी रिश्ते-नाते समाप्त हो जाते हैं)। (४) ऐ अबोध स्त्री, सुन: एक राजा भर्तृहरि थे, जिनके गृह में सोलह सौ रानियाँ थीं; (५) वे अपने कुचों से उसके पैरों के तलवे सहलाती रहती थीं, किन्तु वह [सांसारिक संबंधों के इसी मृषात्व को समझ कर] योगी हो गया और उन्हें उसने साथ न लिया। (६) योगी को भोग से क्या प्रयोजन? वह न स्त्री चाहता है और न राज्य। (७) वह तो ठंडा कुरकुटा ही भक्ष्य के रूप में चाहता है; योगी को (के लिए) तप्त भात, तुम्हीं बताओ, क्या है?" (८) राजा किसी का कहना नहीं मान रहा था, उसने समस्त [शासन-

कार्यादि की] व्यस्तता त्याग दी; (९) वह सब को रोता त्याग कर चल पड़ा था, और लौटकर उन्हें धैर्य नहीं दे रहा था।

टिप्पणी--(१) तिरिआ<स्त्री। (४) भरथरी : भर्तृहरि उज्जैन के एक प्रसिद्ध राजा जो पीछे संसार से विरक्त होकर योगी हो गए थे। अयानि<अज्ञान। (५) तरवा<तल=पाद-तल। सहराब्=सहलाना। (६) मेहरी<महल्ली<महत्, अथवा मेहरी<महिलिया<महिलिका=महिला। (७) कुरकुटा<कूर+कुटित : [कूर=उबाला हुआ चावल, कुटित=टेढ़ा हो गया हुआ, ऐंठा हुआ]। भख<भक्ष्य। तात< तत्त<तप्त। भात<भत्त<भक्त=पका हुआ चावल।

रोवै माता न बहुरै बारा। रतन चला जग भा अँधियारा।
बार मोर रजियाउरि रता। सो लै चला सुवा परबता।
रोवहिं रानी तजहिं पराना। फोरहिं बलय करहिं खरिहाना।
चूरहिं गिव अभरन औ हारू। अब काकहँ हम करब सिंगारू।
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला काकर यहु जीऊ।
मरै चहहिं पै मरै न पावहिं। उठै आग तब लोग बुझावहिं।
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा। पुनि पाछें बीता होइ रोरा।
टूट मनै नव मोती फूट मनै दस काँच।
लीन्ह समेटि ओबरिन होइगा दुख कर नाँच ॥१३३॥

अर्थ--(१) माता रोती है किन्तु बालक (रत्नसेन) वापस नहीं होता है; [वह कहती है,] "[मेरा] रत्न चला गया और [मेरे लिए] संसार अँधेरा हो गया। (२) मेरा बालक राज्यावलि (राज्य के कार्यों) में रक्त (अनुरक्त) था, किन्तु उसको पर्वतीय सुआ लिए जा रहा है।" (३) रानियाँ रोती हैं और अपने प्राण छोड़ती हैं, वे चूड़ियाँ फोड़ती हैं और [उनका] खलिहान [-सा] कर देती हैं। (४) वे ग्रीवा के आभरण और हार तोड़ती हैं, और कहती हैं, "अब हम किसके लिए शृंगार करेंगी ? (५) जिसको हम हर्षित होकर 'प्रिय' कहती थीं, [अब] जब वही चल पड़ा, तो यह प्राण किसके हैं ?" (६) वे मरना चाहती हैं, पर मर नहीं पाती हैं; आग [उनके शरीर से] जब उठती है, तब लोग उसे बुझा देते हैं। (७) एक घड़ी तक अत्यधिक हल्ला-गुल्ला हुआ, और पीछे वह रोर हो बीता (समाप्त हो गया)। (८) नौ मन मोती टूट गए और दस मन कांच (शीशे) [के वलय]; (९) उन्हें कोठरियों में बटोर कर रख दिया गया और दुःख का नृत्य हो गया।

टिप्पणी--(१) बहुर्<व्याहुड्<याघुट्=लौटना। बार<बाल=बालक। (२) रजियाउरि<राज्य+आवलि=राज्य के कार्य। रता<रत्त<रक्त=अनुरक्त। (३) खरिहान<खाद्याधान (?)=जहाँ खाद्यान्न इकट्ठा किया जाता हो। (४) चूर्<चूरय्<चूर्णय्=तोड़ना, टुकड़े-टुकड़े करना। गिव-अभरन<ग्रीवाभरण। (५) रहस<रभस्=हर्ष। पीउ<पिउ<प्रिय। (७) अँदोर<आन्दोल=हलचल, हल्लागुल्ला। रोर<रोल<रव=कोलाहल। (८) मोंती<मौक्तिक। काँच<कच्च=शीशा। (९) ओबरी<उव्वरि<अपवरिका=भीतर का कक्ष, कोठरी।

निकसा राजा सिंगी पूरी । छाड़ि नगर मेला होइ दूरी ।
राय राने सब भए बियोगी । सोरह सहस कुँवर भए जोगी ।
माया मोह हरी सैं हाथाँ । देखेन्हि बूझि निश्रान न साथाँ ।
छाड़ेन्हि लोग कुटुँब घर सोऊ । भे निनार दुख सुख तजि दोऊ ।
सँवरै राजा सोइ श्रकेला । जेहि रे पंथ खेलै होइ चेला ।
नगर नगर श्रौ गावँहिं गाऊँ । चला छाड़ि सब ठावँहिं ठाऊँ ।
काकर घर काकर मढ़ माया । ताकर सब जाकर जिउ काया ।
चला कटक जोगिन्ह कर कै गेरुश्रा सब भेषु ।
कोस बीस चारिहुँ दिसि जानहुँ फूला टेसु ॥१३४॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) सिंगी बजा कर निकल चला । नगर को छोड़ कर और उससे दूर होकर उसने [औरों को] मिलाया (साथ लिया) । (२) [उसके समस्त सामंत] राजे और राणे [उसके साथ] वियोगी हुए : कुल सोलह सहस्र कुमार योगी हुए । (३) मोह की माया को उन्होंने अपने हाथों से स्वयं हटा दिया, [क्योंकि] उन्होंने समझ कर देखा कि अन्त में ये साथ न रहेंगे । (४) उन्होंने भी [रत्नसेन की भाँति] लोक (प्रजा), कुटुंब तथा घर-बार को छोड़ दिया और दुःख-सुख के द्वन्द्व को त्याग कर वे भी [रत्नसेन की भांति] निराले हो गए । (५) राजा अकेले उसी का स्मरण कर रहा था जिसके मार्ग में चेला बन कर वह क्रीड़ा या कौतुकपूर्वक जा रहा था । (६) नगर-नगर और गाँव-गाँव--सभी को स्थान-स्थान पर छोड़ता हुआ वह चला । (७) [उन्होंने कहा,] "किसके ये घर और किसके ये मंदिर और वैभव हैं? ये सब [भी तो] उसी के हैं जिसके जीव और काया हैं।" (८) योगियों का समस्त कटक गेरुआ वेष धारण करके चल पड़ा; (९) [उनका वह दल ऐसा] ज्ञात होता था [मानो] बीस कोस तक चारों ओर पलाश फूले हुए हों ।

टिप्पणी--(१) सिंगी<शृंग=सींग का बना एक बाजा । मेल्<मेलय्=मिलाना, इकट्ठा करना। (२) राय<राजा। राणा<राजन्य (?) । (३) सैं<सइं<स्वयं। बूझ्<बुज्झ्<बुध्=जानना, समझना, ज्ञान करना । (४) सँवर्<समर<स्मृ=याद करना । (५) अकेला<अक्केल्लय<एकाकिन् । खेल्=क्रीड़ा या कौतुक पूर्वक जाना । (७) मढ़<मठ=मंदिर । (९) टेसु<किंशुक=पलाश का फूल ।

श्रागें सगुन सगुनिश्राँ ताका । दहिउ मच्छ रूपे कर टाका ।
भरें कलस तरुनी चलि श्राई । दहिउ लेहु ग्वालिनि गोहराई ।
मालिनि श्राउ मौर लै गाँथें । खंजन बैठ नाग के माँथें ।
दहिनें मिरिग श्राइ गौ धाई । प्रतीहार बोला खर बाईं ।
बिरिख सँवरिश्रा दाहिन बोला । बाएँ दिसि गादुर तहँ डोला ।
बाएँ श्रकासी धोबिनि श्राई । लोवा दरसन श्राइ देखाई ।
बाएँ कुरारी दाहिन कूचा । पहुँचै भुगुति जैस मन रूचा ।
जाकहँ होहिं सगुन श्रस श्रौ गवनै जेहि श्रास ।
श्रस्टौ महासिद्धि तेहि जस कबि कहा बिश्रास ॥१३५॥

अर्थ--(१) शकुन-विचार करने वाले ने आगे [आने वाले] शकुनों पर विचार किया। उसने कहा, "दही और मछलियाँ चाँदी के मटकों में [आए] हैं, (२) तरुणी भरे कलश के साथ चली आई है, ग्वालिन ने 'दही लो' पुकारा है, (३) गूँथे मालिन मौर लिए हुए आई है, खंजन नाग के मस्तक पर बैठा है, (४) दाहिनी ओर मृग दौड़ कर आ गया है, प्रतिहार (तीतर) बाईं ओर प्रखर (स्वर में) बोला है, (५) साँवला साँड़ दाहिने बोला है, और वहाँ ही (साथ ही) गीदड़ बाईं दिशा में चला (गया) है। (६) बाएँ ही आकाश की धोबिन (क्षेमकरी) आई है और लोमड़ी ने आकर दर्शन दिया है, (७) बाएँ कुररी [पक्षी] और दाहिने क्रौञ्च [आए हैं] : [इन शकुनों से प्रकट है कि] जैसी भुक्ति मन में रुचे, वैसी [स्वतः] पहुँच जाए। (८) जिसको ऐसे शकुन हों, और वह जिस (जैसी) आशा से भी गमन कर रहा हो, (९) उसको अष्ट महासिद्धियाँ [तक] प्राप्त होती हैं, जैसा महाकवि व्यास ने कहा है।"

टिप्पणी--(१) टाका=घड़ा, मटका (बिहार पीज़ेंट लाइफ़, पृ० ७८)। (३) मौर<मउड<मुकुट। गाँथ्<ग्रथ्=गूथना। (५) बिख<वृष=बैल, साँड़। गादुर =गीदड़। (६) अकासी धोबिन=आकाश की धवल पक्षी, क्षेमकरी नाम की चील। लोवा<लोपाक=लोमड़ी। (७) कुररी=पक्षी-विशेष। कूच<कुंच<क्रौञ्च। भुगुति<भुक्ति=भोजन।

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंगनाद जोगिन्ह कर बाजा।
कहेन्हि आजु कछु थोर पयाना। काल्हि पयान दूरि है जाना।
ओहिं मेलान जौं पहुँचिहि कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई।
एहि आगे परबत की पाटी। बिषम पहार अगम सुठि घाटी।
बिच बिच खोह नदी औ नारा। ठाँवहिं ठाँव उठहिं बटपारा।
हनिवँत केर सुनब पुनि हाँका। दहुँ को पार होइ को थाका।
अस मन जानि सँभारहु आगू। अगुआ केर होइ पछिलागू।
करहिं पयान भोर उठि नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं ते का रहन ओनाहिं ॥१३६॥

अर्थ--(१) प्रयाण हुआ और तदनंतर राजा चल पड़ा; योगियों का शृंगनाद बज उठा (२) उन्होंने [आपस में] कहा, "कुछ थोड़ा ही प्रयाण आज होगा, कल प्रयाण में दूर जाना है। (३) उस पड़ाव पर जब कोई पहुँचेगा, तब हम कहेंगे कि वह भला पुरुष है। (४) आगे पर्वतों की पट्टियाँ हैं, जिनमें विषम पहाड़ और अत्यधिक अगम्य घाटियाँ हैं। (५) बीच-बीच में खोहें (कन्दराएँ), नदियाँ और नाले हैं, और स्थान-स्थान पर बटपार (लुटेरे, डाकू) उठते (मिलते) हैं ? (६) तदनंतर (और आगे) हम हनुमान की हाँक सुनेंगे; पता नहीं कौन पार हो सकेगा और कौन थक [कर रुक] रहेगा। (७) मन में ऐसा जान कर आगे की यात्रा के विषय में सतर्क हो जाओ, और अगुए के अनुयायी हो जाओ।" (८) तड़के उठकर ही वे प्रयाण कर देते थे और नित्य दस कोस जाते थे, (९) [बीच में एक दिन भी वे रुकते नहीं थे, यह ठीक ही

था, क्योंकि] जो पथिक पथ पर [उसे पूरा करने के लिए] चलते रहते हैं, वे रहन (रुकने) की बात क्या सुनें ?

टिप्पणी—(१) पयान<प्रयाण। सिंगनाद<शृंगनाद=सींग के बाजे की ध्वनि। (२) थोर<थोव<स्तोक=थोड़ा, अल्प । (३) मेलान=पड़ाव, प्रयाण में जहाँ रात्रि में रुका जाता है। जौं<जउ<यदा=जब। भल<भल्ल<भद्र । (५) खोह=कन्दरा। बटपार<वट्ट+पाडय<वर्त्म+पातक=मार्ग का लुटेरा। (६) हाँक<हक्का [दे०]=पुकार । थाक्<थक्क<स्थ=रहना, रुकना, श्रान्त होना। (७) आगु<अग्ग<अग्र। अगुआ<अग्रग = आगे-आगे चलने वाला। पछिलागू<पश्चात्+लग्न=पीछे लगा हुआ, अनुयायी ।(९)ओनाय्=सुनना, सुनकर ध्यान देना, सुन कर करना।

करहु दिस्टि थिर होहु बटाऊ । आगू देखि धरहु भुइँ पाऊ ।
जौं रे उबट होइ परे भुलाने । गए मारे पँथ चलै न जाने ।
पाँवन्ह पहिरि लेहु सब पँवरी । काँट न चुभै न गड़ै अँकरवरी ।
परे आइ अब बनखँड माहाँ । डंडक आरन बींझ बनाहाँ ।
सघन ढाँख बन चहुँ दिसि फूला । बहु दुख मिलिहि इहाँ कर भूला ।
झाँखर जहाँ सो छाड़हु पंथा । हिलगि मकोइ न फारहु कंथा ।
दहिने बिदर चँदेरी बाए । दहुँ कहँ होब बाट दुहुँ ठाएँ ।
एक बाट गौ सिंघल दोसर लंक समीप ।
हहिं आगे पँथ दोऊ दहुँ गवनब केहि दीप ॥१३७॥

अर्थ—(१) [आपस में उन्होंने कहा,] "अपनी दृष्टि स्थिर करो, और [सच्चे अर्थों में] पथिक बनो, आगे देख कर भूमि पर पैर रक्खो। (२) यदि रास्ते से हट पड़े तो मार्ग भूल जाएगा, और पथ चलना न जानोगे तो मारे जाओगे (प्राण गँवाना पड़ेगा)। (३) सभी पैरों में पाँवरी (जूती-खड़ाऊँ) पहन लो, जिससे न काँटा चुभे और न कंकड़ी गड़े। (४) अब वनखंड में आ पड़े हो, जो विंध्य वन का दण्डक अरण्य [कहा जाता] है। (५) घना पलाश का वन चारों ओर फूला हुआ है; यहाँ जो भटक जाएगा, उसे बहुत दुःख मिलेगा। (६) जहाँ कँटीली झाँड़ियाँ हों, उस पथ को छोड़ दो, और मकोय (झड़मकोय) से लग (अटक) कर कहीं अपना कंथा न फाड़ बैठो। (७) दाहिने बीदर [का राज्य] पड़ेगा और बाएँ चन्देरी [का], और पता नहीं हम इन दोनों स्थानों में से किस के मार्ग पर कहाँ पर होंगे। (८) [कहते हैं आगे] एक रास्ता सिंहल गया है, और दूसरा लंका के पास; (९) आगे वे दोनों पथ हैं; पता नहीं किस द्वीप को हमें जाना होगा।"

टिप्पणी—(१) थिर<स्थिर। आगु<अग्ग<अग्र=आग्रे की भूमि। (२) उबट<उव्वट्ट<उद्+वर्त्म=मार्ग से हटा हुआ। (३) पँवरी<पादत्री=जूती, या खड़ाऊँ। काँट<कंटय<कण्टक। (४) बींझ<विन्ध्य। (५) ढाँख<ढंख=पलाश का पेड़। (६) झाँखर<झंखड [दे०]=कटीला पौदा। (९) दीप=द्वीप।

ततखन बोला सुआ सरेखा । अगुआ सोइ पंथ जेइँ देखा ।
सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू । लै सो परासहि बूड़ै साखू ।

जस अंधा अंधे कर संगी । पंथ न पाव होइ सहलंगी ।
सुनि मति काज चहसि जौं साजा । बीजानगर बिजैगिरि राजा ।
पूँछु न जहाँ कुंड और गोला । तजु बाएँ अँधियार खटोला ।
दक्खिन दहिने रहै तिलंगा । उत्तर माँझै गढ़ा खटंगा ।
माँझ रतनपुर सौंह दुआरा । झारखंड दै बाउँ पहारा ।
आगें पाउँ ओड़ैसा बाएँ देहु सो बाट ।
दहिनावर्त लाइकै उतरु समुंद्र के घाट ॥१३८॥

अर्थ--(१) चतुर सुए (हीरामणि) ने तत्क्षण कहा, "अगुआ वही [हो सकता] है जिसने मार्ग देखा हो। (२) वह [पक्षी] क्या उड़ सकता है जिसके तन में पंखे न हों? [नदी तट का] वह साखू [अपने सन्निकट उगे हुए] पलाश को भी ले डूबेगा। (३) जैसे कोई अंधा ही अंधे का साथी [और मार्गदर्शक] हो; दोनों पथ न पाते हों और साथ-साथ लगने वाले हों। (४) यदि कार्य साजना (बनाना) चाहते हो तो, हे राजा, मेरी मति (युक्ति) सुनो; बीजानगर (विजयनगर) और विजयगिरि (विजयगढ़) [के राज्यों] को न पूछो, (५) न उन राज्यों को पूछो जहाँ कुंड और गोला (गोलकुंडा) है; अंधकारपूर्ण (?) खटोला को बाएँ छोड़ दो; (६) दक्षिण दिशा में तिलंगाना दाहिने रहे, उत्तर दिशा में गढ़ा खटंगा रहे, मध्य में रतनपुर और सामने [महानदी की घाटी का] द्वार रहे; झारखंड के पहाड़ों को बायाँ दो; (८) आगे पैर उड़ीसा में पड़ेंगे, किन्तु उस मार्ग को बाएँ [रहने] दो (९) और दाहिनी ओर कुछ घूम कर समुद्र के घाट पर जा उतरो।"

टिप्पणी--(१) तत्खन<तत्क्षण्। सरेख<संलेखित=जिसने साधना में शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी। (२) पाँख<पंख<पक्ष=डैने। सो लै परासहि बूड़ै साखू: साखू का पेड़ बहुत लंबा होता है--उसके लट्ठे प्रसिद्ध हैं, पालश का पेड़ नीचा और छोटा होता है; यदि दोनों पास-पास उगे हों और नदी के किनारे स्थित हों, तो साखू के साथ ही पलाश का पेड़ भी पानी में गिर जाएगा। (३) सहलंगी<सहलग्नीय=साथ लगने वाला। (४) साज्<सज्ज्<सृज्=निर्माण करना, बनाना। (४-८) इन पंक्तियों में जायसी ने सिंहल के मार्ग का बहुत स्पष्ट विवरण दिया है। आए हुए भौगोलिक नामों में से 'अँधिआर' बहुत निश्चित नहीं है। इसके संबंध में अनुमान किया गया है कि 'अंजार' नाम का एक महाल था, जो 'अँधिआर' कहलाने लगा, और 'खटोला' उससे मिला हुआ प्रान्त था। किन्तु 'अँधिआर' से तात्पर्य अंधकारपूर्ण--अल्प ज्ञात--भी हो सकता है। 'खटोला' वर्त्तमान सागर-दमोह का भूखंड था। 'गढ़ा खटंगा' गढ़ माँडला था (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग ३, पृ० ५३४)। शेष नाम अब भी कम या अधिक मात्रा में प्रचलित हैं। (९) दहिनावर्त<दक्षिणावर्त=बाएँ से दाहिने मुड़ना।

होत पयान जाइ दिन केरा । मिरगारन महँ भएउ बसेरा ।
कुस साँथरि भै सौर सुपेती । करवट आइ बनी भुइँ सेती ।
कया मलै तेहि भसम मलीजा । चलि दस कोस ओस नित भीजा ।
ठाँवहि ठाँव सोवहिं सब चेला । राजा जागै आपु अकेला ।

जेहि कें हिएँ पेम रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा।
बन अँधिआर रैन अँधियारी। भादौं बिरह भएउ अति भारी।
किंगरी हाथ गहें बैरागी। पाँच तंतु धुनि उट्ठै लागी।
नैन लागु तेहि मारग पदुमावति जेहि दीप।
जैस सेवाती सेवहिं बन चातक जल सीप ॥१३९॥

अर्थ--(१) प्रतिदिन का प्रयाण होता जाता था; [अब] मृगारण्य में बसेरा (पड़ाव) हुआ। (२) कुश की बिछौनी श्वेत सौर (चादर) हुई, करवट की तकिया भूमि से ही आ बनी, (३) और जो काया मलय की [सी] थी, उस पर [सब ने] भस्म मला। दस कोस चल कर नित्य ही वह कटक ओस में भीगता था [क्योंकि आकाश के नीचे खुले में सोता था]। (४) स्थान-स्थान पर सभी चेले (साथी कुमार) सोते थे, राजा मात्र आप ही जागता था। (५) जिसके हृदय में प्रेम का रंग जम आया, उसे भूख, नींद और विश्राम कहाँ ? (६) वन अंधकारपूर्ण था ही, रात्रि अँधेरी थी, अतः भादौं में भारी विरह [का दुःख] हुआ। (७) [रात को किसी प्रकार काटने के लिए] विरागी [रत्नसेन] ने जब किंगरी हाथ में ली, किंगरी के पाँचों तंतुओं (शरीर के पञ्च भूतों) से ध्वनि उठने लगी। (८) उसके नेत्र उस मार्ग में, जिस मार्ग में पद्मावती का द्वीप (सिंहल) पड़ता था, इस प्रकार लगे हुए थे (९) जैसे स्वाति-विन्दु की सेवा वन में चातक तथा जल में सीपी करते हैं।

टिप्पणी--(१) पयान<प्रयाण। मिरगारन<मृगारण्य। (२) साँथरी<स्रस्तरी=बिछौना। (३) ओस<अवश्याय। (४) चेला<चेड<चेट=दास, नौकर, शिष्य। अकेला<अक्केल्लय<एकाकिन्। (५) जाम्<जम्म्<जन्=उत्पन्न होना। (६) अँधिआर<अंधकार। (७) किंगरी<किन्नरी। (८) दीप<द्वीप। (९) सेवाती <स्वाति=स्वाति-विन्दु। सीप<सुत्ति<शुक्ति=सीपी। रत्न- गजपति संवाद

मासेक लाग चलत तेहि बांटाँ। उतरे जाइ समुँद के घाटाँ।
रतनसेनि भा जोगी जती। सुनि भेंटै आएउ गजपती।
जोगी आपु कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहिअ खेला।
पहिलेहिं आए माया कीजै। पहुनाई कहँ आएसु दीजै।
सुनहु गजपती उतरु हमारा। हम तुम्ह एकै भाव निरारा।
सो तिन्ह कहँ जिन्ह महँ बहुभाऊ। जो निरभाव न लाव नसाऊ।
यहै बहुत जो बोहित पावौं। तुम्हतें सिंघल दीप सिधावौं।
जहाँ मोहि निजु जाना होंहुँ कटक लै पार।
जौं रे जिऔं लै बहुरौं मरौं तौ ओहि के बार ॥१४०॥

अर्थ--(१) उस मार्ग में चलते-चलते लगभग एक मास लगा, [तब] वे समुद्र के घाट जा उतरे। (२) 'रत्नसेन योगी-यती हो गया है' यह सुनकर वहाँ का गजपति राजा उससे मिलने आया, (३) [और उसने कहा,] "तुम आप योगी हो और सारा कटक तुम्हारा चेला है, [इस प्रकार] तुम किस द्वीप को खेलना (कौतुक भाव से जाना) चाहते हो) ? (४) तुम पहली बार आए हो, मया (स्नेहपूर्ण कृपा) करो और हमें आतिथ्य

करने का आदेश दो।" (५) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "हे गजपति, हमारा उत्तर सुनो; हम तुम एक ही हैं, केवल [हम दोनों के] भाव अलग-अलग हैं। (६) वह (आतिथ्य) की वात उनके लिए होती है जिनमें [इहलोक विषयक] वहुत से भाव होते हैं; जो निर्भाव है, उसे नष्ट करने वाला कोई भाव न लगाओ। (७) यही वहुत होगा कि कोई जलयान मैं पा जाऊँ और तुम्हारे सहयोग से सिंहल द्वीप चला जाऊँ; (८) ताकि जहाँ मुझे जाना ही है, वहाँ कटक को लेकर मैं पार हो जाऊँ। (९) यदि जीवित रहा तो उस जलयान को लेकर लौटूँगा, और यदि मर गया तो उस (प्रेमिका) के द्वार पर मर ही जाऊँगा।"

टिप्पणी--(१) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग। (२) गजपति=एक उपाधि जो ऐसे राजा धारण करते थे जिनकी गजसेना प्रबल होती थी। (३) खेल्=क्रीड़ा करना, कौतुक करना : किन्तु योगियों तथा हंसों के संबंध में जायसी ने इस शब्द का प्रयोग 'क्रीड़ा या कौतुक-भाव से जाना' के अर्थ में किया है, यथा १२७.९, ४८४.५। (४) माया=मया, स्नेहपूर्ण कृपा। पाहुनई<प्राघुण्य=अतिथि-सत्कार। (५) निरार< निरालय=पृथक्-पृथक्। (७) बोहित<बोहित्थ [दे०]=प्रवहण, जलयान।

गजपति कहा सीस बरु माँगा। एतने बोल न होइहि खाँगा।
ये सब देहुँ आनि नै गढ़े। फूल सोइ जो महेसहि चढ़े।
पै गोसाइँ सों एक बिनाती। मारग कठिन जाब केहि भाँती।
सात समुंद असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा।
उठै लहरि नहिं जाइ सँभारी। भागहिं कोइ निबहै वैपारी।
तुम्ह सुखिया अपने घर राजा। एत जो दुक्ख सहहु केहि काजा।
सिंघल दीप जाइ सो कोई। हाथ लिहें जिउ आपन होई।
खार खीर दधि उदधि सुरा जल पुनि किलकिला अकूत।
को चढ़ि बाँधहि समुँद ये सातौं है काकर अस बूत ॥१४१॥

अर्थ--(१) उस गजपति राजा ने कहा, "तुमने भले ही सिर माँगा होता; इतनी सी वात में कसर (त्रुटि) नहीं होगी। (२) ये समस्त बोहित्थ तुम्हें नवीन गढ़े हुए लाकर देता हूँ; फूल वही है जो महेश [के सिर] पर चढ़ सके। (३) किन्तु स्वामी से एक ही विनती है : मार्ग कठिन है, किस प्रकार जाना होगा? (४) सात समुद्र [पड़ते] हैं, जो असूझ और अपार हैं; [उनमें रहने वाले] मकर, मत्स्य और घड़ियाल [मनुष्य को] मार डालते हैं। (५) उनमें लहरें उठती हैं, जो सँभाली नहीं जा सकती हैं, और भाग्य ही से कोई व्यापारी [--जिसे व्यापार का लोभ होता है--] उन समुद्रों की यात्रा में पार लगता है। (६) तुम सुखाभ्यासी हो और अपने घर पर राजा हो; इतना जो दुःख झेल रहे हो, वह किस प्रयोजन से झेल रहे हो? (७) सिंहल द्वीप वही कोई जाता है जो अपने प्राण अपने हाथों में लिए रहता है। (८) क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, जल और किलकिला जो अनुमान में नहीं आ सकते हैं, (९) इन सातों समुद्रों को कौन [बोहित्थ पर] चढ़ कर बाँध (लाँघ) सकता है? किसका ऐसा बूता (करतब) है?"

टिप्पणी--(१) खाँग्=कसर या कमी होना। (२) बिनाती<विज्ञप्ति= निवेदन। (४) असूझ<असुज्झ<अशोध्य=जो देखा-समझा न जा सके। मगर<

मकर। मच्छ<मत्स्य। (५) निबह्<निर्वह्=निभना, निर्वाह होना, पार पड़ना। (६) एत<इयत्=इतना। (९) नांघ्<लंघ्=लाँघना, अतिक्रमण करना। बूत बुत्त<वृत्त=वृत्ति, प्रवृत्ति, करतब।

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ।
जौं पहिलें सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई।
सुख सँकलपि दुख साँबर लीन्हेउँ। तौ पयान सिंघल कहँ कीन्हेउँ।
भँवर जान पै कँवल पिरीती। जेहि पहँ बिथा पेम कै बीती।
औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद. बरु लेखा।
सात समुँद सत लीन्ह सँभारू। जौं धरती का गरुव पहारू।
जेइँ पै जिय बाँधा सतु बेरा। बरु जिय जाइ फिरै नहिं फेरा।
रंगनाथ हौं जाकर हाथ ओही के नाँथ।
गहें नाँथ सो खाँचै फेरे फिरै न माँथ ।।१४२।।

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने कहा,] "हे गजपति, यह मन ही शक्ति है, यही शिव है; किन्तु जिसे प्रेम होता है, उसे प्राण कहाँ होते हैं? (२) कोई यदि पहिले सिर देकर पैर रक्खे, तो ऐसे मृत का मृत्यु भी क्या कर सकती है? (३) सुखों को देकर मैंने दुःख का संबल (पाथेय) लिया, तब सिंहल को प्रयाण किया। (४) भ्रमर ही कमल की प्रीति को जानता है, जिस पर प्रेम की व्यथा बीतती है। (५) और, जिसने प्रेम का समुद्र देख लिया है, उसने इस समुद्र को बहुत हुआ तो बूंद समझा है। (६) सात समुद्रों में सत ने हमारा सँभाल ले रक्खा है: यदि धरती है तो पहाड़ कितने भी भारी हुआ करें, वे क्या कर सकते हैं? (७) जिसने भी जी में सत का बेड़ा बाँध लिया, भले ही उसके प्राण चले जाएँ, वह लौटाने पर लौटता नहीं है। (८) मैं जिसके रंग (प्रेम) का मैं नाथ (योगी) हूँ मेरी नकेल उसी के हाथ में है; (९) वह उस नकेल को पकड़े हुए मुझे खींच रही है, इसीलिए फेरने (मोड़ने) से [मेरा] मस्तक फिर नहीं रहा है।"

टिप्पणी--(१) सकती<शक्ति। सीऊ<शिव। पै<परम्=किन्तु। (२) मीचु<मृत्यु। (३) संकलप्<संकल्पय्=संकल्प [करके दान] करना। सांबर<शम्बल=पाथेय। (४) बिथा<व्यथा। (५) बरु<वरम्=बहुत हुआ तो। (६) जौं<जउ<यदि। गरुव<गुरु। (७) बेरा<बेडय [दे०]=बेड़ा, नौका, जहाज। बरु<वरम्=भले ही। (८) नाथ<णत्थ<नस्त=नत्थी, नकेल। (९) खाँच्<कृष् (?)=खींचना।

इस छंद में जायसी ने जीवन्मृतकता का प्रेम-दर्शन रक्खा है।

पेम समुंद औस अवगाहा। जहाँ न वार पार नहिं थाहा।
जौं वह समुँद, काह एहि परे। जौं अवगाह हंस होइ तिरे।
हौं पदुमावति कर भिखमँगा। दिस्टि न आव समुँद औ गँगा।
जेहि कारन गियँ काँथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जाउँ तेहि पंथा।
अब एहि समुँद परौं होइ मरा। पेम मोर पानी कै करा।

मर होइ बहा कतहुँ लै जाऊ । ओहि के पंथ कोइ लै खाऊ ।
अस मन जानि समुँद महँ परऊँ । जौं कोइ खाइ वेगि निस्तरऊँ ।
सरग सीस धर धरती हिया सो पेम समुंद ।
नैन कौड़िया होइ रहे लै लै उठहिं सो बुंद ॥१४३॥

अर्थ--(१) "प्रेम-समुद्र ऐसा विस्तृत है, जहाँ (जिसमें) न यह छोर है, न वह छोर है, और न थाह है। (२) यदि उस समुद्र में [पड़ चुका], तो इस [समुद्र] में पड़ने पर क्या (कौन सा कष्ट) हुआ ? यदि [यह समुद्र] अवगाह भी हुआ, तो हंस होकर हम इसे तर जाएँगे। (३) मैं पद्मावती का भिखारी हूँ, [इसलिए] मुझे समुद्र और गंगा दृष्टि में नहीं आते हैं। (४) जिसके कारण ग्रीवा में मैंने गुदड़ी और कंथा लिया, वह जहाँ भी मिलेगी, उसी मार्ग में मैं जाऊँगा। (४) मैं अब इस समुद्र में मृत होकर पड़ रहा हूँ, तो इस समुद्र में मेरा प्रेम भी पानी की कला (शक्ति) का होगा [और पानी यदि डुबाना चाहेगा, तो प्रेम उसे डुबाने न देगा]। (६) जब मृत होकर मैं बहूँगा, पानी मुझे कहीं भी ले जाए, और उस प्रेमिका के मार्ग में कोई भी मुझे खा जाए ! (७) मन में ऐसा समझ कर ही समुद्र में पड़ रहा हूँ; यदि कोई खा डालेगा तो शीघ्र ही मेरा निस्तार हो जाएगा। (८) [इस समय तो] आकाश मेरा सिर हो रहा है, धरती मेरा धड़, और हृदय में जो प्रेम है वही समुद्र है; (९) नेत्र मेरे कौड़िया पक्षी हो रहे हैं और वे उससे [मुक्ता] विन्दु (दिव्य सौन्दर्य की ज्योति) ले-ले कर ऊपर उठ रहे हैं।"

टिप्पणी--(१) अवगाह<अवगाढ = व्याप्त, गंभीर, गहरा । वार/ आरओ <आरतस्<पहले पड़ने वाला [छोर]। (२) काह<कथम् = क्या। (४) गिय< ग्रीवा। काँथरी<कन्था + डी = गूदड़ों का बना बिछावन। कंथा=गूदड़ों का बना वस्त्र। (५) करा<कला। (८) सरग<स्वर्ग = आकाश। धर<धड [दे०] गले से नीचे का शरीर। (९) कौड़िआ--एक जलपक्षी जो समुद्र के रत्नादि को झपट कर अपनी चोंचों में भर लेता है, जब वे जल के ऊपरी तल पर झलकते हैं : नैन कौड़िया हिय समुद गुरू सो तेहि महँ जोति। मन मरजिया न होइ परै हाथ न आवै मोंति ॥ (२९३.८-९), कया उदधि चितवौं पिय पाहाँ। देखौं रतन सो हिरदै माहाँ। नैन कौड़िया मैं मँडराहीं। थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं। (४०१.१,६) बुंद<विन्दु (ज्योति-विन्दु): रत्नादि अथवा मुक्ता।

इस छंद में भी जायसी ने जीवन्मृतकता का अपना प्रेम-दर्शन स्पष्ट किया है।

कठिन वियोग जोग दुख डाहू । जरम जरत होइ ओर निबाहू ।
डर लज्या तहँ दुवौ गँवानी । देखै कछु न आगि औ पानी ।
आगि देखि ओहि आगिअ भावा । पानी देखि कै सौंहैं धावा ।
जस बाउर न बुझाए बूझा । जौनिहि भाँति जाइ का सूझा ।
मगर मच्छ डर हिएँ न लेखा । आपुहिं जान पार भा देखा ।
औ न खाहिं ओहि सिंघ सदूरा । काठहु चाहि अधिक सो झूरा ।
काया माया संग न आथी । जेहि जिय सौंपा सोई साथी ।

जो कछु दरब अहा सँग दान दीन्ह संसार ।
का जानी केहि के सत दैय उतारै पार ॥१४४॥

अर्थ--(१) वियोग के योग का दुःख-दाह ऐसा कठिन होता है कि जन्म (जीवन) भर जलते हुए रहने पर ही उसका दूसरे छोर तक (पूर्ण रूप से) निर्वाह होता है। (२) वहाँ--उस दुःख-दाह में पड़ने पर--डर और लज्जा दोनों गँवा दिए जाते हैं, और मनुष्य आग अथवा पानी कुछ नहीं देखता है। (३) आग देखने पर उसे वह आग ही भाती है और पानी देखने पर वह उसके सम्मुख दौड़ पड़ता है। (४) जैसे बावला होता है, वह भी समझाने पर नहीं समझता; वह जस भाँति भी जाए, उसे सूझता क्या है ? (५) वह मगरों, मच्छों का डर हृदय में नहीं मानता है; वह तो अपने को ही जानता है और अपने को पार हुआ ही देखता (समझता) है--उसके ध्यान में एकमात्र पार होना रहता है। (६) पुनः उसे सिंह और शार्दूल भी नहीं खाते हैं, [क्योंकि] वह काठ से भी अधिक सूखा होता है। (७) उसे काया और माया (धन-वैभवादि) का कोई मोह नहीं होता है; उसका साथी वही होता है जिसे वह अपना जीव (जीवन) सौंपता है। (८) उसके साथ जो कुछ द्रव्य था, उसने संसार को दान दे दिया, (९) [इस विचार से कि] पता नहीं [इनमें से] किसके सत्य से दैव उसे पार उतार दे।

टिप्पणी--(१) डाह<दाह। जरम<जन्म। ओर<अवर<अपर=दूसरा छोर। (२) गँवाव्<गमय्=समाप्त करना। (३) धाव्=दौड़ना। (४) बाउर<वाउल<वातूल=वातग्रस्त, बावला। (५) मगर<मकर। मच्छ<मत्स्य। (६) सदूर<शार्दूल=श्वापद पशु की एक जाति। काठ<काष्ठ। झूर [दे०]=सूखा। (७) आथ्<अस्=होना। साथी<सत्थिअ<सार्थिक=सार्थ का सदस्य। (९) सत<सत्य।

धनि जीवन औ ताकर जिया । ऊँच जगत महँ जाकर दिया ।
दिया सो सब जप तप उपराहीं । दिया बराबर जग किछु नाहीं ।
एक दिया तेइँ दस गुन लाहा । दिया देखि धरमी मुख चाहा ।
दिया सो काज दुहूँ जग आवा । इहाँ जो दिया उहाँ सो पावा ।
दिया करै आगै उजियारा । जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा ।
दिया मंदिल निसि करै अँजोरा । दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा ।
हेतिम करन दिया जौं सिखा । दिया अहा धरमन्हि महँ लिखा ।
निरमल पंथ कीन्ह तिन्ह जिन्ह रे दिया कछु हाथ ।
किछु न कोइ लै जाइहि दिया जाइ पै साथ ॥१४५॥

अर्थ--(१) उसका जीवन और जीव धन्य है, जिसका दिया हुआ (दान) जगत् में ऊँचा है। (२) दान जप-तप आदि सभी [पारमार्थिक साधनों] से ऊपर (बढ़ कर) है, संसार में दान के बराबर कुछ भी नहीं है। (३) जिसने एक दिया है, उसे उसका दस गुना लाभ [प्राप्त] हुआ है; दान देख कर ही धर्म करने वाले का मुख लोग देखते हैं। (४) दान दोनों जगत्--इहलोक और परलोक--में काम आता है; यहाँ (इस लोक में) जो दिया, गया वह वहाँ (उस लोक में) मिल जाता है। (५) यह दान ही आगे (परलोक के मार्ग को) प्रकाशित करता है; जहाँ (जिसके मार्ग में) दान नहीं

होता है, वहाँ (उसके मार्ग में) अँधेरा ही रहता है, (६) [उसी प्रकार जिस प्रकार] दीपक मंदिर (भवन) में उजाला करता है और दीपक के न रहने पर (अंधकार होने पर) घर को चोर मूसते हैं। (७) हातिम और कर्ण ने जो देना सीखा था [उसका कारण यही था कि] देना [दोनों के] धर्मों में लिखा था। (८) जिन्होंने [अपने] हाथों से कुछ भी दिया, उन्होंने अपना मार्ग निर्मल कर लिया; (९) कोई [मरते समय] कुछ भी साथ न ले जाएगा, किन्तु [उस समय भी] उसका दिया हुआ [उस के] साथ जाएगा।

टिप्पणी--(१) जिया<जीव। (३) लाह<लाभ। चाह् =देखना। (५) उजिआर<औज्ज्वल्य=प्रकाश। अँधिआर<अंधकार। (६) अँजोर<औज्ज्वल्य=प्रकाश। मूस्<मुष्=चुराना। (७) हेतिम<हातिम; यमन देश का एक प्रसिद्ध ज्ञानी और दानी। करन<कर्ण : महाभारत का एक प्रमुख पात्र जिसने अपने दिव्य कवच और कुण्डल दान देकर अपना पराभव तक स्वीकार किया।

सत न डोल देखा गजपती। राजा दत्त सत्त दुहुँ सती।
आपन नाहिं कया पै कंथा। जीउ दीन्ह अगुमन तेहि पंथा।
निस्चैं चला भरम डर खोई। साहस जहाँ सिद्ध तहँ होई।
निस्चैं चला छाड़ि कै राजू। बोहित दीन्ह दीन्ह नै साजू।
चढ़े बेगि औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पँथ खेले।
तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहा न मीचु सदा सुख बासू।
पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ।
एहि जीवन कै आस का जस सपना तिल आधु।
मुहमद जिअतहिं जे मरहिं तेइ पुरुष कहु साधु ॥१४६॥

अर्थ--(१) गजपति राजा ने [भी] देख लिया कि [राजा रत्नसेन का] सत्य नहीं विचलित हो रहा है, और वह दत्त (दान देकर) तथा सत्य (सत्य का निर्वाह कर) दोनों प्रकार से सती (सत्यनिष्ठ) है, (२) उसकी काया पर उसका कंथा भी अपना नहीं है, और जीवन उसने पहले ही से उस (प्रेमिका) के मार्ग में दे दिया है, (३) वह निश्चित रूप से हृदय से भ्रम तथा भय को मिटा कर चला है और जहाँ साहस होता है, सिद्धि होती ही है, (४) और वह निश्चित रूप से राज्य छोड़ कर चल पड़ा है, [अतः] उसने राजा को बोहित्थ दिये और उनका नया साज दिया। (५) [राजा और उसके साथ] शीघ्र ही उन पर चढ़ गए और उन बोहित्थों को ठेला (आगे बढ़ाया); वे पुरुष धन्य हैं जो प्रेम-पथ में क्रीड़ा-पूर्वक जाते हैं। (६) उन्हें उत्तम शिवलोक मिलता है, जहाँ मृत्यु नहीं है और सदैव सुख का निवास है। (७) यदि प्रेम-पथ में पार (गन्तव्य तक) पहुँच गए, तो वे पुनः इस क्षार (धूल) में आ नहीं मिलते हैं। (८) इस जीवन की क्या आशा? यह तो आधे तिल (क्षण) के स्वप्न तुल्य है; (९) [इसलिए] मुहम्मद कहते हैं जो इस जीवन में मरण प्राप्त कर लेते हैं, उन पुरुषों को 'साधु' कहना चाहिए।

टिप्पणी--(१) दत्त=दिया हुआ दान। सती=सत्यनिष्ठ। (२) कंथा=

चिथड़ों का बना हुआ वस्त्र। (४) बोहित<बोहित्थ [दे०] वहित्र = जलयान, प्रवहण। (५) पेल्<प्रेरय्=ठेलना, आगे बढ़ाना। खेल् = (योगियों और हंसों के संबंध में) क्रीड़ा या कौतुक भाव से जाना। (६) कबिलास<कैलास = शिवलोक। मीचु<मृत्यु। (७) छार<क्षार=राख, धूल।

इस छंद के उत्तरार्द्ध में जायसी ने प्रेमपथ के साधकों को शिवलोक की प्राप्ति बताई है, जहाँ शाश्वत जीवन और शाश्वत सुख है; जायसी के अनुसार इस गति को प्राप्त करने के अनंतर पुनर्भव नहीं होता है। इसलिए वे प्रेम की साधना में जीवन में ही मरण का अनुभव करने का उपदेश देते हैं।

जस रथ रेंगि चलै गज ठाटी। बोहित चले समुँद गा पाटी।
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।
समुँद अपार सरग जनु लागा। सरग न घालि गनै बैरागा।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी।
राजा सेंति कुँवर सब कहहीं। अस अस मच्छ समुँद महँ रहहीं।
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना।
गुरु हमार तुम्ह राजा हम चेला औ नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै चेला राखै माँथ॥१४७॥

अर्थ--(१) जैसे रथों में जुती हुई गज-पंक्तियाँ रेंग चलें इसी प्रकार बोहित्थ चल पड़े और समुद्र उनसे पट गया। (२) किन्तु [थोड़ी ही देर में] वे बोहित्थ मन से भी अधिक (वेग से) दौड़ रहे थे, और एक-एक पल में वे सहस्र-सहस्र कोस जा रहे थे। (३) अपार समुद्र मानो स्वर्ग (आकाश) से मिल रहा था, किन्तु वह विरक्त [रत्नसेन] उस स्वर्ग (आकाश) को घेलुवे के बराबर भी नहीं गिन रहा था। (४) उसी क्षण एक चाल्हा (बड़ा मत्स्य) दिखाई पड़ा, [जो ऐसा लगा] मानो धवलागिरि पर्वत आ गया हो। (५) उस चाल्हे के द्वारा क्षुब्ध हुई जो हिल्लोल उठी तो उसकी लहरें आकाश को छू कर भूमि पर जा पहुँचीं। (६) राजा (रत्नसेन) से समस्त कुमार कहने लगे, "ऐसे ऐसे मत्स्य समुद्र में रहते हैं! और उसी (समुद्र के) मार्ग से हम जाना चाहते हैं! संयुक्त हो जाओ, क्योंकि हमें पुनः आना नहीं है। (८) हे राजा, तुम हमारे गुरु हो तथा हम तुम्हारे चेले और नाथ (योगी) हैं : (९) जहाँ भी गुरु पाँव रक्खे, चेले का धर्म है कि वह वहाँ मस्तक रक्खे।"

टिप्पणी--(१) रेंग्<रिंग<रिंग=धीरे-धीरे चलना। ठाटी<थट्ट= समह, यूथ, जत्था। बोहित<बोहित्थ (दे०)<वहित्र=जलयान, प्रवहण। (३) सरग <स्वर्ग=आकाश। लागा<लग्ग<लग्न=लगा हुआ, मिला हुआ। घालि<घल्ल (?)=घेलुवा। (५) हिलोर<हिल्लोल=समुद्र की ऊँची लहर। नराज<नाराज [फ़ा०]। बाज्<वज्ज<व्रज्=जाना। (७) सँजूत<संजुत्त<संयुक्त = तैयार, काम पर डटा हुआ। (८) चेला<चेड<चेट=दास, सेवक। नाथ=योगी। (९) पाँव<पाअ<पाद=पैर। माथ<मत्थ<मस्तक।

केवट हँसे सो सुनत गवेंजा । समुँद न जान कुँआ कर मेंजा ।
यह तौ चाल्ह न लागै कोहू । काह कहौ जौं देखहु रोहू ।
अबहीं तौ तुम्ह देखे नाहीं । जेहि मुख अैसे सहस समाहीं ।
राज पंख तिन्ह पर मँडराहीं । सहस कोस जिन्ह की परिछाहीं ।
ते ओइ मच्छ ठोर गहि लेहीं । सावक मुख चारा लै देहीं ।
गरजै गँगन पंखि जौं बोलहिं । डोलै समुँद डहन जौं खोलहिं ।
तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा । चढ़ै सो जो अस अगुमन बूझा ।
दस महँ एक जाइ कोई करम धरम सत नेम ।
बोहित पार होइ जौं तौ कूसल औ खेम ॥ १४८ ॥

अर्थ--(१) [बोहित्थों के] केवट [कुमारों की] यह गर्वोक्ति सुन कर हँस पड़े [और कहने लगे,] "कूप का मेंढक समुद्र को नहीं जानता है। (२) यह तो चाल्हा ही था, [इसे ही देख कर] क्रोध न लगे; यदि रोहू देखोगे तो क्या कहोगे ? (३) अभी तो तुम ने उन मत्स्यों को देखा नहीं जिनके मुखों में ऐसे (चाल्हा) सहस्र समा जाते हैं। (४) [उनसे भी बढ़ कर समुद्र के] राजपक्षी [होते हैं जो] उन पर मंडराते रहते हैं [और] जिनकी परछाहीं एक सहस्र कोस तक जाती है। (५) वे उन मत्स्यों को अपनी चोंच में पकड़ लेते हैं और अपने बच्चों के मुख में चारे के रूप में डाल देते हैं। (६) वे पक्षी जब बोलते हैं, गगन गरज उठता है, और जब डैने खोलते हैं, समुद्र चंचल हो उठता है। (७) वहाँ [तब] न चाँद और न सूर्य [दृष्टि में] होते हैं, ऐसा असूझ हो जाता है; अतः वही चढ़ (आगे बढ़) सकता है जो पहिले से ही ऐसा समझे हुए हो। (८) ऐसा दस में एक कोई [आगे] जा पाता है जो कर्म, धर्म, सत्य और नियम वाला होता है; (९) [ऐसे भयानक मार्ग में] बोहित्थ पार हो जाएँ तो कुशल और क्षेम हो।"

टिप्पणी--(१) गवेंजा <गव्व+एज=गर्व का झोंका, गर्वोक्ति । मेंजा <मेचक= मेंढक (जो मेचक वर्ण का होता है)। (२) काह <कथम् = क्या। रोहु <रोहिअ < रोहित = मत्स्य-विशेष। (४) मँडराय् = मंडलाकार परिभ्रमण करना। (५) ठोर= चञ्चु। (६) डहन <डयन = पक्षी का पंख। (७) असूझ <असुज्झ <अशोध्य। (८) सत = सत्य। नेम = नियम। (९) बोहित <बोहित्थ (दे०) वहित्र = प्रवहण, जलयान।

इस छंद की आठवीं अर्द्धाली में कर्म, धर्म, सत्य और नियम को प्रेम के मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक कहा गया है। ये चार क्रमशः शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिकत नाम के सूफ़ी साधना के चार प्रसिद्ध अंग प्रतीत होते हैं।

राजै कहा, कीन्ह सो पेमा । जेहिं रे कहाँ कर कूसल खेमा ।
तुम्ह खेवहु खेवै जौं पारहु । जैसें आपु तरहु मोहिं तारहु ।
मोहिं कूसल कर सोच न ओता । कूसल होत जौं जनम न होता ।
धरती सरग जाँत पर दोऊ । जो तेहि बिच जिय राख न कोऊ ।

हाँ अब कुसल एक पै माँगौं । पेम पंथ सत बाँधि न खाँगौं ।
जौं सत हिएँ तो नैनन्ह दिया । समुँद न डरै पैठि मरजिया ।
तहँ लगि हेरौं समुँद ढँढोरी । जहँ लगि रतन पदारथ जोरी ।
सपत पतार खोजि जस काढ़े बेद गरंथ ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदुमावति जेहि पंथ ॥ १४९ ॥

अर्थ--(१) राजा ने कहा, "मैंने वह प्रेम किया है जिसमें कहाँ का कुशल-क्षेम ? (२) तुम खे सको तो खेओ, और जैसे तुम स्वयं तर सको मुझे भी तारो। (३) मुझे कुशल का उतना सोच नहीं है, [क्योंकि] कुशल तो तब होता जब जन्म न होता। (४) धरती और आकाश जाँत के दो पल्ले हैं, जो भी उनके बीच में आ गया है ऐसा कोई नहीं है जो प्राणों को [सदैव] रख सके। (५) मैं अब एक ही कुशल की याचना करता हूँ, [वह यह] कि प्रेम-पथ में सत्य बाँध कर [किसी प्रकार] हीन न प्रमाणित होऊँ। (६) यदि हृदय में सत्य होता है, तो नेत्रों में दीपक होता है, इसीलिए समुद्र में प्रविष्ट होकर भी मरजीवा डरता नहीं है। (७) [उसी प्रकार का मरजीवा होकर] तब तक मैं भी समुद्र में ढँढोरता हुआ खोजता रहूँगा जब तक रत्न (रत्नसेन) की जोड़ी वाला वह पदार्थ (पद्मावती) न मिल जाए। (८) जिस प्रकार सप्तपाताल में खोज कर (मत्स्य अवतार में) विष्णु ने वेद-ग्रन्थ निकाले थे, (९) [उसी प्रकार] सप्तस्वर्ग (आकाश) पर चढ़ कर मैं उस मार्ग पर दौड़ूँगा जिस मार्ग से पद्मावती मिलेगी।"

टिप्पणी--(१) खेम = क्षेम। (२) खेव् < खिव् < क्षिप् = नावको चलाना। पार् < पारय् = सकना, समर्थ होना। (३) ओत < तावत् = उतना। (४) सरग < स्वर्ग = आकाश। जाँत < जंत < यन्त्र = चक्की। पर < पट्ट = फलक, पल्ला। (५) खांग् = पूरा न पड़ना, पूरा न उतरना। (६) दिया < दीअअ < दीपक। मरजीया √ मरजीवय < मरजीवक (दे०) = समुद्र के भीतर पैठ कर उससे रत्नादि निकालने वाला। (७) ढँढोर् < ढंढोल् [दे०]=खोजना, अन्वेषण करना।

सायर तिरै हिएँ सत पूरा । जौं जियँ सत कायर पुनि सूरा ।
तेहिं सत बोहित पूरि चलाए । जेहिं सत पवन पंख जनु लाए ।
सत साथी सत कर सहिवाँरू । सत्त खेइ लै लावै पारू ।
सतै ताक सब आगू पाछू । जहँ जहँ मगर मच्छ औ काछू ।
उठै लहरि नहिं जाइ सँभारा । चढ़ै सरग औ परै पतारा ।
डोलहिं बोहित लहरैं खाहीं । खिन तर खिनहिं होहिं उपराहीं ।
राजैं सो सतु हिरदैं बाँधा । जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा ।
खार समुँद सो नाँघा आए समुँद जहँ खीर ।
मिले समुँद वै सातौं बेहर बेहर नीर ॥ १५० ॥

अर्थ--(१) सागर को वही तर सकता है जिसके हृदय में सत्य पूर्ण रूप से [प्रतिष्ठित] हो; यदि जी में सत्य हो तो कायर भी हो तो शूर हो जाता है। (२) उसी सत्य ने बोहित्थों को प्राप्त कर के चलाया था जिस सत्य ने मानो उनमें हवा के पंखे लगाए थे। (३) सत्य ही साथी होता है और सत्य ही सँभाल करता है, सत्य ही खे

कर पार लगाता है। (४) सत्य ही सब आगा-पीछा देखता है, [और उन स्थानों पर भी देखता है] जहाँ-जहाँ पर मगर, मत्स्य और कछुए होते हैं। (५) ऐसी लहरें उठ रही थीं जिन्हें सँभाला नहीं जा सकता था, जो स्वर्ग (आकाश) तक चढ़ जाती तथा पाताल तक धँस जाती थीं। (६) बोहित्थ हिलते थे और लहरों की चपेट खा रहे थे, [इसलिए] एक क्षण नीचे जाते थे तो दूसरे क्षण ऊपर होते थे। (७) राजा (रत्नसेन) ने वह सत्य हृदय में बाँधा था जिस सत्य से टेक कर गिरि को भी कंधे पर कोई कर सकता है। (८) [यह क्षार समुद्र था] इस क्षार समुद्र को लाँघ कर वे वहाँ आए जहाँ क्षीर समुद्र था; (९) वे सातों समुद्र मिले हुए थे, किन्तु उनके जल पृथक्-पृथक् थे।

टिप्पणी--(१) साएर = सागर। तिर्<तृ = तरना। कायर कातर। (२) पूर्<पूरय् = पूर्ति करना, प्राप्त करना। पंख<पक्ष = डैने। (३) सहिवाँरू<सम्भार। खेव्<खिव्<क्षिप् = प्रेरित करना, चलाना। (४) ताक्<तक्क<तर्कय् = देखना। (५) सँभार्<सं+भालय् = सँभालना। सरग<स्वर्ग = आकाश। (७) काँध<स्कन्ध = कंधा। (८) खार = क्षार। खीर<क्षीर। (९) बेहर<विहडिय<विघटित = विच्छिन्न, पृथक् किया हुआ।

खीर समुँद का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू।
उलथहिं मोंती मानिक हीरा। दरब देखि मन घरै न धीरा।
मनुवाँ चहै दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू।
जोगी मनहिं ओहिं रिस मारहिं। दरब हाथ कै समुँद पबारहिं।
दरब लेइ सो अस्थिर राजा। जो जोगी तेहि के केहि काजा।
पंथिहि पंथ दरब रिपु होई। ठग बटवार चोर सँग होई।
पंथिक सो जो दरब सों रूसै। दरब समेंटि बहुत अस मूसै।
खीर समुँद सो नाँघा आए समुँद दधि माँह।
जो हहिं नेह के बाउर ना तिन्हहि धूप न छाँह ॥ १५१ ॥

अर्थ--(१) क्षीर-समुद्र के जल का क्या वर्णन करूँ? उसका स्वरूप श्वेत था और वह पीने में दूध जैसा था। (२) [उसमें] मोती, माणिक्य और हीरे ऊपर आते थे, और उस द्रव्य को देख कर [दर्शक का] मन धैर्य धारण नहीं कर पाता था। (३) मन द्रव्य और भोग चाहता है, [और इनके कारण] [साधना] पथ को भूल कर योग को विनष्ट कर देता है। (४) योगी इसी रिस से मन को मारते हैं और हाथ के द्रव्य को भी समुद्र में गिरा देते हैं। (५) द्रव्य वह लेता है जो राजा के रूप में स्थिर (एक स्थान पर बना रहने वाला) है; जो योगी है, द्रव्य उसके किस काम का हो सकता है? (६) पथिक के लिए पथ में द्रव्य शत्रु सिद्ध होता है, और वही [पथिक के] संग में ठग, लुटेरा और चोर हो [बन] जाता है। (७) [सच्चा] पथिक वह है जो द्रव्य से रोष करे, [क्योंकि] द्रव्य का संग्रह करके इस प्रकार बहुत से मूसे गये हैं। (८) उस क्षीर समुद्र को उन्होंने लाँघा और वे दधि-समुद्र में आए; (९) जो प्रेम के बावले [होते] हैं, उन्हें न धूप लगती है, और न छाया।

टिप्पणी--(१) खीर<क्षीर=दूध। (२) उलथ<उल्लत्थ<उद्+लस्त=ऊपर आया हुआ। (४) पबार<पवाड्<प्र+पातय्=गिराना, फेंकना। (५) अस्थिर<स्थिर=स्थायी रूप से कहीं रहने वाला। (६) बटपार<वट्टपाडय<वर्त्म+पातक=मार्ग का लुटेरा। (७) रूस्<रुष्=क्रोध करना। मूसे<मुषित=जिसका कोई द्रव्य चुराया गया हो। (८) नाँघ्<लंघ्=लाँघना, अतिक्रमण करना। (९) नेह<स्नेह। बाउर<वाउल<वातूल=बावला।

दधि समुँद्र देखत तस डहा। पेम क लुबुध दगध पै सहा।
पेम सों दाधा धनि वह जीऊ। दही माहिं मथि काढ़ै घीऊ।
दधि एक बूँद जाम सब खीरू। काँजी बुंद बिनसि होइ नीरू।
स्वाँस वोढ* मन मँथनी गाढ़ी। हिएँ चोट बिन फूट न साढ़ी।
जेहि जियँ प्रेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी।
पेम कि आगि जरै जौं कोई। ताकर दुख न अँबिरथा होई।
जो जानैं सत आपुहि जारै। निसत हिएँ सत करै न पारै।
दधि समुँद्र पुनि पार भे पेमहिं कहाँ सँभार।
भावै पानी सिर परौ भावै परौ अँगार॥ १५२॥

अर्थ--(१) दधि समुद्र देखते ही वह (राजा) दग्ध हो गया : पर प्रेम पर लुब्ध व्यक्ति दाह अवश्य ही सहन करता है। (२) जो जीव प्रेम से दग्ध हुआ है, वह धन्य है क्योंकि वह दही में जो घी है उसे मथ कर के निकाल लेता है। (३) एक बूंद दही से समस्त दूध जम जाता है, और एक बूंद काँजी से [वही दूध] विनष्ट होकर पानी हो जाता है। (४) जब तक साँस की वोढ (मथने वाली स्त्री) मन की गाढ़ी (पुष्ट) मथनी (रई) न हो और हृदय (के दधि पात्र) में चोट न पड़े, साढ़ी नहीं फूटती है [और घी नहीं निकलता है]। (५) जिसके जी में प्रेम होता है, उसको आग चंदन [तुल्य शीतल] होती है, और जो प्रेम-रहित होते हैं, वे उस आग (कष्ट) से डर कर भाग खड़े होते हैं। (६) प्रेम की अग्नि में जो कोई दग्ध होता है, उसका दुःख व्यर्थ नहीं जाता है, (७) जो इस तथ्य को जानता है वह सत्य में अपने-आपको जला देता है, क्योंकि सत्यरहित हृदय से कोई सत्य का निर्वाह नहीं कर सकता है। (८) तदनन्तर वे दधि-समुद्र से पार हुए पर प्रेम (प्रेमी) की [पुनः] सँभाल (सुधि) कहाँ ? (९) चाहे उसके सिर पर पानी पड़े और चाहे अंगार पड़े [वह आगे बढ़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता]।

टिप्पणी--(१) डह्<दह्=दग्ध होना, जलना। (२) दाधा<दद्ध<दग्ध=जला हुआ। काढ्<कड्ढ<कृष्=खींचना, निकालना। (३) जाम<यम्=जमना, गाढ़ा होना, स्थिर होना। काँजी<काञ्जिक=कोई रस जिसमें उफान आ गया हो, सिरका। (४) वोढु<वोढु<वोढु=खींचने वाली वस्तु, रस्सी।

*'जायसी-ग्रंथावली में मैंने प्रश्नवाचक चिह्न के साथ पाठ 'दहेंड़ि' दिया था, उसका कारण यह था कि प्राप्त पाठों में से कोई भी संतोषजनक नहीं था और 'देहेंड़ि' एक प्रति में मिले हुए पाठ 'देढ' के निकट पड़ता था। किन्तु उससे विभिन्न पाठान्तरों का

समाधान नहीं हो रहा था, इसलिए उसे प्रश्नवाचक चिह्न के साथ देना पड़ा था। मूल पाठ 'बोढ' ज्ञात होता है, जिससे समस्त पाठान्तरों का समाधान हो जाता है; इसी 'बोढ' से नागरी लिपि वाली प्रतियों के (१) 'बोठ' 'बोइठा' और 'बैठ' 'ढ' को 'ठ' पढ़ने के कारण बनते हैं, और फ़ारसी लिपि वाली प्रतियों के (२) 'दधि', 'दहिं', (३) 'दूब', (४) 'डोढ', (५) 'बेध', और 'देढ' शब्द के प्रथम 'वाव' को 'दाल' और दूसरे 'वाव' को 'ये' का शोशा पढ़ने के कारण बनते हैं। इनके अतिरिक्त 'पदुमावत' की एक ही प्रति में एक पाठ और मिलता है: वह है 'दवाल'। यह 'दवालै' दुवालि<दोआल (फ़ा०) है, जिसका अर्थ चमड़ा, चमड़े का तसमा, या रिकाब का तसमा होता है (दे० रामचन्द्र वर्मा: उर्दू-हिन्दी कोष में 'दुआल') यह पाठ किसी फ़ारसी के पंडित द्वारा दिया हुआ है, जिसने 'बोढ' या उसके किसी विकृत पाठ की सार्थकता न समझ कर प्रसंग से एक नए पाठ की कल्पना की। उसको मंथन के उपकरणों में 'रस्सी' का अभाव दिखाई पड़ा, इसलिए उसने इस 'तसमा'वाची फ़ारसी शब्द की कल्पना कर ली। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसी को शुद्ध पाठ माना है। प्रकट है कि 'दुआल' या 'दोआल' रचना की लेखन परंपरा से प्रमाणित नहीं है, क्योंकि प्राप्त नौ अन्य पाठों में से एक भी उससे बिगड़ कर नहीं बनता है। इसलिए उसे मूल पाठके रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तुल० बासुकि बोढ सुमेरु मथानी (४०६. ४) वहाँ भी लगभग इसी प्रकार के पाठ और पाठांतर हैं। (६) अँबिरथा<वृथा। (७) पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना। (८) सँभार<सम्भार। (९) अँगार<अंगारक=आग का अंगारा।

आए उदधि समुंद अपाराँ। धरती सरग जरै तेहि झाराँ।
आगि जो उपनी ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा।
बिरह जो उपना वह हुत गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत तस बाढ़ा।
जेहिं सो बिरह तेहिं आगि न डीठी। सौंह जरै फिरि देइ न पीठी।
जग महँ कठिन खरग कै धारा। तेहि तें अधिक बिरह कै झारा।
अगम पंथ जौं ऐस न होई। साध किएँ पावत सब कोई।
तेहि समुंद महँ राजा परा। चहै जरै पै रोवँ न जरा।
तलफै तेल कराह जिमि इमि तलफै तेहि नीर।
वह जो मलैगिरि पेम का बुंद समुंद समीर॥ १५३॥

अर्थ--(१) [अब वे सब] अपार उदधि समुद्र में आए; उस (समुद्र) की ज्वाला में धरती और आकाश जलते थे। (२) उस समुद्र में जो आग उत्पन्न हुई थी, लंका उसकी एक बूंद से जल गई थी। (३) किन्तु [सृष्टि में] जो विरह उत्पन्न हुआ था, वह [और भी] प्रगाढ़ था; वह जगत् में ऐसा बढ़ा कि एक क्षण के लिए भी नहीं बुझाया जा सकता है। (४) [इसीलिए] जिसे वह विरह होता है, उसे आग नहीं दिखाई पड़ती है; वह उस आग में सम्मुख ही जलता है और लौट कर उसे पीठ नहीं देता है। (५) जगत् में खड्ग की धार कठिन [मानी गई] है, किन्तु विरह की ज्वाला उससे भी अधिक [कठिन] होती है। (६) यदि [प्रेम का] पथ इस प्रकार अगम्य न होता, तो इच्छा मात्र के करने से उसे सब कोई प्राप्त कर लेता। (७) उसी (उदधि) समुद्र में राजा

जा पड़ा; वह [उसमें] जलना चाहता था किन्तु उसका एक रोम भी नहीं जला। (८) जिस प्रकार [आग पर रक्खा हुआ] तैल कड़ाहे में तड़फड़ाता है, उसी प्रकार उस (उदधि समुद्र) का जल भी तड़फड़ा रहा था, (९) [किन्तु प्रेमी रत्नसेन के साथ] वह जो प्रेम का मलयगिरि (चंदन) था, उसके समीर से वह समुद्र एक बूंद [मात्र बन रहा] था।

टिप्पणी--(१) सरग<स्वर्ग=आकाश। झार<ज्वाला। (२) उपन्<उत्+पत्=उत्पन्न होना। (३) बुझाव्<विध्मापय्=बुझाना। (४) सौंह<सउँह<समुह<सम्मुख। (६) साध<सद्धा<श्रद्धा, इच्छा, आकांक्षा। (८) तलफ्<तलप्प्◁तप् (?)।

सुरा समुँद पुनि राजा आवा। महुआ मद छाता देखरावा।
जो तेहि पिश्रै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै पँथ पैगु न देई।
पेम सुरा जेहि के जिय माहाँ। कत बैठे महुआ की छाहाँ।
गुरु के पास दाख रस रसा। बैरि बबूर मारि मन कसा।
बिरहैं दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह जस काठी।
नैन नीर सो पोती किया। तस मद चुआ बरै जनु दिया।
बिरह सरागन्हि भूँजै माँसू। गिरि गिरि परहिं रकत के आँसू।
मुहमद मद जो पिरेम का किएँ दीप तेहि राखि।
सीस न देइ पतंग होइ तब लगि जाइ न चाखि ॥१५४॥

अर्थ--(१) राजा तदनन्तर सुरा समुद्र में आया, जिसमें महुए के फूलों का मद-भरा छत्ता [तैरता] दिखाई पड़ रहा था। (२) जो उस [के जल] को पीता था, वह चक्कर खाने लगता था; उसका सिर घूमने लगता था और [अपने] पथ में वह [पुनः] पैर नहीं रखता था। (३) किन्तु प्रेम की सुरा जिसके जी में होती है, वह महुए की छाया में कहाँ (क्यों) बैठे? (४) यदि कोई गुरु के पास [प्रेम के] द्राक्षा-रस को चखे, मन को मार कर [दुर्वासनाओं के] बैर और बबूल को कसे, (५) बिरह की आग डाल कर शरीर की भट्ठी को दग्ध करे, उसमें हड्डियों को लकड़ी की भाँति जलाये, (६) और नेत्रों के जल (आँसुओं) से [भबके की] पोती करे, तो ऐसी [झलकती हुई] मदिरा चूती है जैसे दीप जल रहा हो। (७) [पुनः, उसका जो भली भाँति स्वाद लेना चाहता है] वह विरह की शलाकाओं पर [अपने शरीर के] मांस को भूनता है, जिसके कारण [उसके नेत्रों से--जिस प्रकार भूने जाने वाले मांस से] रक्त के आँसू गिरते हैं, (८) किन्तु मुहम्मद कवि कहता है, जो प्रेम की मदिरा होती है, उसको दीपक बना कर रखने के बाद [भी] (९) जब तक कोई अपना सिर उस पर पतिंगा बनकर नहीं देता है, तब तक उससे वह मदिरा चखी नहीं जा सकती है।

टिप्पणी--(१) छाता<छत्तअ<छत्रक=छत्ता। (२) भांवरि<भमरी<भ्रमरी=प्रदक्षिणा, चक्कर। (३) कत<कुत्र=कहाँ, क्यों। (४) दाख<द्राक्षा=अंगूर। रस्=चखना। (५) भाठी<भट्ठिआ V भ्राष्ट्रिका=भट्ठी। (६) पोती<पोत्तिअ<पौतिक=वस्त्र, सूती कपड़ा: भपके के उस भाग को जहाँ भाप पानी में बदलती है, एक गीले वस्त्र से लपेटे रहते हैं, उसे पोती कहते हैं। चुअ्<श्चुत्=चूना, टप-

कना, झरना। (७) सराग<शलाका । (९) चाख्<चक्ख् (दे०)=स्वाद लेना।

पुनि किलकिला समुँद महँ आए । किलकिल उठा देखि डरु खाए ।
गा धीरज वह देखि हिलोरा । जनु अकास टूटै चहुँ ओरा ।
उठै लहरि परबत की नाईं । होइ फिरै जोजन लख ताईं ।
धरती लेत सरग लहि बाढ़ा । सकल समुँद जानहुँ भा ठाढ़ा ।
नीर होइ तर ऊपर सोई । महनारंभ समुँद जस होई ।
फिरत समुँद जोजन लख ताका । जैसें फिरै कुम्हार क चाका ।
भा परलौ निअराएन्हि जबहीं । मरै सो ताकर परलौ तबहीं ।
गै अवसान सबहिं कै देखि समुँद कै बाढ़ि ।
निअर होत जनु लीलै रहा नैन अस काढ़ि ॥१५५॥

अर्थ--(१) तदनंतर वे किलकिला समुद्र में आए; उस समुद्र में जब किलकिल (हिल्लोल) उठा, वे डर गए। (२) उस हिलोर को देख कर धैर्य जाता [रहा जो ऐसी लगती थी] मानो चारो ओर आकाश टूट रहा हो। (३) पर्वत के समान (ऊँची) लहरें उठतीं थीं, जो लाख-लाख योजन तक जाकर लौटती थीं। (४) [उन लहरों के कारण] समुद्र धरतीं से लेकर आकाश तक ज्वार में आ जाता था, और [ऐसा लगता था] मानो समस्त समुद्र उठ कर खड़ा हो गया हो। (५) जल इस प्रकार तले-ऊपर होने लगता था, जैसे समुद्र में मंथनारंभ हुआ हो। (६) एक लाख योजन तक समुद्र इस प्रकार चक्कर खाता दिखाई पड़ता था जैसे कुम्हार का चक्का फिरता है। (७) जब वे (रतनसेन और उस के साथी) उसके निकट पहुँचे, प्रलय [सा] हो (आ) गया ; [ठीक ही है] जो जभी मरता है, उसके लिए प्रलय तभी हो (आ) जाता है। (८) समुद्र की उस वृद्धि को देख कर सब की चेतना जाती रही, (९) निकट जाते ही वह मानो निगल जाएगा, इस प्रकार वह उनकी ओर आँखें निकाल (घूर) रहा था।

टिप्पणी--(१) किलकिल=हिल्लोल । (२) हिलोर<हिल्लोल=समुद्र की लहर। (४) ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध। (५) महनारंभ<मन्थनारम्भ=मन्थन का वृहत् आयोजन। (६) चाक<चक्क<चक्र=चक्का । (७) परलौ<प्रलय। (८) अवसान (फ़ा०)=होश-हवास । बाढ़ि<वड्ढि<वृद्धि । (९) निअर<णिअड<निकट । लील्<णिगल्<निगल्;=निगलना । काढ़<कड्ढ<कृष्=निकालना ।

हीरामनि राजा सौं बोला । एही समुँद आइ सत डोला ।
एहि ठाउँ कहँ गुरु सँग कीजै । गुरु सँग होइ पार तौ लीजै ।
सिंघल दीप जो नाहिं निबाहू । एही ठावँ साँकर सब काहू ।
यह किलकिला समुंद गँभीरू । जेहि गुन होइ सो पावै तीरू ।
एही समुँद पंथ मँझधारा । खाँडे कै असि धार निनारा ।
तीस सहस्र कोस कै पाटा । अस साँकर चलि सकै न चाँटा ।
खाँडे चाहि पैनि पैनाई । बार चाहि पातरि पतराई ।
मरन जिअन एही पँथ एही आस निरास ।
परा सो गया पतारहि तिरा सो गा कबिलास ॥१५६॥

अर्थ--(१) हीरामणि ने राजा से कहा, "इसी समुद्र में आ कर सत्य [मनुष्य का] विचलित हो जाता है ; (२) इसी (ऐसे ही) स्थान के लिए गुरु को साथ करना चाहिए, [क्योंकि] यदि गुरु साथ हो तो पार हो जाइए। (२) सिंहलद्वीप [की यात्रा] का निर्वाह जो नहीं होता है, उसका कारण यही है कि इसी स्थान पर सब किसी को संकीर्णता होती है। (४) यह किलकिला समुद्र गंभीर है, जिसमें गुण होता है वही इसके किनारे लग पाता है। (५) इस समुद्र के मार्ग में मँझधार (मध्य) में विशुद्ध खड्ग की ऐसी धारा है। (६) यद्यपि समुद्र की चौड़ाई तीस सहस्र कोस की है किन्तु वह इतना संकीर्ण है कि चींटी भी नहीं जा सकती है। (७) उसकी तीक्ष्णता खड्ग से भी पैनी है और उसका पतलापन बाल से भी अधिक है। (८) इसी मार्ग में मरना और जीना तथा इसी में आशा और निराशा [प्राप्त] होते हैं ; (९) जो गिरा, वह पाताल चला गया और जो तर गया, वह शिवलोक चला गया।

टिप्पणी--(३) निबाह<निर्वाह। साँकर<संकीर्ण। (५) निनार<णिण्णार<निर्नगर (?) =जिसमें कोई मिलावट न हो, विशुद्ध। (६) पाट<पट्ट=चौड़ाई, फैलाव। चाँटा=चींटा, चींटी। (७) पैनाई<प्रकीर्णता (?)=तीक्ष्णता। पातर<पत्तल<पत्रल=पतला। (९) कबिलास<कैलास=शिवलोक।

कोइ बोहित जस पवन उड़ाहीं। कोई चमकि बीज बर जाहीं।
कोई भल जस धाव तोखारा। कोई जैस बैल गरिआरा।
कोई हरुअ जनहुँ रथ हाँका। कोई गरुअ भार तें थाका।
कोई रेंगहिं जानहुँ चाँटी। कोई टूटि होहिं सिर माँटी।
कोई खाहिं पवन कर झोला। कोई करहिं पात जेउँ दोला।
कोई परहिं भँवर जल माहाँ। फिरत रहहिं कोइ देहिं न बाहाँ।
राजा कर अगुमन भा खेवा। खेवक आगें सुवा परेवा।
कोइ दिन मिला सबेरे कोइ आवा पछिराति।
जाकर साज जैस हुत सो उतरा तेहि भाँति ॥१५७॥

अर्थ--(१) कोई बोहित्थ पवन के जैसे उड़ रहे थे, कोई चमक कर बिजली की अपेक्षा भी अधिक [गति-शील होकर] जा रहे थे। (२) कोई ऐसा अच्छा दौड़ते थे जैसे घोड़ा दौड़ता है, और कोई जैसे गरियार बैल चलता है [इस गति से] चल रहे थे। (३) कोई ऐसे हलके चल रहे थे मानो रथ हँक रहे हों, और कोई ऐसी भारी गति से चल रहे थे मानो भार से थके हों। (४) कोई मानो चींटी हों, ऐसे रेंग रहे थे, और कोई [समूह से] टूट कर (अलग हो कर) दूसरे बोहित्थों के मत्थे मिट्टी (भार) हो रहे थे। (५) कोई वायु का झकोर खा रहे थे और कोई पत्ते की भाँति झूल रहे थे। (६) कोई जल की भँवरों में पड़ रहे थे और उनमें चक्कर खा रहे थे। उन बोहित्थों को कोई बाहु (सहारा) देने वाला न था। (७) राजा का खेवा आगे बढ़ गया, क्योंकि उसका खेने वाला सुआ (हीरामणि) पक्षी था। (८) कोई दिन में सवेरे ही मिला, और कोई रात्रि के पिछले भाग में आया ; (९) जिसका जैसा साज था, वह उसी भाँत आगे-पीछे उतरा।

टिप्पणी--(१) बीज<विज्जु<विद्युत्=बिजली । बर<वर<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक । (२) तोखार=घोड़ा । बैल गरिआर<गलिअ+डा बइल्ल=दुर्विनीत बैल, वह बैल जो चलने में रुकता हो । (३) हरुअ<हलुअ<लघुक=हलका । गरुअ<गुरु । थाक्<थक्क्=श्रान्त होना । (४) रेंग्<रिंग्=रेंगना, धीमे-धीमे चलना । टूट्<त्रुट्=टूटना, अलग होना । (५) झोल<झुल्ल=झकोरा । दोल=झूला । (७) खेवा<क्षेप्य=जो खेया जाए । खेवक<क्षेपक=खेनेवाला । (८) सवेर>सवेला ।

सतएँ समुँद मानसर आए । सत जो कीन्ह साहस सिधि पाए ।
देखि मानसर रूप सोहावा । हियँ हुलास पुरइनि होइ छावा ।
गा अँधियार रैनि मसि छूटी । भा भिनुसार किरिन रवि फूटी ।
अस्तु अस्तु साथी सब बोले । अंध जो अहे नैन बिधि खोले ।
कँवल बिगस तहँ बिहँसी देही । भँवर दसन होइ होइ रस लेहीं ।
हँसहिं हंस औ करहिं किरीरा । चुनहिं रतन मुकताहल हीरा ।
जौं अस साधि आव तप जोगू । पूजै आस मान रस भोगू ।
भँवर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवल रस आइ ।
घुन जो हिआव न कै सका झूर काठ तस खाइ ॥१५८॥

अर्थ--(१) [अब वे] सातवें समुद्र मानसर में आए; जो उन्होंने सत्यनिष्ठा के साथ साहस किया, उसी से उन्होंने सिद्धि प्राप्त की । (२) मानसर का सुखद रूप देख कर उनके हृदय में उल्लास कमलिनी बन कर छा गया । (३) अंधकार चला गया और रात्रि की कालिमा छूट गई, सवेरा हुआ और सूर्य की किरण फूट [कर झलक] पड़ी । (४) उस सार्थ के सभी व्यक्ति 'अस्तु', 'अस्तु' बोल उठे, और उन्होंने कहा, "हम जो अंधे [हो रहे] थे--जो हमें कहीं कुछ सूझ नहीं रहा था--विधाता ने हमारे नेत्र खोल दिए ।" (५) जिस प्रकार [उस मानसरोवर में] कमल खिल रहे थे, उसी प्रकार उनकी देह विहसित हो उठी, और उनके नेत्र भ्रमर बन-बनकर उन कमलों का रस लेने लगे । (६) हंस वहाँ हँस (प्रसन्न हो) रहे और क्रीड़ा कर रहे थे, वे [वहाँ] रत्न, मोती और हीरे चुग रहे थे । (७) यदि कोई इस प्रकार तप और योग साध कर [वहाँ] आता है, तभी उसकी आशा पूरी होती है और वह रस (आनंद) भोग मानता है । (८) भ्रमर ने जो मन में मानसर का संकल्प किया, उसने आकर कमल का रस लिया ; (९) घुन का कीड़ा इस प्रकार साहस न कर सका, इसलिए [उस साहस-हीनता के अनुरूप ही] वह सूखा काठ खाता (और रसहीन जीवन बिताता) है ।

टिप्पणी--(२) सोहावा<सुहावय<सुखायक=सुख-जनक । हुलास<उल्लास । पुरइनि<पुडइणी<पुटकिनी=कमलिनी । (३) रैनि<रयणी<रजनी । (४) 'अस्तु' 'अस्तु'=(ऐसा ही) हो ! (ऐसा ही) हो ! साथी<सत्थिअ<सार्थिक=सार्थ का सदस्य । (५) दसन<दंसण<दर्शन=नेत्र । (६) किरीरा<क्रीड़ा । मुकुताहल<मुक्ताफल । (७) पूज्<पुज्ज्<पूरय्=पूरा होना । (९) घुन<घुण । हिआव=पौरुष, साहस । झूर=शुष्क ।

पूँछा राजैं कहु गुरु सुवा । न जनौं आजु कहाँ दिन उवा ।
पवन बास सीतल लै आवा । कया डहत जनु चंदन लावा ।
कबहुँ न ऐस जुड़ान सरीरू । परा अगिनि महँ मलै समीरू ।
निकसत आव किरिन रबि रेखा । तिमिर गए जग निरमर देखा ।
उठे मेघ अस जानहुँ आगें । चमकै बीजु गँगन पर लागें ।
तेहि ऊपर जस ससि परगासू । औ सो कचपचिन्ह भएउ गरासू ।
और नखत चहुँ दिसि उजिआरे । ठाँवहि ठाँव दीप अस बारे ।
औरु दछिन दिसि निअरें कंचन मेरु देखाव ।
जस वसंत रितु आवे तैस बास जग पाव ॥१५६॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) ने पूछा, "हे गुरु सुए (हीरामणि), कहो ; पता नहीं आज दिन किस स्थान पर उदित हुआ है ; (२) वह [ऐसा] सुवासित और शीतल पवन ले आया है, जिससे लगता है मानो दग्ध होती हुई काया में चन्दन का [लेप] लगा हो। (३) शरीर इस प्रकार कभी भी शीतल नहीं हुआ था; [आज तो ऐसा लग रहा है] मानो अग्नि]के ताप] में (के मध्य) मलय समीर [आ] पड़ा हो। (४) सूर्य की किरण-रेखा निकलती आ रही है, और [उसके कारण] अंधकार के चले जाने से जगत् निर्मल दिखाई पड़ा है। (५) [लगता है] मानो आगे मेघ उठे हों और आकाश पर [उनसे?] लग कर बिजली चमक रही हो, (६) उसके भी ऊपर मानो शशि का प्रकाश हो और वह कृत्तिका की नक्षत्र-माला का ग्रास हुआ हो; (७) और भी चारों ओर उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जो स्थान-स्थान पर दीपक ऐसे प्रज्वलित हैं। (८) और दक्षिण दिशा में निकट ही कंचन का मेरु पर्वत दिखाई पड़ रहा है; (९) जैसे वसंत ऋतु आती है, [और तब सुवास प्राप्त होती है,] उसी प्रकार की सुवास जगत् को प्राप्त हो रही है।"

टिप्पणी--(१) उव्<उग्ग्<उद्+गम्=उदित होना। (२) डह्<दह्=जलना। लावा<लाइअ<लागित=लगाया हुआ। (३) जुड़ाय्=जूड़ (शीतल) होना। (४) निकस्<णिक्कस्<निर्+कस्=निकलना, बाहर आना। (६) कचपचिआ<कृति+प्रचित=कृत्तिका से समृद्ध (नक्षत्र-माला)। (७) उजिआर< उज्ज्वल। (८) निअर<णिअड<निकट। (९) पाव्<प्र+आप्=प्राप्त करना।

तूँ राजा जस बिक्रम आदी । तूँ हरिचंद बैन सत बादी ।
गोपिचंद तूँ जीता जोगाँ । औ भरथरी न पूज बियोगाँ ।
गोरख सिद्ध दीन्ह तोहि हाथू । तारे गुरू मछिंदर नाथू ।
जीता प्रेम तूँ पुहुमि अकासू । दिस्ट परा सिंघल कबिलासू ।
वै जो मेघ गढ़ लाग अकासाँ । बिजुरी कनै कोट चहुँ पासाँ ।
तेहि पर ससि जो कचपचिन्ह भरा । राजमँदिर सोनै नग जरा ।
और जो नखत कहसि चहुँ पासाँ । सब रानिन्ह के आहिं अवासाँ ।
गँगन-सरोवर ससि-कँवल कुमुद-तराईं पास ।
तूँ रबि उवा जो भँवर होइ पवन मिला लै बास ॥१६०॥

अर्थ--(१) [हीरामणि ने उत्तर दिया,] "ऐ राजा, तू [पराक्रम में] वैसा ही है जैसा आदि (प्रथम) विक्रम था, और तू वचन में सत्यवादी हरिश्चन्द्र है। (२) गोपीचन्द को तूने योग की साधना में जीता है और भर्तृहरि तुझे वियोग [की तीव्रता] में नहीं पा सकता है। गोरखनाथ सिद्ध ने तुझे (तुझपर) हाथ दिया (रक्खा) है; तू ने [गोरखनाथ होकर] गुरु मच्छीन्द्रनाथ का उद्धार किया है। (३) प्रेम में तूने पृथ्वी और आकाश को जीत लिया है, इसलिए [अब] सिंहल का शिवलोक तुझे दिखाई पड़ा है। (४) वह जो मेघ [जैसा] है, वह सिंहल का गढ़ है, जो आकाश से लग रहा है, और जो बिजुली [जैसा] है, वह उसके चारों ओर का सोने का परकोटा है। (५) उसके ऊपर जो कृत्तिका की नक्षत्र-माला से भरा हुआ शशि [जैसा] है, वह सोने का राजमंदिर है, जो नग जटित है। (७) और, जिन्हें तू उसके चारों ओर नक्षत्र कह रहा है, वे सब रानियों के आवास हैं। (८) गगन-सरोवर में शशि-कमलिनी (पद्मिनी) है, जिसके पास कुमुद-तारिकाएँ (उसकी सखियाँ) हैं; (९) तू रवि-भ्रमर (प्रेमी) हो कर उदित हुआ है, [इसलिए] पवन [उस शशि-कमलिनी की] वासना ले कर तुझ से मिल रहा है।"

टिप्पणी--(१) आदि विक्रम = प्रथम विक्रमादित्य, जिसके पराक्रम को आदर्श मान कर बाद के अनेक राजाओं ने अपने को विक्रमादित्य कहा। बैन<वयन<वचन। (२) गोपीचन्द्र: बंगाल के एक राजा जो योगी हो गए थे। भरथरी<भर्तृहरि: उज्जैन के एक प्रसिद्ध राजा जिन्होंने वैराग्य लिया था। (३) गोरख-(नाथ): प्रसिद्ध योगी, जो योग के सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं। मच्छिन्द्र (नाथ): गोरखनाथ के गुरु कहे जाते हैं, जिन्हें किसी समय वामाचार में पड़कर योग-च्युत होते देख कर गोरखनाथ ने पुनः योग-पथ पर लगाया था। (४) पुहुमि<पृथ्वी। कबिलास<कैलास = शिवलोक। (५) कनै<कनक। कोट = परकोटा। (६) कचपचिअ<कृत्ति + प्रचित् = कृत्तिका से समृद्ध (नक्षत्र-माला)। (७) नखत<नक्षत्र। अवास<आवास = भवन। (८-९) तराई < तारिका। गगन-सरोवर: सिंहल; शशि-कमल: पद्मिनी; कुमुद-तराई: उसकी सखियाँ; रवि-भ्रमर: रत्नसेन।

सो गढ़ देखु गँगनु तें ऊँचा। नैन देख कर नाहिं पहूँचा।
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। औ जमकाति फिरै जम केरी।
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा।
चंद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरैं सबाईं।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस टूटि भुइँ बहा।
अगिनि उठी जरि बुझी निआना। धुआँ उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छुवा। बहुरा रोइ आइ भुइँ चुवा।
रावन चहा सौहँ गै हेरा उतरि गए दस माँथ।
संकर धरा लिलाट भुइँ औरु को जोगी नाथ॥ १६१॥

अर्थ--"(१) उस गढ़ को देख; वह गगन से भी ऊँचा है; नेत्र ही उसे देखते

(देख सकते) हैं, हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता (पहुँच सकता) है। (२) उसके चारों ओर एक बिजली का चक्र फिरता रहता है और यम की यम-काती फिरती रहती है। (३) मन में साध (अभिलाषा) कर के जो भी दौड़ कर गया है, उसको उस चक्र ने ऐसा मारा है कि वह दो आधे हो गया है। (४) चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और तारिकाएँ इसी डर से सब के सब अन्तरिक्ष में फिरते हैं। (५) पवन ने जब वहाँ (उस गढ़ के पास) जा कर पहुँचना चाहा, उस चक्र का मारा वह उसी प्रकार टूट कर भूमि पर बहने लगा। (६) [उसके पास पहुँचने के लिए] अग्नि उठी, किन्तु वह भी अन्त में जल बुझी; धूम उठा और वह उठ कर बीच में ही विलीन हो गया। (७) पानी जब उसे छूने के लिए उठा, उठ-उठ कर न छू सका, इसलिए रोकर लौट पड़ा और आकर भूमि पर टपका (पड़ा)। (८) रावण ने जब उसके सम्मुख जाकर उसे देखना चाहा, उसके दस सिर [कट कर] गिर पड़े; (९) शंकर ने [उसके समक्ष] भूमि पर अपना मस्तक टेक दिया; फिर और कौन योगी, हे नाथ (योग-साधक), हो सकता है [जो उसके पास पहुँचने का साहस करे] ?"

टिप्पणी--(१) पहूँचा<पहुत<प्रभूत=पहुँचा हुआ। (२) जमकाति<यमकर्त्तरि=यम की कटारी। (३) बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना। साध<सद्धा=श्रद्धा=इच्छा। (४) तराई<तारिका। (६) निआन<निदान। बिलाय्<वि+ली=विलीन होना। (७) छुव्<छिव्<स्पृश्=स्पर्श करना। (८) सौंह<समुह<संमुख। हेर् (दे०)=देखना।

तहाँ देखु पदुमावति रामा। भँवर न जाइ न पंखी नामा।
अब सिधि एक देउँ तोहि जोगू। पहिलें दरस होइ तब भोगू।
कंचन मेरु देखावसि जहाँ। महादेव कर मंडप तहाँ।
ओहिक खंड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू।
माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू।
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा।
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजै आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस॥ १६२॥

अर्थ--"(१) और देखो, पद्मावती रमणी वहाँ पर है जहाँ न [कोई] भ्रमर (प्रेमी) जाता है और न [कोई] पक्षी नामधारी (प्रेमी का संदेश-वाहक)। (२) अब [इसलिए] तुझे तेरे योग्य (उपयुक्त) एक सिद्धि दे रहा हूँ, पहले उसका दर्शन होगा तब उसका भोग प्राप्त होगा। (३) तू जहाँ पर कंचन का सुमेरु दिखा रहा है, वहाँ पर महादेव का मंडप (मंदिर) है। (४) मेरु उसके [एक] खंड जैसा है और मेरु से भी अधिक उसका फैलाव है। (५) माघ मास में उसका परवर्ती पक्ष लगने पर आगे श्री पंचमी होगी (आएगी); (६) [उस तिथि को] महादेव [के मंडप] का द्वार खुलेगा और समस्त संसार [वहाँ] जा कर [महादेव की] पूजा करेगा। (७) पुनः [और] पद्मावती भी [वहाँ] पूजा करने आएगी, [तब] इसी बहाने से तुम्हारा

[उससे] दृष्टि-मिलन होगा। (८) [अब] तुम उसी (महादेव के) मंडप को गमन करो और मैं पद्मावती के पास जाऊँ। (९) यदि वह [वहाँ] आकर वसंत [के उपलक्ष्य में महादेव की] पूजा करे, तो [तुम्हारे] मन की आशा पूरी हो।"

टिप्पणी--(१) पंखी<पक्षिन्। (२) जोग<योग्य=उपयुक्त। (४) फेर=घेरा, फैलाव। (५) पख<पक्ष। (६) उघर्<उग्घड्<उद्-घट्=उघड़ना, खुलना। (७) मेराव <मेलावय<मेलापक<मिलाप=मिलन। (८) पूज<पुज्ज<पूजय्=पूजा करना। जौं<जइ<यदि। पूज<पुज्ज्<पूरय्=पूरा होना।

राजैं कहा दरस जौं पावौं। परबत काह गँगन कहँ धावौं।
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं पाय का कहना।
मोहि भाव ऊँचइ सो ठाऊँ। ऊँचे लेउँ प्रीतम क नाऊँ।
पुरुषहि चाहिअ ऊँच हिआऊ। दिन दिन ऊँचे राखै पाऊ।
सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊँचे सौं कीजै बेवहारू।
ऊँचे चढ़े ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँचि बुधि बूझा।
ऊँचइ संग संग निति कीजै। ऊँचे काज जीव बलि दीजै।
दिन दिन ऊँच होइ सो जेहि ऊँचें पर चाउ।
ऊँचे चढ़त परिअ जौं ऊँच न छाड़िअ काउ॥ १६३॥

अर्थ--(१) राजा ने कहा, "यदि मैं दर्शन पाऊँ (पा सकूँ), तो पर्वत क्या, मैं आकाश को दौड़ जाऊँ। (२) जिस पर्वत पर उसका दर्शन प्राप्त करना है, उस पर मैं सिर के बल चढ़ जाऊँ, पैरों का क्या कहना है? (३) मुझे वह ऊँचा ही स्थान भा रहा है; उस ऊँचे स्थान पर मैं प्रियतम का नाम लूँगा। (४) पुरुष को ऊँचा साहस [रखना] चाहिए, [ताकि] वह दिन-दिन पैर ऊँचे रक्खें। (५) अवश्य ही सदैव ऊँचे द्वार (पुरुष) की सेवा करनी चाहिए और ऊँचे [पुरुष] से ही व्यवहार करना चाहिए। (६) ऊँचे चढ़ने पर [और भी] ऊँचा खंड सूझता है, और ऊँचे [व्यक्ति] के पास ऊँची बुद्धि सूझती है। (७) साथ के निमित्त ऊँचे ही [व्यक्ति] का साथ करो, और ऊँचे (महत्) कार्य के लिए जीवन की बलि दो। (८) वह दिन-प्रतिदिन ऊँचा होता है जिसे ऊँचे (ऊँची स्थिति) पर [पहुँचाने का] पर चाव (उमंग) रहता है; (९) ऊँचे चढ़ते समय यदि गिर [भी] पड़े, तो भी कदापि ऊँचे को छोड़ना नहीं चाहिए।"

टिप्पणी--(१) लह्<लभ्=प्राप्त करना। पाय<पाअ<पाद=पैर। (४) हिआउ=पौरुष, साहस। (५) बार<वार<द्वार। (६) बूझ<बज्झ<बुध्=जानना। (७) निति<निमित्त(?) (८) चाउ<चाव<चाप=उमंग।

हीरामनि दै बचा कहानी। चला जहाँ पदुमावति रानी।
राजा चला सँवरि सो लता। परबत कहँ जो चला परबता।
का परबत चढ़ि देखै राजा। ऊँच मँडप सोनैं सब साजा।
अंब्रित फर सब लाग अपूरी। औ तहँ लागि सजीवनि मूरी।

चौमुख मंडप चहूँ केवारा । बैठे देवता चहूँ दुआरा ।
भीतर मँडप चारि खंभ लागे । जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे ।
संख घंट घन बाजहिं सोई । औ बहु होम जाप तहँ होई ।
महादेव कर मंडप जगत जातरा आउ ।
जो इंछा मन जेहि कें सो तैसै फल पाउ ॥१६४॥

अर्थ--(१) हीरामणि अपने कथानक (प्रस्ताव) का वचन देकर [उस स्थान के लिए] चल पड़ा जहाँ पर पद्मावती रानी थी। (२) [उधर] राजा भी उस लता (कमलिनी-पद्मावती) का स्मरण कर [महादेव के मंडप की ओर] चल पड़ा जब पर्वत (कैलास--सिंहलगढ़ के राजमंदिर) के लिए वह सुआ चला। (३) [शिव-मंदिर वाले उस] पर्वत पर राजा क्या देखता है कि वह ऊँचा मंडप (मंदिर) सब का सब सोने का बना हुआ है। (४) समस्त अमृत फल आपूर्ण रूप से वहाँ लगे हुए हैं, और वहाँ संजीवनी मूल [भी] लगी हुई है। (५) वह मंडप चतुर्मुख है, चारों ओर किवाड़े लगे हुए हैं, और चारों द्वारों पर देवता बैठे हुए हैं। (६) मंडप के भीतर चार खंभे लगे हुए हैं, और जिसने उन्हें छू लिया, उसके पाप नष्ट हो गए। (७) शंख, घंटे, और घन वहाँ बजते हैं, तथा बहुतेरा हवन तथा जप [आदि] वहाँ हो रहा है। (८) महादेव का वह मंडप है, जगत् ही उसकी यात्रा करने आता है, (९) और जो इच्छा जिसके मन में होती है, वह वैसा (उस के अनुरूप) ही फल पाता है।

टिप्पणी--(१) बचा<वचस्=वचन । कहानी<कहाणय<कथानक=प्रसंग या प्रस्ताव। (२) सँवर<समर<स्मृ=स्मरण करना, याद करना। परबता< पर्वतक(?)=सुआ। (३) साज्<सज्ज्<सृज्=बनाना, निर्माण करना। (४) अपूर्<आपूरय्=आपूरित करना। (५) केवाड<कवाड<कपाट=किवाड़। (६) खँभ<स्कंभ=खंभा। (७) होम<हवन। (९) इंछा<इच्छा=कामना।

राजा बाउर बिरह बियोगी । चेला सहस बीस सँग जोगी ।
पदुमावति के दरसन आसा । दँडवत कीन्ह मँडप चहुँ पासा ।
पुरुब बार होइ कै सिर नावा । नावत सीस देव पहँ आवा ।
नमो नमो नारायन देवा । का मोहिं जोग सकों करि सेवा ।
तूँ दयाल सब के उपराहीं । सेवा केरि आस तोहि नाहीं ।
ना मोहि गुन न जीभ रस बाता । तूँ दयाल गुन निरगुन दाता ।
पुरवौ मोरि दास कै आसा । हौं मारग जोवौं हरि स्वाँसा ।
तेहि बिधि बिनै न जानौं जेहि बिधि अस्तुति तोरि ।
करु सुदिस्टि औ किरिपा इंछा पूजै मोरि ॥१६५॥

अर्थ--(१) विरह-वियोगी राजा बावला था और उसके साथ बीस सहस्र चेले योगी थे। (२) पद्मावती के दर्शनों की आशा में [राजा ने] मंडप के चारों पार्श्व में दंडवत किए। (३) तदनंतर पूर्व के द्वार से भीतर जा कर उसने सिर झुकाया तथा सिर झुकाते हुए वह महादेव के पास आया। (४) उसने कहा, "ऐ नारायण देव, तुझे नमस्कार है, नमस्कार है; मेरे योग्य क्या है कि तेरी सेवा कर सकूँ? (५) हे दयालु,

तू सभी के ऊपर है ; तुझे [किसी की] सेवा की आशा (अपेक्षा) नहीं है। (६) न मुझ में [कोई] गुण है और न जिह्वा में रस की बातें हैं किन्तु तू, हे दयालु, गुणी और निर्गुण सभी को देने वाला है, (७) [इसलिए मैं तुझ से निवेदन कर रहा हूँ कि] तू [पद्मावती के] दर्शनों की मेरी आशा पूर्ण कर ; मैं प्रत्येक साँस में उसकी बाट जोह रहा हूँ। (८) मैं उस प्रकार से विनय करना नहीं जानता हूँ जिस प्रकार से तेरी स्तुति [होनी चाहिए], (९) तू सुदृष्टि और कृपा कर, जिससे मेरी इच्छा पूरी हो।"

टिप्पणी--(१) बाउर<बाउल<वातूल=वातग्रस्त, बावला। चेला<चेड<चेट=दास, सेवक। (२) पास<पार्श्व=पक्ष, पहल। (३) बार<वार<द्वार। (७) पुरव्<पूरय्=पूरा करना। जोव् (दे०)=देखना। (८) बिनै< विज्ञप्ति= कथन, निवेदन। (९) इंछा<इच्छा=कामना।

कै अस्तुति जौं बहुत मनावा। सबद अकूट मँडप महँ आवा।
मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी।
पेमहि माहँ बिरह औ रसा। मैन के घर मधु अंब्रित बसा।
निसत धाइ जौं मरै तो काहा। सत जौं करै बैसेइ होइ लाहा।
एक बार जौं मनु कै सेवा। सेवहि फल परसन हो देवा।
सुनि कै सबद मँडप झनकारा। बैठा आइ पुरुब के बारा।
पिंड चढ़ाइ छार जेत आँटी। माँटी होउ अंत जौं माँटी।
माँटी मोल न कछु लहै औ माँटी सब मोल।
दिस्टि जो माँटी सौं करै माँटी होय अमोल॥ १६६॥

अर्थ--(१) जब स्तुति कर के उसने महादेव को बहुत [प्रकार से] मनाया, मंडप में यह अकूट (स्पष्ट) शब्द आया (हुआ), "(२) मनुष्य में प्रेम ही वैकुंठी (स्वर्गीय) तत्त्व हुआ, नहीं तो मुट्ठी भर राख (शरीर) क्या थी? (३) प्रेम में ही विरह और [मिलन का] रस दोनों हैं, जिस प्रकार मोम के घर (छत्ते) में मधु रूपी अमृत तथा [डंक मारने वाले] बर्र दोनों रहते हैं। (४) सत्य से हीन व्यक्ति दौड़ता-दौड़ता मर भी जाए तो [उसे] क्या [लाभ] ? किन्तु यदि कोई सत्य का पालन करता है, तो बैठे-बैठे ही लाभ होता है। (५) एक बार भी यदि कोई मन को (सम्पूर्ण रूप से) दे कर सेवा करता है, तो उस सेवा के फल-स्वरूप देवता प्रसन्न हो जाता है।" (६) मंडप की झंकार का यह शब्द सुन कर रत्नसेन पूर्व के द्वार पर आ बैठा, (७) और उसने शरीर पर जितनी भी राख अँट सकती थी, वह चढ़ा ली, [और उसने मन में कहा,] "जिसे अंत में मिट्टी ही होना है, वह [अभी से] मिट्टी हो जाए। (८) मिट्टी मोल (मूल्य) कुछ भी नहीं पाती है, और वही मिट्टी समस्त मूल्य की हो जाती है। (९) यदि कोई मिट्टी से दृष्टि लगाए, तो [वही] मिट्टी अमूल्य हो जाए।

टिप्पणी--(१) अकूट=निर्भ्रान्ति, सरल, स्पष्ट। (२) मानुस<मानुष= मनुष्य। छार<क्षार=राख। (३) मैन<मयण<मदन=मोम। (४) काह<

१०

कथम्=क्या । (६) बार<बार<द्वार । (७) आँट्=पूरा पड़ना, समा सकना । माँटी<मट्टिआ<मृत्तिका=मिट्टी ।

इस छंद में कवि ने अपने प्रेम-दर्शन के कुछ तत्त्व स्पष्ट किए हैं । उसके अनुसार प्रेम वैकुण्ठी (स्वर्गीय) है, प्रेम के मार्ग में सिद्धि सत्यनिष्ठा से ही प्राप्त होती है और सत्य का अर्थ है मन को (सम्पूर्ण रूप से) देना ।

बैठ सिंघ छाला होइ तपा । पदुमावति पदुमावति जपा ।
दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी । जेहि दरसन कारन बैरागी ।
किंगरी गहे बजावै झूरै । भोर साँझ सिंगी नित पूरै ।
कंथा जरै आगि जनु लाई । बिरह धँधोर जरत न बुझाई ।
नैन रात निसि मारग जागें । चकित चकोर जानु ससि लागें ।
कुंडल गहें सीस भुइँ लावा । पाँवरि होउँ जहाँ ओहि पावा ।
जटा छोरि कै बार बोहारौं । जेहि पँथ होइ सीस तहँ वारौं ।
चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत डँड न रहै थिर मार ।
होइ के भसम पवन सँग धावौं जहाँ सो प्रान अधार ॥ १६७ ॥

अर्थ--(१) [तदनंतर,] वह सिंह की खाल पर बैठ कर और तपस्वी होकर 'पद्मावती' 'पद्मावती' जपने लगा । (२) समाधि में दृष्टि (ध्यान) उसी से जा लगी जिसके दर्शनों के लिए वह वैरागी [हुआ] था । (३) वह किंगरी ले कर बजाता और झूरता (संतप्त होता) था, तथा सबेरे-संध्या नित्य ही सिंगी में फूँक (साँसें) भरता [और उसे बजाता] था । (४) उसका कंथा जल-जल उठता था, जैसे उसमें आग लगाई हो, और विरह के धँधोर में जलते हुए वह बुझ नहीं रहा था । (५) रात भर उसकी प्रीतक्षा में जागते रहने से उसके नेत्र रक्तवर्ण के हो गए थे, और वे ऐसे लगते थे मानो शशि के लिए चकराए हुए चकोर हों । (६) वह अपने कुंडलों को पकड़े हुए सिर को भूमि से लगाता था और कहता था, "जहाँ उसके पैर हों, मैं उनकी पाँवरी बनूँगा । (७) मैं अपनी जटाएँ खोल कर [उसके स्वागत के लिए अपना] द्वार बुहारूँगा, और जिस मार्ग में वह होगी, उस पर अपना सिर न्यौछावर करूँगा । (८) मेरा मन चारों चक्रों में उसको खोजता फिरता है एक दंड भी स्थिर (शांत) नहीं रहता है (वह मुझे निरंतर पीड़ित करता रहता है), (९) अतः ऐसी इच्छा होती है कि भस्म हो (बन) कर वायु के साथ वहाँ दौड़ूँ (दौड़ कर पहुँचूँ) जहाँ वह प्राणाधार है ।"

टिप्पणी--(१) छाला=त्वचा, खाल (तुल० 'छल्ली' (दे०) । (३) किंगरी <किन्नरी=योगियों के द्वारा बजाई जाने वाली एक छोटी वीणा । झूर्<ज्वल्= संतप्त होना । पूर्<पूरय्=(फूंक) भरना । (४) कंथा=गूदड़ों या चिथड़ों का बना हुआ वस्त्र । धँधोर=ऐसी हवा जो चक्कर देती हुई चलती है (तुल० धंधोलिय (अप०)=भ्रमित, घुमाया हुआ ।) (५) रात<रत्त<रक्त=लाल । (६) पाँवरि <पादत्री=खड़ाऊँ । (७) बार<वार<द्वार । बोहार् (दे०)=झाड़ू देना । वार <उव्वार<उद्+वर्तय्=त्याग करना, न्यौछावर करना ।

पदुमावति तेहि जोग सँजोगाँ । परी पेम बस गहे बियोगाँ ।
नींद न परै रैनि जौं आवा । सेज केवाँछ जानु कोइ लावा ।
दहै चाँद औ चंदन चीरू । दगध करै तन बिरह गँभीरू ।
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी । तिल तिल भरि जुग जुग बरु गाढ़ी ।
गहै बीन मकु रैनि बिहाई । ससि बाहन तब रहै ओनाई ।
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै । ऐसी बिथा रैनि सब जागै ।
कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा । आइ परहु होइ घिरिन परेवा ।
सो धनि बिरह पतंग होइ जरा चाह तेहि दीप ।
कंत न आवहु भृंगि होइ को चंदन तन लीप ॥१६८॥

अर्थ--(१) पद्मावती [रत्नसेन] के उस [प्रेम-] योग के संयोग से, वियोग ग्रहण किए हुए प्रेम के वश में पड़ गई । (२) रात जब आती थी, उसे नींद नहीं आती थी और उसे ऐसा लगता था मानो किसी ने शैया पर केवाँछ लगा (रख) दिए हों । (३) चन्द्रमा तथा चंदन-चीर उसे दग्ध करते थे क्योंकि गंभीर विरह उसके शरीर को दग्ध कर रहा था । (४) रात्रि बलात् कल्प सदृश [लंबी] हो गई थी; वह तिल-तिल कर के मरती (बीतती) थी और युग-युग से भी अधिक कठिन हो गई थी । (५) वह वीणा उठाती थी कि कदाचित् [उसके सहारे] रात्रि व्यतीत हो जाए, किन्तु शशि के रथ का वाहन (मृग) उसे सुनने लगता था [और रात्रि बीतती ही न थी]; (६) तब वह स्त्री सिंह का चित्र बनाने लगती थी (जिससे कि उस से भयभीत होकर वह मृग भाग खड़ा हो) और इस प्रकार की व्यथा में वह सारी रात जागती थी । (७) [वह कह उठती,] "ऐ कमलिनी के (मेरे) रस के ग्रहण करनेवाले भ्रमर, तुम कहाँ हो; तुम घूर्णपारावत (लोटने कबूतर) बन कर आ पड़ो ! (८) [तुम्हारे ही लिए] यह स्त्री विरह (दीपक) का पतिंगा बन कर उसी (विरह) दीपक पर जलना चाहती है; (९) हे कान्त, तुम क्यों नहीं भृंगी बन कर आते [और उसे अपने सदृश कर लेते] हो ? (तुम्हारे बिना उसके शरीर पर चन्दन का लेप कौन करेगा (उस जलते हुए पतिंगे को शीतल कौन करेगा) ?"

टिप्पणी--(२) जौं <जउ<जइ<यदि । केवाँछ<कपिकच्छु=सेम की जाति की एक बेल जिसकी रोएँदार फलियाँ छू जाने से खुजली उत्पन्न करती हैं । (३) डह् <दह् =दग्ध करना, जलाना । चंदन-चीर = चन्दनपट्ट : 'चँदनौटा' नामक वस्त्र (दे० ३२९.३) । (४) बरु<वरम् = अपेक्षाकृत अधिक । (५) मकु = कदाचित्, संभव है । बिहाय्<वि+हा = दूर होना । ओनाय् = सुनकर आना । (६) उरेह् <उल्लिह् <उल्लिख् =रेखाओं द्वारा चित्रांकन करना । (७) घिरिन परेवा = घूर्ण पारावात; आकाश से लोटते हुए उतरने वाली जाति का कबूतर । (९) भृंगि = एक कीट जिसके संबंध में प्रसिद्ध है कि वह एक अन्य कीट को लेकर तब तक उड़ता रहता है जब तक वह अन्य कीट को भी भृंग बना लेता है । (दे० भृंग-फनिग करा (१२५.७)

परीं बिरह बन जानहुँ घेरी । अगम असूझ जहाँ लगि हेरी ।
चहुँ दिसा चितवै जनु भूली । सो बन कवन जो मालति फूली ।

कँवल भँवर ओही बन पावै । को मिलाइ तन तपनि बुझावै ।
आँक अनँग अस कँवल सरीरा । हिय भा पियर पेम की पीरा ।
चहै दरस रवि कीन्ह बिगासू । भँवर दिस्टि महँ कै सो अकासू ।
पूँछै धाइ बारि कहु बाता । तूँ जस कँवल करी रँग राता ।
केसरि बरन हिया भा तोरा । मानहुँ मनहिं भएउ कछु फोरा ।
पवनु न पावै संचरै भँवर न तहाँ बईठ ।
भूलि कुरंगिनि कसि भई मनहुँ सिंघ तुइँ डीठ ॥ १६६ ॥

अर्थ--(१) [पद्मावती ऐसी हो रही थी] मानो वह विरह-वन में घिर गई हो; वह जहाँ तक भी देख सकती थी, अगम्य और असूझ लग रहा था। (२) [यौवनागम से उसके शरीर में मालती की सुवास फूट पड़ी थी, किन्तु इस तथ्य को न जानते हुए] वह चारों दिशाओं में इस प्रकार देखती थी मानो भटकी हुई हो, और वह कहती थी, "वह कौन-सा वन है जिसमें यह मालती फूल रही है ? (३) यह कमलिनी [अपने] भ्रमर को उसी वन में पाएगी ; किन्तु कौन [उस भ्रमर को] मिला कर उसके तन के ताप को बुझाएगा ? (४) कमलिनी (पद्मिनी) के शरीर [भर] में अनंग के अंक इस प्रकार लगे हुए थे कि उसका हृदय प्रेम की पीड़ा से पीला हो रहा था; (५) वह सूर्य (प्रेमी) का दर्शन चाहती थी, इसलिए विकास कर उठी (खिल उठी) थी, और अब उसकी दृष्टि में या तो भ्रमर (प्रेमी) था या आकाश (शून्य)। (६) धाय उससे पूछने लगी, "ऐ बालिके, यह बात मुझसे बता : तू कमल-कलिका के सदृश थी, और तेरा रंग रक्त (लाल) था, (७) किन्तु तेरा हृदय [अब] केसर के वर्ण का (पीला) हो गया है। (८) [तू जिस स्थान पर है] वहाँ न पवन संचार कर पाता है (कोई संदेश-वाहक आ पाता है) और न कोई भौंरा बैठता है (प्रेमी प्रविष्ट होने पाता है); (९) तब तू, ऐ कुरंगिनी (मृगी), कैसी भूली-भूली सी हो रही है, मानो तेरे द्वारा कोई सिंह देखा गया हो !"

टिप्पणी--(१) असूझ<असुज्झ<अशोध्य = जो सूझता न हो, समझ में न आता हो। (२) मालती=प्रसिद्ध पुष्प-विशेष। (४) आँक<अंक=तप्त शलाकादि से लगाए गए चिह्न, दाग़। पिअर<पीअडा<पीत=पीला। भँवर दिस्टि महँ कै सो अकासू : भ्रमर से कवि का तात्पर्य कामुक प्रेमी और आकाश के सूर्य से तात्पर्य उदात्त प्रेमी से ज्ञात होता है। (६) धाइ<धात्री=धाय। बात<वत्ता<वार्ता। रात< रत्त<रक्त=लाल। (७) फोरा<फोडअ<स्फोटक = फोड़ा, व्रण। (९) डीठ< डिट्ठ<दृष्ठ।

धाइ सिंघ बरु खातेउ मारी । कै तसि रहति अही जसि बारी ।
जो बन सुनिउँ कि नवल बसंतू । तेहि बन परेउ हस्ति मैमंतू ।
अब जोबन बारी को राखा । कुंजर बिरह बिधौंसै साखा ।
मैं जाना जोबन रस भोगू । जोबन कठिन सँताप बियोगू ।
जोबन गरुअ अपेल पहारू । सहि न जाइ जोबन कर भारू ।
जोबन अस मैमंत न कोई । नवै हस्ति जौं आँकुस होई ।

जोबन भर भादौं जस गंगा । लहरैं देइ समाइ न अंगा ।
परी अथाह धाइ हौं जोबन उदधि गँभीर ।
तेहि चितवौं चारिउँ दिसि को गहि लावै तीर ॥१७०॥

अर्थ--(१) [पद्मावती उत्तर देती है,] "हे धाय, इससे अच्छा था कि सिंह मुझे मार कर खा जाता, अथवा वैसी ही बनी रहती जैसी [अबोध] बालिका मैं थी। (२) जब मैंने सुना था कि वन में नव वसंत (आया हुआ) है, वहाँ देखती यह हूँ कि उस वन में मदमत्त हस्ती (घुस) पड़ा है। (३) अब उस यौवन-वाटिका की रक्षा कौन करेगा ? विरह का कुञ्जर उसकी शाखाओं का विध्वंस कर रहा है। (२) मैंने समझा था कि यौवन रस-भोग (का नाम) है, किन्तु (देखती हूँ कि) यौवन कठिन संताप और वियोग (का नाम) है। (५) यौवन भारी और न हटाया जा सकने वाला पर्वत है, इस यौवन का भार नहीं सहन किया जा सकता है। (६) यौवन जैसा मदमत्त कोई (जीव) नहीं होता है ; हस्ती भी झुक जाता है यदि (उस पर) अंकुश (का प्रयोग) होता है (जब कि यौवन पर कोई अंकुश काम नहीं करता है) (७) यौवन भरे भादौं की गंगा जैसा होता है, वह (उसी की भाँति) लहरें देता है और शरीर में (मर्यादा के भीतर) समाता नहीं है। (८) (अब) मैं, हे धाय यौवन के अथाह और गंभीर समुद्र में गिर पड़ी हूँ ; (९) इसीलिए चारों ओर देख रही हूँ ; मुझे पकड़ कर कौन तीर पर लाएगा ? "

टिप्पणी--(१) बह्<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक अच्छा । बारी<बालिका । मैमंत<मयमत < मदमत्त । (३) कुंजल<कुञ्जर=हाथी । बिधाँस्<विध्वंसय् =विध्वंस करना। (५) पेल्<पेर्<प्रेरय्=ठेलना, ढकेलना। (६) नव्<नम्= नमित होना, झुकना। (७) भर<भरिअ<भरित=भरा, प्रौढ़। समाय्<संमा< सम्+मा=अँटना ।

पदुमावति तूँ सुबुधि सयानी । तोहिं सरि समुँद न पूजै रानी ।
नदी समाहिं समुँद मँह आई । समुँद डोलि कहु कहाँ समाई ।
अबहीं कँवल करी हिय तोरा । आइहि भँवर जो तो कहँ जोरा ।
जोबन तुरिअ हाथ गहि लीजै । जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै ।
जोबन जो रे मतँग गज अहै । गहु गिआन जिमि आँकुस रहै ।
अबहिं बारि तूँ पेम न खेला । का जानसि कस होइ दुहेला ।
गँगन दिस्टि करु नाइ तराहीं । सुरुज देखि कर आवै नाहीं ।
जब लगि पीउ मिलै तोहिं साधु पेम कै पीर ।
जैसें सीप सेवाति कहँ तपै समुँद मँझ नीर ॥१७१॥

अर्थ--(१) (धाय ने कहा,) "ऐ पद्मावती, तू अच्छी बुद्धि वाली और सज्ञान है, समुद्र तेरे सादृश्य को नहीं पहुँच सकता है। (२) नदियाँ आकर समुद्र में समाती हैं ; समुद्र चल कर ,कहो, कहाँ समाए ? (३) अभी, ऐ कमलिनी, तेरा हृदय कलिका है ; वह भ्रमर (प्रेमी) आएगा जो [विधाता के द्वारा] तुझ से जोड़ा जा चुका है। (४) यौवन एक तुरग (घोड़ा) है, उसको हाथ से पकड़ लेना चाहिए और वह [अपने

तई] जहाँ जाए, उसे जाने न देना चाहिए। (५) यदि यौवन मत्तांग गज है, तो [तू [उसको नमित करने के लिए] ज्ञान ग्रहण कर, जिससे उस पर अंकुश रहे। (६) अभी, ऐ बालिके, तू ने प्रेम [का खेल] खेला नहीं है, इसलिए तू क्या जानती है कि वह कैसा दुर्हेल्य होता है? (७) वह ऐसा ही है, जैसे गगन पर तू दृष्टि करे और [तदनंतर] उसे नीची कर ले, यह समझ कर कि जब सूर्य को देखा भर जा सकता है, वह हाथों में नहीं आ सकता है। (८) जब तक तुझे प्रिय (पति) मिले, तू प्रेम की पीड़ा की साधना कर, (९) जिस प्रकार सीपी स्वाती नक्षत्र के मेघ [की बूँदों] के लिए समुद्र में जल के मध्य तप करती है।"

टिप्पणी—(१) सयान<सआण < सज्ञान=चतुर, समझदार। सरि=सदृश। पूज्<पुज्ज्<पूर्य्=पूरा पड़ना। (२) समाय<संमा>सम्+मा=अँटना, भर जाना। (३) करी<कलिआ<कलिका। जोर्<जोड्<योजय्=जोड़ना, संयुक्त करना। (४) तुरिअ<तुरग=घोड़ा। (५) मतँग<मत्ताङ्ग। (६) दुहेल<दुर्हेल्य (७) नाव्<नमय्=नमित करना। (८) पीउ<प्रिय=पति। (९) सीप< सुत्ति<शुक्ति। सेवाति<स्वाति=स्वाती नक्षत्र (का मेघ)। मँझ<मध्य।

इस तथा अगले दो छंदों में कवि ने प्रेम और वासना का अन्तर स्पष्ट किया है। जायसी के प्रेम में काम का बहिष्कार नहीं है, किन्तु वह काम सत्य से नियंत्रित होना चाहिए।

रहै न धाइ जोबन औ जीऊ। होइ तेहि बिरह अगिनि महँ घीऊ।
करवत सहौं होत दुइ आधा। सही न जाइ बिरह कै दाधा।
बिरहा सुभर समुँद असँभारा। भँवर मेलि जिउ लहरन्हि मारा।
बिरह नाग होइ सिर चढ़ि डसा। औ होइ अगिनि चँदन महँ बसा।
जोबन पंखी बिरह बिआधू। केहरि भयो कुरंगिनि खाधू।
कनक बान जोबन कत कीन्हा। औ तन कठिन बिरह दुख दीन्हा।
जोबन जलहि बिरह मसि छुआ। फूलहिं भँवर फरहिं भा सुवा।
जोबन चाँद उवा जस बिरह भएउ सँग राहु।
घटतहि घटत खीन भा कहैं न पारौं काहु ॥१७२॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा,] "ऐ धाय, [मेरे] यौवन और प्राण उस विरह की अग्नि में घी बन कर रह (रुक) नहीं रहे हैं। (२) भले ही करवत सह लिया जाए कि [शरीर] दो आधे-आधे टुकड़ों में हो जाता है, किन्तु विरह का दाह नहीं सहन किया जाता है। (३) विरह का सुभर (भला भाँति भरा हुआ) और न सँभल सकने वाला (मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला) समुद्र मेरे जीवन को भँवर में डाल कर लहरों से मार रहा है। (४) विरह नाग हो कर मेरे सिर पर चढ़ा हुआ मुझे डँस रहा है, और वह चंदन में भी अग्नि होकर बस रहा है, [जिससे चन्दन का लेप भी मेरे लिए दाहकारक हो गया है]। (५) मेरे यौवन-पक्षी के लिए वह विरह व्याध हो गया है; मेरी यौवन-कुरंगिनी के लिए वह उत्पीड़क केसरी बन गया है। (६) विधाता ने कनकवर्ण का यौवन क्यों किया और [उसके साथ ही] शरीर में कठिन विरह-

दुःख क्यों दिया ? (७) यौवन के जल को विरह मसि ने छू लिया है [और उनका शुभ्र वर्ण उसने मलिन कर दिया है], यौवन के फूल के लिए वह भ्रमर और उसके फल के लिए वह सुआ हो [कर आ] गया है। (८) यौवन जब चाँद के जैसा उदित हुआ, उसके साथ विरह राहु बन कर आ गया, (९) [इसी कारण] यह यौवन-चन्द्र घटते-घटते इतना क्षीण हो गया है कि किसी से कह भी नहीं सकती हूँ [कि उसे क्या हो गया है]।"

टिप्पणी--(१) धाइ<धात्री। (२) करवत<करपत्र=आरा, जिससे लोग मुक्ति लाभ के लिए तीर्थों में अपना शरीर चिरवाते थे। (३) असँभार=जो सँभाला न जा सकता हो। (५) बिआध<व्याध=बहेलिया। खाधू<खादुक (दे०)=दुःख दायक, कष्टकारक, उत्पीड़क। (६) बानि<वर्णिन्=वर्ण का। कत<कुतः=क्यों। (८) उव्<उग्ग्<उद्+गम्=उदय होना। (९) खीन<क्षीण। पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना।

नैन जो चक्र फिरै चहुँ ओराँ। चरचै धाइ समाइ न कोराँ।
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त मन डोल न भारी।
जेहि जिय महँ सत होइ पहारू। परै पहार न बाँकै बारू।
सती जो जरै पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ तौ सीतल आगी।
जोबन चाँद जौ चौदसि करा। बिरह कि चिनगि सोउ पुनि जरा।
पवन बंध होइ जोगी जती। काम बंध होइ कामिनि सती।
आउ बसंत फूल फुलवारी। देव बार सब जैहहिं बारी।
पुनि तुम्ह जाहु बसंत लै पूजि मनावहु देव।
जिउ पाइअ जग जनमे पिउ पाइअ कै सेव ॥१७३॥

अर्थ--(१) धाय ने जब मन में गुना कि कुमारी के नेत्र चक्र के जैसे चारों ओर फिर रहे हैं, और [अपने] कोरकों में नहीं समा रहे हैं, (२) [तो] उसने कहा, "ऐ बालिके, यदि प्रेम उत्पन्न हुआ है, तो तू सत्य से अपने भारी मन को बाँध, जिससे वह चंचल न हो। (३) जिसके जी में सत्य का पहरुआ रहता है, उसके ऊपर [संकटों का] पहाड़ भी गिरे तो उसका बाल बाँका नहीं होता है। (४) सती जो [चिता पर] जलती है, वह प्रिय (पति) से प्रेम के कारण जलती है, क्योंकि जब [उसके] हृदय में सत्य होता है, तब उसे अग्नि भी शीतल होती है। (५) यौवन यदि चतुर्दशी का चाँद है, तो चन्द्रमा भी तो विरह की चिनगारी से जलता है। (६) पवन को बाँधने वाला योगी-यती होता है, और जो काम को बाँधती है, वह कामिनी सती होती है। (७) फूलों और फुलवाड़ियों में [जब] वसंत आएगा, सभी बालिकाएँ महादेव के द्वार पर जाएँगी। (८) तू भी तब वसंत [की पूजा] ले कर जा और पूजा करके महादेव को प्रसन्न कर ; (९) जीव (प्राण) तो जगत् में जन्म लेने पर [स्वतः] प्राप्त होता है किन्तु प्रिय (पति) सेवा करके ही प्राप्त किया जाता है।"

टिप्पणी--(१) चरच्<चर्च्=मन में गुनना। कोर=पलकों की संधि। (२) उपन्<उत्+पत्=उत्पन्न होना। (३) पहारू<प्रहरिन्=पहरेदार, पहरुआ। बारु<बाल

=केश। (४) जौं<जउ<यदा=जब। तौ<तउ<तदा=तब। (५) जौं<जउ<यदि। (६) पवन बाँधना=प्राणायाम के द्वारा शरीर के पञ्च वायु को वश में करना। पञ्चवायु हैं: प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। (७) फूल<फुल्ल। बार<वार<द्वार।

इस छंद में प्रेम की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सत्य को बताया है, और इस सत्य से कवि का आशय पातिव्रत से है। इस सत्यनिष्ठ प्रेम में कवि काम का बहिष्कार नहीं करता है।

जब लगि अबधि चाह सो आई। दिन जुग बर बिरहिनि कहँ जाई।
नींद भूख अह निसि गै दोऊ। हिएँ माझ जस कलपै कोऊ।
रोवहिं रोवँ लागे जनु चाँटें। सोतहि सोत बेधे बिख काँटे।
दगध कराह जरै सब जीऊ। बेगि न आउ मलैगिरि पीऊ।
कवन देव कहँ जाइ परासौं। जेहि सुमेरु हिय लाइ गरा सौं।
गुपुत जो फल साँसहि परगटे। अब होइ सुभर चहहिं पुनि घटे।
भए सँजोग जौं रे अस मरना। भोगी गएँ भोग का करना।
जोबन चंचल ढीठ है करै निकाजहिं काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै करि जोबन महँ लाज ॥१७४॥

अर्थ--(१) जब तक वह [प्रिय से मिलने की] अवधि आना चाहती थी--आ रही थी--विरहिणी (पद्मावती) को एक-एक दिन एक-एक युग से भी अधिक हो कर जा (बीत) रहा था। (२) दिन और रात की भूख और निद्रा दोनो चले गए थे, और उसे ऐसा लग रहा था जैसे हृदय में कोई कतरनी चला रहा हो। (३) उसके रोम-रोम में मानो चींटे लग (काट) रहे थे, और एक-एक प्रस्वेद-स्रोत में [जैसे] विष-कण्टक बिंध (चुभ) रहे थे। (४) [वह कह उठती,] "मेरा समस्त जीव दाह के कड़ाहे में जल रहा है, हे मलयगिरि (चंदन) [तुल्य शीतलता प्रदान करने वाले] प्रिय, शीघ्र ही न आ जाओ! (५) मैं किस देवता [के पास जा कर उस] को परसूँ (छूऊँ) जिससे [माला के] सुमेरु [सदृश प्रिय] को गले के साथ ही हृदय से लगाऊँ (उसका आलिंगन करूँ)? (६) [यौवन के] जो गुप्त फल सांश रूप में [कभी] प्रकट हुए थे, वे भली-भाँति भरपूर हो कर अब पुनः घटना चाहते हैं। (७) यदि [यौवन का] संयोग होने पर इसी प्रकार से मरना हुआ, तो भोगी (शरीर) के चले जाने (समाप्त होने) के बाद [उस यौवन का] भोग ही क्या होगा?" (८) [जायसी कहते हैं,] यौवन चंचल और धृष्ट है, और अकरणीय कार्य ही करता है [कराता] है, (९) [इसलिए] वह कुलवन्ती धन्य है जो यौवन में लज्जा धारण कर कुल [की मर्यादाओं] को धारण किए रहती है।

टिप्पणी--(१) बर<वर<वरम्<अपेक्षाकृत अधिक। (२) कलप्<क्लृप् =कुतरना, काटना। (३) चाँट=चींटा। सोत<स्रोत=रोमकूप। (४) कराह<कडाह<कटाह=कड़ाहा। (५) परास्<परस्<स्पृश्=स्पर्श करना। सुमेरु= माला की बीच की मणि जो हृदय पर लटकती रहती है। गर<गल=गला, कंठ।

सौं<सम्म्=साथ । (६) सांस<संस<सांश=अंश रूप में । सुभर = भरे-पूरे । (८) ढीठ<धृष्ट=प्रगल्भ ।

तेहि बियोग हीरामनि आवा । पदुमावति जानहुँ जिउ पावा ।
कंठि लागि सो हौसर रोई । अधिक मोह जो मिलै बिछोई ।
आगि बुझी दुख हियँ जो गँभीरू । नैनन्ह आइ चुवा होइ नीरू ।
रही रोइ जब पदुमिनि रानी । हँसि पूँछहिं सब सखी सयानी ।
मिले रहस चाहिअ भा दूना । कत रोइअ जौं मिलै बिछूना ।
तेहि क उतर पदुमावति कहा । बिछुरन दुक्ख हिएँ भरि रहा ।
मिला जो आइ हिएँ सुख भरा । वह दुख नैन नीर होइ ढरा ।
बिछुरंता जब भेंटिऐ सो जानै जेहि नेहु ।
सुक्ख सुहेला उग्गवइ दुक्ख झरै जेउँ मेहु ॥१७५॥

अर्थ--(१) [पद्मावती की] उसी वियोग की अवस्था में हीरामणि आ गया । [उसके आने से] पदमावती ने मानो जीव (जीवन) प्राप्त किया हो (वह ऐसी प्रसन्न हुई) । (२) वह उससे गले लग कर हौसले (उमंग?) के साथ रोई, क्योंकि कोई बिछुड़ा हुआ जब मिलता है, तब मोह (स्नेह) अधिक होता है । (३) जब उस के मन की आग बुझी, तब जो गंभीर दुःख हृदय में था, वह नेत्रों में आकर आँसू बन कर चुआ । (४) जब पद्मिनी रानी रो चुकी, तब सभी सयानी सखियाँ हँसकर उससे पूछने लगीं, (५) "[हे रानी] मिलने पर हर्ष दूना होना चाहिए था, तब आप क्यों बिछुड़े हुए के मिलने पर रोती हैं ?" (६) इसका उत्तर पद्मावती ने दिया, "बिछुड़ने का दुःख हृदय में [पहले से] भरा ही था, जब [बिछुड़ा हुआ] आकर मिला, हृदय में सुख भर गया और तब [दुःख को वहाँ से हटना पड़ा और] वह दुःख नेत्रों से आँसू बन कर गिरने लगा । (८) बिछुड़े को जब गले से लगाइए, [तब जो दशा होती है] उसे वही जानता है जिसके [हृदय में] स्नेह होता है ; (९) जब सुख का सुहेल (अगस्त्य?) उदित होता है, तब दुःख इस प्रकार [नेत्रों से] झड़ जाता है जैसे मेंह ।"

टिप्पणी--(२) हौसर<हौसलः (फ़ा०)(?)=उमंग, अरमान । (३) चुव् <श्चुत्=चूना, टपकना । (४) सयान<सआण<सज्ञान=समझदार, चतुर । (५) रहस<रभस् = हर्ष । बिछूना<विच्छिण्ण<विच्छिन्न (?) =अलग किया हुआ । (८) भेंट्<भिट्ट (दे०) = भेंटना, गले मिलना । (९) सुहेल(अ०) =एक नक्षत्र जिसके उदय होने पर वर्षा की समाप्ति हो जाती है (दे० ४७५.५, ४७५.६, ६२९.३) । उग्गव्<उद् + गम्=ऊपर आना, निकलना । झर्<क्षर्=टपकना, चूना, गिरना ।

पुनि रानी हँसि कूसल पूँछा । कत गवनेहु पिंजर कै छूँछा ।
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू । छाज न पंखिहि पिंजर ठाटू ।
जौं भा पंख कहाँ थिर रहना । चाहै उड़ा पंखि जौं डहना ।
पिंजर महँ जो परेवा घेरा । आइ मँजारि कीन्ह तहँ फेरा ।
देवसेक आइ हाथ पै मेला । तेहि डर बनोबास कहँ खेला ।

तहाँ बिआध जाइ नर साँधा । छूट न पाव मीचु कर बाँधा ।
ओइँ धरि बेचा बाँभन हाथाँ । जंबू दीप गएउँ तेहि साथाँ ।
तहाँ चित्रगढ चितउर चित्रसेनि कर राज ।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ आपु कीन्ह सिव साज ॥१७६॥

अर्थ--(१) तदनंतर रानी (पद्मावती) ने हँसकर [हीरामणि से उसका] कुशल पूछा, और कहा, "तुम पिंजड़े को खाली करके क्यों चले गए?" (२) [हीरामणि ने उत्तर दिया,] "हे रानी, तुम युग-युग तक सुख के पाट (सिंहासन) पर रहो ; पक्षी को पिंजड़े का ठाठ शोभा नहीं देता है। (३) जब पंखे हुए तो स्थिर रूप से [कहीं] रहने की क्या बात ? पक्षी उड़ना चाहता है जब डैने हो जाते हैं। (४) पिंजड़े में जब तुमने [इस] पारावत (पक्षी) को घेर रक्खा था, वहाँ मार्जारी ने आकर चक्कर लगाया। (५) एक दिन हो न हो वह हाथ भी डाल देगी, इसी डर से मैं बनवास के लिए क्रीड़ापूर्वक चला गया। (६) किन्तु वहाँ व्याध ने आकर लग्गी लगाई, [क्योंकि] मृत्यु ने जिसको बाँध रक्खा है, वह बच नहीं सकता है। (७) उस व्याध ने मुझे पकड़ कर एक ब्राह्मण के हाथ बेंच दिया, और मैं उसके साथ जम्बू दीप चला गया। (८) वहाँ पर एक विचित्र (सुंदर) गढ़ चित्तौर है जिसमें चित्रसेन राज्य करता था ; (९) उसने पुत्र का तिलक किया और स्वयं उसने शिव-सायुज्य लाभ किया।"

टिप्पणी--(१) छूछा<छुच्छ<तुच्छ=खाली। (२) पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा, सिंहासन। छाज्<छज्ज=शोभना, शोभित होना। ठाठ=ठट्टर। (३) डहन<डयन=पंखा। (४) परेवा<पारेवय<पारावत=पक्षी। मँजारी< मार्जारी=बिल्ली। (५) मेल<मेलय्=डालना। खेल=क्रीड़ा या कौतुक पूर्वक जाना। (६) नर=नरकुल, बाँस की वे कमाचियाँ जिन्हें जोड़ कर बहेलिया लग्गी बनाता है (दे० 'बिहार पीज़ेंट लाइफ', पृ० ८०)। साँध्<सं+धा=लगाना, जोड़ना। (८) चित्र=विचित्र (९) टीका<तिलक। सिवसाज=शिव-सायुज्य--साज्< सज्ज्<सञ्ज=आलिंगन करना। (दे० ७९.१ टिप्पणी)

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ । राजा रतनसेनि ओहि नाऊँ ।
का बरनौं धनि देस दियारा । जहँ अस नग उपना उजियारा ।
धनि माता धनि पिता बखाना । जेहिं कें बंस अंस अस आना ।
लखन बतीसौ कुल निरमरा । बरनि न जाइ रूप औ करा ।
ओइँ हौं लीन्ह अहा अस भागू । चाहै सोनहि मिला सोहागू ।
सो नग देखि इंछ भै मोरी । है यह रतन पदारथ जोरी ।
है ससि जोग इहै पै भानू । तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू ।
कहाँ रतन रतनाकर कंचन कहाँ सुमेरु ।
दैय जौं जोरी दुहुँ लिखी मिलै सो कवनेहु फेर ॥१७७॥

अर्थ--"(१) जो राजा पिता के स्थान पर [गद्दी पर] बैठा, उसका नाम राजा रत्नसेन है। (२) उस देश-प्रदेश का मैं क्या वर्णन करूँ ? वह धन्य है जहाँ ऐसा उज्ज्वल नग उत्पन्न हुआ। (३) उसकी माता धन्य है और पिता धन्य बखाना (प्रशंसित) है,

जिसके वंश में [विधाता के द्वारा] ऐसा अंश लाया गया। (४) वह बत्तीस लक्षणों का और निर्मल कुल का है। उसके रूप और उसकी कला (कान्ति) का वर्णन नहीं करते बनता है। (५) उसी ने मुझको [मोल] ले लिया, मेरा ऐसा भाग्य था, क्योंकि [तुझ] में सोने सुहागा (सौभाग्य) मिलना था। (६) उस नग (पुरुष) को देख कर मेरी इच्छा हुई कि यह रत्न (रत्नसेन) पदार्थ की [तुम्हारी] जोड़ी का है, (७) [तुम] शशि (प्रेमिका) के योग्य हो न हो, यही भानु (प्रेमी) है, [इसलिए] वहाँ मैंने तुम्हारा बखान (वर्णन) किया। (८) रत्न कहाँ तो रत्नाकर (समुद्र) में होता है, और कंचन कहाँ तो सुमेरु पर होता है, (९) किन्तु दैव ने यदि दोनों ही की जोड़ी [दोनों के भाग्य में] लिख दी है, तो वह (जोड़ी) किसी न किसी फेरे (प्रकार) से मिलेगी ही।"

टिप्पणी--(२) दिआर<दियार [अ०]=प्रदेश। उपत्<उत्+पत्=उत्पन्न होना। उजिआर<उज्ज्वल। (३) बखान्<वक्खाण्<व्याख्यानम्=वर्णन करना, प्रशंसा करना। (४) करा<कला=कान्ति। (६) इंछ<इच्छा।

सुनि कै बिरह चिनगि ओहि परी। रतन पाव जौं कंचन करी।
कठिन पेम बिरहा दुख भारी। राज छाड़ि भा जोगि भिखारी।
मालति लागि भँवर जस होई। होइ बाउर निसरा बुधि खोई।
कहेसि पतंग होइ धँसि लेऊँ। सिंघल दीप जाइ जिउ देऊँ।
पुनि ओहि कोउ न छाड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला।
औरु गनै को संग सहाई। महादेव मेढ़ मेला जाई।
सूरुज परस दरस की ताईं। चितवै चाँद चकोर कि नाईं।
तुम्ह बारीं रस भोग जेहि कँवलहि जस अरघानि।
तस सूरुज परगासि कै भँवर मिलाएउँ आनि ॥१७८॥

अर्थ--(१) "[तुम्हारा वह बखान] सुनकर उसके मन में विरह की चिनगारी पड़ गई [और वह रत्न (रत्नसेन) कामना करने लगा] कि तुम कंचन-कलिका उसे प्राप्त हो। (२) अतः वह कठिन प्रेम के भारी विरह दुःख से [ऐसा अभिभूत हुआ कि] राज्य छोड़ कर योगी-भिखारी हो गया। (३) जिस प्रकार मालती के लिए भ्रमर (बावला) होता है, उसी प्रकार वह भी [तुम्हारे लिए] बावला होकर और बुद्धि गँवा कर निकल पड़ा। (४) उसने कहा, "मैं पतिंगा बन कर धँसूँगा और सिंहल द्वीप जा कर [उस रूप के दीपक पर] अपने प्राण दूँगा।" (५) तदनंतर कोई उसे अकेला नहीं छोड़ रहा था और सोलह सहस्र कुमार उसके चेले (अनुचर) हुए। (६) उसके और साथियों तथा सहायकों को कौन गिने? उन्होंने महादेव के मठ में डेरा डाल दिया है। (७) वह सूर्य (प्रेमी) पारस (प्रेमिका) के दर्शन के लिए उसी भाँति दृष्टि लगाए हुए है जैसे चकोर चंद्रमा के लिए लगाए रहता है। (८) [ऐ बालिके,] तुम वाटिका में जैसा रस-भोग है, और तुम कमलिनी में जैसी सुगंध है, (९) उसी के अनुरूप भ्रमर लाकर और उसी के अनुरूप सूर्य प्रकाशित कर मैंने [तुमसे] ला मिलाया है।"

टिप्पणी--(१) करी<कलिआ<कलिका। (३) मालती-भ्रमर : प्रेमिका और प्रेमी के प्रतीक हैं। बाउर<वाउल+वातूल=वातग्रस्त, बावला। (४) पतिंग

होइ धसि लेऊँ : पतिंगे भूमि-विवरों में रहते हैं। (५) चेला<चेड<चेट=चाकर, शिष्य। (६) मेल्<मेलय्=डालना, पड़ाव करना। (७) परस<स्पर्श=स्पर्शमणि, जिसके स्पर्श से लोहा भी सोना बनता माना जाता था। (८) जेह<यथा=जैसा। अरघानि<आघ्राण=सुगंध । (९) वाटिका-भ्रमर तथा कमलिनी-सूर्य प्रेमिका और प्रेमी के प्रतीक हैं।

हीरामनि जौं कही रस बाता। सुनि कै रतन पदारथ राता।
जस सूरुज देखत होइ ओपा। तस भा बिरह काम दल कोपा।
पै सुनि जोगी केर बखानू। पदुमावति मन भा अभिमानू।
कंचन जौं कसिऔ कै ताता। तब जानिअ दहुँ पीत कि राता।
कंचन करी न काँचहि लोभा। जौं नग होइ तौ पावै सोभा।
नग कर मरम सो जरिया जाना। जरै जो अस नग हीर पखाना।
को अस हाथ सिंघ मुख घाला। को यह बात पिता सौं चाला।
सरग इंद्र डरि काँपै बासुकि डरै पतार।
कहाँ अैस बर प्रिथिमीं मोहिं जोग संसार ॥ १७६ ॥

अर्थ--(१) हीरामणि ने जब यह रस-वार्त्ता कही, तो 'रत्न' (रत्नसेन) का नाम सुन कर वह पदार्थ (पद्मावती) रक्त (प्रसन्न) हो गया। (२)जैसे [पदार्थ-हीरे में] सूर्य को देख कर ओप (द्युति) आ जाती है, उसी प्रकार उसमें विरह [उत्पन्न] हुआ और काम की सेना कुपित हो उठी। (३) किन्तु उस योगी (रत्नसेन) का बखान सुन कर पद्मावती के मन में अभिमान हुआ, (४) [और उसने अपने मन में कहा,] "कंचन यदि तप्त करके कसा जाए, तब जान पड़ता है कि वह पीला है या लाल, (५) कंचन-कलिका काँच पर नहीं लुब्ध होती है, यदि वह नग हो, तभी शोभा पाती है; (६) नग का मर्म तो जड़िया जानता है, जो इस प्रकार नग और हीरक पाषाण को जड़ता है। (७) फिर कौन इस प्रकार अपना हाथ सिंह के मुख में डालेगा--कौन यह [विवाह की] बात पिता के सम्मुख चलाएगा ? (८) [मेरे पिता से विवाह की बात चलाने में] स्वर्ग (आकाश) में इन्द्र डर से काँपता है, और पाताल में वासुकी डरता है, (९) तब भला पृथ्वी में ऐसा वर कहाँ है जो संसार में मेरे योग्य हो ?"

टिप्पणी--(१) जौं<जउ<यदा=जब । पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि। (३) बखान<वक्खाण<व्याख्यान=वर्णन, प्रशंसायुक्त वर्णन। (४) कस्<कष्=कसौटी पर परखना। (५) करी<कलिआ<कलिका। मध्ययुग में कंचन की कलिका बना कर उसके बीच में बहुमूल्य पत्थर और हीरे जड़ने का बहुत प्रचलन था। तौ<तउ<तदा=तब। (६) पखान<पाषाण=बहुमूल्य पत्थर। (७) घाल्<घल्ल [दे०]=डालना।

तूँ रानी ससि कंचन करा। वह नग रतन सूर निरमरा।
बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।
आगि बुझाइ ढोइ जल काढ़ै। यह न बुझाइ आगि असि बाढ़ै।
बिरह कि आगि सूर नहिं टिका। राति हुँ दिवस जरा औ धिका।

खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा । थिर न रहै तेहि आगि अपारा ।
धनि सो जीव दगध इमि सहा । तैस जरै नहिं दोसर कहा ।
सुलुगि सुलुगि भीतर होइ स्यामा । परगट होइ न कहा दुख नामा ।
काह कहौं मैं ओहि कह जेइ दुख कीन्ह अमेंटा ।
तेहि दिन आगि करौं यह बाहर होइ जेही दिन भेंट ॥१८०॥

अर्थ--(१) [हीरामणि ने कहा,] "ऐ रानी, तू शशि [जिस प्रकार] कंचन की कला (कान्ति) की है, [उसी प्रकार] वह सूर्य निर्मल रत्न नग है (२) विरह और वज्राग्नि में क्या कोई अन्तर होता है ? आग यदि [किसी पदार्थ को] छू लेती है तो वह जल जाता है। (३) [फिर भी अंतर दोनों में यह है कि] यदि जल ढो-ढो कर [कुएँ से] निकाला [और उस पर डाला] जाए तो आग तो बुझ जाती है किन्तु यह विरह ऐसी आग है कि बढ़ने पर बुझती नहीं। (४) विरह की अग्नि में सूर्य भी नहीं टिक (ठहर) सका, वह रात-दिन जलता और तप्त होता रहता है। (५) वह एक क्षण आकाश को तो दूसरे क्षण पाताल को जाता है, [इस प्रकार] उस अपार अग्नि [के दाह] में वह स्थिर नहीं रह पाता है। (६) वह जीव धन्य है जो इस प्रकार दाह सहता है, और इस प्रकार जलता है कि अन्य कुछ कहता (चाहता) भी नहीं है। (७) वह भीतर ही भीतर सुलग-सुलग कर [कोयले की भाँति] श्याम वर्ण का हो जाता है, किन्तु खुल कर वह उस (अपने) दुःख का नाम भी नहीं कहता है। (८) [तुम्हारे उस विरही ने इतना ही कहा है,] 'मैं उसके लिए क्या (कौन सा संदेश) कहूँ जिसने यह अमिट दुःख किया (दिया) है ? (९) [अपने हृदय की] यह आग मैं उसी दिन [शब्दों के रूप में] बाहर करूँगा जिस दिन उससे मिलना होगा।'

टिप्पणी--(१) करा<कला। (२) बजागि<वज्राग्नि=वज्र सदृश कठोर =अग्नि। (३) बुझ<विधम्=बुझना। काठ्<कड्ढ्<कृष्=खींचना, निकालना। (५) सरग<स्वर्ग=आकाश। (६) तैस<तइस<तादृश=वैसा। (७) सुलुग<सुलग्ग<सुलग्न=अच्छी तरह से लगा हुआ। (९) भेंट<भिट्ट=मिलना।

हीरामनि जौं कही रस बाता । पाएउ पान भएउ मुख राता ।
चला सुआ रानी तब कहा । भा जो परावा सो कैसें रहा ।
जो नित चलै सँवारै पाँखा । आजु जो रहा कालिह को राखा ।
न जनौं आजु कहाँ दहुँ उवा । आएहु मिलै चलेहु मिलि सुवा ।
मिलि कै बिछुरन मरन कै आना । कत आएहु जौं चलेहु निदाना ।
अनु रानी हौं रहतेउँ राँधा । कैसें रहौं बचा कर बाँधा ।
ताकरि दिस्टि अैस तुम्ह सेवा । जैस कूँज मन सहज परेवा ।
बसै मीन जल धरती अंबा बिरिख अकास ।
जौं रे पिरीति दुहुन महँ अंत होहिं एक पास ॥१८१॥

अर्थ--(१) हीरामणि ने जब यह रस-वार्त्ता कह दी, उसने पद्मावती से [पुरस्कार का] पान प्राप्त किया जिससे उसका मुख लाल हुआ। (२) जब वह [पुनः] चलने को हुआ, तब रानी (पद्मावती) ने कहा, "जो [अन्ततः] पराया हो गया, वह कैसे

(क्यों) रहने लगा ? (३) जो नित्य ही चलने के लिए अपने पंखों को सँवारता रहता हो, वह आज रह भी गया तो कल उसे कौन रख (रोक) सकता है ? (४) आज का दिन न जाने कहाँ उदित हुआ कि तुम मिलने आए और मिल कर जा भी रहे हो ! (५) मिलकर बिछुड़ना मरण की आन (उत्कटता) का होता है; तुम आए ही क्यों यदि इस प्रकार जा रहे हो ?" (६) सुए ने कहा, "हे रानी, अवश्य, मैं तुम्हारे पास ही रहता किन्तु वचनवद्ध होने के कारण कैसे रहूँ ? (७) उसकी दृष्टि इस प्रकार तुम्हें से रही (तुम पर लगी) है जैसे पक्षी (नर क्रौंच) के लिए स्वाभाविक रीति से क्रौंची का मन लगा रहता है। (८) मछली जल में धरती पर निवास करती है और आम का फल वृक्ष में आकाश में लगता है, (९) किन्तु यदि दोनों में प्रीति होती है तो वे अन्त में (चुर-पक कर ही सही) एक-पास हो जाते हैं।"

टिप्पणी--(१) बात<वत्ता<वार्ता। (२) पराबा<परायग=परकीय, पराया। (३) सँवार्<समारचय् = दुरुस्त करना, ठीक करना। (४) उव्<उग्ग् = उद्+गम्= उदय होना, निकलना। (५) आन<आण<आज्ञा=आदेश, शासन। (६) अनु= अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। राँध<राद्ध=प्राप्त किया हुआ,पास का। (७) कूंज <कुंच<क्रौञ्च। परेवा<पारेवय<पारावत = कबूतर पक्षी। (८-९) आम्र और मीन की प्रीति इस रूप में चरितार्थ होती बताई जाती है कि मछली को पकाते समय उसमें आम्र की खटाई डाली जाती है और दोनों एक साथ आग पर चढ़ते हैं।

आवा सुवा बैठ जहँ जोगी। मारग नैन वियोग बियोगी।
आइ पेम रस कहा सँदेसू। गोरख मिला मिला उपदेसू।
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। लीन्ह अदेस आदि कहँ दीन्हा।
सबदि एक होइ कहा अकेला। गुरु जस भृंगि फनिग जस चेला।
भृंगि ओहि पंखिहि पै लेई। एकहिं बार छुएँ जिउ देई।
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ नै काया।
होइ अमर अस मरि कै जिया। भँवर कँवल मिलि कै मधु पिया।
आवै रितू बसंत जब तब मधुकर तब बासु
जोगी जोग जो इमि करहि सिद्धि समापति तासु ॥१८२॥

अर्थ--(१) अब सुआ (हीरामणि) वहाँ आया, जहाँ पर योगी (रत्नसेन) बैठा हुआ था, जहाँ वह वियोग का वियोगी [प्रेमिका के] मार्ग में नेत्र लगाए हुए था। (२) आकर उसने उससे प्रेम-रस का सन्देश [देते हुए] कहा, "तुम्हारा गोरख (गुरु) मिला था और उसका उपदेश [तुम्हारे लिए] प्राप्त हो गया है। (३) तुमको गुरु ने बहुत मया की है। उन्होंने तुम्हारा आदेश लिया और उसे आदि (गुरु) (गोरख ?) को दे दिया। (४) एक-शब्दी होकर उन्होंने अकेला यही कहा, "गुरु भृंग जैसा और चेला फनिग जैसा होता है; (५) भृंग उस पाँखी को हो न हो ले लेता है और एक ही बार के स्पर्श में उसे जीवन दान कर देता है। (६) उसको गुरु (भृंग) ऐसी मया करता है कि नया अवतार (जन्म) और नई काया देता है। (७) इस प्रकार वह फनिग जब मर कर जीवित होता है, अमर हो जाता है, और भ्रमर [होकर] कमलिनी से मिलता

और मधुपान करता है। (८) जब वसंत ऋतु आती है और उसकी पंचमी--श्री पंचमी होती है, तब मधुकर आता है [और उसका आना सार्थक होता है], तभी पुष्प में (पद्मिनी में भी) वास (वासना) आती है। (९) जो योगी इस प्रकार (यह जानकर) योग (उद्योग) करता है, उसे ही उसकी समाप्ति पर सिद्धि संप्राप्त होती है।"

टिप्पणी--(२) गोरख = गोरखनाथ, जो इस रचना में गुरु के प्रतीक के रूप में प्रायः आए हैं। (३) मया=स्नेहपूर्ण कृपा। आदि = प्रथम, सर्वप्रमुख। (४) सबदि एक : एक-शब्दी : एक समय में एक ही बात बोलने का नियम किए रहने वाला। फनिग<फदिङ्गा=घास आदि की पत्तियाँ खाने वाला कीट-विशेष। (५) पंखि< पक्षिन् + पंखोंवाला। (७) माया = स्नेहपूर्ण कृपा। (८) समाप्=प्राप्त होना।

जायसी ने मरकर जीने को ही सर्वोत्कृष्ट साधन माना है और स्थान-स्थान पर इसका उपदेश किया है। भृंग-फनिग की उक्ति इसको ही चरितार्थ करने के लिए कवि ने इस छंद में प्रस्तुत की है। वसंत खंड

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचमी पूजी आई।
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ।
पदुमावति सब सखीं हँकारी। जावँत सिंघल दीप की बारीं।
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ।
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते।
अवधि आइ सो पूजी जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव मढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह ॥१८३॥

अर्थ--(१) योगी रत्नसेन ने 'दैव' 'दैव' करके शिशिर की ऋतु व्यतीत की, तब श्रीपंचमी आ पहुँची। (२) इस नवल (वसंत) ऋतु में प्रकृति में एक उल्लास छा गया, और धूप और छाया--दोनों ही--क्षण भर को अच्छे नहीं लगते थे [न धूप में देर तक रहा जा सकता था और न छाया में ही देर तक रहना अच्छा लगता था]। (३) पद्मावती ने समस्त सखियों को, जितनी भी सिंहल द्वीप की बालिकाएँ थीं, बुलाया और कहा, (४) "आज नवल ऋतुराज वसंत है और पंचमी हो रही है, जिसका उत्सव समस्त जगत् कर रहा है। (५) वनस्पतियों ने नवीन शृंगार किया है, और पलाशों ने सिर पर सिन्दूर (सिन्दूरी पुष्पों) को धारण किया है। (६) विकसित होकर बहुत सी सुगंधियों के पुष्प फूले हुए हैं और उनके चारों ओर भ्रमर आ-आकर लुब्ध हो रहे हैं। (७) पीले पत्ते, जो वृक्षों के दुःख-स्वरूप थे, अंतिम पत्र तक झड़ गए हैं और [नवीन] पल्लव, जो उनके सुख-स्वरूप हैं, राते (लाल) हो-हो कर निकल आए हैं। (८) वह अवधि आकर पूरी हो गई है जिसकी मन में आकांक्षा की थी; (९) [अतः] आज महादेव के मठ में मेरे साथ चलो, मैं वहाँ महादेव को [वासंती] पूजा भेंट करना चाहती हूँ।"

टिप्पणी--(१) सिरी पंचमी<श्री पञ्चमी = माघ के शुक्ल पक्ष की पंचमी, वसंत पंचमी। इसका आगमन कवि ने प्रथम चरण में शिशिर के बाद कहा है, जब

कि इसे हेमंत के बाद कहना चाहिए था। शिशिर और हेमंत की यह भूल कवि ने आगे ऋतु-वर्णन में भी की है। [दे० छंद ३३९ तथा ३४०]। पूज् <पुज्ज <पूरय् = पूरा होना, पूरा पड़ना। (२) हुलास <उल्लास। (३) हँकार <हक्कार <आ + कारय् = बुलाना। जांवत् <यावत्। बारी <बालिका। (५) बनाप्पति <वनप्फति < वनस्पति। परास <पलाश = ढाक। (७) पिअर <पीअडा <पीत = पीला। निपात < निष्पत्र = पत्रहीन। पालौ = पल्लव। उपन् <उत् + पत् = उगना, पैदा होना। रात <रत्त <रक्त = लाल। (९) मढ़ <मठ। गोहन = साथ।

फिरी आन रितु बाजन बाजे। औ सिंगार सब बारिन्ह साजे।
कँवल करी पदुमावति रानी। होइ मालति जानहु बिगसानी।
तारा मँडर पहिर भल चोला। पहिरै ससि जस नखत अमोला।
सखी कमोद सहस दस संगा। सबै सुगंध चढ़ाए अंगा।
सब राजा रायन्ह कै बारीं। बरन बरन पहिरें सब सारीं।
सबै सुरूप पदुमिनी जाती। पान फूल सेंदुर सब राती।
करहिं कुरेरैं सुरँग रँगीलीं। औ चोवा चंदन सब गीलीं।
चहुँ दिसि रही बासना फुलवारी असि फूलि।
वह बसंत सौं भूली गा बसंत ओहिं भूलि ॥१८४॥

अर्थ--(१) पद्मावती की आज्ञा फिरी, ऋतु-वाद्य (डफ आदि) बज उठे और समस्त बालिकाओं ने शृंगार सज (कर) लिए। (२) कमल की कलिका [के सदृश] जो पद्मावती रानी थी, वह मानो मालती होकर खिल उठी। (३) उसने तारामंडल (सितारे टँके हुए एक वस्त्र) का जब भला चोला पहना [तब ऐसा प्रतीत हुआ] जैसे शशि ने अमूल्य नक्षत्रों को पहना हो। (४) दस सहस्र सखियाँ कुमुदिनियाँ (उस पद्मिनी के) साथ हुईं, और सभी ने अपने अंगों में सुगंध चढ़ा (पोत) ली। (५) वे सभी राजाओं और रायों की बालिकाएँ थीं और सबों ने रंग-रंग की साड़ियाँ पहन ली थीं। (६) सभी सुन्दरियाँ और पद्मिनी जाति की स्त्रियाँ थीं; वे पान-फूल-सिन्दूर से रंजित हुईं। (७) सुन्दर रंगों से रँगी हुई और चोवा-चन्दन से सिक्त हुई वे सब की सब कुलेलें करने लगीं। (८) उनकी सुगंध (शरीरों की नैसर्गिक सुगन्ध तथा शरीर में लगाई हुई सुगन्ध) चारों ओर इस प्रकार [व्याप्त] हो रही मानो कोई पुष्पवाटिका फूली हुई हो। (९) [इस प्रकार] वह वसंत से भूल (लुब्ध हो) रही और वसंत उस से भूल (लुब्ध हो) रहा।

टिप्पणी--(१) आन <आण <आज्ञा = आदेश। बारीं = बालिका। (२) करी <कलिआ <कलिका। (३) तारामँडर <तारक-मंडल : सलमों--सितारों से टँका हुआ एक प्रकार का वस्त्र। (५) सारी <साडिआ <शाटिका = साड़ी। (७) कुरेर < कल्लोल (?) = क्रीड़ा। चोवा = अगुरु के रस को भपके द्वारा उतार कर तैयार किया गया एक सुगंधित द्रव्य। फुलवारी <फुल्लवाडिआ = पुष्पवाटिका।

भै अहानि पदुमावति चलीं। छतीस कुरी भै गोहने भलीं।
भै गौड़ी सँग पहिरि पटोरा। बाँभनि ठाउँ सहस अँग मोरा।
अगरवारिनि गज गवन करेई। बैसिनि पाव हंस गति देई।

चंदेलिनि ठवँकन्ह पगु ढारा। चली चौहानी होइ झनकारा।
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम मधु माँती।
बानिनि भल सेंदुर दै माँगा। कैथिनि चली समाइ न आँगा।
पटुइनि पहिरि सुरँग तन चोला। औ बरइनि मुख सुरस तँबोला।
चलीं पवनि सब गोहने फूल डालि लै हाथ।
बिस्वनाथ की पूजा पदुमावति के साथ ॥१८५॥

अर्थ--(१) आख्यान हो गया (प्रसिद्धि हो गई) कि पद्मावती चल पड़ी। छत्तीसों कुलों की भली स्त्रियाँ उसके साथ हुईं। (२) गौड़ी पटोर पहिन कर उसके साथ हुई; ब्राह्मणी एक सहस्र स्थानों पर अंग मोड़ रही थीं; (३) अग्रवालिन गज-गति से चल रही थी, और बैसिन हंस गति से पैर रख रही थी; (४) चन्देलिन ठमक-ठमक कर पैर रख रही थी, चौहानिन झनकार करती हुई चली; (५) सोनारिन सौभाग्य से शोभित होती हुई चली और कलवारिन प्रेम-मधु में मत्त चली; (६) बानिन भला सिन्दूर माँग में देकर चली और कायस्थिन ऐसी चली कि (फूली हुई) अंग न समाती थी; (७) पटुइन शरीर पर सुंदर रंग की चोली पहन कर चली और बरइन मुख में सुरस ताम्बूल लेकर [चली]। (८) [इस प्रकार] गोहन (संलग्नता) में समस्त पावनियाँ [भी] हाथों में विभिन्न फूलों की डालियाँ लेकर (९) विश्वनाथ (महादेव) की पूजा के लिए पद्मावती के साथ चलीं।

टिप्पणी--(१) अहानि<आख्यान+इका = किंवदन्ती, प्रसिद्धि। छत्तीस कुरी = छत्तीस कुलों (जातियों) की स्त्रियाँ : छत्तीस जातियों की यह सूची देश-काल-भेद से अलग-अलग मिलती है। गोहन = साथ, संलग्नता (७) चोल = कञ्चुकी, चोली। (८) पवनि = मंगल अवसरों पर उपहार-पुरस्कार पाने की अधिकारिणी जातियाँ। बनारसीदास जैन ने अपने अर्द्धकथानक (छंद २९) में इन की निम्नलिखित सूची दी है : सीसगर, दरजी, तमोली, रंगवाल, ग्वाल, बाढ़ही, संगतरास, तेली, धोबी, धुनिया, कंदोई, कहार, काछी, कलाल, कुलाल, मालोकुंदीगर, कागदी, किसानपट-बुनिया, चितेरा, बिंधेरा, बारी, लखेरा, ठठेरा, राज, पटुवा, छपरबंध, नाई, भार भुनिया, सुनार, लुहार, सिकलीगर, हवाईगर, धीवरा, चवाँर, येई, छत्तीस पौनिया। फूलडालि <फूलों की डलिया। [विवरण के लिए दे० बिहार पीज़ेंट लाइफ़, पृ० १०]।

कँवल सहाय चली फुलवारी। फर फूलन्ह कै इच्छा बारी।
आपु आपु महँ करहिं जोहारू। यह बसंत सब कर तेवहारू।
चहै मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेउ सब कोई।
फागु खेलि पुनि दाहब होली। सैंतब खेह उड़ाउब झोली।
आजु साज पुनि देवस न दूजा। खेलि बसंत लेहु दै पूजा।
भा आएसु पदुमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा।
तस हम कहँ होइहि रखवारी। पुनि हम कहाँ कहाँ यह बारी।
पुनि रे चलब घर आपुन पूजि बिसेसर देउ।
जेहिका होइ हो खेलना आजु खेलि हँसि लेउ ॥१८६॥

अर्थ--(१) कमलिनी (पद्मिनी) की सहायक यह फुलवाड़ी (सखियों की टोली) महादेव को पूजा चढ़ाने के लिए फलों-फूलों [को उतारने] की इच्छा करके वाटिका को चल पड़ी। (२) वे (सखियाँ) परस्पर जुहार कर रही थीं [और कह रही थीं,] "यह वसंत सभी (छोटे-बड़े) का त्योहार है। (३) यदि चाहती हो कि मनोरा और झूमक हो तो सब कोई फल-फूल ले लो। (४) फाग खेल कर हम होली जलाएँगी; [तदनंतर] हम धूल (राख) सैंतेंगी (इकट्ठा करेंगी) और [आपस में लगाने के लिए] उनकी झोलियाँ उठाएँगी। (५) आज ही का दिन [सब-कुछ करने] के लिए है, पुनः दूसरा दिवस न मिलेगा; [आज ही] वसंत खेल लो और]महादेव को] पूजा चढ़ा लो। (६) पद्मावती का आदेश हुआ है [कि हम आज ही यह सब कर लें]; पुनः हम आकर [इस वाटिका का] फेरा न कर सकेंगी। (७) [ससुराल जाने पर] हमारी ऐसी रखवाली की जाएगी, कि तब कहाँ हम होंगी और कहाँ यह वाटिका होगी! (८) तदनंतर हम अपने घर चलेंगी, जब विश्वेश्वर देव (शिव) की पूजा कर लेंगी; (९) अहो, जिस किसी को भी खेलना हो, आज खेल-हँस लो।

टिप्पणी--(१) सहाय = सहाय्यकर्त्ता। फुलवारी < फुल्लवाडिआ = पुष्प-वाटिका। आगे शिव की पूजा में इसी वाटिका के फलों-फूलों का उपयोग किया गया है। (२) जोहार = नमस्कार। (३) मनोरा < मन्द + ओल्ल < मन्दआर्द्र य: एक उत्सव जो स्त्रियों के द्वारा वर्षा के बीतने पर मनाया जाता है। झूमक झोम्बक: एक प्रकार का गीत जिसे गाते समय कुछ अंग मोड़े जाते हैं। (इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख आगे कार्त्तिक-वर्णन में छंद ३४८.६-७ में भी हुआ है) (४) फाग < फागु < फल्गु = वसंत का उत्सव। झोली < झोलिका = झोला, थैला। (६) आएसु < आदेश। (७) बारी < वाडिआ < वाटिका।

काहूँ गही आँब कै डारा। काहूँ फरी जाँबु अति झारा।
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर बड़हर कोइ न्यौंजी।
कोइ दारिउँ कोइ दाख सो खीरी। कोइ सदाफर तुरँज जँभीरी।
कोइ जैफर औ लौंग सुपारी। कोइ कमरख कोइ गुवा छुहारी।
कोइ बिजौर कोइ नरियर चूरी। कोइ अँबिलि कोइ महुव खजूरी।
कोइ हरपा रेउरी कसौंदा। कोइ अँवरा कोइ बेर करौंदा।
काहुँ गही केरा की घौरी। काहूँ हाथ परी निबकौरी।
काहूँ पाई निअरैं काहूँ कहँ गए दूरि।
काहूँ खेल भएउ बिख काहूँ अंब्रित मूरि ॥१८७॥

अर्थ--(१) [पूजा के लिए फलों को तोड़ने की इच्छा से[किसी ने आम की डाल पकड़ ली और किसी ने अति झाड़ (पत्तियों) वाली फली हुई जामुन [की]। (२) किसी ने नारंगी और किसी ने चिरौंजी की झाड़ [पकड़ ली] तो किसी ने कटहल, किसी ने बड़हल और किसी ने न्यौंजी [की]। (३) किसी ने दाडिम, किसी ने द्राक्षा और किसी ने खीरनी [की डाल पकड़ ली], तो किसी ने सदाफर, किसी ने तुरंज और किसी ने जँभीरी [की]। (४) किसी ने जायफल,

किसी ने लौंग, किसी ने सुपारी [की डाल पकड़ ली], तो किसी ने कमरख, किसी ने गुवा और किसी ने छुहाड़ी [की]। (५) किसी ने बिजौरा और किसी ने नारियल [की डाल] तोड़ ली, तो किसी ने इमली, किसी ने महुवा और किसी ने खजूर [की] (६) किसी ने हरपारेवड़ी और किसी ने कसौंदे [की डाल तोड़ ली], तो किसी ने आँवला, किसी ने बेर और किसी ने करौंदे [की]। (७) किसी ने केले की घौद पकड़ ली तो किसी के हाथ नीम की फली पड़ी (लगी)। (८) किसी ने निकट ही [अपने मनचाहे फल की डाल] पा ली तो किसी ने दूर जाने पर पाई; (९) किसी को [वह] खेल विष [तुल्य] हुआ तो किसी के लिए अमृत की मूल हुआ।

टिप्पणी--(१) झार<झाड<झाट = झाड़। (५) चूर<चूरय्<चूर्णय् = तोड़ना। (७) घौटी<घंओद<घृतोद = घौद, केले की फलियों का गुच्छा।

अंतिम दो पंक्तियों में लेखक ने फल-संग्रह के इस प्रसंग को मनुष्य की जीवन-साधना का एक रूप दे दिया है, जिसमें किसी को सुगमता से सफलता मिलती है तो किसी को कठिनाई से और किसी को आशातीत सफलता प्राप्त हो जाती है तो किसी को अपना सब कुछ गँवाना ही पड़ता है। तुल० कोई करै बेसाहना काहूकेर बिकाइ। कोई चला लाभ सौं कोई मूर गँवाइ॥ '(३७.८-९)

पुनि बीनहि सब फूल सहेली। जो जेहि आस पास रह बेलीं।
कोइ केवरा कोइ चंप नेवारी। कोइ केतुकि मालति फुलवारी।
कोइ सदबरग कुंद औ करनाँ। कोइ चँबेलि नागेसरि बरनाँ।
कोइ सो गुलाल सुदरसन कूजा। कोइ सोनजरद पाव भलि पूजा।
कोइ बोलसरि पुहुप बकौरी। कोइ रुपमाँजरि कोइ गुनगौरी।
कोइ सिंगारहार तिन्ह पाहाँ। कोइ सेवती कदम की छाहाँ।
कोइ चंदन फूलन्ह जनु फूली। कोइ अजान बीरौ तर भूली।
कोई फूल पाव कोइ पाती हाथ जेहि क जहँ आँट।
कोइ सिउँ हार चीर अरुझानी जहाँ छुवै तहँ काँट॥१८८॥

अर्थ--(१) तदनंतर [पद्मावती की] सब सहेलियाँ फूल बिनने लगीं; जो जिस फूल की आशा में थी, वह उसकी बेल के पास [जा] रही। (२) कोई केवड़ा, कोई चंपा, कोई नेवारी, कोई केतकी और कोई मालती को उस फुलवाड़ी में [चुनने लगी]। (३) कोई सतबरग, कोई कुंद, कोई करना, कोई चमेली, कोई नागेसरि और कोई बरना (वर्णा) [चुनने लगी]। (४) कोई गुल्लाला, कोई सुदर्शन, कोई कुब्जक और कोई सोनज़र्द को पूजा के लिए प्राप्त करने लगी। (५) कोई मौलिश्री, कोई गुलबकावली, कोई रूप-मंजरी, कोई गुनगौरी [प्राप्त करने लगी]। (६) कोई जो [वहाँ] हरसिंगार [के पेड़] थे, उनके पास पहुँच गई और कोई कदम्ब की छाया का सेवन करने लगी। (७) कोई चन्दन के फूलों से जैसे फूल सी उठी और कोई किसी अज्ञात विटप (अथवा अज्ञान विटप) के तले भूली रही। (८) किसी ने फूल पाए और किसी ने पत्तियाँ पाईं, जिसका हाथ जहाँ (जिस पर) भी पहुँच सका, (९) किन्तु कोई अपने हार और चीर के साथ किसी

कँटीली झाड़ से उलझ गई और जहाँ भी फूल छूने के लिए उसने हाथ बढ़ाए उसे काँटे ही मिले।

टिप्पणी--(१) बेली<वेली=लता, बेल। (२) फुलवारी<फुल्लवाडिआ< फुल्लवाटिका। (७) बीरौ<विडव<विटप=शाखा, वृक्ष। (८) पाती<पत्तिआ< पत्रिका। ऑट्=पहुँच सकना। (९) सिउँ<समम्=साथ। काँट<कण्ट।

इस छंद की भी अंतिम दो पंक्तियों में कवि ने उसी प्रकार का संकेत किया है जिस प्रकार का उसने पिछले छंद की अंतिम पंक्तियों में किया है।

फर फूलन्ह सब डारि अनाईं। झुंड बाँधि कै पंचमि गाईं।
बाजे ढोल दुंद औ भेरी। माँदर तूर झाँझ चहुँ फेरी।
संख सींग डफ संगम बाजे। बंसकारि महुवर सुर साजे।
औरु कहा जेत बाजन भले। भाँति भाँति सब बाजत चले।
रथन्ह चढ़ीं सब रूप सोहाईं। लै बसंत मढ़ मँडप सिधाईं।
नवल बसंत नवल वै बारीं। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।
खिनहिं चलहिं खिन चाँचरि होई। नाँच कोड भूला सब कोई।
सेंदुर खेह उठा तस गँगन भएउ सब रात।
राति सकल महि धरती रात बिरिख बन पात ॥१८६॥

अर्थ--(१) [इस प्रकार] उन्होंने फलों-फूलों की समस्त डालियों को अवनमित किया (झुकाया) [और उनसे फल-फूल लिए], [तदनंतर] उन्होंने समूह-बद्ध होकर श्रीपंचिमी के गीत गाए। (२) ढोल, दुंदुभी और भेरी (ढक्का) बज उठे, तथा मर्दल, तूर्य और झाँझ चारों ओर [बजे]। (३) शंख, सिंगे और डफ उनके साथ बजे और बाँसरी, महुवर ने सुर साजा, (४) और जितने भी अच्छे वाद्य होते हैं, वे सभी भाँति-भाँति से बजते हुए चले। (५) वे सभी सुन्दर रूप की [बालाएँ] रथों पर चढ़ीं और वसंत की पूजा ले करके [महादेव के] मठ-मंडप को चल पड़ीं। (६) नव वसंत था और वे बालाएँ नववयस्काएँ थीं; सिन्दूर और बुक्के की धमार होने लगी। (७) किसी क्षण, वे चलतीं तो किसी समय चाँचर गातीं, नृत्य और कौतुक में सब कोई [अपने-अपने को] भूल गयीं। (८) सिन्दूर की धूल इस प्रकार उठी कि समस्त आकाश रक्त (लाल) हो उठा, (९) समस्त मही-धरती रक्त वर्ण की हो गई, और वन के वृक्ष और पत्ते रक्त वर्ण के हो गए।

टिप्पणी--(१) ओनाव<अवनम्=अवनमित करना, झुकाना। (२) दुंद< दुन्दुभि (?)। मेरे 'जायसी ग्रन्थावली' संस्करण में पाठ 'डंड' था, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'दुंद' का सुझाव दिया है, जो अधिक संगत है। अन्यत्र भी इसी प्रकार 'दुंद' आया है: दुंद मृदंग मुर ढोलक बाजे। (६३९.७) (३) बंसकारि< वंशिका+डी=बाँसरी। (४) जेत<जेत्तिअ<यावत्=जितना। (५) मढ़<मठ। (६) बारी<बालिका। बुक्का [दे०]=मुष्टि; अभ्रक-चूर्ण जो कि मुट्ठी भर फेंका जाता है। (७) चाँचर<चञ्चरी<चर्चरी=वसंत का एक प्रसिद्ध गीत। कोड< कोड्ड [दे०]=कौतुक।

एहि बिधि खेलत सिंघल रानी । महादेव मढ़ जाइ तुलानी ।
सकल देवता देखैं लागे । दिस्टि पाप सब तिन्हके भागे ।
ये कबिलास सुनी आछरीं । कहँ हुत आईं परमेसरीं ।
कोई कहै पदुमिनीं आईं । कोइ कहै ससि नखत तराईं ।
कोई कहै फूल फुलवारी । भूलें सबै देखि सब बारीं ।
एक सुरूप औ सेंदुर सारे । जानहुँ दिया सकल महि बारे ।
मुरुछि परे जाँवत जे जोहे । जानहुँ मिरिग देवारी मोहे ।
कोई परा भँवर होइ बास लीन्ह जनु चाँप ।
कोइ पतंग भा दीपक होइ अधजर तन काँप ॥१६०॥

अर्थ--(१) इस प्रकार खेलती हुई सिंहल की रानी (पद्मावती) महादेव के मठ पर जा तुली (पहुँची)। (२) समस्त देवता उसे देखने लगे, और उनकी दृष्टि के समस्त पाप भग गए। (३) [वे कहने लगे,] "इन अप्सराओं को कैलास (शिवलोक) में सुन रक्खा था ; ये परमेश्वरियाँ [यहाँ] कहाँ से आ गईं ?" (४) कोई कहता, "ये पद्मिनियाँ आई हैं", कोई कहता, "ये शशि, नक्षत्र तथा तारिकाएँ हैं ; " (५) और कोई कहता, "फुलवाड़ी फूल उठी है।" इस प्रकार उन सब बालिकाओं को देख कर सब [अपने को] भूल बैठे। (६) वे सभी एक तो रूपवती थीं और दूसरे सिन्दूर लगाए हुए थीं, [इसलिए] ऐसी लगती थीं मानो वे सभी दीपक हों जो मही-तल पर जलाए हुए हों। (७) जितनों भी ने उन्हें देखा, वे मूर्च्छित हो गिरे, जैसे मृग दीपावली को देख कर मूर्च्छित हो गए हों। (८) कोई उस भ्रमर के [सदृश] पड़ा था जिसने मानो चम्पा सूँघ ली हो, (९) और कोई [मानो] दीपक का ऐसा पतिंगा हो रहा था जिसका शरीर अधजला होकर काँप रहा हो।

टिप्पणी--(१) तुल्=तुलना, पहुँचना । (३) कबिलास √ कैलास=शिवलोक : इन्द्र और उस की अप्सराएँ जायसी के शिवलोक में ही हैं (५३.८) । आछरि < अच्छरी < अप्सरस्=अप्सरा । (४) तराई < तारिका । (५) बारी < बालिका । (६) दिया < दीअअ < दीपक । बार् < वाल् < ज्वालय्=जलाना । (७) देवारी < दीपावली : मध्य युग में मृगों को पकड़ने का एक उपाय यह भी किया जाता था कि अँधेरे में दीपक जला कर उन्हें आकृष्ट किया जाता था।

इस छंद की दूसरी अर्धाली में पद्मावती के दर्शन से देवताओं के दृष्टि-पाप नष्ट होने की बात कही गई है, जिससे पद्मावती का सौन्दर्य अलौकिक सिद्ध होता है।

पदुमावति गै देव दुआरू । भीतर मँडप कीन्ह पैसारू ।
देवहि संसौ भा जिय केरा । भागौं केहि दिसि मंडप घेरा ।
एक जोहार कीन्ह औ दूजा । तिसरैं आइ चढ़ाएन्हि पूजा ।
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा । चंदन अगर देव नहवावा ।
भरि सेंदुर आगें होइ खरी । परसि देव औ पाएन्ह परी ।
औरु सहेलीं सबै बियाहीं । मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं ।
हौं निरगुनि जेइँ कीन्ह न सेवा । गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा ।

बर सँजोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन इंछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि ॥१६१॥

अर्थ--(१) पद्मावती [तब] महादेव के]मंडप के] द्वार पर गई, और मंडप के भीतर उसने प्रवेश किया। (२) महादेव को [उस मंडली को देख कर] प्राणों का संशय होने लगा, और वे सोचने लगे कि किधर भागें, क्योंकि मंडप [उसके द्वारा] घिरा हुआ था। (३) [पद्मावती] ने एक बार प्रणाम किया, फिर दूसरी बार किया, और [तदनंतर] तीसरी बार आकर पूजा चढ़ाई। (४) सारा मंडप [पद्मावती ने] फल-फूलों से भरा दिया, और महादेव को चंदन और अगुरु से नहलाया। (५) [तदनंतर] सिन्दूर लगा कर वह उनके आगे खड़ी हो गई, और [उनका स्पर्श कर उनके पैर पर गिर पड़ी। (६) [महादेव से वह निवेदन करने लगी,] "मेरी और सहेलियाँ सब ब्याह उठी हैं, मुझ को ही, हे देव, कहीं वर नहीं है; (७) मैं अवश्य ही निर्गुणी (दोषयुक्त) हूँ जिसने तुम्हारी सेवा नहीं की, किन्तु तुम तो महादेव, गुणी-निर्गुणी सबको देने वाले हो। (८) मेरे योग्य मुझे वर मिलाओ, मैं तुम्हें कलश ही मानता करके जा रही हूँ; (९) जिस दिन मेरी यह इच्छा पूरी होगी, शीघ्र ही आकर मैं [कलश] चढ़ाऊँगी।

टिप्पणी--(१) मँडप<मण्डप=देवालय का भीतरी भाग। पैसार=प्रवेश। (२) संसौ<संशय। (५) परस्<स्पृश्=स्पर्श करना। (८) मेरव्<मेलय्=मिलाना। कलस<कलश : दूध अथवा किसी तीर्थ के जल से भरा कलश।

इंछि इंछि बिनई जसि जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भै रानी।
उतर को देइ देव मरि गएऊ। सबद अकूट मँडप महँ भएऊ।
काटि पवारा जैस परेवा। मर भा ईस औरु को देवा।
भए बिनु जिउ नावत औ ओझा। बिख भइ पूरि काल भा गोझा।
जो देखै जनु बिसहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा।
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोइ को मानै सेवा।
को इंछा पुरवै दुख धोवा। जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा।
जेहि धरि सखी उठावहिं सीस विकल तेहि डोल।
धर कोइ जीव न जानै मुख रे बकत कुबोल ॥१६२॥

अर्थ--(१) [पद्मावती ने] मन में इच्छाएँ करते हुए जैसा कुछ वह जानती थी, उसके अनुसार [महादेव से] विनती की और तदनंतर हाथ जोड़ कर वह उनके आगे खड़ी हुई। (२) किन्तु [उसकी विनती का] उत्तर कौन देता; देवता के तो प्राण [उसे देखकर] कूच कर गए थे; [केवल] मंडप में यह स्पष्ट शब्द हुआ, (३) ["तुम्हारे दर्शनों से देवता उसी प्रकार अचेत पड़ा हुआ है] जैसे पारावत काट कर फेंक दिया गया हो; जब महेश इस प्रकार मृत हो गए, तब और कौन देवता [शेष] रहा? (४) जितने नाई और ओझा (ब्राह्मण) [उस मंडप में सेवा-पूजा में नियुक्त] थे, वे सब (उसको देखते ही) बिना जीव के हो गए, उनके लिए पूड़ियाँ विष और गुझियाँ काल हो गईं। (५) जो उसे देखता था, वह [ऐसा हो जाता था मानों] साँप का डसा हुआ हो; यह चरित्र देखकर पद्मावती हँस पड़ी। (६) वह कहने लगी, "मैंने भी क्या ही अच्छा (खूब)

किया कि आकर देवता को मनाया [प्रसन्न करने का यत्न किया] जिससे वह मानो सो गया ! अब कौन मेरी सेवा मानेगा ? (७) कौन मेरी इच्छाएँ पूरी करे और दुःखों को धोए ? जिसे मान कर हम आए थे, वह तो अकड़ा हुआ सो रहा है।" (८) जिसे उसकी सखियाँ पकड़ कर उठाती थीं, विकलता के कारण उसका सिर हिलता रहता था; (९) कोई (किसी का) भी धड़ जैसे जीवित नहीं रह गया था, [केवल] मुख ही [विक्षिप्त की भाँति] अटपटे बोल बकता रहता था।

टिप्पणी--(१) बिनव<विण्णव<विज्ञापय्=निवेदन करना। ठाढ<ठड्ढ< स्तब्ध=खड़ा। (२) अकूट=स्पष्ट, निभ्रन्ति। (३) पबार्<पवाड्<प्रपातय्= गिराना, फेंकना। परेवा<पारेवय<पारावत=कबूतर। मर<मृत। नावत< नापित=नाई, जो प्रायः सेवा-कार्य में लिए नियुक्त होते हैं। (४) ओझा<ओज्झा< उपाध्याय=ब्राह्मण। (५) बिसहर<विषधर<सर्प। (६) तन्=तनना, अकड़ना। (७) धर=धड़, शरीर का सिर के नीचे का भाग।

ततखन आइ सखी बिहसानी। कौतुक एक न देखहु रानी।
पुरुब बार कोइ जोगी छाए। न जनौं कौन देस सौं आए।
जनु उन्ह जोग तंत अब खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला।
उन्ह महँ एक जो गुरू कहावा। जनु गुर दै काहूँ बौरावा।
कुँवर बतीसौ लक्खन राता। दसएँ लखन कहै एक बाता।
जानहुँ आहि गोपिचंद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी।
वै पिंगला कहँ कजरी आरन। यह सिंघल दहुँ सो केहि कारन।
यह मूरत यह मुंद्रा हम न देखा औधूत।
जानहुँ होहि न जोगी केहु राजा के पूत ॥१६३॥

अर्थ--(१) उसी क्षण आकर [पद्मावती की] एक सखी हँसने लगी, और कहने लगी, "हे रानी, एक कौतुक न देखो ? (२) पूर्व के द्वार पर कोई योगी आकर घेरे हुए हैं; पता नहीं वे किस देश से आए हुए हैं। (३) उन्होंने मानो अब योग का तंत्र खेल (रच) रखा है और समस्त चेला (साधक) सिद्ध होने के लिए निकले हैं। (४) उनमें से एक जो उनका गुरु कहा जाता है, [ऐसा है] मानो उसे गुड़ खिलाकर किसी ने बावला कर दिया है। (५) वह बत्तीस लक्षणों से मंडित सुंदर कुमार है, और दशम लक्षण [अथवा दशम अवस्था (मरण) के लक्षणों] के साथ एक ही बात कहता है। (६) ऐसा ज्ञात होता है मानो वह या तो योगी गोपीचन्द है, और या तो वियोगी भर्तृहरि। (७) वे (भर्तृहरि) पिंगला के लिए कज्जलीवन गए थे; यह सिंहल आया है, यद्यपि पता नहीं किस कारण आया है। (८) यह मूर्ति और यह मुद्रा हमने अवधूतों में नहीं देखी है; (९) [ऐसा लगता है] मानो ये योगी नहीं हैं, किन्हीं राजाओं के पुत्र हैं।"

टिप्पणी--(२) बार<वार<द्वार। (३) तंत<तंत्र। खेल्=क्रीड़ापूर्वक करना। चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य। (५) बत्तीस लक्खन: प्रमाणं सुकृतं रूपं शीलं कुलं च पराक्रमं। सत्यं शौच्यं विनयं वंदितं बुधिवन्तो विचक्षणं। क्रिया

बैश्नवविद्यावंतो स्वजनो शास्त्रज्ञान षित्रियो गुण सपुन्यौ, निर्लोभीच दयाल बिस्वासी परोपकारी जितेन्द्री दातारो धर्मिष्ठो स्वल्पकामश्च अल्पाहार स्वल्पनिद्रा गुरुभक्ता मातापिता भक्ता बुधिप्रकासवंतो। इति नर बत्तीस लक्षण--सर्बंगी (एक पुरानी प्रति)। दसएँ लखन < दशम लक्षण: (प्रेम की) दशम अवस्थ: मरण अभिलाषाश्चिन्ता स्मृति गुण कथनोद्- वेग संप्रलापश्च। उन्मादो अथ व्याधिर्जडता मृत्तिरिति दशात्र कामदशा।। (साहित्य दर्पण, सं० शालिग्राम शास्त्री, पृ० १०७)। (६) गोपिचंद-बंगाल के एक राजा जो योगी हो गए थे। भरथरि: भर्तृहरि = उज्जैन के एक प्रसिद्ध राजा जिन्हें वैराग्य हो गया था। (७) पिंगला: भर्तृहरि की प्रेयसी। (८) मुंद्रा < मुद्रा = मुखमुद्रा (?)।

सुनि सो बात रानी सिउँ चढ़ी। कहाँ सो जोगी देखौं मढ़ी।
लै सँग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ जनु अछरिन्ह घेरा।
नैन कचोर पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सौं ढरे।
जोगीं दिस्टि दिस्टि सो लीन्हा। नैन रोपि नैनन्ह जिउ दीन्हा।
जो मधु चहत परा तेहि पालें। सुधि न रही ओहि एक पियालें।
परा माँति गोरख का चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला।
किंगरी गहे जु हुत बैरागी। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी।
जेहि धंधा जाकर मन लागै सपनेहु सूझु सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं करहिं पेम मन बंध ।।१६४।।

अर्थ--(१) यह बात सुन कर रानी (पद्मावती) उस सखी के साथ चढ़ कर चली, [और उसने कहा,] "वह योगी कहाँ है? [चलकर] उस मठ में देखूँगी।" (२) सखियों को साथ लेकर जब पद्मावती वहाँ आई, तो ऐसा ज्ञात हुआ मानो उस योगी को अप्सराओं ने घेर लिया हो। (३) पद्मावती के प्रेम-मद भरे नेत्र-कच्चोल छलक पड़े जब योगी के सम्मुख उसकी सुदृष्टि हुई। (४) योगी ने [उसकी] दृष्टि को अपनी दृष्टि से ले लिया और नेत्रों में [उस प्रेम-मदिरा को] रोप कर नेत्रों [के मार्ग] से अपना जीव उसे दे दिया। (५) जो दृष्टि-मधु वह चाहता था, उसके पाले जब वह पड़ा, तब उसे उसके एक ही प्याले से चेतना शेष नहीं रह गई। (६) वह गोरख का चेला (योगी) मत्त, हो कर गिर पड़ा और उसका जीव उसके शरीर को छोड़ कर स्वर्ग को खेल चला। (७) किन्तु वह विरागी जो किंगरी लिए हुए था, मृत्यु की वेला में भी उससे वही ध्वनि निकल रही थी। (८) जिस धंधे में जिसका मन लग जाता है, स्वप्न में भी उसको वही धन्धा सूझता है; (९) इसी कारण से तपस्वी तप साधते हैं और प्रेम से मन का बंधन करते हैं।

टिप्पणी--(१) सिउँ < समम् = साथ। मढ़ी < मठी। (२) अछरी < अप्सरस् = अप्सरा। (३) कचोर < कच्चोल = प्याला। (४) रोप् = थामना। (६) खेल् = क्रीड़ा करना, क्रीड़ापूर्वक जाना। (७) किंगरी < किन्नरी = एक तंतुवाद्य जो योगी बजाते हैं।

पदुमावति जस सुना बखानू । सहसहुँ करॉं देख तस भानू ।
मेलेसि चंदन मकु खिनु जागा । अधिकौ सूत सिअर तन लागा ।
तब चंदन आखर हियँ लिखे । भीख लेइ तुइँ जोगि न सिखे ।
बार आइ तब गा तैं सोई । कैसें भुगुति परापति होई ।
अब जौं सूर अहै ससि राता । आइहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता ।
लिखि कै बात सखी सौं कही । इहै ठाउँ हौं बारति अही ।
परगट होइ तौ होइ अस भंगू । जगत दिया कर होइ पतंगू ।
जासौं हौं चख हेरौं सोइ ठाउँ जिउ देइ ।
एहिं दुख कबहुँ न निसरौं को हत्या असि लेइ ।।१६५।।

अर्थ--(१) पद्मावती ने जैसा उस योगी का बखान (वर्णन) सुना था, उसी प्रकार का पूरी सहस्र कलाओं का भानु (प्रेमी) उसको पाया। (२) उसने [उसके शरीर पर] चन्दन लगाया कि संभव है एक क्षण के लिए जग जाए, किन्तु जब शरीर को शीतलता प्राप्त हुई तो वह और अधिक सो गया। (३) तब उसने उसके हृदय पर चन्दन में यह अक्षर (वाक्य) लिखे, "हे योगी तुमने भिक्षा लेना नहीं सीखा। (४) जब [भिक्षा की] वेला आई तब तुम सो गए, तो किस प्रकार तुम्हें भुक्ति (भोजन) की प्राप्ति हो ? (५) हे सूर्य (प्रेमी), यदि तुम [सत्य ही] शशि (प्रेमिका) पर अनुरक्त हो तो पुनः (इसके अनंतर) तुम उन सात (सात खंडों के सिंहलगढ़) आकाशों पर चढ़ कर आना।" (६) यह बात लिख कर उसने सखी से कहा, "यही स्थान (स्थिति) मैं बचाती रही; (७) क्योंकि यदि [मेरा बाहर आना] प्रकट हो जाए तो इस प्रकार का विनाश हो कि जगत् मात्र दीपक का पतिंगा हो जाए (मुझ पर उसी प्रकार मर मिटे जिस प्रकार दीपक पर पतिंगा मर मिटता है।) (८) मैं जिसके सम्मुख देखूं, वह उसी स्थान पर अपने प्राण दे दे,(९) इसी दुःख से मैं कभी निकलती नहीं कि, ऐसी हत्या [अपने सिर पर] कौन ले ?"

टिप्पणी--(१) बखान<वक्खाण<व्याख्यान=वर्णन । करा<कला । (२) सिअर<शीतल । (३) आखर<अक्खर<अक्षर = अक्षर,वाक्य । (४) बार वार<वेला । भुगति<भुक्ति = भोजन । परापति<प्राप्ति । (५) रात<रत्त< रक्त=अनरक्त । (६) बार्<वार्<वारय् = बचाना, अलग रखना । (७) दिया< दीअअ<दीपक । (८) चख<चक्षु । (९) निसर्<णिस्सर<निर्+सृ = बाहर निकलना ।

कीन्ह पयान सभन्ह रथ हाँका । परबत छाड़ि सिंघल गढ़ ताका ।
भए बलि सबै देवता बली । हत्यारिनि हत्या लै चली ।
को अस हितू मुए गह बाहीं । जौं पै जिउ अपने तन नाहीं ।
जौं लगि जिउ आपन सब कोई । बिनु जिउ सबै निरापन होई ।
भाइ बंधु औ लोग पियारा । बिनु जिय घरी न राखै पारा ।
बिनु जिय पिंड छार कर कूरा । छार मिलाव सोइ हितु पूरा ।
तेहि जिय बिनु अब मर भा राजा । को उठि बैठि गरब सौं गाजा ।

परी कया भुइँ रोवै कहाँ रे जिय बलि भीवँ ।
को उठाइ बैसारै बाजु पियारे जीवँ ॥१६६॥

अर्थ--(१) उन सब ने प्रयाण किया और रथ हाँका; उस (शिव-मंडप वाले) पर्वत को छोड़ कर उन्होंने सिंहलगढ़ को ताका (जाने का विचार किया)। (२) [उस मंडप के] समस्त बलशाली देवता बलि हो चुके थे, और वह हत्यारिन उन सबकी हत्या लेकर वहाँ से चल पड़ी। (३) [सच है,] ऐसा कौन हितकारी हो सकता है जो मृत होने पर बाँह पकड़े, यदि अपने तन में हो न हो जीव न रहे ? (४) जब तक [तन में] जीव है, सभी कोई अपना है, और जीव के न रहने पर सभी कोई निरपना (अपना जो न हो, पराया) हो जाता है। (५) भाई, बन्धु और प्रियजन भी बिना जीव के किसी को घड़ी भर नहीं रख सकते हैं। (६) बिना जीव के शरीर राख का कूड़ा हो जाता है, और उस समय जो उसे राख में मिला दे, वही पूरा हितकारी होता है। (७) उसी जीव के बिना अब राजा मृत हो चुका था, अतः कौन उठकर बैठता और गर्व से गर्जन करता ? (८) [निर्जीव] काया भूमि पर पड़ी हुई रो रही थी, "ऐ भीम सदृश बली जीव, तुम कहाँ हो ? (९) बिना प्यारे जीव के कौन हमें उठाकर बिठाए ?"

टिप्पणी--(१) हाक्<हक्क्[दे०]=हाँकना, प्रेरणा करना। ताक्<तक्क् <तर्क्=तर्क करना, विचार करना। (३) गह्<ग्रह्=ग्रहण करना, लेना। (५) लोग<लोक। पिआर<प्रियालु। पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना। (६) कूरा <कूड<कूट=ढेरी। (७) मर<मृत। गाज्<गज्ज् <गर्ज् = गर्जन करना। (८) भीम : परदुःख कातरता की कुछ कथाएँ भीम की महाभारत में मिलती हैं; उनके अतिरिक्त एक दंगवै की कथा है, जिसकी ओर अन्यत्र जायसी ने स्पष्ट संकेत किया है (३६१.२, ५०८.९, ५१८.१, ५२६.८-९)। यह कथा 'दंगवै पुराण' नामक एक रचना में मिलती है [दे० हिंदी खोज विवरण (ना० प्र० स०) १९३५-३७, संख्या १५२]। इस रचना के अनुसार दंगवै पाटन का राजा था; उसके पास एक घोड़ी थी जो दिन में घोड़ी रहती किन्तु रात में स्त्री हो जाती थी। कृष्ण ने जब उसके बारे में सुना, वे उसे माँग बैठे और उसके न देने पर उन्होंने युद्ध के लिए धमकी दी। दंगवै की सहायता करने वाला कोई न मिला, केवल भीम तैयार हुए। भीम और कृष्ण में घोर युद्ध हुआ और इसी बीच वह घोड़ी अप्सरा बन कर स्वर्गलोक को चली गई। कहा गया है कि इस युद्ध में वज्र भी सम्मिलित हुए थे। [दे० प्रस्तुत लेखक का 'पद्मावत में दंगवै और भीम', 'हिन्दी अनुशीलन', वर्ष ११, अंक १, पृ० १८]। (९) बाज<वज्ज<वर्ज=बिना।

पदुमावति सो मँदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी।
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान औ सखी हँकारी।
देव पूजि जस आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ आली।
जनु ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। औ रबि उदौ पछिवँ दिसि लीन्हा।
पुनि चलि सुरुज चाँद पहँ आवा। चाँद सुरुज दूहुँ भएउ मेरावा।
दिन औ राति जानु भए एका। राम आइ रावन गढ़ छेका।
तस किछु कहा न जाइ निखेधा। अरजुन बान राहु गा बेधा।

जनहु लंक सब लूसी हनूँ बिधाँसी बारि ।
जागि उठिउँ अस देखत सखि सो कहहु बिचारि ॥१६७॥

अर्थ--(१) पद्मावती अब राजमंदिर में प्रविष्ट हुई और हँसती हुई सिंहासन के ऊपर जा बैठी। (२) विहार (मनबहलाव) की [एक] कथा सुन कर वह रात में सो गई। सवेरा हुआ तो उसने अपनी सखियों को बुलाया, [और कहा], (३) "जैसे ही मैं कल महादेव की पूजा करके आई, तो हे सखियो, रात में मैंने एक स्वप्न देखा। (४) [मुझे लगा कि] मानो शशि (प्रेमिका) ने पूर्व दिशा (सिंहल) में उदय किया है और सूर्य (प्रेमी) ने पश्चिम दिशा (चित्तौड़) में उदय किया है। (५) [तदनंतर] चल कर सूर्य चन्द्रमा के पास आया, और चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का [परस्पर] मिलन हुआ। (६) [ऐसी हलचल हुई कि] दिन और रात्रि मानो एक हो गए और राम ने आकर रावण के गढ़ (लंका) पर घेरा डाल दिया (रमण ने आकर रमणी के गढ़--सिंहल--पर आक्रमण किया)। (७) [तदनंतर] ऐसा कुछ हुआ कि वह निषिद्ध विषय कहा नहीं जाता है [और वह यह है कि] अर्जुन के बाण से राधावेध हुआ (पुरुष-स्त्री का संभोग हुआ)। (८) ऐसा लगा कि समस्त लंका को हनूमान ने [जला कर] मटियामेट कर दिया (प्रिया के समस्त अंगों में प्रिय ने कामाग्नि लगा दी) और वाटिका को उसने विध्वस्त कर डाला (उसके विभिन्न अंगों को मर्दन, नखच्छेदन आदि के द्वारा निःसत्त्व कर डाला)। (९) हे सखियो, यह स्वप्न देखते ही मैं जाग उठी: इस स्वप्न को विचार कर बताओ (यह बताओ कि यह किस प्रकार की घटनाओं की पूर्व-सूचना देता है)।"

टिप्पणी--(२) बिहारी = विहार (मन बहलाव) की। (३) कालि<कल्ल<कल्य=कल, बीता हुआ दिन। (७) निखेध=निषिद्ध विषय। राहु--वेध: राधा-वेध = लक्ष्य वेध। (८) लूस<लूषय्=मटियामेट करना। बिधांसय्<विध्वंसय्= विध्वस्त करना। बारि<बाडिआ<वाटिका।

सखी सो बोली सपन बिचारू। कालि जो गइहु देव के बारू।
पूजि मनाइहु बहुत बिनाती। परसन आइ भएउ तुम्ह राती।
सूरुज पुरुख चाँद तुम्ह रानी। अस बर देव मिलावा आनी।
पछिवँ खंड कर राजा कोई। सो आवै बर तुम्ह कहँ होई।
पुनि कछु जूझि लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि संग्रामा।
चाँद सुरुज दुहुँ होइ बियाहू। बारि बिधाँसब बेधब राहू।
जस ऊखा कहँ अनिरुध मिला। मेंटि न जाइ लिखा पुरुबिला।
सुख सोहाग है तुम्ह कहँ पान फूल रस भोग।
आजु कालि भा चाहिअ अस सपने क सँजोग ॥१६८॥

अर्थ--(१) उस सखी ने उस स्वप्न का विचार [इस प्रकार] कहा, "कल जो तुम देव द्वार पर गईं, (२) और पूजा कर के तुमने [देवता को] मनाया (प्रसन्न किया) और उसकी बहुत-सी विनती की, तो देवता [तुम्हारे पास] रात्रि में आ कर तुम पर बहुत प्रसन्न हुआ [और उसी ने तुम्हें यह स्वप्न दिया]। (३) [स्वप्न का सूर्य]

पुरुष है, और चन्द्रमा हे रानी, तुम स्वयं हो ; ऐसा [उपयुक्त] वर देवता ने लाकर तुम्हें मिला दिया है । (४) [उस सूर्य के पश्चिम दिशा में उदित होने का आशय यह है कि] पश्चिम भूखंड का कोई राजा है, वह तुम्हारे लिए वर होकर आएगा । (५) पुनः [सूर्य और चन्द्रमा के एक साथ होने पर जगत् में कुछ अनिष्ट होता है, उसी प्रकार तुम्हारे और उसके मिलन के अनंतर] तुम्हारे लिए, ऐ रामा, कुछ युद्ध होगा--लंपापति रावण (सिंहलपति गंधर्वसेन) और राम (चित्तौड़ नरेश रत्नसेन) में-युद्ध होगा । (६) किन्तु तदनंतर चन्द्रमा (तुम) और सूर्य (तुम्हारे प्रेमी) दोनों में विवाह होगा, और फिर वाटिका का विध्वंस (विभिन्न अंगों का मर्दनादि) और राधा-वेध (पुरुष-स्त्री-संभोग) होगा । (७) जिस प्रकार उषा को अनिरुद्ध की प्राप्ति हुई थी [और अनिरुद्ध को ऊषा के पिता शंवर से युद्ध करना पड़ा था, उसी प्रकार तुम्हारे प्रिय को भी तुम्हारे पिता से युद्ध करना होगा]; जो कुछ पूर्व का लेख है, वह मेटा नहीं जा सकता है । (८) तुम को (तुम्हारे भाग्य में) [उसके अनंतर] सुख-सौभाग्य है, और पान-फूल का रस-भोग है । (९) आज या कल ही यह सब घटित होना चाहिए, स्वप्न का यह फल है ।"

टिप्पणी--(१) कालि<कल्ल<कल्य=कल, बीता हुआ दिन । (२) बिनाती <विज्ञप्ति=निवेदन । (५) जूझि<युद्ध । रामा=रमणी । (७) उषा-अनिरुध= मध्ययुग में यह प्रेमकथा बहुत लोकप्रिय रही है । पुरबिल<पूर्वीय=पूर्ववर्ती । (९) कालि<कल्ल<कल्य=कल, आने वाला दिन ।

कै बसंत पदुमावति गई । राजहिं तब बसंत सुधि भई ।
जौं जागा न बसंत न बारी । ना सो खेल न खेलनहारी ।
ना ओहि की वै रूप सहाईं । गैं हेराइ पुनि दिस्टि न आईं ।
फूल झरें सूखीं फुलवारीं । दिस्टि परीं उकठीं सब झारीं ।
केइँ यह बसत बसंत उजारा । गा सो चाँद अँथवा लै तारा ।
अब तेहि बिन जग भा अँधकूपा । वह सुख छाँह जरौं हौं धूपा ।
बिरह दवा अस को रे बुझावा । को प्रीतम सें करै मेरावा ।
हिआ देखि सो चंदन घेवरा मिलि कै लिखा बिछोव ।
हाथ मींजि सिर धुनै सो रोवै जो निचिंत अस सोव ॥१९९॥

अर्थ--(१) वसंत (पंचमी) की पूजा करके जब पदमावती चली गई, तब राजा को वसंत (पंचमी) का स्मरण हुआ । (२) [किन्तु] जब वह जागा (जब उसे चेत हुआ), उस समय न वसंत (पंचमी) की पूजा रह गई थी और न वह बालिका (पद्मावती); न वह खेल रह गया था और न उसको खेलने वाली । (३) न उसकी वे रूप-सहाय सखियाँ थीं ; वे लुप्त हो गईं, तो पुनः दृष्टि में न आईं । (४) फूलों के झड़ जाने पर फुलवाड़ियाँ सूखी थीं, और सब झाड़ियाँ [सूख कर] उकठी दिखाई पड़ती थीं । (५) वह कहने लगा, "किसने इस बसे हुए वसंत को उजाड़ दिया ? वह चाँद (प्रेम-पात्र) चला गया और तारकों (सखियों) को लेकर अस्त हो गया । (६) अब उसके बिना जगत् अन्धकूप हो गया है ; वह तो सुखों की छाया में है, और मैं

धूप में जल रहा हूँ। (७) ऐसी विरह दावाग्नि को कौन बुझाएगा ? कौन प्रियतम से [मेरा] मिलन कराएगा ?" (८) [तदनंतर] जब उसने अपने हृदय (वक्षस्थल) को देखा, तो देखा कि उस पर चंदन पुता हुआ है, और उस पर मिलन के अनंतर विछोह [होना] लिखा हुआ है ; (९) [यह देख कर] वह हाथ मल-मल कर सिर पीटने और रोने लगा कि वह इस प्रकार निश्चिन्त सो गया।

टिप्पणी--(१) सुधि<शुद्धि=स्मृति । (२) बारी<बालिका । (३) रूप-सहाइ=रूप या सौन्दर्य निदर्शन में सहायक । (४) उकठ<उक्कट्ठ<उत्+कृष्ट= ऐंठा, सूखा । झारि<झाट<शाट=झाड़ी, पेड़-पौदे । (७) बुझाव्<वि+ध्मापय्= आग को ठंडा करना । (८) मेराव<मेलावय<मेलापक=मिलन । (८) घेवर्= लेप करना, पोतना, लगाना ।

जस बिछोव जल मीन दुहेला । जल हुति काढ़ि अगिनि महँ मेला ।
चंदन आँक दाग होइ परे । बुझहिं न ते आखर परजरे ।
जनहुँ सरागिनि होइ होइ लागै । सब बन दागि सिंघ बन दागै ।
जरे मिरिग बनखँड तेहि ज्वाला । औ ते जरे बैठ तहँ छाला ।
कत ते अंक लिखा जेहिं सोवा । मकु आँकत नहिं करत बिछोवा ।
जस दुखंत कहँ साकुंतला । माधौ नलहि काम कंदला ।
भए अंक नल जैस दमावति । नैना मूँदि छपी पदुमावति ।
आइ बसंता छपि रहा होइ फूलन्ह के भेस ।
केहि विधि पावौं भँवर होइ कौनु सो गुरु उपदेस ॥२००॥ समाप्त

अर्थ--(१) जैसे मछली को जल का विछोह दुर्हेल्य हो रहा हो, जब उसे जल से निकाल कर अग्नि में डाल दिया गया हो [इसी प्रकार की दशा रत्नसेन की थी]। (२) [उसके वक्षस्थल पर लिखे हुए] चंदन के अक्षर [तप्त शलाकाओं से अंकित किए गए] दाग़ (अंक या चिह्न) हो कर पड़े हुए थे ; वे प्रज्वलित अक्षर बुझ नहीं रहे थे। (३) वह (लिखावट) मानो सरकंडों की आग थी जो [उत्पन्न] हो-हो कर लग रही थी और समस्त वनों को दग्ध कर सिंहवन को दग्ध कर रही थी। (४) वनखंड के मृग (जीव-जन्तु) उसकी ज्वाला से जल चुके थे और वे जल चुके थे जो उस वनखंड में खालों पर बैठे [तप कर रहे] थे। (५) [वह कहने लगा,] "उसने इन अंकों (अक्षरों) को क्यों लिखा ही कि जिससे मैं सो गया ? इससे तो कदाचित् यही अच्छा होता यदि वह[इस प्रकार]विछोह करते हुए भी आँकती न--उन अक्षरों को न लिखती। (६) जैसे दुष्यंत को शकुंतला के, माधवानल को कामकन्दला के और नल को दमयंती के [प्रेम के] अंक हुए थे, [उसी प्रकार ये अंक (अक्षर) मुझे हो रहे हैं] और अब मेरे नेत्रों को मुद्रित करके पद्मावती छिप गई है। (८) वह वसंत आकर फूलों के वेष में हो कर छिप रहा है। (९) अब मैं किस प्रकार भ्रमर हो कर उसको पा सकता हूँ और इस युक्ति का उपदेश कौन गुरु करेगा ?"

टिप्पणी--(१) दुहेल<दुर्हेल्य । काढ़<कड्ढ<कृष्=खींचना, निकालना ।

(२) आँक<अंक। दाग=दाग़ [फ़ा०] =तप्त लौहादि से लगाया गया अंक (चिह्न)। आखर<अक्षर। परजरा<पज्जलिअ<प्रज्वलित। (३) सरागिनि<शराग्नि = सरकंडों की आग। दाग्<दाग़् [फ़ा०]=जलाना। सिंहबन: सिंहस्थली जो वन के गहन-तम भाग में रहती है। (६) दुखंत कहं साकुन्तला दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा प्रसिद्ध ही है, कालिदास की प्रसिद्ध कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में इसी कथा का आधार लिया गया है। माधौ नलहि काम कंदला : माधवानल और कामकन्दला की प्रेम कथा भी बहुत प्रसिद्ध रही है। प्राप्त रूपों में सब से प्राचीन आनंद धर का है जो संस्कृत गद्य में है किन्तु जिसके बीच बीच में अपभ्रंश तक के छंद आए हैं। माधवानल एक ब्राह्मण कुमार था जो संगीत में अत्यधिक पटु था; कामकन्दला एक सुन्दर राजनर्तकी थी जो उससे प्रेम करने लगी थी; इसीलिए राजा ने माधवनल को निर्वासित कर दिया था। अन्त में विक्रमादित्य के प्रयत्नों से कामकन्दला उसको मिल गई थी।

रोवै रतन माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़ होइ तहाँ कूरा।
कहाँ बसंत सो कोकिल बैना। कहाँ कुसुम अलि बेधैं नैना।
कहाँ सो मूरति परी जो डीठी। काढ़ि लीन्ह जिउ हिएँ पईठीं।
कहाँ सो दरस परस जेहि लाहा। जौं सो बसंत करीलहि काहा।
पात बिछोव रूख जौं फूला। सो महुवा रोवै अस भूला।
टपकै महुव आँसु तस परई। होइ महुवा बसंत जेउँ झरई।
मोर बसंत सो पदुमिनि बारी। जेहि बिनु भएउ बसंत उजारी।
पावा नवल बसंत बन बहु आरति बहु चोप।
अैस न जाना अंत होइ पात झरहिं होइ कोंप ॥२०१॥

अर्थ—(१) रत्नसेन रो रहा था, और उसकी दशा तोड़े हुए (पछाड़े हुए) मल्ल की हों रही थी, क्योंकि जहाँ भी वह खड़ा होता था, वहीं पर गिर कर ढेर हो जाता था। (२) [वह कहने लगा,] "अब वह वसंत कहाँ है और कहाँ उसमें सुनाई पड़ा हुआ कोकिल का शब्द है? और वह [सौन्दर्य का] पुष्प कहाँ है जिसे मेरे नेत्र भ्रमर बेधते? (३) वह मूर्ति कहाँ है जो दृष्टि पड़ी थी और जिसने मेरे हृदय में प्रविष्ट हो कर मेरे प्राण निकाल लिए थे? (४) वह दर्शन (छवि) कहाँ है जिसके स्पर्श से लाभ होता? हुवा करे वह वसंत; उससे करील को क्या (लेना-देना) है? (५) पत्तों के विछुड़ (गिर) जाने पर [महुवे का] वृक्ष यदि फूला भी तो वह ऐसी भूल कर के रोता है (और पुष्पों के रूप में अपने आँसू गिराता है)। (६) वह जो महुए का फूल टपकता है, उस रूप में उस वृक्ष के आँसू गिरते हैं, और महुआ हो कर जैसे वसंत ऋतु ही झड़ती है (७) मेरा वसंत वह पद्मिनी बालिका थी, जिसके बिना मेरा वसंत उजाड़ हो गया। (८) वन ने बहुत आर्ति और बड़े उमंग के साथ नवल वसंत को प्राप्त किया, (९) किन्तु ऐसा उसने न जाना था कि अंत (समाप्त) होकर पत्ते झड़ जाएँगे [और तब] कोंपलें होंगी।"

टिप्पणी--(१) माल<मल्ल। <चूर्<चूरय्<चूर्णय्: तोड़ना। कूरा<कूड <कूट=ढेरी, कूड़ा। (२) बैन<वयन<वचन। (४) परस<स्पर्श। लाह< लाभ। (५) रूख<रुक्ख<वृक्ष। (६) झर्<शड्=झड़ना, टपकना। (७) बारी< बालिका। (८) चोप<स्निग्धता, उमंग। (९) कोंप<कुड्म (?) = नया पत्ता।

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कत मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा।
आपनि नाउ चढ़ै जो देई। सो तौ पार उतारै खेई।
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुआ का सेंवर तूँ भा मोरा।
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसैं बूड़ मँझधारा।
पाहन सेवाँ काह पसीजा। जरम न पलुहै जौं नित भीजा।
बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकति कि भार लेइ सिर दूजा।
काहे न पूजिअ सोइ निरासा। मुएँ जियत मन जाकरि आसा।
सिंघ तरेंडा जिन्ह गहा पार भए तेहि साथ।
ते परि बूड़े वारि ही भेंड़ पोंछि जिन्ह हाथ ॥२०२॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने तदनंतर महादेव की मूर्ति को संबोधित करते हुए कहा,] "अरे म्लेच्छ और हत्यारे देवता, मैंने भी क्यों आ कर तेरी सेवा की ? (२) अपनी नाव पर जो कोई चढ़ने देता है, वह उसे खेकर पार भी तो लगाता है ! (३) अच्छे परिणाम के लिये मैंने तेरा पैर पकड़ा, किन्तु तू मुझ सुए का सेमल ही सिद्ध हुआ ! (४) [सच है,] पाषाण [और मूर्ति पाषाण ही है] पर चढ़ कर जो [किसी नदी आदि को] पार करना चाहे, वह इसी प्रकार मँझधार में डूबता है। (५) पाषाण सेवा से क्या पसीजे ? वह नित्य भीगता रहे, तो भी जीवन भर में अंकुरित नहीं हो सकता है। (६) वह बावला है जो पाषाण की पूजा करता है, क्योंकि यह शक्ति किस-में है कि वह दूसरा अपने सिर पर उसका भार ले ले ? (७) [इसलिए] क्यों न उस निराश्रित की पूजा की जाए जिसकी मृत होने पर और जीवित रहते हुए आशा रहती है। (८) जिन्होंने सिंह को तरेंडे के रूप में पकड़ा, वे तो उसके साथ पार हो गए, (९) किन्तु वे वार [इसी ओर] डूब गए जिनके हाथ में भेंड़ की पूँछ थी।"

टिप्पणी--(१) बिसवासी=[विसास < विशास् < मारना, वध करना] मारने या वध करने वाला। (तुल० ४६३.६)। ब्रजभाषा में यह शब्द बहुत प्रयुक्त हुआ है, यथा : अब तौ उर माँहि बसाइ कै मारत एजू बिसासी कहाँ धौं बसै ?—दूलह। (२) खेव्<खिव्<क्षिप्=प्रेरणा करना, चलाना। (३) सेंवर<सेमल<शाल्मली= सेंवल का फल, जिसमें से रुई निकलती है। (४) पाहन<पाषाण। (५) पसीज< पसिज्ज<प्र+स्विद्=पसीना छोड़ना, पिघलना। पलुह्<प्ररुह्=पौदे का अंकुरित होना। (६) बाउर<वाउल<वातूल=बावला। (७) निरास<निराश्रित=निरपेक्ष, जिसे किसी की अपेक्षा न हो। (८) तरेंडा<तरंडय<तरण्ड+क=तरी, डोंगी, नौका। (९) वार<आरओ<आरतस्=पहले का अर्थात् निकट का [छोर]।

देव कहा सुनु बौरे राजा । देवहिं अगुमन मारा गाजा ।
जौं पहिलें अपुने सिर परई । सो का काहु कै धरहरि करई ।
पदुमावति राजा कै बारी । आइ सखिन्ह सिउँ मँडप उघारी ।
जैसे चाँद गोहने सब तारा । परेउँ फुलाइ देखि उजियारा ।
चमके दसन बीज की नाईं । नैन चक्र जमकाति भवाईं ।
हौं तेहि दीप पतंग होइ परा । जिउ जम गहा सरग लै धरा ।
बहुरि न जानौं दहुँ काभई । दहुँ कबिलास कि कहँ अपसई ।

अब हौं मरौं निसाँसी हिएँ न आवै साँस ।
रोगिया कै को चाले बैदहिं जहाँ उपास ॥२०३॥

अर्थ--(१) देवता (महादेव) ने कहा ; "ऐ बावले राजा सुन, देवता को तो [तुझसे] पहले ही गाज (वज्र) मार गया था । (२) यदि [वज्र] पहले अपने ही सिर पर आ गिरे, तो वह व्यक्ति क्या किसी अन्य को सहारा दे सकता है ? (३) पद्मावती ने, जो राजा की बालिका (कन्या) है, सखियों के साथ आकर [जब] मंडप को खोला, (४) तब जैसे चाँद के साथ समस्त तारक-दल हो, उस प्रकार के उसके औज्ज्वल्य को देख कर मैं भ्रमित हो पड़ा । (५) उसके दाँत बिजली की भाँति चमक रहे थे, और उसके नेत्र-चक्र यम के काते के समान घूम रहे थे । (६) मैं उसी [सौन्दर्य के] दीपक पर पतिंगा हो कर जा गिरा, और मेरे प्राणों को यम ने ले जा कर स्वर्ग में रख दिया । (७) फिर मैं नहीं जानता कि वह क्या हुई : पता नहीं वह [अप्सरा] कैलास (शिवलोक) को अथवा कहाँ चली गई । (८) अब तो मैं बिना साँसों का हो कर मर रहा हूँ, मेरे हृदय (वक्ष) में साँस नहीं चल रही है ; (९) रोगी की कौन बात चलावे जहाँ पर [जब कि] वैद्य ही उपवास कर रहा हो ?"

टिप्पणी--(१) बौरा<बाउल<वातूल=बावला । गाज<गज्ज<गर्ज=गर्जन, वज्र, बिजली (जो कि गहरे गर्ज्जन के साथ गिरती है) । (२) धरहरि=धर-पकड़, रोक-थाम । (३) सिउ<समम्=साथ । उघार<उघाड़्<उद्+घाटय=खोलना, उघाड़ना। (४) गोहन=साथ। उजिआर<औज्ज्वल्य। (५) बीज<विज्ज<विद्युत् । नाइ<न्याय । काती<कर्तरि=कटार । (७) कबिलास<कैलास=शिवलोक जायसी के शिवलोक में ही इन्द्र तथा अप्सराओं का निवास है । अपसव्<अप+सृ=चला जाना । (९) उपास<उपवास ।

अनु हौं दोख देहुँ का काहू । संगी कया मया नहिं ताहू ।
हतेउ पियारा मीत बिछोई । साथ न लागि आपु गै सोइ ।
का मैं कीन्ह जो काया पोखी । दूखन मोहि आपु निरदोखी ।
फागु बसंत खेलि गै गोरी । मोहि तन लाइ आगि दै होरी ।
अब अस काह छार सिर मेलौं । छारै होउँ फागु तस खेलौं ।
कत तप कीन्ह छाड़ि कै राजू । आहर गएउ न भा सिध काजू ।
पाएउँ नहिं होइ जोगी जती । अब सर चढ़ौ जरौं जसि सती ।

आइ जो प्रीतम फिरि गएउ मिला न आइ बसंत ।
अब तन होरी घालि कै जारि करौं भसमंत ।।२०४।।

अर्थ--(१) [तदनंतर रत्नसेन कहने लगा,] "मैं सहमत हूँ कि मैं क्यों किसी [अन्य] को दोष दूँ जब कि मेरी संगिनी जो काया है, उसको भी मया नहीं [आई] ? (२) मेरे प्रिय मित्र को मुझ से अलग [होने दे] कर इसने मुझे मार डाला, [उस समय] यह उसके साथ न लगी और स्वयं सो गई। (३) इस काया को पोषित कर मैंने क्या किया ? किन्तु दोष मेरा ही है; यह अपने पाप निर्दोष ही है। (४) वह गोरी फाग और वसंत खेल गई और मेरे तन में आग लगा कर होली दे गई। (५) अब ऐसी [साधारण] राख को सिर पर क्या डालूँ ? अब तो फाग ऐसी खेलूँ कि [स्वतः] राख हो जाऊँ। (६) राज्य छोड़ कर मैंने तप क्यों किया ? वह निष्फल ही गया, क्योंकि कार्य सिद्ध नहीं हुआ। (७) उसे (प्रियतम को) मैंने योगी-यती हो कर भी नहीं पाया, तो अब मैं चिता पर चढ़ता हूँ और उसी प्रकार जल जाता हूँ जैसे सती जलती है। (८) प्रियतम आकर भी वापस चला गया वसंत आकर भी न मिला (९) तो मैं अब शरीर को होली [की आग] में डाल कर और [इस प्रकार] जला कर भस्म-मात्र कर डालूँगा।

टिप्पणी--(१) अनु = अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। (४) फाग<फग्गु< फल्गु = फाग (वसंत) की ऋतु, अथवा उसका त्यौहार। (५) काह<कथम् = क्या। (६) आहर<अहलं<अफल = निष्फल (यथाः--आहर जनम मुएँ पछितावा) --मंझन मधुमालती छंद ५) (७) सर<शर = चिता। सती=सत्य का निर्वाह करने वाली। (९) घालु<घल्ल[दे०] = डालना। भसवंत<भस्म+अन्त = भस्मशेष।

ककनूँ पंखि जैस सर साजा । तस सर बैठि जरा चह राजा ।
सकल देवता आइ तुलाने । दहुँ कस होइ देव अस्थाने ।
बिरह आगि बज्रागि असूझा । जरै सूर न बुझाएँ बूझा ।
तेहि के जरत उठै बज्रागी । तीनौ लोक जरहिं तेहि आगी ।
अबहुँ कै घरी चिनगि तेहिं छूटहिं । जरि पहार पाहन सब फूटहिं ।
देवता सबै भसम भए जाहीं । छार समेटे पाउब नाहीं ।
धरती सरग होइ सब ताता । है कोइ एहि राख बिधाता ।
मुहमद चिनगी अनँग की सुनि महि गँगन डेराइ ।
धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ ।।२०५।।

अर्थ--(१) ककनू पक्षी जैसी चिता निर्मित करता है, उस प्रकार की चिता पर बैठ कर राजा जलने को प्रस्तुत हुआ। (२) [यह देख कर] सारे देवता आ तुले (पहुँचे) [और परस्पर कहने लगे,] देव-स्थान पर पता नहीं कैसा-कुछ हो। (३) विरह की अग्नि असूझ वज्राग्नि है, इसमें सूर्य तक भी जलता रहता है और वह बुझाने से नहीं बुझता है। (४) [यदि] उस (रत्नसेन) के जलने से वह वज्राग्नि उठ पड़ी, तो तीनों लोक--आकाश, पाताल, मर्त्य--उस आग में भस्म हो जाएँगे। (५) कहीं अब की घड़ी में भी उसकी चिनगारियाँ छूट पड़ें, तो [शिवमठ वाला] पहाड़ जल

जाए और समस्त पत्थर फूट (फट) जाएँ। (६) समस्त ऐसे भस्म हुए जा रहे हैं की उनकी राख भी समेटने से न मिलेगी। (७) धरती और आकाश सभी तप्त हो रहे हैं ; हे विधाता, क्या कोई ऐसा है जो इस (विरही) को [जलने से] रोक सके?" (८) मुहम्मद कवि कहता है, अनंग की चिनगारी ऐसी होती है कि [उसका नाम] सुन कर पृथ्वी और आकाश डरते हैं; (९) वह विरही और वह हृदय धन्य हैं जिनमें यह समस्त अग्नि समा जाती है।

टिप्पणी--(१) क़क़नूस<क़क़नूस [अ०] : एक पक्षी जिसके बारे में प्रसिद्धि यह रही है कि वह जब मरने को होता है, अपनी चिता तैयार करके गाता है, और उसके गान से आग निकलती है, जिससे वह उस चिता पर जलकर भस्म हो जाता है। सर<शर<सरकंडा=चिता (जो सरकंडे की सहायता से जलाई जाती रही है)। साज्<सज्ज<सृज=बनाना, निर्माण करना, रचना। (२) तुल्=तुलना, पहुँचना। (३) वज्रागि<वज्राग्नि=वज्र अथवा विद्युत की ज्वाला। (४) पाहन<पाषाण। (६) समेट्=बटोरना, इकट्ठा करना। (७) तात<तप्त=तप्त। (९) समाय<संमा --सं+मा=अँटना।

हनिवँत बीर लंक जेइ जारी। परबत ओहि रहा रखवारी।
बैठ तहाँ भा लंका ताका। छठएँ मास देइ उठि हाँका।
तेहि की आगि उहौ पुनि जरा। लंका छाड़ि पलंका परा।
जाइ तहाँ यह कहा सँदेसू। पारबती औ जहाँ महेसू।
जोगी आहि बियोगी कोई। तुम्हारे मँडप आगि तेहिं बोई।
जरे लँगूर सो राते उहाँ। निकसि जो भागे भए करमुँहाँ।
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा। बज्जर अंग जरत उठि भागा।
रावन लंका मैं डही ओइँ हम डाहन आइ।
कनै पहार होत है रावट को राखै गहि पाइ ॥२०६॥

अर्थ--(१) हनुमान वीर जिसने [किसी समय] लंका जलाई थी, उसी पर्वत पर रखवाली के लिए था। (२) वहाँ बैठा हुआ वह लंका को ताका करता था (उसकी देख-भाल करता था) और छठे मास उठकर हाँक देता था। (३) रत्नसेन की आग (विरहाग्नि) से वह भी जलने लगा, इसलिए वह लंका को छोड़ कर पलंका पर जा पड़ा (४) उसने जा कर यह संदेश वहाँ सुनाया जहाँ पार्वती और महेश थे।(५) [उसने कहा,] "कोई वियोगी योगी है, उसने तुम्हारे मंडप में आग बो दी है। (६) जो लंगूर (बन्दर) वहाँ जल गए, वे तो लाल [मुख के] हो गए, और जो [उस आँच से डर कर] वहाँ से भाग निकले, वे काले मुँह वाले हो गए। (७) उसी वज्राग्नि में मैं भी जलने लगा, और अपने वज्र जैसे अंगों को जलते देखकर उठ भागा। (८) रावण की लंका तो मैंने जलाई, वह (विरही) [अब] मुझे जलाने आया है, (९) कनक का पर्वत [जिस पर तुम्हारा मंडप है] अब रावट (कसौटी का काला पत्थर) हो रहा है ; कौन ऐसा है जो उस विरही को उसके पैर पकड़कर रो सके ?"

टिप्पणी--(२) ताक्<तक्क्<तर्क=विचार करना, देख-भाल करना । (पलंक <प्लक्ष (?) । (६) लंगूर<लांगुलिन् = बड़ी पूँछ वाला बन्दर । (७) बज्जर<वज्र । (८) डह<दह् = दग्ध करना । (९) कनै<कनक = सोना ।

ततखन पहुँचा आइ महेसू । बाहन बैल कुस्टि कर भेसू ।
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे । रुड'माल औ हत्या काँधे ।
सेस नाग औ कंठै माला । तन बिभूति हस्ती कर छाला ।
पहुँची रुद्र कँवल के गटा । ससि माथें औ सुरसरि जटा ।
चँवर घंट औ डँवरू हाथा । गौरा पारबती धनि साथा ।
औ हनिवंत बीर सँग आवा । धरे बेष जनु बंदर छावा ।
औतहिं कहेन्हि न लावहु आगी । ताकरि सपथ जरहु जेहि आगी ।
कै तप करै न पारेहु कै रे नसाएहु जोग ।
जियत जीय कस काढ़हु कहहु सो मोहिं बियोग ॥२०७॥

अर्थ--(१) [यह सुन कर] तत्क्षण महेश आ पहुँचे ; उनका वाहन बैल था और उनका वेष कुष्टी (कोढ़ी) का था ; (२) काया पर काँथरी और हड्डियों की माला बाँधे हुए थे, [गले में] रुंडमाला थी और [दोनों] कंधों पर हत्याएँ । (३) शेषनाग तथा मालाओं को वे कंठ में धारण किए हुए थे, उनके शरीर पर विभूति (भस्म) लगी हुई थी और हस्ति-चर्म था । (४) कलाइयों में रुद्राक्ष और कमल-गट्टों की पहुँचियाँ थीं, मस्तक पर चन्द्रमा था और जटा में गंगा । (५) हाथ में चामर, घंटा और डमरू थे, और साथ में उनकी पत्नी गौरा पार्वती थीं । (६) पुनः साथ में हनुमान वीर आए थे, जो ऐसे लगते थे मानो वन्दर-शावक का वेष धारण किए हों । (७) आते ही [महेश ने] कहा, "[चितामें] आग न लगाओ [इसके लिए] तुम्हें उसी की शपथ है जिसके लिए तुम जलना चाहते हो । (८) क्या तुम तप नहीं कर सक रहे हो, या तुम योग-भ्रष्ट हो गए हो ? (९) तुम जीवित रहते हुए [अपना] जीव कैसे (क्यों) निकाल रहे हो ? मुझे उस वियोग को बताओ ।"

टिप्पणी--(२) काँथरी<कन्था+डी = गुदड़ी । हड़ावरि<हड्ड + आवलि< अस्थि + आवल = हड्डियों की माला । रुंड<रुण्ड = सिर से रहित शरीर, कबन्ध । हत्या : दो हत्याओं का उल्लेख कवि ने २११.८ में किया है । (३) छाला<खल्ला --चर्म, खाल । (५) धनि<धन्या = स्त्री । (६) छावा<छाव<शाव=बालक, बच्चा, शिशु । (८) पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना । (९) काढ़्<कड्ढ< कृष=खींचना, निकालना । बियोग < वियोग = किसी प्राणी अथवा संपत्ति आदि से वंचित होना ।

कहेसि को मोहि बातन्ह बेलवाँवा । हत्या केर न तोहिं डर आवा ।
जरै देहु दुख जरौं अपारा । निस्तरि परौं जरौं एक बारा ।
जस भरथरी लागि पिंगला । मो कहँ पदुमावति सिंघला ।
मैं पुनि तजा राज औ भोगू । सुनि सो नाउँ लीन्हा तप जोगू ।
यह मढ़ सेएउँ आइ निरासा । गै सो पूजि मन पूजि न आसा ।

तेइँ यह जिउ दाधे पर दाधा । आधा निकसि रहा घट आधा ।
जो अधजरत सो बेलँब न लावा । करत बेलंब बहुत दुख पावा ।
इतना बोल कहत मुख उठी बिरह की आगि ।
जौं महेस नहिं आइ बुझावत सकल जगत हुति लागि ॥२०८॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने] उत्तर दिया, "मुझे बातों में उलझा कर कौन बिलंब करा रहा है ? क्या तुम्हें [मेरी] हत्या लगने का डर नहीं हो रहा है ? (२) मुझे तुम जल जाने दो, क्योंकि मैं अपार दुःख [की अग्नि] में जल रहा हूँ ; यदि एक बार में जल जाऊँ, तो उस दुःखाग्नि से मेरा निस्तार हो जाए । (३) जैसे भर्तृहरि के लिए पिंगला हुई थी, मेरे लिए सिंहल में पद्मावती हुई । (४) और उसी के लिए मैंने राज्य और भोग छोड़ा और उसी के नाम को सुन कर मैंने तप और योग ग्रहण किया । (५) [पुनः] मैंने [यहाँ] आकर इस मठ का सेवन किया, और उससे निराश होना पड़ा, क्योंकि वह [इस मठ में पूजा करने आई और] पूजा करके चली गई किन्तु मेरी आशा पूरी न हुई । (६) उस ने [मेरे] इस जीव को जले पर भी जला डाला है, जिससे वह आधा निकल कर शरीर में आधा ही रह गया है ।(७) जो आधा जल चुका हो, उसके जलने में विलंब न कराना चाहिए, क्योंकि विलंब कराने से वह बहुत दुःख प्राप्त करता है । (८) इतनी बात कहते ही [उसके] मुख से विरह की अग्नि उठने लगी ; (९) यदि महेश [निकट] आकर उसे बुझा न देते, तो वह समस्त जगत् में लग चुकी थी ।

टिप्पणी--(१) बिलंबाय् <विलम्बय्+बिलंब कराना । (३) भरथरी-पिंगला = पिंगला के लिए प्रसिद्ध राजा भर्तृहरि ने गृहत्याग किया था ।

पारबती मन उपना चाऊ । देखौं कुँवर केर सत भाऊ ।
दहुँ यह बीच कि पेमहि पूजा । तन मन एक कि मारग दूजा ।
भै सुरूप जानहुँ अपछरा । बिहसि कुँवर कर आँचर धरा ।
सुनहु कुँवर मोसों एक बाता । जस रँग मोर न औरहि राता ।
औ बिधि रूप दीन्ह है तोकाँ । उठा सो सबद जाइ सिव लोकाँ ।
तब हौं तो कहँ इंद्र पठाई । गै पदुमिनि तैं आछरि पाई ।
अब तजु जरन मरन तप जोगू । मो सों मानु जनम भरि भोगू ।
हौं आछरि कबिलास की जेहि सरि पूजि न कोइ ।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि मरसि कौन लाभ तोहि होइ ॥२०९॥

अर्थ--(१) पार्वती के मन में यह चाव उत्पन्न हुआ कि कुँवर (रत्नसेन) का सत्य भाव देखे । (२) वह देखे कि यह अभी बीच में ही है या प्रेम [के लक्ष्य] तक पहुँच गया है ; तन-मन इसके एक हो चुके हैं या दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं । (३) [यह सोच कर] वह ऐसी सुरूप हो गई मानो अप्सरा हो, और हँस कर उसने कुमार का अञ्चल पकड़ा । (४) [उसने कहा,) "हे कुमार, मुझसे एक बात सुनो ; जैसा मेरा वर्ण है, वैसा सुन्दर वर्ण और किसी का नहीं है । (५) और विधाता ने तुझे रूप दिया है यह शब (समाचार) शिवलोक में जाकर उठा (प्रसिद्ध हुआ) (६)

तब मैं इन्द्र के द्वारा तेरे लिए भेजी गई । पद्मिनी गई तो क्या हुआ ? अब तैंने अप्सरा प्राप्त की है । (७) अब तू जलना, मरना, तप और योग छोड़ तथा मुझ से आजन्म भोग मान । (८) मैं कैलास (शिवलोक) की अप्सरा हूँ जिसकी समानता कोई नहीं प्राप्त कर सकता है । (९) मुझको छोड़कर तू जो उसका स्मरण करते हुए मर रहा है, उससे तुझे क्या लाभ होगा ।"

टिप्पणी--(१) उपन्<उत्+पत्=पैदा होना । चाव<चाप=उत्कट इच्छा । (२) पूज्<पुञ्ज<पूरय । दूजा<द्वितीय । (३) अपछरा<अप्सरस्=अप्सरा । (४) रात<रत्त<रक्त=लाल, सुन्दर । (७) कबिलास<कैलास=शिवलोक: जायसी के शिवलोक में ही इन्द्र तथा उसकी अप्सराएँ भी रहती हैं । सरि<सादृश्य । (९) सँवर<समर<स्मृ=स्मरण करना ।

भलेहिं रंग तोहि आछरि राता । मोहि दोसरें सौं भाव न बाता ।
मोहि ओहि सँवरि मुएँ अस लाहा । नैन सो देखसि पूँछसि काहा ।
अबहीं तेहि जिउ देइ न पावा । तोहि असि आछरि ठाढ़ मनावा ।
जौं जिउ देहुँ ओहि कि आसाँ । न जनौं काह होइ कबिलासाँ ।
हौं कबिलास काह लै करऊँ । सोइ कबिलास लागि ओहि मरऊँ ।
ओहि के बार जीवनहिं वारौं । सिर उतारि नेवछावरि डारौं ।
ताकरि चाह कहै जो आई । दुऔ जगत तेहि देउँ बड़ाई ।
ओहि न मोरि कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ ॥२१०॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "ऐ अप्सरे ! भले ही तेरा रंग सुंदर हो, किन्तु मुझे दूसरी स्त्री से बातें करना नहीं भाता है । (२) उसको स्मरण करते हुए मरने से मुझे ऐसा लाभ है [कि तेरी जैसी सुन्दर अप्सरा मिल रही है], और वह तू नेत्रों से देख ही रही है, इसलिए तू क्या पूछती है ? (३) अभी मैं उसे अपना जीव दे भी नहीं पाया और तेरी ऐसी [सुंदर] अप्सरा [सामने] खड़ी होकर मुझे मना रही है ! (४) यदि मैं उसकी आशा में कहीं जीव दे दूँ, तो पता नहीं कैलास (शिव-लोक) में क्या हो जाए । (५) मैं कैलास (शिवलोक) भी (मिले तो उसे) लेकर क्या करूंगा ? मेरे लिए तो वही (पद्मिनी ही) कैलास (शिवलोक) है और मैं उसी के लिए मर रहा हूँ । (६) मैं तो उसी के द्वार पर [अपने] जीवन को न्यौछावर कर रहा हूँ, सिर को उतार कर न्यौछावर के रूप में [उसे दे] डाल रहा हूँ । (७) उसका समाचार जो कोई आकर कहे, उसे मैं दोनों जगतों में आदर का स्थान देने को प्रस्तुत हूँ । (८) उसको मेरी अपेक्षा किसी मात्रा में नहीं है, मैं ही उसकी आशा (अपेक्षा) करता हूँ ; (९) ऐसे निराश्रित (निरपेक्ष) प्रियतम को मैं जीव न दूँ तो क्या दूँ ?"

टिप्पणी--(१) आछरि<अच्छरी<अप्सरस्=अप्सरा । रात<रत्त<रक्त=सुंदर । (२) काह<कथम्==क्या । (३) ठाढ<ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा । (४) कबिलास<कैलास : शिवलोक । (६) बार<वार<द्वार । नेवछावरि<णिवच्छ+अवलि=काटकर, उतारे जाने वाले पदार्थ । (७) निरास<निराश्रित=निरपेक्ष ।

'निरास' शब्द का प्रयोग जायसी ने प्रायः निर्गुण और निरपेक्ष ईश्वर के लिए ही किया है ; इसलिए दोहे की पंक्तियों में सौन्दर्यमूर्त्ति पद्मावती में कवि ने परमात्मा की भी व्यंजना की है इस बात की संभावना ज्ञात होती है।

गौरैं हँसि महेस सों कहा। निस्चैं यहु बिरहानल दहा।
निस्चैं यह ओहि कारन तपा। परिमल पेम न आछै छपा।
निस्चैं पेम पीर यह जागा। कसत कसौटी कंचन लागा।
बदन पियर जल डभकहिं नैनाँ। परगट दुऔ पेम के बैनाँ।
यह ओहि लागि जरम एहि सीझा। चहै न औरहि ओही रीझा।
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जीता।
एहू कहँ तसि मया करेहू। पुरवहु आस कि हत्या लेहू।
हत्या दुइ जो चढ़ाएहु काँधे अबहुँ न गे अपराध।
तीसरि लेहु एहु कै माँथे जौं रे लेइ कै साध ॥२११॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन का उत्तर सुनकर] गौरा ने हँस कर शिव से कहा, "निश्चय ही यह विरहाग्नि में दग्ध हो चुका है ; (२) निश्चय ही यह उसके कारण तप चुका है ; प्रेम का परिमल छिपा हुआ नहीं है ; (३) निश्चय ही यह प्रेम-पीड़ा में जागता रहा है ; कसौटी पर कसते समय यह मुझे खरा सोना ज्ञात हुआ है। (४) इसका शरीर पीला पड़ गया है, नेत्रों में जल (आँसू) डभक रहे हैं और प्रकट रूप में भी प्रेम के ही दोनों वचन [कहता है]। (५) यह उसके लिये इस जन्म में सीझ चुका (पक्का हो चुका) है ; यह उसी पर रीझा हुआ है, और किसी को नहीं चाहता है। (६) हे देवताओं के पिता, महादेव, तुम्हारी शरण में [आकर] राम ने रावण को जीता था। (७) इसके ऊपर भी उसी प्रकार की मया (स्नेहपूर्ण कृपा) कीजिए, और या तो इस की आशा पूरी कीजिए और या तो इसकी हत्या का अपराध लीजिए। (८) दो हत्याएँ जो तुम अपने कन्धों पर चढ़ाए हुए हो, उनका ही अपराध नहीं जा सका है, (९) अब तीसरी यह मत्थे पर कर लो यदि तुम्हें लेने की साध (इच्छा) हो।

टिप्पणी --(२) आछ्<अस्=होना। छपा<क्षिप्त=छिपाया हुआ। (४) पिअर<पीअ+डा<पीत=पीला। डभक्=डबडबाना, आँखों में पानी। भर आना। बैन<वयन<वचन। दुऔ प्रेम के बैना : एकवचन तो प्रेमपात्र पर पूर्ण अनुराग का है, दूसरा अन्य किसी से भी कोई संबंध न रखने का है। (५) सीझ्<सिज्झ सिध्=निष्पन्न होना, पकना। रीझ्<रिज्झ<ऋध्=आकृष्ट होना। हत्या दुइ : ये दो हत्यायें कौन सी हैं, यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता है ; संभव है कि यहाँ पर काम-दहन और सती-दहन के दो अपराधों की ओर संकेत हो, जो शिव-संबंधी प्रायः समस्त कथाओं में उल्लिखित मिलते हैं। साध<सद्धा<श्रद्धा=इच्छा।

सुनि कै महादेव कै भखा। सिद्ध पुरुष राजैं मन लखा।
सिद्ध अंग नहिं बैठै माखी। सिद्ध पलक नहिं लागै आँखी।
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ न भूख औ माया।
जौं जग सिद्ध गोसाईं कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा।

बैल चढ़ा कुस्टी के भेसू । गिरिजापति सत आहि महेसू ।
चीन्हें सोइ रहै तेहि खोजा । जस बिक्रम औ राजा भोजा ।
कै जियँ तंत मंत सौं हेरा । गएउ हेराइ जबहि भा मेरा ।
बिनु गुरु पंथ न पाइअ भूलै सोइ जो मेंट ।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट ॥२१२॥

अर्थ--(१) 'महादेव' करके भाषित (संबोधित) हुआ सुनकर राजा ने मन में देख (समझ) लिया कि यह सिद्ध पुरुष है, (२) [क्योंकि] सिद्ध के शरीर पर मक्खी नहीं बैठती है, सिद्ध की आँखों की पलकें नहीं लगती हैं, (३) सिद्ध के साथ उसकी छाया नहीं होती है, सिद्ध को भूख और [संसार के पदार्थों के प्रति] आसक्ति नहीं होती है। (४) यदि उन्हें संसार में स्वामी (ईश्वर) ने सिद्ध किया है तो वे चाहे प्रकट रहें चाहे प्रच्छन्न, कौन उन्हें पहचान सकता है? (५) [सिद्ध होने के साथ ही] यह बैल पर चढ़े हैं, और कोढ़ी के वेष में हैं, इसलिए यह सत्य ही गिरिजापति महेश हैं। (६) जो इन्हें पहिचानता है, वही इनकी खोज में रहता है, जैसे विक्रमादित्य और राजा भोज [रह चुके हैं]। (७) उन्होंने जी में [योग-]तंत्र करके मंत्र से इन्हें देखा भी, तो जैसे ही [महादेव से] मिलन हुआ, यह खो गए। (८) बिना गुरु के मार्ग नहीं मिलता है, और जो इस सिद्धान्त को मिटाता है (इसका उल्लंघन करता है), वह भूलता है। (२) योगी तभी सिद्ध होता है जब उसकी गोरख (गुरु) से भेंट होती है।"

टिप्पणी--(१) लख् <लक्ख् <लक्ष्य=जानना, पहिचानना, देखना। (२) माखी <मक्षिका। आँखि <अक्खी <अक्षि=आँख। (४) जौं <जउ <यदि। (६) विक्रम औ राजा भोज : कोई विशिष्ट कथाएँ नहीं ज्ञात हैं। (७) मेर <मेल= मिलन। (८) मेंट् <मिट् [दे०]=मिटाना, लोप करना।

ततखन रतनसेनि गहबरा । छाड़ि डफार पाउ लै परा ।
माता पितैं जनमि कत पाला । जौं पै फाँद पेम पियँ घाला ।
धरती सरग मिले हुत दोऊ । कत निरार कै दीन्ह बिछोऊ ।
पदिक पदारथ कर हुँति खोवा । टूटहिं रतन रतन तस रोवा ।
गँगन मेघ जस बरसहिं भले । पुहुमि अपूरि सलिल होइ चले ।
साएर उबटि सिखर गा पाटी । जरै पानि पाहन हिय फाटी ।
पवन पानि होइ होइ सब गिरई । पेम के फाँद कोउ जनि परई ।
तस रोवै जस जरै जिउ गरै रकत औ माँसु ।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं सोत सोत भरि आँसु ॥२१३॥

अर्थ--(१) उसी क्षण (जभी रत्नसेन ने महादेव को पहिचाना) रत्नसेन हर्षातिरेक से आवृत हो गया। वह डफार छोड़कर और [महादेव के] पैरों को पकड़ कर उन पर गिर पड़ा (२) [तदनंतर वह कहने लगा,] "माता-पिता ने मुझे जन्म देकर क्यों पाला यदि मेरे गले में प्रेम का फन्दा डालना ही था? (३) धरती और आकाश दोनों मिले हुए थे [जब प्रेमिका से मिलना हुआ था]; तब क्यों हम दोनों को अलग-

अलग कर यह विछोह दिया गया ? (४) पथिक (प्रेमी) ने पदार्थ (प्रेमिका) को कर में पाकर क्यों खो दिया !" जिस प्रकार [किसी रत्न की माला से] रत्न टूट रहे हों, [यह कहते हुए] इस प्रकार रत्नसेन रो रहा था। (५) जिस प्रकार गगन से मेघ भली भाँति बरस रहे हों [इस प्रकार उसके नेत्र आँसू गिरा रहे थे] और पृथ्वी को आपूरित करके वे आँसू जल [की धाराएँ] होकर वह निकले थे। (६) इसलिए सागर ऐसे उद्वर्तित हुए (ऊँचे उठे) कि [पर्वतों के] शिखर दब गए, और उनके पाषाणों के हृदय फट कर पानी में जलने लगे [जिससे जल में बाड़वाग्नि उत्पन्न हो गई]। (७) [तदनंतर सागरों से उठी हुई] भाप [बादलों में परिवर्तित हो] हो-हो कर गिरने लगी। [सच है] प्रेम के फन्दे में कोई न पड़े। (८) जैसे ही जैसे उसका जी [उस पश्चात्ताप से] जलता, वैसे ही वैसे वह [और] रोता है और उसका रक्त-मांस भी गलता है। (९) उसके समस्त रोम प्रत्येक रोमकूप में आँसू भर कर रो रहे थे।

टिप्पणी--(१) गहबरा<गह+वृत=गह (हर्षातिरेक) से आवृत। उफ़ार [दे०]=चिल्लाहट। (३) निरार<निरालय=घर से बाहर, अलग। (४) पदिक=वह रत्नजटित चौकी जो हार के बीच में लटकती होती है। पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि। [तुल० पदिक पदारथ लिखी सोजोरी। चाँद सुरुज सिज होइ अँजोरी। (७३.५)]। (५) अपूर<आपूरय्=आपूरित करना। (६) उबट<उव्वट<उद्वतम्=उद्वर्तित होना, ऊँचा उठना। (९) सोत<स्रोत=रोम-कूप।

रोवत बूड़ि उठा संसारू। महादेव तब भएउ मयारू।
कहेसि न रोव बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा दारिद खोवा।
जो दुख सहै होइ सुख ओकाँ। दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकाँ।
अब तूँ सिद्ध भया सिधि पाई। दरपन कया छूट गै काई।
कहौं बात अब होइ उपदेसी। लागु पंथ भूले परदेसी।
जौं लगि चोर सेंध नहिं देई। राजा केर न मूँसै पेई।
चढ़ै तौ जाइ बार वह खूँदी। परै तौ सेंधि सीस सौं मूँदी।
कहौं तोहि सिंघल गढ़ है खँड सात चढ़ाउ।
फिरा न कोई जिअत जिउ सरग पंथ दै पाउ ॥२१४॥

अर्थ--(१) इस प्रकार [रत्न सेन के] रोते-रोते [जब] संसार डूबने लगा, तब महादेव कृपालु हुए। (२) उन्होंने कहा, "[अब] रो मत, तूने बहुत रोया ; अब तू ईश्वर हुआ और तूने [समस्त] दारिद्र्य खो दिया। (३) जो दुःख सहन करता है, [अंत में] उसको सुख होता है, और दुःख सहन किए बिना कोई शिवलोक का सुख नहीं प्राप्त करता है। (४) अब तू सिद्ध हो गया, और तू ने सिद्धि प्राप्त कर ली, और तेरे कायादर्पण की काई (मलिनता) छूट गई। (६) अब मैं उपदेशक होकर [तथ्य की] बात कर रहा हूँ ; ऐ भूले हुए परदेसी, तू [निर्दिष्ट] मार्ग पर लग जा। (६) जब तक चोर सेंध नहीं लगाता है (दीवाल में विवर नहीं बनाता है), वह राजा की पेटिका नहीं चुरा सकता है। (७) यदि वह [उस सेंध के मार्ग से]

चढ़ा, तो उसने [भांडार के] द्वार को खूँद (रौंद) लिया, और यदि पड़ा (चढ़ने में असफल रहा), तो वह सेंध उसके सिर के साथ मूँदी गई। (८) मैं तुझसे सिंहलगढ़ की [बात] कहता हूँ ; सात खंडों की चढ़ाई है। (९) उस आकाश-मार्ग पर पैर रख कर कोई जीते जी नहीं लौटा है।"

टिप्पणी--(१) बूड़<बुड्ड<ब्रुड्=डूबना। मया=माया, पूर्ण कृपा, स्नेह। (४) काई<दर्पण का मोर्चा : जायसी के समय के दर्पण धातुओं के होते थे, जिन पर मोर्चा लग जाता था। सेंध<संधि=छिद्र, विवर। मूस्<मुष्=चुराना। पेई< पेटिका=(आभरणादि की) पेटी। (७) खूँद<स्कन्द=पैरों से रौंदना, कुचलना। पर्<पड्<पत्=गिरना। इस छंद के उत्तरार्द्ध में कवि ने सांकेतिक शैली का प्रयोग किया है। चोर प्रेममार्ग का पथिक है [तुल० पंथ सूरिन्ह कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ै मंसूरू। (१२४.४)] ; उसका सेंध देना गुह्य साधन द्वारा ब्रह्मरंध्र तक चेतना का उत्थान करना है, द्वार उस ब्रह्मरंध्र का द्वार है, पेटिका दिव्य अनभूति है। गढ़ के सात खंड षट्चक्र और सहस्रार हैं। इन सातों खंडों की चढ़ाई ही आकाश (शिवलोक) का मार्ग है।

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया।
पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे।
नौ पँवरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा।
दसव दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठ बाँकी।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी।
गढ़ तर सुरँग कुंड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ।
चोर पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंति जेउँ लाव जुआरी।
जस मरजिआ समुँद धँसि मारै हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेहि ओहि सरग दुआरी औ चढ़ु सिंघल दीप ॥२१५॥

अर्थ--(१) "वह गढ़ ऐसा बाँका (दुर्गम) है जैसी तेरी काया है ; तू इसकी परीक्षा करके देख ले, वह इसी की छाया है। (२) उस दुर्गम गढ़ को हठपूर्वक युद्ध करने से नहीं प्राप्त किया जा सकता है (इस काया पर अधिकार वहिरंग साधनों से संभव नहीं है) इस पर अधिकार केवल आत्मपरिचय से प्राप्त हुआ है। (३) इस दुर्गम गढ़ में नौ पौरियाँ हैं, और उन पौरियों पर पाँच कोटपाल फेरे लगाते रहते हैं। (इस काया में नव द्वार हैं, जिन पर पाँच पञ्चप्राण रखवाली करते रहते हैं)। (४) इसका दसवाँ द्वार एक गुप्त नाका (नियंत्रण-केन्द्र) है, जिसकी चढ़ाई अगम्य है और जिसका मार्ग अत्यधिक दुरूह है (इस काया का दशम द्वार--ब्रह्मरंध्र--एक गुप्त चेतना-केन्द्र है, उस की ओर चेतना का उत्थान अगम्य है और उसको प्राप्त करने का मार्ग अत्यंत दुरूह है)। (५) कोई भेदी ही उस घाटी के मार्ग से जा सकता है, जो उस मार्ग का भेद ले (जान) कर चींटी बनकर रेंगता हुआ चढ़े (कोई ऐसा साधक ही दशम द्वार तक उस दुरूह विधि से पहुँच सकता है जो उस विधि का भेद जानकर चक्रभेदन की पिपीलिका गति का अनुसरण करे)। (६) उस गढ़ के नीचे एक और

सुन्दर कुंड है, उसी में वह गुप्त मार्ग है जिसे मैं तुझे बता रहा हूँ (इस काया के तल में मूलाधार चक्र है, और उसी में वह सुषुम्णा का मार्ग है जो मैं तुझे बता रहा हूँ।) (७) जैसे चोर घुसकर (अत्यंत सतर्कतापूर्वक चुपचाप) सेंध लगाता है, अथवा जुए के दाँव पर जुआड़ी अपना जी लगाए रहता है, (८) अथवा जैसे मरजीवा समुद्र में पैठ जाता है और तब उसके हाथ में [मोती वाली] सीपी आती है, (९) तू भी उसी प्रकार [उस कुंड (मूलाधार चक्र) में डुबकी लगा कर] उस स्वर्ग के द्वार (ब्रह्मरंध्र के मार्ग)--सुषुम्णा को ढूँढ ले और सिंहल (काया) द्वीप पर चढ़ाई कर दे।"

टिप्पणी--(१) बाँक<बंक<वक्र। परख<परि+इक्ष=परीक्षा लेना, जाँच करना। (२) पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्है : यह काया अयोध्या है। (३) पँवरी< प्रतोली=मुख्यद्वार। कोटवार<कोट्टपाल=परकोट अथवा दुर्ग का रक्षक। (४) नाँकी =नाका, नियंत्रण-केन्द्र। (५) घाटी<तंग या संकीर्ण मार्ग (जैसे दो पहाड़ों के बीच की घाटी।) (६) अवगाह<अवगाढ़=गंभीर, गहरा। चाँटी=चींटी। योग के दो मुख्य रूप जायसी के समय में मान्य थे : एक हठयोग का चक्रभेदन काया जिसे पिपीलकयोग कहते थे, दूसरा राजयोग का आत्मज्ञान का था जिसे विहंग योग कहते थे। (६) अवगाह<अवगाढ़=गम्भीर, गहरा (७) सेंधि<संधि=छिद्र, विवर। पैंत< पइत्ति<प्रवृत्ति=जुए की चाल ; अथवा पैंत<पणित, जुए पर लगाया गया धन। (८) मरजिया<मरजीवय<मरजीवक [दे०] समुद्र में गोता लगाने वाला। सीप< सुत्ति<शक्ति=सीपी।

दसवँ दुआर तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी।
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहिं करु नाँसा।
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता।
हौं हौं कहत मंत सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब सोई।
जियतहिं जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा।
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला।
आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ॥२१६॥

अर्थ--(१) वह दशम् द्वार (ब्रह्मरंध्र) ताड़ के सदृश ऊँचा है ; जो दृष्टि को उलटी करके लगाता है (इंद्रियों को संसार से हटाकर अन्तर्मुखी करता है) वही उसे देख पाता है। (२) उस द्वार (ब्रह्मरंध्र) तक जो जाता है, वह साँस और मन को बन्द करके जाता है, जिस प्रकार कृष्ण ने [साँस और मन को बाँध कर] कालिन्दी में गोता लगाया था [जब उन्होंने कालीय को नाथा था]। (२) तू साँस को मार-कर (प्राणायाम की साधना से) मन को वश में कर : यदि तुझे मरना ही है, तो अपने को (अहंभाव) ही नष्ट कर (मार)। (३) प्रकट में तू लोकाचार की बातें कर किन्तु गुप्त रूप से उससे मन लगा जिस पर तेरा मन अनुरक्त है। (४) सभी 'अहम्' 'अहम्'

का मंत्र कहते हैं किन्तु जब तू (तेरा अहंभाव पूर्ण पृथक् अस्तित्व) न रहेगा, तब सब कुछ वही (परमात्मा) होगा। (५) जो जीवित रहते हुए एक बार ही मर जाता है, तो पुनः (तदनंतर) कहाँ मृत्यु है, और कौन उसे मार सकता है। (७) उस स्थिति में वह स्वयं ही गुरु रहता है, वह स्वयं ही चेला भी रहता है, वह स्वयं ही समस्त (सत्ता) है और वह स्वयं ही एकमात्र (सत्ता) होता है। (८) वह स्वयं ही मृत्यु, और पुनः स्वयं ही जीवन, और स्वयं ही तन भी और मन भी होता है। [क्योंकि उस दशा में उसके अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं है]; (९) वह स्वयं अपने को जैसा चाहता है वैसा करता है, तब कहाँ का कोई दूसरा [रह जाता] है ?"

टिप्पणी—(१) तार<ताल॥ताड़। लाव्<लगम्=लगाना। (३) नाथ्= नस्त करना, नाक में छिद्र करके डोरी डालना। रात<रत्त<रक्त=अनुरक्त। (४) हौं हौं<अहम् [तुल० 'अहम् ब्रह्मास्मि]। (५) मीचु<मृत्यु। (६) चेला< चेड<चेट=सेवक, शिष्य।

इस छंद में जायसी ने अपनी गुह्य साधना के और विस्तारों का निरूपण किया है, और खुल कर किया है। इसमें उन्होंने पुनः जीवन में ही एक बार मरण की आवश्यकता का प्रतिपादन, अमरत्व और दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए किया है। इस छंद की अंतिम पंक्तियों में जायसी का आत्मवाद बहुत मुखर है, जो इस्लाम से बिल्कुल भिन्न है।

सिद्ध गोटिका राजैं पावा। औ भै सिद्धि गनेस मनावा।
जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका। परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका।
सबै पदुमिनीं देखहिं चढ़ीं। सिंघल घेरि गईं उठि मढ़ीं।
जस खरभरा चोर मति कीन्ही। तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्ही।
गुपुत जो रहै चोर सो साँचा। परगट होइ जीव नहिं बाँचा।
पँवरि पँवरि गढ़ लाग केवारा। औ राजा सौं भई पुकारा।
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेले। न जनैं कौन देस सौं खेले।
भई रजाएसु देखहु को भिखारि अस ढीठ।
जाइ बरजि तिन्ह आवहु जन दुइ जाइ बसीठ॥२१७॥

अर्थ—(१) जब राजा ने [यह] सिद्ध-गुटिका प्राप्त की और उसे सिद्धि [प्राप्त] हो गई, उसने गणेश का स्मरण किया। (२) जब शंकर ने वह सिद्धिगुटिका दी, तो त्वरा मच गई और योगियों ने सिंहलगढ़ को छेंक लिया। (३) समस्त पद्मिनियाँ घरों के ऊपरी भागों में चढ़ी हुई यह देख रही थीं। सिंहल [नगरी] घिर गई थी, इसलिए वे [हट] कर [महादेव की] मढ़ी में चली गईं। (४) जिस प्रकार की त्वरा की मति क्षुब्ध (पकड़े जाने के डर से चौकन्ने) चोर की होती है, उसी प्रकार की मति योगियों ने की और उसी प्रकार उन्होंने भी सिंहल गढ़ में सेंध लगाना चाहा, (५) क्योंकि जो गुप्त रह सके, वही सच्चा चोर होता है, यदि प्रकट हो गया तो उसके प्राण नहीं बच सकते हैं। (६) [गढ़ के छेंके जाने की सूचना मिलने पर] उसकी प्रत्येक प्रतोली में कपाट लग गए [बंद हो गए], और राजा के सम्मुख पुकार हुई, '[कुछ] योगियों ने आकर गढ़ को छेंक लिया है और पड़ाव डाल दिया है। पता नहीं

वे किस देश से आ खेले (कौतुकपूर्वक आगए) हैं।" (७) राजादेश हुआ "देखो ये इस प्रकार के धृष्ट भिखारी कौन हैं। (९) दो व्यक्ति बसीठी में [दूत बन कर] जाएं और उन्हें मना कर आएँ।"

टिप्पणी--(१) सिद्ध गोटिका<सिद्ध गुटिका=सिद्धं (शोधित) पारद-गुटिका : सिद्ध पारद के सेवन से अभिनव शरीर की प्राप्ति कही गई है और कहा गया है कि इससे साधक को आत्मप्रकाश प्राप्त होता है--दे० मध्वाचार्य प्रणीत 'सर्वदशन संग्रह' के अन्तर्गत 'रसेश्वरदशन' श्लोक १७। (२) गोटेका<गोटिका<गुटिका। हूल=त्वरा, शीघ्रता। [दे०] हुलिअ [दे०]=शीघ्र, वेगयुक्त। (३) मढ़ी<मठिका=मठ। (४) खरभरा<खलभलिय [दे०]=क्षुब्ध। सेंधि<सन्धि=छिद्र, विवर। (५) बाँच्<वच्च<व्रज्=जाना, बचना। (६) पँवरी<पओली<प्रतोली=मुख्य द्वार। केवार<कवाड<कपाट। सौं<सउँह<सम्मुख। (७) मेल्<मेलय्=डालना, पड़ाव करना। खेल्=क्रीड़ा करना (योगियों तथा पक्षियों के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग 'क्रीड़ा या कौतुक पूर्वक आना' के अर्थ में हुआ है।) (८) रजाएसु<राजादेश=राजाज्ञा। भिखारी<भिक्षाकारिन्=भिक्षुक। (९) बसीठ<वसिट्ठ<वसिष्ठ (?)=दूत।

उतरि बसिठ दुइ आइ जोहारे। कै तुम्ह जोगी कै बनिजारे।
भई रजाएसु आगें खेलहु। यह गढ़ छाड़ि अनत होइ मेलहु।
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे। आएहु मरै हाथ जिउ लीन्हे।
इहाँ इंद्र अस राजा तपा। जबहिं रिसाइ सूर डरि छपा।
हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु।
जोगी हहु तौ जुगित सौं माँगहु। भुगुति लेहु लै मारग लागहु।
इहाँ देवता अस गए हारी। तुम्ह पतिंग को आहि भिखारी।
तुम्ह जोगी बैरागी कहत न मानहु कोहु।
माँगि लेहु कछु भिख्या खेलि अनत कहुँ होहु ॥२१८॥

अर्थ--(१) गढ़ से उतरकर (नीचे आकर) दो बसीठों ने [योगियों को] जुहार किया और कहा, "चाहे तुम योगी हो, चाहे बनजारे, (२) राजाज्ञा यह हुई है कि तुम कौतुक करते हुए आगे जाओ, और इस गढ़ को छोड़कर अन्यत्र हो (पहुँच) कर वहाँ पड़ाव करो। (३) इस प्रकार [गढ़ से] तुम किसके शिक्षा देने पर लग गए हो? [जान पड़ता है कि] तुम अपने हाथों में अपने प्राण लेकर मरने के लिए आए हो। (४) यहाँ पर इन्द्र जैसा [पराक्रमी] राजा तप रहा है और जभी वह रोष करता है, सूर्य भी डरकर छिप जाता है। (४) यदि तुम बनजारे हो, तो वणिज क्रय करो, और जो व्यापार [की वस्तुएँ] तुम लेना (क्रय करना) चाहते हो, ले (क्रय) कर अपने मार्ग में लगो। (६) यदि योगी हो, तो युक्ति से माँगो; और भुक्ति (भोजन) लेकर अपने मार्ग में लगो। (७) यहाँ पर इसी प्रकार [आकर] देवता [तक] हार गए हैं, तुम भिखारी पतिंग कौन [किस गिनती में] हो? (८) तुम योगी-विरागी हो; हमारे कहने पर क्रोध न करो, (९) कुछ भिक्षा [राजा से] माँग लो और [यहाँ] कौतुक करके कहीं अन्यत्र होओ (जा पहुँचो)।"

टिप्पणी--(१) बसीठ<बसिट्ठ<वसिष्ठ(?)=दूत। बनिजारा<वणिजारय< वाणिज्यकारक=व्यापारी। (२) रजाएस<राजादेश<राजाज्ञा। खेल्=क्रीड़ा करना, क्रीड़ा या कौतुकपूर्वक जाना। सेल्<मेलय्<डालना, डेरा डालना, पड़ाव करना। (५) बनिज<वणिज्य=व्यापार का सौदा।(६) जुगुति=युक्ति। भुगुति<भुक्ति= भोजन। (८) कोह<क्रोध। (९) अनत<अन्यत्र।

अनु हौं भीखि जो आएउँ लेई। कस न लेउँ जौं राजा देई।
पदुमावति राजा कै बारी। हौं जोगी तेहि लागि भिखारी।
खप्पर लिए बार भा माँगौं। भुगुति देइ, लै मारग लागौं।
सोई भुगुति परापति पूजा। कहाँ जाउँ अस बार न दूजा।
अब धर इहाँ जीउ ओहि ठाऊँ। भसम होउँ पै तजौं न नाऊँ।
जस बिनु प्रान पिंड है छूँछा। धरम लागि कहिअहु जौं पूँछा।
तुम्ह बसीठ राजा की ओरा। साखि होहु एहि भीखि निहोरा।
जोगी बार आव सो जेहि भिख्या कै आस।
जौं निरास दिढ़ आसन कत गवने केहु पास ॥२१६॥

अर्थ--(१) [बसीठों की बात सुन कर रत्नसेन ने कहा,] "अवश्य। यदि मैं भिक्षा लेने आया हूँ, और यदि राजा देगा ही तो मैं उसे कैसे न लूँगा? (२) पद्मावती राजा की बालिका है; मैं योगी उसी के लिए भिक्षुक हूँ। (३) खप्पर लिए हुए [राजा के] द्वार पर पहुँच कर [भिक्षा] माँग रहा हूँ। मेरी वह भुक्ति मिल जाए, तो मैं अपने मार्ग लगूँ। (४) वही मेरी भुक्ति और प्राप्ति को पूरा कर सकती है। अब मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ? ऐसा द्वार दूसरा नहीं है [जहाँ यह मिल सके]। (५) अब मेरा धड़ यहाँ है और जीव वहाँ (उस राजकन्या के पास) है; मैं भस्म भले ही हो जाऊँ, पर उसका नाम [-स्मरण] नहीं छोड़ूँगा। मेरा पिंड (शरीर) जैसे बिना प्राण का होकर रिक्त है; धर्म-निर्वाह के लिए (धर्म समझ कर) ही तुम जो प्रश्न करोगे, उसका उत्तर मैं दूँगा। (७) तुम राजा की ओर के बसीठ हो [अतः] इस भिक्षा के निहोरे (निमित्त) तुम मेरे साक्षी बनो। (८) वही योगी [किसी के] द्वार पर आता है जिसे [उससे] भिक्षा की आशा होती है; (९) यदि वह निराश्रित (निरपेक्ष) और आसन (स्थान) का दृढ़ हो, तो किसी के पास क्यों जाए?"

टिप्पणी--(१) अनु=अवश्य अनुमोदनात्मक अव्यय। (२) बारी<बालिका। (३) खप्पर<कपर=भिक्षापात्र। बार<वार<द्वार। (५) धर<धड [दे०]= शरीर का, सिर के नीचे का भाग, कबन्ध। (६) छूंछ<छुच्छ<तुच्छ=हलका, रिक्त। (७) बसीठ<वसिट्ठ<वसिष्ठ=दूत। (९) निरास<निराश्रित=निरपेक्ष, जिसे किसी से कुछ लेना-देना न हो।

सुनि बसिठन्ह मन उपनी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहिं पीसा।
जोगी औस कहै नहिं कोई। सो कहु बात जोग तोहि होई।
वह बड़ राज इंद्र कर पाटा। धरती परें सरग को चाटा।
जौं यह बात होइ तहँ चली। छूटहिं हस्ति अबहिं सिंघली।

औ छूटहिं तहँ ब्रज्र के गोटा । बिसरै भुगुति होहु सब रोटा ।
जहँ लगि दिस्टि न जाइ पसारी । तहाँ पसारसि हाथ भिखारी ।
आगू देखि पाव धरु नाथा । तहाँ न हेरु टूट जहँ माँथा ।
वह रानी जेहि जोग है तेहि क राज औ पाट ।
सुंदरि जाइ राज घर जोगिहि बंदर काट ॥२२०॥

अर्थ--(१) यह [उत्तर] सुनकर उन वसीठों के मन में रोष उत्पन्न हुआ, और उन्होंने कहा, "जौ के पिसते हुए घुन भी पीसा जाएगा (तुम्हारी ओर से ऐसी भिक्षा का निवेदन करने पर हम पर भी वही बीतेगी जो तुम पर) । (२) ऐसा कोई भी योगी नहीं कहता है; वही बात तुम कहो जो तुम्हारे योग्य हो । (३) उसका बड़ा राज्य और उसका इन्द्र का सिंहासन है [और तुम उसके राजा की कन्या चाहते हो] ! धरती पर पड़े-पड़े आकाश को कौन चाट सका है ? (४) यदि यह बात वहाँ (उसके सामने) हो चली (हुई), तो अभी सिंहली हाथी छूट पड़ेंगे, (५) और वहाँ से वज्र के गोले छूटने लगेंगे; तब तुम्हारी मुक्ति तुम्हें भूल जाएगी और तुम सब रोट (रोटियाँ) बन जाओगे। (६) जहाँ तक दृष्टि भी प्रसारित नहीं की जा सकती है, वहाँ तक तू, ऐ भिखारी, अपना हाथ पसार रहा है ! (७) ऐ नाथ (साधक योगी), आगे [की भूमि] देख कर पाँव रख; वहाँ (उस ऊँचाई को) न देख जहाँ देखते-देखते तेरा मस्तक (सिर) टूट जाए । (८) वह रानी जिसके योग्य है, उसी का [सिंहल का] राज्य और सिंहासन होगा। (९) सुन्दरी तो राजघराने में जाती है और योगी को बन्दर काटता है ।

टिप्पणी--(१) उपन्∧उत्+पत्<उत्पन्न होना । घुन=घुण<नाज का एक कीट । (२) जोग<योग्य । (३) पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा, सिंहासन । चाट्<चट्ट [दे०]=चाटना । (५) गोटा=गोला । रोटा<रोट्टग [दे०]=बड़ी रोटी । (६) पसार्<प्रसारय्=फैलाना । (७) आगू<अग्ग<अग्र=आगे की भूमि । (९) सुंदरी जाइ राजघर जोगिहि बंदर काट : एक कथा है कि किसी वणिक् की एक कन्या थी, जो बहुत रूपवती थी । उसे देखकर एक योगी मोहित हो गया । अतः उसने उसे प्राप्त करने का एक उपाय किया : उसने वणिक से कहा कि यह कन्या उसका सर्वनाश करने वाली है, अतः इसे किसी सन्दूक में बन्द कर नदी में वह प्रवाहित कर दे । वणिक् ने वैसा ही किया । संयोग से एक राजकुमार को वह सन्दूक नदी में बहता दिखाई पड़ा । उसने निकलवाया तो वह सुन्दरी कन्या मिली और उसको उसने अपने प्रासाद में स्थान दिया । साथ ही, उस सन्दूक में बन्दर रखवा कर उसे पुनः नदी में डलवा दिया । जब वह योगी के स्थान के पास आया, योगी ने उसे नदी से निकलवाया, किन्तु उसमें से जो बंदर निकला, उसने योगी को काट खाया ।

जौं जोगिहि सुठि बंदर काटा । एकै जोग न दोसरि बाटा ।
और साधना आवै साधें । जोग साधना आपुहिं दाधें ।
सरि पहुँचाइ जोग करु साथा । दिस्टि चाहि होइ अगुमन हाथा ।
तुम्हरे जौं हैं सिंघली हाथी । मोरें हस्ति गुरू बड़ साथी ।
हस्ति नास्ति जेहि करत न बारा । परबत करै पाव कैं छारा ।

गढ़ कै गरब खेह मिलि गए । मंदिर उठहिं ढहहिं भे नए ।
अंत जौ चलना कोऊ न चीन्हा । जो आवे सो आपुन कीन्हा ।
जोगिहि कोह न चाहिअ तब न मोहिं रिसि लागि ।
जोग तंत जेउँ पानी काह करै तेहि आगि ॥२२१॥

अर्थ--(१) "यदि" [रत्नसेन ने कहा,] "योगी को बन्दर भी भलीभाँति काटे, तो भी उसके लिए एकमात्र योग का ही मार्ग है, दूसरा नहीं । (२) और साधनाएँ साधना करने से आती हैं, योग-साधना अपने को दग्ध करने से आती है । (३) योग को अंतिम सीमा तक पहुँचा कर [पहुँचाते हुए] उसका साथ करना चाहिए, और [उसमें] दृष्टि से आगे हाथ (साधना) को होना चाहिए । (४) तुम्हारे पास यदि सिंहली हाथी हैं, तो मेरे हाथी मेरे बड़े भारी सार्थिक गुरु हैं, (५) जिन्हें 'अस्ति' और 'नास्ति' करते हुए समय नहीं लगता है, जो पर्वत को पैर की धूल कर देते हैं । (६) गढ़ गर्व करके धूल में मिल गए हैं, और प्रासाद उठते हैं, और नए होकर भी ढह जाते हैं । (७) अन्त में जब इस संसार से विदा होना होता है, उस समय कोई भी नहीं पहिचानता है, (कोई भी निकट नहीं आता है); उस समय जो पदार्थ काम आता है, वह होता है अपना ही किया हुआ [सत्कर्म] । (८) योगी को क्रोध नहीं करना चाहिए, इसलिए मुझे रोष नहीं हुआ । (९) योग-तंत्र पानी-सदृश है, उसका आग (क्रोधाग्नि) क्या कर (बिगाड़) सकती है ?"

टिप्पणी--(१) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग । (२) दाध=दग्ध करना । (३) सरि∠सरिअ<सृतम्=अलं, पर्याप्त, बस । (४) साथी<सत्थिअ<सार्थिक=साथ का सदस्य । (५) हस्ति [फ़ा०] अस्ति [सं०]=अस्तित्व । नास्ति=नहीं है । बार<वेला=समय । (६) ढह्=गिरना । (७) जौ<जउ<यदा=जब । (९) जोग तंत<योग-तन्त्र । छंद के पूर्वार्द्ध में कवि ने अपने प्रेम-मार्ग को एक प्रकार से याग-मार्ग कहा है ।

बसिठन्ह जाइ कही असि बाता । राजा सुनत कोह भा राता ।
ठाँवहि ठाँव कुँवर सब माँखे । केइँ अब लहि जोगी जिउ राखे ।
अबहुँ बेगि कै करहु सँजोऊ । तस मारहु हत्या किन होऊ ।
मंत्रिन्ह कहा रहहु मन बूझे । पति न होइ जोगी सों जूझे ।
ओइँ मारै तौ काह भिखारी । लाज होइ जौ मानिअ हारी ।
ना भल मुएँ न मारे मोखू । दुहूँ बात लागै तुम्ह दोखू ।
रहै देहु जौ गढ़ तर मेले । जोगी कत आछहिं बिन खेले ।
रहै देहु जौं गढ़ तर जनि चालहु यह बात ।
नितिहिं जो पाहन भख करहि अस केहिके मुख दाँत ॥२२२॥

अर्थ—(१) बसीठों ने जाकर गंधर्वसेन से इस प्रकार की बात कही, तो राजा सुनते ही क्रोध से लाल हो गया । (२) स्थान-स्थान पर जो कुमार थे, वे सब अमर्ष से भर गए, और वे (राजा तथा राजकुमार) कहने लगे, "किसने अब तक योगी के जीव को बना रहने दिया है ? (३) अब भी शीघ्रतापूर्वक संयोग (सैनिक एकत्रीकरण) करो

और वैसे ही [शीघ्र ही] उसे मारो, भले ही क्यों न हत्या लगे।" (४) मंत्रियों ने कहा, "मन में इसे समझ रक्खो कि योगी से युद्ध करने से पति न रहेगी; (५) यदि उसे मारा भी तो क्या हुआ ? भिखारी को ही मारा। और, यदि हार मान ली, तो लज्जा हुई। (६) न [उसके हाथों] मरने से भला होगा और न उसको मारने पर मोक्ष होगा, दोनों बातों से तुम्हें दोष लगेगा। (७) उन्हें रहने दो यदि वे गढ़ के नीचे पड़ाव किए हुए हैं, योगी बिना कौतुकपूर्वक गए कहाँ रहते (मानते) हैं ? [कभी न कभी वे जाएँगे ही।] (८) यदि वे गढ़ के नीचे हैं, तो उन्हें वहाँ [पड़ा] रहने दो, [उन्हें मारने की] यह बात न चलाओ, (९) जो नित्य ही पाषाण भक्षण करें, ऐसे दाँत किसके मुख में हैं ? [बिना भोजन किए वे कब तक रहेंगे ?]

टिप्पणी—(१) **रात<रत्त<रक्त=लाल** । (२) **माँख्<अमृष=अमर्ष (रोष) करना।** (३) **संजोअ<संयोग।** (४) **पति<पत्तिअ<प्रत्यय=विश्वास।** (६) **मोख<मोक्ष।** (७) **मेल्<मेलय्=मिलान या पड़ाव करना।** आछ्<अस्= **होना। खेल्=क्रीड़ा करना, कौतुक या क्रीड़ापूर्वक जाना।** (९) **पाहन भख करना= पाषाण-भक्षण करना (तुल० बालू फांकना)।**

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए। राजैं कहा बहुत दिन लाए।
न जनौं सरग बात दहुँ काहा। काहु न आइ कही फिरि चाहा।
पाँख न कया पवन नहिं पाया। केहि बिधि मिलौं होउँ केहि छाया।
सँवरि रकत नैनन्ह भरि चुवा। रोइ हँकारा माँझी सुवा।
परे सो आँसु रकत के टूटी। अबहुँ सो राती बीर बहूटी।
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुवा जो लीन्ह चोंच भै राती।
बाँधा कंठ पर जरि काँठा। बिरह क जरा जाइ कहँ नाँठा।
मसि नैना लिखनी बरुनि रोइ रोइ लिखा अकथ्थ।
आखर दहै न केहुँ गहै सो दीन्ह सुवा के हथ्थ ॥२२३॥

अर्थ—(१) बसीठ गए और लौट कर नहीं आए, इसलिए राजा (रत्नसेन) कहने लगा, "बहुत दिन उन्होंने लगा दिए। (२) वहाँ स्वर्ग (आकाश—गंधर्वसेन के धवलगृह) में न जाने क्या बातें हो रही हैं। किसी ने लौट कर समाचार नहीं कहा। (३) मेरी काया में न पंख हैं और न पैरों में पवन है, अतः किस प्रकार [पद्मावती से] मिलूँ और किसकी छाया (आश्रय) में होऊँ ?" (४) [पद्मावती का] स्मरण कर उसके नेत्रों में रक्त भर आया और [आँसू बनकर] टपकने लगा। [इस प्रकार] रोकर उसने [अपनी साधना-नौका के] कर्णधार सुए (हीरामणि) को बुलाया। (५) रक्त के वे आँसू जो टूट कर गिरे, उनके कारण अब भी बीरबहूटी लाल है। (६) उसी रक्त से उसने पत्रिका लिख कर [सुए को] दी, और सुए ने जो उसे लिया (पकड़ा), तो उसकी चोंच लाल हो गई। (७) तदनंतर जब उसे उसके कंठ में बाँधा गया, तो कंठ ऐसा जल गया कि कंठा पड़ गया, क्योंकि विरह का जला (जलने का चिह्न) कहाँ नष्ट किया जा सकता है ? (८) नेत्र [की कालिमा] ही जिसके लिए मसि थी, बरौनियाँ [जिसके लिए] लेखनी थीं, और जिसमें अकथ्य (कथा) रो-रो कर लिखी गई थी, (९) और जो किसी

के द्वारा भी ली नहीं जा रही थी, क्योंकि उसके अक्षर दग्ध करने वाले थे, उसे (रत्न-सेन) उस सुए के हाथ में दिया।

टिप्पणी--(१) बहुर्<बाहुड्<व्याघट् = वापस होना, लौटना। लाव्<लागय्: लगाना। (२) सरग<स्वर्ग = आकाश = आकाश तुल्य गंधर्वसेन का धवलगृह। (३) पाँख<पंख<पक्ष = डैना। पाय<पाअ<पाद। (६) चोंच<चञ्चु। (७) नाँठा<णट्ठ<नष्ट।

ओ मुख वचन सो कहेस परेवा। पहिले मोरि बहुत कै सेवा।
पुनि सँवराइ कहेसु अस दूजी। जौं बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी।
सो अबहीं तपसी बलि लागा। कब लगि कया सून मढ़ जागा।
भलेहिं ऐस हौं तुम्ह बलि दीन्हा। जहँ तुहुँ तहँ भावै बलि कीन्हा।
जौं तुम्ह माया कीन्ह पगु धारा। दिस्टि देखाइ बान बिख मारा।
जो अस जाकर आसामुखी। दुख महँ ऐस न मारै दुखी।
नैन भिखारि न माँगै सीखा। अगुमन दौरि लेहिं पै भीखा।
नैनहिं नैन जो बेधिगै नहिं निकसहिं वै बान।
हिएँ जो आखर तुम्ह लिखे ते सुठि घटहिं परान ॥२२४॥

अर्थ--(१) [पत्रिका देते हुए रत्नसेन ने हीरामणि से कहा] "ऐ पक्षी, मुख से यह (इतना) और कहना। प्रथम तो मेरी बहुत प्रकार से सेवा कहना, (२) और दूसरे उसे स्मरण दिला कर [मेरी ओर से] यह कहना कि 'तुमने जो देवताओं की पूजा करके उन्हें बलि दी (३) उसमें बलि दिया गया मैं तपस्वी (रत्नसेन) अभी तक पड़ा हुआ हूँ; [अभी और] कब तक मेरी काया उस शून्य मठ में जागती (जीवित) पड़ी रहेगी? (४) यह तुमने अच्छा ही किया कि मुझे इस प्रकार बलि दिया, [क्योंकि] जहाँ तुम हो वहाँ मुझे बलि दिया जाना [ही] भाता है। (५) [किन्तु] जहाँ तुमने मुझ पर कृपापूर्ण स्नेह किया और वहाँ पधारीं, वहीं तुमने यह भी किया कि अपनी दृष्टि दिखा कर मुझे विष का वाण मार दिया। (६) जो इस प्रकार जिसके आश्रय का मुखापेक्षी होता है, उस दुःख में [पड़े हुए] दुखी व्यक्ति को इस प्रकार न मारना चाहिए। (७) मेरे नेत्र भिखारियों ने माँगना सीखा नहीं है, इसलिए वे दौड़कर आगे बढ़ जाते हैं कि हो न हो भीख ले लें। (८) किन्तु इस भिक्षा-याचना में तुम्हारे नेत्रों से मेरे नेत्र जो विद्ध हो गए, उनमें चुभे हुए वाण [अभी तक] नहीं निकल रहे हैं, (९) और जो अक्षर तुमने मेरे हृदय पर लिख दिए थे, वे मेरे प्राणों को अत्यधिक आहत कर रहे हैं।"

टिप्पणी--(१) परेवा<पारेवय<पारावत = कबूतर, पक्षी। (२) सँवराव्<समराव्<स्मारय् = स्मरण कराना। (५) मया<माया = स्नेह पूर्ण कृपा। (७) भिखारी<भिक्खारि<भिक्षाकारिन् = भिक्षुक। (९) आखर = अक्षर। घट्ट = आहत करना।

ते बिष बान लिखौं कहँ ताईं। रकत जो चुवा भीजि दुनियाईं।
जानु सो गारै रकत पसेऊ। सुखी न जान दुखी कर भेऊ।
जेहि न पीर तेहि का करि चिंता। प्रीतम निठुर होइ अस निंता।

कासौं कहौं बिरह कै भाखा। जासौं कहौं होइ जरि राखा।
बिरह अगिनि तन जरि बन जरे। नैंन नीर साएर सब भरे।
पाती लिखिसँवरि तुम्ह नामाँ। रकत लिखे आखर भे स्यामाँ।
अच्छर जरे न काहूँ छुवा। तब दुख देखि चला लैं सुवा।
अब सुठि मरौं छूँछि गैं पाती पेम पियारे हाथ।
भेंट होत दुख रोइ सुनावत जीव जात जौ साथ ॥२२५॥

अर्थ--(१) "[तुम्हारे नेत्रों के] उन विष-वाणों के बारे में कहाँ तक कहूँ; उनके लगने से [मेरे नेत्रों से] जो रक्त चुवा, उससे संसार ही भीग गया। (२) इसे वही जान सकता है जिसने रक्त का पसीना निचोड़ा हो। सुखी दुखिया का भेद नहीं जानता है (३) जिसे स्वयं पीड़ा नहीं है, उसे किसी की चिन्ता क्या हो? प्रियतम इस प्रकार नित्य ही निष्ठुर होता है। (४) विरह की वह भाषा किससे कहूँ, क्योंकि जिससे कहता हूँ, वही जल कर राख हो जाता है। (५) [मेरे] विरह की अग्नि से मेरा शरीर दग्ध हुआ और वन जल गया; [इसी प्रकार] मेरे नेत्रों के जल से समस्त सागर भर गए। (६) यह पत्रिका जो तुम्हारा नाम (तुम्हें) स्मरण कर मैंने लिखी, तो रक्त से लिखे मेरे अक्षर [जल कर] श्याम हो गए, (७) और [क्योंकि] अक्षर जलने लगे, इसलिए किसी ने उस पत्रिका को छुआ नहीं। तब मेरा दुःख देख कर उस पत्रिका को लेकर हीरामणि चला। (८) अब अत्यधिक इसलिए मर रहा हूँ कि पत्रिका प्रेम-प्रिय के हाथों में खाली जा रही है [उसके साथ मेरे प्राण नहीं जा रहे हैं]। (९) यदि मेरे प्राण भी उसके साथ जाते तो वे [अवश्य] तुमसे भेंट होने पर मेरा दुःख रोकर तुम्हें सुना पाते।"

टिप्पणी--(२) पसेउ<पसेअ<प्रस्वेद=पसीना। भेउ<भेद। (५) साएर<सायर<सागर। (६) सँवर्<समर्<स्मृ=स्मरण करना। (८) छूंछ<छुच्छ<तुच्छ=खाली, रिक्त।

कंचन तार बाँधि गियँ पाती। लै गा सुवा जहाँ धनि राती।
जैसें कँवलि सुरुज कै आसा। नीर कंठ लहि मरै पियासा।
बिसरा भोग सेज सुख बासू। जहाँ भँवर सब तहाँ हुलासू।
तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ। सुनतहिं घरी रहे नहिं जीऊ।
तब लगि सुख हियँ पेम न जामा। जहाँ पेम का सुख बिसरामा।
अगर चंदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू।
कथा कहानी सुनि सुठि जरा। जानहुँ घीउ बैसंदर परा।
बिरह न आपु सँभारै मैल चीर सिर रूख।
पिउ पिउ करत राति दिन पपिहा भइ मुख सूख ॥२२६॥

अर्थ—(१) कंचन के तार से उस पत्रिका को गले में बाँध कर सुआ उसे वहाँ ले गया जहाँ वह अनुरक्ता स्त्री (पद्मावती) थी। (२) [उस नारी की दशा वैसीं ही हो रही थी] जैसी सूर्य की आशा में कमल की होती है, जो आकंठ जल में होते हुए भी [सूर्य के लिए] पिपासार्त्त रहता है। (३) उसे सेज और सुख-वास के [समस्त]

भोग विस्मृत हो गए, [क्योंकि] उसका समस्त उल्लास वहाँ था जहाँ उसका भ्रमर (प्रेमी) था। (४) उसे धैर्य उसी समय तक था जब तक उसने 'प्रिय' को सुना नहीं था, और उसे सुनते ही एक घड़ी भी उसके प्राण नहीं रहे। (५) सुख तभी तक होता है जब तक हृदय में प्रेम नहीं जन्म लेता है; जहाँ प्रेम [आया], वहाँ सुख और विश्राम कहाँ? (६) अगुरु और चन्दन उसके शरीर को अत्यधिक दग्ध करते थे और उसकी काया का वस्त्र आग हो गया था। (७) कथा-कहानियाँ सुनकर तो [वह शरीर] अत्यधिक जलता था, जैसे अग्नि में घी पड़ गया हो। (८) वह विरह में अपने-आपको नहीं सँभाल पाती थी, उसका चीर मैला और सिर रूखा हो गया था, (९) रात-दिन 'प्रिय', 'प्रिय' करते हुए वह पपीहा बन रही थी और उसका मुँह सूख रहा था।

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री। रात<रत्त<रक्त=अनुरक्त। (२) पिआसा<पिपासत्=पीने की इच्छा वाला। (३) बिसर्<विसर<वि+स्मृ= भूलना। सुखबास=सुख का निवास। हुलास<उल्लास। (४) पीउ<पिउ<प्रिय। (७) बैसंदर<वैश्वानर=अग्नि। (८) मैल<मइल<मलिन=मैला। रूख< रुक्ख<रुक्ष=रूखा। (९) पपिहा<पप्पीअ [दे०]=चातक पक्षी।

ततखन गा हीरामनि आई। मरत पियास छाँह जनु पाई।
भल तुम्ह सुवा कीन्ह है फेरा। गाढ़ न जाइ पिरीतम केरा।
बातन्ह जानहु बिखम पहारू। हिरदैं मिला न होइ निनारू।
मरम पनि कर जान पियासा। जो जल मँह ताकहँ का आसा।
का रानी पूँछहु यह बाता। जनि कोइ होइ प्रेम कर राता।
तुम्हरे दरस लागि बियोगी। अहा जो महादेव मढ़ जोगी।
तुम्ह बसंत लैं तहाँ सिधाईं। देव पूजि पुनि ओपहुँ आईं।
दिस्टि बान तस मारेहु घाइ रमा तेहि ठाउँ।
दोसरी बार न बोला लैं पदुमावति नाउँ॥२२७॥

अर्थ--(१) उसी क्षण हीरामणि आ गया, तो [उस नारी को ऐसा सन्तोष प्राप्त हुआ] जैसे प्यास से मरते हुए को छाया प्राप्त हो गई हो। (२) "ऐ सुआ", [उसने कहा], "तुमने यह अच्छा किया कि इधर तुमने फेरा लगा दिया है, प्रियतम [के विरह] का संकट नहीं जा रहा है। (३) बातों में [कहने के लिए] [हमारे और उसके बीच] विषम पर्वत है, किन्तु मेरा हृदय उससे इतना मिला हुआ है कि अलग नहीं होता है। (४) पानी का मर्म प्यासा ही जानता है; जो जल में होता है, उसे [जल की] क्या अपेक्षा?" (५) [हीरामणि ने कहा,] "हे रानी, यह बात तुम क्या पूछती हो (कहती हो)? कोई भी प्रेम का अनुरागी न हो। (६) जो योगी महादेव के मठ में [तुम्हें मिला] था, वह तुम्हारे दर्शनों के लिए वियोगी था। (७) जब तुम वसंत [की पूजा] लेकर वहाँ गईं, और महादेव की पूजा करके पुनः उसके पास आईं, (८) [उस समय] तुमने उसको ऐसा दृष्टि-वाण मारा कि वह उस चोट में उसी स्थान पर [पड़] रहा, (९) और फिर 'पद्मावती' नाम लेकर दूसरी बार कुछ नहीं बोल सका। [इतना ही संकेत कर सका कि उसकी यह दशा पद्मावती ने की है]।"

टिप्पणी--(१) पिआस<पिपासा=पीने की इच्छा। (३) निनार<णिण्णार <निर्नगर=(नगर से निगत), अलग। (४) पिआसा<पिपासत्=पीने की इच्छा वाला। (६) मढ़<मठ। (७) सिधाय्<सिध्=जाना। (८) घाय<घात=चोट।

रोवँहिं रोवँ बान वै फूटे। सोतहि सोत रुहिर माकु छूटे।
नैनन्हि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा।
सूरज बूड़ि उठा परभाता। औ मँजीठ टेसू बन राता।
पुहुमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ तहँ अहा सो रात पखेरू।
भएउ बसँत राती बनफती। औ राते सब जोगी जती।
राती सती अगनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया।
ईंगुर भा पहार तस भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा।
तहाँ चकोर ककिला तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रकत भरि आए तुम्ह फिरि कीन्हि न डीठि॥२२८॥

अर्थ--(१) "वे तुम्हारे [नेत्र-] वाण उसके रोम-रोम से फूट निकले और मानो [उसके] सोत-सोत (प्रत्येक रोम कूप) से रुधिर निकलने लगा। (२) नेत्रों से [आँसुओं के रूप में] रक्त की धारा बह चली और [उस योगी का] कंथा भीग कर लाल हो गया। (३) [उसी रक्त में] डूब कर सूर्य [रक्त वर्ण का होकर] प्रभात में निकला और वन में किंशुक तथा मँजीठ लाल हो गए। (४) [उस रक्त से] जो [जितनी] पृथ्वी भीगी, वह संपूर्ण रूप से गेरू हो गई, और वहाँ जो पक्षी थे, वे लाल हो गए। (५) उस रक्त में भीग कर [सर्वत्र] वसंत हो गया और वनस्पतियाँ लाल हो गईं, और समस्त योगी-यती लाल [वस्त्रों वाले] हो गए। (६) सती (पति के शव के साथ जलने वाली स्त्री) [उसी से] रक्त वर्ण की हो गई और उसकी समस्त काया [जल कर] अग्नि हो गई। गगन और मेघ [उस रक्त की] छाया से लाल हो गए। (७) पहाड़ [उससे] इस प्रकार भीगा कि वह ईंगुर हो गया, किन्तु तुम्हारा [एक] रोयाँ भी नहीं पसीजा (द्रवित हुआ)। (८) वहाँ जो चकोर और कोकिल थे, उनके हृदय में [उसके प्रति] मया (स्नेह पूर्ण दया) प्रविष्ट हो गई (९) उनके नेत्रों में रक्त भर आया [और इसीलिए वे नेत्र लाल दीखते हैं,] किन्तु तुमने घूम कर [उसकी ओर] दृष्टि न की।"

टिप्पणी--(१) सोत<स्रोत=रोमकूप। (२) कंथा=गूदड़ों (चिथड़ों) का बना हुआ वस्त्र। (३) टेसू<किंशक=पलाश का फूल। (४) पखेरू<पक्षधर=पक्षी। (५) बनफती<वनप्फति<वनस्पति। (७) पसीज्<पसिज्ज्<प्रस्विद्=प्रस्वेदयुक्त होना।

ऐस बसंत तुम्हहिं पै खेलहु। रकत पराएँ सेंदुर मेलहु।
तुम्ह तौं खेलि मँदिर कहँ आईं। ओहिक मरम जस जान गोसाईं।
कहेसि मरै को बारहि बारा। एकहिं बार होउँ जरि छारा।
सर रचि रहा आगि जौं लाई। महादेव गौरैं सुधि पाई।
आइ बुझाइ दीन्ह पँथ तहाँ। मरन खेल कर आगम जहाँ।
उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग जौं परै पतारा।

अब धसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै साँस कि मरै निसाँसा।
पाती लिखि सो पठाई लिखा सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै काह रजाएसु होइ ॥२२९॥

अर्थ--(१) "ऐसा वसंत हो न हो, तुम्हीं खेलती हो और दूसरे के रक्त से [अपनी माँग में सुहाग का] सिन्दूर डालती हो। (२) तुम तो खेल कर मंदिर को आईं और [तदनन्तर] जैसा-कुछ उसके मन में हुआ, वह ईश्वर ही जानता है। (३) उसने कहा, 'कौन बार-बार मरे? एक ही बार में जलकर मैं राख हो जाऊँ।' (४) [यह सोच कर] चिता बनाकर जैसे ही उसने आग लगाई, महादेव और गौरा (पार्वती) ने यह समाचार पाया। (५) [तत्काल] आकर उन्होंने आग बुझाई और उसको वहाँ (उस साधना में) मार्ग दिया (बताया) जहाँ (जिसमें) मरना खेल का प्रारंभ [मात्र] है। (६) प्रेम के द्वार का मार्ग ऐसा उलटा है कि [सफलता के] स्वर्ग (आकाश) तक तभी कोई पहुँच सकता है जब कि वह गिर कर [यातना के] पाताल को चला जाए। (७) अब वह इसी आशा से मरजीवा की भाँति श्वासों को रोक कर धँस लेना चाहता है। या तो वह वह [कृत कार्य होगा और] श्वासों को पुनः पाएगा अन्यथा वह श्वास रहित होकर मरेगा। (८) उसने इसीलिए पत्रिका लिखकर भेजी है और [अपना] समस्त दुःख रो-रो कर लिखा है; (९) पता नहीं उसके प्राण रहें कि जाएँ, [उसके लिए] क्या राजादेश होता है?"

टिप्पणी—(१) पै<पइ<परम्=हो न हो, अवश्य ही। मेल्<मेलय्=डालना। (२) गोसाईं<गोस्वामी=स्वामी, ईश्वर। (३) छार<क्षार=राख। (५) आगम =आगमन, प्रारंभ। (६) बार<वार<द्वार। (७) पाती<पत्तिआ<पत्रिका। (९) रजाएस<राजादेश=राजाज्ञा।

कहि कै सुआ छोड़ि दई पाती। जानहु दिब्ब छुअत तसि ताती।
गीवँ जो बाँधे कंचन तागे। राते स्याम कंठ जरि लागे।
अगिनि स्वाँस सँग निकसै ताती। तरिवर जरहिं तहाँ का पाती।
जरि जरि हाड़ भए सब चूना। तहाँ माँसु का रकत बिहूना।
रोइ रोइ सुआँ कही सब बाता। रकत के आँसुन्ह भा मुख राता।
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा। सो कस जरै बिरह अस घेरा।
ओहँ तोहि लाग कया असि जारी। तपत मीन जल देइ न पारी।
तोहि कारन वह जोगी भसम कीन्ह तन डाहि।
तूँ अस निठुर निछोही बात न पूँछी ताहि ॥२३०॥

अर्थ—(१) यह कह कर सुए (हीरामणि) ने वह पत्रिका [गले से] खोल दी; वह ऐसी तप्त थी मानो दिव्य (तप्त लौह) हो। (२) उसने ग्रीवा में जो कंचन के तागे [उस पत्रिका को लटकाने के लिए] बाँध रक्खे थे, वे जलकर लाल और श्याम होकर कंठ में लग (पड़) गए थे। (३) उसके मुख से श्वासों के साथ तप्त अग्नि निकल रही थी। जहाँ उससे तरुवर जल रहे थे, वहाँ पत्तियों की कौन सी गिनती की जाए? (४) जल-जल कर उसकी सभी हड्डियाँ चूना हो गई थीं, और जब [शरीर में] रक्त

नहीं था, तो मांस क्या रहे ? (५) रो-रो कर हीरामणि ने सब वार्त्ता कही; रक्त के आँसुओं से उसका मुख (उसकी चोंच) लाल हो गया। (६) [उसने कहा,] "देख, [मेरा] कंठ जब [उस पत्रिका को लेने के कारण] जलने लगा, तो मैंने [पत्रिका को] गिरा दिया; [तब भला] वह किस प्रकार जलता होगा, जो ऐसे विरह से घेर लिया गया है। (७) उसने तो तेरे लिए अपनी काया इस प्रकार जलाई और तू उस तप्त होते हुए मीन को जल भी न दे सकी। (८) तेरे ही कारण उस योगी ने शरीर को जलाकर भस्म कर डाला है; (९) और तू ऐसी निष्ठुर और निर्दय है कि तूने उससे बात [तक] न पूछी।"

टिप्पणी--(१) दिब्ब<दिव्य=तप्त लौह आदि, जिसको हाथों या छाती पर रखकर अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की प्रथा थी। (२) तागा<तग्ग (दे०)= सूत। (४) हाड़<हड्ड<अस्थि। (६) गेर्<गालय्=गिराना। (७)जार्< ज्वालय्=जलाना। पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना। (८) डाह<दह्=दग्ध करना।

कहेसि सुआ मोसों सुनु बाता। चहौं तौ आजु मिलौं जस राता।
पै सो मरमु न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा।
हौं जानति हौं अबहूँ काँचा। न जनहु प्रीत रंग थिर राँचा।
न जनहु भएउ मलैगिरि बासा। न जनहु रबि होइ चढ़ा अकासा।
न जनहु होइ भँवर कर रंगू। न जनहु दीपक होइ पतंगू।
न जनहु करा भृंगि कै होई। न जनहु अबहिं जिऔ मरि सोई।
न जनहु पेम औटि एक भएऊ। न जनहु हिय महँ कै डर गएऊ।
तेहि का कहिअ रहन खिन जो है प्रीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेइ धँसि का पानी का आगि ॥२३१॥

अर्थ—(१) पद्मावती ने कहा, "ऐ सुए, मुझसे (मेरी) बात सुन, जिस प्रकार वह अनुरक्त है, [उसके अनुरूप] चाहूँ तो आज उससे मिल जाऊँ, (२) किन्तु वह ऐसा भोला है कि मर्म की बात नहीं जानता है; प्रीति [करना] वह जानता है जो मर कर [प्रीति] जोड़ता है। (३) मैं जानती हूँ (मेरा ऐसा अनुमान है) कि वह अभी भी कच्चा है, मानो वह प्रीति के रंग में स्थिर रूप से रञ्जित नहीं हुआ है। (४) मानो वह [वृक्ष] मलयगिरि से सुवासित नहीं हुआ है, मानो वह सूर्य होकर आकाश पर चढ़ा नहीं है, (५) मानो वह भँवर के रंग का नहीं हुआ है [वह केतकी के काँटों में विद्ध नहीं हुआ है], मानो वह दीपक पर पतिंगा नहीं हुआ है, (६) मानो वह भृंगी की कला का [कीट से परिवर्तित होकर भृंगी] नहीं हुआ है, मानो वह अभी मरण-लाभ कर नहीं जी रहा है, (७) मानो वह प्रेम [की अग्नि] में [दूध-पानी के समान] औटा जा कर एक नहीं हुआ है, मानो अभी उसके हृदय से [मरण का] डर नहीं गया है। (८) उसे (उससे) क्या क्षण भर भी रहने (रुकने) के लिए कहा जाए जो प्रियतम के लिए [जीवित] रह रहा है। (९) [उसे चाहिए कि] जहाँ भी वह (प्रियतम को) सुने, कूद पड़े, चाहे पानी हो, चाहे अग्नि हो।"

टिप्पणी--(२) जोर् <योजय्=जोड़ना । (५) काँचा<कच्च=कच्चा । राँच<रच्च्<रञ्ज्=रँगना । (६) भृंगि : भृंगी कीड़ा फनिक को लेकर उड़ते-उड़ते अपने जैसा बना लेता है । (७) अवट्<आउट्ट<आवतय्=औटना । इस छंद में कवि अपना प्रेम-मार्ग में मर कर जीने का सिद्धान्त स्पष्ट करता है ।

पुनि धनि कनक बानि मसि माँगी । उत्तर लिखत भीजि तन आँगी ।
तेहि कंचन कहँ चहिअ सोहागा । जो निरमल नग होइ सो लागा ।
हौं जो गई मढ़ मंडप भोरी । तहवाँ तूँ न गाँठि गहि जोरी ।
भा बिसँभार देखि कै नैना । सखिन्ह लाज का बोलौं बैना ।
खेल मिसुइँ मैं चंदन घाला । मकु जागसि तौ देउँ जैमाला ।
तबहुँ न जागा गा तैं सोई । जागें भेंट न सोएँ होई ।
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा । जौं जिउ देइ तौ आवै पासा ।
तब लगि भुगुति न लै सका रावन सिय एक साथ ।
अब कौन भरोसें किछु कहौं जीउ पराएँ हाथ ॥२३२॥

अर्थ--(१) तदनन्तर स्त्री (पद्मावती) ने [पत्र का उत्तर देने के लिए] कनक-वर्णी मसि (स्याही) माँगी और सात्विक प्रस्वेद से उत्तर लिखते समय उसकी अँगिया (चोली) भीग गई । (२) [उसने लिखा,] "उसके लिए (प्रीति करना जानने के लिए) कंचन के साथ सुहागा होना चाहिए (सुहागे की भांति अपने को मिटा देना चाहिए) । [जड़े जाने के लिए नग को निर्मल होना चाहिए क्योंकि] जो नग निर्मल होता है वही जड़ा जाता है । (३) मैं जो [उस दिन] मठ के मंडप में भोले भाव से गई, तब तो तूने मुझे पकड़ कर मुझ से गाँठ नहीं बाँधी । (४) मेरे नेत्रों को देख कर तू बेसँभाल हो गया; [उस समय] सखियों की लज्जा के वश मैं भी तुझ से क्या कहती ? (५) (इसलिए) (तब) खेल के मिस से मैंने चन्दन लगाया कि संभव है तू जाग जाए तो तुझे मैं जयमाला दूँ; (६) [किन्तु] तू तब भी न जागा । और, भेंट जाग्रत अवस्था में ही होती है, सुप्तावस्था में नहीं, (७) [इसलिए] अब तो, यदि तू सूर्य बनकर आकाश (सिंहलगढ़) पर चढ़े और अपने प्राण दे [देने को तैयार हो], तो पास आ सकती हूँ ।" (८) जब तक रमण (प्रिय) और सीता एक साथ थे, तब तक वह (रमण) भुक्ति (भोग) ले न सका, (९) अब किस भरोसे कुछ कहूँ जब उसके (सीता के) प्राण दूसरे के हाथों में हैं ।"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री । बानी<र्वाणन्=वर्णवाली । (४) बैन <वयन<वचन । (५) घाल्<घल्ल् (दे०)=डालना । (७) भगति<भक्ति= भोग, भोजन ।

अब जौं सूर गँगन चढ़ि धावहु । राहु होहु तौ ससि कहँ पावहु ।
बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला । तूँ जोगी केहि माहँ अकेला ।
बिक्रम धँसा पेम के बाराँ । सपनावति कहँ गएउ पताराँ ।
सुदैबच्छ मुगुधावति लागी । कँकन पूरि होइ गा बैरागी ।
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ । मिरगावति कहँ जोगी भएऊ ।

साधा कुँवर मनोहर जोगू । मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू ।
पेमावति कहँ सरसुर साधा । उखा लागि अनिरुध बर बाँधा ।
हौं रानी पदुमावति सात सरग पर बास ।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें प्रथम जो आपुहिं नास ॥२३३॥

अर्थ--(१) "अब तो हे सूर्य (प्रेमी), यदि तुम आकाश (सिंहलगढ़) पर चढ़ दौड़ो, और राहु बनो [उसकी भाँति सिर कटाओ] तब शशि (प्रेमिका) को पा सकोगे। (२) बहुतेरे इसी प्रकार प्राणों पर खेल चुके हैं; तू उनसे, ऐ योगी, किस बात में अकेला (भिन्न) है? (३) विक्रम प्रेम-द्वार में इसी प्रकार धँसा (प्रविष्ट) हुआ था और स्वप्नावती के लिए पाताल गया था, (४) सुदैवच्छ [इसी प्रकार] मुग्धावती के लिए [कर में] कंकण डाल कर विरक्त हुआ था, (५) राजकुमार [इसी प्रकार] कंचनपुर गया था और मृगावती के लिए योगी हुआ था, (६) कुमार मनोहर ने [इसी प्रकार] योग की साधना की थी और मधुमालती के लिए वियोग किया था, (७) प्रेमावती के लिए [इसी प्रकार] वाणासुर ने साधना की थी और उषा के लिए अनिरुद्ध ने बल बाँधा था। (८) मैं पद्मावती रानी हूँ, सातवें आकाश पर मेरा निवास है, (९) मैं उसके हाथ आती हूँ जो पहले अपने को नष्ट कर लेता है [और वह मरणान्तर नवजीवन प्राप्त करताहै]।"

टिप्पणी--(१) राहु [=रभ् तुल० 'ग्रभ्' तथा 'ग्रह']=पकड़ने वाला। राहु दैत्य था। समुद्र मंथन से उत्पन्न हुए अमृत का एक अंश देवताओं की चोरी से राहु ने पी लिया था। जब इसकी सूचना सूर्य और चन्द्रमा के द्वारा उनके अधिनायक विष्णु को मिली, तो विष्णु ने उसका सिर काट लिया। इसी द्वेष के कारण वह सूर्य और चन्द्रमा को अब भी ग्रसा करता है। (३) बिक्रम-सपनावती: श्री अगरचन्द नाहटा को सपनावती कथा का एक रूप प्राप्त हुआ है। (४) सुदैबच्छ मुग्धावती: सुदैवच्छ-सार्वलिंगा की कथा बहुत प्रसिद्ध रही है, किन्तु सुदैवच्छ-मुग्धावती की कथा अभी तक नहीं मिली है। (५) राजकुँवर-मृगावती: यह कथा कुतुबन की प्रसिद्ध रचना 'मृगावती' का विषय है जिसकी एक पूरी प्रति अब प्राप्त हो गई है। [यह संपादित होकर प्रस्तुत लेखक द्वारा शीघ्र प्रकाशनीय है] (६) मनोहर-मधुमालती: इसी कथा को लेकर 'पद्मावत' के पाँच वर्ष बाद मंझन की मधुमालती लिखी गई थी [दे० प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित: मंझनकृत मधुमालती, प्रकाशक मित्रा प्रकाशन, प्रयाग] (७) सरसुर (बाणासुर) और प्रेमवती: इस कथा का एक रूप श्रीअगरचन्द नाहटा को प्राप्त हुआ है। उषा-अनिरुद्ध की कथा प्रसिद्ध ही है; मध्य युग की एक सर्वाधिक प्रचलित प्रेम-कथा थी। इसकी अनेकानेक रचनाएँ उत्तर भारत की विभिन्न भाषाओं में मिलती हैं।

हौं रानी पदुमावति सात सरग पर बास से ज्ञात होता है कि पद्मावती सहस्र दल कमल के रूप में अंकित की गई है, जिसका स्थान षट्-चक्र से ऊपर है। इसकी प्राप्ति के लिए भी मरणान्तर जीवन का सन्देश जायसी ने दिया है।

हौं पुनि अहौं ऐसि तोहि राती । आधी भेंट प्रीतम कै पाती ।
तोहिं जौं प्रीति निबाहै आँटा । भँवर न देखु केत महँ काँटा ।
होहु पतंग अधर गहु दिया । लेहु समुँद धँसि होइ मरजिया ।

रातु रंग जिमि दीपक बाती । नैन लाउ होइ सीप सेवाती ।
चात्रिक होहु पुकारु पिआसा । पिउ न पानि रहु स्वाति की आसा ।
सारस कै बिछुरी जिमि जोरी । रैनि होहु जस चक्क चकोरी ।
होहु चकोर दिस्टि ससि पाहाँ । औ रबि होहु कँवल दधि माहाँ ।
हौंहु ऐसि हौं तो सौं सकसि तौ प्रीति निबाहु ।
राहु बेधि होइ अरजुन जीति द्रौपदी ब्याहु ॥२३४॥

अर्थ—(१) "पुनः मैं भी तुझ पर ऐसी अनुरक्ता हूँ कि तुझ प्रियतम की पत्रिका मेरे लिए आधी भेंट हो रही है । (२) ऐ भँवरे, यदि तू प्रीति का निर्वाह कर सके, तो तू केतकी में काँटों को न देख [उनसे विद्ध होकर मरने से न डर] । (३) तू पतिंगा बन और [स्वयं] अधरों से दीपक को पकड़ (उस पर भस्म हो जा) । तू मरजीवा बन कर समुद्र में धँस ले (प्राणों के रहने-जाने की चिन्ता न कर) । (४) तू मेरे स्नेह में जल कर उसी प्रकार लाल हो जिस प्रकार दीपक की वत्ती [स्नेह तेल] में जलकर लाल होती है । तू [मेरे स्नेह में] मुझे उसी प्रकार निहारता रह जैसे सीपी स्वाती के बादल को निहारती रहती है । (५) तू चातक हो (बन) और मुझे उसी की भाँति पिपासार्त पुकारता रह । तू भी उसकी भाँति दूसरा पानी न पी (दूसरे से कोई सम्बन्ध न रख), और स्वाती (प्रियतम) की आशा में रह (जीवन धारण किए रह) । (६) तू वह सारस हो जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई हो । तू रात्रि में बिछुड़ी हुई चकवी का चकवा हो । (७) तू चकोर हो और अपनी दृष्टि शशि पर लगा । और सरोवर की कमलिनी के लिए तू सूर्य बन । (८) मैं भी तुझसे (तेरे लिए) इसी प्रकार की हो रही हूँ; यदि तुझ से [इस प्रकार प्रीति निभाना] संभव हो, तो प्रीति निभा, (९) और राधा-वेध कर अर्जुन होकर जीत कर द्रौपदी को प्राप्त कर ।"

टिप्पणी—(२) आँट्<अट्ट् (?)=समर्थ होना । केत<केतकी । (३) मरजिया <मरजीवय<मरजीवक=वह व्यक्ति जो समुद्र में पैठ कर मोती निकालता है । (४) बाती<बत्तिआ<वर्त्तिका=बत्ती । सीप<सुत्ति<शुक्ति=सीपी । (५) पिपासा <पिपासत्=पीने की इच्छा वाला । (६) चकोरी=चक्रवाकी (?) । (७) दधि< उदधि=जलाशय । (९) राहु<राधा=एक चक्राकार घूमती हुई पुतली, लक्ष्य-वेध< कौशल की परीक्षा में जिसकी बाईं आँख विद्ध करनी होती थी । इसी प्रकार द्रौपदी के स्वयंवर में राधा-वेध का आयोजन हुआ था ।

इस छंद में भी कवि मर कर जीने के अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है ।

राजा इहाँ तैस तपि झूरा । भा जरि बिरह छार कर कूरा ।
मदन नवाए गएउ बिमोही । भा निरजिउ जिउ दीन्हेसि ओही ।
गही पिंगला सुखमन नारी । सुन्नि समाधि लागि गौ तारी ।
बुंदहि समुँद जैस होई मेरा । गा हेराइ तस मिलै न हेरा ।
रंगहि पानि मिला जस होई । आपुहि खोइ रहा होइ सोई ।
सुवा आइ देखा भा नासू । नैन रकत भरि आए आँसू ।
सदा जो प्रीतम गाढ़ करेई । वह न भूल भूला जिउ देई ।

मूरि सजीवनि आनि कै औ मुख मेला नीर ।
गरुर पंख जस झारै अंब्रित बरसा कीर ॥२३५॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) यहाँ तप्त होकर (जल कर) इस प्रकार सूख गया कि विरहाग्नि में जल कर वह राख की ढेरी हो गया। (२) मदन द्वारा नमित किए जाने के कारण वह विमोहित (मूर्छित) पड़ा था, और उस (प्रियतम) को जीव देने के कारण निर्जीव हो गया था। (३) उसने पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों का आश्रय पकड़ा, तो शून्य-समाधि में उसका त्राटक लग गया। (४) बूँद का जैसे समुद्र से मिलान हो [और उसको अलग न किया जा सके], उसी प्रकार वह भी खो (गुम हो) गया था था और उसी प्रकार ढूँढ़ने से नहीं मिल रहा था। (५) जिस प्रकार रंग में पानी मिला हुआ हो, उसी प्रकार वह भी उस (प्रियतम) के साथ एकाकार होकर खोया-सा हो रहा था। (६) जब हीरामणि देखा कि इस प्रकार [सब कुछ] नष्ट हो चुका है, उसके नेत्रों में रक्त के आँसू भर आए। (७) [उसने कहा,] "जो प्रियतम [इस प्रेमी के लिए] सदैव गाढ़ (संकट) करता रहा है, वह भी इसे भूला नहीं है, और जीव (प्राण) देने पर ही भूला है!" (८) [तदनंतर] संजीवनी मूल लाकर [हीरामणि ने] उसके मुख में [उसका] जल डाला, और (९) गरुड़ जिस प्रकार पंख झाड़ता है, उसी प्रकार वह सुआ (हीरामणि) अमृत बरसा।

टिप्पणी—(१) झूर्<ज्वल्=जलना, सूखना। कूरा<कूड<कूट=ढेरी। (३) पिंगला—दक्षिण नाड़ी, जो शीतल मानी जाती है। सुखम<सुषुम्णा=मध्य की नाड़ी, जिसकी सहायता से दिव्य ज्ञान प्राप्त होता माना जाता है। सुन्नि<शून्य। तारी<त्राटक=टकटकी। < (८) मेल्<मेलय्=डालना।

इस छंद में कवि ने उस मरण की दशा का चित्रण किया है, जिसमें साधक दिव्य जीवन की अनुभूति प्राप्त करना है। काम (प्रेम) की दशम अवस्था के रूप में तो यह मरण है ही, इसमें समाधि का भी संयोग कवि ने कर दिया है।

मुवा जियहि अस बास जो पावा। बहुरी साँस पेट जिउ आवा।
देखेसि जाग सुअैं सिर नावा। पाती दै मुख बचन सुनावा।
गुरु कर बचन स्रवन दुहुँ मेला। कीन्ह सुदिस्टि बेगि चलु चेला।
तोहिं अलि कीन्ह आपु भइ केवा। हौं पठवा कैं बीच परेवा।
पवन स्वाँस तोसौं मन लाए। जोवै मारग दिस्टि बिछाए।
जस तुम्ह कया कीन्ह अगिडाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू।
तव उदंत छाला लिखि दीन्हा। पगु चलि आउ चहौं सिध कीन्हा।
आवहु स्यामि सुलक्खने जीव बसै तुम्ह नाउँ।
नैंनन्ह भीतर पंथ है हिरदैं भीतर ठाउँ ॥२३६॥

अर्थ—(१) मृत भी जीवित हो जाए, इस प्रकार की [संजीवनी की] सुवास जब उसने पाया, उसकी साँस लौट आई और उसके पेट में प्राण आ गए। (२) जब हीरामणि ने देखा कि वह जाग गया है (चेतना में हो गया है), उस सुए ने उसे सिर नवाया और पद्मिनी की पत्रिका देकर उसके मुख का वचन सुनाया। (३) उसने उसके दोनों

कानों में [उसके] गुरु (पद्मावती) के वचनों को डाला और कहा, "[गुरु ने] तुझ पर सुदृष्टि की है; ऐ चेला शीघ्र चल। (४) तुझे उसने भ्रमर बनाया है और स्वतः वह केतकी हो गई है, और मुझको उसने मध्य का पक्षी (संदेश-वाहक) बना कर भेजा है। (५) साँस के पवन के साथ तुझ से मन लगाए हुए वह नेत्रों को तेरे मार्ग पर बिछाए हुए तेरा मार्ग देख रही है। (६) तूने अपनी काया को जिस प्रकार विरह की आग में दग्ध किया है, वह सब [तेरे] गुरु (प्रियतम) को ज्ञात हो गया है। (७) तब उसने अपने उदंत (संदेश) की यह छाल (भूर्ज पत्र) लिख कर दिया है, और कहा है, तू पैरों से चल कर आ, मैं तुझे सिद्ध करना चाहती हूँ। (८) हे सुलक्षणों वाले स्वामी, तू आ जा; मेरा जीव तेरे नाम में निवास करता है। (९) तेरे लिए पथ [मेरे] नेत्रों के भीतर है, और तेरे लिए स्थान (मेरे) हृदय में है।"

टिप्पणी--(१) मुआ<मुअ<मृत। बहुर्<वाहुड्<व्याघुट् = वापस आना। (३) चेला<चेड<चेट<दास, नौकर, शिष्य। (४) केवा<केआअ<केतक= केतकी। परेवा<पारावत=पक्षी। (६) अगिदाह<अग्नि-दाह। अगाह<आगाह (फा०)=ज्ञात। (७) उदंत=समाचार, वृत्तान्त, सन्देश। 'उदंत मार्तण्ड' नामक हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र में भी 'उदंत' इसी अर्थ में आता है। छाल<छल्ली [दे०]= खाल, त्वचा। (८) सुलक्खन<सुलक्षण।

सुनि पदुमावति कै असि मया। भा बसंत उपनी नै कया।
सुवा क बोल पवन होइ लागा। उठा सोइ हनिवँत अस जागा।
चाँद मिलन कहँ दीन्हेउ आसा। सहसौ कराँ सूर परगासा।
पाती लीन्ह लै सीस चढ़ावा। दिस्टि चकोर चाँद जनु पावा।
आस पिआसा जो जेहि केरा। जौं झिझकार वाहि सौं हेरा।
अब यह कवन पवन मैं पिया। भातन पंख पंखि मरि जिया।
उठा फूलि हिरदै न समाना। कंथा टूक टूक बेहराना।
जहाँ पिरीतम वैं बसहिं यह जिउ बलि तेहि बाट।
जौं सो बोलावहि पाउ सौं हम तहँ चलहिं लिलाट॥२३७॥

अर्थ--(१) पद्मावती की ऐसी स्नेहपूर्ण कृपा सुनने पर [उसके जीवन में] वसन्त आ गया और नवीन काया [नवीन पत्रों की भाँति] उत्पन्न हो गई। (२) हीरामणि का बोल पवन होकर उसको लगा, और वह सोकर उठ बैठा, जैसे हनुमान जाग उठा हो। (३) जब चन्द्र (प्रेमिका) से मिलने की उसको [हीरामणि ने] आशा दी, तब वह सूर्य (प्रेमी) सहस्र किरणों (नव स्फूर्ति) से प्रकाशित हो गया। (४) उसने पत्रिका ली और उसे सिर पर चढ़ा लिया, और वह ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे चकोर ने दृष्टि-पथ में चन्द्रमा को प्राप्त कर लिया हो। (५) जो जिसकी आशा का पिपासु होता है, यदि वह उसे झिझकारे (झिड़के) भी तो वह उसके सम्मुख देखता है। (६) [वह कहने लगा,] "अब यह कौन सा पवन मैं पी रहा हूँ जिससे [पतिंगे के] तन में पंख निकल आए हैं, और वह पाँखी (पतिंगा) मर कर जीवित हुआ है?" (७) वह फूल उठा और हृदय में नहीं समा पाया, उसका गूदड़ों का वस्त्र [इस कारण] टूट-टूक होकर

फट गया। (८) जहाँ मेरे वे प्रियतम निवास करते हैं, मेरे प्राण उसी के मार्ग पर बलि हैं; (९) यदि वे मुझे पैरों से [आने के लिए] बुलावें, तो मैं [बाढ़ पर] ललाट रखकर चलूँगा।"

टिप्पणी—(१) नै<नव=नवीन। (७) कंथा=चिथड़ों-गूदड़ों को जोड़ कर बनाया गया कपड़ा। बेहराय्<बि+घट्—फटना। (८) बाट—वट्ट—वर्त्म—रास्ता। (९) पाउ<पाअ<पाद=पैर।

जौं पँथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुद ओही धँसि लेई।
जहँ वह कुंड बिषम अवगाहा। जाइ परा जनु पाई थाहा।
बाउर अंध प्रीति कर लागू। सौहँ धँसै कछु सूझ न आगू।
लीन्हेसि धँसि सुवाँस मन मारे। गुरू मछिंदरनाथ सँभारे।
चेला परे न छाड़हि पाछू। चेला मंछु गुरू जस काछू।
जनु धँसि लीन्ह समुँद मर जिया। उघरे नैन बरे जनु दिया।
खोजि लीन्हि सो सरग दुवारी। बज्र जो मूँदे जाइ उघारी।
बाँक चढ़ाउ सुरंग गढ़ चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर चढ़े सेंधि दै चोर॥२३८॥

अर्थ—(१) महेश की सेवा करने से जो मार्ग उसे मिल (ज्ञात हो) गया था, उसी में धँस कर प्रविष्ट होने के लिए वह प्रसन्नता पूर्वक गया। (२) जहाँ पर वह विषम और गहरा कुंड था, उसमें वह कूद पड़ा और जैसे उसकी थाह प्राप्त कर ली। (३) बावला, अन्धा या जो प्रीति का लगा [साधक] होता है वह सामने समुद्र में धँस पड़ता है; आगे क्या होगा, इसका उसे चेत नहीं रहता है। (४) साँसों और मन को मार कर वह [उस गुप्त मार्ग में] धँस पड़ा, और उसने गुरु मच्छिन्द्र-नाथ का स्मरण किया। (५) [उसने कहा,] "चेला यदि [ऐसे विषम मार्ग में] पड़ जाए तो गुरु को उसका पाछा न छोड़ना चाहिए। (पीछे-पीछे लगे हुए उसकी रक्षा करते रहना चाहिए), चेला यदि मच्छ [मच्छ को अपने स्वजनों की चिन्ता नहीं होती है] तो भी गुरु को कछुआ होना चाहिए [कछुए की भाँति अपने अंडों—चेलों—की रक्षा के लिए सदैव चिन्ताशील रहना चाहिए]।" (६) वह इस प्रकार उस कुंड में धँसा जैसे समुद्र में मरजीवा धँस पड़ा हो। वहाँ उसके नेत्र खुल गए और उसे ऐसा लगा मानो दीपक जल रहे हों। (७) उसने वह स्वर्ग-द्वार खोज ही लिया, और जो जो वज्र (फौलाद) [के कपाट] मुद्रित (बंद) किए हुए थे, उन्हें उसने जाकर खोल दिया। (८) गढ़ की उस सुरंग की चढ़ाई बाँकी थी, इसलिए उसे चढ़ते-चढ़ते सवेरा हो गया (९) [तब तक] गढ़ के ऊपर यह पुकार लगाई गई कि गढ़ पर चोर सेंध दे कर चढ़ गए हैं।

टिप्पणी—(२) अवगाह<अवगाढ=गंभीर, गहरा। थाह<स्थाय=गहराई का अन्त। (३) बाउर<वाउल<वातूल=वातग्रस्त, बावला। सौंह<सउंह<सम्मुख। आगु<अग्ग<अग्र=आगे की भूमि। (४) मछिंदरनाथ=मच्छीन्द्रनाथ, जो गोरख-नाथ के गुरु थे। (६) मरजिया<मरजीवय<मरजीवक [दे०]—समुद्र में डुबकी

लगाने वाला । दिया<दीआअ=दीपक । (८) बाँक<बंक<वक्र । (९) सेंधि<संधि=छिद्र, विवर ।

इस छंद में भी कवि ने मरकर जीवन लाभ करने के अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है ।

राजैं सुना जोगि गढ़ चढ़े । पूँछे पास पँडित जो पढ़े ।
जोगी जो गढ़ सेंधि दै आवहिं । कहहु सो सबद सिद्धि जेहिं पावहिं ।
कहहिं बेद पढ़ि पंडित बेदी । जोगी भँवर जस मालति भेदी ।
जैसें चोर सेंधि सिर मेलहिं । तस ये दुवौ जींव पर खेलहिं ।
पंथ न चलहिं बेद जस लिखे । सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे ।
चोरहि होइ सूरी पर मोखू । देइ जो सूरी तेहि नहिं दोखू ।
चोर पुकारि भेद गढ मूँसा । खोलै राज भँडार मँजूसा ।
जस भँडार ये मूसहिं चढ़हिं रैनि दैं सेंधि ।
तस चाही पुनि एन्ह कहँ मारहु सूरी बेधि ॥२३६॥

अर्थ--(१) राजा (गंधर्वसेन) ने सुना कि योगी गढ़ पर चढ़ गए हैं, इसलिए पास के (पार्श्ववर्ती) पंडितों से, जो विद्वान् थे, पूछा, (२) "यह योगी जो गढ़ में सेंध लगा कर आ रहे हैं, वह शब्द बताओ (व्यवस्था दो) जिससे इन्हें सिद्धि (फल-परिणाम) मिले ।" (३) वे वेदज्ञ पंडित [इस प्रश्न पर] वेद (वेदांग) पढ़ कर कहने लगे "योगी (प्रेम-योगी,) भ्रमर-सदृश है और वह मालती (कुमारी तथा पद्मिनी) का भेद जानता है । (४) [पुनः] जैसे चोर सेंध में [जीव पर खेल कर] सिर डाल देते हैं, वैसे ही ये दोनों (योगी और भ्रमर) भी अपने जीव (प्राणों) पर खेल जाते हैं । (५) ये [दोनों] वेदोक्त मार्ग पर नहीं चलते हैं, ये [दोनों] स्वर्ग जाने के लिए शूली पर चढ़ना सीखे हुए होते हैं । (६) चोर को शूली पर ही मोक्ष मिलता है, और उन्हें जो शूली देता है उसे दोष नहीं होता है । (७) चोर पुकार लगा कर भेद (रहस्य) गढ़ में चोरी करते हैं और राजकीय भांडार की मञ्जूषा को खोलते हैं । (८) जिस प्रकार ये (चोर) राज-भांडार को मूसते हैं, और रात्रि में सेंध लगा कर चढ़ते हैं, (९) उसी प्रकार तदनंतर इन्हें [दंड भी] मिलना चाहिए । इन्हें [इसलिए] शूली से विद्ध कर मारो (प्राणदंड दो) ।"

टिप्पणी--(२) सेंधि<सन्धि=छिद्र, विवर । (३) मालती=कुमारी कन्या, पुष्प विशेष । (६) मोख<मोक्ख=मोक्ष । (७) मूस्<मुष्=चुराना, चोरी करना । (८) रैनी--रयणी--रजनी=रात्रि ।

इस छंद में कवि का कहना है कि प्रेम-योगी वेद मार्ग (निर्धारित धर्म-मार्ग) का अनुसरण नहीं करते हैं, चोरों की भाँति एक गुह्य मार्ग बनाकर ज्ञान-भांडार को मूसना और वे शूली पर चढ़ कर [मंसूर की भाँति] स्वर्ग जाना सीखे हैं । शूली पर चढ़ कर मोक्ष प्राप्ति करते हैं ।

राँध जो मंत्री बोलैं सोई । ऐस जो चोर सिद्ध पै कोई ।
सिद्ध निसंक रैनि पै भवँही । ताकहिं जहाँ तहाँ अपसवहीं ।

सिद्ध डरहिं नहिं अपने जीवाँ । खरग देखि कै नावहिं गीवाँ ।
सिद्ध जाहिं पै जिय बध जहाँ । औरहि मरन पंख अस कहाँ ।
चढ़हिं जो कोपि गँगन उपराही । थोरे साज मरहिं ते नाहीं ।
जंबुक छेंकि धरिअ जौ राजा । सिंघ साज कै चढ़िअ तौ छाजा ।
सिद्ध अमर काया जस पारा । छरहिं मरहि बर जाइ न मारा ।
छरहिं काज किरसुन कर छाजा राजा छरहिं रिसाइ ।
सिद्ध गिद्ध जस दिस्टि गँगन महँ बिनु छर किछु न बसाइ ॥२४०॥

अर्थ—(१) [किन्तु] जो परिपक्व (वृद्ध) मंत्री था, वह कहने लगा, "ऐसा जो चोर है, वह हो न हो कोई सिद्ध है, (२) जो सिद्ध होते हैं, हो न हो वे रात्रि में [भी] भ्रमण करते रहते हैं, और जहाँ निश्चय करते हैं, वहाँ चले जाते हैं। (३) सिद्ध अपने प्राणों के लिए नहीं डरते हैं, और खडग् देख कर [उसके सामने] ग्रीवा झुका देते हैं। (४) सिद्ध जहाँ प्राण-वध होता है, वहाँ भी हो न हो, [पहुँच] जाते ; और किसी को इस प्रकार के [चींटियों के समान] मरण-पंख कहाँ होते हैं।(') जो कुपित हो कर आकाश (सिंहलगढ़) के ऊपर चढ़ते हैं वे तुम्हारे थोड़े (अल साधनों से नहीं मर सकते हैं। (६) हे राजा, यदि जंबुक (स्यार) को घेर कर पकड़ना चाहिए तो सिंह [पर चढ़ाई] के लिए जैसी तैयारी करके चढ़ने पर ही [सफल हो सकते और] शोभा प्राप्त कर सकते हैं। (७) सिद्ध की छाया उसी प्रकार अमर होती है, जैसे पारद की ; वे छल (उपाय) से ही मारे जा सकते हैं, बल से नहीं मारे जा सकते हैं। (८) छल से ही कृष्ण का कार्य शोभित (संपन्न) हुआ था और राजा भी छलपूर्वक ही नष्ट होता है। (९) सिद्धों की दृष्टि गिद्धों की भाँति आकाश में (पर) होती है, [इसलिए] बिना छल के उसका कोई वश नहीं चल सकता है।"

टिप्पणी—(१) राँध <राद्ध = परिपक्व । (२) भँव् <भम् <भ्रम् = घूमना, चक्कर लगाना । ताक् <तक्क् <तर्कय् = तर्क करना, विचार करना, निश्चय करना । अपसव् <अप+स्ट = चला जाना, भाग जाना । (३) गीवा <ग्रीवा = गर्दन । (५) थोर <स्तोक = अल्प । (६) छाज <छज्ज् = शोभना, शोभित होना । (७) छर <छल । बर <बल ।

आवहु करहु गुदर मिस साजू । चढ़हु बजाइ जहाँ लगि राजू ।
होहु सँजोइल कुँवर जो भोगी । सब दर छेंकि धरहु अब जोगी ।
चौबिस लाख छत्र पति साजे । छप्पन कोटि दर बाजन बाजे ।
बाइस सहस सिंघली चाले । गिरि पहार पब्बै सब हाले ।
जगत बराबरि दै सब चाँपा । डरा इंद्र बासुकि हिय काँपा ।
पदुम कोटि रथ साजे आवहिं । गिरि होइ खेह गँगन कहँ धावहिं ।
जनु भुइँचाल जगत महँ परा । कुरुँभ पीठि टूटिहि हियँ डरा ।
छत्रन्ह सरग छाइ गा सूरुज गएउ अलोपि ।
दिनहिं राति अस देखिअ चढ़ा इंद्र अस कोपि ॥२४१॥

अर्थ--(१) [राजा की आज्ञा हुई,] "आओ, और गुज़र (पेशी) के मिस से [आक्रमण] का साज करो, और जहाँ तक राज्य [की सीमा] हो, सब [आकर] डंके की चोट पर चढ़ाई करो। (२) जो भी गुज़ारेदार कुमार (कुमार भुक्त) हों, मुस्तैद हो जाओ, और तुम्हारा समस्त दल छेंक (रोक) कर योगियों को पकड़ ले।" (३) चौबीस लाख छत्रपति साज (तैयारी) कर चले और छप्पन करोड़ सेना चली। [रण-] वाद्य बज उठे। (४) बाईस सहस्र सिंहली [हाथी] चले, और गिरि, पर्वत और पहाड़—सभी हिल गए। (५) [सेना के भार से] समस्त जगत् एक समान दब गया, इन्द्र डर गया और वासुकि हृदय में काँप गया। (६) कोटि और पद्म रथ सज कर आने लगे, और गिरि [सेना के पैरों से] धूल हो कर आकाश की ओर दौड़ने (उड़ने) लगे। (७) जगत् में मानो भूचाल पड़ गया, और कूर्म (कच्छप) डरने लगा कि उसकी पीठ टूट जाएगी। (८) [छत्रपतियों के] छत्रों से स्वर्ग (आकाश) आच्छादित हो गया, जिससे सूर्य आलुप्त हो गया। (९) दिन ही में रात ऐसा दीख पड़ने लगा, जब [गंधर्वसेन] इन्द्र के समान कुपित होकर चढ़ पड़ा।

टिप्पणी--(१) गुदर<गुज़र [फ़ा०] = [सैनिकों की] पेशी। (२) सँजोइल< संजोअ (संयोग)+इल्ल=तैयार, मुस्तैद। भोगी<भोगिन्=भोग या गुज़ारा पाने वाला, गुज़ारेदार। दर<दल। (३) बाजन<वज्जणअ [अप०]=बजने वाला, बाजा। (४) पब्बै<पव्वइ<पर्वत। (७) कुरुँभ<कूर्म=कच्छप, पृथ्वी को धारण करने वाला कच्छप। (८) सरग<स्वर्ग=आकाश।

देखि कटक औ मैमँत हाथी। बोले रतनसेनि के साथी।
होत आव दर बहुत असूझा। अस जानत हैं होइहि जूझा।
राजा तूँ जोगी होइ खेला। एहि दिवस कहँ हम भए चेला।
जहाँ गाढ़ ठाकुर कहँ होई। संग न छाड़ै सेवक सोई।
जो हम मरन देवस मन ताका। आजु आइ पूजी वह साका।
बरु जिउ जाइ जाइ जनि बोला। राजा सत्त सुमेरु न डोला।
गुरू केर जौं आएसु पावहिं। हमहुँ सौंहँ होइ चक्र चलावहिं।
आजु करहिं रन भारथ सत्त बचा लै राखि।
सत्त करै सब कौतुक सत्त भरै पुनि साखि॥ २४२॥

अर्थ--(१) उस कटक और उसके मदोन्मत्त हाथियों को देख कर रत्नसेन के साथ के कुमार कहने लगे, (२) "दल बहुत असूझ होता आ रहा है, इसलिए हम समझते हैं कि युद्ध होगा। (४) ऐ राजा, तू योगी हो कर क्रीड़ापूर्वक आया है, और इसी दिन के लिए हम भी तेरे चेले हुए। (४) स्वामी के ऊपर जहाँ पर संकट पड़ता है वहाँ पर जो उसका साथ नहीं छोड़ता है, वही सेवक है। (५) जो हमने मरने के दिन का अनुमान किया था, आज वह साका करने की इच्छा पूरी [होती दिखाई] पड़ रही है। (६) भले ही हमारे प्राण चले जाएँ किन्तु हमारा बोल (वचन) न जाए; हे राजा, सत्य-सुमेरु हिल नहीं सकता है। (७) यदि हम गुरु का आदेश पाएँ, तो हम भी [उस दल के] सम्मुख हो कर चक्र चलाएँ। (८) आज हम अपने सत्य वचन

की रक्षा करते हुए महाभारत का युद्ध करें (९) तो हमारा सत्य समस्त कौतुक करेगा, और सत्य ही हमारी समस्त साक्षी भरेगा।"

टिप्पणी--(१) मैमँत<मयमत्त<मदमत्त। साथी<सत्थिअ<सार्थिक=सार्थ(समूह) का व्यक्ति। (२) दर<दल। जूझ<युद्ध। (३) चेला<चेड<चेट=सेवक, दास, शिष्य। (४) ठाकुर<ठक्कुर=नायक, स्वामी। (५) ताक्<तक्क<तर्क्=विचार करना, अनुमान करना। साका<शाक=हार होती देख कर लड़ते हुए मर मिटना। संभव है शकों से यह कला आई हो, इसलिए इसे 'शाक'>साका कहा गया। (६) बरु<वरम्=इससे अच्छा। (७) सौंह<सउँह<समुह<सम्मुख। (९) साखि<सक्खि<साक्षिन्।

गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम बार होइ करिअ न कोहू।
जा कहँ सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जौं कीजै।
जेहि जियँ पेम पानि भा सोई। जेहि रँग मिलै तेहि रँग होई।
जौं पै जाइ पेम सिउँ जूझा। कत तपि मरहिं सिद्ध जिन्ह बूझा।
यह सत बहुत जो जूझि न करिऐ। खरग देखि पानी होइ ढरिऐ।
पानिहि काह खरग कै धारा। लौटि पानि सोई जौ मारा।
पानी सेंति आगि का करई। जाइ बुझाइ पानि जौं परई।
सीस दीन्ह मैं अगुमन पेम पाय सिर मेलि।
अब सो प्रीति निबाहें चलौं सिद्ध होइ खेलि॥ २४३॥

अर्थ--(१) गुरु (रत्नसेन) ने [कुमारों से] कहा, "ऐ चेलो, तुम सब सिद्ध हो जाओ; तुम्हें प्रेम के द्वार पर पहुँच कर क्रोध न करना चाहिए [क्रोध करके सिद्ध न हो सकोगे]। (२) जिसको सिर झुका कर देना चाहिए, उसके सामने यदि उठिए (सिर उठाइए), तो रंग नहीं होता है। (३) जिसके जी में प्रेम होता है, वह [आपसे आप] पानी बन जाता है, और वह जिस रंग में भी मिला दिया जाता है, उसी रंग का हो जाता है। (४) यदि प्रेम के साथ युद्ध [करके उसे प्राप्त] किया जा सकता, तो वे सिद्ध जो ज्ञानी हैं क्यों तप करके मरते? (५) यही बड़ा भारी सत्य है कि युद्ध न कीजिए, और खड्ग देख कर [उसके सम्मुख] पानी बन कर ढुलक जाइए। (६) पानी को खड्ग की धार क्या? क्योंकि तब मारने वाला भी लौट कर पानी-पानी हो जाता है (७) पानी से आग भी क्या कर सकती है? [वह स्वतः बुझ जाती है यदि पानी पड़ता है]। (८) मैंने प्रेम के पैरों में सिर डाल कर अपना सिर पहले ही दे दिया है। (९) अब उस प्रीति का निर्वाह करने पर सिद्ध होने के अनंतर ही यहाँ से खेल कर चलूँगा।"

टिप्पणी--(१) बार<वार=द्वार। कोह<क्रोध। (२) ऊभ<उब्भ<ऊर्ध्वत। (४) सिउँ<समम्=साथ। कत<कुतः=क्यों। (५) ढर्<ढल् [दे०]=गिरना, टपकना। (७) बुझ्<वि+धम्=[आग का] शांत होना। (८) पाय<पाअ<पाद=पैर।

राजैं छेंकि धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुखु सहै बियोगी।

ना जियँ धरक धरत है कोई । ना जियँ मरन जियन कस होई ।
नाग फाँस उन्ह मेली गीवाँ । हरख न बिसमौ एकौ जीवाँ ।
जेइँ जिउ दीन्ह सो लेउ निरासा । बिसरै नहिं जौ लहि तन स्वाँसा ।
कर किंगरी तिन्ह तंत बजावा । नेह गीत बैरागी गावा ।
भलेहिं आनि गियँ मेली फाँसी । हिएँ न सोच रोस रिसि नासी ।
मैं गियँ फाँद ओही दिन मेला । जेहि दिन पेम पंथ होइ खेला ।

परगट गुपुत सकल महिं मंडल पूरि रहा सो नाउँ ।
जहँ देखौं ओहि देखौं दोसर नहिं कहँ जाउँ ॥२४४॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) ने सब योगियों (कुमारों) को [इस प्रकार युद्ध करने से] रोक दिया, और वह वियोगी दुःख के ऊपर दुःख सहन करने लगा। (२) अपने जी में कोई भी घबराहट नहीं ला रहा था, और न जी में यह ला रहा था कि मरना-जीना कैसा होता है। (३) [अपनी] ग्रीवा में जब उन्होंने [प्रेम की] नाग-फांस डाल ली, तो उन्हें जीव (प्राणों) के संबंध का हर्ष-विषाद एक नहीं रह गया। (४) [उन्होंने कहा,] "जिस निरपेक्ष और निराश्रित [प्रियतम] को अपना जीवन दे दिया है, वह उसे [भले ही] ले ले; किन्तु जब तक शरीर में साँस है, वह विस्मृत नहीं होगा।" (५) हाथों में किंगरी लेकर वे ताँतों को बजाने लगे और विरागी (रत्नसेन) प्रेम के गीत गाने लगा। (६) "भले ही मैंने स्वतः लाकर गर्दन में फाँसी डाल ली है मेरे हृदय में [प्राणों के जाने का] सोच नहीं है, और मैंने रोष-अमर्ष को नष्ट कर दिया है। (७) मैंने ग्रीवा में फंदा उसी दिन डाल दिया था जिस दिन मैं प्रेम-पथ में क्रीड़ा-पूर्वक आ गया था। (८) प्रकट और गुप्त रूप से समस्त महीमंडल में वही नाम पूरित हो रहा है; (९) जहाँ देखता हूँ, उसी को देखता हूँ और जब [इस महीमंडल में] दूसरा कोई है ही नहीं, तो [अन्यत्र] कहाँ जाऊँ ?"

टिप्पणी—(१) छेंक्=रोकना। (२) धरक=धड़कन, घबराहट। (३) फाँस <पाश=फन्दा। गीव<ग्रीवा=गर्दन। (४) निरास<निराश्रित=निरपेक्ष, जो किसी से कुछ न चाहता हो। बिसर्<विस्सर्<वि+स्मृ=विस्मरण करना। (५) किंगरी<किन्नरी= एक प्रकार की वीणा जिसमें ताँत लगी होती है। तंत<तंत्र=ताँत। (६) फांद<फन्द<स्पन्द=फन्दा। खेल्=क्रीड़ापूर्वक आना।
ईश्वर अरूप के लिए भी मरणान्तर जीवन का सन्देश जायसी ने दिया गया है।

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा । कोटि अँतरपट बिच हुत दीन्हा ।
जौं चीन्हा तौ और न कोई । तन मन जिउ जोबन सब सोई ।
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं । जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं ।
मारै गुरू कि गुरू जियावा । और को मार मरै सब आवा ।
सूरी मेलु हस्ति कर पूरू । हौं नहिं जानौं जानै गूरू ।
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा । जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा ।
अंध मीन जस जल महँ धावा । जल जीवन जल दिस्टि न आवा ।

गुरु मोर मोरें हित दीन्हें तुरँगहि ढाठ ।
भीतर करैं डोलावै बाहर नाचै काठ ॥२४५॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने कहा,] "जब तक मैंने गुरु (पद्मावती) को पहिचाना नहीं था, [उसके और अपने] बीच में करोड़ अन्तरपट (परदा) दे रक्खा था, (२) किन्तु जब उसको पहिचान लिया, तब यह ज्ञात हुआ कि वह और कोई नहीं है ; तन, मन, जीव और यौवन--सब वही है। (३) जो 'अहम्' 'अहम्' कहते हैं, वे धोखे के कारण [गुरु और अपने में] अन्तर करते हैं, [क्योंकि] जब कोई सिद्ध हो गया, तो उसकी प्रतिच्छाया कहाँ [शेष रहती है] ? (४) गुरु ही चाहे मारे, और चाहे जिलावे ; और (अन्य) कौन मार सकता है ? [वे] सभी तो मरने के लिए आते (जन्म लेते) हैं (५) भले ही शूली पर डाल दो या हाथी की सूंड से पूरवावो [जिस प्रकार तागे को पूरा जाता (ऐंठन दी जाती) है]। मैं नहीं जानता हूँ [कि उस समय मुझे क्या करना होगा] ; यह गुरु ही जानता है। (६) मेरा गुरु 'अस्ति' [की स्थिति] पर चढ़ा (पहुँचा) हुआ है और उस 'अस्ति' को देखता है, [जब कि] जगत् 'नास्ति' में [पड़ा हुआ] है और 'नास्ति' ही उस [जगत्] की दृष्टि में आता है [अस्ति नहीं]। (७) [ठीक] जिस प्रकार अन्धी मछली जल में दौड़ती रहती है, और जल ही जिसका जीवन है, उस मछली की दृष्टि में वह [जल] नहीं आता है। (८) [घुड़सवार के सदृश] मेरा गुरु मेरे हित में ही [मुझ] तुरंग पर ठाट (साज) लगाए हुए हैं ; (९) [पुतली] का नृत्य करने वाले के सदृश वह भीतर (पीछे) से अपने कल (यंत्र) को डुलाता है और बाहर से [मैं] काठ [का पुतला] नाचता है।"

टिप्पणी--(३) परिछाहीं<प्रतिच्छाया। (५) पूर<पूरय् = तागे को ऐंठन देना। (६) हसि<हस्ती [फ़ा०]।<अस्ति [सं०]<अस्तित्व की स्थिति। नास्ति= अनस्तित्व की स्थिति.। (७) ढाठ : एक प्रकार का बंधन जो बिगड़ैल घोड़ों को नियंत्रण में रखने के लिए उनके गले में लगाया जाता है। 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में मैंने 'ठाठ' पाठ रक्खा था, जिसके स्थान पर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'ढाठ' पाठ को ग्रहण किया है, जो अधिक संगत है।

इस छंद में भी जायसी का आत्मवाद स्पष्ट है (तुलनीय छंद २१६)।

सो पदुमावति गुरु हौं चेला । जोग तंत जेहि कारन खेला ।
तजि ओहि बार न जानौं दूजा । जेहि दिन मिलै जातरा पूजा ।
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटू । ओहि कहँ देहुँ हिए महँ पाटू ।
को मोहि लै सो छुवावै पाया । नव अवतार देइ नइ काया ।
जीउ चाहि सो अधिक पियारी । माँगै जीउ देउँ बलिहारी ।
माँगै सीस देउँ सिउँ गीवा । अधिक नवौं जौं मारै जीवा ।
अपने जिय कर लोभ न मोही । पेम बार होइ माँगौं ओही ।
दरसन ओहि क दिया जस हौं रे भिखारि पतंग ।
जौ करवत सिर सारै मरत न मोरौं अंग ॥२४६॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने पुनः कहा,] "वह पद्मावती गुरु है और मैं उसका चेला

हूँ, जिसके कारण [मैंने] योग-तंत्र का खेल रचा है। (२) उसके द्वार को छोड़ कर मैं दूसरा द्वार नहीं जानता [जहाँ पर मैं याचना के लिए जाऊँ]; जिस दिन वह मिल जाए, मेरी यात्रा पूरी (सुफल) हो। (३) मैं [उस दिन उसके सम्मुख] अपने प्राण निकाल कर रख दूँ और भूमि पर अपना ललाट रख दूँ। पुनः उसी को अपने हृदय में सिंहासन दूँ (सिंहासन पर बिठाऊँ)। (४) कौन ऐसा है जो मुझे ले चल कर उसके पैरों का स्पर्श कराए, और [इस प्रकार] मुझे नया अवतार और नई काया दे? (५) वह मुझे मेरे जीव से भी अधिक प्रिय है, और यदि मेरा जीव माँगे तो मैं उस पर बलिहार कर दूँ। (६) यदि वह [मुझसे] मेरा सिर माँगे तो मैं उसे ग्रीवा के साथ दूँ और यदि वह मेरे प्राणों को लेना चाहे तो मैं [उसकी खड़ग के सम्मुख] और अधिक नमित हो जाऊँ। (७) मुझे अपने प्राणों का लोभ नहीं है, प्रेम के द्वार पर पहुँचकर उसी की याचना करूँगा। (८) उसका दर्शन (रूप) दीपक के समान है और मैं भिखारी उस का पतिंगा हूँ; (९) यदि वह सिर पर आरा चलाए, तो भी मैं मरते समय अंग न मोड़ूँ।"

टिप्पणी--(१) जोगतंत<योग तंत्र। (२) बार<वार=द्वार। पूज<पुज्ज <पूर्य्=पूरा होना। (३) काढ़<कड्ढ<कृष्=निकालना। पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। (५) पिआर<प्रियालु=प्रिय। (६) सिउं<समस्=साथ। (८) दिआ< दीअअ=दीपक। (९) करवत<करपत्र=आरा: मध्ययुग में तीर्थों में सिर पर आरा चलवा कर प्राण देने से मुक्ति-लाभ की आशा की जाती थी। मोर्<मोड्<मोड्य्= मोड़ना, टेढ़ा करना।

पदुमावति कँवला ससि जोती। हँसै फूल रोवै तब मोती।
बरजा पितैं हँसी औ रोजू। लाई दूति होइ निति खोजू।
जबहिं सुरुज कहँ लागेउ राहू। तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू।
बिरह अगस्ती बिसमौ भएऊ। सरवर हरख सूखि सब गएऊ।
परगट ढारि सकै नहिं आँसू। घटि घटि माँसु गुपुत होइ नासू।
जस दिन माँझ रैनि होइ आई। बिगसत कँवल गएउ कुँभिलाई।
राता बरन गएउ होइ सेता। भवँति भवँर रहि गई अचेता।
चितहि जो चित्र कीन्ह धनि रोवँ रोवँ रंग समेंटि।
सहस साल दुख आहि भरि मुरुछि परी गा मेंटि ॥२४७॥

अर्थ--(१) पद्मावती कमलिनी (पद्मिनी स्त्री) और शशि की ज्योतिवाली थी, [इसलिए] जब वह हँसती, तब फूल [झड़ते] और रोती तो मोती [गिरते] (२) पिता ने उसका हास और रुदन वर्जित कर दिया था, और दूतियाँ लगा दी थीं, जो नित्य उसका [भेद] लेती रहती थीं। (३) जब सूर्य (प्रेमी रत्नसेन) को राहु लगा (प्राणों का संकट हुआ), तब पद्मिनी का मन उससे आगाह हो गया। (४) उसके विरह में वह विस्मय (विषाद) अगस्त्य नक्षत्र हो गया और उसके हर्ष का सरोवर संपूर्ण रूप से सूख गया। (५) प्रकट रूप वे वह [पिता के वर्जन करने के कारण] आँसू नहीं गिरा सकती थी, इसलिए [और भी] गुप्त रूप से उसके शरीर का मांस

घट-घट कर नष्ट होने लगा। (६) जैसे दिन में ही रजनी हो आई हो और खिलता हुआ कमल कुम्हला गया हो [वही दशा उसकी हो गई]। (७) उसके शरीर का रक्त-वर्ण श्वेत हो गया, और वह ऐसी हो गई मानो अचेत होकर भँवर में चक्कर खाती रह गई हो। (८) अपने रोम-रोम से रंग समेट कर उसने [उस प्रेमी सूर्य के संकट राहु द्वारा ग्रस्त होने का] जो चित्र चित्त में बनाया, (९) तो वह सहस्र शल्यों के दुःख से आह भरकर मूर्छित हो गई और वह चित्र मिट गया।

टिप्पणी—(१) कँवला<कमला=पद्मिनी, जिसके लक्षण कवि ने छंद ४६६ में दिए हैं। (२) रोजु<रुदन=रोना। (३) अगाह<आगाह=[फ़ा०] सावधान, सतर्क, सूचित। (४) अगस्ती<अगस्त्य=अगस्त्य तारा, जिसके निकलने पर वर्षा का अंत माना जाता है। बिसमौ<विस्मय=विषाद। (६) रैनि<रयणी=रजनी। (७) भवँ<भम्<भ्रम्=भ्रमण करना, चक्कर लगाना। (८) धनि<धन्या=स्त्री। (९) साल<सल्ल<शल्य=काँटा, चुभने वाली वस्तु।

पदुमावति सँग सखी सयानी। गुनि कै नखत पीर ससि जानी।
जानहिं मरम कँवल कर कोईं। देखि बिथा बिरहिनि की रोईं।
बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहिअ काल बरु भला।
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह काल मारै पर मारा।
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाउ पर घाउ बजागी।
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सँचारा।
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला।
तन रावन होइ सिर चढ़ा बिरह भएउ हनिवंत।
जारे ऊपर जारै तजै न कै भसमंत ॥२४८॥

अर्थ—(१) पद्मावती के साथ [कुछ] सयानी सखियाँ थीं। उन नक्षत्रों ने [अपनी स्वामिनी] की पीड़ा मन में समझकर जान ली। (२) कमलिनी का मर्म कुमुदिनी ही जानती है, अतः उन्होंने उस विरहिणी की व्यथा जो देखी, तो रो पड़ीं। (३) उन्होंने कहा, "विरह कठिन (क्रूर) काल की कला है, [किसी को] विरह न सहन किया जाए (करना पड़े), क्योंकि काल उसकी तुलना में भला है। (४) वह (काल) तो एक बार में ही जीव को निकाल कर चला जाता है, किन्तु विरह का काल तो मारकर भी मारता रहता है; (५) विरह अग्नि पर अग्नि डालता रहता है, और विरह घाव पर वज्राग्नि का घाव [करता रहता] है; (६) विरह वाण पर वाण प्रसारित करता है, और विरह रोग पर रोग का संचार करता है, (७) विरह शल्य पर नया शल्य होता है, और विरह काल पर भी दुर्हेल्य काल होता है। (८) [जिस समय] तन (शरीर का विकास—यौवन) हमारे सिर पर सवार हुआ, [उसी समय] विरह [भी] हनुमान हुआ (होकर आ पहुँचा) (९) यह विरह-हनुमान मुझे जले पर जला रहा है और भस्म शेष करके भी छोड़ नहीं रहा है।"

टिप्पणी—(१) सयान<सआण<सज्ञान=चतुर। गुन्<गुणय्=गिनना, समझना। (२) कोईं=कुमुदिनी। (३) बरु<बरम्=अधिक अच्छा। (४) सिधार्

<सिध् = जाना। (६) पसार् < प्र+सारय् = फैलाना। संचार् < सं+चारय् = संचरण कराना, चलाना। (७) साल < सल्ल < शल्य = काँटा। दुहेल = दुर्हेल्य। (९) भसमंत < भस्म+अंत = भस्म-शेष, भस्ममात्र।

कोइ कमोद परसहिं कर पाया। कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया।
कोइ मुख सीतल नीर चुवावा। कोइ अंचल सौं पौनु डोलावा।
कोइ मुख अंब्रित आनि निचोवा। जनु बिख दीन्ह अधिक धनि सोवा।
जोवहिं स्वाँस खिनहिं खिन सखी। कब जिउ फिरै पवन औ पँखी।
बिरह काल होइ हिएँ पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा।
खिन एक मूँठि बाँध खिन खोला। गही जीभ मुख जाइ न बोला।
खिनहिं बेझ कै बानन्हि मारा। कँपि कँपि नारि मरै बेकरारा।
कैसेहुँ बिरह न छाड़ै भा ससि गहन गरास।
नखत चहूँ दिसि रोवहिं अँधियर धरति अकास ॥२४६॥

अर्थ—(१) [पद्मावती को इस अवस्था में देखकर] उसका विरह-ताप मिटाने के लिए कोई उसके हाथ-पैरों में कुमुद का स्पर्श कराने लगी, कोई उसकी काया पर मलयागिरि [घिसकर] छिड़कने लगी; (२) कोई उसके मुख में शीतल जल चुवाने लगी, और कोई उसे अंचल से पवन डुलाने लगी; (३) कोई उसके मुख में अमृत लाकर निचोड़ने लगी, किन्तु [परिणाम यह हुआ कि] वह नारी और अधिक सुप्त हो गई, मानो उसे विष दिया गया हो। (४) उसकी सखियाँ क्षण-प्रति-क्षण उसकी साँसों की बाट देखने लगीं कि पवन (प्राण) और पक्षी [के रूप वाला] वह जीव कब उसके घट में लौटे। (५) विरह काल होकर उसके हृदय में प्रविष्ट हुआ था और वह उसके जीव को निकालकर हाथ में लिए हुए [उसके पास अब भी] बैठा था। (६) वह किसी क्षण [अपनी] मुट्ठी को बाँध लेता और किसी क्षण उसे खोल देता था; [साथ ही] उसने [पद्मावती की] जिह्वा को पकड़ रक्खा था [इसलिए] उससे मुख से बोला नहीं जा रहा था। (७) किसी क्षण [वह विरह] उसे वेध्य (लक्ष्य) बनाकर बाणों से मारता था, और वह नारी काँप काँप कर और बेकार (बेचैन) होकर मरने लगती थी। (८) किसी प्रकार भी विरह उसे छोड़ नहीं रहा था, मानो उस शशि को [विरह-] राहु ने ग्रस लिया था; (९) [परिणामस्वरूप] नक्षत्र (उसका सखी समुदाय) चारों दिशाओं में रो रहे थे और धरती तथा आकाश अंधकारपूर्ण हो रहे थे।

टिप्पणी—(१) कमोद < कुमुद = कुईं : कुमुदिनी दाहनाशक होती है, और उसका स्पर्श शीतलताकारक होता है। (२) चुआव् < च्यावय् = टपकाना। (५) पईठा < पइट्ठ = प्रविष्ट। काढ़् < कड्ढ < कृष् = निकालना। (७) बेझ < वेध्य = लक्ष्य, शिकार। बेकरारा < बेकरार [फ़ा०] = बेचैत।

इस छंद में पद्मावती की दशम अवस्था दिखाई गई है।

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि बिधि जोति हिएँ परगासी।
निसँसि ऊभि मरि लीन्हेसि स्वाँसा। भई अधार जियन कै आसा।

बिनवहिं सखी छूट ससि राहू । तुम्हरी जोति जोति सब काहू ।
तूँ ससि बदन जगत उजियारी । केइँ हरि लीन्हि कीन्हि अँधियारी ।
तूँ गजगामिनि गरब गहीली । अब कस आस छाँड़ि सत ढीली ।
तूँ हरि लंक हराए केहरि । अब कस हारें करसि हहे हरि ।
तूँ कोकिल बैनी जग मोहा । केइँ ब्याधा होइ गही निछोहा ।
कँवल करी तूँ पदुमिनि गै निसि भएउ बिहान ।
अबहुँ न संपुट खोलहि जौं रे उठा जग भान ॥२५०॥

अर्थ—(१) वह शशि (पद्मिनी) इस प्रकार चार घड़ियों तक ग्रहण (विरह) से ग्रस्त रही, तब विधाता ने उसके हृदय में ज्योति प्रकाशित की। (२) निःश्वास छोड़कर वह उठी, और मरकर उसने [पुनः] साँस ली, और जीवनाशा उसका आधार हुई। (३) उसकी सखियाँ निवेदन करने लगीं, "ऐ शशि, तुम्हें जो राहु लगा था, वह छूट गया है और तुम्हारी ज्योति से [पुनः] सभी के ज्योति [मिलने लगी] है। (४) तू शशिवदनी और जगत् का औज्ज्वल्य थी ; तुझे किसने हर लिया था और अन्धकार की रात्रि कर दी थी ! (५) तू गजगामिनी और गर्व-ग्रस्ता थी ; अब (इस समय) तू ने आशाएँ छोड़कर क्यों अपना सत्त्व (पौरुष) ढीला कर दिया ? (६) तू ने केसरी से उसकी कटि का हरण कर उसको हराया, तो अब कैसे हारकर 'हा, हे हरि' कर रही है। (७) तू कोकिल के बोलवाली थी और जगत् को तू ने मोहित कर रक्खा था, अब किसने क्रूर व्याध होकर तुझे पकड़ लिया है ? (८) ऐ पद्मिनी तू कमल-कलिका है, रात्रि जा चुकी है, और प्रभात हो गया है। (९) [किन्तु] तू अब भी अपना संपुट नहीं खोल रही है जब कि जगत् में भानु उठ आया (उदित हो गया) है।"

टिप्पणी—(२) ऊभ् <उब्भ् <ऊर्ध्वय् = ऊँचा होना, उठना। (४) उजिआर = औज्ज्वल्य। (५) गहिल्ल = ग्रस्त। सत <सत्त = सत्त्व = पुरुषार्थ, शक्ति। (६) केहरि <केसरिन् = सिंह। हरि <[१] ईश्वर, [२] सिंह। (७) बैन <वयण = वचन। (८) करी <कलिआ = कलिका। (९) संपुट = कलिका की बँधी हुई पंखुड़ियाँ, नायिका का मुख।

इस छंद में पद्मावती का मरकर जीना (मरणानन्तर जीवित होना) दिखाया गया है।

भान नाउँ सुनि कँवल बिगासा । फिरि कै भँवर लीन्ह मधु बासा ।
सरद चंद मुख जानु उघेली । खंजन नैन उठे कै केली ।
बिरह न बोल आव मुख ताईं । मरि मरि बोल जीव बरियाईं ।
दवैं बिरह दारुन हिय काँपा । खोलि न जाइ बिरह दुख झाँपा ।
उदधि समुँद जस तरँग देखावा । चखु कोटिन्ह मुख एक न आवा ।
यह सुठि लहरि लहरि पर धावा । भँवर परा जिउ थाह न पावा ।
सखी आनि बिष देहु तौ मरऊँ । जिउ नहिं पेट ताहि डर डरऊँ ।
खिनहिं उठै खिन बूड़ै अस हिय कँवल सँकेत ।
हीरामनिहि बोलावहु सखी गहन जिउ लेत ॥२५१॥

अर्थ—(१) 'भानु' (प्रेमी) का नाम सुनकर कमलिनी (पद्मिनी) विकसित

हो गई, और मधुकर लौटकर उसके मधु और सुवास [का लाभ] लेने लगे। (२) [उसने जो मुख पर से वस्त्र हटाया तो लगा कि] मानो शरद के चन्द्रमा ने मुख खोला हो, और उसके नेत्र-खंजन केलि कर उठे। (३) विरह में बोल उसके मुख तक नहीं आता था, केवल बलपूर्वक [किसी प्रकार] उसके प्राण 'मरी, मरी' बोल उठते थे। (४) विरह की दारुण दावाग्नि से उसका हृदय काँप उठा था, किन्तु वह ढका हुआ विरह-दुःख खोला (मुख द्वारा व्यक्त किया) नहीं जा रहा था। (५) जिस प्रकार समुद्र के तल में तरंगें दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार उस विरह-दुःख की [कोटि-कोटि] तरंगें उसके नेत्रसागरों में उठ रही थीं किन्तु मुख से वे एक भी नहीं आ रही (व्यक्त हो रही) थीं। (६) [वह बोल उठी] "दुःख की ये लहरें एक के ऊपर दूसरी अत्यधिक [वेग से] आ रही हैं और मेरा जी [विरह-] भँवर में पड़ा हुआ उस विरह-सागर की थाह नहीं पा रहा है। (७) ऐ सखियो, विष लाकर दो तो मर जाऊँ किन्तु पेट में प्राण ही नहीं हैं, इसलिए डर रही हूँ [कि विष भी मुझे न मार सकेगा]।" (८) उस कमलिनी (पद्मिनी) का हृदय ऐसे संकट में पड़ा हुआ था कि एक क्षण वह डूबता (गतिहीन होता) और एक क्षण उभड़ता (गति में आता) था। (९) उसने कहा, "हे सखियो, [किसी प्रकार से] हीरामणि को बुलाओ, यह [विरह का] ग्रहण मेरे प्राण ले रहा है।"

टिप्पणी--(२) उवेल<उग्घाड् <उद्+घाटय्=खोलना। (४) झांप्<झम्प् [दे०]=ढकना। (६) थाह<स्थाघ=गहराई का अन्त। (७) सँकेत=संकीर्णता, तंगी, संकट।

पुरइनि धाइ सुनत खिन धाई। हीरामनिहि बोलाइ लै आई।
जनहुँ बैद ओषध लै आवा। रोगिऔं रोग मरत जिउ पावा।
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले।
कँवलहि बिरह बिथा जसि बाढ़ी। केसरि बरन पियर हिय गाढ़ी।
कत कँवलहि भा पेम अँकूरू। जौं पै गहन लीन्ह दिन सूरू।
पुरइनि छाँह कँवल कै करी। सकल बिथा सो अस तुम्ह हरी।
पुरुष गँभीर न बोलहिं काऊ। जौं बोलहिं तौं ओर निबाहू।
एतना बोल कहत मुख पुनि होइ गई अचेत।
पुनि जौं चेत सँभारै बकति उहै मुख लेत ॥२५२॥

अर्थ—(१) उसकी पुरइन नामक धाय [पद्मावती की यह बात] सुनते ही उसी क्षण दौड़ी गई और हीरामणि को बुला लाई। (२) [पद्मावती के लिए हीरामणि का आना वैसा ही हुआ] मानो वैद्य औषधि लेकर आया हो, और रोगी ने मरते हुए जीवन पाया हो। (३) [हीरामणि का] आशीर्वाद सुनकर स्त्री ने नेत्र खोल दिए और वह विरह के वचन कोकिल के समान कहने लगी, (४) "कमलिनी को विरह की व्यथा जितनी (इतनी) बढ़ी कि वह हृदय में गाढ़े केसर के वर्ण की पीली हो गई। (५) कमलिनी (प्रेमिका) को प्रेम का अंकुर क्यों हुआ, यदि दिन में ही सूर्य (प्रेमी) को ग्रहण लग गया। पुरइनि (धाय और कमल-पत्र) ने कमल-कलिका

की छाया की [और तदनंतर] मेरी समस्त व्यथा तुमने [इस प्रकार] आकर हरण कर ली। (६) गंभीर पुरुष कभी नहीं बोलते हैं, और यदि कुछ बोलते हैं तो अन्त तक उसका निर्वाह करते हैं।" (८) मुख से इतना ही वचन कहने पाई थी कि वह पुन: अचेत हो गई। (९) तदनंतर जो वह पुनः चेत में आई तो वही वचन मुख से निकालती हुई चेत में आई [कि गंभीर पुरुष कभी बोलते नहीं हैं, और यदि बोलते हैं तो अन्त तक उसका निर्वाह करते हैं।]

टिप्पणी—(१) पुरइनि<पुडइणी < पुटकिनी = कमल-पत्र। (४) पिअर< पीअ+डा<पीत = पीला। (७) काउ < कआ+उ = कदापि। ओर<अवर<अपर = अन्त। (९) बकति<वक्ति = वचन।

औरु दगध का कहौं अपारा। सुनै सो जरै कठिन असि झारा।
होइ हनिवंत बैठ है कोई। लंका डाह लाग तन होई।
लंका बुझी आगि जौं लागी। यह न बुझै तसि उपजि बजागी।
जनहुँ अगिन के उठहिं पहारा। वै सब लागहिं अंग अँगारा।
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु माँसु सब रोवा।
खिनु एक मारि माँसु अस भूँजा। खिनहिं जिआइ सिंघ अस गूँजा।
एहि रे दगध हुँत उतिम मरीजे। दगध न सहिअ जीउ बरु दीजे।
जहँ लगि चंदन मलयगिरि औ साएर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं बुझै न आगि सरीर॥२५३॥

अर्थ—(१) [उसने पुनः कहना प्रारंभ किया,] "और [अपने] अपार दाह को क्या कहूँ? जो सुनता है वह जल जाता है, ऐसी कठिन आँच है। (२) जैसे कोई हनुमान होकर [मेरे भीतर] बैठा हुआ है, और शरीर में लंका-दहन होने लगा है। (३) लंका में यदि आग लगी थी तो बुझ भी गई थी, किन्तु यह ऐसी वज्राग्नि उत्पन्न हुई है कि बुझती नहीं है। (४) [ऐसा लगता है] मानो अग्नि के पहाड़ उठते हों और वे सभी शरीर में अंगारों की भाँति लगते हों। (५) [ऐसा लगता है] मानो मेरा मांस कट-कट कर शलाकाओं में [भूनने के लिए] पिरोया गया हो, और वह समस्त मांस रक्त के आँसू रो रहा हो। (६) [वह विरह-हनुमान] एक क्षण तो मुझे मारकर मेरा मांस इस प्रकार भूनता है और एक क्षण वह जिलाकर सिंह के समान गर्जन करता है। (७) इस दाह से अधिक अच्छा तो यह था कि मर जाए, यह दाह (जलन) सहन न करे भले ही जीव (प्राण) दे दे। जहाँ तक मलय-गिरि चन्दन हैं, और सागर में समस्त जल हैं, (९) वे सभी आकर और मिलकर भी बुझाएँ तो शरीर की वह अग्नि न बुझेगी।"

टिप्पणी—(१) झार<ज्वाला = आँच। (२) डाह = दाह। (३) बुझ्<वि+धम् = बुझना, आग का ठंडा होना। (४) अँगारा = अंगारक। (५) सराग=शलाका। (६) गूँज<गुञ्ज् = गुंजार करना, गर्जन करना। (७) बरु<वरम् = भला, अधिक अच्छा। (८) साएर = सागर। (९) बुझाव्<वि+ध्मापय् = बुझाना, आग को ठंडा करना।

हीरामनि जौं देखी नारी । प्रीति बेलि उपनी हियँ भारी ।
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली । अरुझी पेम प्रीति की बेली ।
प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई । अरुझें मुए न छूटै सोई ।
प्रीति बेलि ऐसै तनु डाढ़ा । पलुहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा ।
प्रीति बेलि सँग बिरह अपारा । सरग पतार जरै तेहि झारा ।
प्रीति बेलि केइँ अम्मर बोई । दिन दिन बाढ़ै खीन न होई ।
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि छावा । दोसरि बेलि न पसरै पावा ।
प्रीति बेलि अरुझाइ जौं तब सो छाँह सुख साख ।
मिलै जो प्रीतम आइ कै दाख बेलि रस चाख ।।२५४।।

अर्थ—(१) हीरामणि ने जब उस नारी को देखा, उसे निश्चय हो गया कि उसके हृदय में भारी प्रीति-बेल उत्पन्न हो गई है। (२) उसने कहा, "तुम क्यों न दुःख-ग्रस्ता हो [जब कि] प्रेम-प्रीति की लता में उलझ गई हो ? (३) प्रीति-वल्ली में कोई न उलझे, [क्योंकि] उलझकर मरने के बाद भी उससे कोई छूट नहीं पाता है। (४) प्रीति की लता इसी प्रकार शरीर को दग्ध करती है। उसके अंकुरित होते समय तो सुख होता है किन्तु उसके बढ़ने से दुःख बढ़ता है। (५) प्रीति-वल्ली के साथ अपार विरह होता है और उसकी आँच से स्वर्ग (आकाश) और पाताल भस्म होते हैं। (६) किसने प्रीति की इस अमरवल्ली को बोया ? यह ऐसी है कि दिन-दिन बढ़ती है और क्षीण नहीं होती है। (७) प्रीति की बेल जब चढ़ती है, तो वह अकेली ही छा जाती है, और [उसके मारे] दूसरी कोई बेल फैलने नहीं पाती है। (८) प्रीति की बेल में यदि कोई उलझ गई तो उसे तभी छाया और सुख की शाखा मिलती है (९) जब कि उसका प्रियतम आकर मिल जाए और उस द्राक्षा बेल (प्रेमिका) का रस चखे।"

टिप्पणी (१) उपन् < उत् + पत् = उत्पन्न होना। (२) दुहेली < दुर्हेल्य दुःख-ग्रस्ता। (४) डाढ़ा < डड्ढ = दग्ध। पलुहू < प्ररुहू = पौदे का अंकुरित होना अथवा बढ़ना। (५) सरग < स्वर्ग = आकाश। झार = ज्वाला, आँच। (६) खीन = क्षीण। (९) दाख < द्राक्षा = अंगूर।

पदुमावति उठि टेकै पाया । तुम्ह हुँत होइ प्रीतम कै छाया ।
कहत लाज औ रहै न जीऊ । एक दिसि आगि दोसर दिसि सीऊ ।
सूर उदैगिर चढ़त भुलाना । गहने गहा चाँद कुँभिलाना ।
ओहटें होइ मरिउँ नहिं झूरी । यह सुठि मरौं जो निअरैं दूरी ।
घट महँ निकट बिकट भा मेरू । मिलेहुँ न मिलै परा तस फेरू ।
दसइँ अवस्था असि मोहि भारी । दसएँ लखन होहु उपकारी ।
दमनहि नल जो हंस मेरावा । तुम्ह हीरामनि नाउँ कहावा ।
मूरि सजीवनि दूरि इमि सालै सकती बान ।
प्रान मुकत अब होत हैं बेगि देखावहु भान ।।२५५।।

अर्थ—(१) पद्मावती ने उठकर (हीरामणि के) पैर पकड़े, और कहा, "तुम्हारे

माध्यम से ही मुझे प्रियतम की छाया [प्राप्त] होती है [क्योंकि तुम उसके प्रतिनिधि हो] (२) [जो कुछ मेरी अवस्था है] उसको कहते हुए लज्जा होती है और—मेरे प्राण अब रुक नहीं रहे हैं [इसलिए उस अवस्था को तुम से कहना भी आवश्यक है], एक ओर मेरे लिए अग्नि है तो दूसरी ओर [कठिन] शीत है। (३) सूर्य (प्रेमी) जब उदयगिरि (गढ़) पर चढ़ रहा था तभी [मार्ग] भूल गया, और ग्रहण द्वारा अस्त हुआ, इसलिए चन्द्र (प्रेम-पात्र) कुम्हला गया है। (४) जब मैं उससे ओझल थी, तब तो उसके लिए संतप्त होकर नहीं मरी, किन्तु अब इसलिए मर रही हूँ कि निकट होते हुए भी उससे दूर हूँ। (५) वह प्रियतम इस घट (शरीर–अन्तःकरण) में ही है, और इसलिए निकट है किन्तु उससे मिलना विकट (दुर्गम) हो गया है, वह मिला हुआ है फिर भी नहीं मिल रहा है, ऐसा व्यवधान पड़ गया है। (३) [फलतः] अब मुझे इस प्रकार की दशम (मरण की) अवस्था [व्याप्त] हो रही है। इस दसवें लक्षण में तुम मेरे उपकारी हो। (७) दमयंती को नल से यदि हंस मिला सकता था तो तुम भी मुझे रत्नसेन से मिला सकते हो, क्योंकि तुम भी तो हीरामणि कहलाते हो।(८) संजीवनी-मूल (मिलन) इस प्रकार दूर है और मुझे शक्ति का वाण साल रहा है; (९) मेरे प्राण अब छूटना चाहते हैं, [इसलिए विलंब न करो] तुम शीघ्र ही भानु (प्रेमी) को दिखाओ।

टिप्पणी—(१) पाय<पाअ<पाद=पैर। (२) सीउ=शीत। (४) ओहट< ओहट्ट [दे०]=अपसृत, पीछे (दूर) हटा हुआ, ओझल। झूर<ज्वल्=संतप्त होना सूखना। निअर<निअड=निकट। (६) दसइँ अवस्था<प्रेम की दशम अवस्था (मरण) दसएँ लखन<दशम अवस्था (मरण): अभिलाषाश्चिन्ता स्मृति गुण कथनोद्वेग संप्रलापश्च। उन्मादोअथ व्याधिर्जड़ता मृतिरिति दशात्र कामदशा (साहित्य दर्पण—संपा० शालिग्राम शास्त्री, पृ० १०७) (७) दमन=दमयंती। (८) साल्<शल्य=शल्य की भाँति कष्ट पहुँचाना।

इस छंद में जायसी ने बड़ी सुन्दरता के साथ प्रिय के लौकिक और अलौकिक रूपों का सामंजस्य किया है। पाँचवीं अर्द्धाली में प्रियतम के रूप में परमात्मा भी उतना ही है जितना रत्नसेन।

हीरामनि भुइँ धरा लिलाटू। तुम्ह रानी जुग जुग सुख पाटू।
जेहि के हाथ जरी औ मूरी। सो जोगी नाहीं अब दूरी।
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी।
पौंरि पंथ कोटवार बईठा। पेम क लुबुधा सुरँग पईठा।
चढ़त रैनि गढ़ होइगा भोरू। आवत बार धरा कै चोरू।
अब लै देइ गए ओहि सूरी। तेहि सो अगाह बिथा तुम्ह पूरी।
अब तुम्ह जीव, कया वह जोगी। कया क रोग जीव पै रोगी।
रूप तुम्हार जीव कै आपन पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खँड होइ काल न पावै हेरि ॥२५६॥

अर्थ—(१) हीरामणि ने ललाट [उसके सम्मुख] भूमि पर रक्खा (टेका) और

कहा, "हे रानी तुम युग-युग तक सुख के सिंहासन पर [विराजती] रहो ! (२) जिसके हाथ में तुम्हारे [इस विरह-रोग की] जड़ी और मूल है, वह योगी अब दूर नहीं है । (३) किन्तु तुम्हारा पिता राज्य का भोग करने वाला है, वह ब्राह्मणों की पूजा करता है (ब्राह्मण जो वेदवादी और योग-विरोधी हैं, उनके कथनानुसार चलता है) और योगियों को मरवाता है । (४) गढ़ के मुख्यद्वारों के मार्ग पर कोटपाल बैठे थे, इसलिए वह प्रेम-लुब्ध योगी सुरंग में प्रविष्ट हो गया । (५) [सुरंग के मार्ग से] गढ़ पर चढ़ते-चढ़ते उसे सवेरा हो गया और जब वह द्वार तक पहुँचा [गंधर्वसेन के द्वार-रक्षकों ने] उसे चोर करार देकर पकड़ लिया (६) उसे अब वे शूली देने को ले गए हैं, इसी से तुम्हें उसकी अगाध व्यथा पूरित कर रही है । (७) अब तुम जीव हो, वह योगी काया [मात्र] है , और काया के रोग से, हो न हो, जीव भी रोगी होता ही है । (८) यहाँ तुम्हारे रूप (शरीर) में अपना जीव करके उसने पुनः एक अन्य [पिंड] तुम्हारा [शरीर] कमा लिया है, (९) और चूँकि स्वतः वह उस [अज्ञात] खंड में तुम्हारे शरीर में [व्याप्त] हो लुप्त हो रहा है, काल उसको ढूँढ नहीं पा रहा है ।"

टिप्पणी—(१) पाट<पट्ट = फलक, पीढ़ा, सिंहासन । (२) जरी<जट+इका= जड़ । (४) पँवरि<पउलि<प्रतोली = मुख्य द्वार । कोटवार<कोटपाल = दुर्ग-रक्षक । (५) बार<वार = द्वार । (६) अगाह=अगाध ।

इस छंद तथा अगले दो छन्दों की पंक्तियों में परकाया-प्रवेश की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है । 'परकाया प्रवेश' की सिद्धि में मध्ययुग में लोगों का व्यापक विश्वास था और मध्ययुगीन साहित्य में इसके उल्लेख प्रायः मिल जाते हैं, यथा दे० भारतीय विद्या-भवन बंबई द्वारा प्रकाशित 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (हिन्दी अनुवाद) पृ० ८ तथा 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' पृ० ८२ ।

अर्द्धाली ३ में कवि ने ब्राह्मणों को योगियों का विरोधी कहा है क्योंकि योग वेद-विरुद्ध क्रिया मानी जाती थी ।

हीरामनि जौं बात यह कही । सुरुज के गहन चाँद गै गही ।
सुरुज के दुख जौं ससि होइ दुखी । सो कत दुख मानै करमुखी ।
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा । ओहि मोहि साथ धरति गँगनेहा ।
रहै तो करौं जरम भरि सेवा । चलै तौ यह जिउ साथ परेवा ।
कौनु सो करनी कहु गुरु सोई । पर काया परवेस जो होई ।
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला । चेला गुरू गुरू भा चेला ।
कौन खंड अस रहा लुकाई । आवै काल हेरि फिरि जाई ।
चेला सिद्धि सौं पावै गुरू सों करै अछेद ।
गुरू करै जौं किरिपा कहै सो चेलहि भेद ।।२५७।।

अर्थ—(१) हीरामणि ने जब यह बात कही, तब सूर्य (रत्नसेन) को जो ग्रहण (संकट) लगा था, उससे [पद्मावती] ग्रस्त हो गई, (२) और उसने कहा, "यदि सूर्य (प्रेमी) के दुःख से शशि (प्रेम-पात्र) दुखी हुआ, तो वह कृष्णमुख हुआ शशि (प्रेम-

पात्र) क्यों [इस प्रकार] दुःख मानता है ? [उसको पहले से ही ऐसा उपाय करना चाहिए था कि उसका प्रेमी दुःख में पड़ता; ऐसा न करने के कारण ही वह कालिमा युक्त मुख का हुआ और तब यदि प्रेमी के दुःख से दुखी भी हुआ तो क्या हुआ ?] (३) [अब तो एक ही उपाय है,] यदि वह योगी मेरे स्नेह में मरे तो मेरा और उसका साथ धरती में [उसके शव के साथ जलकर] और गगन में (इस लोक के परे) रहे। (४) यदि वह जीवित रहे तो मैं जन्म-पर्यन्त उसकी सेवा करूँ और यदि वह इस संसार से चल बसे तो यह मेरा जीव उसके साथ पारावत पक्षी की भाँति चले। (५) हे गुरु, वह कौन सी प्रक्रिया है, मुझसे कहो, जिससे परकाया-प्रवेश होता है। (६) किस प्रकार [सामान्य] पंथ को पलटकर यह खेल किया जाता है, कि गुरु चेला और चेला गुरु हो जाता है ? (७) अब वह किस खंड में छिप रहा है कि काल-आता है और उसको न पाकर लौट जाता है ? (८) वही चेला सिद्धि पाता है जो गुरु से अभिन्नता करता है, (९) और गुरु यदि कृपा करता है, तो वह चेले को भेद बता देता है।"

टिप्पणी—(१) बात<बत्ता=वार्त्ता । (२) कलमुखी<कालमुख=कृष्ण मुख वाला, कालिमा लगे हुए मुख वाला। (४) जरम=जन्म। परेवा<पारेवय<पारा-वत=कबूतर : पारावतों के जोड़े पारस्परिक प्रेम के लिए प्रसिद्ध उपमान रहे हैं। (६) चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य ।

अनु रानी तुम्ह गुरु वहु चेला । मोहि पूँछहु कै सिद्ध नवेला ।
तुम्ह चेला कहँ परसन भई । दरसन देइ मँडप चलि गई ।
रूप गुरू कर चेलैं डीठा । चित समाइ होइ चित्र पईठा ।
जीउ काढ़ि लै तुम्ह अपसई । वह भा कया जीव तुम्ह भई ।
कया जो लाग धूप औ सीऊ । कया न जान जान पै जीऊ ।
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई । जो ओहि बिथा सो तुम्ह कहँ आई ।
तुम्ह ओहि घट वह तुम्ह घट माहाँ । काल कहाँ पावै ओहि छाहाँ ।
अस वह जोगी अमर भा पर काया परबेस ।
आवै काल तुम्हहिं तहँ देखै बहुरै कै आदेस ।।२५८।।

अर्थ—(१) [सुए ने कहा,] "अवश्य, हे रानी, तुम गुरु हो और वह (रत्नसेन) [तुम्हारा] चेला है, और मुझे एक नया सिद्ध [स्थापित] कर तुम [परकाया प्रवेश की प्रक्रिया] पूछती हो ! (२) तुम चेले पर प्रसन्न हुई और [महादेव के] मंडप में उसे दर्शन देने के लिए गई। (३) तुम गुरु का रूप चेले ने देखा, तो वह रूप उसके चित्त में समाकर चित्र बनकर प्रविष्ट हो गया। (४) तुम उसका जीव लेकर वहाँ से भाग आई, [जिससे] वह काया-मात्र रह गया और [उसका] जीव तुम हो गई। (५) काया को जो धूप तथा शीत लगते हैं, उसे काया नहीं जानती है, हो न हो, जीव ही जानता है, (६) [इसलिए] तुम्हारा भोग (सुख) उसको प्राप्त हो गया और उसको जो व्यथा थी, वह तुम्हारे पास आ गई। (७) तुम उसके शरीर में हो गई और वह तुम्हारे शरीर में हो गया [ऐसी दशा में] काल कहाँ उसकी छाया पावे ? (८) इस प्रकार वह योगी परकाया प्रवेश द्वारा अमर हो गया है, (९) फलतः जब

काल [उसको] ले जाने के लिए आता है और वहाँ (उसके शरीर में) तुम्हें देखता है, वह आदेश (नमस्कार) करके लौट जाता है।"

टिप्पणी--(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य। (३) डीठ<दृष्टि। समाय्<सम्+आय्=अँटना। (४) काढ़्<कड्ढ्<कृष्=निकालना। अपसव्<अप+सृ=भागना, चला जाना। (५) सीउ<शीत। (८) परकाया परबेस: इस प्रक्रिया पर मध्ययुग में व्यापक विश्वास था: (दे० भारतीय विद्या-भवन, बंबई द्वारा प्रकाशित 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (हिन्दी अनुवाद) पृ० ८ तथा पुरातन-प्रबंध-संग्रह, पृ० ८२)। (९) बहुर्<बाहुड<व्याघुट्=वापस होना। आदेस<आदेश=नमस्कार।

सुनि जोगी कै अम्मर करनी। नेवरी बिरह बिथा कै मरनी।
कँवल करी होइ बिगसा जीऊ। जनु रबि देखि छूटिगा सीऊ।
जो अस सिद्ध को मारै पारा। नेंबू रस नहिं जेइ होइ छारा।
कहहु जाइ अब मोर सँदेसू। तजहु जोग अब भएउ नरेसू।
जनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी।
तुम्ह पर सबद घटइ घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहिं बेरा।
तुम्ह कहँ पाट हिएँ महँ साजा। अब तुम्ह मोर दुहूँ जग राजा।
जौं रे जिअहिं मिलि कलि करहिं मरहिं तौ एकहिं दोउ।
तुम्ह पै जियँ जिनि होउ कछु मोहि जियँ होउ सो होउ ॥२५६॥

अर्थ--(१) योगी रत्नसेन की यह अमर करने वाली [परकाया प्रवेश की] प्रक्रिया सुनकर पद्मावती का विरह-व्यथा जनित मरण निपट गया (समाप्त हुआ)। (२) कमल-कलिका होकर उसका जीव खिल गया, मानो सूर्य के दर्शन से उसका शीत छूट गया हो। (३) उसने कहा, "यदि वह ऐसा सिद्ध है, तो [पारे को] कौन मार सकता है? यहाँ वह नीबू-रस नहीं है जिससे वह क्षार हो सके। (४) अब तू जाकर उससे मेरा यह संदेश कह, 'तुम योग छोड़ो क्योंकि अब नरेश हो गए। (५) यह न समझो कि मैं तुम से दूर हूँ, जो शूली तुम्हें दी जाने वाली है वह मेरे नेत्रों में गड़ गई है। (६) तुम्हारे घट का पर शब्द [शूली देने से] घटा नहीं कि मेरे घट के जीव के घटने में देरी नहीं होगी। (७) मैंने तुम्हारे लिए अपने हृदय में सिंहासन निर्मित किया है, और अब तुम मेरे दोनों जगत् के--इहलोक तथा परलोक के--राजा हो। (८) यदि हम जीवित रह गए तो मिलकर सुख करेंगे, और यदि मरे तो भी दोनों एक होंगे, (९) किन्तु तुम्हारे जी पर कुछ न बीते, जो होना हो वह मेरे जी पर हो।"

टिप्पणी--(१) नेवर्<नि+वृत्=लौट जाना, पीछे हटना, छोड़ना, समाप्त होना। (२) सीउ=शीत। (३) नेंबू रस नहिं जेइ होइ छारा: पारे को मारने के लिए नीबू के रस में उसे घोंटकर उसको क्षार किया जाता है। (४) परसबद=परशब्द: अनाहत शब्द। बेरा<वेला=समय, देरी। (७) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। (८) कलि=सुख।

बाँधि तपा आने जहँ सूरी । जुरे आइ सब सिंघलपूरी ।
पहिलें गुरू देइ कहँ आना । देखि रूप सब कोउ पछिताना ।
लोग कहहिं यह होइ न जोगी । राजकुँवर कोइ अहै बियोगी ।
काहूँ लागि भएउ है तपा । हिएँ सो माल करै मुख जपा ।
जोगी केर करहु पै खोजू । मकु यह होइ न राजा भोजू ।
जस मारइ कहँ बाजा तूरू । सूरी देखि हँसा मंसूरू ।
चमके दसन भएउ उजिआरा । जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ।
सब पूँछहिं कहु जोगी जाति जनम औ नावँ ।
जहाँ ठाँव रोवै कर हँसा सो कौने भावँ ॥२६०॥

अर्थ--(१) वे तपस्वियों (योगियों) को बाँधकर (बन्दी कर) वहाँ लाए जहाँ पर शूली थी, और [उस स्थान पर] समस्त सिंहल के निवासी आ जुटे। (२) [वधिक] शूली देने के लिए पहले गुरु (रत्नसेन) को लाए, तो उसका रूप (सौन्दर्य) देखकर सब लोग मन में पछताने लगे [कि ऐसे रूपवान् व्यक्ति को शूली दी जा रही थी]। (३) लोग कहने लगे, "यह योगी नहीं है, यह तो कोई राजकुमार है जो [किसी के प्रेम में] वियोगी हुआ है। (४) किसी के लिए यह तपस्वी हो गया है ; हृदय में उसकी माला फेरता और मुख से उसका नाम जपता रहता है। (४) इस योगी की अवश्य ही खोज करो (इसका ठीक-ठीक पता लगाओ), [क्योंकि] कहीं यह राजा भोज न हो (भोज के समान ही कोई राजा न हो जो उसके सदृश पिंगला जैसी किसी नारी के लिए वियोगी बनकर निकला हो)।" (६) जैसे ही उसे शूली देने के लिए तूर्य बजा, शूली देखकर वह मंसूर हँस पड़ा। (७) उसके दाँत [उसके हँसते समय] [इस प्रकार] चमक उठे कि प्रकाश हो गया, और जो जहाँ पर था वहीं पर बिजली का मारा ऐसा हो गया। (८) सब उससे पूछने लगे, "ऐ योगी, तू अपनी जाति, जन्म [-स्थान] तथा नाम बता। (९) जहाँ पर रोने का स्थान था, [उस शूली के स्थान पर] तू किस भाव से हँसा ?"

टिप्पणी--(१) जुर् <युज्=इकट्ठा होना। (२) आन्<आ+नी=लाना। (६) तूर<तूर्य=तुरही। मनसूर=मंसूर : हल्लाज नाम का प्रसिद्ध सूफी जिसको 'अनल-हक़्'–'मैं सत्य हूँ'–कहने के कारण शूली दी गई थी। (७) उजिआर<औज्ज्वल्य=प्रकाश। बीजु<विद्युत=बिजली।

का पूँछहु अब जाति हमारी । हम जोगी औ तपा भिखारी ।
जोगिहि जाति कौन हो राजा । गारि न कोह मार नहिं लाजा ।
निलज भिखारि लाज जेहिं खोई । तेहि के खोज परहु जनि कोई ।
जाकर जीव मरै पर बसा । सूरी देखि सो कस नहिं हँसा ।
आजु नेह सौं होइ निबेरा । आजु पुहुमि तजि गँगन बसेरा ।
आजु कया पिंजर बँध टूटा । आजु परान परेवा छूटा ।
आजु नेह सों होइ निरारा । आजु पेम सँग चला पियारा ।

आजु अवधि सरि पहुँची कै सो चलेउँ मुख रात ।
वेगि होहु मोहिं मारहु का पूँछहु अव बात ॥२६१॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने कहा,] "अब मेरी जाति क्या (क्यों) पूछते हो ? [अब तो] मैं योगी तपस्वी और भिखारी हूँ। (२) हे राजा, योगी की कौन सी जाति होती है ? उसे न गाली से क्रोध होता है और न मारे जाने पर लज्जा होती है। (३) और जो निर्लज्ज भिखारी है तथा जिसने लज्जा खो दी है, उसकी खोज में (उसकी जाति, जन्म तथा नाम के बारे में जानने के प्रयत्न में) कोई न पड़ो। (४) [तुमने पूछा कि मैं किस भाव से शूली देखकर हँसा, उसका उत्तर यह है कि] जिसका जीव मरने पर आ बसा हो, वह शूली देखकर क्यों न हँसे ? (५) आज अपने (-ऋण) से मैं मुक्त हो रहा हूँ, आज पृथ्वी छोड़कर आकाश में निवास होगा ; (६) आज काया के पिंजड़े का वन्धन टूटेगा और आज प्राण-पारावत छूटेगा ; (७) आज अपने स्नेह से वह वाहर (अलग) होगा और आज प्रेम-पूर्वक यह प्रिय (प्रेमी) जा रहा है। (८) आज मेरी [जीवन की] अवधि अपनी पूर्णता को पहुँच गई, और मैं [अव] अपने मुख को रक्त वर्ण का [कान्तिपूर्ण] कर के जा रहा हूँ। (९) अव शीघ्रता करो और मुझे मारो ; ये वातें क्या पूछ रहे हो ?"

टिप्पणी--(१) भिखारी<भिक्षा+कारिन्=भिक्षुक। (२) गारि<गालि=अप-शब्द। कोह=क्रोध। (५) निबेरा<निर्वृति=मुक्ति। (६) परेवा<पारेवय=पारावत पक्षी। (७) निरार<निरालय=बाहर, अलग। पिआर<पियालु=प्रिय। (८) सरि<सरिअं<सृतम्=अलं, पर्याप्त, बस।

कहेन्हि सँवर जेहि चाहसि सँवरा । हम तोहिं करहिं केत कर भँवरा ।
कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा । मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा ।
औ सँवरौं पदुमावति रामा । यह जिउ नेवछावरि जेहिं नामा ।
रकत के बूँद कया जत अहहीं । पदुमावति पदुमावति कहहीं ।
रहहुँ त बुंद बुंद महँ ठाऊँ । परहुँ तौ सोई लै लै नाऊँ ।
रोवँ रोवँ तन तासौ ओधा । सोतहि सोत बेधि जिउ सोधा ।
हाड़ हाड़ महँ सबद सो होई । नस नस माँह उठै धुनि सोई ।
खाइ बिरह गा ताकर गूद माँस की खानि ।
हौं होइ साँचा धरि रहा वह होइ रूप समानि ॥२६२॥

अर्थ--(१) [शूली देने वालों ने] कहा, "जिसे तू स्मरण करना चाहता हो, स्मरण कर ले, क्योंकि हम तुझे केतकी का [उसके तीक्ष्ण काँटों से बिद्ध] भ्रमर करने जा रहे हैं।" (२) [योगी (रत्नसेन) ने कहा,] "मैं उसी को [साँस के] प्रत्येक फेरे में स्मरण करता हूँ, जिसका मैं मरने पर और जीने पर हूँ; (३) और सुन्दरी पद्मावती को स्मरण करता हूँ, जिसके नाम पर मेरा जीव न्यौछावर है। (४) काया में रक्त की बूँदें जितनी हैं, वे सब 'पद्मावती', 'पद्मावती' कह रही हैं। (५ यदि [जीवित] रहा, तो [रक्त की] प्रत्येक बूँद में उस [नाम] के लिए स्थान होगा और यदि पड़ा (मरा) तो वही नाम ले-ले कर मरूँगा। (६) मेरा रोम-रोम उससे बिंधा हुआ [सिक्त] है, और उसने मेरे प्रत्येक रोम-कूप को विद्ध कर मेरे जीव को ओषधि

[की भाँति] शोध रक्खा है; (७) मेरी प्रत्येक हड्डी में वही शब्द (उसी नाम का उच्चारण) हो रहा है और मेरी नस-नस में वही (उसी नाम की) ध्वनि उठ रही है (८) उसका विरह मेरे गूदे और मांस के कोष (शरीर) को खा गया है; (९) मैं तो अब साँच-साँचा मात्र रह गया हूँ और उसमें वह रूप (चाँदी) बनकर समाई हुई है।"

टिप्पणी—(१) सँवर्<सम्मर<स्मृ=स्मरण करना। (३) नेउछावरि< णिवच्छ (दे०)+आवलि; णिवच्छ=उतारा हुआ=किसी के कल्याणार्थ वार कर उतारे हुए द्रव्यादि जो किसी को दे दिए जाते हैं। (४) जत<यावत्=जितना। (६) ओधा<आविद्ध=बिधा हुआ। सोत<स्रोत=रोम-कूप। (७) नस<णसा [दे०] नाड़ी। (८) गूद=गूद [फ़ा०]हड्डी के भीतर का गूदा, मज्जा। खानि= =कोष। (९) साँच—साँचा, जिसमें भर कर कोई धातु किसी आकृति में ढाली जाती है। रूप<रौप्य=चाँदी। समाय्<संमा<सम्+मा=समाना, अँटना।

इस छंद में रत्नसेन एक तो परमात्मा को स्मरण करता है, दूसरे पद्मावती को। इससे स्पष्ट है कि दोनों एक ही नहीं है। जायसी दोनों प्रकार के प्रेमों को इसलिए समान महत्व देते और दोनों का सामंजस्य करते हुए ज्ञात होते हैं। जिस प्रेम की अनुभूति पारमार्थिक स्तर पर की जाती है, उसकी अनुभूति लौकिक स्तर पर भी की जानी चाहिए : दोनों में प्रेम की साधना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य होना चाहिए : ऐसा उनका) सन्देश ज्ञात होता है।

राजा रहा दिस्टि किए औंधी। सहि न सका तब भाँट दसौंधी।
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी। पुरुष न आछहिं बैठि पेटारी।
कान्ह कोप कै मारा कंसू। गूँग कै फूँक न बाजइ बंसू।
गंध्रपसेनि जहाँ रिस बाढ़ा। जाइ भाँट आगे भा ठाढ़ा।
ठाढ़ देखि सब राजा राऊ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ।
गंध्रपसेनि तूँ राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा।
जोगी पानि आगि तुइँ राजा। आगिहि पानि जूझ नहिं छाजा।
अगिनि बुझाइ पानि सो तूँ राजा मन बूझु।
तोरें बार खपर है लीन्हे भिख्या देहु न जूझु ॥२६३॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) [यह कहने के अनंतर जब] अपनी दृष्टि नीची किए (चुप) रहा, [उसका] दसौंधी भाँट यह सहन न कर सका। (२) हाथ में कटार डाल (ले) कर उसने कहा, "पुरुष पेटारी में [बंद होकर] नहीं बैठ रहते हैं। (३) कृष्ण ने कोप करके ही कंस को मारा था, गूँगे की फूँक से वंशी नहीं बजती है।" (४) [यह कह कर] जहाँ रिस में बढ़ा हुआ गंधर्वसेन था, वहाँ उसके आगे जा कर भाँट खड़ा हो गया। (५) [उसके निकट] समस्त राजाओं तथा रावों को खड़ा देखकर, उसने गंधर्वसेन को बाएँ हाथ से आशीर्वाद दिया, और कहा, (६) "ऐ गंधर्वसेन, तू महाराजा है, और मैं महेश की मूर्ति हूँ, [इसलिए] तू मेरा कहना सुन। वियोगी पानी है, और तू ऐ राजा, अग्नि है। आग और पानी का युद्ध नहीं

शोभा देता है। (८) आग पानी से बुझ जाती है, तू, ऐ राजा, मन में इस बात को समझ ले। (९) [यह योगी] तेरे द्वार पर [भिक्षा के लिए] हाथ में खप्पर लिए हुए [आया] है, इसे भिक्षा दे, इससे युद्ध न कर।"

टिप्पणी--(१) औंध<अव+धा=नीचा करना। दसौंधी<दश-बन्धिन् [दसौंध =दश-बन्ध]=दशम अंश का अधिकारी। भाटों को संभवतः किसी उपज या लाभ का दशमांश मिलता था, इसलिए उनका यह नाम पड़ा। दसौंध की एक अन्य प्रकार की प्रथा अभी भी है: आढ़तिये जिन व्यापारियों के लिए सौदा खरीदते बेचते हैं, उनसे मिली आढ़त की रकम में से दशमांश उस व्यापारी के गुमाश्ते को देते हैं, और यह 'दसौंध' कहलाता है। (२) पेटारी<पेटिका=सन्दूक। (४) ठाढ़ा<ठढ्ढ<स्तब्ध=खड़ा। (५) बरम्हाऊ=ब्राह्मणों के द्वारा दिया जाने वाला आशीर्वाद। (९) बार<वार= द्वार। खपर<कर्पर=खप्पड़, भिक्षापात्र। भिख्या=भिक्षा।

जोगि न आहि आहि सो भोजू। जानै भेद करै सो खोजू।
भारथ होइ जूझ जौं ओधा। होहिं सहाइ आइ सब जोधा।
महादेव रन घंट बजावा। सुनि कै सबद ब्रह्मा चलि आवा।
चढ़ै अत्र लै बिस्नु मुरारी। इंद्रलोक सब लाग गहारी।
फनपति फन पतार सौं काढ़ा। अस्टौं कुरी नाग भा ठाढ़ा।
तैंतिस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा।
छप्पन कोटि बैसंदर बरा। सवा लाख परबत फरहरा।
नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध।
अहुठ बज्र जुर धरती गँगन गरुर औ गिद्ध ॥२६४॥

अर्थ--(१) दसौंधी ने कहा, "यह योगी नहीं है, भोज [जैसा महान् राजा] है, इस भेद को तू जान ले और तब इसकी वह (जाति, जन्म और नाम की) खोज कर। (२) यदि [तेरे और इसके बीच] युद्ध खड़ा हो गया, तो महाभारत हो जाएगा और समस्त योद्धा आकर [इसके] सहायक होंगे। (३) महादेव रण का घंटा बजा देंगे, और उसके शब्द को सुनकर ब्रह्मा चले आएँगे; (४) मुरारि विष्णु अपने अस्त्र (चक्र) को लेकर चढ़ आएँगे, और समस्त इन्द्रलोक इसकी पुकार पर सहायता के लिए आ भिड़ेगा; (५) शेष पाताल से फण निकाल लेंगे और अस्ट कुल के नाग [उनके साथ] खड़े हो जाएँगे; (६) तैंतीस करोड़ देवता [शस्त्रास्त्र] सजकर चल पड़ेंगे और छानबे मेघ दल गर्जन करने लगेंगे; (७) छप्पन कोटि वैश्वानर जलने लगेंगे और सवा लक्ष पर्वत फरफराने (फड़कने) लगेंगे। (८) नौ नाथ चले आएँगे और चौरासी सिद्ध भी, (९) धरती पर साढ़े तीनों वज्र आ इकट्ठा होंगे और आकाश में गरुड़ और गिद्ध (जटायू-संपाति आदि) होंगे (निकल पड़ेंगे)।"

टिप्पणी--(१) भोज=ग्यारहवीं शती ईस्वी का धार का प्रसिद्ध परमार शासक। (२) भारत=महाभारत का युद्ध। ओधु<उद्+धा=उठ खड़ा होना। (४) अत्र =अस्त्र। गोहारि<गो+हक्कार=गो-आकार=[संकट में पड़ी हुई] गाय की पुकार। गोहारी लगना=संकट में पड़े हुए की पुकार पर उसकी सहायता के लिए आ जाना।

(५) ठाढ़ <ठड्ढ<स्तब्ध = खड़ा। (६) दर<दल=सैन्य। (७) बैसंदर<वैश्वानर=अग्नि। फरहर्<फरफराय्=फरहराना। (८) नवनाथ=नाथ सम्प्रदाय के नौ प्रमुख योगी, जिनकी सूचियाँ भिन्न भिन्न मिलती हैं। (इनके लिए देखिए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'नाथ संप्रदाय')। चौरासी सिद्ध=सिद्ध-संप्रदाय के चौरासी प्रमुख योगी, जिनकी सूचियाँ भिन्न भिन्न मिलती है। (९) अहुठ बज्रजुर धरती : यहाँ पर संकेत भीम और कृष्ण के युद्ध का है जिसे भीम को दंगवै की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा था (दे० पृ० ५०८.९) गरुर=गरुड : विष्णु के वाहन जिनकी कथाएँ प्राचीन काल से महाभारत आदि में मिलती हैं, जो नागकुल के बड़े भारी संहार-कर्ता माने गए हैं। गिद्ध=पौराणिक कथाओं के गिद्ध—जटायू, संपाती आदि। जटायू और रावण के युद्ध की कथा 'रामायण' में आई है।

मै अग्याँ को भाँट अभाऊ। बाएँ हाथ देइ बरम्हाऊ।
को जोगी अस नगरी मोरी। जो दै सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी।
इंद्र डरै निति नावै माथा। किसुन डरै सेस जेइँ नाथा।
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू।
धरति डरै औ मंदर मेरू। चंद्र सूर औ गँगन कुबेरू।
मेघ डरहिं बिजुरी जहँ डीठी। कुरुँभ डरै धरनी जेहि पीठी।
चहौं तो सब माँगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा।
बोला भाँट नरेस सुनु गरब न छाजा जीवँ।
कुंभकरन की खोपरी बूड़त बाँचे भींवँ ॥२६५॥

अर्थ—(१) गंधर्वसेन की आज्ञा हुई, "अयोग्य स्थान का यह भाँट कौन है जो [आशीर्वाद देना भी नहीं जानता है और] बाएँ हाथ से ब्राह्मणों का आशीर्वाद दे रहा है? (२) और इस प्रकार के आचरण वाला वह योगी कौन है जो सेंध लगाकर चोरी से मेरे गढ़ पर चढ़ रहा है। (३) मुझसे इन्द्र डरता है और नित्य मुझे मस्तक झुकाता है, कृष्ण डरता है, जिसने कालीय को नाथा था, (४) ब्रह्मा डरता है, जिसके चार मुख हैं, और पाताल में बलि और वासुकि मुझसे डरते हैं। (४) मुझसे धरती डरती है, मंदर तथा मेरु पर्वत डरते हैं, चन्द्र, सूर्य डरते हैं और आकाश में कुबेर डरते हैं। (६) मुझसे वे मेघ डरते हैं जिनमें बिजली दीखती है और कूर्म डरता है, जिसकी पीठ पर धरती है। (७) मैं चाहूँ तो इन सभी को केश पकड़ (पकड़वा) कर मँगा (बुलवा) लूँ, फिर दूसरे [प्राणी] कीड़े-पतिंगे [सदृश] नरेश किस गिनती में हैं। (८) भाँट बोला, "ऐ राजा, सुन; किसी भी जीव (प्राणिधारी) को गर्व शोभा नहीं दे सका है; (९) भीम [जैसा योद्धा भी] कुंभकर्ण की खोपड़ी में डूबने से बचा था।"

टिप्पणी—(१) अभाअ=अयोग्य अथवा बुरे स्थान का। (२) सेंध<सन्धि=विवर, छिद्र। (३) कारी<कालीय=यमुना के दह में रहने वाला प्रसिद्ध विषधर, जिसका दमन कृष्ण ने किया था। (४) बलि=दानवराज बलि, जिनको विष्णु ने छला था। बासू<वासुकि=प्रसिद्ध पौराणिक तीन नागराज में से एक: अन्य दो शेष और तक्षक

थे। (६) बिजुरी<विज्जु<विद्युत्=बिजली। कुरुँभ<कूर्म = कच्छप। (८) छाज् <छज्ज् [दे०] = शोभना, चमकना। (९) कुंभकरन की खोपड़ी, बूड़त बाँचा भीवँ : कहा जाता है कि भीम अपने बल के दर्प में चूर कहीं जा रहे थे और वे एक गड़े में गिर गए। बड़ी कठिनाई से वे उसमें से निकल सके। तदनन्तर, उन्हें जब ज्ञात हुआ कि यह गढ़ा कुंभकर्ण की खोपड़ी का था, उनका बल का अभिमान जाता रहा।

रावन गरब बिरोधा रामू। औ ओहिं गरब भएउ संग्रामू।
तेहि रावन अस को बरिबंडा। जेहि दस सीस बीस भुअडंडा।
सूरज जेहि कै तपै रसोई। बैसंदर निति धोती धोई।
सूक सोंटिया ससि मसिआरा। पवन करै निति बार बोहारा।
मीचु लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दोसर ओहि सौं काँधा।
जो अस बजर टरै नहिं टारा। सोउ मुआ तपसी कर मारा।
नाती पूत कोटि दस अहा। रोवन हार न एकौ रहा।
ओछ जानि कै काहूँ जनि कोइ गरब करेइ।
ओछे पारी दैय है जैत पत्र जो देइ ॥२६६॥

अर्थ--(१) [उसने पुनः कहा,] "रावण ने गर्व-वश राम से विरोध किया, और उसके उस गर्व के कारण ही [दोनों में] युद्ध हुआ। (२) उस रावण के जैसा कौन बलवान था, जिसके दस सिर और बीस भुजदंड (बाहु) हों, (३) जिसकी रसोई सूर्य तपता था, वैश्वानर (अग्नि) नित्य जिसकी धोती धोता था, (४) शुक्र जिसका सोंटिया (वैत्रिक), और शशि [स्वयं] मशाल था, पवन जिसके द्वार पर झाड़ू लगाता था, (५) मृत्यु लाकर जिसकी पलँग की पट्टी में बाँध दी गई थी ? [इस प्रकार] दूसरा कोई नहीं रहा जो उसके साथ [वैर] कंधे पर लेता। (६) जो ऐसा वज्र जैसा [दुर्जेय] था और हटाने से हट नहीं सकता [अटल] था, वह भी एक तपस्वी (राम) के द्वारा मारा जाकर मरा। (७) उसके नाती तथा पुत्र दस कोटि थे, किन्तु [वे सभी नष्ट हो गए और] उसके लिए रोने वाला एक भी न रहा। (८) किसी [अन्य को] तुच्छ जानकर कोई गर्व न करे, (९) क्योंकि तुच्छ की पंक्ति (उसके पक्ष) में दैव है जो उसे जयति-पत्र देता है।"

टिप्पणी--(२) बरिबंड<बलवंत<बलवत् = बलवान्। भुअडंड=भुजदण्ड। (३) रसोई<रसवती=ज्यौनार। बैसंदर<वैश्वानर=अग्नि। (४) सोंटिया= सोंटा बरदार, वैत्रिक। मसिआर [<मशअल (अ)] = मशाल। बोहार् [दे०] = झाड़ू देना। (७) नाती<नप्तृ = पुत्री का पुत्र। (८) ओछ<तुच्छ = छोटा। (९) पारी <पाली=पंक्ति, पक्ष। जैतपत्र<जयपत्र=विजय का प्रमाणपत्र।

आव जो भाँट जहाँ हुत आगें। बिनै उठा राजहि रिसि लागें।
भाँट आहि ईसुर कै कला। राजा सब राखैं अरगला।
भाँट मीचु आपुनि पै दीसा। तासौं कौन करै रंस रीसा।
भएउ रजाएसु गंध्रपसेनी। काह मीचु कै चढ़ा निसेनी।
काह अवनि बानी अस मरसी। करसि बिटंड भरम नहिं करसी।

जाति करा कत औगुन लावसि । बाएँ हाथ राज बरम्हावसि ।
भाँट नाउँ का मारौं जीवाँ । अबहूँ बोल नाइ कै गीवाँ ।
तुइँ रे भाँट यह जोगी तोहि एहि कहाँ क संग ।
कहाँ छरै अस पावा काह भएउ चित भंग ॥२६७॥

अर्थ—(१) [अब] जो भाँट वहाँ (रत्नसेन के पास) से [चलकर] आगे आया, राजा (गंधर्वसेन) के क्रुद्ध होने पर उससे निवेदन कर उठा, (२) [हे राजा,] भाँट ईश्वर (महेश) की कला [होता] है, [इसीलिए] समस्त राजा उसे अर्गला [के रूप] में रखते हैं। (३) भाँट अपनी मृत्यु हो न हो, देखता रहता है [सदैव स्वामी के साथ मरने के लिए तैयार रहता है], इसलिए उससे कौन रस (प्रीति) अथवा रोष करे ?" (४) [इस कथन को सुनकर] गंधर्वसेन का राजादेश हुआ, "तू क्या (क्यों) मृत्यु की सीढ़ी पर चढ़ा हुआ है ? [अपनी] ओछी वाणी के कारण तू क्या [क्यों बेकार] इस प्रकार मर रहा (मरना चाहता) है ? तू यह वितंडा क्यों कर रहा है और मुझसे भ्रम (भय) नहीं कर रहा है ? (६) अपनी जाति की कला (कान्ति) में तू क्यों यह अवगुण लगा रहा है, और बाएँ हाथ से मुझ राजा को ब्राह्मणों का आशीर्वाद दे रहा है ? (७) तू भाँट नामधारी है, इससे क्या तेरा जीव-वध करूँ ? अब भी तू गर्दन नमित करके बातें कर। (८) तू भाँट है, और यह योगी है ; तेरा और इसका कहाँ का साथ है ? (९) कहाँ तू ने इस योगी को इस प्रकार छलने का अवसर पाया, और क्या [इसका] ऐसा चित्त का झुकाव हुआ [कि इसने तेरा साथ किया] ?"

टिप्पणी—(१) बिनव्<विण्णव्<विज्ञापय् = निवेदन करना । (२) अरगल <अर्गला = किवाड़ों को बन्द करके उनके पीछे लगाई जाने वाली लकड़ी, रोक-थाम । (४) रजाएसु<राजादेश = राजाज्ञा । निसेनी<णिस्सेणि<निःश्रेणि = सीढ़ी । (५) अवन<अवण्ण<अवर्ण = वर्णहीन, ओछा । बिटंड<वितंडा = बकवाद । (६) करा = कला । (९) भंग<भङ्ग = झुकाव ।

जौ सत पूँछहु गंध्रप राजा । सत पै कहौं परै किन गाजा ।
भाँटहि काह मीचु सौं डरना । हाथ कटारि पेट हनि मरना ।
जंबू दीप औ चितउर देसू । चित्रसेनि बड़ तहाँ नरेसू ।
रतनसेनि यहु ताकर बेटा । कुल चौहान जाइ नहिं मेंटा ।
खाँड़ै अचल सुमेर पहारू । टरै न जौं लागै संसारू ।
दान सुमेरु देत नहिं खाँगा । जो ओहि माँग न औरहि माँगा ।
दाहिन हाथ उठाएउँ ताही । और को अस बरम्हावउँ जाही ।
नाउँ महापातर मोहि तेहिक भिखारी ढीठ ।
जौं खरि बात कहें रिस लागै खरि पै कहै बसीठ ॥२६८॥

अर्थ—(१) [भाँट ने कहा,] "हे राजा गंधर्वसेन, यदि तुम सत्य पूछते हो तो मैं, हो न हो, सत्य ही कहूँगा, क्यों न वज्र ही मेरे ऊपर गिरे। (२) भाँट को मृत्यु से क्या डर, उसे तो [स्वामी के मारे जाने के अनंतर हाथ में कटार लेकर और

पेट में उसे मारकर मरना ही होता है। (३) एक जम्बू द्वीप है, [उसमें] चित्तौर का देश है, और चित्रसेन वहाँ का बड़ा राजा था। (४) यह रत्नसेन उसी का बेटा है ; इसका कुल चौहान है, जो [संसार से] मिटाया नहीं जा सकेगा। (५) यह खड्ग [चलाने] में [उसी प्रकार] अटल है [जिस प्रकार] सुमेरु पर्वत है, और यह [खड्ग चलाने से] विचलित नहीं हो सकता चाहे सारा संसार [इसके सामने] आ जाए। (६) दान में यह [पुनः] सुमेरु [सदृश] है, क्योंकि देते हुए इसे कमी नहीं पड़ती है, और जो इससे माँग लेता है, फिर औरों से नहीं माँगता है [उसे और किसी से माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती है]। (७) दाहिना हाथ मैंने उसी को उठाया है ; और ऐसा कौन है जिसे इस प्रकार [दाहिने हाथ से] मैं ब्राह्मणों का आशीर्वाद दूँ। (८) मेरा नाम महापात्र है, मैं इसी का धृष्ठ भिखारी हूँ, (९) यद्यपि खरी बात कहने से [सुनने वाले को] रिस लगती है, किन्तु बसीठ, हो न हो, खरी बात ही कहता है।"

टिप्पणी—(१) जौ<जउ<जइ=यदि। पै<परम्=हो न हो। गाज<गज्ज<गर्ज=बादलों की गर्जना, वज्र। (२) हाथ कटारि पेट हनि मरना : भाँट स्वामी के साथ रण-स्थल में भी जाता था, और यह एक व्यापक प्रथा थी कि स्वामी के मारे जाने के बाद वह आत्मघात कर लेता था। (४) बेटा<बिट्ट [दे०]=पुत्र। (५) खाँडा=खड्ग। (६) खाँग्=कम पड़ना, पूरा न पड़ना। (८) महापातर=महापात्र : महापात्र वास्तव में जाति-नाम था, यथा अकबर आश्रित महापात्र नरहरि बंदीजन। (९) खरि<खर=परुष, कठोर। बसीठ<बसिट्ठ<बसिष्ठ (?)=दूत।

सोइ बिनती सिउँ करौं बसीठी। पहिलें करुइ अंत होइ मीठी।
तूँ गंध्रप राजा जग पूजा। गुन चौदह सिख देइ को दूजा।
हीरामनि जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा।
तेहि बोलाइ पूँछहु वह देसू। दहुँ जोगी की तहँ क नरेसू।
हमरें कहत रहै नहि मानू। जो वह कहै सोइ परवानू।
जहाँ बारि तहँ आव बरोकाँ। करै बियाह धरम सुठि तोकाँ।
जौं पहिलें मन मान त काँधिअ। परखिअ रतन गाँठि तब बाँधिअ।
रतन छिपाएँ ना छिपै पारखि होइ सो परीख।
घालि कसौटी दीजिए कनक कचोरी भीख॥२६६॥

अर्थ—(१) "इसीलिए मैं विनती के साथ बसीठी (दूतत्व) कर रहा हूँ ; यह बसीठी पहले कड़वी किन्तु अन्त में मधुर होगी। (२) ऐ राजा गंधर्वसेन, तू जगत् में पूजित है, और चतुर्दश गुणों से युक्त है, इसलिए दूसरा कौन तुझे शिक्षा दे सकता है ? (३) हीरामणि जो तुम्हारा पक्षी था, चित्तौड़ गया है और [उसने वहाँ इसकी] सेवा की है। (४) उसको बुलाकर उस देश के बारे में पूछो, और यह पूछो कि यह योगी है, या वहाँ का राजा है। (५) मेरे कहने से मान्यता न रहेगी, जो वह कहे वही प्रमाण होगा। (६) जहाँ बालिका थी वहाँ यह बरोक [के लिए] आया है, इसलिए यदि तू इसके साथ [अपनी कन्या का] विवाह करे, तो तुझे अत्यधिक धर्म हो। (७)

पहले यदि मन मान जाए तब [किसी कार्य में] कंधा लगाना चाहिए, पहले रत्न की परीक्षा कर ली जाए तब उसे गाँठ में बाँधना चाहिए [पहले रत्नसेन की परीक्षा कर लो तब उसकी गाँठ अपनी कन्या के साथ बाँधो]। (८) रत्न छिपाने से नहीं छिपता है, जो पारखी होता है, वह उसको परख ही लेता है। (९) कसौटी पर [उसका खरापन] कसकर ही उसे [अपना] कनक का कच्चोल (पात्र) उसे भिक्षा में देना चाहिए।

टिप्पणी—(१) बिनती<विज्ञप्ति=निवेदन। सिउँ<समम्=साथ। करुअ=कटु। (२) चौदह गुन : गुण चौदह माने गए हैं (दे० 'चतुर्दश गुण'—मो० वि०)। [विद्याएँ भी चतुर्दश मानी गई हैं : चारवेद, छः वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय तथा धर्म; दे० ('विद्या'—मो० वि०)]। (३) परेवा<पारेवय<पारावत=कबूतर, पक्षी। (५) परवान=प्रमाण। (६) बारि=बालिका। बरोक<वर+औत्क्य=वरिच्छा, फलदान। (९) कचोरी<कच्चोल+इका=कटोरी, प्याली। दीजिए कनक कचोरी भीख : तुल० रतन कचोलइ किम पाउइ भीखि—बीसलदेव रास, छंद ४७।

हीरामनि जौं राजैं सुना। रोस बुझान हिएँ महँ गुना।
अग्याँ भई बुलावहु सोई। पंडित हुँतें धोख नहिं होई।
एक कहत सहसक दस धाए। हीरामनिहि बेगि लै आए।
खोला आगे आनि मँजूसा। मिला निकसि बहु दिन कर रूसा।
अस्तुति करत मिला बहु भाँती। राजैं सुना भई हियँ साँती।
जानहुँ जरत अगिनि जल परा। होइ फुलवारि रहस हिय भरा।
राजैं मिलि पूँछी हँसि बाता। कस तन पीत भएउ मुख राता।
चतुर बेद तुम्ह पंडित पढ़े सास्तर बेद।
कहाँ चढ़े जोगी गढ़ आनि कीन्ह गढ़ भेद ॥२७०॥

अर्थ—(१) 'हीरामणि' का नाम जो राजा ने सुना, तो उसका क्रोध शान्त हो गया और वह हृदय में गुनने (विचार करने) लगा। (२) [उसकी] आज्ञा हुई कि उसको बुलाया जाए, [और उसका कथन सुना जाए,] क्योंकि पंडित से धोखा नहीं होता है। (३) एक के लिए कहते ही दस सहस्र दौड़ पड़े और हीरामणि को शीघ्र ले आए। (४) [गंधर्वसेन के] आगे लाकर उसका पिंजरा उन्होंने खोला, और बहुत दिनों का रूठा हुआ हीरामणि राजा को मिला। (५) वह बहुत भाँति से स्तुति करते हुए [राजा से] मिला। राजा ने [उस स्तुति को] सुना तो उसे हृदय में शांति [प्राप्त] हुई। (६) [उसे ऐसा लगा] मानो जलती हुई अग्नि में जल पड़ गया हो, और उसका हृदय फुलवाड़ी बनकर हर्ष [और उत्फुल्लता] से भर गया। (७) राजा ने उससे मिलते हुए हँसकर यह बात पूछी, "किस प्रकार (क्यों) तुम्हारा शरीर पीला और मुख रक्तवर्ण का हो गया है? (८) तुम चारों वेदों के पंडित हो और शास्त्रों तथा वेदों (वेदांगों) को भी पढ़ा है, (९) यह बताओ कि ये योगी गढ़ पर कहाँ (क्यों) चढ़ पड़े और क्यों इन्होंने आकर [और सेंध देकर] गढ़ का भेदन किया।"

टिप्पणी—(१) बुझ्<वि+धम्=आग का ठंडा होना, बुझना। (४) रूसा<

रूसिअ=रुष्ट । (६) फुलवारि<फुल्लवाडिआ=फुल्लवाटिका । रहस<रभस्=हर्ष, आनंद ।

हीरामनि रसना रस खोला । दई असीस औ अस्तुति बोला ।
इंद्र राज राजेसुर महा । सौंहें रिसि किछु जाइ न कहा ।
पै जेहि बात होइ भल आगें । सेवक निडर कहै रिस लागें ।
सुवा सुफल अंब्रित पै खोजा । होइ न बिक्रम राजा भोजा ।
हौं सेवक तुम्ह आदि गोसाईं । सेवा करौं जियौं जब ताईं ।
जेइँ जिउ दीन्ह देखावा देसू । सो पै जिय महँ बसै नरेसू ।
जो ओहि सँवरै एकै तुँ ही । सोई पंखि जगत रतमुहीं ।
नैन बैन औ सरवन बुद्धी सबै तोर परसाद ।
सेवा मोर इहै निति बोलौं आसिरबाद ॥२७१॥

अर्थ—(१) हीरामणि ने [अपनी] रसना का रस खोल दिया (मुक्त किया); वह [गंधर्वसेन को] आशीर्वाद देकर उसकी स्तुति करने लगा, "(२) हे [पृथ्वी के] इन्द्र और महाराज-राजेश्वर, मुझे अपने सम्मुख ही [तुम्हारी] रिस दीख पड़ रही है, इसलिए कुछ कहते नहीं बन रहा है । (३) किन्तु जिस बात से आगे [स्वामी का] भला हो, वह बात निडर सेवक [स्वामी को] रिस लगने पर [भी] कहता ही है । (४) सुआ, हो न हो, अमृत् [जैसा] सुफल [स्वामी के लिए] खोजता है, [भले ही] वह विक्रम राजा का भोज्य न हो सके । मैं सेवक हूँ और तुम मेरे आदि (प्रथम) स्वामी हो, [इसलिए] जब तक जीवित रहूँगा, तुम्हारी सेवा करता रहूँगा । (६) जिसने जीवन दिया और यह देश दिखाया, हो न हो, वह राजा हृदय में बसता ही है, (७) और जो उसको 'एक मात्र तू ही है' कहकर स्मरण करता है, वही पक्षी इस जगत् में लाल (कान्तिपूर्ण) मुखवाला होता है । (८) मेरे नेत्र, वचन, श्रवण और बुद्धि सभी तेरे प्रसाद (तेरे दिए हुए) हैं ; (९) मेरी सेवा यही है कि मैं तुझे नित्य आशीर्वचन कहता रहूँ ।"

टिप्पणी—(२) सौंह<सउँह=सम्मुख । (४) भोज<भोज्य=भोजन के योग्य । बिक्रम=विक्रम की यह कथा ८८.१ की टिप्पणी में दी जा चुकी है । (७) सँवर्<सम्रर्=स्मृ<स्मरण करना ।

छंद की अन्तिम पंक्तियों में स्वामी की कृतज्ञता का उल्लेख करने के मिस परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त किया गया है । जायसी प्रायः इस प्रकार लौकिक विषय का निरूपण करते-करते अलौकिक का निरूपण करने लग जाते हैं ।

जो अस सेवक चह पति दसा । तेहिकि जीभ अंब्रित पै बसा ।
तेहि सेवक के करमहि दोसू । सेव करत ठाकुर होइ रोसू ।
औ जेहि दोस निदोखहि लागा । सेवक डरहि जीव लै भागा ।
जौं पंखी कहँवाँ थिर रहना । ताकै जहाँ जाइ जौं डहना ।
सपत दीप देखेउँ फिरि राजा । जंबू दीप जाइ पुनि बाजा ।
तहँ चितउर गढ़ देखेउँ ऊँचा । ऊँच राजि सरि तोहि पहूँचा ।

रतनसेनि यहु तहाँ नरेसू । आएउँ लै जोगी कर भेसू ।
सुवा सुफल पै आनै है तेहि गुन मुख रात ।
कया पीत अस तातें सँवरौं बिक्रम बात ॥२७२॥

अर्थ--(१) "सेवक यदि इस प्रकार पति (स्वामी) की सुदशा चाहता हो, तो उसकी जिह्वा पर, हो न हो, अमृत निवास करता है, (२) यह उस सेवक के कर्मों का दोष है [यदि] सेवा करते हुए स्वामी को उस पर रोष हो, (२) और निर्दोष होने पर भी जिस सेवक को दोष लगता है, वह सेवक डर के मारे अपना जीव लेकर भाग जाता ही है। (४) यदि वह पक्षी हुआ, तो उसे स्थिर रूप से कहाँ रहना है ? यदि डैने हैं, तो जहाँ जाने का निश्चय करता है, चला जाता है। (५) मैंने घूम-फिर कर सातों द्वीप देखे और फिर जम्बू द्वीप जा पहुँचा। (६) वहाँ मैंने ऊँचा चित्तौड़गढ़ देखा ; उसका ऊँचा राज्य तेरे राज्य के सदृश पहुँचता था। (७) यह रत्नसेन वहाँ राजा था, और इसको मैं योगी के वेष में [करके] ले आया। (८) सुआ हो न हो, [स्वामी के लिए] सुफल ले आता है, इसी गुण से उसका मुख लाल होता है। (९) [किन्तु साथ ही] मेरी काया पीली इसलिए है कि मैं विक्रम की वार्त्ता का स्मरण कर रहा हूँ।"

टिप्पणी--(२) ठाकुर<ठक्कुर=स्वामी। (४) ताक्<तवक<तर्कय्=तर्क करना, विचार करना, निश्चय करना। (५) बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना, गमन करना। (६) सरि<सदृश=समान, समानता। (८)-(९) बिक्रम बात : यहाँ उसी वार्ता का उल्लेख है जिसका ऊपर ८८.१ में हुआ है : सुनि राजैं बियोग तस मानाँ। जैसें हियँ बिकरम पछितानाँ।

पहिलें भएउ भाँट सत भाखी । पुनि बोला हीरामनि साखी ।
राजहि भा निस्चौ मन माना । बाँधा रतन छोरि कै आना ।
कुल पूँछा चौहान कुलीना । रतन न बाँधे होइ मलीना ।
हीरा दसन पान रँग पाके । बिहँसत सबन्ह बीज बर ताके ।
मुंद्रा स्रवन मैन सो चाँपे । राजबैन उघरै सब झाँपे ।
आना काटर एक तोखारू । कहा सो फेरै भा असवारू ।
फेरेउ तुरिअ छतीसौ कुरी । सबहिं सराहा सिंघलपुरी ।
कुँअर बतीसौं लक्खना सहस कराँ जस भान ।
काह कसौटी कसिए कंचन बारह बानि ॥२७३॥

अर्थ--(१) पहले भाँट सत्यभाषी हुआ, और उसके अनंतर साक्षी हीरामणि बोला [उसने आँखों देखा विवरण दिया], (२) इसलिए राजा गन्धर्वसेन को निश्चय हो गया, और उसका मन मान गया, और वह बन्दी रत्नसेन को मुक्त करके ले आया। (३) कुल के संबंध में प्रश्न किया था तो कुलीन चौहान कुल ज्ञात हुआ था, रत्न (रत्नसेन) को बाँधने (बन्दी करने) से भी [उसकी वह कुलगत उज्ज्वलता बनी हुई थी] वह मलिन नहीं हुआ था। (४) उसके हीरे जैसे दाँत पान के रंग से पके हुए थे, और वे सभी हँसते समय श्रेष्ठ विद्युत सदृश दीख पड़े। (५) कानों में मुद्राएँ मोम से चिपकाई हुई थीं, और वे समस्त राजवर्ण (राजचिह्न) जो ढके हुए थे, उघड़

पड़े। (६) गन्धर्वसेन एक कट्टर घोड़ा ले आया, और जब उससे [चढ़कर] उसे घुमाने को कहा, वह उस पर चढ़ गया। (७) जब उसने उसको फिराया छत्तीसों कुलों के समस्त सिंहलपुरवासियों ने उसकी सराहना की। (८) [सबों ने कहा,] "यह कुमार बत्तीसों शुभ लक्षणों वाला है, और वैसा ही [प्रतापी] है जैसा सहस्र कलाओं वाला सूर्य होता है। (९) इस बारह वर्णों वाले कंचन को क्या कसौटी पर कसिएगा ?"

टिप्पणी--(१) साखी<साक्खि<साक्षिन्=गवाह। (२) आन्<आ+नी=लाना। (४) बीज<विज्जु<विद्युत्=बिजली। ताक < तक्क<तर्कय् = देखना, दीखना। (५) मैन <मयण <मदन=मोम। बैन <वण्ण <वर्ण=चिह्न। (६) काटर=(१) काटने वाला, बिगड़ैल, अथवा (२) कत्तल जाति का घोड़ा (दे० 'प्रेमी' अभिनन्दन ग्रंथ १०८१, तथा छिताई वार्ता छंद ७२४) तोखार=तुखारिस्तान का घोड़ा, घोड़ा। (७) तुरिअ <तुरय <तुरम=घोड़ा। छतीस कुरी=छत्तीस कुलों के लोग। छत्तीस कुलों या जातियों की सूचियाँ देश-काल-भेद के अनुसार पृथक्-पृथक् मिलती हैं। जायसी ने पहले भी छत्तीस कुलों का उल्लेख किया है (१८५.१)। (९) बारह बानि<द्वादश वर्णिन्=बारह वर्णों का : जायसी के समय में बारह वर्णों का सोना सबसे खरा माना जाता था। जायसी ने प्रायः बारह बानी कंचन का उल्लेख किया है। 'बान' और 'बनवारी' के संबंध में दे० ऊपर ८३.५ की तत्संबंधी टिप्पणियाँ।

देखि सुरुज बर कँवल सँजोगू। अस्तु अस्तु बोला सब लोगू।
मिला सुबंस अंस उजियारा। भा बरोक औ तिलक सँवारा।
अनिरुध कहँ जो लिखी जैमारा। को मेटै बानासुर हारा।
आजु मिलै अनिरुध कों ऊखा। देव अनंद दैतन्ह सिर दूखा।
सरग सूर भुइँ सरवर केवा। बन खँड भँवर होइ रस लेवा।
पछिवँ क बार पुरुब की बारी। लिखी जो जोरी होइ न न्यारी।
मानुस साज लाख मन साजा। साजा विधि सोई पै बाजा।
गए जो बाजन बाजते जिन्हहि मारन रन माहँ।
फिरि बाजन तेइ बाजे मंगलचार ओनाहँ ॥२७४॥

अर्थ--(१) कमलिनी (पद्मिनी) के साथ सूर्य [जैसे] इस वर का संयोग देखकर सब लोग 'अस्तु अस्तु' (ऐसा ही हो, ऐसा ही हो) कहने लगे। (२) उन्होंने कहा, [इस संबंध से सिंहल के] सुवंश में [चित्तौड़ का] उज्ज्वल अंश मिल रहा है।" [लोक का समर्थन पाकर तदनंतर] वरिच्छा हुई और वर को तिलक किया गया। (३) [लोग कहने लगे,] "अनिरुद्ध को [उसके भाग्य में] [उषा की] जयमाल लिखी हुई थी, इसलिए उसे कौन मिटा सकता था। वाणासुर हार रहा। (४) आज अनिरुद्ध (रत्नसेन) को उषा (पद्मावती) मिलेगी, देवताओं को आनंद और दैत्यों के सिर (उनके हिस्से में) दुःख होगा। (५) आकाश में सूर्य होता है और भूमि पर सरोवर की केतकी (कमलिनी) होती है, [इसी प्रकार सरोवर में कमलिनी] और बनखंड में भ्रमर होता है, किन्तु फिर भी वे उसके रस के ग्राहक होते हैं। (६) पश्चिम

(चित्तौड़) का बालक था और पूर्व (सिंहल) की बालिका थी, किन्तु जो जोड़ी [पहले से विधाता द्वारा] लिखी हुई है, वह न्यारी (अलग) नहीं हो सकती है। (७) मनुष्य मन में लाख कल्पनाएँ करे, किन्तु जो विधाता निर्मित करता है, वही हो कर रहता है। (८) जो वाद्य जिनको रण में मारने के लिए बजते हुए गए थे, (९) वे ही वाद्य पुनः उनके मंगलाचार में बजे ! ''

टिप्पणी—(२) बरोक<वर+औत्क्य=वरिच्छा, फलदान। (३)-(४) अनिरुद्ध (प्रद्युम्न-पुत्र) तथा उषा की प्रेमकथा मध्ययुग में बहुत प्रचलित थी और उस युग में संपूर्ण भारतवर्ष में इसके संबंध की रचनाएँ मिलती हैं। (५) केवा<केअअ<केतक=केतकी। (६) बार <बाल=बालक। बारी=बालिका। (७) साज् <सज्ज्<सृज् = निर्माण करना, बनाना। बाज्<बज्ज्<व्रज् = जाना, होना। (८) बाजन<वाद्य = बाजा।

लगन धरी औ रचा बिआहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू।
बाजन बाजे कोटि पचासा। भा अनंद सगरौ कबिलासा।
जेहि दिन कहँ निति देव मनावा। सोइ देवस पदुमावति पावा।
चाँद सुरुज मनि माथें भागू। औ गावहिं सब नखत सोहागू।
रचि रचि मानिक माँड़ौ छावहिं। औ भुइँ रात बिछाउ बिछवाहिं।
चंदन खाँभ रचे चहुँ पाती। मानिक दिया बरहिं दिन राती।
घर घर बंदन रचे दुआरा। जाँवत नगर गीत झनकारा।
हाट बाट सिंघल सब जहँ देखिअ तहँ रात।
धनि रानी पदुमावति जा करि ऐस बरात ॥२७५॥

अर्थ—(१) लग्न निर्धारित हुई और विवाह की रचना (व्यवस्था) हुई। सिंहल में सबको निमंत्रण घुमाया गया। (२) पचास कोटि बाजे बजे, और समस्त कैलास (राजकीय धवलगृह) में आनंद हुआ। (३) जिस दिन के लिए वह नित्य [अपने] देवता को मनाती थी, वही दिवस पद्मावती को प्राप्त हुआ। (४) चन्द्रमा (पद्मावती), सूर्य (रत्नसेन) तथा मणियों (उनके संबंधियों) के मस्तक पर भाग्योदय हुआ था, [पद्मावती की] समस्त सखियाँ सुहाग के गीत गाती थीं। विवाह के लिए रच-रच कर (युक्ति पूर्वक) लोग माणिक्य का मंडप छा रहे थे और भूमि पर लाल बिछावन बिछा रहे थे। (६) चारों ओर चन्दन के खंभों की पंक्तियाँ उन्होंने रच रक्खी थीं, [जिन पर] दिन-रात माणिक्य के दीपक जलते थे। (७) प्रत्येक घर में द्वार पर बंदनवार रचे गए थे, और जहाँ तक भी नगर था उसमें गीतों की झनकार हो रही थी। (८) हाट और मार्ग में, सिंहल में जहाँ देखिए सब कुछ लाल ही लाल था (९) वह रानी पद्मावती धन्य थी जिसकी ऐसी बारात [विवाह की धूम धाम] थी।

टिप्पणी—(१) नेवत=निमंत्रण। (२) सगर<सगल=सकल। (४) सुहाग <सोहाग <सौभाग्य=विवाह के गीत। (५) माँडौ=मण्डप। (६) खाँभ <खंभ <स्कम्भ=खंभा। (७) बंदन < वन्दन[माला]=बन्दनवार, घर के द्वार पर मंगल

के लिए बाँधी जाने वाली पत्र-माला। जाँवत=यावत्। (८) बाट<बट्ट<वर्त्म=मार्ग। (९) बरात<वर-यात्रा।

रतनसेनि कहँ कापर आए। हीरा मोंति पदारथ लाए।
कुअँर सहस सँग आए सभागे। बिनौ करहिं राजा सौं लागे।
जेहि लगि तुम्ह साधा तप जोगू। लेहु राज मानहु सुख भोगू।
मंजन करहु भभूति उतारहु। कै अस्नान चतुरसम सारहु।
काढ़हु मुंद्रा फटिक अभाऊ। पहिरहु कुंडल कनक जराऊ।
छोरहु जटा फुलाएल लेहू। झारहु केस मटुक सिर देहू।
काढ़हु कंथा चिरकुट लावा। पहिरहु राता दगल सोहावा।
पाँवरि तजहु देहु पग पैरीं आवा बाँक तोखार।
बाँधहु मौर छत्र सिर तानहु बेगि होहु असवार ॥२७६॥

अर्थ—(१) रत्नसेन के लिए कपड़े आए, जिसमें हीरे, मोती तथा बहुमूल्य पत्थर लगे हुए थे। (२) जो सहस्रों भाग्यशाली कुमार रत्नसेन के संग आए थे, वे रत्नसेन के पास आकर विनती करने लगे, "(३) जिस हेतु तुमने तप और योग साधा था, उसको, ऐ राजा, लो और सुख-भोग मानो। (४) अब तुम मज्जन (शरीर-शुद्धि) करो, राख को शरीर से हटाओ, और स्नान कर के चतुरसम लगाओ। (५) वह स्फटिक की मुद्रा, जो [तुम्हारे] अयोग्य है निकालो और कनक का जड़ावदार कुंडल पहनो। (६) जटा खोलकर बालों में फुलेल डालो, केशों को झाड़कर सिर पर मुकुट धारण करो। (७) उस कंथे को निकाल फेंको जिसे चिथड़ा होने पर भी तुमने लगा (पहन) रक्खा है, और लाल सुन्दर दगला पहनो। (८) पाँवरी छोड़ो और पैरों को [घोड़े की] पैरी में दो, [क्योंकि] तुम्हारी सवारी के लिए बाँका घोड़ा आया हुआ है, (९) मौर [सिर पर] बाँधो, सिर पर छत्र तानो और शीघ्र [घोड़े पर] सवार हो।"

टिप्पणी—(१) कापर<कप्पड<कर्पट=वस्त्र। लाव्<लाग्य=लगाना। (२) बिनौ<विनय<विज्ञप्ति=निवेदन। (४) मंजन<मज्जण<मार्जन=शरीर-शुद्धि। भभूति<विभूति=राख। चतुरसम<चतुःसम=चन्दन, अगुरु, केसर और कस्तूरी को सम भाग में लेकर बनाया हुआ लेप। (५) अभाउ<अभाग=अयुक्त, अयोग्य। (६) फुलाएल<फुल्ल+तैल=फूलों से बनाया हुआ सुगंधित तैल। (७) कंथा=गूदड़ों को जोड़-जाड़ कर बनाया हुआ वस्त्र। चिरकुट<चिर+कुट्टिय<चिरकुट्टिल=फटकर चिथड़ा हुआ। दग्ला=रूई भरकर बनाया हुआ गर्म चोंगा। पाँवरि<पादत्री<पैरी=पदत्री। बाँक<वंक=वक्क। (९) मौर<मउड=मुकुट। असवार=सवार[फ़ा०]।

साजा राजा बाजन बाजे। मदन सहाय दुहूँ दिसि गाजे।
औ राता रथ सोने क साजू। भए बरात गोहन सब राजा।
बाजत गाजत भा असवारू। सब सिंघल नै करहि जोहारू।
चहुँ ओर मसियर नखत तराई। सूरुज चढ़ा चाँद की ताईं।

सब दिन तपा जैस हिय माहाँ। तैस रात पाई सुख छाहाँ।
ऊपर रात छत्र तस छावा। इंद्रलोक सब सेवाँ आवा।
आजु इंद्र आछरि सौं मिला। सब कबिलास होइ सोहिला।
धरती सरग चहूँ दिसि पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै राज मँदिर कहँ होइ मंगलाचार ॥२७७॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) ने वरवेष में सजावट की; बाजे बजने लगे; दोनों ओर से मदन के सहायक (कामोत्तेजक) [बाजे] गर्जन करने लगे। (२) पुनः सोने का लाल रथ सजाया गया, तथा [सिंहल के] समस्त राजा बारात के साथ हुए। (३) बाजे गाजे और हाथी-घोड़ों के चीत्कार के साथ रत्नसेन [रथ पर] सवार हुआ, और समस्त सिंहल ने झुककर उसे जुहार किया। (४) चारों ओर नक्षत्र और तारिकाएँ (पद्मावती की सहेलियाँ) मशालें हुई थीं जब सूर्य (रत्नसेन) चन्द्रमा (पद्मिनी) [से विवाह] के लिए चढ़ चला (बारात लेकर रवाना हुआ)। (५) वह समस्त दिन जिस प्रकार हृदय में तप्त होता रहा था उसी प्रकार रात में उसने सुख की छाया प्राप्त की। (६) ऊपर [आकाश में देवताओं के] लाल छत्र इस प्रकार आच्छादित थे, मानो समस्त इन्द्रलोक उसकी सेवा के लिए आ गया हो। (७) आज [मानो] इन्द्र अप्सरा से मिल रहा था [इसलिए] समस्त कैलास (शिवलोक-धवलगृह) में सोहिले (विवाह के गीत) हो रहे थे। (८) धरती और आकाश में चारों ओर मशालें पूरित हो रही थीं; (९) राजा (रत्नसेन) बजते हुए वाद्यों के साथ राज-भवन को आ रहा था और मंगलाचार हो रहा था।

टिप्पणी--(१) साज् <सज्ज<सस्ज्=सजाना, तैयार करना। मदन-सहाय =मदन के सहायक, कामोत्तेजक। गाज् <गज्ज<गर्ज=गर्जन करना। (२) गोहन =साथ। (३) असवार=सवार [फ़ा०]। नव् <नम्=नमित होना, झुकना। (४) मसिअर>मशअल [फा०] =मशाल। तराई=तारिका। (७) आछरि<अच्छरि <अप्सरस्=अप्सरा। कबिलास<कैलास=शिवलोक। जायसी के शिवलोक में ही इन्द्र तथा उसकी अप्सराएँ भी हैं। (८) सरग<स्वर्ग=आकाश।

पदुमावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रबि जाकहँ ससि गढ़ी।
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह महँ कौनु सो जोगी अहा।
केइँ सो जोग लै ओर निबाहा। भएउ सूर चढ़ि चाँद बियाहा।
कौनु सिद्ध सो ऐस अकेला। जेइँ सिर लाइ पेम सौं लेखा। खेला
कासौं पितै बचा असि हारी। उतर न दीन्ह दीन्हि तेहि बारी।
काकहँ दैय ऐसि जै दीन्हा। जेइँ जैसार जीति रन लीन्हा।
धन्नि पुरुख अस नवै न नाएँ। औ सुपुरुष होइ, देस पराएँ।
को बरिबंड बीर अस मोहि देखै कर चाउ।
पुनि जाइहि जनवासे सखी, रे बेगि देखाउ ॥२७८॥

अर्थ--(१) पद्मावती [यह देखने के लिए] धवलगृह पर चढ़ गई कि वह सूर्य (प्रेमी) कैसा है जिसके लिए वह शशि (प्रेमिका) निर्मित हुई है। (२) बारात

को देखकर उसने सखियों से कहा (पूछा), "इनमें वह योगी कौन है ? (३) किसने योग ग्रहण कर अन्त तक उसका निर्वाह किया ? और कौन सूर्य (प्रेमी) हुआ और [सिंहलगढ़ पर] चढ़ाई कर चन्द्रमा (प्रेमिका) का परिणय किया ? (४) वह ऐसा एकमात्र सिद्ध कौन है जिसने सिर की बाज़ी लगाकर प्रेम से खेल किया है ? (५) मेरे पिता ने किसको इस प्रकार वचन दे दिया कि उत्तर न दिया, बालिका ही दे दी ? (६) किसको दैव ने ऐसी जय दी है, जिसने रण में विजय पाकर जयमाला ली है ? (७) ऐसा पुरुष धन्य है जो नमित करने से नमता नहीं है, और पराये देश में भी सत्पुरुष [प्रमाणित] होता है। (८) ऐसा बलवान और वीर वह कौन है ? मुझे उसको देखने की उमंग [हो रही] है। (९) फिर (इसके बाद) वह जनवासे चला जाएगा, इसलिए, ऐ सखी, उसे शीघ्र दिखा।"

टिप्पणी--(१) धौराहर<धवलगृह = ऊँचा प्रासाद। (३) ओर<अवर<अपर (?) = दूसरा छोर, अन्त। (४) लाव्<लाग्य = लगाना। (५) बारी = बालिका। (६) जैमार = जयमाला। (७) नव <नम् = नमित होना। नाव् <नमय् = नमित करना। बरिबंड<बलवंत = बलवत् = बलवान

सखी देखावहिं चमकहिं बाहू। तूँ जस चाँद सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कँवल मन भएउ हुलासू।
वह उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार सो तेहि परछाहीं।
जस रबि दीख उठै परभाता। उठा छत्र देखिअ तस राता।
आव माँझ भा दूलह सोई। औरु बराति संग सब कोई।
सहसौं कराँ रूप बिधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा।
मनि माथे दरसन उजियारा। सौंह निरखि नहिं जाइ निहारा।
रूपवंत जस दरपन धनि तूँ जाकर कंत।
चाहिअ जैस मनोहर मिला सो मन भावंत ॥२७३॥

अर्थ--(१) सखियाँ जब उसे दिखाती हैं, उनके बाहुटे चमकते हैं। वे कहती हैं, "तू चाँद जैसी है, तो तेरा स्वामी सूर्य [जैसा] है।" (२) सूर्य का प्रकाश छिपा नहीं रहता है, और उसे जब कमलिनी (पद्मावती) ने देखा, उसके मन में उल्लास हुआ। (३) [सखियों ने कहा,] "वह जगत् के ऊपर उज्ज्वल है, और जगत् जो प्रकाशित है वह उसकी प्रतिच्छाया से है। (४) जैसे प्रभात में उठता हुआ सूर्य दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार उसका उठा हुआ लाल छत्र दीख पड़ रहा है। (५) मध्य में वह दूलह होकर आ रहा है, और सब लोग जो साथ हैं, वे बराती हैं। (३) विधाता ने उसे समग्र कलाओं से युक्त (सूर्य के रूप में) गढ़ा है, और वह सोने के रथ पर चढ़ा आ रहा है। (७) उसके मस्तक पर मणि है और उसका दर्शन उज्ज्वल है, उसे सम्मुख से निरखते हुए देखा नहीं जा सकता है। (८) वह दर्पण के समान रूपवान है, और तू धन्य है जिसका वह कान्त है। (९) जैसा मनोहर [वर] चाहिए [था], वैसा ही मन-भावना [वर] तुझे प्राप्त हुआ है।"

टिप्पणी--(१) बाहू = बाहु का आभरण, बाहुटा, भुजबंद। (२) हुलास=

उल्लास। (३) उजिआर=उज्ज्वल। (५) माँझ<मज्झ=मध्य। बराती=वरयात्री। (७) सौंह<सउँह=सम्मुख। निरख<णिरिक्ख<निर्+ईक्ष=भलीभाँति देखना। निहार<नि+आलय=देखना। (८) कंत<कान्त=पति।

इस छंद में यह दर्शनीय है कि रत्नसेन के रूप-दर्प की भी उसी प्रकार प्रशंसा की गई है जैसी पद्मावती की अन्यत्र हुई है।

देखा चाँद सुरुज जस साजा। अस्टौ भाउ मदन तन गाजा।
हुलसे नैन दरस मद माँते। हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओप रबि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई।
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा बलय कर फूटे।
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं साजू।
आजु कटक जोरा हठि कामू। आजु बिरह सो होइ संग्रामू।
आजु चाँद घर आवै सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू।
अंग अंग सब हुलसे केउ कतहूँ न समाइ।
ठाँवहिं ठाँव बिमोहा गइ मुरछा गति आइ ॥२८०॥

अर्थ—(१) जब चन्द्र (प्रेमिका) ने सूर्य (प्रेम) को, जिस प्रकार वह सजाया हुआ था, देखा, उसके तन में मदन अष्ट भाव से गर्जन कर उठा। (२) [कान्त के] दर्शन से मदमत्त होकर उसके नेत्र उल्लसित हो उठे, और उसके प्रेम-रस से रक्त होकर उसके अधर उल्लसित हो उठे। (३) उसका मुख-मंडल उल्लसित हो उठा जब उस पर सूर्य (प्रेमी) की ओप (कान्ति) आ विराजी, और उसका हृदय उल्लसित होकर कञ्चुकी में नहीं समा रहा था। (४) उसके कुच उल्लसित हो उठे, जिससे उसकी कसनी के बन्दे टूट गए, उसकी भुजाएँ उल्लसित हो उठीं, जिससे उसके करों की चूड़ियाँ टूट गईं।' (५) उसकी कटि [इस आशा से] उल्लसित हो उठी कि [उस पर] रावण (रमण) का राज्य हुआ, [जब कि] राम और लक्ष्मण (प्रेम के विरोधीभाव : यथा भय, संकोच आदि) [उस रावण से संघर्ष करने के लिए] अपना दल सजा रहे हैं। (६) आज काम ने हठपूर्वक अपना सैन्य जोड़ा (इकट्ठा किया) है, और आज विरह से उसका संग्राम होगा। (७) आज चन्द्र (प्रेमिका) के घर में सूर्य (प्रेमी) आ रहा है और उसका समस्त शृंगार आज चूर-चूर होगा। (८) उसके अंग-अंग उल्लसित हो उठे, कोई भी [अंग] कहीं पर [अपने स्थान में] नहीं समा रहा था, (९) [उसके शरीर का] प्रत्येक स्थान विमोहित हो गया, इससे उसे मूर्च्छा आ गई।

टिप्पणी—(१) साज<सज्ज<सस्ज=सजाना। अष्टभाव : आठ सात्त्विक भाव : स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-विकार, वेपथु, वर्ण-विकार, अश्रु और प्रलय। (२) हुलस्<उल्लस=उल्लसित होना, उमंग में आना। (४) कसनी=कटि तक पहुँचने वाली चोली। बंद [फ़ा०]<बन्धन। बलय=वलय=चूड़ियाँ। (५) रावन=रावण तथा रमण। दर<दल=सैन्य। (८) समाय्<समा<सम्+मा=अँटना।

सखी सँभारि पियावहिं पानी । राजकुँवरि काहे कुँभिलानी ।
हम तो तोहि देखावा पीऊ । तूँ मुरझानि कैस भा जीऊ ।
सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू । मो कहँ जैस चाँद कहँ राहू ।
तुम्ह जानहु आवै पिय साजा । यह धम धम सब मो कहँ बाजा ।
जेत बराती औ असवारा । आए मोर सब चालनिहारा ।
सोइ आगम देखत हौं झँखी । आपन रहन न देखौं सखी ।
होइ बियाह पुनि होइहि गवना । गौनब तहाँ बहुरि नहि अवना ।
अब सो मिलन कत सखी सहेलिनि परा बिछोवा टूटि ।
तैसि गाँठि पिय जोरब जरम न होइहि छूटि ॥२८१॥

अर्थ—(१) सखियाँ उसे सँभालकर (उठाकर) [मूर्च्छा दूर करने के लिए] पानी पिलाती हैं, [और पूछती हैं,] "ऐ राजकुमारी, तू क्यों कुम्हला गई ? (२) हमने तो तुझे तेरे प्रिय को दिखाया, किन्तु तू मुर्झा गई ! तेरा जी कैसा हो गया ?" [पद्मावती ने उत्तर दिया,] "हे सखियो सुनो, सब जिसे विवाह कहते हैं, मुझे ऐसा हो गया जैसे चन्द्रमा के लिए राहु हो । (४) तुम तो जानती (समझती) हो कि प्रिय सजकर आ रहा है, किंतु यह सब बाजे जो धम-धम कर रहे हैं, मेरे लिए (मुझे यहाँ से ले जाने के लिए) हैं । (५) जितने बाराती और सवार हैं यह सभी मुझे यहाँ से ले जाने वाले हैं । (६) उसी भविष्य को देख कर मैं संतप्त हुई ; मैं [अब] यहाँ अपना रहना नहीं देख रही हूँ । (७) विवाह होगा, फिर गौना होगा, और [उस गौने में] मुझे वहाँ जाना होगा जहाँ से पुनः आना न होगा । (८) अब [तुम-से], ऐ सखियो, सहेलियो, यह मिलना कहाँ होगा ? अब तो [तुम-से होनेवाला] विछोह आ टूटा है । (९) प्रिय [अब] ऐसी गाँठ जोड़ेगा जो जन्म भर न छूटेगी ।"

टिप्पणी—(२) मुरुझ् <मुर्छ् =कुम्हलाना । (५) बराती=वर+यात्री । असवार =सवार [फ़ा०] । (६) झँख [दे०]=संतप्त होना । (७) गवन<गमन= विवाहानन्तर ससुराल जाना । अवन=आगमन । (९) गाँठि=ग्रन्थि ।

इस छंद में कवि ने जीव के मृत्युलोक से प्रयाण की ओर संकेत किया है । आत्मा वह कन्या है जो परमात्मा रूपी वर से मिलने के लिए यह संसार छोड़कर जाती है । मृत्यु विवाह है, शव के साथ बजनवाला वाद्य विवाह-वाद्य है । उस लोक से पुनः इस लोक में आगमन नहीं होता है ।

आइ बजावति पैठि बराता । पान फूल सेंदुर सब राता ।
जहँ सोने कै चित्तरसारी । बैठि बरात जानु फुलवारी ।
माँझ सिंहासन पाट सँवारा । दूलह आनि तहाँ बैसारा ।
कनक खंभ लागे चहुँ पाँती । मानिक दिया बरहिं दिन राती ।
भएउ अचल धुव जोगि पँखेरू । फूलि बैठि थिर जैस सुमेरू ।
आजु दैयँ हौं कीन्ह सभागा । जत दुख कीन्ह नीक सब लागा ।
आजु सूर ससिअर घर आवा । चाँद सुरुज दुहुँ होइ मेरावा ।

आजु इंद्र होइ आएउँ सिउँ बरात कबिलास ।
आजु मिलै मोहि आछरि पूजै मन कै आस ॥२८२॥

अर्थ––(१) बाजे बजाती हुई बारात आ पैठी (पहुँची), समस्त बाराती पान-फूल-सिन्दूर आदि से सुन्दर बने (सजे) थे। (२) जहाँ पर सोने की चित्रशालिका थी, उसमें बारात इस प्रकार बैठी मानो फुलवाड़ी हो। (३) मध्य में सिंहासन का फलक सँवारा गया, और दूलह को लाकर वहाँ (उस पर) बैठाया गया। (४) [उस सिंहासन के] चारों ओर पंक्तियों में सोने के खंभे [बनाकर] लगाए हुए थे, जिन पर दिन-रात माणिक्य के दीपक जलते रहते थे। (५) वह योगी पक्षी (पक्षी की भाँति अस्थिर योगी) [अब] ध्रुव सदृश अचल हो गया, और [सिंहासन पर] इस प्रकार फूलकर बैठा जैसे स्थिर सुमेरु हो। (६) [मन में उसने कहा], "आज दैव ने मुझे भाग्यशाली किया, मैंने जितना भी दुःख किया (उठाया) वह सब [इस सुख के] नेग लग गया। (७) आज सूर्य (प्रेमी) शशि (प्रेमिका) के घर में आया है, और चंद्रमा तथा सूर्य––दोनों का मिलन हुआ है। (८) आज मैं इन्द्र होकर बारात के साथ कैलास (राज मंदिर) में आया हूँ; (९) आज मुझे अप्सरा मिलेगी और मन की आशा पूरी होगी।"

टिप्पणी––(१) बरात=वर-यात्रा। (२) चित्तरसारी<चित्र-शालिका=वह गृह जो चित्रों से सुसज्जित हो। मध्य-युग में चित्रसारी प्रायः राजमंदिर से अलग वाटिका में बनाई जाती थी, यथा : मंझन कृत 'मधुमालती' में छंद १९५-२०८ (३) सवार्<समारचय्=दुरुस्त करना, सजाना। (४) खंभ<स्कंभ=खंभा। दिया<दीआअ=दीपक। (५) पँखेरु<पक्षधर=पक्षी। (६) नेग=मांगलिक अवसरों पर दिया जाने वाला पुरस्कार। (७) ससिअर<शशधर=चन्द्रमा। (८) सिउँ समम्=साथ। कबिलास<कैलास=शिवलोक। (९) आछरि<अच्छरी=अप्सरस्=अप्सरा।

होइ लाग जेवनार सुसारा। कनक पत्र पसरे पनवारा।
सोन थार मनि मानिक जरे। राए रंक सब आगें धरे।
रतन जराऊ खोरा खोरी। जन जन आगें सौ सौ जोरी।
गडुअन्ह हीर पदारथ लागे। देखि बिमोहे पुरुष सभागे।
जानहु नखत करहिं उजियारा। छपि गा दीपक औ मसियारा।
भै मिलि चाँद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसे निरमरा।
जेहि मानुस कहँ जोति न होती। तेहि भै जोति देखि वह जोती।
पाँति पाँति सब बैठे भाँति भाँति जेंवनार।
कनक पत्र तर धोती कनक पत्र पनवार ॥२८३॥

अर्थ––(१) उत्तम जेवनार होने लगी, और [जीमने वालों के सामने] सोने के पत्रों के बने पत्तल फैले। (२) [उनके ऊपर] राजा और रंक सभी के आगे मणि-माणिक जड़े हुए सोने के थाल रक्खे गए। (३) रत्नों से जटित कटोरे-कटोरियाँ प्रत्येक व्यक्ति के आगे सौ-सौ जोड़ियाँ रक्खी गईं। (४) गडुओं में हीरे और बहुमूल्य पत्थर

लगे हुए थे, जिन्हें देखकर वे भाग्यशाली पुरुष [जिनके आगे जेवनार के यह सब वर्त्तन रखे जा रहे थे] विमुग्ध हो गए। (५) [वे हीरे और बहुमूल्य पत्थर ऐसे देदीप्यमान थे] मानो नक्षत्र प्रकाश कर रहे हों, और उनके प्रकाश के आगे दीपक और मशाल छिप गए । (६) जैसे चाँद और सूर्य की कलाएँ मिल गई हों, इस प्रकार का निर्मल प्रकाश उनके कारण हो रहा था । (७) जिस मनुष्य के नेत्रों में ज्योति नहीं थी, उसे भी उस ज्योति को देखकर ज्योति हो गई । (८) समस्त जीमने वाले पंक्ति-पंक्ति में बैठे हुए थे और भाँति-भाँति की जेवनार [उनके सामने] थी। (९) [जीमने वालों की] धोतियों के नीचे कनक-पत्र थे और [जेवनार परसी जाने के लिए उनके सामने] कनक-पत्र के पत्तल थे।

टिप्पणी--(१) जेवनार<जीवन+वारि=भोजन । सुसार=सुरस, उत्तम पदार्थों से निर्मित (मो० वि०) (२) पनवार<पर्ण+माला =पत्तल । थार<स्थाल । (३) खोरा<खोरय [दे०]=कटोरा । (४) गडुआ<गड्डूक < गड्डुक =टोंटी लगा हुआ एक प्रकार का जलपात्र। (५) उजिआर<औज्ज्वल्य= प्रकाश। मसिआर<मशअल[उ०]=मशाल(६) उदोत<उद्योत=प्रकाश । (९) कनकपत्र तरघोनी=एक प्रकार का कपड़ा जिस पर सोने के पत्र (वरक़) चिपकाए होते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि समृद्ध लोग महीन धोतियों के नीचे कनकपत्र का कोई अस्तर कटिवस्त्र के रूप में लगाते थे। (देखिए आगे ४०९.४ भी) कनकपत्र पनवार =सोने के पत्रों से बने पत्तल ।

पहिलें भात परोसै आने । जनहु कपूर सुवास बसाने ।
झालर माँड आए घिउ पोए । ऊजर देखि पाप गए धोए ।
लुचुई पूरि सोहारीं परीं । एक ताती औ सुठि कोंवरीं ।
पुनि बावन परकार जो आए । ना अस देखे न कबहूँ खाए ।
खँडरा खंडि खंडुई खंडी । परी एकोतर सै कठहंडी ।
पुनि सँधान आए बहु साँधे । दूध दही के मोरँडा बाँधे ।
पुनि जाउरि पछियाउरि आई । दूध दही का कहौं मिठाई ।
जेंवन अधिक सुबासिक मुख महँ परत बिलाइ ।
सहस सवाद सो पावै एक कवर जौं खाइ ॥२८४॥

अर्थ—(१) पहले पकाए हुए चावल परसने के लिए लाये गए ; वे ऐसे थे मानो कपूर की सुवास में बासे हुए हों। (२) घी में पकाए हुए झालर और मंड आए ; वे इतने उज्ज्वल थे कि उन्हें देखकर पाप धो उठे। (२) लुचुई पूरियाँ और सुहारियाँ [थालों में] पड़ीं ; वे एक तो गर्म थीं और दूसरे अत्यधिक कोमल थीं। (४) तदनंतर जो बावन प्रकार के खाद्य पदार्थ आए वे ऐसे थे जो कभी न देखे गए और न खाए गए थे। (५) काटकर खंडर रक्खा गया और काटी हुई खंडुई रक्खी गई, [इस प्रकार) १०१ तैयार की गई कठहंडियाँ पड़ीं (६) तदनंतर बहुतेरे संधान साँधे हुए आए ; दूध तथा दही के बाँधे गए मोरंड आए। (७) तदनंतर जाउरि की पछिया-उरि आई। दूध-दही की मिठाई का क्या वर्णन करूँ? (८) वह भोजन बहुत सुवासिक था

१६

और मुख में पड़ते ही गल जाता था (९) जो कोई उसका एक कवल खाता था, वह उसमें एक सहस्र स्वाद पाता था ।

टिप्पणी—(१) भात<भत्त<भक्त=पकाया हुआ चावल । परोस<परिविष्=भोजन परसना । (२) झालर=चावल (?) [तुल० झिल्ली=भूना हुआ चावल—मो० वि०] । माँड<मंडअ<मण्डक=एक प्रकार की रोटी । किन्तु यहाँ पर तात्पर्य पूए (<पूप) से है, क्योंकि उन्हें 'घिउ पोए' कहा गया है । (३) लुचुई=एक प्रकार का पराँवठा, जो आटे की दो चकइयों की बीच में घी लगा कर साथ-साथ बेलकर बनाया जाता है । पूरी=किसी उसनी हुई दाल को भरकर तैयार किया गया पराँवठा । सोहारी=आटे की घी में कढ़ी हुई पूरी, जिसमें कुछ भरा हुआ न हो । तातर<तत्त<तप्त=गर्म । कोंवर<कोमल । (४) छप्पन प्रकार के व्यञ्जनों को अवधी क्षेत्र में 'बड़वन परकार' कहते हैं । (५) खंडर<खण्डर=एक प्रकार की मिठाई (मो० भि०) । खंड<खण्ड=खाँड । खंडुई<खंण्डवती=यह किसी दाल से तैयार किया जाने वाल एक प्रकार का शकरपारा है, जिसमें खटाई तथा खड़े मसाले पड़ते हैं । खंडुई कीन्ह अँबचुर तेंहि परा । लौंग लाइची सिउँ खँडि धरा । (५४९.६) कठहंडी<काष्ठ-भाण्डिका=काष्ठ का छोटा पात्र । (६) संधान=अँचार । मोरँडा <मोरंड<मयूर+अण्ड=मोदक । (७) जाउरि=चावल की नमकीन खीर । पछियाउरि=भोजन के अंत में परसा जाने वाला मीठा व्यंजन । (बिहार पीजैंट लाइफ़ पृ० ३५०) (८) बिला<वि+ली=विलीन होना । (९) कवर<कवल=ग्रास ।

भै जेंवनार फिरा खँडवानी । फिरा अरगजा कुंकुहँ बानी ।
फिरे पान बहुरा सब कोई । लाग बियाहचार सब होई ।
माँडौ सोने क गँगन सँवारा । बंदनवार लाग सब तारा ।
साजा पाट छत्र कै छाहाँ । रतन चौक पूरा तेहि माँहाँ ।
कंचन कलस नीर भरि धरा । इंद्र पास आनी अपछरा ।
गाँठि दुलह दुलहिनि कै जोरी । दुओ जगत जो जाइ न छोरी ।
बेद भनहिं पंडित तेहि ठाँउँ । कन्या तुला रासि लै नाउँ ।
चाँद सुरुज दुइ निरमल दुवौ सँजोग अनूप ।
सुरुज चाँद सौं भूला चाँद सुरुज के रूप ॥२८५॥

अर्थ—(१) जेवनार समाप्त हुई और खांड का पानी घुमाया गया; [इसी प्रकार] अरगजा घुमाया गया जो केसर वर्ण का था । (२) पान घुमाया गया और सब लोग [जनवास में] वापस हुए और विवाह का आचार होने लगा । (३) सोने का मंडप आकाश [जैसा] सजाया हुआ था, बन्दनवार में [जैसे] समस्त तारों को लगाया गया था । (४) छत्र की छाया में पाट (पीढ़ा) सजाया गया था, और उसी [मंडप] में रत्नों का चौक पूरा गया था । (५) कंचन के कलश में जल भरकर रक्खा हुआ था । इंद्र (रत्नसेन) के पास अप्सरा (पद्मावती) लाई गई । (६) दूल्हे और दूल्हन की गाँठ जोड़ी गई जो दोनों जगतों—इहलोक-परलोक—में खोली नहीं जा सकती थी । (७) [उस स्थान पर पंडित वेद[-मंत्रों] का उच्चारण कर रहे

थे, और कन्या, तुला आदि राशियों का नाम ले रहे थे (८) दोनों निर्मल चन्द्र और सूर्य थे, और दोनों का यह अनुपम संयोग हो रहा था ; (९) सूर्य (वर) चन्द्रमा (वधू) को देखकर [अपने को] भूल गया, और चन्द्र (वधू) सूर्य (वर) के रूप पर [अपने को] भूल गया ।

टिप्पणी--(१) जेवनार<जीवन-वारि=भोजन । खंडवानी<खण्ड+पानीय । अरगजा=एक प्रकार का सुगंधित लेप जो केसर, चंदन, कपूर आदि से बनता था । (२) पान<पण्ण<पर्ण=पान, ताम्बूल । (३) बंदनवार<वन्दन+माला=मंडप आदि में बाँधी जाने वाली पत्र-माला । (४) पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा । चौक<चउक्क<चतुष्क । (६) दूलह<दुल्लह<दुर्लभ=वर ।

दुहूँ नाउँ होइ गोत उचारा । करहिं पदुमिनी मंगलचारा ।
चाँद के हाथ दीन्हि जैमाला । चाँद आनि सूरुज गियँ घाला ।
सूरुज लीन्हि चाँद पहिराई । हार नखत तरइन्ह सिउँ पाई ।
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा । जोबन जरम कंत कहँ दीन्हा ।
कंत लीन्ह दीन्हा धनि हाथाँ । जोरी गाँठि दुहूँ एक साथाँ ।
चाँद सुरुज दुहुँ भाँवरि लेहीं । नखत मोंति नेवछावरि देहीं ।
फिरहिं दुवौ सत फेर को टेकै । सातौ फेर गाँठि सो एकै ।
भै भाँवरि नेवछावरि राजचार सब कीन्ह ।
दाइज कहौं कहाँ लगि लिखि न जाइ तेत दीन्ह ।।२८६।।

अर्थ--(१) दोनों (वर-वधू) के नाम के साथ गोत्रोच्चार हो रहा था, और पद्मिनियाँ मंगल-गीत गा रही थीं । (२) चन्द्र (वधू) के हाथ में जयमाला दी गई जिसे उसने (वधू) आकर सूर्य (वर) के गले में डाल दिया । (३) इसी प्रकार सूर्य (वर) ने चन्द्रमा (वधू) को एक हार पहिना दिया, जो उसने नक्षत्र और तारिकाओं (पद्मावती की सखियों) से पाया था । (४) तदनंतर स्त्री (वधू) ने अंजली भरकर जल लिया और अपना यौवन और जन्म (जीवन) कान्त (पति) को [संकल्प कर] दिया । (५) कान्त (पति) ने स्त्री का दिया गया हाथ ले लिया और दोनों ने एक साथ गाँठ जोड़ी । (६) चंद्र (वधू) तथा सूर्य (वर) दोनों भाँवरे फिर रहे थे और नक्षत्र (पद्मावती की सखियाँ) मोतियों को न्यौछावर दे रही थीं । (७) दोनों जब सप्तपदी फिर रहे थे, कौन [अन्य] [उस गाँठ को] टेकता (सँभालता) ? फेरे सात अवश्य लग रहे थे, किन्तु उन सातों फेरों में गाँठ वही एक थी । [जो पहले लग चुकी थी] । (८) भाँवरें पड़ीं, न्यौछावर हुई और राजोचित आचार हुए, (९) जो दायज [वर को] दिया गया, उसको कहाँ तक बताऊँ ? वह इतना दिया गया कि लिखा नहीं जा सकता है ।

टिप्पणी--(१) गोत-उचार<गोत्रोच्चार । (२) गिय<ग्रीवा=गर्दन । (३) सिउँ<सम्रम्=साथ । (४) जरम<जन्म=जीवन । कंत<कान्त=पति । (५) धनि<धन्या=स्त्री । (८) नेवछावरि∠णिवच्छ+आवलि=वारा या उतारा हुआ द्रव्य [णिवच्छण<उतारना=पा० स० म०] (९) दाइज<दायाद्य=विवाह में वर को दिया गया द्रव्यादि । तेज<तेत्तिअ<तावत्=उतना ।

रतनसेनि जौं दाइज पावा । गंध्रपसेनि आइ कँठ लावा ।
मानुस चिंत आन कछु निंता । करै गोसाइँ न मन महँ चिंता ।
अब तुम्ह सिंघलदीप गोसाईं । हम सेवक रहिहहिं सेवकाई ।
जस तुम्हार चितउर गढ़ देसू । तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू ।
जंबूदीप दूरि का काजू । सिंघलदीप करहु नित राजू ।
रतनसेनि बिनवा कर जोरी । अस्तुति जोग जीभि नहिं मोरी ।
तुम्ह गोसाइँ जेइँ छार छड़ाई । कै मानुस असि दीन्हि बड़ाई ।
जौं तुम्ह दीन्ह तौ पावा जियन जरम सुख भोग ।
नाहिं तौ खेह पाय की हौं न जानौं केहि जोग ॥२८७॥

अर्थ—(१) रत्नसेन ने जब दायज पाया, गंधर्वसेन ने आकर उसको गले से लगा लिया, (२) [और कहा,] "मनुष्य नित्य ही और कुछ चिन्तन करता है, किन्तु ईश्वर वह नहीं करता जिसे मनुष्य सोचे रहता है। (३) अब तुम सिंहल द्वीप के स्वामी हो, और हम तुम्हारे सेवक हैं जो तुम्हारी सेवा में रहेंगे। (४) जैसे तुम्हारा देश चित्तौड़गढ़ है, वैसे ही तुम यहाँ हमारे भी नरेश हो। (५) जम्बूदीप दूर है, उसका तुम्हें क्या प्रयोजन रहा ? अब तुम सिंहल द्वीप में नित्य राज्य करो।" (६) रत्नसेन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "तुम्हारी स्तुति करने योग्य मेरी जिह्वा नहीं है। (७) तुम मेरे ईश्वर हो, जिसने मेरी राख छुड़ाई औरम ुझे मनुष्य करके ऐसी बड़ाई दी। (८) जब तुमने दिया तब मैंने जीवन, जन्म और सुख-भोग पाया, (९) नहीं तो मैं पैरों की धूल था, और पता नहीं किस योग्य था।"

टिप्पणी—(१) दाइज<दायाद्य=विवाह में वर को कन्यापक्ष से प्राप्त द्रव्यादि। (२) गोसाइँ<गोस्वामी=स्वामी, ईश्वर। (६) बिनव<विण्णव्<वि+ज्ञापय्=निवेदन करना। (७) छार<क्षार=राख, योगी की राख। (८) जरम<जन्म। (९) पाय<पाअ<पाद=पैर।

धौराहर पर दीन्हेउ बासू । सात खंड जहँवा कबिलासू ।
सखी सहस दुइ सेवा आईं । जनहुँ चाँद सँग नखत तराईं ।
होइ मंडर ससि की चहुँ पासाँ । ससि सूरहि लै चढ़ीं अकासाँ ।
मिलीं जाइ ससि की चहुँ पाहाँ । सूर न चाँपै पावै छाँहाँ ।
चलहि सूर दिन अँथवै जहाँ । ससि नरिमल तैँ पावसि तहाँ ।
गंध्रपसेनि धौराहर कीन्हा । दीन्ह न राजहि जोगिहि दीन्हा ।
अब जोगी गुर पाए सोई । उतरा जोग भसम गा धोई ।
सात खंड धौराहर सातहुँ रँग नग लागु ।
देखत गा कबिलासहि दिस्टि पाप सब भागु ॥२८८॥

अर्थ—(१) गंधर्वसेन ने [पद्मावती तथा रत्नसेन को] उस धवलगृह के ऊपर निवास किया जो सात खंडों का था और जहाँ पर कैलास [का वैभव] था। (२) दो सहस्र [पद्मावती की] सखियाँ उसकी सेवा के लिए आईं, मानो चन्द्रमा के साथ नक्षत्र तथा तारिकाएँ हों। (३) शशि (पद्मावती) के चारों ओर तारिकाओं (सखियों)

का मंडल बना और वे शशि (पद्मावती) और सूर्य (रत्नसेन) को लेकर आकाश (सर्वोच्चखंड) पर जा चढ़ीं। (४) वे शशि (पद्मावती) के चारों ओर जाकर इस प्रकार जा मिलीं कि सूर्य उसकी छाया भी नहीं दबा (पा) सकता था। (५) [रत्नसेन से उन्होंने कहा,] "ऐ सूर्य तू वहाँ चल जहाँ दिन अस्त होता है, निर्मल शशि को तू वहीं पाएगा। (६) गन्धर्वसेन ने तुझे धवलगृह पर कर दिया। उसने यह धवलगृह किसी राजा को न देकर तुझ योगी को दिया, (७) और अब ऐ योगी, तू ने उस (वांछित) गुरु को प्राप्त कर लिया, जिससे तेरा योग (योगी का वेष) उतर गया और भस्म धो उठा। (८) यह धवलगृह सात खंडों का है, और सातों में सात रंगों के नग लगे हुए हैं; (९) (इस) कैलास को देखते ही तेरी दृष्टि के समस्त पाप भाग गए।"

टिप्पणी—(१) धौराहर <धवलगृह = प्रासाद। कबिलास <कैलास = शिवलोक (२) तराई <तारिका। (३) मंडर <मण्डल = घेरा। (४) छाँह <छाया। (५) अंथव् <अत्थम् <अस्तम् + इ = अस्त होना, अदृश्य होना। (८) धौराहर <धवला-गृह <प्रासाद।

सात खंड सातौ कबिलासा। का बरनौं जस उत्तिम बासा।
हीरा ईँटि कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा।
बिसुकर्मैं सैं हाथ सँवारी। सात खंड सातौ चौपारी।
चूना कीन्ह अवटि गज मोंती। मोंतिहु चाहि अधिक सो जोती।
अति निरमर नहिं जाइ बिसेखा। जस दरपन दरसन सब देखा।
भुँइ गच जानहु समुँद हिलोरा। कनक खंभ जनु रचेउ हिँडोरा।
रतन पदारथ होइ उजियारा। भूले दीपक औ मसियारा।
तहँ आछरि पदुमावति रतनसेनि के पास।
सातौ सरग हाथ जनु आए औ सातौ कबिलास ॥२८६॥

अर्थ—(१) इस धवलगृह के सातों खंड कैलास [के सातों खंड] थे; ऐसा उत्तम यह निवास था कि क्या वर्णन करूँ? (२) हीरों की ईंटें थी, कपूर का गारा, और [लकड़ी के स्थान पर] मलयागिरि चन्दन सर्वत्र लगाया हुआ था। (२) अपने हाथों से विश्वकर्मा ने स्वयं जिन्हें बनाया था, ऐसी सात चौपालें सातो खंडों में थीं। (४) गजमुक्ताओं को औट (पका) कर चूना बनाया गया था, और उसकी ज्योति मोतियों से भी अधिक थी। (५) वह [निवास] अत्यधिक निर्मल था, और उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। [वह ऐसा लगता था] मानो सबके सब दर्पण हों, जिसमें [अपना] दर्शन दिखाई पड़ता हो। (६) भूमि (पक्की फर्श) तथा गच (पक्की छत) मानो समुद्र की हिल्लोलें थीं, और उसमें कनक के स्तंभ ऐसे थे मानों हिंडोले रचे गए हों [और वे उनके स्तंभ हों]। (७) रत्नों और बहुमूल्य पत्थरों का उसमें ऐसा प्रकाश होता था कि दीपक और मशाल विस्मृत हो गए थे। (८) और वहाँ (उस कैलास में) रत्नसेन के पास अप्सरा पद्मावती थी, (९) [अतः रत्नसेन को ऐसा लगा] मानो सातों स्वर्ग और सातों कैलास (कैलास के सातों खंड) उसके हाथ आ गए थे।

टिप्पणी--(१) कबिलास<कैलास=शिवलोक। (३) सैं=स्वयम्। चौपारी <चउप्पाल<चतुःपाल=चौपाल, चौकोर सभागृह। (४) चूना<चूण्ण<चूर्ण। मोती=मौक्तिक। (५) बिसेख्<वि+शेषय्=विशेषण से अन्वित करना, विशेषताएँ बताना। (६) हिलोर<हिल्लोल=समुद्र की ऊँची लहर। गच [फ़ा] =सुर्खी चूना से पक्की की हुई फ़र्श अथवा छत। (७) उजिआर<औज्वल्य्=प्रकाश (८) आछरि<अच्छरी<अप्सरस्=अप्सरा।

पुनि तहँ रतनसेनि पगु धारा। जहँ नव रतन सेज सोवनारा।
पुतरीं गढ़ि गढ़ि खंभन्ह काढ़ीं। जनु सजीव सेवाँ सब ठाढ़ीं।
काहू हाथ चंदन कै खोरी। कोइ सेंदुर की गहे सिंधोरी।
कोइ केसरि कुंकुहँ लै रही। लावै अंग रहसि जनु चही।
कोई गहें कुंकुमा चोवा। दरसन आस ठाढ़ि मुख जोवा।
कोइ बीरा कोइ लीन्हे बीरी। कोइ परिमल अति सुगँध समीरी।
काहू हाथ कस्तुरी मेदू। भाँतिन्ह भाँति लाग तस भेदू।
पाँतिन्ह पाँति चहूँ दिसि पूरी सब सोंधे कर हाट।
माँझ रचा इंद्रासन पदुमावति कहँ पाट ॥२९०॥

अर्थ--(१) तदनंतर रत्नसेन वहाँ गया जहाँ पर शयनागार में नव रत्नों की शैया थी (२) उस शयनागार के खंभों में पुतलियाँ गढ़-गढ़ कर उभाड़ी हुई थीं, जो ऐसी लगती थीं मानो सब की सब सजीव हों और सेवा में खड़ी हों। (३) [उन पुत-लियों में से] किसी के हाथ में चन्दन की कटोरी थी, कोई सिन्दूर की डिब्बी लिए हुए थी, (४) कोई केसर और कुंकुम लिए हुए थी, [और ऐसी लगती थी] मानो हर्ष-पूर्वक उसे अंग में [स्वामिनी के] लगाना चाहती हों। (५) कोई कुंकुम और चोवा लिए हुए थी, और [ऐसी लगती थी मानो स्वामिनी के] दर्शन की आशा में खड़ी-खड़ी उसका मुख जोह रही हो। (६) कोई बीड़ा और कोई बीरी लिए हुए थी, और कोई अत्यन्त सुगंधित समीर वाली परिमल लिए हुए थी। (७) [पुनः] किसी के हाथ में कस्तूरी और मेद थे; इस प्रकार वे भाँति-भाँति की थीं, ऐसा भेद लगता (ज्ञात होता) था। (८) यह सब गढ़ाई पंक्ति-पंक्ति में इस प्रकार चारों ओर की गई थी, मानो सब की सब सुगंध की हाट हो, (९) और उसके मध्य (बीच) पद्मावती के बैठने का पट्ट इस प्रकार रचा हुआ था, [मानो] इन्द्रासन हो।

टिप्पणी--(१) सोवनार<शयनागार<शयनकक्ष। (२) पुतरी=पुत्तलिका। ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध। (३) खोरा<खोरय = कटोरा, प्याला। सिंधोरी=सिन्दूर की डिब्बी। (४) रहस<रभस्=हर्ष। (५) चोवा<अगुरु के रस से चुवाया हुआ एक सुगंधित द्रव्य। (६) बीरा<बीडग<बीटक=बीड़ा, पान का बीड़ा, सज्जित ताम्बूल। बीरी<बीड़ी<बीटि=बीड़ी, पान के बीड़े से छोटे आकार में लपेटी हुई कोई पत्ती; यथा बेल की पत्ती की बीड़ी। (देखिए पा० स० स०)। समीरी=समीर से बनी हुई [समीरण : पुदीना या उसी प्रकार का कोई अन्य सुगंधित पौदा] मो० वि०] मेद : किसी जन्तु की सुगंधित नाभि से निकाला हुआ एक सुगन्धित द्रव्य [दे०

आईन--ए-अकबरी--] (८) सोंधा<सुगन्धक=सुगंधयुक्त पदार्थ। (९) पाट< पट्ट=फलक, सिंहासन।

सात खंड ऊपर कबिलासू। तहँ सोवनार सेज सुखबासू।
चारि खंभ चारिहुँ दिसि धरे। हीरा रतन पदारथ जरे।
मानिक दिया बरै औ मोंती। होइ अँजोर रैनि तेहि जोती।
ऊपर रात चँदोवा छावा। औ भुँइ सुरँग बिछाउ बिछावा।
तेहि महँ पलँग सेज सो डासी। का कहँ ऐसि रची सुखबासी।
दुहुँ दिसि गेडुआ औ गलसूई। काँचे पाट भरी धुनि रूई।
फूलन्ह भरी ऐस केहि जोगू। को तेहि पौढ़ि मान सुख भोगू।
अति सुकुमारि सेज सो साजी छुवै न पावै कोइ।
देखत नवै खिनुहि खिन पाँव धरत कस होइ ॥२९१॥

अर्थ--(१) उस धवलगृह के सातों खंडों के ऊपर कैलास था। वहीं शयनागार में सुखवासी सेज थी। (२) [शयनागार में] चारों ओर चार खंभे थे, जो हीरे, रत्नों, तथा बहुमूल्य पत्थरों से जड़े हुए थे। (३) [उन पर] माणिक्य और मोतियों के दीपक जलते रहते थे, और उसी ज्योति से रात्रि में वहाँ प्रकाश होता था। (४) [पुनः उसमें] ऊपर लाल चँदोवा छत में लगा हुआ था और भूमि (फ़र्श) पर सुंदर रंगों का बिछावन बिछाया हुआ था। (५) उसी [शयनागार] में वह पर्यंक-सेज बिछाई हुई थी। भला किसके लिए ऐसी सुखवासी [पर्यंक-सेज] निर्मित हुई थी? (६) [उस पर्यंक-सेज में] दोनों ओर गेड़ुए और गलसुइयाँ थे, जिनमें धुनकर, कच्चे रेशम की रुई भरी हुई थी। (८) ऐसी फूलों भरी (पलंग-सेज) किसके योग्य थी और कौन उस पर लेटकर सुख-भोग मानने को था? (७) वह सेज अत्यधिक सुकुमार सजी हुई थी, उसे कोई छू नहीं सकता था; (९) वह देखने [मात्र] से क्षण-प्रतिक्षण दबती रहती थी, भला पैर रखने पर वह कैसी होती?

टिप्पणी--(१) कबिलास<कैलास=शिवलोक; जायसी ने सिंहल के धवल-गृह को अपर कैलास के समान बताया है। सोवनार<शयनागार=शयन-कक्ष, शयनगृह। सुखबास=सुखनिवास। (३) बर<बल<ज्वल्=जलना। अँजोर< औज्ज्वल्य। (४) चँदोवा<चंदाअव<चन्द्रातप+क=चँदोवा। (५) पलँग<पर्यंक। डास्=फैलाना, बिछाना। (६) गडुआ<गेंदुअ<कन्दुक=गोल तकिया। गलसूई< गल्लसूचिका=गल्ल मसूरिका, गालों के नीचे रक्खी जाने वाली तकिया। (७) पौढ़< पवड्ढ [दे०]=लेटना, सोना।

सूरज तपत सेज सो पाई। गाँठि छोरि ससि सखी छुपाई।
अहै कुँवर हमरे अस चारू। आजु कुँवरि कर करब सिंगारू।
हरदि उतारि चढ़ाएब रंगू। तब निसि चाँद सुरुज सौं संगू।
जनु चात्रिक मुख हुति गौ स्वाती। राजहि चकचौहट तेहि भाँती।
जोगि छरा जनु अछरिन्ह साथा। जोग हाथ हुँति भएउ बेहाथा।
वै चतुरा गुरु लै अपसइं। मंत्र अमोल छीनि लै गईं।

बैठेउ खोइ जरी औ बूटी । लाभ न आव मूर भौ टूटी ।
खाइ रहा ठग लाडू तंत मंत बुधि खोइ ।
भा धौराहर बनखँड ना हँसि आव न रोइ ॥२६२॥

अर्थ--(१) किन्तु उस (ऊपर वर्णित) शैय्या को उस सूर्य (प्रेमी) ने तप्त पाया, क्योंकि गाँठ खोलकर शशि (प्रेमिका) की सखियों ने उसे छिपा दिया था। (२) [पूछने पर उन सखियों ने कहा,] "हे कुमार, हमारे यहाँ ऐसी चलन है कि आज हम कुमारी का शृंगार करेंगी, (३) [उसके शरीर पर] विवाह के प्रसंग में लगी हुई हल्दी को [अपटने के द्वारा] उतारकर उस पर रंग चढ़ाएँगी, तब रात्रि में चन्द्र (प्रेमिका-वधू) और सूर्य (प्रेमी-वर) का संग (साहचर्य) होगा।" (४) मानो चातक के मुख से स्वाति-विन्दु [गिर] गया हो, इस प्रकार की चकचौहट (व्याकुलता) राजा (रत्नसेन) को [यह जानकर] हुई, (५) मानो योगी अप्सराओं के साथ में छला गया हो और योग हाथ में आया हुआ होने के बाद बेहाथ (हाथों से बाहर) हो गया हो। (६) वे चतुर नारियाँ [मानो] उसका गुरु (गुरु-लखाव) लेकर चली गईं, और उसका अमूल्य मंत्र उससे छीन ले गईं, (७) वह अब अपनी जड़ी-बूटी खो चुका था, उसे लाभ नहीं प्राप्त हुआ था, और उसे मूल में भी त्रुटि (कमी) पड़ रही थी। (८) वह ठग का दिया हुआ लड्डू खाकर तंत्र, मंत्र और बुद्धि खो रहा था; (९) फलतः धवलगृह उसके लिए बनखंड हो गया था, न उसे हँसी आ रही थी और न रोना आ रहा था।

टिप्पणी--(१) छप् < क्षिप् = फेंकना, छिपाना। (२) चार = चलन। (४) चात्रिक < चातक = पपीहा। (६) गुर < गुरु = गुरुलखाव, गूढ़ युक्ति। (७) टूटी < त्रुटि = हानि। तंत < तन्त्र।

अस तप करत गएउ दिन भारी । चारि पहर बीते जुग चारी ।
परीं साँझ पुनि सखी सो आईं । चाँद सो रहै न उईं तराईं ।
पूछेन्हि गुरू कहाँ रे चेला । बिनु ससियर कस सूर अकेला ।
धातु कमाइ सिखे तैं जोगी । अब कस जस निरधातु बियोगी ।
कहाँ सो खोए बीरौ लोना । जेहि तें होइ रूप औ सोना ।
कस हरतार पार नहिं पावा । गंधक कहाँ कुरकुटा खावा ।
कहाँ छपाए चाँद हमारा । जेहि बिनु जगत रैनि अँधिआरा ।
नैन कौड़िया हिय समुँद गुरू सो तेहि महँ जोति ।
मन मरजिया न होइ परै हाथ न आवै मोंति ॥२६३॥

अर्थ--(१) इस प्रकार तपस्या करते-करते भारी (कष्ट से बीतता हुआ) दिन गया : चार प्रहर बीतते उसको इस प्रकार लगा मानो चार युग बीते हों। (२) जब संध्या पड़ी (हुई) तो वे सखियाँ पुनः आईं, किन्तु चन्द्रमा (पद्मावती) नहीं था, [केवल] वे तारिकाएँ थीं। (३) उन्होंने [रत्नसेन से] पूछा, "ऐ चेले, [तेरा] गुरु कहाँ है ? ऐ सूर्य, तू बिना शशि के कैसे अकेला है ? (४) ऐ योगी, तूने तो धातु [अपर अर्थ--वीर्य] कमाना सीखा था, किन्तु अब कैसा निर्धातु [अपर अर्थ--

निर्वीर्य] जैसा और तू वियोगी हो रहा है ? (५) तू ने वह लोना विरवा [अपर अर्थ ——लावण्य-विटप—प्रेम] कहाँ खो दिया जिससे रूपा [अपर अर्थ—रूप] और स्वर्ण [अपर अर्थ——सुवर्ण] बनता है ? (६) तेरा किस प्रकार का हरिताल है [अपर अर्थ——जिसका उत्तम पदार्थ हरा हुआ हो, ऐसा तू कैसे हो रहा है] ? क्या उसने पारा [अपर अर्थ——पार] नहीं पाया ? ऐ कुरकुटा (सूख कर ऐंठा हुआ भात) खाया हुआ योगी, तेरा गंधक कहाँ है [अपर अर्थ–तेरी पद्मिनी कहाँ है] ? (७) तूने हमारे चंद्र को कहाँ छिपा दिया, जिसके बिना जगत् में रात्रि का अन्धकार हो रहा है? (८) नेत्र कौड़िया पक्षी है, हृदय समुद्र है, और गुरु उस हृदय-समुद्र का ज्योति–(मोती) बिन्दु है ; (९) जब तक मन मरजीवा होकर नहीं पड़ता है, मोती हाथ नहीं आते हैं ।"

टिप्पणी——(२) तराई<तारिका । (३) चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य । ससिअर<शशधर=चन्द्रमा । (४-६) इन अर्द्धालियों में श्लेष की सहायता से दो भाव कवि ने रक्खे हैं । (४) धातु कमाइ=[१] धातुओं का शोधन और सोने में उनका परिवर्तन ; [२] वीर्य-वर्धन । निरधातु=[१] धातु (सोने) से रहित; [२] वीर्य से रहित । (५) वीरौलोना= [१] लोना विरवा——विटप——जिसकी सहायता से निकृष्ट धातुओं से चाँदी-सोना बनता समझा जाता था ; [२] लावण्य——विटप ——प्रेम—जिसकी सहायता से जीवन लावण्यपूर्ण बनता है; तीनि लोक चौदह खँड सबै परै मोहि सूझि । प्रेम छाँड़ि किछु औरु न लोना जौं देखौं मन बूझि ।। (दे० ९६०८-९) रूप=[१] रूपा——चाँदी; (२) रूप—सौन्दर्य । सोना=[१] सोना धातु ; [२] सुवर्ण——शरीर का सुन्दर वर्ण । (६) हरतार=[१] हरिताल; [२] हृत+आल=जिसका आल (उत्तमपदार्थ) हर लिया गया हो । पार=[१] पारद ; [२] कृतकार्यता । गंधक=[१] गंधक ; [२] पद्मिनी, जिसके शरीर में कमल–गंध होती है । कुरकुटा=सूखकर ऐंठा हुआ भात [कूर=उबाला चावल, +कुटित=टेढ़ा हो गया हुआ, ऐंठा हुआ] । योगियों के लिए यही खाद्य माना गया है (दे० १२९.७, १३२.७) । (८) कौड़िया-एक पक्षी जो समुद्र के मुक्ता——रत्नादि को झपटकर अपनी चोंच में भर लेता है जब वे ऊपर आते हैं । सरगसीस बर धरती हिया सो पेम समुंद । नैन कौड़िया होइ रहे लै लै उठहिं सो बुंद ।।(१४३.८-९)कया उदधि चितवौं पिय पाहाँ । देखौं रतन सो हिरदय साहाँ । नैन कौड़िया ये मँडराहीं । थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं ।। (४०१.१,६)

का बसाइ जौं गुरु अस बूझा । चकाबूह अहिबरन जो जूझा ।
बिख जो देहि अंब्रित देखराई । तेहि रे निछोहिहिं को पतिआई ।
मरै सो जानु होइ तन सूना । पीर न जानै पीर बिहूना ।
पार न पाव जो गंधक पिया । सो हरतार कहौ किमि जिया ।
सिद्धि गोटिका जापहँ नाहीं । कौनु धातु पूँछहु तेहिं पाहीं ।
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं । होइ सार तब बर कै बोलौं ।
अभरक केत न एँगुर कीन्हा । सो तुम्ह फेरि अगिनि महँ दीन्हा ।

मिलि जौं पिरीतम बिछुरै काया अगिनि जराइ ।
कै सौ मिलै तन तपति बुझै कै मोहि मुएँ बुझाइ ॥२६४॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "मेरा क्या बस चले जो तुम [सब मिलकर एक साथ] इस प्रकार मेरा गुर (गुरलखाव—मर्म) पूछ रही हो ? यह तो वैसा ही हुआ जैसे चक्रव्यूह में [अनेक महारथियों से घिरकर] अभिमन्यु को जूझना पड़ा था। (२) जिसने अमृत दिखाकर विष दिया [पद्मावती को मेरे साथ यहाँ तक लाकर तुमने छिपा दिया], उस निष्ठुर का प्रत्यय (विश्वास) कौन करे ? (३) जो मरता है, वही जानता है कि शरीर का [प्राणों से] शून्य होना क्या होता है ; कोई भी जो उस पीड़ा से अलग हो (जिसे उस पीड़ा का अनुभव न होता हो) नहीं जानता है कि वह पीड़ा कैसी होती है। (४) जो गंधक द्वारा पिए हुए (गंधक के साथ घोटे हुए—बद्ध) पारे को न पाए [जो अपनी प्रियतमा सुगंधवाली पद्मिनी को न पा सके], वह हिरताल तुम्हीं बताओ, कैसे जी सकता है ? (बद्धपारद के बिना हरताल आग की आँच नहीं सह सकता है) [वह व्यक्ति जिसका उत्तम पदार्थ हर लिया गया है, कैसे जी सकता है?] (५) जिसके पास [पारद की] सिद्ध गुटिका नहीं है, उस पर (उससे) तुम किस धातु की बात पूछती हो ? [जिसके पास सिद्ध गुटिकारूपिणी पद्मावती नहीं है, उससे धातु—वीर्य और शुक्र—की बातें क्या पूछती हो ?] (६) अब उसके बिना [मैं स्वयं] राँगा बना हुआ [रँगा हुआ—भीतर से कुछ तथा ऊपर से कुछ और] फिर रहा हूँ। यदि सार [शरीर का सार पदार्थ] हो, तब तो कुछ बल करके बोलूँ ? (७) अभ्रक को कितना नहीं मैंने ईंगुर किया, किंतु उसे तुमने पुनः अग्नि में डाल दिया ! [अभ्रक जैसे कान्तियुक्त, उज्ज्वल शरीर को मैंने कान्तिहीन किन्तु रक्त वर्ण का कर डाला था और तुमने उसको पुनः विरह की अग्नि में क्षार होने के लिए डाल दिया !] (८) [विरह की] अग्नि में काया को जलाकर प्रियतम मिलकर बिछुड़ जाए (९) तो या तो उसके मिलने पर शरीर का ताप बुझ सकता है और या तो मेरे (मुझ वियोगी के) मरने पर ही वह बुझ सकेगा

टिप्पणी—(१) अहिवरन<अहिवण्ण<अभिमन्यु । चकाबूह अहिबरन जो जूझा : महाभारत की प्रसिद्ध कथा जिसमें चक्रव्यूह भेदन के लिए गये हुए अभिमन्यु को जयद्रथ आदि महारथियों ने घेरकर मारा था। यहाँ अकेला रत्नसेन पद्मावती की अनेकानेक सखियों से घिर कर चक्रव्यूह का अभिमन्यु हो रहा है। (३) सूना<शून्य। बिहून<विहुणिय<विधूत=अलग किया हुआ। (४) पारपाव : [१] पारदपाना ; [२] पा सकना :पारेय=सकना, समर्थ होना। पीय [१] पीअ<पीत=पिया, (२) पिआ<प्रिया=प्रियतमा। गँधक [१] गंधक—खनिज पदार्थ ; [२] पद्म-गंधवाली—पद्मावती। (५) धातु [१] धातु—खनिज ; [२] वीर्य, शुक्र, सत्त्व। (६) बाजु<वज्ज<वर्ज्ज=बिना। राग [१] राँगा धातु [२] रँगा हुआ—ऊपर से कुछ और तथा भीतर से कुछ और। सार : [१] उत्तम धातु के मूलतत्त्व [२] शरीर निर्माण के तत्त्व जो सात हैं। सत्त्व, शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेद, मांस और रक्त। (७) अभरक<अभ्रक। ईंगुर<हिंगुल=पारे और गंधक के जारण से बना

हुआ एक पदार्थ जिसका वर्ण बहुत लाल होता है और जो सिन्दूर के रूप स्त्रियों के द्वारा व्यवहृत होता है। (९) तपति<तप्ति<ताप। बुझ<वि+धम्<बुझना, आग का ठंडा होना।

सुनि कै बात सखीं सब हँसीं। जनहु रैनि तरईं परगसीं।
अब सो चाँद गँगन महँ छपा। लालि किहें कत पावसि तपा।
हमहुँ न जानहिं दहुँ सो कहाँ। करब खोज औ बिनउब तहाँ।
औ अस कहब आहि परदेसी। करु माया हत्या जनि लेसी।
पीर तुम्हार सुनत भा छोहू। दैय मनाव होउ अब ओहू।
तूँ जोगी तप करु मन जथा। जोगहि कवनि राज कै कथा।
वह रानी जहवाँ सुख राजू। बारह अभरन करै सो साजू।
जोगी दिढ़ आसन करु अस्थिर धरु मन ठाउँ।
जो न सुने तौ अब सुनु बारह अभरन नाउँ ॥२९५॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन की] बातें सुनकर [पद्मावती की] सभी सखियाँ हँस पड़ीं, [और उनका हँसना ऐसा लगा] मानो तारिकाएँ प्रकाशित हुई हों। (२) [उन्होंने कहा,] "अब वह चन्द्रमा (प्रियतमा) आकाश (धवलगृह के सर्वोच्च भाग) में छिप गया है; उसे तू ऐ तपस्वी लालि (खुशामद) करने से कहाँ पा सकता है? (३) हम सब भी नहीं जानतीं कि वह कहाँ है। जहाँ वह होगा हम सब खोजेंगी और वहाँ उससे [तुम्हारी ओर से] निवेदन करेंगी, (४) और ऐसा कहेंगी कि वह परदेसी है, उस पर स्नेहपूर्ण कृपा कर, [उसको मारने की] हत्या न ले। (५) तेरी पीड़ा सुनते ही हमें दया हो रही है, अब तू दैव से मना कि वह पीड़ा उसे भी हो। (६) तू योगी है, तू तपस्या कर, जैसा तेरे मन में है, योगी को राज्य की कथा (बातों) से क्या [सरोकार]? (७) वह रानी वहाँ है जहाँ सुख का राज्य है, वह वहाँ बारह प्रकार के आभरणों का साज (श्रृंगार) कर रही है। (८) ऐ योगी, तू आसन को दृढ़ कर और मन को उचित स्थान पर स्थिर करके; (९) यदि तूने सुना न हो तो अब बारह आभरणों के नाम सुन।"

टिप्पणी—(१) तरईं=तारिका। (२) छप<छिप्<क्षिप्=छिपना। लालि<लल्लि (दे०)=खुशामद। (३) बिनव<विण्णव<विज्ञापय्=कहना, निवेदन करना। माया<स्नेहपूर्ण कृपा। (७) अभरन=आभरण। (८) दिढ़=दृढ़।

प्रथमहि मंजन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू।
साजि माँग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा।
पुनि अंजन दुँहु नैन करेई। पुनि कानन्ह कुंडल पहिरेई।
पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तँमोला।
गियँ अभरन पहिरै जहँ ताईं। औ पहिरै कर कँगन कलाईं।
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। औ पायल पायन्ह भल चूरा।
बारह अभरन एइ बखाने। ते पहिरै बरहौ असथाने।

पुनि सोरह सिंगार जस चारिहुँ जोग कुलीन ।
दीरघ चारि चारि लघु चारि सुभर चहुँ खीन ।।२६६।।

अर्थ—(१) "प्रथम तो शरीर का मार्जन हो, तदनंतर चंदन-चीर धारण करे; (२) तदनंतर माँग बनाकर उसमें सिन्दूर डाले, तदनंतर ललाट पर रचकर तिलक सँवारे, (३) तदनंतर दोनों नेत्रों में अंजन करे, तदनंतर कानों में कुंडल पहिने, (४) तदनंतर नासिका में भली और अमूल्य फुल्ली पहिने, तदनंतर सुंदर मुख में ताम्बूल खाए, (५) जहाँ तक ग्रीवा के आभरण हैं, उनको पहिने और हाथ का कंगन कलाइयों में पहिने [अथवा हाथ में कंगन और कलाइयाँ पहिने] (६) कटि में क्षुद्रावलि का आभरण पूरे (पहिने) और पैरों में पायल तथा सुंदर चूड़े पूरे (पहिने) ; (७) ये ही बारह आभरण कहे गए हैं, इन्हें [शरीर के] बारह स्थानों में पहिने । (८) तदनंतर सोलह [अंगों के] (श्रृंगार करे, जैसे वे चार प्रकार के कुलीना स्त्रियों के योग्य [बताए गए] हैं ; (९) चार दीर्घ, चार लघु, चार भरे-पूरे और चार क्षीण [अंगों के] हों ।"

टिप्पणी—(१) मंजन<मज्जन<मार्जन=शरीर की शुद्धि । चंदन-चीर< चँदनौटा । (दे० ३२९.२) (२) माँग<मग्ग=मार्ग (?) । सार्<सारय्=लगाना (४) फूल<फुल्ल=पुष्प। रात<रत्त<रक्त=सुंदर । (५) कंगन=कंकण। कलाई< कलाइआ=कलाचिका । (६) छुद्रावलि<क्षुद्रावलि=क्षुद्रघंटिका । पूर्<पूलय=भरना चूरा=पैरों के बलय, लच्छे । (७) बखान<बक्खाण्<व्याख्यानय्=विवरण देना, कहना । (९) दीरघचारि चारि लघु चारि सुभर चहुँखीन : इनका विवरण आगे छंद ४६७ में आता है । सुभर=भरे-पूरे । खीन=क्षीण ।

पदुमावति जो सँवरै लीन्ही । पूनिउँ राति दैय असि कीन्ह ।
कै मंजन तन किएहु अन्हानू । पहिरे चीर गएउ छपि भानू ।
रचि पत्रावलि माँग सेंदूरा । भरि मोंतिन्ह औ मानिक पूरा ।
चंदन चित्र भए बहु भाँती । मेघ घटा जानहुँ बग पाँती ।
सिरी जो रतन माँग बैसारा । जानहुँ गँगन टूट निसि तारा ।
तिलक लिलाट धरा तस डीठा । जनहुँ दुइज पर नखत बईठा ।
मनि कुंडल खुँटिला औ खूँटी । जानहुँ परी कचपची टूटी ।
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ बरनि न आवै भाउ ।
माँग क दरपन गँगन भा तौ ससि तार देखाउ ।।२६७।।

अर्थ—(१) पद्मावती जब [विभिन्न अंगों को] सँवारने लगी, तब दैव ने इस प्रकार [उन अंगों के प्रकाश से] पूर्णिमा की रात कर दी । (२) उसने शरीर का मार्जन करके स्नान किया, और तदनंतर जब उसने [भीगे वस्त्र दूर किए और] चीर पहिना [उसे वस्त्रहीन होते देखने के लिए] भानु छिप गया । (३) उसने पत्रावली रचकर माँग को सिंदूरित किया, और उसे मोतियों से भरकर माणिक्य से पूरित किया । (४) [मुख पर] जो बहुत-सी भाँति के चन्दन के चित्र अंकित हुए वे ऐसे लगे मानो मेघ-घटा में बक-पंक्ति हो । (५) [तदनंतर] जो रत्नों की (रत्नखचित) श्री माँग के ऊपर बिठाई (पहिना), उससे ऐसा लगा कि कोई तारा आकाश में

रात में टूट पड़ा हो। (६) ललाट पर रक्खा (लगाया) हुआ तिलक ऐसा दिखाई पड़ा मानो द्वितीया के चन्द्रमा पर कोई नक्षत्र बैठा हो। (७) [उसके कानों में] मणि-कुंडल, खुँटिले और खुंटियाँ [इस प्रकार शोभित हुए] मानो कृत्तिका की नक्षत्रमाला टूट पड़ी हो। (८) जड़ाऊ [आभरणों] को पहिनकर जब वह खड़ी हुई, तब उसका सौन्दर्य अवर्णनीय हो गया; (९) क्योंकि उसकी माँग के लिए आकाश दर्पण हुआ, जैसे इसी कारण उसमें शशि और तारे दिखाई पड़े।

टिप्पणी—(१) सँवार<सम्मारचय्=सजाना। पूनिउँ<पूर्णिमा। (२) मंजन <मज्जन=मार्जन=शरीर शुद्धि। अन्हान<स्नान। (३) पत्रावलि<पत्रभंगी, मुख तथा अन्य अंगों पर कस्तूरी आदि से बनाए हुए पत्तियाँ और फूल; यथा: कैपत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र सँवारी। (४७१.२) पूर<पूरय्=भरना। (५) सिरी< श्री<बिंदिया जो माँग से लगाकर मस्तक पर लटकाई जाती है। (६) दुइज< द्वितीया<द्वितीया का चन्द्रमा। (७) खुँटिला, खुँटी=कान के आभरण विशेष। कचपची<कृति+प्रचित=कृत्तिका की नक्षत्रमाला। (९) तार <तारक=तारा।

बाँक नैन औ अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा।
जब जब हेरु फेरु चखु मोरी। लुरै द्रसरु महँ खंजन जोरी।
भौंहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे।
करन फूल नासिक अति सोभा। ससि मुख आइ सूक जनु लोभा।
सुरँग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै पान फूल कर जोरा।
कुसुम गेंद अस सुरँग कपोला। तेहि पर अलक भुअंगिनि डोला।
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। बेधा सोइ जो वह तिल डीठा।
देखि सिंगार अनूप बिधि बिरह चला तब भागि।
कालकोटि एइ ओनए सब मोरें जिय लागि ॥२६८॥

अर्थ—(१) उसके नेत्र बाँके थे और उनमें अंजन रेखा लगी हुई थी, इसलिए वे ऐसे लगते थे मानो शरद ऋतु में खंजन दीख पड़े हों। (२) जब-जब वह देखती और मोड़कर चक्षुओं को घुमाती, [तब-तब ऐसा लगता] मानो शरद ऋतु में खंजनों की जोड़ी चंचल हो रही हो। (३) उसकी भौंहें धनुष [सदृश] थीं, और हो न हो, धनुष भी उनसे हार चुके थे। [अपने] नेत्रों को [उन भौंहों से] लगाकर मानो वह बाण मारती थी। (४) करना [के आकार का] फूल नासिका में अति शोभित हुआ; [वह ऐसा लगा] मानो शशि के मुख पर आकर शुक्र लुब्ध हुआ हो। (५) सुरंग [दुप-हरिया के फूलों जैसे] अधरों पर जब उसने ताम्बूल लिया तो पान-फूल का जोड़ा का शोभित हुआ। (६) उसके कपोल कुसुम की गेंद ऐसे थे, और उन पर अलक-भुजंगिनी हिलती रहती थी। (७) उन कपोलों पर जो तिल थे वे पद्म पर बैठे भ्रमर थे, और जिसने भी उन तिलों पर दृष्टि डाली, उसीको उन्होंने वेध दिया। (८) ऐसी अनुपम विधि से किया हुआ शृंगार देखकर तब विरह भाग चला; (९) [वह कहने लगा,] "ये सब मेरे प्राणों के लिए उन्नमित कोटि काल [तुल्य] हैं।"

टिप्पणी—(१) बाँक<बंक<वक्र=सुन्दर। मोर<मोड़्<मोडय्=मोड़ना, टेढ़ा करना।

(२) लुर्<लुल=लोल या चंचल होना। (३) साँध<सं+धा=जोड़ना। (४) करनफूल: करना नाम के एक फूल के आकार की नकफुल्ली(?) मैंने 'कनक फूल' पाठ 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में रक्खा था, किन्तु दो-तीन को छोड़कर सभी प्रतियों में पाठ 'करन फूल' मिलता है, इसलिए इस पाठ में मैंने उसे 'करनफूल' कर दिया है, किन्तु पाठ तथा अर्थ के संबध में मैं संतुष्ट नहीं हूँ। (५) तँबोर<ताम्बूल=पान। तुल० फूल दुपहरी मानहुँ राता (१०६.२)। (६) गेंद<कन्दुक। (९) ओनव्<अवनम् =अवनमित होना, झुकना।

का बरनौं अभरन औ हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा।
चीर चारु औ चंदन चोला। हीर हार नग लाग अमोला।
तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिनि रूप डसै हत्यारी।
कुच कंचुकी सिरीफल उभे। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभे।
बाँहन्ह बाँहू टाड सलोनी। डोलत बाँह भाउ गति लोनी।
नीवी कँवल करी जनु बाँधी। बसा लंक जानहु दुइ आधी।
छुद्रघंटि कटि कंचन तागा। चलै तौ उठै छतीसौ रागा।
चूरा पायल अवनट बिछिया पायन्ह परे बियोग।
हिए लाइं टुक हम कहँ समदहु तुम्ह जानहु अउभोगु ॥२६६॥

अर्थ—(१) उसके आभरणों और हार का क्या वर्णन करूँ? उनसे वह ऐसी लगती थी कि मानो चन्द्रमा नक्षत्रों की माला पहिने हुए हो। (२) उसका चीर सुन्दर था और उसकी चोली चन्दनौटे की थी, उसके हीरे के हार में अमूल्य नग लगे हुए थे। (३) उन्होंने उसकी काली रोमावली को ढक रक्खा था, जो नागिन के रूप में डसने वाली और हत्यारी थी। (४) कंचुकी (चोली) में उसके कुच उठे हुए श्रीफल (बेल) [जैसे] थे, जो उल्लास में आए हुए थे और कान्त (पति) के हृदय में चुभना चाहते थे। (५) उसकी बाहों में बाँहु (भुजबन्द) और सलोनी (सुन्दर) टाड (टँडिया) थी, और उसकी बाहें भाव तथा लावण्यमयी गति से डोलती थीं। (६) उसकी नीवी [अपने फुलड़े के कारण] ऐसी लगती थी मानो कमल-कलिका बँधी हुई हो, [उस नीवी-बंधन से] उसकी बर्रं की कटि [जैसी कटि] मानो दो आधों में विभक्त हो रही थी। (७) कटि में कंचन के तागे में बँधी क्षुद्रघंटिका थी, जिसके कारण जब वह चलती थी तो छत्तीसों रागिनियाँ उठने लगती थीं। (८) [ये समस्त आभरण जहाँ इस कारण उल्लसित हो रहे थे कि कान्त से उसके मिलन के समय ये दोनों के आलिंगन का आनन्द-लाभ करेंगे, वहाँ] चूड़ा, पायल, अँगूठा, बिछिया उसके पैरों में वियोग (बिरोग—चिन्ता) में पड़े हुए थे [क्योंकि सामान्य प्रकार के आलिंगन के समय उन्हें वह आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता था, जो उपर्युक्त को]; (९) [इसलिए वे कहने लगे,] "हृदय से हमें लगाकर भी तनिक आलिंगन करना; तुम अवभोग [की मुद्रा] जानती हो [इसलिए उसे बताने की आवश्यकता नहीं है]।"

टिप्पणी—(१) मारा<माला। (४) उभा < उब्भ<ऊर्ध्वत = उठा हुआ। (५) बाहू<बाहुबन्ध, भुजबन्द। टाड<टड्डा या टँडिया; बाहु का एक आभरण।

सलोनी<स+लवण=सुंदर। (६) नीवी=नारा; ईजारबन्द, ।बसा=बर्र (दे० ११६.२, ११६.३, १६६.३) (७) तागा<तग्ग [दे०]=सूत्र-कंकण। (८) चूरा<चूड=पैरों की चूड़ी, लच्छा। पायल<पादकटक=पैरों का कड़ा। अनवट<अंगुष्ठ=पैरों के अँगूठे का छल्ला। बिछिआ<वृश्चिका=पैरों की उँगलियों का एक आभरण। (९) सम्बद्<सम+आदा=आलिंगन करना। अवभांग=[अवभुज] स्त्री के पैरों को मोड़कर सिर की ओर ले जाने की संभोग मुद्रा।

> अस बारह सोरह धनि साजै। छाज न औरहि ओहि पै छाजै।
> बिनवहि सखीं गहरु नहिं कीजै। जेइँ जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजै।
> सँवरि सेज धनि मन भौ संका। ठाढ़ि तिवानि टेकि कै लंका।
> अनचिन्ह पिउ काँपै मन माहाँ। का मैं कहब गहिहि जौं बाँहाँ।
> बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैमंत भुलानी।
> जोबन गरब किछु मैं नहिं चेता। नेहु न जानिउँ स्याम कि सेता।
> अब जौं कंत पूँछिहि सेइ बाता। कस मुँह होइहि पीत कि राता।
> हौं सो बारि औ दुलहिनि पिउ सो तरुन औ तेज।
> नहिं जानौं कस होइहि चढ़त कंत की सेज ॥३००॥

अर्थ—(१) धन्या (स्त्री-पद्मावती) ने बारह [आभरण] और सोलह [शृंगार] इस प्रकार साजे, कि और किसी को [उस प्रकार] शोभा न दे सकते, और हों न हों उसी को शोभा दे सकते। (२) [पद्मावती से] उसकी सखियाँ निवेदन करने लगीं, "विलंब न कीजिए; जिसने [आपके लिए] अपना जीवन दिया, उसे [चलकर] अपना जीवन दीजिए।" (३) किन्तु शैया [के मिलन] का स्मरण कर स्त्री [पद्मावती] के मन में शंका हुई और वह स्त्री कटि थामकर चुपचाप (खड़ी) रह गई। (४) वह मन में काँपने लगी, [और कहने लगी] "प्रिय (पति) अपरिचित है, जब वह मेरी बाहें पकड़ेगा, मैं क्या कहूँगी? (५) बालिका की अवस्था (बाल्यावस्था) चली गई, और उसमें यह न जाना कि प्रीति क्या होती है; तरुणी होने पर [यौवन में] मदमत्त होकर भूल गई; (६) यौवन के गर्व में मैं कुछ नहीं चेत पाई, और यह मैंने न जाना कि स्नेह कैसा होता है—श्याम होता है कि श्वेत। (७) अब यदि कान्त वह (स्नेह की) बात पूछेगा, तो मेरा मुख कैसा होगा—पीला या रक्तिम? (८) मैं बालिका हूँ और दूल्हन, जब कि मेरा प्रिय (पति) तरुण और तेजोमय है, (९) नहीं जानती कि उस कान्त की शैया पर चढ़ते (पैर रखते) समय कैसा होगा—मुझ पर क्या बीतेगी।"

टिप्पणी—(१) बारह सोरह<बारह आभरण (दे० २९६) तथा सोलह शृंगार (दे० ४६७) छाज<छज्ज [दे०]=शोभना, चमकना। (२) बिनव<विण्णव=विज्ञापय्=कहना, निवेदन करना। (३) सँवर<सम्मर<स्मृ=स्मरण करना। ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध=चुपचाप, खड़ी। तिवानि [स्त्रीवर्ण?]=स्त्री (४) जौं<जउ<यदा=जब। (५) बारिक<बारिका। मैमंत<मयमत्त=मदमत्त। (५) सेत<श्वेत। (६) बारि<बाल। नेह=स्नेह। (७) राता<रत<रक्त=लाल। (८) बारि<बालिका।

सुनि धनि डर हिरदैं तब ताईं । जौ लगि रहसि मिला नहिं साईं ।
कवन सो करी जो भँवर न राईं । डारि न टूटै फर गरुआईं ।
माता पिता बियाही सोईं । जरम निबाह पियहि सों होईं ।
भरि जमबार चहै जहँ रहा । जाइ न मेंटा ताकर कहा ।
ताकहँ बिलँबु न कीजै बारी । जो पिय आएसु सोइ पियारी ।
चलहु बेगि आएसु भा जैसें । कंत बोलावै रहिए कैसें ।
मान न करु थोरा करु लाड़ू । मान करत रिस मानै चाड़ू ।
साजन लेइ पठाइया आएसु जेहि क अमेंट ।
तन मन जोबन साजि सब देइ चलिअ लै भेंट ॥३०१॥

अर्थ--(१) [सखियों ने कहा,] "ऐ स्त्री, सुनो; डर तभी तक रहता है जब तक हर्षित होकर स्वामी नहीं मिलता है। (२) वह कलिका कौन सी है जो भ्रमर द्वारा राजित नहीं हुई ? फल की गुरुता से डाली नहीं टूटती है। (३) माता-पिता द्वारा कन्या विवाहित मात्र की जाती है, जन्म तक निर्वाह प्रिय (पति) से ही होता है। (४) यमद्वार (मृत्यु-द्वार) तक वह (स्त्री) चाहे जहाँ रहे, उस (प्रिय) का कथन (आदेश) नहीं मिटाया जा सकता है। (५) उसके लिए विलंब, ऐ बालिका, न करो; जो प्रिय (पति) के आदेश में रहती है, वही प्यारी होती है। (६) जिस प्रकार [शीघ्र आने के लिए] उसका आदेश हुआ है, उसी प्रकार तुम शीघ्र चलो; कान्त (प्रिय) बुलाता हो, तो कैसे रहा (रुका) जा सकता है ? (७) मान न करो, [मन में] थोड़ा लाड़ (प्यार) करो; मान करते ही रोष चाटु मानता है। (८) उस स्वजन (पति) ने तुम्हें लेने के लिए [हम सबको] भेजा है, जिसका आदेश [तुम्हारे लिए] अनुल्लंघनीय है; (९) तुम्हें शरीर, मन, और यौवन—सभी को सजाकर और लेकर उन्हें उसे भेंट देने के लिए चलना चाहिए।"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री । रहस<रभस्=हर्ष । (२) राई<राइअ<राजित=शोभित । (३) जरम<जन्म=जीवन । (४) जमबार<यमद्वार =मृत्यु । (५) पिआर<प्रियालु=प्रिय । (७) लाड़<लड्ड [दे०]=प्यार । चाड़<चाटु=प्रियवाक्य, खुशामद । (८) साजन<सजण<स्वजन=प्रिय । (९) साज्<सज्ज<सस्ज,=सजाना, सँवारना ।

पदुमिनि गवँन हंस गौ दूरी । हस्ती लाजि मेल सिर धूरी ।
बदन देखि घटि चंद छपाना । दसन देखि कै बीजु लजाना ।
खंजन छपा देखि कै नैना । कोकिल छपा सुनत मधु बैना ।
गीवँ देखि कैं छपा मँजूरू । लंक देखि कै छपा सदूरू ।
भौंह धनुख जो छपा अकाराँ । बेनी बासुकि छपा पताराँ ।
खरग छपा नासिका बिसेखी । अंम्रित छपा अधर रस पेखी ।
भुजन छपानि कँवल पौनारी । जंघ छपा केदली होइ बारी ।
अछरिं रूप छपानीं जबहिं चली धनि साजि ।
जावँत गरब गहीलि हुतिं सबै छपीं मन लाजि ॥३०२॥

अर्थ—(१) पद्मिनी की चरण-गति देखकर हंस दूर चला गया, और हाथी लज्जित हो सिर पर धूल डालने लगा। (२) उसका मुख देखकर चन्द्रमा घटकर छिप गया, तथा उसके दाँतों को देखकर विद्युत् लज्जित हो गया। (३) खंजन उसके नेत्रों को देखकर छिप गया, और कोकिल उसके मधुर वचनों (बोलों) को सुनकर छिप गया। (४) उसकी ग्रीवा देखकर मयूर छिप गया, और उसकी कटि देखकर शार्दूल (शरभ) छिप गया। (५) उसकी भौंहों के आकार से [आकाश का] धनुष छिप गया, और उसकी वेणी [देखकर] वासुकी पाताल में [जाकर] छिप गया। (६) खड्ग उसकी नासिका की विशेषताओं पर विचार करके छिप गया, और अमृत उसके अधरों का रस देखकर छिप गया। (७) उसकी भुजाओं से कमल की पद्मनालिका छिप गई, और जंघों से कदली वाटिका में जाकर छिप गई। (८) अप्सराएँ उसके रूप से छिप गईं, जब वह स्त्री (पद्मावती) साज करके चली; तो (९) जितनी भी [रूप-] गर्व-ग्रस्ता थीं, सभी मन में लज्जित होकर छिप गईं।

टिप्पणी— (१) मेल्<मेलय्=डालना। छप्<छिप्<क्षिप्=फेंकना, छिपना। बीजु<विज्जु<विद्युत=बिजली। (४) मँजूर<मयूर। सदूर<शार्दूल=शरभ। (५) अकार<आकार। (६) बिसेख<विशेषय्=विशेषता से अन्वित करना। (७) पौनारि<पद्म+नलिका=कमल की नाल। (८) धनि<धन्या=स्त्री। (९) गहीली<ग्रस्ता।

मिली तराईं सखी सयानीं। लिए सो चाँद सुरुज पहँ आनीं।
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सुरुज गएउ मुरझाई।
सोरह कराँ दिस्टि ससि कीन्ही। सहसौं करा सुरुज कै लीन्हीं।
भा रबि अस्त तराइन हँसैं। सुरुज न रहा चाँद परगसैं।
जोगी आहि न भोगी होई। खाइ कुरुकुटा गा परि सोई।
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। नाहिं जोग जोगी भिखमंगा।
अबहुँ जगावहिं चेला जागू। आवा गुरु पाय उठि लागू।
बोलहिं सबद सहेलीं कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ॥३०३॥

अर्थ—(१) उस शशि (पद्मावती) को उसकी सयानी सखियाँ—तारिकाएँ आ मिलीं, और वे उसे लिए हुए सूर्य (रत्नसेन) के पास आ गईं। (२) जब वह पारस-रूप चाँद (पद्मावती) दिखाई पड़ी, उसे देखते ही सूर्य (रत्नसेन) मूर्छित हो गया। (३) शशि (पद्मावती) ने सोलह कलाओं की दृष्टि करके सूर्य की सहस्रों कलाओं को ले लिया (उनका अपहरण कर लिया)। (४) तारिकाएँ (पद्मावती की सखियाँ) हँसने लगीं कि सूर्य (रत्नसेन) अस्त (मूर्छित) हो गया। चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर सूर्य न रहा। (५) [उन्होंने कहा,] "यह योगी है, कोई भोगी नहीं है; यह कुरकुटा (उबाला चावल जो सूख कर ऐंठ गया हो) खाकर और [भूमि पर] पड़कर सो गया है। (६) पद्मावती, तू गंगा के समान निर्मल है; यह योगी और भिखमंगा तेरे योग्य नहीं है।"

(७) [तदनन्तर रत्नसेन को जगाते हुए उन्होंने कहा,] "अब [पुनः] भी हम तुझे, ऐ चेला, जगा रही हैं। तेरा गुरु आया हुआ है, उठकर उसके पैरों में लग।" (८) [पुनः पद्मावती की] सहेलियाँ यह शब्द उसके कानों में लगकर और उसका मत्था पकड़कर [उसे चेत कराते हुए] कहती हैं, (९) "गोरख (गुरु) आकर खड़ा हो गया है, ऐ चेले और नाथ (साधक), उठ।

टिप्पणी--(१) सयान<सआण=सज्ञान। (२) पारस=स्पर्शमणि। पारस-रूप=वह व्यक्ति जिसका रूप स्पर्शमणि के सदृश होता है। जिसके परिणाम स्वरूप जो भी उस का साक्षात्कार करता है, कैसा भी वह रूपहीन हो रूपवान् हो जाता है। [देखिए ऊपर छंद ६५] (४) तराई<तारिका। कुरकुटा: कूर=उबाला चावल, कुढ़ित=ऐंठा हुआ==उबाला हुआ ऐंठा चावल। (६) जोग=योग्य। (७) चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य। (९) गोरख=गोरखनाथ, जो भारतीय योग-परंपरा में गुरु के प्रतीक हो गए थे।

गोरख सबद सुद्ध भा राजा। रामा सुनि रावन होइ गाजा।
गहि कै बाँह सेज धनि आनी। आँचर ओट रही छपि रानी।
सकुचै डरै मुरै मन नारी। गहु न बाँह रे जोगि भिखारी।
ओहट होहि जोगि तोरि चेरी। आवै बास कुरुकुटा केरी।
देखि बिभूति छूति मोहि लागा। काँपै चाँद राहु सौं भागा।
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागी चहै अंग मोहि छाया।
बार भिखारि न माँगसि भीखा। माँगै आइ सरग चढ़ि सीखा।
जोगि भिखारी कोई मँदिर न पैसे पार।
माँगि लेहि किछु भिख्या जाइ ठाढ़ होहि बार ॥३०४॥

अर्थ--(१) 'गोरख' ('गुरु') शब्द से (उसके सुनते ही) राजा शुद्ध हो गया (चेत में आ गया) और 'रामा' का नाम सुनते ही वह रावन (रमण) होकर गर्ज उठा। (२) वह बाँह पकड़कर स्त्री (पद्मावती) को शैय्या पर लाया। रानी (पद्मावती) अंचल की आड़ में छिप रही। (३) वह नारी सकुच, डर और मन में मुड़ रही थी और कह रही थी, "ऐ योगी भिखारी, तू मेरी बाहें न पकड़। (४) ऐ योगी, मैं तेरी चेरी इसलिए [अंचल की] आड़ में हो रही हूँ कि [तेरे मुख से] कुरकुटा [उबला हुआ ऐंठा चावल] की बास आ रही है। (५) [तेरे शरीर पर लगी हुई] विभूति--राख--को देखकर मुझे छूत लग रही है, [तुझ] राहु से [डरकर] चाँद (यह स्त्री) काँप रही है, और भाग रही है। (६) ऐ योगी, तेरी काया तपस्वी की है, और मेरे शरीर को भी उसकी छाया लगना चाहती है। (७) ऐ भिखारी, तू द्वार पर [जाकर] नहीं भीख माँगता है, तू ने आकाश (गढ़) पर चढ़ आकर माँगना सीखा है! (८) मेरे मंदिर (भवन) में कोई योगी-भिखारी नहीं प्रविष्ट हो सकता है, (९) तू भी [इसलिए] जाकर द्वार पर खड़ा हो और कुछ-कुछ भिक्षा माँग ले।"

टिप्पणी--(१) सुद्ध<शुद्ध=सुधि या चेत में आया हुआ। रावन<रमण। (४) चेरी<चेडिआ<चेटिका=सेविका। कुरकुटा: कूर=उबाला हुआ चावल,

कूटा<कुटित=ऐंठा हुआ=सूखकर ऐंठा हुआ उबाला चावल। (७) बार<द्वार=द्वार। (८) पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना।

अनु तुम्ह कारन पेम पियारी। राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी।
नेह तुम्हार जो हिए समाना। चित उर माँह न सुमिरेउ आना।
जस मालति कहँ भँवर बियोगी। चढ़ा बियोग चलेउँ होइ जोगी।
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी। दीप पतँग होइ अँगएउँ आगी।
भँवर खोजि जस पावै केवा। तुम्ह काँटे मैं जिव परि छेवा।
एक बार मरि मिलै जौं आई। दोसरि बार मरै कत जाई।
कत तेहिं मीचु जो मरि कै जिया। भा अम्मर मिलि कै मधु पिया।
भँवर जो पावै कँवल कहँ बहु आरति बहु आस।
भँवर होइ नेवछावर कँवल देइ हँसि बास ॥३०५॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "अवश्य [किन्तु] मैं तुम्हारे कारण, हे प्रेम-प्रिया, राज्य छोड़कर [इस प्रकार] भिखारी हुआ। (२) क्योंकि तुम्हारा स्नेह हृदय में समा गया, मैंने चित्त और हृदय में दूसरे का स्मरण नहीं किया। (३) जैसे मालती के लिए भ्रमर वियोगी होता है, [मेरे सिर पर तुम्हारा] वियोग सवार हुआ और मैं योगी होकर निकल पड़ा। (४) ऐ नारी, मैं तुम्हारे लिए भिखारी हुआ, और दीपक का पतिंगा बनकर मैंने अंग (शरीर) पर आग ली। (५) जिस प्रकार भ्रमर खोजकर केतकी को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हारे कंटकों पर मैंने अपने जीव को भलीभाँति विद्ध किया। (६) और, एक बार जो मरकर आ मिलता है, वह दूसरी बार कहाँ मरने जाता है? (७) जो मरकर जीवित हुआ, उसे मृत्यु [पुनः] कहाँ होती है? वह तो अमर हो जाता है, और [प्रियतम में] मिलकर उसका मधु (अमृत) पान करता है। (८) भ्रमर जब कमलिनी को बहुतेरी आर्ति और बहुतेरी आशा के बाद पाता है, (९) तो वह भ्रमर उस पर न्यौछावर हो जाता है और कमलिनी [भी] हँसकर (प्रसन्नतापूर्वक) उसको वासना [या बसेरा] देती है।

टिप्पणी—(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। पिआर < प्रियालु। (२) सुमर्<समर<स्मृ=स्मरण करना, याद करना। (४) भिखारि < भिक्षाकारिन्=भीख माँगने वाला। (५) केवा<केअअ<केतक=केतकी। काँट<कण्टकाँटा। परिछेव्<परिच्छिद्=भली भाँति विद्ध करना, छिन्न-भिन्न करना। (८) आरति < आर्ति=दुःख, पीड़ा। (९) नेवछावरि<णिवच्छ+आवलि=वारकर उतारे हुए द्रव्य अथवा पदार्थों की राशि।

इस छंद की पंक्ति ६-७ में कवि ने पुनः जीवन के अन्तर्गत मरण का अनुभव करने से अमरत्व प्राप्त करने का प्रतिपादन किया है।

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहिं राजा।
हौं रानी तूँ जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी।
जोगी सबै छंद अस खेला। तूँ भिखारि केहि माहँ अकेला।
पवन बाँधि अपसवहिं अकासाँ। मनसहिं जहाँ जाहिं तेहि पासाँ।

तैं तेहि भाँति सिस्टि यह छरी । एहि भेस रावन सिय हरी ।
भँवरहि मींचु नियर जब आवा । चंपा बास लेइ कहँ धावा ।
दीपक जोति देखि उजियारी । आइ पतँग होइ परा भिखारी ।
रैनि जो देखिअ चंद मुख मकु तन होइ अनूप ।
तहूँ जोगि तस भूला भै राजा के रूप ॥३०६॥

अर्थ—(१) "अपने मुँह से बड़ाई करना" [पद्मावती ने कहा,] "शोभा नहीं देता; योगी कहीं भी राजा नहीं होते । (२) मैं रानी हूँ और तुम योगी और भिखारी हो । योगी और भोगी में [परस्पर] कौन सा परिचय ? (३) सभी योगी इसी प्रकार छद्म-वेष धारण कर खेल करते रहे हैं; तू भिखारी किस बात में अकेला (उनसे भिन्न) है ? (४) वे अपनी श्वास को बाँधकर आकाश पर चले जाते हैं और जहाँ (जिसके पास) जाना चाहते हैं, उसके पास चले जाते हैं । (५) तूने भी यह सृष्टि छल ली है । इसी वेष में रावण ने सीता का हरण किया था । (६) भँवरे की मृत्यु जब निकट आई, वह चम्पक का वास लेने के लिए दौड़ पड़ा । (७) दीपक की उज्ज्वल ज्योति देखकर तू भी, ऐ भिखारी, यहाँ आकर और पतिंगा होकर गिर पड़ा है । (८) [जिस प्रकार] रात में कोई चन्द्रमा का मुख इसलिए देखे कि संभव है उसका भी शरीर [उसकी भाँति] अनु-पम हो जाए, (९) उसी प्रकार, ऐ योगी, तू भी राजा का वेष धारण कर इधर भूल पड़ा है ।"

टिप्पणी—(१) छाज्<छज्ज् [दे०] = शोभित होना, चमकना । (२) भिखारी<भिक्षाकारिन् = भिक्षा से निर्वाह करने वाला । (३) छंद<छद्म । (४) अपसव्<अपसृ = चला जाना, भाग जाना । मनस् = मन में इच्छा करना । (६) मींचु <मृत्यु । (७) उजियारा<उज्ज्वल ।

अनु धनि तूँ ससिअर निसि माँहा । हौं दिनअर तेहि की तूँ छाहाँ ।
चाँदहि कहाँ जोति औ करा । सुरुज कि जोति चाँद निरमरा ।
भँवर बास चंपा नहिं लेई । मालति जहाँ तहाँ जिउ देई ।
तुम्ह निति भएउँ पतँग कै करा । सिंघल दीप आइ उड़ि परा ।
सेएउँ महादेव कर बारू । तजा अन्न भा पवन अधारू ।
तुम्ह सौं प्रीति गाँठि हौं जोरी । कटै न काटे छुटै न छोरी ।
सीय भीख रावन कहँ दीन्ही । तूँ असि निठुर अँतरपट कीन्ही ।
रंग तुम्हारे रातेउँ चढ़ेउँ गँगन होइ सूर ।
जहँ ससि सीतल कहँ तपनि मन इंछा धनि पूर ॥३०७॥

अर्थ—(१) "अवश्य" [रत्नसेन ने कहा,] "ऐ स्त्री तू रात्रि में शशधर (चन्द्रमा) है [किन्तु], मैं दिनकर हूँ, और उसकी तू छाया है । (२) चन्द्रमा को [अपने-आप] ज्योति और कला कहाँ होती है ? सूर्य की ज्योति से ही चन्द्रमा निर्मल [ज्योति वाला] होता है । (३) भँवरा चम्पा की वास नहीं लेता है, वह तो वहाँ प्राण देता है जहाँ मालती होती है । (४) तुम्हारे ही निमित्त मैं पतिंगा की कला हुआ और उड़ता हुआ सिंहल द्वीप में आ पड़ा । (५) मैंने महादेव के [मंडप के] द्वार की सेवा की, अन्न छोड़ा और

वायु का आधार लिया। (६) तुमसे मैंने प्रीति की गाँठ जोड़ी, जो काटने से कट नहीं सकती है और खोलने से खुल नहीं सकती है। (७) सीता ने रावण (तक) को भिक्षा दी थी, किन्तु तू ऐसी निष्ठुर है कि मुझसे अन्तरपट (बीच का परदा) किए हुए है। (८) मैं तेरे प्रेम में अनुरक्त होकर सूर्य बनकर आकाश (गढ़) पर चढ़ा। (९) जहाँ पर शीतल शशि हो, वहाँ पर ताप कहाँ (कैसा) ? तू भी, ऐ स्त्री, मेरी इच्छा पूरी कर।"

टिप्पणी—(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। ससिअर<शशधर=चन्द्रमा। दिनअर<दिनकर। (२) करा<कला। (४)निति<निमित्त (५) बार <बार=द्वार। (८) रात<रत्त<रक्त=अनुरक्त।

जोगि भिखारि करसि बहु बाता। कहेसि रंग देखौं नहिं राता।
कापर रँगे रंग नहिं होई। हिएँ औटि उपनै रँग सोई।
चाँद के रंग सुरुज जौं राता। देखिअ जगत साँझ परभाता।
दगध बिरह निति होइ अँगारू। ओहि की आँच धिकै संसारू।
जौं मँजीठ औटैं औ पचा। सो रँग जरम न डोलै रँचा।
जरै बिरह जेउँ दीपक बाती। भीतर जरै उपर होइ राती।
जर परास कोइला के भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू।
पान सुपारी खैर दुहुँ मेरै करै चक चून।
तब लगि रंग न राचै जब लगि होइ न चून ॥२०८॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा,] "ऐ योगी-भिखारी, तू बहुत बातें करता है; तू ने कहा कि तुझमें रंग (अनुराग) है, किन्तु मैं तुझे रक्त (अनुरक्त) नहीं देखती हूँ। (२) कपड़ा रंग लेने [और योगी बन जाने] से रंग (अनुराग) नहीं होता है, जो रंग हृदय को [विरह की आँच में] औटकर उत्पन्न किया जाता है, वही रंग (अनुराग) होता है। (३) क्योंकि चन्द्र के प्रेम में सूर्य रक्त है, उसे हम संध्या और प्रभात काल में जगत् में [रक्त वर्ण का होते] देखते हैं। (४) विरह के दाह के निमित्त (कारण) वह नित्य ही अंगार हो जाता है, और उसकी आँच से संसार तप्त होता है। (५) यदि मँजीठ को औटा और पकाया जाय तो वह (उसका रंग) जन्म-पर्यन्त रंच मात्र नहीं हटता (मिटता) है। (६) विरह (विरही) दीपक की बत्ती की भाँति जलता है, जो भीतर से जल-[कर राख] होती है, और ऊपर से लाल होती है (७) पलाश जल-कर कोयले के वेश (रंग) का हो जाता है, तब वह टेसू होकर फूलता है [टेसू की काली ढोंढ में ही उसका फूल लगता है]। (८) पान सुपारी और कत्थे को भले ही मिलाकर भलीभाँति पिसा हुआ चूर्ण बना डाले, (९) किन्तु जब तक चूना उसमें नहीं मिलता है, रंग लाल नहीं बनता है। [प्रेमी में कितने ही गुण क्यों न हों किन्तु जब तक उसमें चूने की भाँति चूर्ण होकर मिटने की भावना नहीं होगी, प्रेम का रंग न आएगा।]

टिप्पणी—(१) भिखारी<भिक्षाकारिन्=भिखमंगा। (२) कापर<कप्पड <कर्पट=कपड़ा। औट्<आवट्ट>आवर्तय=आग पर रखकर किसी द्रव को चलाना (हिलाना)। (४) निति>निमित्त=कारण। आँच<अच्चि<अर्चिस,

=अग्नि की ज्वाला। धिक्=तप्त होना। (५) मंजीठ<मञ्जिष्ठा। पच्=पकना। रँचा<रञ्च=लेश। (६) बाती<वर्त्तिआ<वर्तिका=बत्ती। (७) परास<पलाश। टेसू=किंशुक (८) पान<पर्ण=ताम्बूल। सुपारी<शर्पारिका=शूर्पारक द्वीप में पैदा होने वाली। खैर<खद्दर<खदिर=कत्था। मेरय्<मेलय्=मिलाना। चकचून<चक्रचूर्ण=चक्की का चूर्ण, महीन पिसा हुआ चूर्ण। चून<चूर्ण=चूना।

धनिआ का सुरंग का चूना। जेहि तन नेह दगध तेहि दूना।
हौं तुम्ह नेहुँ पियर भा पानू। पेंड़ी हुत सुनि रासि बखानू।
सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।
करभँज किंगरी लै बैरागी। नवती भएउँ बिरह की आगी।
फेरि फेरि तन कीन्ह भुँजौना। औटि रकत रँग हिरदै औना।
सूखि सुपारी भा मन मारा। सिर सरौत जनु करवत सारा।
हाड़ चून भै बिरह जो डहा। सो पै जान दगध इमि सहा।
कै जानै सो बापुरा जेहि दुख अैस सरीर।
रकत पियासे जे हहिं का जानहिं पर पीर ॥३०६॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "ऐ स्त्री, तुम क्या अच्छे रंग और चूने की बातें करती हो? जिसके शरीर में स्नेह होता है, उसे [तेरे कहे हुए से] दूना दाह [सहन करना] होता है। (२) मैं तुम्हारे स्नेह में पीला होकर [पक्का] पान हो गया, जब मैंने पेंड़ी-पाद-मूल-से तुम्हारी राशि—डील—का बखान सुना [पेंड़ी—पिण्डिका अर्थात् जड़ के पास का पान; सुनरास—लता के बीच का पान]। (३) संसार में तुम्हारा बड़प्पन सुनकर मैंने योग धारण किया और शरीर को मिट्टी में गड़ा हुआ (मिट्टी से सना हुआ) कर लिया [बड़ौना—बड़ा अथवा पूरा प्रौढ़ पान; गड़ौना—वह पान जो रुकने या पकने के लिए भूमि में गाड़ दिया जाता है]। (४) करभँज और किंगरी लेकर मैं विरागी विरह की आग का नवनी (नैमित्तिक) हुआ (मेरे कारण विरह की आग उत्पन्न हुई) [करभँज या करहँज—एक प्रकार का पान; नेवती या नवती नया पान जो वर्षा के आरंभ से होता है]। (५) मैंने अपने शरीर को [विरह की आँच में] घुमा-फिराकर भुना हुआ कर डाला, और अपने रक्त को रंग (प्रेम) में औटकर हृदय को औना (अवर्ण) कर डाला (उसका समस्त रक्त सुखा डाला) [भुंजौना—आँच से पकाया हुआ पान] (६) मेरा मारा हुआ मन [इसी प्रकार] सूखकर सूपारित [भली-भाँति चूर्ण किया हुआ] हो गया [सुपारी; पान में पड़ने वाली सुपारी], और मैंने सिर पर शिरोपट्ट (सिर पर का वस्त्र) इस प्रकार लिया मानो उस पर करवत (आरा) चलाया गया हो [सरौता—जिससे सुपारी काटी जाती है]। (७) विरह ने जो हाड़ों को जलाया, तो वे जलकर चूर्ण हो गए [चूना—जिसका उपयोग पान में होता है], हो न हो, वही इसे जान सकता है जो इस प्रकार दाह सहन करे; (८) और, या तो वह बेचारा इसे जान सकता है जिसके शरीर में यह दुःख हुआ हो। (९) जो रक्त के प्यासे हैं, वे दूसरों की पीड़ा क्या जान सकते हैं?

टिप्पणी—(१) धनिआ<धन्या=स्त्री। (२)-(४) पेंडी, गड़ौना, करहज और

नवती के संबंध में दे० आई-न-ए-अकबरी, जिल्द १, पृ० ७७। (२)-(७) इन पंक्तियों में विभिन्न प्रकार के ताम्बूल तथा उसके उपकरणों का आश्रय लेते हुए उनके श्लिष्ट प्रयोग के द्वारा रत्नसेन ने अपनी विरह-कथा कही है। वाक्य प्रेम और विरह संबंधी ही हैं। केवल उनमें कुछ शब्द ऐसे लाए गए हैं जिनसे पान के भेदों तथा उपकरणों का उल्लेख हो जाए। (२) पेंडी<पिण्डिका = पेड़ का वह भाग जो जड़ों के ठीक ऊपर होता है। सुनरास = एक प्रकार का पान। (३) बड़ौना, गड़ौना = विशिष्ट प्रकार के पान। (४) करभँज=ताँत की वह धुनही जिससे किंगरी बजाई जाती है। किंगरी<किन्नरी= योगियों की सारंगी। (६) सरोत<शिरोपट्ट = सिर ढकने का वस्त्र। करवत<करपत्र = आरा : मुक्तिलाभ के लिए पहले लोग काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में सिर पर आरा चलवाते थे। सार्<सारय्=चलाना। (८) बापुरा<बप्पुडा [दे०] = बेचारा।

जोगिन्ह बहुतै छुंद ओराहीं। बुँद सेवातिहि जैस पराहीं।
परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुँह मोंती होहीं।
परै पुहमी पर होइ कचूरू। परै केदली महँ होइ कपूरू।
परै मेरु पर अंबित होई। परै नाग मुख बिख होइ सोई।
जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहिं आपन भए कहै सो कोऊ।
एक ठाँउ वै थिर न रहाहीं। भखु लै खेलि अनत कहँ जाहीं।
होइ गिरिही पुनि होहिं उदासी। अंत काल दुनहूँ बिसवासी।
तासौं नेह जो दिढ़ करै थिर आछहि सहदेस।
जोगी भँवर भिखारी इन्ह तें दूर अदेस ॥३१०॥

अर्थ—(१) योगियों को पद्मावती ने कहा, "बहुतेरे छद्म अवतरित होते हैं, जिस प्रकार स्वाति-बिन्दु [अनेक रूपों में] पड़ते हैं [वे भिन्न-भिन्न आधारों में पड़ कर भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेते हैं]। (२) स्वाति बिन्दु जब समुद्र में पड़ता है, तो वह खारा जल बन जाता है और सीपी के मुख में पड़ता है तो मोती बन जाता है। (३) पृथ्वी पर पड़ता है तो कचूर बन जाता है और कदली में पड़ता है तो कपूर बन जाता है (४) मेरु पर पड़ता है तो अमृत होता है, और नाग के मुख में पड़ता है तो विष होता है। (५) योगी और भ्रमर—ये दोनों स्थिर नहीं रहते हैं; ये किसके अपने हुए हैं, यह कोई बताए। (६) ये एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते हैं, ये अपना भक्ष्य (भोजन) लेकर और अपना कौतुक कर अन्यत्र चले जाते हैं। (७) पहले ये गृहस्थ होकर तब उदासीन हो जाते हैं, और अन्तकाल में दोनों ही प्राणघातक होते हैं। (८) स्नेह उससे करना चाहिए जो स्वयं भी दृढ़ स्नेह करे, स्थिर रूप से रहे और सहदेशीय हो, (९) योगी, भ्रमर और भिखारी जो होते हैं, इनसे दूर का आदेश (नमस्कार) [करना चाहिए]।

टिप्पणी—(१) छंद<छद्म। ओराय्<अवयर्<अव+तृ = अवतरित होना। पर्<पड्<पत् = गिरना। (२) सीप<सुत्ति<शुक्ति=सीपी। (३) कचूर<कर्चूर = काली हल्दी। (६) भख<भक्ष्य=भोजन। (७) बिसवास्<विसस्<वि+शस्=वध करना, मार डालना। (८) आछ्<अस्=होना, रहना। (९) अदेस<आदेश=योगियों का प्रणाम।

थल थल नग न होइ जेहि जोती। जल जल सीप न उपनै मोंती।

बन बन बिरिख चँदन नहिं होई । तन तन बिरह न उपजै सोई ।
जेहि उपना सो औटि मरि गएऊ । जरम निनार न कबहूँ भएऊ ।
जल अंबुज रबि रहै अकासा । प्रीति जो जानहुँ एकहि पासा ।
जोगी भँवर जो थिर न रहाहीं । जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं ।
मैं तुइँ पाए आपन जीऊ । छाँड़ि सेवातिहि जाइ न पीऊ ।
भँवर मालती मिलै जौं आई । सो तजि आन फूल कत जाई ।
चंपा प्रीति जु पै लहै दिन दिन आगरि बास ।
गरि गुरि आपु हेराइ जौं मुएहु न छाँड़ै पास ॥३११॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने कहा,] "स्थान-स्थान पर वे नग नहीं होते जिनमें ज्योति हो; प्रत्येक जल में वह सीपी नहीं होती जिसमें मोती उत्पन्न होते हैं (२) प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता है, प्रत्येक तन में वह विरह उत्पन्न नहीं होता है। (३) जिसे विरह उत्पन्न हुआ है उस विरह में वह औटकर (औटा जाकर) मर गया है, किन्तु कभी उससे अलग नहीं हुआ है। (४) जल में कमलिनी और आकाश में सूर्य रहते हैं; किन्तु प्रीति है, तो दोनों को एक ही पास (पास-पास) समझो। (५) योगी और भँवरे जो स्थिर नहीं रहते हैं, वह इसलिए कि वे जिसे ढूँढ़ते हैं, उसे पाते नहीं हैं। (६) किन्तु मैंने अपने जीव के रूप में तुम्हें पाया है, इसलिए [मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता हूँ]। स्वाती [की बूंद] को छोड़कर पपीहा नहीं जाता है। (७) यदि भँवरा मालती को आ मिले, तो वह उसे छोड़कर अन्य फूल के पास क्यों जाए? (८) उस चंपक की प्रीति वह भले ही प्राप्त करे जो दिन-प्रतिदिन वास में अग्र होती है [फिर भी वह उधर न जाएगा]। (९) [दूसरी ओर] भले ही वह [मालती के प्रेम में] गल-गल कर अपने को समाप्त कर दे, किन्तु मरकर भी वह उस (मालती) का पार्श्व (सान्निध्य) नहीं छोड़ेगा।

टिप्पणी--(१-२) तुल० शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे। साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥ (३) औट्<आवृत्=औटना [जिस प्रकार आँच पर दूध औटा जाता है)। निनार<णिण्णार<निर्नगर=नगर से बाहर, अलग। (६) पीउ [दे०]=चातक। (७) पै<परम्=हो-न-हो, भले ही। आगरी<अग्र=आगे, बढ़ी-चढ़ी। (८) गर्<गल्=गलना।

ऐसें राजकुँवर नहिं मानौं । खेलु सारि पासा तौ जानौं ।
कच्चे बारह बार फिरासी । पक्के तौ फिरि थिर न रहासी ।
रहै न आठ अठारह भाखा । सोरह सतरह रहै सो राखा ।
सतएँ ढरैं सो खेलनिहारा । ढारु इगारह जासि न मारा ।
तूँ लीन्हे मन आछसि दुवा । औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा ।
हौं नव नेह रचौं तोहि पाहाँ । दसौं दाँउ तोरे हिय माहाँ ।
पुनि चौपर खेलौं कै हिया । जो तिरहेल रहै सो तिया ।
जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि अंत तंत तेहि निंत ।
तेहि मिलि गंजन को सहै बरु बिनु मिलें निचिंत ॥३१२॥

अर्थ--(१) "इस प्रकार मैं," पद्मावती ने कहा, "ऐ राजकुमार, नहीं मान सकती हूँ [अपर अर्थ--इस प्रकार मैं तुझे राजकुमार नहीं मान सकती हूँ]; तू यदि मेरा पास (पार्श्व) सार कर (सारय्=सिद्ध करना, पूरा करना) खेले (क्रीड़ा करे), तो मैं तुझे जानूँ [तू यदि मेरे साथ चौपड़ की सारियाँ (गोटियाँ) और पासे खेले, तो मैं तुझे राजकुमार जानूँ]। (२) जब तक तेरा काम कच्चा है (पकता नहीं--पूरा नहीं होता है), तू बारह बार (पुनः पुनः) फेरे लगाएगा, किन्तु जहाँ [तेरा काम] पक गया (पूरा हो गया), तू यहाँ स्थिर नहीं रहेगा [चौपड़ के कच्चे बारह का दाँव पाने पर तू बारह द्वार--घर--चलेगा, और यदि तुझे पक्के बारह--पौ बारह--का दाँव मिल गया तो तू रुकेगा नहीं]। (३) अठारह ढंग की बातें करने से (तुल० जोगि भिखारी करसि बहु बाता--३०८.१) आठ (<अट्ठ<अर्थ) नहीं रहता [दाँव तो तुझे आठ का भी नहीं मिला है, और तू अठारह का दाँव पाने का दावा करता है]; वह आठ (<अट्ठ< अर्थ) रह जाए और सत भी रहे--तुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए [सोलह और सत्रह के दाँव ही तू रख सके तो रख ले]। (४) सत के लिए जो ढरे (गिरे), खेलने वाला सच पूछो तो वही है [सात के दाँव पर जो खेल सके, सच्चा खेलने वाला वही है]; यदि तू इस गौरव (बहुतर्कवाद) को ढाल (छोड़) दे, तो तू [अकृत-कार्यता द्वारा] मारा न जाए—असफल न हो [यदि तू ग्यारह का दाँव चले तो मारा नहीं जा सकेगा—तेरी गोटें न मारी जा सकेंगी]। (५) तू तो मन में दो की ममता लिए हुए है—तेरा प्रेम एकनिष्ठ नहीं है, और दोनों को सार (सिद्ध) करके पुनः उन्हें छूना (अपनाना) चाहता है [तू मन में दुए का दाँव लिए हुए है, और उसे तू जुग बाँध कर छूना (खेलना) चाहता है]। (६) मैं तो तुझ से नव स्नेह रचती हूँ, और तेरे हृदय में दसों [इन्द्रियों का] दाँव है--उन्हें तुष्ट करने की वासना है [मैं तो तुझे नौ का दाँव दे रही हूँ और तेरे हृदय में दस का दाँव है]। (७) पुनः मैं तो हृदय से चोप्पड़ (स्नेह) का खेल खेल रही हूँ [मैं तो हृदय से--अथवा हियाव करके--चौपड़ का खेल खेल रही हूँ]; जो इस प्रेम-व्यवहार में तिरहेल (तिरिक्ख--तिर्यच्+खेल--केलि) कुटिल व्यवहार वाला हो, वह तीसरा--प्रेमी-प्रेमिका से भिन्न है [जो तिर्यक् खेल होता है—वह तिया का होता है]। (८) जिससे मिलने के अनंतर बिछोह होना हो और उसका ताप सहन करना हो, और अंत तक उसी विरह के तंत्र में नित्य रहना हो [जिस जुग को मिलाने के बाद फोड़ना हो, और अन्त तक उसे फोड़ी हुई अवस्था में ही रखना हो], (९) उसके मिलन के अनंतर गंजन (अपमान, तिरस्कार, कष्ट) कौन सहे? उससे अच्छा तो बिना मिले निश्चिन्त रहना ही होगा [उस युग को बाँधने के बाद उनका फूटना कौन सहन करे? उससे अच्छा तो यही होगा कि जुग न बँधे, बिना जुग बाँधे ही खेल खेला जाए]।"

टिप्पणी--(१) [१] सार्<सारय्=पूरा करना। [२] सारि<शारि=चौपड़ की गोट [१] पासा=पार्श्व। [२]<पार्श्व=पासा: यह हाथी दाँत या हड्डियों का बना होता है और लगभग चार अंगुल लंबा होता है। इसके चारों पार्श्वों में बिन्दियाँ बनी होती हैं: एक पार्श्व में एक, दूसरे में दो, तीसरे में पाँच तथा चौथे में छः बिन्दियाँ होती हैं।

इस प्रकार के तीन पासे चौपड़ की खेल में प्रयुक्त होते हैं। ये पाँसे हिला कर ढाले जाते हैं और तीनों पासों में ऊपर पड़े हुए पार्श्व में जैसी बिन्दियाँ आती हैं, उनके अनुसार चौपड़ के दाँव चले जाते हैं। इन बिन्दियों के योग तीन से अठारह तक हो सकते हैं, और इस योग के अनुसार ही दावों के नाम होते हैं। (२) [१] कच्चे = काम के अपूर्ण रहने पर। बारह = अनेक। बार = वेला। [२] कच्चे बारह बार : जब तीनों पासों की बिन्दियाँ ६+५+१ होती हैं या ५+५+२ होती हैं, तो दाँव कच्चा बारह कहलाता है। ६+५+१ वाले दाँव में एक गोट बारह घर चलती है, ५+५+२ वाले दाँव में दो गोटें साथ-साथ दस घर तथा तीसरी दो घर चलती है। [१] पक्के = काम पकने (पूरा होने) पर। [२] पक्के बारह : जब तीनों पासों की बिन्दियाँ ६+६+१ होती हैं, तो दाँव पक्का बारह या पौ बारह कहलाता है। इसमें दो गोटें साथ-साथ बारह घर तथा एक गोट दो घर चलती है। (३) [१] आठ<अट्ठ<अर्थ। [२] आठ = चौपड़ का आठ का दाँव : १+२+५ अथवा १+१+६। [१] अठारह=अनेक। [२] अठारह=अठारह का दाँव: ६+६+६। [१] सोरह<सो+रह = वह रहे। [२] सोरह = सोलह का दाँव : ५+५+६। [१] सतरह : सत+रह = सत रहे। [२] सतरह=सत्रह का दाँव: ५+६+६। (४) [१] सतएँ = सत के प्रसंग में। [२] सतएँ = सात के दाँव पर; सात का दाँव : १+१+५। [१] इगारह = इ+गारह (गारह<गारव<गौरव) = बहुतर्कवाद। (२) इगारह = ग्यारह का दाँव : १+५+५। (५) [१] दुवा=दो की भावना, दो की ममता। [२] दुवा=वह दाँव जिसमें पासों की दो-दो की बिन्दियाँ ऊपर आई हों : २+२+२। [१] जुग = दोनों की ममता। [२] जुग = युग्म : जब दो पासों पर एक ही संख्या की बिन्दियाँ आती हैं तो दो गोटें साथ-साथ उक्त दोनों बिन्दियों के योग के बराबर घर चल सकती हैं। इस प्रकार दो गोटों का साथ-साथ चल सकना 'जुग बँधना' कहलाता है। जब तक वे साथ-साथ रहती हैं, मारी नहीं जा सकती हैं, किन्तु जुग बँधने के बाद कभी-कभी आगे की चालों में कठिनाई होती है, इसलिए खेलने वाले को स्वयं ही उस जुग को फोड़ना पड़ता है, जिसे वह विवशता के कारण ही करता है। (६) [१] नव = नवीन, अछूता। (२) नव = नौ का दाँव : २+२+५ अथवा १+२+६। [१] दसौं दाउ = दश इंद्रियों ––पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों––को तुष्ट करने की वासना। [२] दसौं दाउ= दस का दाव : २+२+६। (७) [१] चौपर = चोप्पड़ [दे०] = स्नेह (तेल जो चुपड़ा जाता है), [२] चौपर = चौपड़ का खेल। [१] तिरहेल<तिर्यक्+केलि = तिर्यक् केलि वाला। (२) तिरहेल<तिर्यक्+केलि = टेढ़ा खेल अथवा मध्य का खेल। [१] तिया<तीअ<तृतीय = तीसरा। [२] तिया<त्रिक् : जिसमें तीनों पासों के ऊपरी पार्श्व में समान संख्या की बिन्दियाँ पड़ी हों : १+१+१, २+२+२, ५+५+५ अथवा ६+६+६। (८)-(९) [१] मिलि बिछुरन = प्रेम में संयोग के अनंतर वियोग होना। [२] मिलि बिछुरन = जुग का बँधकर फूटना, जिसे खिलाड़ी केवल विवशता-वश स्वीकार करता है।

बोलौं बचन नारि सुनु साँचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा।
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास औ निसि सारी।

पौ परि बारह बार मनावौं । सिर सौं खेलि पैंत जिउ लावौं ।
मारि सारि सहि हौं अस राँचा । तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा ।
पाकि गहैं पै आस करीता । हौं जीतेहु हारा तुम्ह जीता ।
मिलि कै जुग नहिं होउँ निनारा । कहाँ बीच दुतिया देनिहारा ।
अब जिउ जरम जरम तोहि पासा । किएउँ जोग आएउँ कबिलासा ।
जाकर जीउ बसै जेहि सेतें तेहि पुनि ताकरि टेक ।
कनक सोहाग न बिछुरैं अवटि मिलौं जो एक ॥३१३॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "ऐ नारि, मैं तुझसे सत्य वचन कहता हूँ, तू उसे सुन; पुरुष का बोल ही शपथ और वचन है। (२) यह मन तुझसे इस प्रकार, ऐ नारी, लग गया कि वह दिन में और सारी रात भर तेरे ही पास रहता है [दिन में तेरे पासों में और रात को तेरी गोटियों में रहता है]। (३) मैं तेरे पैरों पड़कर बारह बार तुझे मना रहा हूँ, और मैं सिर से खेलकर (सिर को दाँव पर लगाकर) अब पैंत (बाज़ी) पर जी लगाए हुए हूँ [प्रारंभ से खेलकर अब बाज़ी पर जी लगाए हुए हूँ]। (४) सारी [संकटों की] भार सहन करके भी मैं तुझ पर ऐसा अनुरक्त हो गया हूँ कि [मैं चौपड़ के खेल पर गोटियों की मार सहन करके भी ऐसा अनुरक्त हुआ हूँ कि] उस (मार) के बीच गले में बोल तक नहीं बची है [उस खेल के बीच चाल के घरों के बारे में बोल नहीं पा रहा हूँ]। (५) तुझ [अनुराग में] पक्की को ग्रहण कर मैं तुझसे [कामना-पूर्ति की] आशा किए बैठा हूँ [कुछ गोटों के पक जाने पर जीतने की आशा करता हूँ], किन्तु मैं तुझसे जीता हुआ भी हारा हूँ और तू जीती है। (६) युग्म में तुझसे मिलकर अब अलग नहीं हो सकता हूँ [जुग की चाल चलकर अब उसे छोड़ नहीं सकता हूँ], अब मुझमें और तुझमें बीच (अन्तर) देने वाला दूसरा कौन है [दूसरा कौन है जो उस जुग की चाल में बीच दे सके — जुग को फोड़ सके]? (७) अब मेरा जीव जन्म-जन्मान्तर तक मेरे पास रहेगा [अब मेरा जीव जन्म-जन्म तक तेरे पासों में रहेगा], क्योंकि मैं योग करके इस कैलास को आया हूँ [क्योंकि मैं बड़े उपाय करके इस खेल में सफलता को पहुँचा हूँ]। (८) जिसका जीव जिसमें लगा रहता है, उसे सतत् उसी की टेक रहती है ; (९) सोना और सुहागा मिलकर नहीं अलग होते, जब वे आँच पर औटे जाकर एकमेक हो जाते हैं।

टिप्पणी—(१) सपत<शपथ। वाचा<वच्च<वचस्=वचन। (२) [१] पास <पार्श्व, [२] पास<पार्श्व=चौपड़ का पासा। [१]सारी=समस्त, (२)सारि<शरि= चौपड़ की गोंट। (३) [१] पौ<पाअ<पाद=पैर, [२] पौ<पक्व=पक्का। [१] बारह=अनेक। [२] बारह : बारह का दाँव। [१] सिर<शिर। [२] सिर=सिरा, प्रारंभ। पैंत<पणित=होड़, बाज़ी। (४) [१] सारि=सारी, समस्त। [२] सारि <शारि=चौपड़ की गोट। [१] कोठा<कोट्टा=गला, कंठ। [२] कोठा=घर, चौपड़ का ख़ाना। (५) [१] पाकि<पक्क=पक्व, प्रेम में पक्का। [२] पाकि<पक्व=पकी गोट। (६) [१] जुग<युग्म=प्रेमी-प्रेमिका का युग्म। [२] जुग<युग्म=चौपड़ की चाल का जुग। [दे० ऊपर का छंद]। निनार<णिण्णार<निर्नगर=नगर से

निर्गत, अलग किया हुआ। (७) [१] पास<पार्श्व। पासा<पाशक=चौपड़ का पासा। कबिलास<कैलास=शिवलोक। (९) अबट्<आवृत्=औटाया जाना।

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता। निस्चैं तूँ मोरे रँग राता।
निस्चै भँवर कँवल रस रसा। जो जेहि मन सों तेहि मन बसा।
जब हीरामनि भएउ संदेसी। तोहि निति मँडप गइउँ परदेसी।
तोर रूप देखेउँ सुठि लोना। जनु जोगी तूँ मेलेसि टोना।
सिद्ध गोटिका दिस्टि कमाए। पारँ मेलि रूप बैसाए।
भुगुति देइ कहँ मैं तुहिं डीठा। कँवल नयन होइ भँवर बईठा।
नैन पुहुप तूँ अलि भा सोभी। रहा बेधि तस उड़ेसि न लोभी।
जाकरि आस होइ असि जा कहँ तेहि पुनि ताकरि आस।
भँवर जो डाढ़ा कँवल कहँ कस न पाव रस बास॥३१४॥

अर्थ—(१) स्त्री (पद्मावती) इस सत्यतापूर्ण बात को सुनकर हँस पड़ी, [और उसने कहा,] "निश्चय ही तू मेरे रंग (प्रेम) में रक्त (अनुरक्त) है; (२) निश्चय ही भ्रमर कमलिनी के रस (प्रेम) में सिक्त है; जो जिसके मन में रहता है, वह उसके मन में निवास करता है। (३) जब हीरामणि तेरा सन्देशवाहक हुआ, मैं ऐ परदेसी, तेरे निमित्त (महादेव) के मंडप को गई। (४) तेरा रूप देखा, जो अत्यधिक लावण्य-पूर्ण था, तो ऐसा लगा मानो, ऐ योगी, तूनें मुझे टोना कर दिया हो। (५) तू दृष्टि की सिद्ध-गुटिका कमाए हुए था (दृष्टि की सिद्ध गुटिका तूने प्राप्त कर रक्खी थी) तू ने [उसके] पारे को मिलाकर [उसकी सहायता से] अपने रूप को मेरी दृष्टि में बिठा दिया। (६) भुक्ति देने के लिए मैंने तुझे देखा, तो मेरे कमलवत् नेत्रों में तू भ्रमर बन कर बैठ गया। (७) तू मेरे नेत्र-पुष्पों में शोभापूर्ण अलि हुआ, और उन्हें वेधकर तदनंतर ऐ लोभी, तू न उड़ा। (८) जिसकी इस प्रकार जिसको आशा हो, तो उसे भी इसी प्रकार उसकी आशा होती है। (९) भ्रमर यदि कमल के लिए दग्ध हुआ तो क्यों न वह कमल का रस और उसकी सुवास प्राप्त करेगा ?"

टिप्पणी—(२) रसा<रसित=रस-सिक्त। (३) निति<निमित्त। (४) लोना <लवण=लावण्य पूर्ण। टोना<तंत्र। (५) सिद्ध गोटिका...बैसाए: सिद्ध गुटिका एक विशेष प्रकार के सिद्ध पारद की होती थी। उसके साथ सोना या रूपा मिलाने पर उस धातु का ऐसा एक रसायन तैयार हुआ समझा जाता था, जो शीघ्रता और सुगमता से अन्य पदार्थ में प्रेषित किया जा सके। (६) रूप: [१]<रौप्य=चाँदी, [२]=रूप, आकृति। भुगुति<भुक्ति=भोजन। (९) डाढ़ा<डड्ढ<दग्ध=जला हुआ।

कवनि मोहनी दहुँ हुति तोहीं। जो तोहि बिथा सो उपनी मोहीं।
बिनु जल मीन तपी तस जीऊ। चात्रिक भइउँ कहत पिउ पिऊ।
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पँथ जोवत भइउँ सीप सेवाती।
डारि डारि जेउँ कोइल भई। भइउँ चकोरि नींद निसि गई।
मोरे पेम पेम तोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जो तएऊ।
हीरा दिपै जौं सुरुज उदोती। नाहिं त कित पाहन कहँ जोती।

रवि परगासें कँवल बिगासा । नाहिं त कित मधुकर कित बासा ।
तासों कवन अँतरपट जो अस प्रीतम पीउ ।
नेवछावरि कै आकौं तन मन जोबन जीउ ॥३२५॥

अर्थ—(१) "पता नहीं कौन सी मोहिनी तुझमें थी कि जो [विरह-] व्यथा तुझको हुई थी, वह मुझे भी उत्पन्न हो गई। (२) मैं बिना जल की मछली के जैसी जी में तप्त हुई, और 'पी-पी' पुकारती हुई चातकी हो गई। (३) मैं विरह में उसी प्रकार जल गई जैसे दीपक की बत्ती जलती है, और तेरा मार्ग देखते-देखते स्वाती की सीपी हो गई। (४) मैं डाल-डाल पर फिरने वाली कोयल के सदृश हो गई, और मैं [तेरे मुख-चन्द्र के लिए] चकोरी हो गई, तथा मेरी रात की नींद जाती रही। (५) मेरे प्रेम में ही तुझे प्रेम हुआ और तू उस अग्नि में जो तप्त हुआ, तू रक्त वर्ण का (खरा) सोना हो गया। (६) हीरा जो चमकता है, वह सूर्य के प्रकाश से, नहीं तो पत्थर में [स्वतः] कहाँ ज्योति होती है ? (७) रवि के प्रकाशित होने पर ही कमलिनी विकसित होती है, नहीं तो कहाँ मधुकर आते और कहाँ [उस कमलिनी में] सुवास होती ? (८) उससे कौन अन्तरपट (बीच का परदा) जो ऐसा प्रियतम प्रिय (पति) हो ? (९) मैं उस पर अपने तन,मन , यौवन और प्राणों को उस पर न्यौछावर कर उसे अर्पित करती हूँ।

टिप्पणी—(१) उपन्<उत् + पत्=उत्पन्न होना। (३) बाती<वत्तिआ<वर्तिका =बत्ती। (५) तप्<तप् =तप्त होना। (६) दिप्<दिप्प<दीप् =चमकना। उदोती <उद्योत=प्रकाश। पाहन<पाषाण=पत्थर। कित<कुत्र = कहाँ। (८) पीउ<प्रिय= पति। (९) नेवछावरि<णिवच्छ+आवलि = वारकर उतारे गए द्रव्यादि की राशि। आछ्<अप्प<अर्पय् =अर्पित करना।

कहि सत भाउ भएउ कँठलागू । जनु कंचन मों मिला सोहागू ।
चौरासी आसन बर जोगी । खट रस बिंदक चतुर सो भोगी ।
कुसुम माल असि मालति पाई । जनु चंपा गहि डार ओनाई ।
करी बेधि जनु भँवर भुलाना । हना राहु अर्जुन के बाना ।
कंचन करी चढ़ी नग जोती । बरमा सौं बेधा जनु मोंती ।
नारँग जानुँ कीर नख देईं । अधर आँबु रस जानहुँ लेईं ।
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा । कुंदहिं कुरुलहिं जनु सर हंसा ।
रहीं बसाइ बासना चोवा चंदन मेद ।
जो असि पदुमिनि रावै सो जानै यह भेद ॥३२६॥

अर्थ—(१) [परिणामतः] सत्य-भाव का [परस्पर] कथन करने के अनन्तर दोनों में इस प्रकार गले मिलना हुआ मानो कंचन में सुहागा मिल गया हो। (२) जिसे चौरासी आसनों का बल था, ऐसा योगी—षट्रस का ज्ञाता और चतुर भोगी बन गया था। (३) उसने कुसुम माल ऐसी मालती (कुमारी कन्या) को पाकर [इस प्रकार उसे गले लगाया] मानो चंपा के वृक्ष को पकड़कर उसकी डाली उसने झुका ली हो, (४) [तदनंतर उसने ऐसा प्रगाढ़ सुरतालिंगन किया] मानो कलिका को बेधकर भ्रमर

उसमें अपने को भूल रहा हो, अथवा अर्जुन के वाण द्वारा राधा-वेध किया गया हो, (५) अथवा कंचन की [बनी हुई] कलिका में नग [जड़ा गया हो और उसमें उस] की ज्योति चढ़ी हो, अथवा बरमा से मोती बेधा गया हो। (६) (नायिका के उरोजों पर नायक ने ऐसा नख-क्षत किया] मानो नारंगी पर सुए ने नखक्षत किया हो, और [उसके अधरों का इस प्रकार पान किया] मानो उसने आम का रस चखा हो। (७) वे कौतुक-पूर्ण केलि कर रहे थे, जिससे उनका [विरह] दुःख भाग रहा था, और वे इस प्रकार सीत्कार तथा कूजन कर रहे थे मानो सरोवर में हंस कर रहे हों। (८) चोवा, चंदन और मेद की सुगंध सुवासित हो रही थी; (९) वही इस भेद को जान सकता है जो ऐसी पद्मिनी से रमण करे।

टिप्पणी—(२) बर<बल। बिंद्<विंद्<विद्=जानना, अनुभव करना। (३) ओनाव<अवनामय=अवनमित करना, झुकाना। (४) राहु<राधा=लक्ष्य-वेध में रक्खी जाने वाली एक नाचती हुई पुतली जिसकी बाईं आँख को लक्ष्य करके बाण छोड़ना होता था। (६) आँब<आम्र = आम। (७) नस्<नंश्=भागना। कुंद<कुन्थ्=[१] आलिंगन करना, [२] कराहना, सीत्कार करना। कुरल् [दे०[=कूजन करना। (८) चोवा : अगुरु रस से भाप के द्वारा निकाला गया सुगंधित द्रव। मेद=एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ जो किसी जन्तु की नाभि से बनाया जाता था (दे० आईन-ए-अकबरी)। (९) राव्<रम् = रमण करना।

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै।
किरिरा काम केलि मुनिहारी। किरिरा जेहिं नहिं सो न सुनारी।
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू।
जेहिं किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी।
गोदि गेंद कै जानहुँ लई। गेंदहुँ चाहि धनि कोंवरि भई।
दारिवँ दाख बेल रस चाखा। पिउ के खेल धनि जीवन राखा।
बैन सोहावनि कोकिल बोली। भएउ बसंत करी मुख खोली।
पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चात्रिक भाँति।
परी सो बूँद सीप जनु मोंती हिएँ परी सुख सांति ॥३१७॥

अर्थ—(१) [उधर पद्मावती की यह अवस्था थी कि] वह चतुरा नारी [अपने प्रिय से] चित्त में और भी अधिक चिपक रही थी [ऊपर से भले ही प्रथम मिलन का किंचित् संकोच उसे था] क्योंकि जहाँ प्रेम किसी को किसी से बाँध देता है, वहाँ वह किस प्रकार उससे छूट सकता है? (२) क्रीड़ा कामकेलि की मनुहार है; जिसमें क्रीड़ा नहीं है, वह सुनारी नहीं है। (३) क्रीड़ा से कान्त (पति) को प्रसन्नता होती है इसलिए क्रीड़ा से स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति होती है। (४) स्वामी के कंठ में चन्दन की भाँति लगकर जिस स्त्री ने भी क्रीड़ा की, वह सौभाग्य से सौभाग्यवती हुई। (५) [रत्नसेन ने पद्मावती को] इस प्रकार अंकों में भर लिया मानो गेंद ले ली हो, और वह स्त्री गेंद से भी अधिक कोमल हो गई। (६) तदनन्तर रत्नसेन ने दाडिम (दाँतों), द्राक्षा (अधरों) और बेल (उरोजों) का रस चखा और प्रिय (पति) की उस केलि में स्त्री ने अपना

जीवन रख दिया (अपने जीवन की उपयोगिता मानी)। (७) वह कोकिला सुहावने बचन बोली, कलिका (स्त्री गुह्यांग) के जीवन में वसन्त का आगमन हुआ और उसने अपना मुख खोल दिया। (८) स्त्री की जिह्वा 'प्रिय', 'प्रिय' कहते हुए सूख गई जब वह चातकी की भाँति बोल रही थी, (९) और जब विन्दु (शुक्र) शुक्ति (नारी गुह्यांग) में मानो मुक्ता हो इस प्रकार पड़ गया, उस नारी के हृदय में सुख और शान्ति हो गई।

टिप्पणी—(१) चिहुट् = चिपकना। (२)-(४) किरिरा < क्रीड़ा = आलिंगन, चुंबन, नख-क्षत, अधर-पान आदि; सुरत के आनुषंगिक उपकरण। मनुहार=खुशामद। (३) तोख < तोष = प्रसन्नता। मोख < मोक्ख < मोक्ष। (४) सोहाग < सौभाग्य। स्यामि < स्वामि। (५) गोद < क्रोड = अंक। गेंद < कंदुक। (६) खेल < केलि = काम केलि। (७) करी < कलिआ = कलिका। (९) सीप < सुत्ति=शुक्ति।

कहौं जूझि जस रावन रामा। सेज बिधाँसि बिरह संग्रामा।
लीन्हि लंक कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा।
औ जोबन मैमंत बिधंसा। बिचला बिरह जीव लै नंसा।
लूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मंग भंग भे केसा।
कंचुकि चूर चूर भै ताने। टूटे हार मोंति छहराने।
मारी टाडि सलोनी टूटीं। बाँहू कँगन कलाईं फूटीं।
चंदन अंग छूट तस भेंटी। बेसरि टूटि तिलक गा मेंटी।
पुहुप सिंगार सँवारि जौं जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हियलाइ कै मरगज कीन्हें कंत ॥३१८॥

अर्थ—(१) अब मैं उस [काम-]युद्ध का वर्णन कर रहा हूँ, जो रावण [रमण] और राम [रामा] में हुआ। उस विरह-संग्राम में सेज विध्वस्त हो गई। (२) लंका [लंक-कटि] पर विजय प्राप्त हुई, उसका कंचन का गढ़ [नारी-गुह्यांग] टूट गया और जो कुछ भी उसका शृंगार [कामिनी के षोडसांगों का शृंगार] वह सब लुट गया। (३) (कामिनी का) मदमत्त यौवन विध्वस्त हो गया, और विरह विचलित हो कर अपने प्राण लेकर भागा। (४) कामिनी के अंगों का रंग और उसका समस्त वेष लुट गया, उसकी माँग खुल गई और केश-सज्जा भंग हो गई। (५) तनाव पाने से उसकी कञ्चुकी (चोली) चूर-चूर हो गई, हार टूट गए जिससे उनके मोटी छिटक गए। (६) उसकी मालिकाएँ, और सुन्दर टाड टूट गई, बाहुटा, कंगन तथा कलाई फूट गए। (७) उसने [रत्नसेन से] ऐसा आलिंगन किया कि उसके अंगों में लगा चन्दन छूट गया, नाक की बेसर टूट गई और तिलक मिट गया। (८) उस यौवन-लतिका ने अभिनव वसंत में पुष्पों से जो अपना शृंगार किया, (९) उसे अरगजा के समान हृदय में लगाकर [मदगज सदृश] कान्त (पति) ने मरगज कर डाला।

टिप्पणी—(१) बिधाँस् < वि + ध्वस् = नष्ट-भ्रष्ट करना। (२) मैमंत < मयमत्त < मदमत्त। नंस् < नश् = भागना। (५) छहराय्=छिटकना। (६) मारी < मालिका= माला। टाड=डडा या टड़िया नाम का बाहु का आभूषण। सलोन < सलवण=सुंदर। बाहू=बाहुबन्ध, भुजबंद। कंगन < कंकण। कलाई < कलाचिका=कलाई का एक आभरण।

(७) बेसरि<द्वि+स्रग+इका=नाक की एक प्रकार की बाली। (८) पुहुप<पुष्प। (९) अरगजा=एक प्रकार का सुगंधित लेप जो चन्दन, कर्पूर आदि सुगंधित द्रव्यों से बनाया जाता था। मरगज<मृदित-गंजित=मली-दली।

बिनति करै पदुमावति बाला। सो धनि सुराही पीउ पियाला।
पिउ आएसु माँथे पर लेऊँ। जौं मागै नै नै सिर देऊँ।
पै पिय बचन एक सुनु मोरा। चाखि पियहु मधु थोरइ थोरा।
पेम सुरा सोई पै पिया। लखै न कोइ कि काहूँ दिया।
चुआ दाख मधु सो एक बारा। दोसरि बारि होहु बिसँभारा।
एक बार जो पी कै रहा। सुख जेंवन सुख भोजन कहा।
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सौं चाखन कीजै।
जौं तुम्ह चाहहु सो करहु नहिं जानहुँ भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहि तुम्हहि पै चहौं अनंद ॥३१९॥

अर्थ—(१) बाला पद्मावती [रत्नसेन से] बिनती करने लगी, "स्त्री [मदिरा की] सुराही है और प्रिय (पति) प्याला है; (२) मैं प्रिय का आदेश सिर-माथे ले रही हूँ, और इसके लिए प्रस्तुत हूँ कि यदि वह माँगे तो मैं झुक-झुक कर उसे अपना सिर दूँ। (३) किन्तु हे प्रिय, तुम मेरी एक बात सुन लो, वह यह है कि तुम मधु (मदिरा) को चखकर थोड़ा-थोड़ा पियो। (४) प्रेम-सुरा का पान [सच पूछिए] वह करता है, जो इस संबंध में सतर्क रहता है कि कोई जान न ले कि किसने उसे दिया है। (४) द्राक्षा का चुवाया हुआ मधु (मदिरा) एक बार ही ग्रहण करना चाहिए; यदि उसे दूसरी बार लेते हो तो बेसँभाल हो जाते हो। (६) जिसने एक बार उसे पी लिया, उसे सुखमयी ज्यौनार और सुखपूर्ण भोजन [का ध्यान] कहाँ? (७) पान-फूल के [सदृश मेरे अंगों] का रसास्वादन करो और अधरों से अधरों को चखो। (८) तुम जो चाहो वह [मेरे इस जीवन और यौवन के] साथ करो; मैं नहीं जानती (मुझे इससे कोई सरोकार नहीं) कि वह भला है या बुरा; (९) मुझे चाहे जो हो, किन्तु तुम्हें, हो न हो, आनंद प्राप्त हो, यही (इतना ही) मैं चाहती हूँ।

टिप्पणी—(१) विति<विज्ञप्ति। (२) जौं<जउ=यदि। नय्<नम्=नमित होना झुकना। (४) लख्<लक्षय्: जानना, देखना। (५) चुव्<श्चुत्=चूना, टपकना, अर्क खींचना। (७) चाखन=चखना, स्वाद लेना।

सुनि धनि पेम सुरा के पिएँ। मरन जियन डर रहै न हिएँ।
जहँ मद तहाँ कहाँ संभारा। कै सो खुमरिहा कै मँतवारा।
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ जाइ परि सोई।
जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओही चाहा।
अरथ दरब सब देइ बहाई। कह सब जाउ न जाउ पियाई।
रातिहुँ देवस रहै रस भीजा। लाभ न देख न देखै छीजा।
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमरिहा सीतल नीरू।

एक बार भरि देहु पियाला बार बार सो माँग ।
मुहमद किमि न पुकारै ऐस दाँउ जेहि खाँग ॥३२०॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "ऐ स्त्री, सुनो; प्रेम की सुरा का पान करने से हृदय में मरने-जीने का भय नहीं रहता है। (२) जहाँ मद (मत्तता) है, वहाँ सँभाल कहाँ ? पीने वाला या तो खुमार में रहता है, या मतवाला रहता है। (३) हो न हो, वही [इस मदिरा का प्रभाव] जानता है जो कोई इसे पीता है; वह इसे पीते हुए अघाता नहीं, और गिरकर सो जाता है। (४) जिसे इसका लाभ एक बार हो गया, वह इसके बिना नहीं रह पाता है, और [सदैव ही] इसे चाहता रहता है। (५) वह अर्थ—द्रव्यादि सभी को फेंक देता है, और कहता है, 'सभी कुछ चला जाए किन्तु [इसका] पीना न जाए'। (६) वह इसके रस (आनंद) में रातों दिन सिक्त रहता है, और न लाभ देखता है, न हानि। (७) जब सबेरा होता है तब उसका शरीर पलुहता (अंकुरित होता) है, और [इस मदिरा की] खुमारी वाला शीतल जल पाता है। (८) [इसलिए] तुम एक बार प्याला भरकर मुझे वह मदिरा दो, बार-बार कौन उसे माँगे ?" (९) मुहम्मद (जायसी) कहता है, ऐसा [प्रेम-मदिरा के पान का] दाँव जिसे [पहिले] नहीं मिला है, वह क्यों न ऐसा पुकारे ?

टिप्पणी—(१) धनि<धन्या=स्त्री। (२) खुमरिहा = खुमार वाला, जिसे किसी नशे की खुमार हो। खुमार : [फ़ा०]। नशा उतरने के समय की हलकी थकान। (३) अघाय्<अग्घव् [दे०] = क्षुधा-पूर्त्ति करना, इच्छापूर्त्ति करना। (५) बहाव्<बाह्य् = फेंकना। (६) छीज<क्षिया=क्षति। (७) पलुह्<पुरुह्=पौदे का अंकुरित होना अथवा बढ़ना, हरा भरा होना। (८) माँग्<मार्गय् = माँगना। (९) खाँग=कम पड़ना, अभाव होना। इस छंद में जायसी ने पेय की मादकता का सुंदर वर्णन किया है।

भएउ बिहान उठा रबि साईं। ससि पहँ आईं नखत तराईं।
सब निसि सेज मिला ससि सूरू। हार चीर बलया भे चूरू।
सो धनि पान चून भै चोली। रंग रँगीलि निरँग भौ भोली।
जागत रैनि भएउ भिनुसारा। हिय न सँभार सूती बेकरारा।
अलक भुअंगिनि हिरदै परी। नारँग ज्यौं नागिनि बिख भरी।
लरै मुरै हिय हार लपेटी। सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी।
जनु पयाग अरइल बिच मिली। बेनी भइ सो रोमावली।
नाभी लाभी पुन्य की कासी कुंड कहाउ।
देवता मरहिं कलपि सिर आपुहि दोख न लावहिं काउ ॥३२१॥

अर्थ—(१) जब सबेरा हुआ और उसका स्वामी सूर्य (रत्नसेन) उठा, तब शशि (पद्मावती) के पास नक्षत्र–तारिकाएँ (उसकी सखियाँ) आईं। (२) समस्त रात्रि में शैया में शशि को सूर्य (पत्नी को पति) मिला था, इसलिए [उन्होंने देखा कि राशि—पद्मावती के] हार, चीर तथा वलय चूर हो गए थे। (३) वह स्त्री [गिलौरी का] पान हो रही थी, उसकी चोली [चूर-चूर होकर] चूना हो रही थी और वह रंग-रँगीली रंगरहित और भोली हो रही थी। (४) रात भर जागते-जागते सबेरा हुआ

था, इसलिए हृदय में चेतना नहीं थी और वह स्त्री बेचेत सोई हुई थी। (५) उसकी अलक भुजंगिनी जैसी उसके हृदय पर इस प्रकार पड़ी हुई थी जैसे नारंगियों पर विष-भरी नागिन हो। (६) हृदय पर के हार से लिपटी हुई वह अलक इस प्रकार लोल हो रही थी और मुड़ मुड़ जाती थी मानो कालिंदी सुरसरी को भेंट रही हो। (७) वहीं पर जो रोमावली आकर मिल रही थी, वह ऐसी लगती थी मानो प्रयाग में अरइल के बीच कालिन्दी और सुरसरि के संगम में वेणी मिल रही हो। (८) [साथ ही] उसकी नाभि पुण्य का लाभ करने वाली थी और काशी कुंड कहलाती थी; (९) [इसलिए] देवता [ऐसे अनुपम तीर्थ में] सिर काटकर स्वयं मरने को प्रस्तुत थे, और कभी भी इसके लिए [उसे] दोष नहीं देते थे।

टिप्पणी—(१) विहान<विहाण [दे०]=प्रभात, सुबह। तराई<तारिका। (२) बलया<वलय=चूड़ियाँ। (३) पान<पण्ण<पर्ण=ताम्बूल। चून<चुण्ण<चूर्ण= चूना। (४) बेकरार<बेक़रार [फ़ा०] = बेचेत। (६) लुर्<लुल् = चपल होना, हिलना। मुर् = मुड़ना। (८) लाभी<लाभिन्=लाभ करने वाली। (९) कलप्<क्लृप्= काटना। काउ<कआ+उ<कदापि - कभी भी।

बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा उठु पदुमिनि रानी।
सुनत सूर, जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधुबासा।
जनहुँ माँति, बसियानी बसी। अति बिसँभार फूलि जनु अरसी।
नैन कँवल जानहुँ धनि फूले। चितवनि मिरिग सोवत जनु भूले।
भै ससि खीनि गहन असि गही। बिथुरे नखत सेज भरि रही।
तन न सँभार केस औ चोली। चित अचेत मन बाउरि भोली।
कँवल माँझ जनु केसरि डीठी। जोबन हुत सो गँवाइ बईठी।
बेलि जो राखी इंद्र कहँ पवनहुँ बास न दीन्ह।
लागेउ आइ भँवर तहँ करी बेधि रस लीन्ह ॥३२२॥

अर्थ—(१) हँसकर उसे सयानी सखियाँ जगाती [हुई कह रही] थीं, "सूर्य (प्रेमी पति) उठ गया है, हे पद्मिनी रानी, तुम भी उठो।" (२) 'सूर्य' (प्रेमी-पति) का शब्द सुनते ही मानो कमलिनी विकसित हो गई, और भ्रमर आकर उसकी मधुर वासना लेने लगे। (३) [किन्तु अब वह कमल-कलिका नहीं रह गई थी जो किसी प्रभात में प्रथम बार खिल रही हो] वह ऐसी लग रही थी मानो [किसी नशे में] मत्त हो, और जो वासी हो रही हो अथवा बासी हो चुकी हो। वह अत्यधिक बेसँभाल थी और [उत्फुल्ल रक्तिम वर्ण की कमलिनी के स्थान पर] मानो फूली हुई [श्यामवर्ण की] अलसी हो, ऐसी लग रही थी। (४) उस स्त्री के नेत्र-कमल मानो फूल रहे थे [क्योंकि वे उसके सोकर उठने के कारण अभी लाल थे] और उसकी चितवन ऐसी थी मानो सो-[कर उठ-] ते हुए मृग भटक गए हों। (५) वह शशि इस प्रकार क्षीण हो रही थी मानो ग्रहण ने उसे ग्रस लिया हो और इसलिए उसके नक्षत्र (हार–वलयादि) छिटक गए हों, जिनसे उसकी शैया भर रही हो। (६) अपने तन पर वह केश और चोली नहीं सँभाल रही थी, वह चित्त से अचेत और मन से बावली और भोली (भ्रमित)

[लग रही] थी। (७) ऐसा लग रहा था जैसे कमलिनी [मुरझा रही हो और इसलिए उस-] की केसर [उभड़ कर] दिखाई पड़ रही हो ; जो यौवन था [यौवन की ताजगी थी], वह उसे अब गँवा बैठी थी। (८) [उन्हें ऐसा लगा कि मानो] वह वल्लरी जो इन्द्र [की पूजा] के लिए रख छोड़ी गई थी, जिसकी वासना पवन को भी न लेने दी गई थी, (९) वहाँ (उसके पास) भ्रमर आकर उससे मिल गया था और उसने उसकी (गुह्यांग) कलिका को वेधकर उसका रस ले लिया था।

टिप्पणी—(१) सयान<सआण<सज्ञान। (३) माँति<मत्त। बसी<वसिअ <उषित=बासी, पर्युषित। अरसी<अतसि=अलसी। (५) बिथुर<बित्थर<वि+स्तृ=फैलना। (६) बाउर<वाउल<वातूल=बावला, वातग्रस्त। (९) करी<कलिआ =कलिका।

हँसि हँसि पूँछहिं सखी सरेखी। जानहुँ कुमुद चंद मुख देखी।
रानी तुम्ह ऐसी सुकुमारा। फूल बास तनु जीउ तुम्हारा।
सहि न सकहु हिरदै पर हारू। कैसे सहिहु कंत कर भारू।
मुखा कवँल बिगसत दिन राती। सो कुँभिलान कहहु केहि भाँती।
अधर जो कोंवल सहत न पानू। कैसें सहा लागि मुख भानू।
लंक जो पैग देत मुरि जाई। कैसें रही जो रावन राई।
चंदन चोप पवन अस पीऊ। भइउ चतुर सम कस भा जीऊ।
सब अरगज भा मरगज लोचन पीत सरोज।
सत्य कहहु पदुमावति सखीं परीं सब खोज ॥३२३॥

अर्थ—(१) जो जानकार सखियाँ थीं, वे हँस-हँस कर [पद्मावती से इस प्रकार] पूछने लगीं, मानो कुमुदिनियाँ चन्द्रमुख को देखकर उससे पूछती हों। (२) "हे रानी, तुम ऐसी सुकुमार थीं कि फूल की वासना [जैसा] तुम्हारा जीव (प्राण) था ; (३) तुम हृदय पर हार भी नहीं सहन कर सकती थीं, तो कैसे तुमने कान्त (पति) का भार सहन किया ? (४) तुम्हारा मुख-कमल दिन-रात विकसित होता रहता था, वह किस प्रकार से (किस कारण) कुम्हला गया, यह बताओ। (५) तुम्हारे अधर ऐसे कोमल थे कि पान (ताम्बूल) लेना भी नहीं सहन कर सकते थे, उन्होंने सूर्य (प्रेमी-पति) के मुख से लगकर कैसे उसे सहन किया ? (६) तुम्हारी जो कटि पैर रखने से वल खाती थी, वह कैसे [सुरक्षित] रह सकी जब रमण (प्रिय) ने रमण किया। (७) तुम स्निग्ध चन्दन थीं और तुम्हारा प्रिय (पति) पवन था, किन्तु तुम चतुरसम (समभाग में चन्दन, केसर, कस्तूरी और अगुरु को पीसकर बनाया गया लेप) हो गई हो। बताओ तुम्हारा जी कैसा हो रहा है। (८) [तुम्हारे शरीर पर लगा हुआ] समस्त अरगजा लेप मलगज हो गया है और तुम्हारे नेत्र पीले कमल हो गए हैं। (९) पद्मावती, सच कहो !" इस प्रकार [प्रश्न करती हुई] सभी सखियाँ उसकी खोज पड़ गई (उससे जानने का यत्न करने लगीं)।

टिप्पणी—(१) सरेख<सल्लेहिय<संलेखित=तपस्या के द्वारा जिसने अपने को क्षीण किया हो, अनुभवी। (६) मुर्=मुड़ना। रावन<रमण=पति। राव<रम्=रमण

करना । (७) चोप<चुप्प [दे०] =स्निग्ध, स्नेहयुक्त । चतुरसम : मेरे 'जायसी-ग्रंथावली' में पाठ 'चित्रसम' था : डॉ० वासुदेवशरण ने 'चतुरसम' का सुझाव दिया है, जो कि अवश्य ही प्रसंग से अधिक संगत है। (८) अँरगज=अरगजा : सुगंधित द्रव्यों का एक लेप । मरगज<मृदित-गञ्जित = मला-दला ।

कहौं सखी आपन सति भाऊ । हौं जो कहति कस रावन राऊ ।
जहाँ पुहुप अलि देखत सँगू । जिउ डेराइ काँपत सब अंगू ।
आजु मरम मैं पावा सोई । जस पियार पिउ और न कोई ।
तब लगि डर हा मिला न पीऊ । भान कि दिस्टि छूटि गा सीऊ ।
जत खन भान कीन्ह परगासू । कँवल करी मन कीन्ह बिगासू ।
हिएँ छोह उपना औ सीऊ । पिउ न रिसाइ लेउ बरु जीऊ ।
हुत जो अपार बिरह दुख दोखा । जनहुँ अगस्ति उदधि जल सोखा ।
हहूँ रंग बहु जानति लहरैं जेति समुंद ।
पै पिय की चतुराई सकिउँ न एकौ बुंद ॥३२४॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने उत्तर दिया,] "हे सखियो, मैं अपना सत्य भाव (अनुभव) कह रही हूँ, जब मैं यह बताने जा रही हूँ कि रमण ने किस प्रकार [मेरी जैसी सुकुमारी के साथ] रमण किया । (२) जहाँ [इसके पूर्व] पुष्प और भ्रमर का संग (मिलन) देखकर मेरा जी डरता था और मेरे अंग काँपते थे, (३) वहाँ आज मैंने यह मर्म प्राप्त किया कि प्रिय (पति) जैसा प्यारा होता है वैसा और कोई नहीं होता है । (४) मुझे डर तभी तक था जब तक मुझे प्रिय (पति) नहीं मिला था, जैसे ही सूर्य (प्रिय) की दृष्टि हुई समस्त शीत [और कंप] छूट (मिट) गया । (५) जिस क्षण सूर्य ने प्रकाश किया (प्रिय ने दर्शन दिया), कमल-कलिका मन में विकसित हो (खिल) गई । (६) हृदय में स्नेहपूर्ण ममता जाग उठी और शिवत्व (कल्याण) की भावना उत्पन्न हो गई ; मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रिय न रुष्ट हो, भले ही वह मेरे प्राण ले ले । (७) [इसके अनंतर] जो विरह का अपार दुःख-दोष था, वह इस प्रकार मिट गया मानो अगस्त्य ने समुद्र का जल सोख लिया हो । (८) मैं भी रंग (क्रीड़ाएँ) बहुतेरी जानती थी, उतनी ही जितनी समुद्र में लहरें होती हैं, (९) किन्तु प्रिय की चतुरता के कारण एक बूँद (रंचमात्र) भी [उनका उपयोग] न कर सकी ।

टिप्पणी—(१) रावन<रमण=पति । राव्<रम् = रमण करना । (३) पिआर <पियालु=प्यारा । (४) सीउ<सीअ<शीत = जाड़ा । (५) जतखन = जिस क्षण । (६) सीउ<शिव = शिवत्व (कल्याण) की भावना । बरु<वरम् = इससे अच्छा । (८) जेति <जेत्तिअ<यावत् = जितना ।

कै सिंगार तापहँ कहँ जाऊँ । ओहि कहँ देखौं ठाँवहिं ठाऊँ ।
जौं जिउ महँ तौ उहै पियारा । तन महँ सोइ न होइ निरारा ।
नैनन्ह माँह तौ उहै समाना । देखउँ जहाँ न देखउँ आना ।
आपुन रस आपुहि पै लेई । अधर सहें लागें रस देई ।
हिया थार कुच कंचन लाड़ू । अगुमन भेंट दीन्ह कै चाड़ू ।

हुलसी लंक लंक सों [illegible] । रावन रहसि कसौटी कसी ।
जोबन सबै मिला ओहि जाई । [illegible] गइ हेराई ।
जस किछु दीजै धरै कहँ आपन लीजै सँभारि ।
तस सिंगार सब लीन्हेसि मोहि कीन्हेसि ठठियारि ॥३२५॥

अर्थ--(१) [पद्मावती ने पुनः कहा,] "उस प्रिय के पास शृंगार करके कहाँ जाऊँ ? अब तो मैं उसे स्थान-स्थान पर देखती हूँ। (२) मेरे प्राणों में यदि कोई है तो वही प्रिय है ; वह तो मेरे तन-मन से बाहर नहीं होता है। (३) मेरे नेत्रों में वही (उसी का रूप) समाया हुआ है, और जहाँ भी मैं देखती हूँ मुझे अन्य कोई नहीं दिखाई पड़ता है। (४) [मेरे अधरों में जो रस है वह उसी का है, इसलिए] वह स्वतः अपना ही रस लेता है, और मेरे अधरों से लगकर मुझे भी रस देता है। (५) मेरे हृदय के थाल ने उरोजों के कंचन-मोदक चाटु करके उस प्रिय को आगे बढ़कर भेंट किए। (६) [उस प्रिय का स्वागत करने के लिए] मेरी लंक उल्लसित होकर लंका के समान शोभित हुई और तब उस रावण (रमण) ने हर्षपूर्वक मेरी कसौटी (नारी गुह्यांग) पर अपने सोने (पुरुष-गुह्यांग) को कस लिया। (७) मेरा समस्त यौवन आगे बढ़कर उससे जा मिला और मैं (मेरी अहं की भावना) दोनों के बीच से लुप्त हो गई। (८) जैसे कोई वस्तु [धरोहर के रूप में] रखने को दी जाए और पुनः वह अपनी वस्तु सँभाल (ले) ली जाए, (९) वैसे ही उसने मेरा समस्त शृंगार ले लिया, और मुझे उसने ठाठ मात्र कर दिया।"

टिप्पणी--(२)पिआर<प्रियालु = प्यारा। निरार<निरालय(?) = बाहर। (३) समाय<संमा<सम्+मा = अँटना। आन<अण्ण = अन्य। (४) सह = साथ। (५) थार<स्थाल = थाल। चाड़ु<चाडु<चाटु = खुशामद। (६) लस् = शोभित होना। (९) ठठिआरि<थट्ट (?) = ठाठ, ठठरी, ढाँचा।

इस छंद में कवि ने लौकिक पति और परमेश्वर में अन्तर नहीं रक्खा है। वह लौकिक प्रेम का वर्णन करते हुए अनायास अलौकिक संकेत करने लगता है।

अनु री छबीली तोहि छबि लागी । नेत्र गुलाल कंत संग जागी ।
चंप सुदरसन भा तोहि सोई । सोन जरद जसि केसरि होई ।
पैठ भँवर कुच नारँग वारी । लागे नख उछरे रँग ढारी ।
अधर अधर सों भीज तँबोरी । अलकाउरि मुरि मुरि गौ मोरी ।
रायमुनी तूँ औ रतमुँही । अलि मुख लागि भई फुलचुही ।
जैस सिंगार हार सो मिली । मालति ऐसि सदा रहि खिली ।
पुनि सिंगार करि अरसि नेवारी । कदम सेवती पियहि पियारी ।
कुंद करी जहँवाँ लगि बिगसै रितु बसंत औ फागु ।
फूलहु फरहु सदा सखि औ सुख सुफल सोहाग ॥३२६॥

अर्थ--(१) [सखियों ने कहा], "अवश्य ऐ छबीली, तुझे [और ही] छवि प्राप्त हो गई है। कान्त के साथ जागने के कारण तेरे नेत्र गुल्लाला हो गए हैं। (२) ऐ चम्पक [वर्णी], जब से वह सुदर्शन (प्रिय) तुझे हुआ (मिला) है, तू सोनजर्द की

केसर [जैसी पीली] हो गई है । (३) तेरे उरोजों की नारंगी की वाटिका में जो भौंरा घुस गया; उसके नख लग गए और वे नख उन नारंगियों का रंग फीका कर उभड़ आए हैं । (४) तेरे अधर उसके ताम्बूल रंजित अधर से भीग गए, और तेरी अलकावली [उसके द्वारा] मोड़ी जाने के कारण कई फेरों से मुड़ गई है ।(५) तू रायमुनी थी और रक्तमुखी थी, वही तू अब अति (प्रिय) के मुख से लगकर फुलचुही जैसी [फीके रंग की] हो गई है । (६) तू मालती के ऐसी सदा खिली रहती थी, किन्तु अब लगता है जैसे तू सिंगार-हार (शृंगार हरण करनेवाले-प्रिय) से मिली है (सिंगारहार के समान हो गई है) (७) तू पुनः शृंगार कर और आलस्य का निवारण कर और [प्रिय के] चरणों की सेवा करती हुई प्रिय की प्यारी हो । (८) जब तक कुन्दकलिका वसन्त ऋतु और फाग के दिनों में विकसित होती रहे, (९) तू भी सदैव फूलती-फलती रहे, और तुझे सुख तथा फल(संतति) युक्त सौभाग्य प्राप्त हो ।"

टिप्पणी—(१) अनु = अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय । (३) बारी<वाडिआ= वाटिका । उछर्<उच्छत्<उत्+शल् = उछलना, उमड़ना ।·(४) तँबोरी<ताम्बूलित= ताम्बूल-रञ्जित । (९) फागु<फग्गु<फल्गु = वसंत का उत्सव । (१-९) कवि ने इस छंद में पुष्पवाटिका के कुछ फूलों के नाम का प्रयोग करते हुए सखियों का कथन प्रस्तुत किया है : जिन फूलों के नाम आते हैं, वे हैं : गुल्लाला, चंपा, सुदर्शन, सोनजर्द, केसर, सिंगारहार, मालती, अरसी (अलसी), नेवारी, कदम, सेवती, कुंद । साथ ही वाटिका के कुछ पक्षियों के नाम भी प्रयुक्त किए हैं : भँवर, रायमुनी, रतमुही, फुलचुही ।

कहि यह बात सखीं सब धाईं । चंपावति कहँ जाइ सुनाईं ।
आजु निरँग पदुमावति बारी । जीउ न जानहुँ पवन अधारी ।
तरकि तरकि गौ चंदन चोला । धरकि धरकि उर उठै न बोला ।
अही जो करी करा रस पूरी । चूर चूर होइ गई सो चूरी ।
देखहु जाइ जैसि कुँभिलानी । सुनि सोहाग रानी बिहँसानी ।
लै सँग सबै पदुमिनी नारी । आइ जहाँ पदुमावति बारी ।
आइ रूप सबहीं सो देखा । सोन बरन होइ रही सो रेखा ।
कुसुम फूस जल मरदिअ निरँग दीखु सब अंग ।
चंपावति भै बारनै चूँबि केस औ मंग ॥३२७॥

अर्थ—(१) यह बात [पद्मावती से] कहकर उसकी सखियाँ सब दौड़ पड़ीं और चंपावती के पास जाकर उन्होंने सुनाया (कहा,) (२) "[तुम्हारी] पद्मावती बालिका आज फीकी पड़ गई है मानो उसमें जीव नहीं रहा है, केवल साँसों का आधार (आसरा) है । (३) उसकी चन्दन-पट्ट की चोली तड़क-तड़क गई है (स्थान-स्थान पर दबाव पड़ने से फट गई है) और उसका हृदय धड़क-धड़क उठता है, जिससे बोल नहीं निकल पा रही है । (४) जो कलिका [कल तक] कला और रस से पूरित थी, वह टूटकर चूर-चूर हो गई है । (५) तुम्हीं जाकर देखो जैसी वह कुँभला गई है ।" रानी [पद्मावती के] सौभाग्य का यह समाचार सुनकर हँसने लगी (६) और उन सब पद्मिनी नारियों को साथ लेकर वह वहाँ आई जहाँ पद्मावती बालिका थी । (७) उन सबने यहाँ

आकर [पद्मावती के] रूप [रौप्य-चाँदी] को देखा ; वह रूप [रौप्य-चाँदी] कसे जाने पर सोने के वर्ण की (पीली) रेखा छोड़ रहा था (वह सुरूप अब पीला पड़ गया था)।(८) जिस प्रकार किसी फुल्ल (खिले हुए) कुसुम को मसल डालिए, उसी प्रकार उसका समस्त अंग दिखाई पड़ रहा था। (९) यह देखकर उसके केश और माँग को चूमकर चम्पावती उस पर न्यौछावर हुई।

टिप्पणी--(२) बारी<बालिका। (३) चंदन<चन्दन-पट्ट=चँदनौटा, एक प्रकार का वस्त्र। (४) करी<कलिआ<कलिका। करा<कला। पूरी<पूरिय<पूरित। चूर्<चूरय्<चूर्णय्=टुकड़े-टुकड़े करना, फाड़ना, तोड़ना। (८) फूल<फुल्ल=खिला हुआ।

सब रनिवास बैठ चहुँ पासा। ससि मंडर जनु बैठि आकासा।
बोला सबहिं बारि कुँभिलानी। करहु सँभार देहु खँडवानी।
कोंवलि करी कँवल रँग भीनी। अति सुकमारि लंक कै खीनी।
चाँद जैस धनि बैठि तरासी। सहस करा होइ सुरज गरासी।
तेहि की झार गहन अस गही। भै निरंग मुख जोति न रही।
दरब उवारहु अरघ करेहू। औ लै वारि सन्यासिहि देहू।
भरि कै थार नखत गज मोंती। वारने कीन्ह चाँद कै जोती।
कीन्ह अरगजा मरदन औ सखि दीन्ह अन्हान।
पुनि भै चाँद जो चौदसि रूप गएउ छपि भान ॥३२८॥

अर्थ--(१) [पद्मावती के] चारों ओर समस्त रनिवास आ बैठा, जैसे आकाश में शशि का मंडल बैठा हो। (२) समस्त [रनिवास] ने कहा, "बालिका कुम्हला गई है, इसकी सँभाल (देख-भाल) करो और इसे खाँड का पानी दो। (३) यह रंग से भीनी कमलिनी की कोमल कलिका थी, यह अत्यंत सुकुमार थी और कटि की क्षीण थी। (४) यह चन्द्र के सदृश त्रस्त बैठी रही होगी जब सूर्य (प्रेमी-प्रिय) ने इसे सहस्र कलाओं से युक्त होकर ग्रसा होगा। (५) उसी की आँच से यह ग्रहण जैसी ग्रस्ता है; यह रंग (कान्ति) से रहित हो गई है, और इसके मुख पर ज्योति शेष नहीं है। (६) इस पर द्रव्य उतारो, अर्घ्य करो, और उसे वारकर सन्यासियों को दे दो।" (७) [फलतः] नक्षत्रों के रूप में गजमुक्ता थाल में भरकर चम्पावती ने चन्द्रमा (पद्मावती) की ज्योति पर वारने (न्यौछावर) किए। (८) उसके शरीर में अरगजा का मर्दन किया गया और उसकी सखियों ने उसे स्नान कराया, (९) तदनंतर जो वह चतुर्दशी का [पूर्ण] चन्द्रमा हुई, तो उसके रूप से भानु छिप गया।

टिप्पणी--(१) मंडर<मण्डल। (२) सँभार<सम्भाल=देख-भाल। खंडवानी<खण्ड+पानीय=खाँड़ (शर्करा) का पानी। (४) तरासी<त्रस्ता। (५) झार<ज्वाला=आँच। (६) उवार्<उव्वार्<उद्+वर्तय्=वारना, त्याग करना। अरघ<अर्घ्य। (८) अरगजा=सुगंधित द्रव्यों का एक लेप। अन्हान=स्नान।

पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे।
फुँदिआ और कसनिआ राती। छाएल पंडु आई गुजराती।
चँदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल की सारी।

चिकवा चीर मेघौना लोने । मोंति लाग औ छापे सोने ।
सुरँग चीर भल सिंघल दीपी । कीन्ह छाप जो धनि वै छीपी ।
पेमचा डोरिया औ बीदरी । स्याम सेत पियरी औ हरी ।
सातहुँ रंग सो चित्र चितेरी । भरि कै डीठि जाहिं नहिं हेरी ।
पुनि अभरन बहु काढ़ा अनबन भाँति जराउ ।
फेरि फेरि निति पहिरहि जैस जैस मन भाउ ॥३२६॥

अर्थ--(१) पटुवों ने समस्त चीर (वस्त्र) [पद्मावती के पहनने के लिए] खोलकर रक्खे । इनमें साड़ियाँ, चोलियाँ, लहर और पटोर थे । (२) फुँदियाँ (फुन्दनों से कसी जाने वाली अँगिया) लाल कसनिया (स्तनपट्टिका), और गुजरात तथा पंडुआ की छाएलें थीं । (३) चन्दन-पट्ट तथा खीरोदक की फाड़ियाँ (लहँगे के साथ पहनी जाने वाली उत्तरीय), बाँसपोर तथा झिलमिल की साड़ियाँ थीं । (४) चिकवा, चीर तथा लावण्यपूर्ण मेघौना था, जिनमें मोती लगे हुए थे, और जो सोने के पानी से छपे हुए थे । (५) सिंहलदीप का भला और सुरंग चीर था; जिन छीपियों ने उन पर छपाई की थी, वे धन्य थे । (६) पेमचा, डोरिया और बीदर की साड़ियाँ थीं जो श्याम, श्वेत, पीली और हरी थीं । (७) वे सात रंगों की और चित्रों से चित्रित थीं, तथा आँखें भरके देखी नहीं जाती थीं । (८) तदनंतर बहुतेरे आभरण निकाल-कर [उसके पहनने के लिए] रक्खे गए, जो अद्‌भुत भाँति के जड़ावदार थे (९) जिससे कि वह उन्हें नित्य बदल-बदल कर पहने, जैसे वे उसे अच्छे लगें ।

टिप्पणी--(१) पठुवा<पट्ट-वायक=रेशमी वस्त्रों के बुनकर । लहर=एक प्रकार का लहँगा जो बहुत घेरदार होता था । पटोर<पट्टकूल=रेशमी ओढ़नी जो लहर के साथ चलती थी । (२) फुँदिया : फुन्दन (फुलड़े) वाली अँगिया : एक प्रकार की अँगिया जिसमें आजकल की बटनें न लगा कर बन्दे लगाते थे, और उन बन्दों में सुंदरता के लिए फुँदने (फुलड़े) टाँक देते थे । कसनिया=वह वस्त्र जो स्तनों को कसने के लिए होता था--स्तन-पट्टिका । बिहार में इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की अँगिया के लिए होता है जो कमर तक पहुँचती है (दे० बिहार पीजेंट लाइफ, पृ० १४८) । छाएल : एक विशेष प्रकार के [छपे] वस्त्र जो गुजरात और पंडुआ (पूर्व वंग) की स्त्रियों में बहुत प्रचलित रहे हैं । पंडुआई–पँडुआ का बना हुआ । मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में 'पँडुआए' था । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सुझाव दिया है कि 'पँडु आए' अलग अलग न पढ़ा जाकर एक शब्द के रूप में 'पँडुआ के' अर्थ में लिया जाना चाहिए, किन्तु 'पंडुआए' से 'पंडुआके' अर्थ नहीं बनता है । 'पंडुआई' ही संभव है, जिससे फ़ारसी लिपि के कारण 'पंडुआए' हुआ लगता है । (३) चँदनौटा = चन्दन पट्ट : जायसी के समय का एक बहुप्रचलित वस्त्र, जो चंदनी रंग का (हल्का बादामी) होता था । 'चंदन चीर' और 'चंदन चोला' का भी जायसी ने उल्लेख किया है । खीरोदक<क्षीरोदक=दूध तथा पानी के मिले हुए (हल्के दूधिए) रंग का एक श्वेत वस्त्र । फारी<फाडिय<स्फारित=लहँगे के साथ पहना जान वाला एक प्रकार का उत्तरीय । यह 'फरिया' कहलाता है, और अभी तक प्रयुक्त होता है । बाँसपोर : एक प्रकार क महीन मलमल जिस का थान बांस की एक पोर में अँट

जाता था। झिल मिल=एक प्रकार का महीन वस्त्र। (४) चिकवा<चिक्क=एक प्रकार का हल्का कपड़ा। चीर=रेशमी वस्त्र जिसमें ज़री आदि के काम किए हुए होते थे। (आईन-ए-अकबरी) मेघौना<मेघ वर्ण=बादल के रंग का एक रेशमी वस्त्र। (५) छीपी<छिपय<छिम्पक=कपड़ा छापने का काम करने वाला। (६) पेमचा=एक प्रकार का रेशमी वस्त्र। डोरिया=एक प्रकार का सूती कपड़ा, जिसके बिनाई में सूत की धारियाँ डाली हुई होती हैं। बीदरी=बीदर का बना एक सूती वस्त्र। (८) अनबन<अण्ण वण्ण <अन्य+वर्ण=[सामान्य से] भिन्न वर्ण का।

रतनसेनि गौ अपनी सभा। बैठे पाट जहाँ अठखँभा।
आइ मिले चितउर के साथी। सबहीं बिहँसि आइ दिए हाथी।
राजा कर भल मानहिं भाई। जेइ हम कहँ यह भुम्मि देखाई।
जौं हम कहँ आनत न नरेसू। तव हम कहाँ कहाँ यह देसू।
धनि राजा तोर राज विसेखा। जेहि की रजाउरि सब किछु देखा।
भोग बेलास सबै किछु पावा। कहाँ जीभ तसि अस्तुति आवा।
तहँ तुम्ह आइ अँतरपट साजा। दरसन कहँ न तपावहु राजा।
नैन सिराने भूख गइ देखि तोर मुख आजु।
नौ औतार भए सब काहूँ औ नौ भा सब साजु ॥३३०॥

अर्थ—(१) रत्नसेन अपनी सभा में सिंहासन पर बैठने गया, जो वहाँ पर रक्खा हुआ था, जहाँ पर अठखंभा था। (२) उसके चित्तौड़ के साथी उससे आ मिले और सबने हँसते हुए उसे हाथी (अंजली) दी। (३) उन्होंने कहा, "हम राजा (रत्नसेन) का उपकार मानते हैं जिसने हम सबको यह भूमि दिखाई। (४) यदि राजा (रत्नसेन) हमें यहाँ न लाता, तो हम कहाँ और यह देश कहाँ? (५) हे राजा, तेरा राज्य विशेष रूप से धन्य है, जिसके राज्य कार्य (शासन) में हमने सब कुछ देख लिया, (६) तथा भोग और विलास सभी कुछ प्राप्त किया। वैसी जिह्वा [हमारे पास] कहाँ है कि तुम्हारी स्तुति करना संभव हो? (७) किन्तु [जहाँ तुमने यह सब किया,] वहाँ तुमने यहाँ आकर हमसे अन्तरपट (परदा) कर लिया है! हे राजा, तुम अपने दर्शनों के लिए हमें तप्त न करो। (८) आज तुम्हारा मुख देखकर हमारे नेत्र शीतल हुए और हमारी भूख शान्त हुई, (९) हम सब को नव-अवतार प्राप्त हुआ और हमारा समस्त साज नया हुआ।"

टिप्पणी—(१) पाट<पट्ट=सिंहासन। अठखँभा=आठ खंभों का बना हुआ सभा-मंडप। (२) साथी<सत्थिअ<सार्थिक=सार्थ (जन-समुदाय, मंडली) का सदस्य। हाथी<हस्तिका=हस्त-पुटी। (३) भुम्मि<भूमि। (४) आन्<आ+नी=लाना। (५) रजाउरि<राज्य+आवलि=राज्य-कार्य [दे० रजियाउरि ' १३३.३] (८) सिराय् <शीतलाय्=शीतल होना।

हँसि कै राज रजाएसु दीन्हा। मैं दरसन कारन अस कीन्हा।
अपने जोग लागि हौं खेला। भा गुरु आपु कीन्ह तुम्ह चेला।
यहिक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्ह कै जोग बिसेखेहु।
जौं तुम्ह तप साधा मोहि लागी। अब जनि हिएँ होहु बैरागी।

जो जेहि लागि सहै तप जोगू । सो तेहि के सँग मानै भोगू ।
सोरह सहस पदुमिनीं माँगीं । सबहीं दीन्ह न काहूँ खाँगीं ।
सब क धौरहर सोने साजा । सब अपने अपने घर राजा ।
हस्ति घोर औ कापर सबहि दीन्ह नौ साजु ।
भै गिरहस्त लखपती घरघर मानहिं राजु ॥३३१॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) ने हँसकर राजादेश दिया, "मैंने [आत्म-] दर्शन के निमित्त ऐसा किया । (२) मैंने अपने ही भोग [की सिद्धि] के लिए यह कौतुक किया कि स्वयं गुरु हुआ और तुम्हें चेला किया । (२) और तुमने इस [विषय] का मेरा पुरुषार्थ देखा ही है और मुझ गुरु को पहिचान कर (मेरे पुरुषार्थ से परिचित होकर) मेरे योग की विशेषता समझा ही है । (४) यदि तुमने मेरे हेतु तप की साधना की, तो अब अपने हृदय में तुम विरागी मत हो [मेरे साथ तुम भी भोगी बनो] (५) क्योंकि जो जिसके निमित्त तप और योग सहन करता है, वह उसके साथ भोग भी मानता है ।" (६) [रत्नसेन का यह आदेश सुनकर] उन्होंने सोलह सहस्र पद्मिनियाँ माँगीं । रत्नसेन ने उन सबको दिया, और किसी को वे कम न पड़ीं (सब को एक-एक पद्मिनी मिल गई) । (७) उन सबके धवलगृह (प्रासाद) उसने सोने से सज्जित किए (कराए) और वे सभी अपने-अपने घरों में राजा [अथवा शोभित] हुए । (८) रत्नसेन ने हाथी, घोड़े, कपड़े आदि नवीन साज उन सभी को दिए । (९) इस प्रकार वे गृहस्थ और लखपती हो गए तथा घर-घर में राज्य [का सुख] मानने लगे ।

टिप्पणी--(१) रजाएसु<राजादेश=राजाज्ञा । (२) चेला<चेड<चेट=सेवक, शिष्य । (३) बिसेख्<वि+शेषय्=विशेषणयुक्त करना, विशेषता समझना । (६) खाँग्=कम पड़ना, न अँटना । (७) धौरहर<धवलगृह=प्रासाद । (८) कापर<कप्पड<कर्पट=कपड़ा ।

पदुमावति सब सखीं बोलाईं । चीर पटोर हार पहिराईं ।
सीस सबन्हि के सेंदुर पूरा । सीस पूरि सब अंग सेंदूरा ।
चंदन अगर चतुरसम भरीं । नएँ चार जानहुँ अवतरीं ।
जनहु कँवल सँग फूली कुईं । कै सो चाँद सँग तरईं उईं ।
धनि पदुमावति धनि तोर नाहूँ । जेहि पहिरत पहिरा सब काहूँ ।
बारह अभरन सोरह सिंगारा । तोहि सोह यह ससि संसारा ।
ससि सो कलंकी राहुहि पूजा । तोहि निकलंक न होइ सरि दूजा ।
काहूँ बीन गहा कर काहूँ नाद म्रिदंग ।
सब दिन अनँद गँवावा रहस कोड एक संग ॥३३२॥

अर्थ--(१) पद्मावती ने समस्त सखियों को बुलाया और उन्हें चीर, पटोर तथा हार पहिनाया । (२) सबके सिर पर उसने सिन्दूर पूरा और इस प्रकार सिर पर सिन्दूर पूरकर उनके समस्त अंगों को सिन्दूरित किया । (३) [तदनंतर उन्हें] चन्दन, अगुरु और चतुरसम लगाया । [अब] वे ऐसी लगने लगीं मानो नए ढंग से (पुनर्नूतन हो कर) वे अवतरित हुई हों । (४) [पद्मिनी के साथ वे ऐसी लगीं] मानों

कमलिनी के साथ कुमुदिनियाँ फूली हों, अथवा चन्द्रमा के साथ तारिकाएँ उदित हुई हों। (५) उन्होंने कहा, "हे पद्मावती, तू और तेरा पति धन्य है, जिनके [वस्त्राभरण] पहिनते ही सब किसी ने [वस्त्राभरण] पहिने। (६) बारह आभरण और सोलह शृंगार, हे शशि, यह तुझे ही संसार में शोभित होते हैं। (७) [किन्तु तू शशि से भी इस विषय में विशिष्ट है कि] शशि जो है, वह कलंक (कालिमा) युक्त है, और राहु को पूजता (उसका ऋण भरता) रहता है, जब कि तुझ निष्कलंक के सदृश दूसरा नहीं है।" (८) किसी ने [तदनंतर] हाथ में वीणा ले ली, किसी ने मृदंग को निनादित किया ; (९) इस प्रकार उन्होंने समस्त दिन आनन्द, हर्ष और कौतुक में एक साथ मिलकर व्यतीत किया।

टिप्पणी--(१) चीर=एक प्रकार का वस्त्र जिसमें सोने आदि का काम किया होता था। पटोर<पट्ट-कूल=रेशमी वस्त्र। (२) पूर्<पूरय्=भरना। सेंदूर<सिन्दूरम्=सिन्दूरित करना। (३) चतुरसम : समान मात्रा में चन्दन, केसर, अगुरु तथा कस्तूरी का मिश्रण। (४) कुई<कुमुदिनी। तरई<तारिका। (७) पूज्<पुज्ज्<पूरय्=भरना। सरि<सदृश। (९) रहस<रभस्=हर्ष। कोड<कोड्ड [दे०]=कौतुक।

भै निसि धनि जसि ससि परगसी। राजैं देखि पुहुमि फिरि बसी।
भै कातिकी सरद ससि उवा। बहुरि गँगन रबि चाहै छुआ।
पुनि धनि धनुक भौहँ करि फेरी। काम कटाख टँकोर सो हेरी।
जानहुँ नहिं कि पैज पिय खाँचौं। पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं।
कालिह न होइ रहे सह रामा। आजु करौ रावन संग्रामा।
सेन सिंगार महूँ है सजा। गज गति चाल अँचर गति धुजा।
नैन समुंद्र खरग नासिका। सरबरि जूझि को मो सौं टिका।
हौं रानी पदुमावति मैं जीता सुख भोग।
तूँ सरबरि करु तासौं जस जोगी जेहिं जोग ॥३३३॥

अर्थ--(१) जब रात हुई शशि के समान वह स्त्री (पद्मावती) प्रकाशित हुई, किन्तु राजा (रत्नसेन) को देखकर [आकाश पर न जाकर] उसने पृथ्वी पर वास किया। (२) [राजा ने देखा कि] कार्तिकी पूर्णिमा हो रही है, क्योंकि शरद का शशि (पद्मावती) उदित हुआ है, तब उस रवि (रत्नसेन) ने आकाश को छूना चाहा। (३) तदनंतर [राजा की यह भावना देखकर] उस स्त्री (पद्मावती) ने भौंहों को धनुष करके फेरा, और काम-कटाक्ष की टंकोर करती हुई उसने देखा, [और कहा,] (४) "हे प्रिय, तुम जानते हो कि नहीं मैं यह प्रतिज्ञा [-रेखा] खींच रही हूँ कि पिता की शपथ है मैं आज [तुम्हें] न छोड़ूँगी ; (५) आज कल नहीं है कि तुम [शैया में] रामा के साथ [यों हीं] हो (रह) सके [आज] रामा के साथ होने के लिए, ऐ रावण (रमण), तुम्हें संग्राम करना होगा। (६) मैंने भी आज शृंगार-सैन्य सज रक्खा है; मेरी गजगति [उस सैन्य की] चाल है, मेरा अञ्चल-गति ही [उस सैन्य की] ध्वजा है; (७) मेरे नेत्र ही [राम और रावण के बीच के] समुद्र हैं, मेरी नासिका ही खड्ग है ; [अतः] युद्ध में मेरी समानता में कौन टिक सकता है? (८) मैं रानी

पद्मावती हूँ, मैंने सुख-भोग जीत लिया है, (९) तू उससे समानता कर, ऐ योगी, जिस-[से समानता] के तू योग्य है।"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री। पुहुमि<पृथ्वी। (३) टंकोर=प्रत्यञ्चा की ध्वनि। (४) पैज <पइज्जा<प्रतिज्ञा। (७) सरवरि=समानता, होड़।

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ।
उहाँ त समुँह रिपुन दर माहाँ। इहाँ त काम कटक तुव पाहाँ।
उहाँ त कोपि बैरिदर मंडौं। इहाँ त अधर अमिय रस खंडौं।
उहाँ त खरग नरिंदन्ह मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार सँघारौं।
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरि। इहाँ त गज गामिनि कर हे हरि।
उहाँ त लूसौं कटक खँधारू। इहाँ त जितौं तुम्हार सिंगारू।
उहाँ त कुंभस्थल गज नावौं। इहाँ त कुच कलसन्ह कर लावौं।
परा बीच धरहरिया पेम राज कै टेक।
मानहिं भोग छहूँ रितु मिलि दूनौं होइ एक ॥३३४॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "यह सब कोई जानता है कि मैं ऐसा योगी हूँ कि मैंने वीर और शृंगार दोनों को जीता है; (२) वहाँ तो मैं शत्रु-दल में उनके सम्मुख रहता हूँ, और यहाँ काम-कटक में तुम्हारे पास रहता हूँ; (३) वहाँ तो मैं कुपित होने पर शत्रु-दल को मंडित करता हूँ और यहाँ [तुम्हारे] अमृत-रस वाले अधरों का खंडन करता हूँ; (४) वहाँ तो मैं खड्ग से राजाओं को मारता हूँ, और यहाँ तुम्हारे विरह का संहार करता हूँ; (५) वहाँ तो मैं केसरी होकर हाथियों को पछाड़ता हूँ, और यहाँ तू गजगामिनी [मुझसे बचने के लिए] 'हे हरि' 'हे हरि' कहती है; (६) वहाँ तो [शत्रु के] कंधार (स्कन्धावार) और कटक को तहस-नहस करता हूँ और यहाँ तुम्हारा शृंगार जीतता हूँ; (७) वहाँ तो मैं हाथियों के कुंभस्थल नमित करता हूँ, और यहाँ तेरे कुच-कलशों को हाथों में करता हूँ।" (८) [इस प्रकार के दोनों के द्वन्द्व में] प्रेम राजा टेक करके (दृढ़ता पूर्वक) धरहरिया (बीच-बचाव करने वाला) बनकर मध्यस्थ हुआ। (९) [तदनन्तर] दोनों छओ ऋतुओं में मिल कर और एक होकर भोग मानने लगे।

टिप्पणी--(२) समुँह<सम्मुख। दर<दल=सैन्य। (५) पेल्<पेर्<प्रेरय्=ठेलना, पछड़ाना। केहरि<केसरिन्=सिंह। (६) लूस्<लूषय्=विनाश करना, वध करना, मारना। (७) नाव्<नमय्=नमित करना। (८) धरहरिया=धर-पकड़ कर रोकने वाला, बीच-बचाव करने वाला।

प्रथम वसंत नवल रितु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई।
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरिका कविलासू।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी।
पिउ सँजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जस होरी।

धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू । नखत सिंगार होहिं सब चूरू ।
जेहि घर कंता रितु भली आउ बसंता नित्त ।
सुख बहरावहिं देवहरैं दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥३३५॥

अर्थ——(१) पहले वसंत की नवल ऋतु आई। वह सुऋतु चैत्र और वैशाख में शोभित हुई। (२) स्त्री (पद्मावती) ने चंदन-चीर शरीर पर धारणकर और हँसते हुए (प्रसन्नतापूर्वक) माँग भरकर सिन्दूर दिया। (३) पुष्प-हारों और परिमल की सुवास थी ही, कैलास (धवलगृह) में मलयागिरि (चन्दन) का छिड़काव हुआ। (४) श्वेत सौर थी, जो फूलों से ढकी हुई थी, ऐसी सुखवास की शैया में स्त्री और उसका कान्त (प्रिय) दोनों मिले। (५) स्त्री को यौवन की वाटिका में प्रिय का संयोग प्राप्त हुआ था, फलतः भ्रमर (प्रिय) और पुष्प (स्त्री) साथ-साथ धमार करने लगे। (६) भली चाँचर का आयोजन कर फाग होने लगा और विरह को इस प्रकार जला दिया गया जैसे होली जलाई गई। (७) स्त्री शीतल शशि था, और प्रिय सूर्य-सा [काम से] तप्त हो रहा था, फलतः शृंगार के नक्षत्र सब चूर होने लगे। (८) जिसके घर में ही उसका कान्त हो उसके लिए यह ऋतु भली होती है, और ऐसा तो उसके लिए नित्य ही आया करे! (९) क्योंकि दोनों [इस ऋतु के] दिनों को सुख में बिताते हैं, और नहीं जानते हैं कि दुःख किधर [गया]।

टिप्पणी——(१) सोहाय्<शोभय्=शोभित होना। (२) चंदन चीर: चंदनी रंग का चीर अर्थात् रेशमी वस्त्र जिसमें जरी आदि का काम किया हो। धनि<धन्या=स्त्री। (३) परिमल=किसी सुगंधित पत्र-पुष्प से बनाया हुआ गंध-सार। ऊपर 'समीरी परिमल' का उल्लेख हुआ है (२९०.६)। कविलास<कैलास=धवल-गृह के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। (४) सौर<सउड=चादर। सुखबासी=सुख-निवास: (दे० २२६.३, २९१.१–२९१.५) (५) बारी<वाडिआ=वाटिका। धमारि=वसंत का एक औद्धत्यपूर्ण नृत्य-गीत--समारोह। (६) फागु<फग्गु<फल्गु=वसंतोत्सव। चाँचरि<चच्चरी<चचरी=वसंत का एक प्रकार का बहुप्रचलित गीत, अथवा उसके गानेवालों की टोली। अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में चर्चरी-साहित्य पर्याप्त मात्रा में है। (७) सिअर<सीअल<शीतल। (९) बहराव्=बहलाना, सुखपूर्वक व्यतीत करना। देवहरा<दिवह+डा<दिवस।

रितु ग्रीखम कै तपति न तहाँ। जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ।
पहिरें सुरँग चीर धनि झीना। परिमल मेद रहै तन भीना।
पदुमावति तन सियर सुबासा। नैहर राज कंत घर बासा।
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना। चंदन चरचि लाव नित बेना।
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा। अगर पोति सुख नेत ओहारा।
सेत बिछावन सौर सुपेती। भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती।
भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिया रितु छहूँ।
दारिवँ दाख लेहिं रस बेरसहिं आँब सहार।
हरियर तन सुवटा कर जो अस चाखनहार ॥३३६॥

अर्थ--(१) ग्रीष्म ऋतु की गर्मी वहाँ (उस समय) नहीं होती है, जहाँ (जिस समय) ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में कान्त (प्रिय) घर पर होता है। (२) [प्रिय से संयुक्त होने पर] स्त्रियाँ [इस ऋतु में] क्षीण और सुंदर रंग के चीर धारण करती हैं और उनके शरीर परिमल और मेद से भीगे रहते हैं। (३) पद्मावती का शरीर शीतल और सुवासित था, क्योंकि पीहर में उसका राज था और घर में ही उसके कान्त (पति) का निवास था। (४) उसके अधरों पर ताम्बूल-राग और भीमसेनी कपूर लगे होते थे, और [शरीर पर] चन्दन का लेपकर वह बेना (उशीर) लगाती थी। (५) एक ठंडी ओवरी थी, वहाँ उसका शयनागार था, जो अगुरु से पोता जा कर नेत (परदे) से ओहारा हुआ था। (६) [उसमें शैया पर] श्वेत बिछौना था जिस पर श्वेत ही चादर थी। इस में वे रात-दिन सुखपूर्वक भोग करते थे। (७) सिंहल में सर्वत्र आनंद हुआ, क्योंकि जो भाग्यवान होते हैं, वे छओ ऋतुओं में सुखी रहते हैं। (८) वे दाड़िम और द्राक्षा रस लेते (पीते) थे और आम तथा सहकार विलसते थे। (९) सुए का तन इसीलिए हरा होता है कि वह ऐसे फलों को चखनेवाला होता है (चखा करता है)।

टिप्पणी--(२) झीन<क्षीण=हलका, पतला। परिमल=सुगंधित पत्रपुष्पादि से बनाया हुआ एक प्रकार का सुगंध-सार। मेद=किसी जन्तु की नाभि से तैयार किया जाने वाला एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ। सिअर<सीअल<शीतल। (४) तँबोर<ताम्बूल। भींवसेना कपूर: भीमसेन या भीमसेनी नाम का कपूर जो कि खाने और ओषधियों के लिए अन्य कपूरों की अपेक्षा उत्कृष्टतर माना जाता है। बेना<बीरणा=खस, उशीर। (५) ओबरि<उव्वरिअ<अपवरिका=कोठरी, छोटा कक्ष। सोवनार<शयनागार। नेत<नेत्र=एक प्रकार का रेशमी वस्त्र जो पर्दे बनाने के लिए प्रायः प्रयुक्त होता था यथा: छोटिमोटि डँडिया चननवा के नेतवे ओहारल रे (जर्नल आव रा० ए० सो० १८८४ पृ० २२५), आठो अंग हे बहुआ नेतवें ओहारिहि (वही, १८८६, पृ० २४३)। ओहार्<अपवद्=[परदे से] बन्द करना। मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ 'नेतअवधारा' था। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'नेत ओहारा' का सुझाव दिया है, जिसकी संभावना निश्चय ही अधिक है। (८) सहार<सहआर<सहकार=एक प्रकार का सुगंधित आम्र। (९) हरिअर<हरिअ+डा<हरित=हरा।

रितु पावस बेरसै पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा।
कोकिल बैन पाँति बग छूटी। धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी।
चमकै बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रँग राती पिय सँग निसि जागै। गरजै चमकि चौंकि कँठ लागै।
सीतल बुंद ऊँच चौवारा। हरियर सब देखिअ संसारा।
मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी।
हरियर भुम्मि कुसुंभी चोला। औ पिय संगम रचा हिंडोला।
पौन झरक्कै हिय हिरकि लागै सियरि बतास।
धनि जानै यह पौनु है पौनु सो अपनी आस ॥३३७॥

अर्थ--(१) यदि कोई नारी पावस ऋतु में प्रिय का विलास प्राप्त कर सकी, तो सावन और भादों उसके लिए बहुत ही सुखजनक होते हैं, (२) [क्योंकि] कोकिल का बोल सुनाई पड़ता है, [आकाश में] बक-पंक्ति निकल पड़ती है, तथा स्त्रियाँ बीरबहूटी की भाँति [सज-धज कर] निकलती हैं ; (३) बिजली चमकती है तो जगत् पर [मानो] सोना बरस जाता है [अथवा सोने जैसा पानी बरस जाता है] , दर्दुर (मेढ़क) तथा मयूरों के शब्द अत्यधिक सुन्दर होते हैं। (४) [काम-] रंग (क्रीड़ा) में अनुरक्ता जो प्रिय के साथ रात में जागती रहती है, बादलों के गरजने पर और बिजली के चमकने पर चौंककर (प्रिय के) कंठ से लग जाती है।(५) दंपति ऊँचे (रत्नसेन और पद्मावती) ऊँचे चौबारे में हैं और वहाँ वे शीतल वर्षा की बूँदों का सुख ले रहे हैं, समस्त संसार हरा-भरा दिखाई पड़ रहा है। मलय समीर है, और सुखवासी सेज में दोनों का निवास है ; बेले के फूलों को बिछाकर वह सेज सुख कारिणी बनाई गई है। (७) भूमि हरी है, नारी का चोला कुसुंभी है और प्रिय के साथ उसने हिंडोला साजा (रचा) है। (८) पवन जब [पद्मावती के] हृदय से हिलग कर झरकता है वह वायु शीतल लगता है ; (९) [उस समय] स्त्री समझती है कि यह [सामान्य प्रकार से आया हुआ] पवन है, किन्तु पवन [उसके हृदय के स्पर्श की] अपनी आशा-आकांक्षा लेकर आया हुआ होता है।

टिप्पणी--(१) पावस<प्रावृट् = वर्षा । सोहावा<सुहावय<सुखायक = सुखजनक । (२) बैन<वयन = वचन । बीरबहूटी = इन्द्रगोपा । (३) दादुर< दद्दुर<दर्दुर = मेढक । लोन<लवण = लावण्यपूर्ण । (४) चौबारा<चउव्वारअ< चतुर्हारक = चार दरवाजों का (चारोंओर से खुला हुआ) कक्ष जो मकान की ऊपरी छत पर होता है। हरिअर<हरिअ+डा = हरित् = हरा। (५) सुखवासी<सुखी-निवास। (द० २९१.१, २९१.५, ३३५.४) (७) हिंडोला<हिन्दोल = झूला। (८) हिरक = हिलगना, पास आना। सिअर<सीअल<शीतल = ठंडा।

आइ सरद रितु अधिक पियारी । नौ कुवार कातिक उजियारी ।
पदुमावति भै पूनिवँ कला । चौदह चाँद उए सिंघला ।
सोहर करा सिंगार बनावा । नखतन्ह भरे सुरुज, ससि पावा ।
भा निरमर सब धरनि अकासू । सेज सँवारि कीन्ह फुल डासू ।
सेत बिछावन औ उजियारी । हँसि हँसि मिलहिं पुरुख औ नारी ।
सोने फूल परिथिमी फूली । पिउ धनि सों धनि पिउ सों भूली ।
चखु अंजन दै खँजन देखावा । होइ सारस जोरी पिउ पावा ।
एहि रितु कंता पास जेहि सुख तिन्हके हिय माँह ।
धनि हँसि लागै पिय गले, धनि गल पिय कै बाँह ॥३३८॥

अर्थ-- (१) अब [और] अधिक प्रिय, शरद ऋतु आई, जिसमें नवीन क्वार तथा कार्तिक मासों की उज्ज्वलता (चाँदनी) होती है। (२) पद्मावती [इस ऋतु में] पूर्णिमा की [ऐसी दीप्तिमती] चन्द्र-कला हो गई। [मानो द्वितीया से पूर्णिमा तक के] चतुर्दश चन्द्र [उसके रूप में] एक साथ सिंहल में उदित हुए हों। (३) उस चन्द्र ने

शोडष कलाओं से श्रृंगार किया और इसलिए सूर्य (प्रिय) ने मानो उस शशि को नक्षत्रों से भरा प्राप्त किया। (४) समस्त धरती और आकाश निर्मल हो गया। शैया को सँवार-कर उस पर फूलों का बिछावन किया गया। (५) श्वेत बिछावन था तथा [चंद्रिका की] उज्ज्वलता थी; पुरुष (रत्नसेन) और नारी (पद्मावती) हँस-हँस कर (प्रसन्न होकर) [शैया में] मिलते थे। (६) पृथ्वी सोने के सदृश फूलों से फूल उठी, और प्रिय प्रिया से तथा प्रिया प्रिय से भूल उठे। (७) [प्रिया ने] आँखों में अंजन देकर खंजनों का दर्शन कराया तथा सारस की जोड़ी (मादा सारस) होकर प्रिय (नर सारस) को प्राप्त किया। (८) इस ऋतु में कान्त जिसके पास होते हैं, उनके हृदय में सुख [ही सुख] होता है, (९) स्त्री प्रिय के गले हँसकर लगती है, और स्त्री के गले में प्रिय की बाँहें होती हैं।

टिप्पणी—(१) पिआर<प्रियालु। उजिआरी<औज्ज्वल्य। [तुल० कातिक सरदचंद उजिआरी ३४८.१] (२) पूनिउँ<पूर्णिमा। चौदह चाँद=द्वितीया के चन्द्र से लेकर पूर्णिमा तक के चौदह तिथियों के चन्द्र : तुल० चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि। तिहिघर किस कौ चानिणौं, जिहि घरि गोविंद जाँहि।(कबीर ग्रंथा० १.१७) (३) करा<कला। (६) धनि<धन्या=स्त्री। (७) चखु<चक्खु=चक्षु= नेत्र। होइ सारस जोरी : सारस जोड़ी में ही रहते माने गए हैं (दे० ३३.६)

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहूँक अंग एक मिलि लागा।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।
दुइ घटैं मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।
हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर कुंदहिं कुरुलहिं दोउ।
सीउ पुकारै ठाढ़ भा जस चकई क बिछोउ ॥३३६॥

अर्थ— (१) शिशर ऋतु आ गई, किन्तु [शिशर के आने से] वहाँ शीत नहीं [असर करता] है जहाँ अगहन और पूस के महीनों में प्रिय घर पर ही होता है। (२) स्त्री और उसके प्रिय में वह शीत [दो धातुओं को एक करने वाला] सुहागा हुआ, जिससे दोनों के शरीर एक-दूसरे से अभिन्न होकर मिल गए। (३) उन्होंने मन से मन और तन से तन को ग्रहण किया तथा हृदय से हृदय को [इस प्रकार] ग्रहण किया कि बीच में हार भी न रहने पाया [उसे अलग रख दिया गया]। (४) वे दोनों इस प्रकार चिपक गए जैसे एक-दूसरे के अंग में चन्दन बनकर लग रहे हों, और चन्दन उनके संग [शरीर में लगा] नहीं रहने पाया। (५) राजा (रत्नसेन) और रानी (पद्मावती) सुख भोग कर रहे थे, इसलिए उनके लेखे में (विचारों में) समस्त सृष्टि शीतल हो चुकी थी। (६) वे दोनों ही [मिलकर] यौवन से युद्ध करने लगे, जिससे वह शीत जो दोनों के बीच में पड़ रहा था वहाँ से अपने प्राण लेकर भाग खड़ा हुआ। (७) दोनों के शरीर ऐसे मिलत

थे कि एकमेक हो जाते थे; किन्तु इस प्रकार मिलने के बाद भी वे [मिलने से] अघाते नहीं थे। (८) जिस प्रकार हंस सरोवर में केलि करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों कूदते और कुरलते थे; (९) परिणामतः शीत [अलग] खड़ा हुआ [अपनी सुरक्षा के लिए] दुहाई दे रहा था, जैसे वह [रात्रि के आगमन पर चकवे से हुआ] चकवी का विछोह हो।

टिप्पणी--(१)+सिसिर : कवि ने अगहन-पूस को 'शिशिर' के मास कहा है। यही भूल उसने पहले (१८३.१ में) भी की है, जहाँ उसने श्रीपंचमी (माघ शु० ५) का आगमन शिशिर के बाद कहा है। अगहन-पूस के मास हेमंत के होते हैं। सीउ<सीअ<शीत। (६) जोवन<यौवन। (७) अवाय्<अग्घव् [दे०] पूर्त्ति करना, पेट भरना। (८) कुंद्<कुन्थ्=(१) आलिंगन करना, (२) कराहना, सीत्कार करना (दे० 'कुन्थन' मो० वि०)। कुरुल् [दे०]=कूजन करना।

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ फागुन सुख सीउ सियाला।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहूँ दुख कर खोजू।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा।
जाइ इंद्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा।
भएउ इन्द्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै परिभौ कबहुँ काहु कै होइ ॥३४०॥

अर्थ-- (१) हेमंत ऋतु में प्रिय यदि साथ हुआ तो पाला नहीं [असर करता] है। तब तो माघ-फागुन के महीनों में शीतकाल सुखकारी शीत होता है। (२) [इस ऋतु में] दिन-रात [शैया के] श्वेत सौर में ही दोनों रहते और बहुत-सी भाँति के दगला और चीर पहिनते। (३) सिंहल में घर-घर सुख-भोग हो रहा था, तथा कहीं भी दुख का चरण-चिह्न नहीं रह गया था। (४) जहाँ स्त्री और पुरुष होते हैं वहाँ शीत नहीं लगता है, [और इस प्रकार दूर हो जाता है] मानो शर देख कर कौआ भाग गया हो। (५) [रत्नसेन-पद्मावती के भी एकत्र रहने पर शीत भाग खड़ा हुआ और] उसने जाकर इन्द्र से पुकार लगाई, "पद्मावती ने मुझे अपने देश से निकाल दिया। (६) इस ऋतु में मैं [अभी तक] सदैव उसके साथ सोता था, किन्तु अब उसने मुझे मार-मार कर [निकाल दिया और] अपने दर्शनों से भी मेरा विछोह कर दिया है। (७) अब हँसकर वह शशि [प्रेमिका] सूर्य (प्रेमी) को भेंटती है, और जो कुछ भी शीत [बचा-खुचा] था, वह भी [दोनों ने] अपने बीच से मिटा दिया है।" (८) इन्द्र का आदेश हुआ, "यह तो वही प्रस्थावा हुआ कि (९) कभी किसी का परिभव होता है, और कभी किसी का होता है।"

टिप्पणी--(१) हेवंत<हेमंत : कवि ने माघ-फाल्गुन को हेमंत के मास कहा है। वास्तव में ये शिशिर के मास होते हैं। पूर्ववर्ती छंद में उसने अगहन-पूस को शिशिर के मास कहा है, जो हेमंत के होते हैं। शिशिर और हेमंत की यह भूल अन्यत्र भी

(१८३.१) हुई है । पाला=तुषार, हिम, कठिन शीत । सीउ<शीत । सिआला< शीत-काल [दे० सीअल्लि=हिम काल का दुर्दिन । पा० स० म०] (२) सौर< सउड=चादर । दगला=रूई भर कर बनाया हुआ चोगा । (३) खोज=चरण-चिह्न । (८) आएसु<आदेश । प्रस्थावा<पत्थाव<प्रस्ताव=प्रसंग, प्रकरण । (९) परिभौ <परिभव=पराभव, तिरस्कार ।

नागमती चितउर पँथ हेरा । पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा ।
नागरि नारि काहुँ बस परा । तेइँ बिमोहि मोसौं चितु हरा ।
सुवा काल होइ लै गा पीऊ । पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ ।
भएउ नरायन बावन करा । राज करत बलि राजा छरा ।
करन, बान लीन्हेउ करि छंदू । भारथ भएउ छल मिला इन्दू ।
मानत भोग गोपीचँद भोगी । लै अपसवा जलंधर जोगी ।
लै कान्हहि भा अकरूर अलोपी । कठिन बिछोउ जिऔ किमि गोपी ।
सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खग्गि ।
झुरि झुरि पाँजर धनि भई बिरह कै लागी अग्गि ॥३४१॥

अर्थ— (१) नागमती चित्तौड़ में [रत्नसेन का] मार्ग देखती रही ; [उसने मन में कहा,] "मेरा प्रिय, जो गया तो लौटकर नहीं आया । (२) वह किसी नागरी नारी के वश में पड़ गया, और उसके द्वारा मोहा जाकर उसने मुझसे चित्त हटा लिया है [अथवा उस नागरी ने मेरी ओर से उसे मोह-(ममता) रहित करके उसका चित्त हर लिया है] । (३) सुआ (हीरामणि) काल होकर मेरे प्रिय को ले गया । मेरे प्रिय को वह मुझसे न छीनता, भले ही मेरे प्राण ले लेता । (४) नारायण वामन की कला के हुए और उन्होंने राज्य करते हुए बलि को छल लिया था; (५) कर्ण ने [परशुराम से] बाण (ब्रह्मास्त्र) [ब्राह्मण होने का] छद्म करके लिया, किन्तु महाभारत के युद्ध में उसी के साथ छल हुआ जब इन्द्र [जैसा छलिया] उसको मिला [और भिक्षुक बनकर उसने अर्जुन के लिए उससे उसके कवच और कुंडल माँग लिए] ; (६) राजा गोपीचन्द भोगी होकर भोग मान रहे थे, किन्तु उन्हें जालंधर पाद योगी ले भागा [और उसने उसे भोगी से योगी बना दिया]; (७) कृष्ण को लेकर अक्रूर आलुप्त हो गया (मथुरा चला गया) । [स्वभावतः] उस कठिन विछोह में [कृष्ण की प्रेमिकाएँ] वे गोपियाँ कैसे जीवित रहतीं ? [वे कृष्ण के वियोगाग्नि में जल मरीं] । (८) [ऐ व्याध-वधिक सदृश सुए,] तूने मेरी सारस की जोड़ी (मेरे प्रिय) को क्यों हर लिया ? तू इस खगी को क्यों न मार गया ? (९) विरह की आग लगने के कारण उसमें जल-जल कर यह स्त्री पंजर हो गई है ।

टिप्पणी—(३) बरु<वरम्=इससे अच्छा था, भला होता, भले ही । (४) बलि के वामन द्वारा छले जाने की कथा प्रसिद्ध ही है । (५) करन बान लीन्हेंउ करि छंदू : कर्ण ने ब्रह्मास्त्र प्राप्त करने की इच्छा की जो कि परशुराम से प्राप्त हो सकता था, किन्तु परशुराम उसे ब्राह्मण को ही देना चाहते थे, इसलिए कर्ण ने छल किया कि वह ब्राह्मण था, और उनसे उसने ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया । जब परशुराम को यह छल

ज्ञात हो गया, उन्होंने शाप दे दिया कि जिस समय कर्ण को इसकी विशेष रूप से आवश्यकता होगी, ब्रह्मास्त्र काम न देगा। भारत भएउ छल मिला इंदू : इन्द्र ने भिक्षुक का वेष धारण करके इनके नैसर्गिक कवच और कुंडल माँग कर अपने कुंती से उत्पन्न हुए पुत्र अर्जुन को दे दिए थे। यह घटना महाभारत के युद्ध से संबंधित है। भारत, इन्दू : मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'भर्थरि' और 'अनन्दू' था किन्तु 'भारत' और 'इन्दू' होना चाहिए। 'भारथ<भारत=महाभारत के युद्ध के लिए है और रचना में अनेक बार इसी प्रकार अन्यत्र भी आया है ; 'इन्दू'<इन्द्र है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने चरण का पाठ 'भारत भएउ झिलमिल आनंदू। माना है, किन्तु इस पाठ में त्रुटि यह है कि किसने छल किया, यह नहीं आता है, जो कि इसलिए नितान्त आवश्यक है कि प्रसंग में नागमती सुए के छल के लिए इतिहास से छलियों की कथाएँ प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर रही है। (६) गोपीचन्द : बंगाल के एक प्रसिद्ध राजा थे जो जालंधर पाद या जालंधर नाथ के उपदेशों से राज्य छोड़कर योगी हो गए थे। रचना में अनेक बार गोपीचंद के योग का उल्लेख हुआ है। जालंधर पाद या जालंधर नाथ योग-परंपरा के एक प्रसिद्ध महात्मा थे। (७) कान्ह<कण्ह=कृष्ण। अकरूर<अक्रूर : कृष्ण को कंस ने मारने के लिए अनेक उपाय किए किन्तु जब उनमें अकृत कार्य रहा, उसने एक यज्ञ का ढोंग रचकर अक्रूर के द्वारा कृष्ण और बलराम को मथुरा बुलवाया था। कृष्ण कंस का वध करके तदनंतर मथुरा रह गए और पीछे द्वारिका चले गए। वे लौटकर व्रज नहीं गए। (८) सारस : सारस के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि वह जोड़ों में रहता है और एक के मर जाने पर जोड़े का दूसरा पक्षी भी अपने प्राण दे देता है। जोड़ी : जोड़ी से यहाँ पर तात्पर्य जोड़े के नर पक्षी से है, सारस को मादा के रूप में लिया गया है। खग्गि<खगी=मादा पक्षी। (९) झुर्<ज्वल्=जलना। पाँजर<पंजर=अस्थि-पंजर। अग्गि<अग्नि।

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ।
अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा।
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि तन चोली।
सखि हिय हेरि हार मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी।
खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा।
पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला।
प्रान पयान होत केइँ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा।
आह जो मारी बिरह की आगि उठी तेहि हाँक।
हंस जो रहा सरीर महँ पाँख जरे तन थाक ॥३४२॥

अर्थ— (१) [रत्नसेन के सिंहल जाने के बाद] प्रिय (पति) के वियोग [नागमती का] जी ऐसा बावला हुआ कि वह पपीहे के समान 'प्रिय', 'प्रिय' पुकारने लगी। (२) काम से वह रामा अधिक दग्ध होने लगी, क्योंकि प्रिय नामधारी वह पति उसके प्राण हरकर चला गया था। (३) विरह का वाण उसे ऐसा लगा कि वह हिल न सकी, और उसके शरीर से रक्त-प्रस्वेद जो निकला उससे उसकी चोली भीग गई। (४) उसकी

सखियों ने अपने हृदय में देखा कि मदन के द्वारा मारी गई यह बाला हारकर, हहर-कर प्राण त्याग कर रही है; (५) एक क्षण उसके पेट में साँस आ जाती है, तो दूसरे ही क्षण वह चली जाती है जिससे सब (संपूर्ण रूप से) निराशा हो जाती है। (६) उसको वे हवा करती हैं, और उसके चोले को [पानी से] भिगोती हैं, तो एक प्रहर के बाद चेत में आने पर वह नारी मुख से कहती है, "मेरे प्राण [निकले] जा रहे हैं, चातक की बोल 'पिउ' को कौन मिलावेगा ?" (८) [यह कहकर] उसने जो विरह की आह मारी, उस हाँक [आह] से आग उठने लगी, (९) परिणाम-स्वरूप जो हंस (जीव) शरीर में था, उसके पंखे जल गए, और उसका शरीर थक गया (शिथिल हो गया)।

टिप्पणी--(१) बाउर<वाउल<बातूल = वात-ग्रस्त, बावला। (३) पसीज<पसिज्ज<प्रेस्विद् = प्रस्वेद निकलना। (४) मैने<मयण<मदन = काम। हहर् = 'हा', 'हा' करना। (६) सींच्<सिच् = सींचना, छिड़कना। (७) पयान<प्रयाण। (८) हाँक<हक्क [दे०] = पुकार।

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू।
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा।
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती।
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा।
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली।
जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी।
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा।
मिलहिं जो बिछुरै साजना गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं अद्रा ते पलुहंत ॥३४३॥

अर्थ— (१) [सखियों ने कहा,] "हे पट्ट महादेवी, हृदय में हार न मानो, जी में समझकर और चित्त में चेतकर [अपने को] सँभालो। (२) भ्रमर कमलिनी के साथ होने पर भी पराया नहीं हो जाता है, मालती के पास, उसका स्नेह स्मरणकर वह पुनः आता है। (३) जैसी प्रीति पपीहे को स्वाती से होती है, तू भी [उसके दर्शनों की] प्यास टेक और अपने जी में स्थिरता ला। (४) जिस प्रकार धरती आकाश के स्नेह में रहती है तो मेघ वापस आकर वर्षा ऋतु में उसे [जल से] भर देता है, (५) नवल वसंत ऋतु पुनः आवेगी और वही रस, वही मधुकर और वही बेल (वल्ली)) पुनः होंगे। (६) तू अपने जी को ऐ नारी, ऐसा न कर; तरुवर भी [ग्रीष्म से] दग्ध होकर पुनः सँभल उठते हैं। (७) दस दिनों के लिए [सरोवर का] जल सूख गया, तो क्या बिगड़ गया, पुनः वही [भरा-पूरा] सरोवर होगा और पुनः वही हंस आवेगा। (८) जब बिछुड़े हुए स्वजन मिलते हैं, तो वे प्रिया को पकड़-पकड़ कर उसका बार-बार आलिंगन करते हैं। (९) जो मृगशिरा नक्षत्र की तपन सहते हैं, वे आर्द्रा नक्षत्र में पलुहते ही हैं।"

टिप्पणी--(१) पाटमहादेइ<पट्टमहादेवी=पट्टमहिषी। (२) पीउ [दे०] = पपीहा। (३) थीति<स्थिति = स्थिरता। (४) मेह<मेघ। (५) बेली<वेल्ली दे०] = लता, (७) नंस्<नश् = नष्ट होना, बिगड़ना। (८) साजन<सजण<

स्वजन। (९) मिरगिसिरा<मृगशिरा : अधिक से अधिक गर्मी का नक्षत्र। अद्रा< आर्द्रा : वर्षा का प्रथम नक्षत्र। पलुह<प्ररुह=पौदे का अंकुरित होना अथवा बढ़ना।

चढ़ा असाढ़ गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए।
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा।
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई।
ओनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा।
जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।
कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्ब ॥३४४॥

अर्थ—(१) आषाढ़ ने चढ़ाई कर दी है, [उसके सैनिक] बादल आकाश में गर्जन कर रहे हैं और विरह ने उसके दल के बाजे दुंद (दुंदुभी) को सजाया है। (२) धूमिल, श्याम तथा धवल मेघ दौड़ पड़े हैं, और [सेना की] श्वेत ध्वजा बक-पंक्ति के रूप में दिखाई पड़ी है। (३) खड्ग बिजली के रूप में चारों ओर चमक रहे हैं तथा घोर (भयानक)घन बूँदों के बाण बरस रहे हैं। (४) आर्द्रा नक्षत्र लग गया और भूमि बीज ग्रहण करने लगी है (खेत बोए जाने लगे हैं), किन्तु प्रिय के बिना मुझे कौन आदर दे ? (५) चारों ओर घटा अवनमित हो आई है, हे कान्त, मुझे उबारो, मैं मदन से घिरी हुई हूँ। (६) मेढक, मयूर कोकिल और पपीहा, मुझे अपना वेध्य कर रहे हैं, इसलिए मेरे शरीर में जीव शेष नहीं रह रहा है। (७) पुष्य नक्षत्र सिर के ऊपर आ गया है (शीघ्र ही आने वाला है); किन्तु मैं बिना स्वामी की हूँ, मेरे मंदिर (भवन) को कौन छाएगा ? (८) जिनके घरों पर उनके कान्त हैं, वे सुखी हैं, उन्हें गुरुत्व और गर्व है, (९) प्यारे कान्त के बिना, मेरा समस्त सुख भूला हुआ है।

टिप्पणी—(१) गाज्<गज्ज<गर्ज=गर्जन करता है। दुंद<दुंदुहि< दुंदुभि (?)=दुंदुभी। (२) धौर<धवल। सेत<श्वेत। धुजा<ध्वजा। (३) बीज<बिज्जु=विद्युत। (४) अद्रा<आर्द्रा : वर्षा का प्रथम नक्षत्र (सत्ताईस नक्षत्र हैं : श्रविष्ठा अथवा धनिष्ठा, शतभिषज्, पूर्वभाद्रपाद, उत्तर भाद्रपाद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी अथवा ब्राह्मी, मृगशिरस् अथवा अग्रहायणी, आर्द्रा, पुनर्वसु अथवा यामकौ, पुष्य अथवा सिध्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वफाल्गुनी, उत्तर फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा अथवा राधा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूघ, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़ा, अभिजित् तथा श्रवण। मोटे ढंग पर दो नक्षत्र एक मास में पड़ते हैं। (५) ओनव्<अवणम्<अव+नम्=झुक कर नीचे आना। उबार्<उव्वार<उद्वर्त्तय= बाहर निकालना। (६) बेझ<वेज्झ<वेध्य=वेध का लक्ष्य। (७) पुख<पुष्य। वर्षा का एक नक्षत्र जिसमें वर्षा प्रौढ़ रूप धारण करती है। (८) गारौ<गारव< गौरव=महत्त्व, गुरुत्व, प्रभाव। (९) बाहिर<वर्ज (?)=बिना।

सावन बरिस मेह अतिवानी । भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी ।
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा । भै बाउरि कहँ कंत सरेखा ।
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी । रेंगि चली जनु बीर बहूटी ।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिँडोला । हरियर भुइँ कुसंभि तन चोला ।
हिय हिँडोल जस डोलै मोरा । बिरह झुलावै देइ झँकोरा ।
बाट असूझ अथाह गँभीरी । जिउ बाउर भा भवै भँभीरी ।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी । मोर नाव खेवक बिनु थाकी ।
परबत समुँद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख ।
किमि करि भेटौं कंत तोहि ना मोहि पाँव न पंख ॥३४५॥

अर्थ–– (१) " सावन में मेघ अतिवर्णी होकर बरस रहे हैं, भरनी (धान की खेती के योग्य पानी की भरान) भर रही है, किन्तु मैं विरह में सूख रही हूँ। (२) पुनर्वसु नक्षत्र लग गया और मैंने अभी तक प्रिय को नहीं देखा; मैं बावली हो गई हूँ ; मेरा समझ-दार–जानकार कान्त कहाँ है ? (३) [मेरे नेत्रों से] रक्त के आँसू टूट पड़े हैं [जो ऐसे लग रहे हैं] मानो वीरवहूटियाँ (इन्द्र गोपाएँ) रेंग चली हों। (४) मेरी सखियों ने (अपने-अपने) प्रिय के साथ हिंडोला रचा है, भूमि हरी है और उनके शरीर पर कुसुंभी चोला है। (५) मेरा हृदय भी हिंडोले जैसा डोल रहा है, विरह उसको झुला और झकोर (झोंका) दे रहा है। (६) मार्ग असूझ [और पानी लगने के कारण] अथाह और गंभीर हो गए हैं; मेरा जी उनमें बावला भँभीरी होकर चक्कर लगा रहा है। (७) सारा जगत् जहाँ तक भी देखिए जल में डूबा हुआ दिखाई पड़ता है, और उसमें मेरी [जीवन] नौका खेने वाले के विना रुकी हुई है। (८) [प्रियतम के और मेरे बीच] पर्वत, अगम्य समुद्र, वीहड़ बन और घने ढाक हैं, (९) किस प्रकार मैं, हे कान्त, तुम्हें मिलूँ, क्योंकि न मुझे [ऐसे] पैर प्राप्त हैं [जो इनको लाँघ सकें], और न पंखे प्राप्त हैं [जिनकी सहा-यता से मैं उड़ कर इन्हें पार कर सकूं ?"]

टिप्पणी––(१) अतिवानी<अतिर्वाणिन्<अति के साथ होने वाला । (२) बाउर<वाउल<वातूल = बावला । सरेख<संलिखित = जिसने तपश्चर्या आदि के द्वारा शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी । (४) हिंडोला<हिन्दोल = झूला । (६) भँभीरी<भम्भाराली = एक प्रकार की मक्खी जो बहुत भनभनाती है। (७) ताक् <तक्क<तर्क = तर्क करना, विचार करना, देखना । (८) बेहड़<विहडिय< विघटित = बस्ती से अलग का प्रान्त ।

भर भादौं दूभर अति भारी । कैसें भरौं रैनि अँधियारी ।
मँदिल सून पिय अनतै बसा । सेज नाग भै धै धै डसा ।
रहौं अकेलि गहें एक पाटी । नैन पसारि मरौं हिय फाटी ।
चमकि बीज घन गरजि तरासा । बिरह काल होइ जीउ गरासा ।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी । मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी ।
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी । आक जवास भई हौं झूरी ।
धनि सूखी भर भाँदौं माहाँ । अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ ।

जल थल भरे अपूरि सब गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ दे बूड़त पिय टेक ॥३४६॥

अर्थ— "(१) भरा भादों मेरे लिए अत्यधिक दूभर हो रहा है। उसकी अँधेरी रातें किस प्रकार भरूँ (काटूँ)? (२) मेरा मंदिर सूना है, क्योंकि प्रिय अन्यत्र निवास करता है, इसलिए शय्या नागिन होकर मुझे पकड़-पकड़ कर डसती है। (३) मैं [शय्या में] अकेली [उसकी] एक ही पाटी पकड़े पड़ी रहती हूँ, [नींद न लगने के कारण] नेत्रों को [अँधेरे में देखने के लिए] पसारते हुए हृदय के फटने से मर रही हूँ। (४) बिजली चमक-कर और घन गर्जकर मुझे त्रास पहुँचाते हैं तथा बिरह काल होकर मेरे जीव को ग्रसता है। (५) मघा नक्षत्र झकोरों के साथ बरसता है, और मेरे नेत्र ऐसे चूते (आँसू गिराते) हैं जैसे [मकान की] ओरी चूती हो। (६) पूर्वा (पूर्व फाल्गुनी) नक्षत्र लग गया और पृथ्वी जल से पूरित हो गई, किन्तु अर्क (मदार) और जवास बनकर मैं सूख रही हूँ। (७) यह स्त्री भरे भादों में सूख गई, किन्तु अब भी आकर तू, ऐ स्वामी, उसे सींच नहीं रहा है! (८) जल और स्थल सभी आपूरित होकर भर गए हैं और आकाश तथा धरती [जल से] मिलकर एक हो रहे हैं, (९) हे प्रिय, इस यौवन के गंभीर जल में डूबती स्त्री को तू [अब भी] अवलंब दे।"

टिप्पणी—(१) भर<भरिअ<भरित=[जल से] भरा हुआ, [जल से] पूर्ण। तुल० सूखे सावन न भरे भादौं। दूभर<दुब्भर<दुर्भर=दुःख से जिसमें निर्वाह हो, जिसका निर्वाह करने में कठिनाई हो। (२) अनत<अन्यत्र। (३) प्रसार्< प्रसारय्=फैलाना। (४) बीज<विज्जु<विद्युत=बिजली। तरास्<त्रासय< भयभीत करना। (५) ओरी<अपर+इका (?) छाजन के किनारे का वह छोर जहाँ से छाजन के पानी भूमि पर गिरता है। (६) आक<अक्क<अर्क=मदार। जवास<यवास=एक कँटीली छोटी झाड़ी। आक के पौदे वर्षा में निपाते हो जाते हैं, और जवास के प्रायः सूख जाते हैं। (८) अपूर्<आपूरय्=आपूर्ति करना, भली-भाँति भरना। (९) अवगाह<अवगाढ़=गंभीर, गहरा। टेक=सहारा, अवलंब।

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुँ आउ पिउ परभुमि लटा।
तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त बहुरि करु माया।
उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा।
चित्रा मिंत मीर घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोंति सब भरे।
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं खँजन देखाए।
भए बिगास काँस बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले।

बिरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर ॥३४७॥

अर्थ— (१)" क्वार लग गया, जगत् भर में अब जल घट गया है [इसलिए मार्ग अब यातायात के योग्य हो गए हैं]; ऐ परभूमि (परदेश) पर लुब्ध प्रिय तू, अब भी आ जा। (२) तुझे देख लेने पर यह काया पलुह उठेगी; तेरा चित्त मेरे ऊपर से उतर

(हट) गया है, उसको लौटाकर तू स्नेहपूर्ण कृपा कर। (३) अगस्त्य तारे के उदित होने पर हस्त नक्षत्र का मेघ गर्ज रहा है और तुरंगों (घोड़ों) पर पलानें कसकर राजागण रण के लिए चढ़ाई करने लगे हैं। (४) चित्रा नक्षत्र का सूर्य अब मीन राशि में आ गया है। कोकिल और पपीहे [भी] पुकारते हुए अपना अभीष्ट प्राप्त कर रहे हैं। (५) अब तो स्वाती नक्षत्र के जल-विन्दु चातक के मुख में पड़ गए, और समुद्र की समस्त सीपियों ने [स्वाति-विन्दु ग्रहण कर] मौक्तिकों को [उदरमें] भर लिया है। (६) सरोवरों का स्मरणकर हंस वापस आ गए हैं, सारस कूजन कर रहे तथा खंजन दिखाई पड़ रहे हैं। (७) [सूर्य का] प्रकाश [अधिक] होने पर काँस बन में फूल उठे हैं किन्तु ऐ कान्त, तुम [अब भी] नहीं फिरे, और विदेश में भटक रहे हो ! (८) विरह का हस्ती मेरे शरीर को शल्य की भाँति पीड़ा पहुँचा रहा है और खाकर मेरे तन को चूर-चूर कर रहा है; (९) हे प्रिय, तुम शीघ्र आकर उससे भिड़ो और शार्दूल होकर गर्जन करो।"

टिप्पणी—(१) कुआर<क्वार, आश्विन मास। लटा=लुब्ध। (२) पलुह<प्ररुह=पौदे का अंकुरत होना अथवा बढ़ना। (३) हस्ति<हस्त=वर्षा का एक नक्षत्र, जिसे लोकभाषा में हथिया कहा जाता है। पलान्<पर्याणय्=पर्याण (अश्व-कवच) पहिनाना, (४) मोंति<मौक्तिक। (६) कुरर्<कुरुल [दे०] = शब्द करना, कूजन करना। (७) बिगास<विकास=प्रकाश (८) साल्<शल्यय् = शल्य की भाँति पीड़ा पहुँचाना। (९) बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना, भिड़ना। सदूर<शार्दूल=शरभ।

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी।
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरै सब धरति अकासू।
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद भएउ मोहि राहू।
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा।
अबहूँ निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा।
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी।
जेहि घर पिउ सो मनोरा पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा।
सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कंत बिनु तेहिं रही छार सिर मेलि ॥३४८॥

अर्थ— (१) "कार्त्तिक में शरद-चन्द्र का प्रकाश हो रहा है, (जिससे) जगत् शीतल हो गया है किन्तु मैं विरह-द्वारा (उलटे) दग्ध हो रही हूँ। (२) अपनी चौदह कलाओं को उसने जो प्रकाशित किया है, उससे ऐसा लगता है मानो धरती और आकाश सभी जल रहे हैं। (३) [इस चाँदनी रात में] शय्या, शरीरऔर मन का अग्निदाह कर रही है, [क्योंकि] जो सबके लिए चन्द्रमा है, वह मेरे लिए राहु हो गया है। (४) मुझे तो चारों खंड अंधकारपूर्ण लगते हैं, क्योंकि मेरे प्रिय कान्त घर पर नहीं हैं। (५) ऐ निष्ठुर [कान्त], तू अब भी इस द्वार पर आ, जब कि संसारभर में दीपावली का पर्व हो रहा (मनाया जा रहा) है। (६) मेरी सखियाँ अंग मोड़-मोड़कर झूमर गाती हैं, किन्तु मैं सन्तप्त हो रही हूँ, जिसका जोड़ा (प्रिय) बिछुड़ा हुआ है। (७) जिसके घर पर [मेरा] प्रिय होगा, वह मनोरा का उत्सव कर रही होगी; [किन्तु मैं कैसे मनोरा मनाऊँ ?] मुझे

एक विरह तो था ही, दूसरा सपत्नी होने का भी दुःख हो रहा है। (८) मेरी समस्त सखियाँ गीतों और खेलों के द्वारा दीपावली का त्यौहार मना रही हैं। (९) '[इस समय] मैं दीपावली कान्त के बिना क्या [किस प्रकार] खेलूँ ? [इसलिए] मैं तो सिर पर राख डाल [और होली मना] रही हूँ।"

टिप्पणी--(१) उजिआरी<औज्ज्वल्य । (२) अगिडाह<अग्गिडाह< अग्निदाह । (४) जौं<जओ<यतः = क्योंकि । (५) देवारी<दीप+आवलि= दीपावली। (६) झूमक<झोम्बक = एक प्रकार गीत जिसे स्त्रियाँ अंग मोड़-मोड़ कर गाती हैं। झूर्<झुर<ज्वल = जलना, संतप्त होना। (७) मनोरा<मंद + ओल्ल<मन्द + आर्द्रय = एक उत्सव जो स्त्रियों के द्वारा वर्षा का अन्त होने पर मनाया जाता है। सवति<सवत्ती, सपत्नी । (९) छार<क्षार = राख । मेल्<मेलय् = डालना ।

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी । दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी ।
अब धनि देवस बिरह भा राती । जरै बिरह ज्यों दीपक बाती ।
काँपा हिया जनावा सीऊ । तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ।
घर घर चीर रचा सब काहूँ । मोर रूप रँग लै गा नाहूँ ।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई । अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई ।
सियरि अगिनि बिरहैं हिय जारा । सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ।
यह दुख दगध न जानै कंतू । जोबन जरम करै भसमंतू ।
पिय सौं कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग ।
सो धनि बिरहैं जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग ॥३४९॥

अर्थ--"(१) अगहन में दिन घट गया है और रात बढ़ गई है। मुझे यह दूभर दुःख है, कि किस प्रकार वह [रात] निकाली (बिताई) जाए ? (२) अब स्त्री [घट कर] दिवस हो गई है, और उसका विरह [बढ़कर] रात हो गया है, उस विरह में [स्त्री] उसी प्रकार जल रही है जिस प्रकार दीपक में बत्ती जलती है। (३) [जब से] शीत जान पड़ने लगा है, हृदय काँप गया (काँपने लगा) है, और यह [शीत और हृदय का कंप] तभी जाएँगे जब कि मेरे साथ प्रिय होगा। (४) घर-घर में सभी स्त्रियों ने चीरों को रच (रँग) लिया है, [किन्तु, मैं क्या रचूं (रँगूँ) ?] मेरा रूप-रंग तो मेरा स्वामी ले गया है। (५) वह जो [मुझे], छोड़ कर गया, वापस होकर नहीं बहुरा है यदि अब भी वह वापस आ जाए, तो मेरा वह पहले का रंग लौट आए। (६) इस विरहिणी को आग शीतल हो (लग) रही है, क्योंकि विरह उसका हृदय जला रहा है, और वह सुलग-सुलग कर राख हो रहा है। (७) मेरा यह दुःख-दाह मेरा कान्त नहीं जानता है, और वह मेरे यौवन और जन्म (जीवन) को भस्मान्त कर रहा है। (८) हे भौंरे, और हे काग, प्रिय से यह संदेशा कहना, (९) '[तुम्हारी] वह स्त्री विरह में जल गई, और उसी का धुआँ हमें लगा है [जिससे हम काले हो गए हैं]'।"

टिप्पणी--(१) दूभर<दुब्भर<दुर्भर=जिसका निर्वाह कठिनता से किया जा सके । काढ़<कड्ढ<कृष् = खींचना, निकालना । (२) बाती<वत्तिआ<वर्तिका = बत्ती । (३) सीउ<सीअ<शीत । (४) रच्<रञ्ज्<रँगना । (५) बहुर्<

बाहुड<व्याघुट् = लौटना । (६) सियर<सीअल<शीतल । सुलुग्<सुलग् = [आग का] भली-भाँति लगना (जलना) । (७) जरम<जन्म = जीवन । भसमंत <भस्मान्त = भस्मावशेष ।

पूस जाड़ थरथर तन काँपा । सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा ।
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ । कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ ।
कंत कहाँ हौं लागौं हियरें । पंथ अपार सूझ नहिं नियरें ।
सौर सुपेती आवै जूड़ी । जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी ।
चकई निसि बिछुरैं दिन मिला । हौं निसि बासर बिरह कोकिला ।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी । कैसें जिऔं बिछोही पँखी ।
बिरह सैचान भँवै, तन चाड़ा । जीयत खाइ मुएँ नहिं छाँड़ा ।
रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख ।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख ॥३५०॥

अर्थ–– (१) पौष में जाड़े से शरीर थर थर काँप रहा है, और सूर्य [स्त्री भी] शीत लगने से [कष्ट पाकर] लंका की दिशा (दक्षिण) में [आग] ताप रहा है। (२) विरह की बाढ़ से वह शीत और भी दारुण हो गया है, [जिसके परिणाम-स्वरूप] मैं काँप-काँप कर मर रही हूँ और वे [दोनों—शीत और विरह] मेरे जीव को हर ले रहे हैं। (३) मेरे कान्त कहाँ हैं कि मैं उनके हृदय से लग जाऊँ [और अपना शीत मिटाऊँ] ? वे निकट तो हैं नहीं कि उन्हें बुला लूँ, और [उनके पास पहुँचने का] मार्ग भी अपार है ! (४) श्वेत चादर से जूड़ी आती है, [और ऐसा लगता है] मानो शय्या हिमांचल में डूबी हुई है। (५) चकवी [तक भी] निशा में बिछुड़कर [अपने प्रिय से] दिन में मिल जाती है, किन्तु मैं तो रात-दिन विरह में [प्रिय की पुकार लगाते-लगाते] कोकिला हो रही हूँ। (६) रजनी में अकेली रहती हूँ, और हे सखी, [प्रिय का] साथ नहीं है, ऐसी दशा में मैं विमुक्ता पक्षी किस प्रकार जीवित रहूँ ? (७) विरह का संचान चक्कर लगाता [मँडराता], और मेरे शरीर को खाता रहता है; वह जीते जी ही मुझ [पक्षी] को खा रहा है, और मृत होने पर भी न छोड़ेगा। (८) मेरा रक्त ढल गया (समाप्त हो गया) आँसू गल [बह] गए, हड्डियाँ सब की सब शंख [के समान भीतर से पोली] हो गईं, (९) [हे कान्त,] तुम्हारी यह स्त्री [वियुक्ता] सारस होकर चिल्ला-चिल्ला कर मर गई अब तुम आकर [भला] उसके पंखे ही समेट लो।"

टिप्पणी––(१) जाड़<जाड्य=शीत से उत्पन्न जड़ता, ठिठुरन । ताप्<तापय् = तप्त करना, सेंकना । (२) बाढ़ी<बढ्ढि<वृद्धि । (३) हिअरा<हिअ+डा=हृदय । निअर<णिअडा<निकट । (४) सौर<सउड [दे०] चादर । बूड़<बुड्ड<ब्रुड् = बुड़ना, डूबना । (६) पँखी<पंखी<पक्षिन् । (७) सैचान<सञ्चान= एक जाति का बाज। चाड़<चड्ड [दे०]=खाना। (८) हाड<हड्ड<अस्थि। (९) रर्<रड्<रट्=रोना, चिल्लाना ।

लागेउ माँह परै अब पाला । बिरहा काल भएउ जड़काला ।
पहल पहल तन रुई जो झाँपै । हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै ।

आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ।
एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल आगि लाग सर चीरू।
टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारैं झोला।
केहिक सिंगार को पहिर पटोरा। गियँ नहिं हार रही होइ डोरा।
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई तन तिनुबर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥३५१॥

अर्थ—"(१) अब माघ लग गया है, पाला पड़ने लगा है, और इस जड़काले (शीत-काल) में विरह काल हो गया है। (२) शरीर को यदि पहल-पहल रूई से यह स्त्री ढकती है, तो उसका हृदय हहर-हहर करके अधिक ही काँपता है। (३) हे नाथ, तू आ जा और सूर्य होकर तप्त हो, तेरे बिना माघ मास में जाड़ा नहीं छूट रहा है। (४) इसी मास में रस मूल उत्पन्न होता है, तू [उस रस मूल के लिए] भ्रमर है और मेरा यौवन फूल है। (५) मेरे नेत्र इस प्रकार चू रहे हैं, जैसे माघ [की वर्षा] का जल, उस जल से मेरे चीर सदृश शर (सरकंडों) में आग लग जाती है। (६) [माघ की उस वृष्टि की] बूँदें शरीर पर ओले के समान पड़ती हैं, और [उसी समय] विरह भी [माघ का] पवन होकर झकोरा मारता है। (७) किसके लिए शृंगार करूँ ? कौन पटोर पहने ? ग्रीवा में हार नहीं है, क्योंकि स्त्री स्वतः [क्षीण होकर] तागा हो गई है। (८) तुम्हारे बिना, हे कान्त, स्त्री इतनी हलकी हो गई है कि शरीर बहुत हुआ तो तृण होकर हिलने लगा है, (९) उस पर भी [विरह को संतोष नहीं है] वह उसे जलाकर उसको [अपने] झोल (झोंके) में उड़ाना चाहता है।

टिप्पणी--(१) माँह<माघ। पाला=हिम, तुषार। (२) पहल<पहल्ल< प्रथित = फैलाया हुआ, फुलाया हुआ : रूई धुन कर जब फुला दी जाती है तो उस फूले हुए रूप को पहल कहते हैं। हहल्='हा'-'हा' करना। (३) जाड़<जाड्य = जड़ता, ठंडक से उत्पन्न हुई ठिठुरन। (५) माँहुट<माघवत्=माघ का। (६) सर<शर=सरकंडा ओला<ओल्ल<आर्द्रय=हिम। [?] (९) झोल=झुल्ल=झूला, झोंका। (७) पटोर = पट्टकूल< रेशमी वस्त्र। डोर [दे०]=रस्सी, तागा। (८) हरुअ<लघुक=हल्का। तिनु=तृण। बर<वरम्=बहुत हुआ तो।

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा।
तरिवर झरैं झरैं बन ढाँखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा।
करिन्हि बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू।
फाग करहि सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी।
जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा।
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत छार जेउँ तोरें।
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ ॥३५२॥

अर्थ— "(१) फाल्गुन में पवन झँकोरों में बह रहा है, जिससे शीत चौगुना हो गया है; वह किस प्रकार सहा जा सकता है ? (२) मेरा शरीर [वृक्षों के] पीले पत्तों के सदृश हो गया है; अब यह तुम्हारे विरह में, [हे कान्त,] ठहर नहीं सकता है, जो (विरह) पवन बनकर उसको झोर रहा है। (३) तरुवरों के पत्ते झड़ रहे हैं और वन के ढाक [जैसे सामान्य वृक्ष] के भी पत्ते झड़ रहे हैं; [परिणामस्वरूप] फूलों और फलों की शाखाएँ पत्रहीन हो गई हैं। (४) किन्तु जहाँ कलिकाओं के रूप में वनस्पति उल्लास करने लगी है, मुझे (मेरे लिए) संसार दुगुना उदास हो गया है। (५) [मेरी सखियों ने] जो चाँचर की योजना करके फाग का उत्सव कर रही हैं, मेरे जी में जैसे होली लगा दी है। (६) यदि, हो न हो, प्रिय को मेरा इस प्रकार जलना ही भाया है, तो इस जलने-मरने में मुझे भी रोष नहीं आ रहा है; (७) रात-दिन मेरे मन में यही है कि, हे कान्त, मैं तुझे क्षार (भस्म) के समान लगूँ। (८) [मेरे मन में यही है कि] मैं यह शरीर जलाकर भस्म कर दूँ और पवन से कहूँ कि वह उस भस्म को उड़ा ले चले, (९) जिससे कि संभव है मैं उस मार्ग में जाकर गिर पड़ूँ जहाँ (जिस मार्ग में), ऐ कान्त, तू पैर रक्खे।"

टिप्पणी—(१) सीउ<सीअ<शीत। (२) पिअर<पीअ+डा<पीत=पीला। झोर्<झोड्—[दे०] = पेड़ों से पत्तों को गिराना। (४) हुलास<उल्लास। (५) फाग <फग्गु<फल्गु = वसंतोत्सव। चाँचरि<चच्चरी<चर्चरी=एक प्रकार का गीत जो वसंत (फाग) में गाया जाता है, अथवा उसके गाने वालों की टोली। (७) छार< क्षार = भस्म, भूति। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल इसके स्थान पर 'थार' पाठ को मानते हैं और अर्द्धाली के दूसरे चरण का अर्थ करते हैं, 'मैं, हे कान्त, तेरे थाल जैसे हृदय से लग जाऊँ' किन्तु प्रश्न है कि 'थार' से 'थाल जैसा हृदय' अर्थ लेना संभव नहीं है, यह पाठ स्वीकार करने पर अर्थ होगा। 'हे कान्त, मैं तुझसे थाल के समान लग जाऊँ' जो कि अर्थहीन है। पुनः थाल-समान हृदय से लगने के लिए पूर्ववर्ती अर्द्धालियों का इस उक्ति से कोई संबंध नहीं रह जाता है, क्योंकि थाल जैसे हृदय से लगने के लिए जलना-मरना किसी प्रकार सहायता नहीं करता है। पुनः दोहे की पंक्तियों में जो उक्ति आती है उसका संबंध अर्द्धाली ५ तथा ६ से हो और ७ से न हो यह संभव नहीं है। हृदय से लगकर पैर से लगने में भी कोई संगति नहीं प्रतीत होती है।

चैत वसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी।
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मंजीठ टेसू बन राता।
मौरें आँब फरै अब लागे। अबहुँ सँवरि घर आउ सभागे।
सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरै सँवरि मालती।
मो कहँ फूल भए जस काँटे। दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे।
भर जोबन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा।
घिरिन परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ॥३५३॥

अर्थ—"(१) चैत्र में वसंत और धमाल होते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में संसार ही उजाड़ा हुआ है। (२) [मुझे तो लगता है कि] पंचशर [काम] ने अपना पाँचवाँ बाण विरह का मारा है, जिसके कारण समस्त वन रक्त [के आँसू] रोकर उसे ढुलका रहे हैं। (३) समस्त तरुवरों के पत्ते उस रक्त में डूब उठे हैं [और इसी कारण लाल हो गए हैं] और उसी से भीग कर मँजीठ और किंशुक वन में रक्तवर्ण के हो गए हैं। (४) जिन आम्र के वृक्षों में पहले मौर लगे थे, वे अब फलने लग गए हैं, भला अब भी घर का स्मरण कर, ऐ भाग्यशाली, तू [वापस] आ जा! (५) वनस्पतियाँ सहस्र भाव से फूल उठी हैं, और मधुकर मालती का स्मरण कर लौट पड़े हैं। (६) किन्तु ये फूल मुझे काँटे हो-[कर चुभ] रहे हैं, और दृष्टि पड़ते ही शरीर में चींटे बनकर [काटने] लगते हैं। (७) नारंगी की यह डाली [भी] भरे यौवन में [आ गई] है, अतः सोया हुआ विरह अब रोका नहीं जा रहा है। (८) जिस प्रकार घिरिन परेवा [आकाश से टूटकर] आ जाता है, तुम भी हे प्रिय टूटकर आ पड़ो; (९) क्योंकि नारी पराए (विरह के) वश में हो रही है, और तुम्हारे बिना उस [परवशता से] छूट नहीं सकती है।"

टिप्पणी—(१) धमारि=एक ऊधमपूर्ण नृत्य-गीत। उजारी<उज्जाडिअ [दे०] =उजाड़ किया हुआ। (२) पंचम [शर]=काम के पंचबाणों में से पंचम विरह शर। सगर<सकल=समस्त। (३) टेसू<किंशुक। रात्=रक्त वर्ण का होना। (४) मौर्<मुकुलय्=मुकुलित होना। (५) बनफनी<वनप्फति<वनस्पति। (५) चाँट=चींटा। (७) सोआ<सुप्त। (८) घिरिन परेवा<घूर्ण पारावत=घुमना या लोटना (गिरहबाज़) कबूतर।

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चँदन भौ आगी।
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौंहँ रथ हाँका।
जरत बजागिनि होउ पिउ छाँहाँ। आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहाँ।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी।
लागिउँ जरैं जरैं जस भारू। बहुरि जो भूँजसि तजौं न बारू।
सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ होइ बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर छारहि मिलै सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौं पिय सींचहु आइ॥३५४॥

अर्थ—"(१) वैशाख आ गया और गर्मी अत्यधिक बढ़ गई है, जिस कारण चोल और चीर का चन्दनपट आग [जैसा तप्त] हो गया है। (२) [विरह में] जलता हुआ सूर्य जब शीतल होने के लिए हिमाचल [की ओर] चला (उत्तरायण हुआ), उसने विरह की वज्राग्नि का अपना रथ मेरे सम्मुख ही हाँक दिया। (३) इस विरह की वज्राग्नि के लिए छाया, हे प्रिय, तुम बनो, और मुझ अंगारों में पड़ी (जलती हुई) को आकर बुझाओ (शीतल करो)। (४) तुम्हारे दर्शनों से यह नारी शीतल होगी; तुम [इसलिए] आकर अग्नि के स्थान पर [मेरे लिए] पुष्पवाटिका का निर्माण करो। (५) मैं तो ऐसी जलने (धिकने) लगी हूँ जैसा भाड़ जलने (धिकने) लगता है किन्तु यदि तुम मुझे तदनंतर

(आने के बाद) भूनो भी तो मैं [तुम्हारा] द्वार नहीं छोड़ सकती हूँ [जिस प्रकार भाड़ बालू को नहीं छोड़ता है]। (६) सरोवर का हृदय नित्य ही घटता जा रहा है, और वह टुकड़े-टुकड़े होकर फट रहा है। (७) उस फटते हुए हृदय को, हे प्रिय, तुम सहारा दो और अपनी दृष्टि का दवँगरा देकर उसके टुकड़ों में ऐक्य डाल दो (उन्हें परस्पर जोड़ दो)। (८) मानसरोवर में जो कमलिनी खिली थी [तुम्हारे द्वारा दिए गए मान से यह नारी जो प्रहर्षित हो रही थी] वह सूखकर धूल में मिल रही है। (९) वह वल्ली अब भी पलुह सकती है, यदि हे प्रिय, तुम आकर उसको [अपने दर्शनों से] सींचो।"

टिप्पणी--(१) चंदन=चंदनपट्ट [दे० 'चंदन चोला' २९९.२, ३२७.३, चंदन चीर १६८.३, २९६.१]। (२) हिवंचल<हिमाञ्चल। ताक्<तक्क<तर्कय=विचार करना, देखना। (५) भार<भ्राष्ट्र=भाड़। भूंज्<भृज्=भूनना। बारू<वार=द्वार तथा<बालुआ=बालुका। (७) बिहर<विहड्<वि+घट्=फटना। दवँगरा=वर्षा का प्रथम जल। (९) पलुह<प्ररुह=अंकुरित होना या बढ़ना।

जेठ जरै जग बहै लुआरा। उठै बवंडर धिकै पहारा।
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा।
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी।
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।
अधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा।
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागै। अबहूँ आउ आवत सुनि भागै।
परबत समुँद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिऔ जरै जो अस पिय लागि॥३५५॥

अर्थ--"(१) ज्येष्ठ मास में लू के बहने से जगत् जल रहा है, बवंडर (बगूले) उठ रहे हैं और पहाड़ गर्म हो रहा है। (२) [इस समय] विरह गर्जन करके हनुमान होकर जाग पड़ा है, और वह मेरे शरीर में लंका-दहन करने लगा है। (३) चारों पवन अपने झोंकों से उस [विरह की] अग्नि को संवर्धित कर रहे हैं, इसलिए वह आग लंका को जलाकर अब पलंका में लग गई है। (४) [इसी अग्नि से] दग्ध होकर कालिंदी श्याम वर्ण की हो गई, विरह की अग्नि ऐसी कठिन और बुरी होती है। (५) [इस ऋतु में] आग [सी] उठ रही है और आँधी आ रही है, नेत्रों से सूझ नहीं रहा है और मैं दुःख में बँधी हुई मर रही हूँ। (६) मैं तो अधजली हो गई, शरीर का मांस सूख गया, और विरह भूखा काग बनकर मेरे शरीर [को खाने] में लग गया है। (७) वह मेरे शरीर का मांस खाकर अब हड्डियों [को खाने] में लगा हुआ है। [ऐ प्रिय,] तू अब भी आ जा, कि तुझे आता सुनकर वह भाग जाए।" (८) पर्वत, समुद्र, मेघ, शशि, दिनकर इस आग को सहन नहीं कर सकते हैं; (९) मुहम्मद (जायसी) कहता है, सती की सराहना कीजिए जो इस प्रकार प्रिय के लिए [विरह की आग में] जलती है।

टिप्पणी--(१) लुआरा<लूआ[दे०]+डा:[लूआ=मृगतृष्णा, सूर्य की किरणों में होने वाली जल की भ्रान्ति]=सूर्य की किरणों से तप्त वायु। धिक्=तप्त होना।

(२) गाज् < गज्ज < गर्ज् = गर्जना करना। (३) चारिहुँ पवन : चारों दिशाओं से चलने वाली हवा। लंका-पलंका = लंका तथा पलंका (प्लक्ष ?) नाम के द्वीप, जो एक-दूसरे के निकट थे। (देखिए २०६.१-३) (७) हाड < हड्ड < अस्थि। (८) दिनअर < दिनकर = सूर्य।

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मो कहँ यह छाजनि गाढ़ी।
तन तिनु बर भा झूरौं खरी। भै बिरहा आगरि सिर परी।
साँठ नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा।
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई।
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी।
बरिसहिं नैन चुवहिं घर माहाँ। छप्पर छपर होइ बिनु छाँहाँ।
को रे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा।
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ॥ ३५६॥

[नायिका-परक अर्थ]

अर्थ--(१) "अब ज्येष्ठ-आषाढ़ी (ज्येष्ठ के अंत और आषाढ़ के प्रारंभ की गर्मी) तपने लगी है और मुझ को अपनी छाजन (अपनी काया) दुःखदायक हो रही है। (२) मेरा शरीर [सूखकर] बहुत हुआ तो तृण हो गया है, और मैं अत्यधिक संतप्त हो रही हूँ, और यह छाजन (काया) विरह से अग्र हो कर (बढ़ावा पाकर) मेरे सिर पर आ पड़ी है। (३) साँठि (संस्थिति) [अच्छी] नहीं है, इसलिए कौन मुझसे बातें पूछेगा (मेरी सहायता करेगा)? विना जीव के मेरा खाली शरीर [ऐंठ कर] मूँज [की रस्सी] हो गया है। (४) [इस संकट में] न कोई मेरा बन्धु है, और न कोई कंधा लगा रहा है; [मेरे मुख से] बोल भी नहीं निकल रहा है, मैं [अतः] रो कर किससे कहूँ? (५) मैं बिना टेक (रोक-थाम) के रटती-रटती दुबली हो गई हूँ; मेरा स्तंभ (थामने वाला) कोई है नहीं, इसलिए मैं स्थूण (कटे हुए पेड़ का धड़) हो गई हूँ और उठ नहीं सकती हूँ। (६) मेरे नेत्र बरस रहे हैं और घर में चू रहे हैं। तुम्हारी छाया के बिना [घर में] 'छपर-छपर' हो रही है। (७) [अब मेरा] कौन है, और वह कहाँ है जो [मेरी काया-छाजन का] नया ठाट सजा दे? तेरे बिना, हे कान्त, यह छाजन (काया) अच्छी नहीं लग रही है। (८) अब भी तू ममता की दृष्टि कर और [अपने] बन्धनों को त्याग कर घर आ जा। (९) मेरा मंदिर अब उजाड़ हो रहा है; तू आकर और उसे नया करके [फिर से] बसा।"

[छाजन-परक अर्थ]

अर्थ--(१) "अब जेष्ठ-आषाढ़ी तपने लगी है, और मुझे [अपने मंदिर की] छाजन दुःख दायक हो रही है। (२) इस छाजन के लिए तनी (डोरी, बंधन) तथा श्रेष्ठ, (उपयुक्त) तृण (फूस) हो (आ) गए हैं, [फिर भी] मैं संतप्त हो रही हूँ क्योंकि छाजन के अग्र भाग की बल्ली [खिसक कर] सिर पर आ गई है। (३) जब संठा (सन का डंठल) नहीं है, तो वत्ते की कौन सी बात है? और बिना जीव (ऐंठन) के मूँज की डोरी

भी बेकार हो गई है। (४) बंधन (रस्सी) नहीं है [जिससे बँड़ेर बाँधी जाए], न बँड़ेर के नीचे खड़ा करने के लिए कंधे हैं और न बाँक (बँड़ेर या ओरौती के नीचे कैंचीनुमा लगाए जाने वाले बाँस) हैं। (५) टेक के बिना खिसक कर मेरी छाजन कमज़ोर पड़ गई है, थाम नहीं है कि वह उठ सके और न कोई थून है। (६) नयन (छाजन के छिद्र) घर में चू रहे हैं, और बिना छाया का होकर छप्पर छः पल्लों का हो रहा है। (७) वह कोरव कहाँ है जिससे [छप्पर का] नया ठाट साजा जाए ? हे कान्त, तुम्हारे बिना छाजन और छज्जा सभी नहीं (निरर्थक) हैं। (८) अब भी तू ममता की दृष्टि कर और [अन्य] छाजनों को छोड़ कर घर आ जा। (९) मेरा मंदिर उजाड़ हो रहा है; तू आ करके और उसे नया करके [पुनः] बसा जा।"

टिप्पणी--(१) छाजनि : [१]<आच्छादन=शरीर, [२]<छायण<छादन = मकान की छाजन। (२) तन : [१]<तनु=शरीर, [२]<तनिका=डोरी। तिनु< तृण=[१] घास, [२] फूस आदि जिनसे छाजन बनाई जाती है। वर : [१]वरम्= बहुत हुआ तो, [२] श्रेष्ठ, उपयुक्त। झूर<ज्वल्=[१] सूखना, [२] संतप्त होना। बिरहा=[१] विरह, वियोग, [२] अलग। आगरि : [१]<अग्र=बढ़ी हुई, [२] छाजन में अग्रभाग की बल्ली। (३) साँठ : [१] <संठिइ<संस्थिति=दशा, स्थिति, अवस्था, [२] सन का डंठल जिसे वत्ते के रूप में ठाट पर फैला कर सरपत या ईख की पत्तियाँ छाजन में बिछाई जाती हैं। बात : [१]<वार्ता=बात, [२] बत्ता=संठे या सरकंडे की कमाचियाँ। जिय : [१]<जीव, [२]ऐंठन : इसी लिए अवधी में रस्सी को 'जेंवर' कहते हैं। मूँज<मुञ्ज=[१] मूँज की रस्सी के समान ऐंठा हुआ, [२] मूँज की रस्सी। तन : [१]<तनु=शरीर,[२]तनिका=डोरी। छूँछ<छुच्छ<तुच्छ= ख़ाली, [२] बेकार। (४) बंध : [१]<बन्धु=स्वजन, [२] बन्धन। कंध<स्कन्ध : [१] कन्धा, सहारा, [२] पेड़ के तने का वह भाग जहाँ से शाखाएँ फूटती हैं, जिसे काट कर बँड़ेर आदि को बिठाने के लिए उनके नीचे खड़ा किया जाता है। बाक : [१]<वाक्य= बोल, [२] बाँक=वक्र (?), वे कैंचीनुमा लगी हुई लकड़ियाँ जिन पर बँड़ेर या ओरौती के बाँस रक्खे जाते हैं। (५) रर : [१] रड्=रट लगाना, [२] रड्ड [दे०] =खिसक कर गिरना। दूबर<दुर्बल=[१] दुबला, [२] पतला या कमज़ोर। टेक=[१] सहारा, [२] बँड़ेर के नीचे लगाई जाने वाली लकड़ी। थंभ<स्तम्भ [१]= थामने या सहारा देने वाला--स्वजन, [२] वह लकड़ी जिस पर छाजन की बँड़ेर टिकती है। थूनी<स्थूण=[१] पेड़ का कटा हुआ धड़, [२] थून--वह लकड़ी जो छाजन को उठाने अथवा उसके अग्रभाग को रखने में प्रयुक्त होती है। (६) नयन : [१] नेत्र, [२] छाजन के छिद्र। छप्पर : [१] छप्-छप् की ध्वनि, [२] छद-पट= छाजन। छपर=[१] 'छप्-छप्' की ध्वनि, [२] छः पल्लों की वस्तु। (७) कोरे : [१] कौन ऐ मनुष्यो ! [२] कोरव<कोलम्ब : वे बाँस जो बँडेर से ओरौती की ओर आते हैं। ठाट<थट्ट[दे०]=[१] थाट, सजावट, [२] ठाट--छाजन का ढाँचा। छाज : [१]<छज्ज् [दे०]=शोभा देना, [२]<छादक=छज्जा। (८) छान्हि : [१]<छन्द=बन्धन, [२]<छादन=छप्पर।

अवधी-भोजपुरी क्षेत्रों की छाजन-संबंधी प्रक्रियाओं के संबंध में देखिए डॉ०हरिहरप्रसाद गुप्त लिखित 'ग्रामोद्योग शब्दावली' (पृ० ८२-९२) जिससे यहाँ भी सहायता ली गई है।

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा।
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई।
सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी।
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु सो घरी करै पिउ फेरा।
दहि कोइल भै कंत सनेहा। तोला माँसु रहा नहिं देहा।
रकत न रहा बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा।
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु जोरु रे नाहा।
बरिस देवस धनि रोइ कै हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूँछि कै पूँछै निसरी पाँखि॥ ३५७॥

अर्थ--(१) [नागमती ने] रो-रोकर [इस प्रकार] बारह मास गँवाए। एक-एक साँस में उसने हज़ार-हज़ार दुःख [सहे]। (२) एक-एक तिल (क्षण) [का समय] एक-एक वर्ष से भी अधिक हो कर बीतता था, और एक-एक प्रहर [जैसे] एक-एक युग में भी नहीं बीतता था। (३) किन्तु मुरारि (कृष्ण) रूप वह प्रिय नहीं आया जिससे वह स्त्री सौभाग्य पाती। (४) संध्या होने पर वह [और भी] संतप्त हो-हो कर उसका मार्ग देखती [और कहती,] "कौन सी घड़ी ऐसी आएगी जब प्रिय, तू लौटेगा? (५) मैं तेरे एकान्त स्नेह में दग्ध होकर कोकिला हो गई हूँ और देह में तोला भर मांस शेष नहीं है। (६) विरह में शरीर इतना गल गया है कि रक्त नहीं रहा है, वह घुँघुची [रक्तबिन्दु] होकर नेत्रों से ढलक गया है। (७) तेरी सेविका यह स्त्री तेरे पैरों लग कर 'हा हा' कर रही है; हे नाथ, तू तोड़े हुए स्नेह को जोड़।" (८) [इस प्रकार] एक वर्ष तक रो-रोकर और चित्त में संतप्त हो होकर वह स्त्री हार पड़ी, (९) और मनुष्यों से घर-घर प्रश्न करने के अनंतर पक्षियों से पूछने निकली।

टिप्पणी--(२) बरु<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक। सिराय्<सिर्<सृज्=छोड़ कर जाना, बीतना। (३)-(७) इन पंक्तियों में अनेक शब्द ऐसे आते हैं जो एक ओर नायिका का स्वपरक अर्थ देते हैं और दूसरी ओर सुनारी की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। (३) सोन=[१] वह नहीं, [२] सोना। रूप=[१] रूप, [२] रौप्य, चाँदी। सोहाग =[१] सौभाग्य, [२] सोहागा। सोनारी=[१] वह स्त्री, [२] सुनारिन। (४) झुर् <ज्वल्=[१] संतप्त होना, [२] जलना। घरी<घटिका=[१] घड़ी का समय, [२] घरिया=जिसमें सुनार धातु गलाता है। फेर=[१] वापसी, [२] फेरना, फिराना। (५) कोइल=[१] कोकिला, [२] कोयला। माँस=[१] मांस, [२] माशा की तौल। (६) रती<रक्तिका=[१] घुँघुची, [२] रत्ती की तौल। (७) चेरी<चेटी=सेविका। चूरा=[१] त्रुट, तोड़ा हुआ, [२] चूड=पैर की चूड़ियाँ। (८) झाँख्<झंख् [दे०] =संतप्त होना।

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिन सवति दीन्ह चिल्हवाँसू।
कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहूँ कागा।

हारिल भई पंथ में सेवा। अब तहँ पठवौं कौनु परेवा।
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रोख न दोसर नाऊँ।
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करै मेराउ सोइ गौरवा।
कोइल भई पुकारत रही। महर पुकारि लेहु रे दही।
पिअरे तिलोर आव जलहंसा। बिरहा पैठि हिएँ कट नंसा।
जेहि पंखी कहँ अढ़वौं कहि सो बिरह कै बात।
सोई पंखि जाइ डहि तरिवर होइ निपात ॥ ३५८ ॥

[नागमती-परक अर्थ]

अर्थ--(१) इस प्रकार प्रश्न करने वाली होकर उसने बनवास लिया, यह चिल्लवास उसे उसकी वैरिन सौत ने दिया था। (२) [उसने कहा,] "मेरे प्रिय, तू मेरे वर्ण को खरा करके कसने लगा है। यदि तू अब भी घर आ जाए, तो क्या गया [विगड़ा] है? (३) मैं तेरे पंथ का सेवन करते हुए हारी हुई हो गई; अब वहाँ (तेरे पास) कौन-सा सन्देश-वाहक भेजूँ? (४) मेरे शरीर में पांडुरता दौड़ गई है, भला तू [अब भी] अपना स्थान बता! यदि तेरे चित्त में [मेरे प्रति] रोष है, तो भी [मेरे मन में] दूसरा नाम नहीं है। (५) जिसको मैंने वाचा ग्रहण कर कंठ से 'प्रिय' कहा, वही गौरवपूर्ण तू [पुनः] मिलाप कर। (६) मैं तो तुझे पुकारते-पुकारते कोयला जैसी हो रही हूँ, ऐ महल्ल (स्वामी), तू पुकार ले, मैं दग्ध हो रही हूँ। (७) हे प्रिय, तू लोल है; हे [मेरे] जल के हंस, तू आ; विरह मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर कर्त्तन-युक्त नाश कर रहा है! (८) अपने पक्ष के जिस आदमी को मैं विरह की यह बात कह कर जाने के लिए नियुक्त करती हूँ, (९) वही मेरे पक्ष का आदमी [इस विरह-संदेश के जलते हुए होने से] जल जाता है, बल्कि [उस अग्नि में] तला जाकर वह निष्पन्न (नष्ट) हो जाता है।"

[पक्षी-परक अर्थ]

(१) वह मोरिनी हुई और उसने बनवास ले लिया। यह बनवास उसकी वैरिन सपत्नी चिल्हवाँस ने दिया था। (२) [उसने कहा,] "खरबान पक्षी [के रूप में] मुझे करके मेरा प्रिय मुझे कसने लगा है, किन्तु ऐ काग, वह अब भी घर आ जाए [तो कुछ बिगड़ा नहीं है]। (३) मैं हारिल होकर उसके मार्ग का सेवन कर रही हूँ; अब वहाँ (उसके पास) किस पारावत को भेजूँ? (४) ऐ श्वेत पंडुक, तू ही प्रिय के स्थान पर जा कर उससे कह, 'यदि तू चितरोख भी हो जाएगा, तो भी मैं दूसरा कोई नाम न लूँगी।' (५) ऐ बया, तू ही जा; ऐ लवा, यदि तू उसके गले को लेकर उससे मेरा मिलाप करा दे, तू [लवा नहीं] गौरवा है। (६) मैं कोयल होकर उसे पुकारती रही [किन्तु कोई परिणाम न निकला]; ऐ महरी, तू ही 'दही,' 'दही' कहकर उसे पुकार ले। (७) पीली तिलोर और जल हंस, तुम [दोनों] आओ; ऐ कटनांस, [तुम भी देखो न], मेरे हृदय में विरह प्रविष्ट हो गया है। (८) अपनी विरह-वार्ता कहकर मैं जिस पक्षी को भी [प्रिय के पास संदेश ले जाने को] कहती हूँ, (९) वही पक्षी [उस विरह-वार्ता की अग्नि में] जल जाता है, और [जिस] तरुवर [पर वह जा बैठता है, वह] पत्रहीन हो जाता है।"

टिप्पणी—यह छंद श्लिष्ट है। कवि ने पक्षियों की नामावली देते हुए नागमती का विरह-निवेदन प्रस्तुत किया है। ऊपर दोनों अर्थ दिए गए हैं। पहले नागमती परक और तदनंतर पक्षी परक। इसी क्रम से शब्दों के दोनों अर्थ भी नीचे दिए जा रहे हैं। (१) पुछारि=[१] पूछनेवाली, [२] पिच्छालु, मयूर। चिल्हवाँस–[१] चिल्लवास–चिल्ल नामक वृक्ष का निवास, [२] चील्ह की जाति का एक पक्षी। खरबान–[१] खर-वर्ण, खराबान, [२] खरबान नाम का पक्षी। काग [१] क्या गया है ? [२] कौआ। (३) हारिल–[१] हारी हुई [२] हारिल पक्षी। परेवा<पारेवय=पारावत–[१] संदेशवाहक, [२] पारावत, कबूतर। पंडुक–[१] पांडु वर्ण की, [२] पंडुक पक्षी। (४) चितरोख–(१) चित्त में रोष, [२] चितरोख नाम का पक्षी। (५) बया–[१] वचस, वाचा, (२) एक पक्षी। लवा–(१) लप्=कहा, (२) लवा नाम की चिड़िया। गौरवा–(१) गौरवयुक्त, (२) गौरैया। (६) महर–[१] महल्ल, महत्=स्वामी : [तुल० दसवँ दाँवके गा जो दसहरा, पल का सोइ नाउँ लै महरा।] (४२४.३।(२) एक-पक्षी। दही–[१] दग्ध हुई, [२] महर पक्षी की आवाज [तुल० दही दही कै महरि पुकारा—२९.६] (७) पिअर तिलोर–[१] रे रति-लोल, प्रिय [२] पीला तिलोर नामक पक्षी। कट नैसा–[१] कर्त्तन युक्त नाश, [२] कटनास : एक पक्षी। (८) पंखी< पक्षिन्=[१] पक्ष का व्यक्ति। अढव्–किसी कार्य के लिए नियुक्त करना। तरिवर्= [१] वरन् तला जाकर [२] पक्षी। (२) तरुवर। निपात–(१) नष्ट, [२] निष्पत्र, पत्रहीन।

कुहुकि कुहिक जसि कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई।
पै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचिन्ह कै रासी।
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ। गुंजा गुंजि करहिं पिउ पिऊ।
तेंहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते।
राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता।
ना पावस ओहि देसरें ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहा रा केहि सुनि आवहि कंत ॥३५९॥

अर्थ—(१) वह कूक लगा-लगा कर कोयल के समान रोई, और उसने रक्त के आँसू गिरा कर [मानो] वन में घुंघुची बो दी; (२) किन्तु वह [विरह-तप्ता] नेत्र और शरीर से राती [होती हुई] भी काले मुख की बनी रही [क्योंकि उसे उसका प्रिय नहीं मिला]। उस विरह-दुःख-तप्ता को कौन शीतल करता ? (३) वह वनवासिनी जहाँ-जहाँ खड़ी होती, वहाँ वहाँ [उसके रक्त के आँसुओं के कारण] घुंघचियों की राशि हो जाती। (४) [आँसुओं की] एक-एक बूंद में मानो जीव था, और वे बूंदें घुंघुचियाँ [बन कर] मानो गूंज गूंज कर 'प्रिय', 'प्रिय' कर (कह) रही थीं। (५) उसके [विरह] दुःख से दग्ध होकर पलाश पत्रहीन हो गए, [किन्तु पुनः] उस रुधिर में डूबकर (लाल पुष्पों से लदकर) चमकीले हो उठे। (६) बिम्ब (कुंदरू के पके फल)

उसी रुधिर से रक्त हो गए, परवल भी उसी से पक [कर लाल हो] गया, और गेहूँ का हृदय फट गया। (७) जहाँ भी देखिए (वहाँ) वही लाल हो रहा है, फिर भी जहाँ वह रत्न (रत्नसेन) था, वहाँ जाकर कौन यह बात कहता ? (८) [वह कहने लगी] "उस देश में न वर्षा होती है, न हेमंत और न वसंत, (९) और न वहाँ कोकिल और पपीहे होते हैं, इसलिए किसे सुनकर मेरा कान्त आवे ?"

टिप्पणी—(२) रात<रत्त<रक्त=लाल। सिराव्<सिअराव्<शीतलय्=शीतल करना। तात<तत्त=तप्त। (४) गुंजा–घुँघुची। (५) डह्<दाह्=दग्ध होना। निपात <निष्पन्न। बूड़<बुड्ड ब्रुड्<डूबना। प्रभात=चमकीला। (८) पावस<प्रावृट्=वर्षा॥ देसरा < देश + डा=देश। हेवंत<हेमन्त।

फिरि फिर रोई न कोई डोला। आधी राति बिहंगम बोला।
तैं फिरि फिरि दाधे सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जौं कंत बिछोई।
मन चित हुतें न बिसरै भोरैं। नैन क जल चखु रहै न मोरैं।
कहिसि जात हौं सिंघल दीपा। तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा।
जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सँदेस न काहू।
निति पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु बात न कहै बिहंगम।
चारिउ चक्र उजारि भे, सकसि सँदेसा टेकु।
कहौं बिरह दुख आपन बैठि सुनहि डँड एकु॥३६०॥

अर्थ—(१) वह (नागमती) बार-बार [इसी प्रकार] रोई, किन्तु कोई भी [उसके इस करुण क्रन्दन पर] हिला नहीं (द्रवित नहीं हुआ)। तब आधी रात को एक पक्षी बोला, (२) "तू ने बार-बार समस्त पक्षियों को दग्ध किया, तो ऐसा कौन-सा दुःख है जिससे तू रात को भी आँख नहीं लगाती (सोती नहीं) है ? (३) [यह प्रश्न सुनकर] नागमती कारणा करके (वेदना युक्त स्वर में) रो उठी (और कहने लगी) "यदि कोई स्त्री कान्त से वियुक्ता है, तो वह क्या (किस प्रकार) सोवे ? वह [प्रिय] मन-चित्त से भूलकर भी विस्मृत नहीं होता है, और मेरे नेत्रों का जल चक्षुओं में नहीं रह पाता है। (५) [उस कान्त ने] कहा था, 'मैं सिंहल द्वीप जा रहा हूँ।' उसी स्वाती (कान्त के दर्शन) के लिए मेरे नेत्र सीप बने हुए हैं। (६) जबसे वह नाथ योगी होकर निकल गया, तबसे उसने किसी से [अपना] संदेश नहीं कहा। (७) मैं नित्य ही समस्त योगियों और जंगमों से पूछती हूँ, किन्तु, ऐ विहग, कोई ठिकाने की बात [उसके विषय में] नहीं कहता है। (८) [मेरे लिए अब] पृथ्वी के चारों चक्र उजाड़ (निर्जन) हो गए हैं, [क्योंकि कोई मेरे दुःख को सुनने वाला नहीं है] और यदि तुझसे हो सके, तो तू मेरा संदेश सँभाल, (९) मैं अपना विरह-दुःख तब कहूँ, यदि एक दंड तक तू बैठकर उसे सुन।"

टिप्पणी—(२) दाध्=दग्ध करना। (३) कारन<कारणा=पीड़ा, वेदना। (४) बिसर्<विस्सर<विस्मृ = भूलना। (५) सीप<सुत्ति<शुक्ति=सीपी। (७) जंगम= शैवसाधु। निजु=ठिकाने की, प्रामाणिक। (९) डँड<डंड<दण्ड=घड़ी।

तासौं दुख कहिए हो बीरा । जेहि सुनि कै लागै पर पीरा ।
को होइ भीवँ दंगवै परिगाहा । को सिंघल पहुँचावै चाहा ।
जहाँ सो कंत गए होइ जोगी । हौं किंगरी भै झुरौं बियोगी ।
ओहूँ सिंगी पूरै गुरु भेंटा । हौं भै भसम न आइ समेटा ।
कथा जो कहै आइ पिय केरी । पाँवरि होउँ जनम भरि चेरी ।
ओहि के गुन सँवरत भै माला । अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला ।
बिरह करोइ खपर कै हिया । पवन अधारि रहा होइ जिया ।
हाड़ भए झुरि किंगरी नसैं भईं सब ताँति ।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै कहेसु बिथा एहि भाँति ॥३६१॥

अर्थ--(१) "हे भाई, दुःख उससे कहना चाहिए जिसे सुनने के अनंतर अन्य की पीड़ा का अनुभव होता हो। (२) भीम होकर कौन दंगवै को स्वीकार करेगा ? मेरी चाह (खबर) कौन सिंहल को ले जाएगा ? (३) जहाँ (जब कि) मेरे कान्त योगी होकर गए हैं, मैं वियोगिनी [उनके वादन के लिए] किन्नरी वीणा होकर सन्तप्त हो रही हूँ। (४) जहाँ (जब कि) वह सिंगी पूर रहे और गुरु (प्रेमिका) से मिल रहे हैं, मैं [उनके शरीर पर लगने के लिए] भस्म हो चुकी हूँ, [यद्यपि] वे आकर मुझ भस्म को समेट नहीं रहे हैं। (५) मेरे प्रिय की कथा जो आकर मुझसे कहे, मैं उसकी पाँवरी (जूती) और जन्म-भर की सेविका होने के लिए प्रस्तुत हूँ। (६) उस [प्रिय] के गुणों का स्मरण करते-करते मैं [उसके योग्य] जपमाला बन गई हूँ। वह अब भी नहीं वापस हुआ है यद्यपि मेरी खाल [वन-वन भटकते हुए] उधड़ गई है [और वह उस योगी के लिए उपयुक्त चर्म बन गई है]। (७) विरह को करोई (नारियल का करवा) और हृदय को खप्पर करके, मेरा जीव अब पवन का आधारी हो रहा है। (८) मेरी हड्डियाँ ही सूख कर [उसके वादन के लिए उपयुक्त] किन्नरी वीणा बन गई हैं, मेरी नसें उसकी ताँतें हो गई हैं, (९) और मेरे शरीर के रोम-रोम से [उस किंगरी की] ध्वनि उठ रही है, इस प्रकार तुम मेरी व्यथा [मेरे कान्त से] कहना।"

टिप्पणी--(१) बीर=भाई। (२) को होइ भीवँ दंगवै परिगाहा=कौन भीम होकर दंगवै को स्वीकार करेगा [परिगाह् <पडिगाह् <प्रति+ग्रह्=ग्रहण करना, स्वीकार करना]: भीम ने दंगवै को किस प्रकार अंगीकार किया था, इसके लिए दे० १९६.९ की टिप्पणी तथा 'पद्मावत में भीम और दंगवै' शीर्षक प्रस्तुत लेखक का लेख 'हिंदी अनुशीलन', भाग ११, पृ० १२। दंगवै: मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ् 'अंगवै' था, इस 'अंगवै' के स्थान पर 'दंगवै' के सुझाव के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का आभारी हूँ, यद्यपि अर्थ के संबंध में उनसे मेरा मतभेद है। चाह=कुशल-समाचार, खबर। (३-९) इन पंक्तियों में नागमती कहना चाहती है कि योग के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है वे सभी अब मेरे जीवन में आ गए हैं, और उन्हें मेरा कान्त मुझमें ही प्राप्त कर सकता है। (३) किंगरी<किन्नरी=एक प्रकार की सारंगी जो ताँतों की बनी होती है और योगियों के द्वारा बजाई जाती है। झुर्<ज्वल्=सूखना, संतप्त होना। (४) सिंगी<शृंग=सींग का बाजा। यह भी योगियों के द्वारा बजाया जाता है। पूर्<पूरय्=पूरना,

फूंक कर बजाना। भसम<भस्म–विभूति, राख, जो योगियों के द्वारा शरीर पर मली जाती है। (५) पाँवरि<पादत्री=जूती, एक प्रकार की जूती या खड़ाऊँ जो योगियों के द्वारा पैरों में पहनी जाती है। चेरी=चेटी=सेविका। (६) माला : वह माला जो जयमाला के रूप में योगियों द्वारा फेरी जाती है। छाला<खल्ला [दे०]=चर्म, हिरन की खाल, जिसे योगी आसन लगाने के लिए साथ रखते हैं। (७) करोइ<करव<करक=जलपात्र, उदपान, नारियल का जलपात्र जिसे योगी लिए रहते हैं। खपर<खप्पर<कर्पर=भिक्षापात्र, जिसे योगी साथ रखते हैं। अधारि=[१] आधार लेने वाला, [२] अधारी=वह लकड़ी जिसको योगी बैठने के समय टेकते हैं। (८) ताँति<तंत<तंत्र = किंगरी में लगा हुआ चमड़े का तार, जिस पर उसी प्रकार के ताँत की धनुही के रगड़ने से स्वर निकलता है।

रतनसेनि कै माइ सुरसती। गोपीचँद जसि मैनावती।
आँधरि बूढ़ि सुतहि दुख रोवा। जोबन रतन कहाँ मुँइ टोवा।
जोबन अहा लीन्ह सो काढ़ी। मैं बिनु टेक करै को ठाढ़ी।
बिनु जोबन भौ आस पराई। कहाँ सपूत खाँभ होइ आई।
नैनन्ह दिस्टि त दिया बराहीं। घर अँधियार पूत जौं नाहीं।
को रे चलाव सरवन के ठाँऊ। टेक देहि ओहि टेकौं पाऊँ।
तुम्ह सरवन होइ काँवरि सजी। डारि लाइ सो काहे तजी।
सरवन सरवन कै ररि मुई सो काँवरि डारहि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावै दसरथ लावै आगि ॥३६२॥

अर्थ—(१) रत्नसेन की माता सरस्वती थी, जैसी गोपीचन्द की मैनावती थी। (२) वह अंधी और बूढ़ी थी और पुत्र [के वियोग] के दुःख से रोती रहती थी; वह इसलिए भूमि को टटोलते [हुए चलती] थी, कि उसका यौवन का रत्न (रत्नसेन) कहाँ है, उसे यह पता लग जाए। (३) [वह कहने लगी,] "मेरे पुत्र ने मेरा यौवन निकाल (छीन) लिया; अब मैं बिना टेक (सहारे) की हो गई। मुझे कौन खड़ा करेगा? (४) बिना यौवन के मैं पराये [के आसरे] की मुहताज हो गई हूँ। हे मेरे सुपुत्र, तू कहाँ है? मेरा खंभा (मेरी लकड़ी) बनकर आ जा! (५) नेत्रों में दृष्टि होती है तो दीपक जलते हैं (दीपकों का जलना भी सार्थक होता है); जब पुत्र ही नहीं [तो दृष्टि नहीं और] तब सारा घर अंधकारपूर्ण है। (६) मुझे मेरे श्रवण कुमार के पास कौन ले चलेगा? जो मुझे यह टेक (सहारा) दे, उसके पैर मैं टेकूँ (पकड़ूँ)। (७) हे पुत्र, तुमने श्रवण कुमार होकर काँवर साजी थी, तो उसे डाल से लगाकर क्यों छोड़ गए? (८) मैं तेरी माता 'श्रवण' 'श्रवण' रटती हुई मर रही हूँ, मेरी काँवर डाल से ही लगी पड़ी हुई है, (९) तुम्हारे बिना मैं पानी नहीं पा (पी) सकती हूँ, भले ही दशरथ मुझे चिता पर [रखकर] जला दे!"

टिप्पणी—(१) गोपीचंद्र–मैनावती : गोपीचंद बंगाल के राजा थे, जो योगी हो गए थे, मैनावती उन्हीं की माता थीं। उन्हीं के उपदेश से गोपीचंद योगी हुए थे। [दे० गोपीचंद जी की सबरी–सिद्ध सिद्धान्त पद्धति–पूना संस्करण, पृ० ८९] (३) काढ़<

कड्ढ <कृष्=खींचना, निकालना। (४) खाँभ<स्कम्भ=खंभ। (५) दिया<दीअअ <दीपक। बर<बल्<ज्वल्=जलना। अँधिआर<अन्धकार। (६)-(९) सरवन: श्रमण मुनि, जिनके दशरथ द्वारा मारे जाने की कथा 'वाल्मीकि रामायण' अयोध्याकांड, सर्ग ६३–६४ में दी हुई है। [लोक कथा के अनुसार श्रमण अपने वृद्ध और अन्धे माता-पिता को एक काँवर के सहारे कंधे पर लटकाए फिरते थे। एक बार उनके लिए पानी लाने को वे सरयू तट पर गए। दशरथ वहीं आखेट के लिए गए हुए थे। जलपात्र के जल में डूबने का जो शब्द हुआ उससे किसी जन्तु का सन्देह कर दशरथ ने शब्द-वेध किया जिससे श्रमण का देहान्त हो गया। पीछे दशरथ को जब यह ज्ञात हुआ, वे स्वयं श्रमण के माता पिता के पास जल लेकर गए और उनसे उन्होंने सारी घटना बताई। किन्तु माता-पिता ने दशरथ के हाथ से जल नहीं ग्रहण किया। दशरथ उन्हें वहाँ लिवा गए जहाँ श्रमण का शव था, और उस शव का स्पर्श कर उन्होंने प्राण त्याग दिए। दशरथ ने दाह कर्म किया। (७-८) काँवरि<कम्बि+डी=बाँस की एक फट्टी जिसे दोनों ओर बोझ लटका कर कंधे पर रख लिया जाता है। डारहि लागि : डाल से लगी हुई। कहा जाता है कि श्रवण उस काँवर को एक पेड़ की डाल में लटकाकर पानी लेने गए थे।

लै सो सँदेस बिहंगम चला। उठी आगि मनसा सिंवला।
बिरह बजागि बीच को थेघा। धूम जो उठे स्याम भए मेघा।
भरि गा गँगन लूकि तसि छूटी। होइ सब नखत गिरहिं भुइँ टूटी।
जहँ जहँ पुहुमी जरी भा रेहू। बिरह के दगध होइ जनि केहू।
राहु केतु जरि लंका जरी। औ उड़ि चिनगि चाँद महँ परी।
जाइ बिहंगम समुँद डफारा। जरे माँछ पानी भा खारा।
दाधे बन तरिवर, जल सीपा। जाइ नियर भा सिंघल दीपा।
समुँद तीर एक तरिवर जाइ बैठ तेहि रूख।
जब लगि कह न सँदेसरा ना ओहि प्यास न भूख ॥३६३॥

अर्थ—(१) उस संदेश को लेकर वह पक्षी चल पड़ा; जब उसने सिंहल [जाने के] लिए मन में संकल्प किया, [उसके शरीर में] आग उठ पड़ी। (२) उस विरह की वज्राग्नि को बीच में [अन्य] कौन थामता? उससे जो धुआँ उठा, उससे बादल काले हो गए। (३) [उस आग से] ऐसे लूक (लुकारे) छूटे कि आकाश भर गया, और वे [तदनंतर] नक्षत्र हो होकर टूटकर भूमि पर [उल्का के रूप में] गिरने लगे। (४) [उससे] जहाँ-जहाँ पर पृथ्वी जल गई, रेह हो गई; विरह के दाह में किसी प्रकार की [वस्तु] न पड़े! (५) राहु और केतु जल गए तथा लंका जल गई और उस आग की चिनगारी उड़कर चन्द्रमा में पड़ गई [जिससे वह जलकर कुछ अंशों में काला हो गया] (६) वह पक्षी (जब) समुद्र तट पर [पहुँचकर] डफार छोड़कर रोया, तो उसके मच्छ जल गए और उसका जल खारा हो गया। (७) बन के तरुवर और जल की सीपियाँ दग्ध हो गए। तदनंतर वह जाकर सिंहल द्वीप के निकट पहुँचा। (८) समुद्र तट पर एक बड़ा वृक्ष था। उसी वृक्ष पर वह जा बैठा; (९) जब तक वह सन्देशा न कह लेता, उसे न प्यास थी और न भूख।

टिप्पणी--(१) मनस्=मन में संकल्प करना। (२) बजागि< बज्रागिन। थेघ्=थामना, टेकना। (३) लूक<लुक्क<उल्का। (४) रेह=एक प्रकार का क्षार जो ऊसरों में होता है। केह <कीदृश्=कैसा, किसी प्रकार का। (५) चिनगी=चिनगारी। (६) डफार्=डफार (पुकार) छोड़ कर रोना, उच्च स्वर से रोना। (८) रूख<रुक्ख<वृक्ष।

रतनसेनि बन करत अहेरा। कीन्ह ओहिं तरुवर तर फेरा।
सीतल बिरिछ समुँद के तीरा। अति उतंग औ छाँह गँभीरा।
तुरै बाँधि कै बैठु अकेला। औरु जो साथ करैं सब खेला।
देखेसि फरी जो तरिवर साखा। बैठि सुनहि पाँखिन्ह कै भाखा।
उन्ह महँ ओहि बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा।
पूँछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मींत काहे तुम्ह स्यामा।
कहेसि मींत मासक दुइ भए। जंबू दीप तहाँ हम गए।
नगर एक हम देखा गढ़ चितउर ओहि नाउँ।
सो दुख कहौं कहाँ लगि हम दाधे तेहि ठाउँ ॥३६४॥

अर्थ--(१) रत्नसेन ने वन में आखेट करते-करते [संयोग से] उस बड़े वृक्ष के नीचे फेरा किया (चक्कर लगाया)। (२) समुद्र के तट पर वह शीतल [छायावाला] वृक्ष था; वह अत्यधिक उत्तुंग (ऊँचा) था और उसकी छाया गहरी [घनी] थी। (३) तुरग (घोड़ा) बाँधकर वह वहाँ अकेला जा बैठा, और जो सार्थ (जन-समूह) था, वह सब खेल (आखेट) करता रहा। (४) जो उसने उस तरुवर की फली हुई शाखाएँ देखीं वह वहाँ बैठ कर पक्षियों की बातें सुनने लगा। (५) और उन [पक्षियों] में वह पक्षी था जिससे नागमती ने अपना दुःख कहा था। (६) सभी विहंग-नामधारी उससे पूछने लगे, "अहो मित्र, तुम काले क्यों [हो गए] हो ?" (७) उसने [उत्तर में] कहा, "हे मित्र, कोई दो मास हुए मैं जम्बू द्वीप गया। (८) (वहाँ) मैंने एक नगर देखा, उसका नाम चित्तौर गढ़ है। (९) वह दुःख मैं कहाँ तक कहूँ ? मैं उसी स्थान पर [इस प्रकार] दग्ध हो गया।"

टिप्पणी--(१) अहेर<आखेट=शिकार। (२) उतंग<उत्तुंग=अत्यधिक ऊँचा। (३) तुरिअ<तुरय <तुरग=घोड़ा। साथ<सत्थ<सार्थ=जन-समूह। (४) बिहंगम <विहग=पक्षी। (९) दाध=दग्ध होना।

जोगी होइ निसरा जो राजा। सून नगर जानहुँ धुँध बाजा।
नागमती है ताकरि रानी। जरि बिरहैं भै कोइलि बानी।
अब लगि जरि होइहि भै छारा। कहि न जाइ बिरहा कै झारा।
हिया फाट वह जबहिं कुहूकी। परे आँसु होइ होइ सब लूकी।
चहुँ खँड छिटकि परी वह आगी। धरती जरत गँगन कहँ लागी।
बिरह दवा अस को रे बुझावा। चहै लागि जरि हियरें घावा।
हौं पुनि तहाँ डहा दव लागा। तन भा स्याम जीव लै भागा।
का तुम्ह हँसहु गरब कै करहु समुँद महँ केलि।
मति ओहि बिरहे बसि परहु दहै अगिनि जल मेलि ॥३६५॥

अर्थ— "(१) वह (वहाँ का) राजा योगी होकर निकल पड़ा, और वह नगर ऐसा सूना हो गया मानो वहाँ धुंध बज रहा हो। (२) नागमती उसकी रानी है, वह उसके विरह में जलकर कोकिला के वर्ण की हो गई। (३) वह अब तक जलकर राख हो गई होगी। उसकी विरह की ज्वाला (आँच) ऐसी है कि कही नहीं जाती है। (४) जब वह कुहकी, उसका हृदय फट गया, और उसके समस्त आँसू लूक (उल्का) हो-होकर गिरे। (५) वह आग चारों ओर छिटक पड़ी और धरती के जलते-जलते आकाश में लग गई। (६) ऐसी विरह की दावाग्नि को कौन बुझाए जो [दावाग्नि] जलकर उसके हृदय में भी लगा चाहती थी, जो [उसे बुझाने के लिए] दौड़ता? (७) उस दावाग्नि के लगने से मैं भी दग्ध हो गया, मेरा शरीर श्याम (काला) हो गया और मैं अपना जीव लेकर भाग आया। (८) तुम [इसलिए] गर्व करके क्या हँस रहे हो कि समुद्र में केलि कर रहे हो? (९) यदि कहीं उस विरह [की अग्नि] के वश में पड़ गए, तो वह [समुद्र के] जल में भी अग्नि डालकर [उत्पन्न कर] तुम्हें जला देगी।"

टिप्पणी—(१) सून<शून्य=सूना। धुंध=धुंधलापन। (२) बान<वण्ण< वर्ण। (३) छार<क्षार=राख। झार<ज्वाला=आँच। (४) लूकी<लुक्क< उल्का। (७) डह्<दह=दग्ध होना। (९) मेल्<मेलय्=मिला, डालना।

सुनि चितउर राजैं मन गुना। बिधि सँदेस मैं कासौं सुना।
को तरिवर अस पंखी भेसा। नागमती कर कहै संदेसा।
को तूँ मींत मन चित्त बसेरू। देव कि दानौ पौन पखेरू।
रुद्र ब्रह्म सौ बाचा तोही। सो निजु अंत बात कहु मोही।
कहाँ सो नागमती तुइँ देखी। कहेसु बिरह जस मरन बिसेखी।
हौं राजा सोई भा जोगी। जेहि कारन वह ऐसि बियोगी।
जस तूँ पंखि हौहुँ दिन भरऊँ। चाहौं कबहुँ जाइ उड़ि परऊँ।
पंखि आँखि तेहि मारग लागी दुनहुँ रहाहिं।
कोइ न सँदेसी आवहिं तेहि क सँदेस कहाहिं ॥३६६॥

अर्थ—(१) चित्तौड़ का नाम सुनकर राजा (रत्नसेन ने) मन में विचार करने लगा, "हे विधि, यह सन्देश मैं किससे सुन रहा हूँ? (२) तरुवर पर कौन पक्षी के वेष में होकर नागमती का सन्देश कह रहा है? (३) हे मित्र, मेरे मन और चित्त में निवास करने वाला तू कौन है? देव है, दानव है, या पवन का पक्षी है? (४) तुझे रुद्र और ब्रह्मा की सौ शपथ है, कि तू बिलकुल अन्त (तथ्य) की बात मुझ से कहे। (५) उस नागमती को तूने कहाँ देखा [यह बतला], क्योंकि तूने उसके विरह का ऐसा वर्णन किया है जैसे मरण का किया हो। (६) मैं वही राजा हूँ जो योगी हो गया है, और जिसके कारण वह ऐसी वियोगिनी हो रही है! (७) जिस प्रकार तू उसी प्रकार, ऐ पक्षी, मैं भी अपने दिन भर (काट) रहा हूँ, और चाहता हूँ कि कभी उड़कर वहाँ जा पड़ूँ। (८) हे पक्षी, मेरी आँखें उसी मार्ग में लगी रहती हैं, और रात-दिन स्थिर नहीं रहती हैं, (९) कोई संदेश-वाहक ऐसे नहीं आते हैं जो उसका संदेश कहें।"

टिप्पणी—(१) गुन्<गुणय्=विचार करना, अनुमान करना। (३) पंखेरू<पक्ष-

धर=पक्षी। (४) हरि : इसके स्थान पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'सिव' का सुझाव दिया है और चरण का अर्थ किया है : तेरा वचन रुद्र और ब्रह्मा की कल्याणमयी वाणी है। किन्तु 'तोहि' : 'तुझे' है, 'तेरी' नहीं। निजु : ठीक-ठीक, बिल्कुल। (५) बिसेख्<विशेषय्=विशेष-युक्त करना, विशेषताएँ बताना।

पूँछसि काह सँदेस बियोगू। जोगी भया न जानसि जोगू।
दहिने संख न सिंगी पूरै। बाएँ पूरि बादि दिन झूरै।
तेलि बैल जस बाएँ फिरै। परा भौंर महँ सौंह न तिरै।
तुरी औ नाव दाहिन रथ हाँका। बाएँ फिरै कोंहार क चाका।
तोहि अस नाहीं पंखि भुलाना। उड़ै सो आदि जगत महँ जाना।
एक दीप का आवउँ तोरे। सब संसार पाव तर मोरे।
दहिनँ फिरै सो अस उजिआरा। जस जग चाँद सुरुज औ तारा।
मुहमद बाइँ दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि ॥३६७॥

अर्थ— (१) [पक्षी ने उत्तर दिया] "तू वियोग का संदेश क्या पूछता है ? योगी तू भले ही हो गया किन्तु [सचमुच] योग नहीं जानता है। (२) [मुख की] दाहिनी ओर से न तू शंख फूंकता (बजाता) है और न सिंगी; बाईं ओर फूंक लगाकर तू व्यर्थ ही अपने दिन गंवा रहा है। (३) तू तेली के बैल के जैसे बाएँ फिर रहा है, तू भँवर में पड़ गया है और सम्मुख नहीं तिर (तैर) रहा है [कि पार लग जाता]। (४) घोड़ा, नाव, और रथ दाहिने हाँके जाते हैं, कुम्हार का चक्र ही बाएँ फिरता है। (५) पक्षी तेरी भाँति भुलाया (भूला) हुआ नहीं है, वह उड़-उड़ कर जगत् में जो आदि (मूल) तत्त्व है उसको जानता है। (६) क्या मैं तेरे एक [इसी] द्वीप में आ रहा हूँ ? समस्त संसार मेरे पैरों के नीचे है। (७) जो दाहिने फिरता है, वह इस प्रकार उज्ज्वल होता है, जिस प्रकार जगत् में चन्द्र, सूर्य और तारक गण होते हैं। (८) मुहम्मद (जायसी) ने बाईं ओर एक कान और एक आँख त्याग दिए; (९) जब से वह दक्षिण होकर [प्रियतम से] मिला है, उसका बोल पपीहा पक्षी का ('प्रिय', 'प्रिय') हो गया है।"

टिप्पणी—(२) पूर्<पूरय्=फूंक भरना, बजाना। बादि=व्यर्थ ही। झूर<ज्वल्=संतप्त होना। (३) तिर्<तॄ=तैरना। (४) चाक<चक्क<चक्र=चक्का। (७) उजिआर=उज्ज्वल। (९) पाँखी<पंखि<पक्षिन्। इस छंद में जायसी ने वाम मार्ग की निन्दा की है। और दक्षिण अर्थात् प्रेम, उपासना और भक्ति के मार्गों का समर्थन किया है।

हौं ध्रुव अचल सो दाहिन लावा। फिरि सुमेरु चितउर गढ़ आवा।
देखेउँ तोरे मँदिल घमोई। माता तोरि आँधरि भै रोई।
जस सरवन बिनु अंधी अंधा। तस ररि मुई तोहि चित बंधा।
कहेसि मरौं अब काँवरि रेंई। सरवन नाहिं पानि को देई।
गई पियास लागि तेहि साथाँ। पानि दिहें दसरथ के हाथाँ।
पानि न पियै आगि पै चाहा। तोहि अस पूत जरम अस लाहा।

भागीरथी होइ करु फेरा । जाइ सँवारु मरन कै बेरा ।
तूँ सपूत मनि ताकरि अस परदेस न लेहि ।
अब ताईं मुई होइहि मुएहुँ जाइ गति देहि ॥३६८॥

अर्थ-- "(१) पहले तो मैंने अचल ध्रुव को दहिने छोड़ा, तदनंतर सुमेरु से घूमकर मैं चित्तौरगढ़ में आया । (२) तेरे मंदिर में मैंने धमोई [उगी] देखी [ऐसा उजाड़ वह हो गया है], तेरी माता रो-रोकर अंधी हो गई है । (३) जिस प्रकार श्रमण के बिना उनके अंधे माता-पिता हो गए थे, वैसी ही वह भी तुझसे चित्त के बँधे होने के कारण रटती-रटती मर रही है । (४) उसने कहा, 'मेरी काँवर टँगी हुई है और मैं मर रही हूँ, मेरा श्रमण नहीं है तो कौन मुझे पानी दे ?' (५) उसकी प्यास उस [श्रमण] के साथ लगी हुई चली गई है, और दशरथ के हाथ से पानी दिए जाने पर (६) वह पानी नहीं पी रही है, हो न हो [उस दशरथ से] आग ही चाहती है; तेरे ऐसे पुत्र के जन्म से उसे यह लाभ हो रहा है ! (७) तू भला भागीरथी ही होकर फेरा कर, और मरण की वेला में उसका [परलोक] सँवार । (८) तू उसका सुपुत्र-मणि है, तू इस प्रकार परदेश को न [अपना] (९) अब तक तो वह मर चुकी होगी, भला उसके मरने ही पर जाकर उसे गति दे !"

टिप्पणी--(२) धमोई<धम्मोई [दे०]=तृण-विशेष, एक घास जो प्रायः खँडहरों और परित्यक्त स्थानों में होती है । (३) = (६)सरवन<श्रमण=श्रमण की कथा के लिए छंद ३६२ की टिप्पणी देखिए । (४) रेँव्=टाँगना, लटकाना : लोक कथा के अनुसार श्रमण अपने अंधे-माता-पिता की काँवर एक डाल से लटकाकर उनके लिए पानी लेने गया था । (६) जरम<जन्म । (७) भागीरथी : गंगा जो भगीरथ के प्रयत्नों से सगर के पुत्रों का उद्धार करने के लिए पृथ्वीतल पर आई थीं । [गंगावतरण की कथा के लिए दे० वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग ४२, ४३] ।

नागमती दुख बिरह अपारा । धरती सरग जरैं तेहि झारा ।
नगर कोट घर बाहिर सूना । नौजि होइ घर पुरुख बिहूना ।
तूँ काँवरू परा बस लोना । भूला जोंग छरा जनु टोना ।
ओहि तोहि कारन मरि भै बारा । रही नाग होइ पवन अधारा ।
कह चील्हन्ह पिय पहँ लै खाहू । माँसु न कया जो रूचैं काहू ।
बिरह मँजूर नाग वह नारी । तूँ मँजार करु बेगि गोहारी ।
माँसु गरा पाँजर होइ परी । जोगी अबहुँ पहुँचु लै जरी ।
देखि बिरह दुख ताकर मैं सो तजा बनबास ।
आएँउ भागि समुँद टट तउअ न छाँड़ैं पास ॥३६६॥

अर्थ-- "(१) नागमती का विरह-दुःख अपार है, जिसकी आँच में धरती और आकाश जल रहे हैं । (२) नगर और परकोटा, घर तथा बाहर सब सूने हो गए हैं; [भगवान करे,] कोई घर पुरुष-विहीन न हो ! (३) तू [जैसे] कामरूप में आकर लोना के वश में पड़ गया, योग तुझे विस्मृत हो गया, और मानो तू टोना (तंत्र-मंत्र) से छल लिया गया । (४) वह बाला तेरे कारण मृत हो गई है ? अब (नागमती) नाग होकर पवन के आधार पर जी रही है । (५) वह चील्हों से कहती है, "प्रिय के पास ले [जा] कर मुझे

खाओ," किन्तु उसकी काया में मांस ही [शेष] नहीं है कि किसी को वह रुचे ।(६) वह नारी (नागमती) नाग है, और विरह उसके लिए मयूर हो रहा है; तू मार्जार [बन कर] शीघ्र उसकी रक्षा के लिए पहुँच। (७) उसका मांस गल गया है और वह ठठरी मात्र हो रही है; ऐ योगी, तू अब भी [इस भयानक रोग से उसे मुक्ति दिलाने के लिए] जड़ी लेकर पहुँच। (८) उसका विरह-दुःख देखकर मैंने उस वन का [जहाँ वह मुझे मिली थी] निवास छोड़ दिया, (९) मैं समुद्र-तट पर भाग आया, किन्तु तब भी वह [उसका विरह-दुःख] मेरा पास नहीं छोड़ रहा है [साथ-साथ लगा हुआ है] ।"

टिप्पणी—(१)झार<ज्वाला।(२)सून<शून्य=निर्जन। नौजि<नैव=नहीं ही। (३) काँवरू<कामरूप। लोना=कामरूप की एक चमारिन जो टोने-टोटके के लिए लोक-परंपरा में प्रसिद्ध रही है। टोना<तंत्र। (४) बारा<बाला। (६)मँजूर<मयूर। मँजार<मार्जार=बिल्ली। गोहारी<गो+आकार=गाय की पुकार, रक्षा के लिए की गई हकार। (७) पाँज <पञ्जर। (९) टट< तट। तउअ=तब भी।

अस परजरा बिरह कर कठा। मेघ स्याम भै धुआँ जो उठा।
दाधे राहु केतु गा दाधा। सूरज जरा चाँद जरि आधा।
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक धरनि महँ परहीं।
जरी सो धरती ठाँवहिं ठाँवाँ। ढंख परास जरे तेहि दावाँ।
बिरह साँस तस निकसै झारा। धिकि धिकि परबत होहिं अँगारा।
भँवर पतंग जरे औ नागा। कोइलि भुँजइल औ सब कागा।
बन पंखी सब जिउ लै उड़े। जल पंखी जरि जल महँ बुड़े।
हँहूँ जरत तहँ निकसा समुँद बुझाएउँ आइ।
समुँदौ जरा खार भा पानी धूम रहा जग छाइ ॥३७०॥

अर्थ—"(१) उसका विरह का कष्ट इस प्रकार प्रज्वलित हुआ, कि [उसके प्रज्वलित होने से] जो धूम उठा, उससे मेघ श्याम हो गए। (२) राहु दग्ध हो गया और केतु भी दग्ध हो गया, सूर्य जल गया और चन्द्र जलकर आधा [रह गया]। (३) और समस्त नक्षत्र और तारिकाएँ जलने लगे, उल्का टूटने लगे और वे धरणी पर गिरने लगे। (४) धरती स्थान-स्थान पर जल गई, और उस दावाग्नि से ढाक-पलाश जल गए। (५) उसकी विरह की साँसों से इस प्रकार ज्वाला निकली कि पर्वत तप्त हो-हो कर अंगार हो गए। (६) [उस ज्वाला से] भ्रमर, पतिंगे और नाग जल [कर काले हो] गए, और कोकिल, भुंजइल, और सब कौए जल [कर काले हो] गए। (७) उस बन के पक्षी सभी अपने-अपने प्राण लेकर उड़ चले, [और] जो जल के पक्षी थे, वे जल (झुलस) कर जल में डूबे [तब बच पाए]। (८) मैं भी वहाँ [से] जलते हुए निकल भागा, और मैंने आकर समुद्र में आग बुझाई, (९) [किन्तु इससे] समुद्र भी जल गया और उसका पानी खारा हो गया, तथा उसका धूम [मेघों के रूप में] जगत् पर छा रहा।"

टिप्पणी—(१) परजर्<पज्जल<प्र+ ज्वल=अतिशय दग्ध होना। कठा<कट्ठ <कष्ट। (३)तराई<तारिका। लूक<उल्का।(४)परास<पलाश। दावा<दवा=

दवाग्नि। (५) झार<ज्वाला। (६) भुंजइल=एक काली छोटी चिड़िया-भुंजइटी। (८) बुझाव्<विध्मापय्=आग ठंडी करना।

राजैं कहा रे सरग सँदेसी। उतरु आउ मोहि मिलु सहदेसी।
पावँ टेकि तोहि लावौं हियरे। प्रेम सँदेस कहै होइ नियरे।
कहा बिहंगम जो बनवासी। कित गिरही तें होइ उदासी।
जेहि तरिवर तर तुम अस कोऊ। कोकिल काग बराबरि दोऊ।
धरती महँ बिख चारा परा। हारिल जानि पुहुमि परिहरा।
फिरौं बियोगी डारहि डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा।
जियन की घरी घटत निति जाहीं। साँसहिं जिउ है देवसन्ह नाहीं।
जौं लहि फेरि मुकुति है परौं न पिंजर माहँ।
जाउँ बेगि थरि आपनि है जहाँ बिंझ बनाँह ॥३७१॥

अर्थ—(१) राजा ने कहा, "ऐ स्वर्ग के दूत, तू [वृक्ष से] उतर, [पास] आ और ऐ सहदेशी [मुझसे] मिल। (२) तेरे पैर पकड़कर मैं तुझे हृदय से लगा लूँ; तू प्रेम-संदेश मेरे निकट हो (आ) कर कह।" (३) पक्षी ने, जो वन का निवासी था, कहा, "तू गृहस्थ से उदासीन क्यों हो रहा है? (४) जिस वृक्ष के नीचे तेरे ऐसा कोई [ना-समझ] हो [जो गृहस्थ से उदासीन हो रहा हो], उस [तरुवर के नीचे भूमि पर] कोकिल और काग दोनों बराबर हैं। (५) धरती में विष-चारा पड़ा हुआ है, यह जान-कर हारिल ने पृथ्वी [पर उतरना—बैठना] छोड़ दिया है। (६) मैं [भी] वियोगी वन डाल-डाल फिरता रहता हूँ, और [मैं अब यहाँ से] चल देने के लिए पंखों को सँभाल रहा हूँ। (७) जीवन की घड़ियाँ नित्य ही घटती जा रही हैं; जीव (जीवन) दिनों में नहीं, साँसों में ही है [दिन की कौन कहे? एक साँस तक जीवन है, तो संभव है दूसरे में न रहे]। (८) जब तक पुनः मुक्ति [मिली हुई] है, मैं पिंजड़े में न पड़ूँगा; (९) मैं शीघ्र ही वहाँ जा रहा हूँ जहाँ विंध्य वन में अपनी [मेरी] स्थली है।"

टिप्पणी—(१) सहदेसी=एक ही देश का निवासी। (३) गिरिही<गृहिन्=गृह-वाला, गृहस्थ। (५) परा=मेरे 'जायसी ग्रंथावली' पाठ में 'पारा' छपा हुआ है, जो छापे की भूल है। (९) थरि<स्थली=बसेरे का स्थान। बींझ<विन्ध्य। इस छंद में कवि ने गृहस्थ से उदासीन बनने का अनुमोदन नहीं किया है, गृहस्थ बने रहने का वह समर्थन करता ज्ञात होता है। किन्तु साथ ही वह पृथ्वी के उन आकर्षणों से बचे रहने का उपदेश करता है जो उसकी बुद्धि को नष्ट करते हैं। तुल०—बिखदाना कत देय अँकूरा। जेहिभा मरन दहन धरि चूँरा।... एइँ बिषचारें सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लै लगी। (७०-३-५) धरती महँ बिष चारा परा। हारिल जानि पुहुमि परिहरा। (३७१.५)

कहि सो सँदेस बिहंगम चला। आगि लाइ सगरिउ सिंघला।
घरी एक राजैं गोहरावा। भा अलोप पुनि दिस्टि न आवा।
पंखी नाउँ न देखौं पाँखौ। राजा रोइ फिरा कै साँखौ।
जस हेरत यह पंखि हेराना। दिनेक हमहुँ अस करब पयाना।
जौं लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बेर चितउर गढ़ जाऊँ।

आवा भँवर मँदिल जहँ केवा । जीउ साथ लै गएउ परेवा ।
तन सिंघल मन चितउर बसा । जिउ बिसँभर जनु नागिनि डसा ।
जेत नारि हँसि पूँछै अमिय बचन जिमि निंत ।
रस उतरा सो चढ़ा बिख ना ओहि चिंत न मिंत ।।३७२।।

अर्थ—(१) वह संदेश कहकर और समस्त सिंहल में आग लगाकर वह पक्षी [उड़] चला। (२) एक घड़ी तक राजा उसे पुकारता रहा। किन्तु वह ओझल हो गया और पुनः दृष्टि में न आया। (३) [फलतः] "उस पक्षी नामधारी [जीव][1] के पंखों को भी नहीं देख रहा हूँ," इस प्रकार सांख्य (तत्त्व-विचार) करते हुए वह (राजा) रोकर वापस हुआ। (४) "जिस प्रकार देखते-देखते यह पक्षी गुम हो गया, इसी प्रकार एक दिन मैं भी [इस संसार से] प्रयाण करूँगा। (५) जब तक प्राण और पिंड (शरीर) एकत्र हैं, एक बार चित्तौर गढ़ चला जाऊँ।" (६) [यह संकल्प करके] वह भ्रमर (प्रेमी) [अपने] मंदिर में आया, जहाँ उसकी केतकी (पद्मिनी) थी, [किन्तु] उसके जीव को वह परेवा (पक्षी) साथ लेकर चला गया था। (७) राजा का शरीर सिंहल में था, किन्तु मन चित्तौर में जा बसा था, और उसका चित्त इस प्रकार बेसँभाल हो रहा था जैसे वह नागिन [नागमती] के द्वारा डसा हुआ हो। (८) नित्य की भाँति अमृत-वचनों के द्वारा जितना ही नारी (पद्मिनी) उससे हँसते हुए पूछती, (९) [उतना ही उन अमृत वचनों का रस] उतरता और [उस नाग-दंश (नागमती के विरह) का] विष चढ़ता जाता था, जिसके परिणाम-स्वरूप न उसे कोई [अन्य] चिन्ता थी, और न कोई [अन्य] मित्र था।

टिप्पणी—(२) गोहराव्=गोहार करना, उच्चस्वर से बुलाना। अलोप<आलुप्त=आच्छादित। (३) साँख<सांख्य=तत्त्व-चिन्तन, तत्त्व-विचार। (४) पयान<प्रयाण। (६) केवा<केअअ<केतक=केतकी। परेवा<पारेवय<पारावत=पक्षी। (७) डस्<दंश्=काटना। (८) निंत<नित्य। (९) मिंत<मित्र।

बरिस एक तेहि सिंघल रहे । भोग बेरास कीन्ह जस चहे ।
भा उदास जिउ सुना सँदेसू । सँवरि चला मन चितउर देसू ।
कँवल उदासी देखा भँवरा । थिर न रहै मालति मन सँवरा ।
जोगी औ मन पौन परावा । कत ये रहे जौं चित्त उँचावा ।
जौं जिय काढ़ि देइ इन्ह कोई । जोगी भँवर न आपन होई ।
तजा कँवल मालति हियँ घाली । अब कत थिर आछै अलि आली ।
गंध्रपसेनि आए सुनि बारा । कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा ।
मैं तुम्हहीं जिउ लावा दै नैनन्ह महँ बास ।
जौं तुम्ह होहु उदासी तौ यह काकर कबिलास ।।३७३।।

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "एक वर्ष तक मैं सिंहल में रहा, और जैसा-कुछ चाहा, मैंने भोग-विलास किया; (२) किन्तु एक सन्देश सुनकर मेरा जी उदास हो गया है और मेरा मन (अपने) चित्तौर देश का स्मरणकर वहाँ के लिए चल पड़ा है।" (३) कमलिनी (पद्मिनी) ने भँवरे (प्रेमी) को उदासीन देखा, [और देखा कि] मन में मालती

का स्मरणकर वह स्थिर नहीं रह रहा है। (४) [उसने सोचा] "योगी, मन और पवन राए होते हैं; ये कहाँ रह (रुक) सकते हैं, यदि इन्होंने चित्त को उठा (हटा) लिया? (५) इन्हें यदि कोई जीव (प्राण) निकालकर भी दे, तो योगी और भ्रमर (प्रेमी) अपने नहीं होते हैं। (६) [भँवर ने] मालती को हृदय में डालकर (रखकर) कमलिनी को त्याग दिया है, इसलिए हे सखी, भ्रमर अब कैसे स्थिर रह सकता है?" (७) यह समाचार सुनकर गंधर्वसेन द्वार पर आए, और कहने लगे, "[रत्नसेन,] तुम्हारा जी कैसे (क्यों?) उदास हो गया है? (८) मैंने तुम्हें नेत्रों में निवास देकर तुमसे जी लगाया; (९) यदि तुम उदासीन हो रहे हो, तो यह कैलास (सिंहल) किसका होगा?"

टिप्पणी--(१) बेरास<विलास। (२) सँवर्<सम्रर<स्मृ=याद करना। (३) उदासी<उदासीन। (४) उँचाव्<उद्+चि=इकट्ठा करना, उठाना। (५) काढ्<कड्ढ<कृष्=खींचना, निकालना। (६) घाल्<घल्ल् [दे०]=डालना। आछ्<अस्=होना। आली<अलि=सखी। (७) बार<वार<द्वार। (९) कबिलास<कैलास=शिवलोक: सिंहल [तुल०: छाँड़ब यह सिंघल कबिलासू। ३७८-२]

रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ कहँ मोरी।
सहस जीभ जौं होइँ गोसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं।
काँचु करा तुम्ह कंचन कीन्हा। तब भा रतन जोति तुम्ह दीन्हा।
गाँग जो निरमल नीर कुलीना। नार मिलें जल होइ न मलीना।
तस हौं अहा मलीनी करा। मिलेउँ आइ तुम्ह भा निरमरा।
मान-समुंद मिला होइ सोती। पाप हरा निरमल भै जोती।
तुम्ह मनि आएउँ सिंघल पुरी। तुम्हतें चढ़ेउँ राज औ कुरी।
सात समुँद तुम्ह राजा सरि न पाव कोइ घाट।
सबै आइ सिर नावहिं जहँ तुम्हारा पाट ॥३७४॥

अर्थ--(१) रत्नसेन ने हाथ जोड़कर विनती की, "मेरी जिह्वा तुम्हारी स्तुति के योग्य कहाँ है? (२) यदि, हे गोस्वामी (स्वामी) यदि सहस्र जिह्वाएँ हों, तो भी जहाँ तक तुम्हारी स्तुति होनी चाहिए, नहीं कही (की) जा सकती है। (३) तुमने [मुझे] काँच के टुकड़े को कंचन कर दिया; मैं [सचमुच] रत्न तब हुआ जब तुमने (मुझे) ज्योति दी। (४) गंगा का जो निर्मल कुलीन जल होता है, उसमें यदि नाले का जल मिल जाए, तो वह मलिन नहीं होता (रहता) है। (५) इसी प्रकार मैं भी मलिन कला का था, और तुम से आ मिला तो निर्मल कला का हो गया। (६) [मैं] एक [जल का] स्रोत (सोता) बनकर [तुम जैसे] मान-समुद्र में आ मिला, और [तुम जैसे मान-समुद्र ने] उसका पाप हर लिया, जिससे उसकी ज्योति निर्मल हो गई। (७) मैं तुम्हें मान कर सिंहलपुरी आया, और तुम्हारे ही द्वारा राज्य और कुल में चढ़ा (ऊँचा हुआ)। (८) हे राजा, तुम सात समुद्रों के जैसे हो, कोई भी घाट तुम्हारी सादृश्यता नहीं प्राप्त कर सकता है, (९) सभी आकर [उस स्थान पर] सिर झुकाते हैं जहाँ तुम्हारा सिंहासन है।"

टिप्पणी--(१) विनव्<विण्णव्<विज्ञापय्=निवेदन करना। (३) काच=शीशा।

करा<कला=अंश, भाग। (४) गाँग<गंगा। (६) सोती<स्रोत=जल की धारा। (७) मन् =मानना, जानना : तुल० जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा। (१९२.६) कुर <कुल। (८) सरि<सादृश्य। (९) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन।

अवसि बिनति एक करौं गोसाईं। तब लगि कया जीउ जब ताईं।
आवा आजु हमार परेवा। पाती आनि दीन्ह पति देवा।
राज काज औ भुइँ उपराहीं। सतुरु भाइ अस कोइ हित नाहीं।
आपनि आपनि करहिं सो लीका। एकहिं मारि एक चह टीका।
भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चाँद चलावहु आजू।
राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठएन्हि अब होइ परावा।
उहाँ नियर ढीली सुलितानू। होइहि भोर उठिहि जौं भानू।
तुम्ह चिरँजिवहु जौं लहि महि गँगन औ जौं लहि हम आउ।
सीस हमार तहाँ नित जहाँ तुम्हारे पाउ ॥३७५॥

अर्थ—(१) "किन्तु अवश्य, हे स्वामी, एक विनती करना चाहता हूँ; जब तक जीव रहता है, तब तक काया भी रहती है [और संसार के अनेक द्वन्द्व रहते हैं]। (२) आज मेरा पारावत (पक्षी–संदेशवाहक) आया है, और हे स्वामि-देव, उसने [यह] पत्रिका लाकर दी है। (३) राज्य के कार्यों और भूमि के ऊपर (विषय में) कोई भी हित-नात ऐसा शत्रु नहीं होता है जैसा कि भाई होता है। (४) फलतः वे अपनी-अपनी लीक (निर्मित) करते हैं, और एक को मारकर एक (राज्य-) तिलक [कराना] चाहता है। (५) [मेरी अनुपस्थिति में वहाँ] अमावास्या हो गई है और उसमें नक्षत्रों का राज्य हो गया है, [इसलिए] मुझको चन्द्र बनाकर आज विदा दो। (६) जहाँ पर [बहुत पहले से] मेरा राज्य हुआ चला आ रहा है, [लोगों ने] लिख भेजा है कि [वहाँ पर] अब अन्य का राज्य होना चाहता है। (७) वहाँ निकट ही दिल्ली में सुल्तान [का शासन] है; कहीं यदि वह सूर्य उठ पड़ा, तो भोर (प्रभात) ही हो जाएगा [और मुझ चन्द्र का चित्तौर जाना असंभव हो जाएगा]। (८) जब तक मही और आकाश रहें, और जब तक मेरी आयु रहे, तुम चिरजीवित रहो; (९) मेरा सिर नित्य ही वहाँ रहेगा जहाँ तुम्हारे पैर होंगे।"

टिप्पणी—(१) बिनति<विज्ञप्ति=निवेदन। (२) परेवा<पारेवय<पारावत= पक्षी, सन्देशवाहक। पाती<पत्तिआ=पत्रिका। (३) सतुरु<शत्रु। (४) लीक<रेखा (?)। (७) भोर=प्रभात। (८) आउ < आयु। (९) पाउ<पाअ<पाद=पैर।

राजसभा सब उठी सँवारी। अनु बिनती राखिअ पति भारी।
भाइन्ह माहँ होइ जनि फूटी। घर के भेद लंक असि टूटी।
बीरौ लाइ न सूखै दीजै। पावै पानि दिस्टि सो कीजै।
अनु राखा तुम्ह दीपक लेसी। पै न रहै पाहुन परदेसी।
जाकर राज जहाँ चलि आवा। उहै देस पै ताकहँ भावा।
हम दुहुँ नैन घालि कै राखहिं। ऐसि भाख यहि जीभि न भाखहिं।
देहु देवस सैं कुसल सिधावहिं। दीरघ आउ होइ पुनि आवहिं।

सबहिं विचार परा अस भा गवने कर साज ।
सिद्ध गनेस मनावहु बिधि पुरवै सब काज ॥३७६॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन की इस बिनती को] समस्त राजसत्ता सँवार उठी [और, उसने कहा,] "अवश्य, हे भारी (गुरु) स्वामी, आप [रत्नसेन की] इस बिनती को रक्खें [स्वीकार करें]। (२) भाइयों में फूट न होने पाए, क्योंकि घर में फूट पड़ने से ही इसी प्रकार लंका नष्ट हुई थी। (३) पौदा लगाकर उसे सूखने न दीजिए। वह पानी पाए (पाता रहे), ऐसी दृष्टि कीजिए। (४) अवश्य, आपने [रत्नसेन को इस प्रकार रखा है जैसे] दीप को प्रकाशित करके रक्खा जाता है, किन्तु परदेसी पाहुना [सब दिन] नहीं रहता है। (५) जहाँ पर जिसका राज्य चला आता होता है, हो न हो वही देश उसको भाता है। (६) हम इसे दोनों नेत्रों में डाल (बंद) कर रक्खेंगे, [और जाने न देंगे] ऐसी बात हम इस जिह्वा से न कहें। (७) उन्हें आप सुदिन दीजिए, और वे दोनों कुशल-पूर्वक यहाँ से प्रस्थान करें, वे दीर्घायु हों और पुनः आवें।" (८) जब सभी का ऐसा विचार हुआ, तो गवने का साज (गवने का प्रबंध) हुआ; (९) [सबों ने कहा,] "सिद्ध गणेश को स्मरण करो, विधाता समस्त कार्य पूरा करेगा।"

टिप्पणी--(१) सँवार्<समारचय्=ठीक करना, सँभालना। अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। (३) बीरौ<विटप=पौदा, वृक्ष। (४) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। लेस्<लिश्=प्रकाशित करना ['लेश्य' तथा 'लेश्या' शब्दों में धातु का यही अर्थ है, और अवधी में बहु प्रचलित है]। (५) पै<परम्=हो न हो, अवश्यमेव। (६) घाल्<घल्ल् [दे०]=डालना। (९) पुरव्<पूरय्=पूरा करना, भरना। इस छंद में श्लेष के आधार पर दो अर्थ रक्खे गए हैं एक नायिकापरक, दूसरा वाटिकापरक। नायिकापरक अर्थ के बाद वाटिकापरक अर्थ कोष्ठकों में दिया गया है। वाटिकापरक अर्थ में फूलों के नाम ही रखने का कवि ने यत्न किया है।

बिनौ करै पदुमावति बारी। हौं पिय कँवल, सो कुंद नेवारी।
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम, सेवती, चाँप, चँबेली।
औ सिंगार हार जस ताका। पुहुप करी अस हिरदै लागा।
हौं सो बसंत करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा।
बकचुन बिनवौं अवसि बिमोही। सुनि बकाउ तजि जाही जूही।
नागेसरि जौं है मन तोरें। पूजि न सकै बोल सरि मोरें।
होइ सतबरग लीन्ह मैं सरना। आगै कंत करहु जो करना।
केत नारि समुझावै भँवर न काँटै बेध।
कहै मरौं पै चितउर करौं जग्गि असुमेध ॥३७७॥

अर्थ— (१) पद्मावती [पद्मिनी] बाला [वाटिका] विनय करती है, "हे प्रिय, मैं पद्मिनी [कमलिनी] हूँ, [मुझे स्वीकार कर] उस कुन्द (कृश) [कुन्द पुष्प] का निवारण कीजिए। (२) वह मेरी जैसी कुमारी कन्या [मालती पुष्प] और विलासवती [बेली] कहाँ है? वह तुम्हारे चरणों [कदम्ब] में चाँप मेल कर—उन्हें दबा कर—[चम्पा तथा चमेली पुष्प] सेवा करने वाली [सेवती—शतपत्रिका पुष्प] कहाँ है? (३) और मेरा

शृंगार हार [हरशृंगार पुष्प] जैसा है, वह देखते ही हो; वह मेरे हृदय पर पुष्प-कलिका के जैसा लगता है। (४) मैं जो हूँ, वह नित्य ही वसंतोत्सव मनाती हूँ और [उसके प्रसंग में] फूलों [कुसुम] तथा गुलाल [गुल्लाला पुष्प] के साथ सुंदर [देव] दर्शन [सुदर्शन पुष्प] का कूजन करती [कुब्जक पुष्प]' हूँ। (५) मैं विमुग्ध होकर अवश्य चुने हुए वाक्य [मुचुकुन्द पुष्प] विज्ञप्त कर रही हूँ।[बीनती, विनवाती हूँ] मेरी इस वक्तृता [बकाउ—बकावली पुष्प] को सुनो और जो तुम्हारे हृदय में जाने की (जाही-जूही) है, उसे छोड़ो। (६) यदि तुम्हारे मन में नागमती [नागकेसर पुष्प] है, तो वह मेरे सादृश्य की वात [बोल सरि] भी नहीं पूज सकती है। (७) मैंने तो सत्य के वर्ग (पक्ष) में [सद-वर्ग पुष्प] होकर तुम्हारी शरण ली है; आगे हे कान्त, तुम्हें जो करना [करना पुष्प] हो, वह करो।" (८) वह नारी कितना भी [केतक—नारी—केतकी] समझाती है, किन्तु प्रेमी [भ्रमर] को उसके काँटे (तर्क) [कण्टक] प्रभावित [विद्ध] नहीं करते हैं। (९) प्रेमी [भँवरा] कहता है, "मैं हो न हो, चित्तौर (चित्रकूट) में मरूँगा और अश्वमेध [प्राणों की बलि] करूँगा।"

टिप्पणी—(१) बिनौ<विज्ञप्ति। बारी<[१] बालिका, [२]<वाटिका। कँवल=[१] कमलिनी—पद्मिनी नारी, [२] कमल पुष्प। कुंद=[१] कृश, [२] कुन्दपुष्प। नेवारी=[१] निवारित कीजिए—[२] निवारी पुष्प। (२) मालती=[१] कुमारी कन्या, [२] मालती पुष्प। बेली=[१] वेल्ल (विलास)-वती, [२]<वेली = लता। कदम=[१]<कदम [फ़ा०] चरण, [२] कदम्ब पुष्प। सेवती=[१] सेवा करती हुई, [२] सयवतिआ<शतपत्रिका पुष्प। चाँप=[१] दबाव, [२] चम्पक पुष्प। चमेली=[१] च+मेली [मेल्<मेलय्]=डालकर, (२) चमेली<चम्पक=मल्लिका पुष्प। (३) सिंगारहार = (१) शृंगार का हार, [२] हरसिंगार पुष्प। (४) बसंत=[१] वसन्तोत्सव, [२] वसन्त की पूजा। पूज् = [१] पूजना, [२]<पूरय्=पूरा करना, भरना। कुसुम=[१]=फूल, [२] कुसुम का फूल। गुलाल=[१] वसंतोत्सव में लगाया जाने वाला गुलाल चूर्ण, [२] गुल्लाला फूल। सुदरसन=[१] सुन्दर [देव-] दर्शन, [२] सुदर्शन पुष्प। कूजा = [१] कूजन करती हूँ, [२] कुब्जक पुष्प। (५) बकचुन=[१] चुने हुए वाक्य, [२] मुचुकुन्द पुष्प। बिनवौं=[१] विनय करती हूँ, [२] बिनवाती हूँ। बकाउ=[१] वाक्य, [२] बकावली पुष्प। जाही=[१] जा रहा है, [२] जाही-जाती पुष्प। जूही=[१] जो हृदय में है, [२] यूथिका पुष्प। (६) नागेसरि=[१] नागमती, [२] नागकेसर पुष्प। बोलसरि=[१] सादृश्य की बात, [२] मौलिश्री। पूज्<पूरय्=[१] पूरा करना, [२] पूरा पड़ना। (७) सतबरग=[१] सत्य के वर्ग (समूह—पक्ष) की, [२] सदबर्ग पुष्प। करना=[१] करणीय, [२] करना पुष्प। (८) केतनारि=[१] [<कियत] कितना ही वह नारी, [२] केतक-नारी, केतकी। भँवर=[१] प्रेमी, [२] भ्रमर। काँट=[१] कण्टक तुल्य तर्क, [२] कण्टक। बेध<व्यध=[१] प्रभावित करना, [२] विद्ध करना। (९) पै<परम्=हो न हो। चितउर=[१] चित्तौर, [२] चित्रकूट। असुमेध=[१] अश्वमेध, [२] असुमेध, प्राणों की बलि।

गवनचार पदुमावति सुना। उठा धक्कि जिय औ सिर धुना।

गहबर नैन आए भरि आँसू । छाँड़ब यह सिंघल कबिलासू ।
छाँड़िउँ नैहर चलिउँ बिछोई । एहि रे दिवस मैं होतहि रोई ।
छाँड़िउँ आपन सखी सहेली । दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली ।
जहाँ न रहन भएउ निजु चालू । होतहि कस न भएउ तहँ कालू ।
नैहर आएँ का सुख देखा । जनु होइ गा सपने कर लेखा ।
राखत बारि न पिता निछोहा । कत बियाहि कै दीन्ह बिछोहा ।
हिएँ आइ दुख बाजा जिउ जानहु गा छेंकि ।
मन तिवानि कै रोवै हर भँडार कर टेकि ॥३७८॥

अर्थ—(१) पद्मावती ने जब गाने की रीति-भाँति [होने] का समाचार सुना, उसका जी धक् से हो गया और उसने सिर पीट लिया। (२) उसके भावाकुल नेत्रों में आँसू भर आए, [और उसने कहा,] "अब इस सिंहल के कैलास को छोड़ूँगी, (३) अब मैंने अपना पीहर छोड़ दिया और इससे अलग होकर जा रही हूँ; इसी दिवस के लिए मैं [पैदा] होते ही रोई थी। (४) [अब] मैंने अपनी सखियों-सहेलियों को छोड़ दिया, और इस भवन को छोड़कर मैं अकेली दूर-देश को चल पड़ी। (५) जहाँ (जबकि) [यहाँ] रहना नहीं है, और [यहाँ से] चल देना निश्चित है, वहाँ (तब) [पैदा] होते ही क्यों न मेरा काल (प्राणान्त) हो गया ? (६) इस पीहर में आकर मैंने क्या सुख देखा ? यह तो स्वप्न का लेखा हो गया। (७) निष्ठुर पिता मुझ बालिका को नहीं रख रहा है, तो उसने मेरा विवाह करके यह विछोह क्यों किया ?" (८) उसके हृदय में आकर दुःख बजा (दुःख की डौड़ी पिट गई), [और ऐसा जान पड़ा] मानो उसका जीव उसके द्वारा घिर गया। (९) [तदनंतर] वह स्त्री वर-भाण्डार सभी को हाथों से टेक-टेककर और उनको मन में (सोच-सोच) करके रोई।

टिप्पणी—(१) धुन्<धू=धूनना, पीटना। (२) गहबर=भावाकुल। कबिलास <कैलास=शिवलोक। (५) निजु=निश्चित।'(६) नैहर<ज्ञातिगृह=पीहर। (७) बारि <बालिका। (९) तिवानि<स्त्री-वर्ण (?)=स्त्री। हर<गृह=घर।

पुनि पदुमावति सखीं बोलाईं । सुनि कै गवन मिलै सब आईं ।
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं । जहाँ जाइ फिरि आवन नाहीं ।
सात समुंद्र पार वह देसू । कत रे मिलन कत आव सँदेसू ।
अगम पंथ परदेस सिधारे । न जनहु कुसल कि बिथा हमारे ।
पितैं निछोह किएउ हिय माहाँ । तहाँ को हमहिं राख गहि बाहाँ ।
हम तुम्ह एक मिले सँग खेला । अंत बिछोउ आनि केइँ मेला ।
तुम्ह असि हितू सँघाति पियारी । जियत जीय नहिं करौं निनारी ।
कंत चलाई का करौं आएसु जाइ न मेंटि ।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं लेहु सहेलिहु भेंटि ॥३७९॥

अर्थ—(१) तब पद्मावती ने सखियों को बुलाया, और पद्मावती का गौना हो रहा है यह सुनकर वे सभी उससे मिलने आईं। (२) [पद्मावती ने कहा] "हे सखियो, मिल लो, [क्योंकि] मैं वहाँ जा रही हूँ जहाँ जाकर फिर आना नहीं है। (३) वह देश

सात समुद्र पार है; अब मिलना कहाँ होगा और कहाँ संदेश आएगा ? (४) अगम्य पथ के द्वारा मेरे परदेश सिधारने पर, तुम न जानोगी कि मैं कुशलपूर्वक हूँ या मुझे कोई व्यथा है। (५) जब पिता ने ही हृदय में निष्ठुरता की, तो मुझे कौन बाँहें पकड़कर रख (रोक) सकता है ? (६) मैंने और तुम सबने एक साथ मिलकर [अब तक] खेला है; अन्त में किसने यह विछोह लाकर [मेरे और तुम सबके बीच] डाल दिया है ? (७) तुम जैसी हित-निरत और प्रिय साथिनों को जीते-जी (मन) से अलग नहीं करूँगी। (८) कान्त (पति) के द्वारा ले जाई जाती हुई मैं क्या करूँ ? उसकी आज्ञा मिटाई नहीं जा सकती है; (९) पुनः हम मिल पाएँगी या न मिल पाएँगी [कहा नहीं जा सकता है]। इसलिए, हे सहेलियो, आओ भेंट लो।"

टिप्पणी--(२) आवन<आगमन। (४) बिथा<व्यथा । (६) मेल्<मेलय्= डालना। (७) पिआरी<प्रिय+आलि। निनार<णिण्णार<निर्नगर=बाहर, अलग। (८) आएसु <आदेश।

इस छंद की दूसरी अर्द्धाली में कवि ने इस संसार से विदा होकर परलोक-गमन का संकेत किया है, क्योंकि वही वह देश है जहाँ से पुनः आना नहीं होता है। स्त्री जीव है, पति परमेश्वर है, सखियाँ संसार के नाते हैं।

धनि रोवत सब रोवहिं सखीं। हम तुम्ह देखि आपु कहँ झखीं।
तुम्ह ऐसी जहँ रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहिं पराई।
आदि पिता जो अहा हमारा। ओहु नहिं यह दिन हिएँ बिचारा।
छोह न कीन्ह निछोहैं ओहूँ। गा हम बेंचि लागि एक गोहूँ।
मकु गोहूँ कर हिय बेहराना। पै सो पिता नहिं हिएँ छोहाना।
औ हम देखी सखी सरेखी। एहि नैहर पाहुन के लेखी।
तब तेइँ नैहर नाहिं पै चाहा। जेहि ससुरारि अधिक होइ लाहा।
चलने कहँ हम औतरीं औ चलन सिखा हम आइ।
अब सो चलन चलावै को राखै गहि पाइ ॥३८०॥

अर्थ-- (१) उस स्त्री (पद्मावती) के रोते ही उसकी समस्त सखियाँ रोने लगीं, और कहने लगीं, "हम तुम्हें [जाते] देखकर अपने को झंख रही हैं। (२) जबकि तुम जैसी [राज-कन्या] पीहर में नहीं रहने पाईं, तो हम क्या रह सकेंगी जो पराई (पराधीन) हैं ही ? (३) जो हम सबका आदि पिता (परमेश्वर) था, उसने भी इस दिन का विचार हृदय में नहीं किया। (४) निष्ठुरता-वश उसने भी हम पर दया नहीं की और उसने हमें गेहूँ के एक दाने के लिए बेच दिया। (५) कदाचित् गेहूँ का हृदय तो फट भी गया, किन्तु वह [परम] पिता हृदय में नहीं कृपालु हुआ। (६) और जब हमने अपने सरेखी सखी (तुम) को भी इस नैहर में पाहुने के रूप में रहते देखा, (७) तब [ऐसा ज्ञात होता है कि] वह व्यक्ति, हो न हो, पीहर नहीं चाहता है जिसे ससुराल में अधिक लाभ [होता] हो। (८) [जहाँ से] चलने (जाने) के लिए ही हमने जन्म लिया है, और जहाँ आकर हमने चल देना ही सीखा है, (९) वही चलना हमको अब चला रहा है, तो कौन हमें पैर पकड़कर रख (रोक) सकता है ?"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री । झंख् [दे०] =संतप्त होना । (२) पराई <परकीया : इसमें मध्ययुग की उस प्रथा का उल्लेख है जिसमें सामंतगण अपनी कन्याएँ राजकन्याओं तथा रानियों की सहचरियाँ बनने के लिए राजकुल में भेजते रहे हैं। (३) गोहूँ<गोधूम=गेहूँ: इसमें आदम के स्वर्ग से पतन की ओर संकेत है। आदम और हव्वा का स्वर्ग से निष्कासन गेहूँ का एक दाना खाने के कारण हुआ था, जिसका खाना उनके लिए निषिद्ध था। (४) बेहराय्=वि+घट्=फटना। (५) सरेख<संलेखित=जिसने तपश्चर्या से अपने को क्षीण किया हो, ज्ञानी। पाहुन<पाहुण<प्राघुण=अतिथि, मेहमान।

इस छंद में भी परलोक-प्रस्थान की ओर कवि का संकेत ज्ञात होता है।

तुम्ह बारी पिय चहुँ चक राजा । गरब किरोध ओहि सब छाजा ।
सब फर फूल ओहि कै साखा । चहै सो चूरै चहै सो राखा ।
आएसु लिहें रहेहु निति हाथा । सेवा करेहु लाइ भुइँ माँथा ।
बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा । पाकरि तेहिं ते खीन फर दीन्हा ।
बँवरि जो पौंड़ि सीस भुइँ लावा । बड़ फर सुभर ओहि पै पावा ।
आँब जो फरि कै नवै तराहीं । तब अंब्रित भा सब उपराहीं ।
सोइ पियारी पियहि पिरीती । रहै जो सेवा आएसु जीती ।
पोथा काढ़ि गवन दिन देखहु कवन देवस दहुँ चाल ।
दिसासूर औ चक्र जोगिनी सौंहँ न चलिऔ काल ॥३८१॥

अर्थ—"(१) तुम बालिका हो, और तुम्हारा प्रिय चारों चक्रों का (चक्रवर्ती) राजा है; गर्व और क्रोध करना—उसे सब शोभा देते हैं। (२) समस्त फल-फूल उसकी शाखाओं में [लगे हुए] हैं, उन्हें वह चाहे तोड़े और चाहे रक्खे। (३) उसका आदेश नित्य हाथों पर लिए रहना, और उसकी सेवा भूमि पर मत्था टेककर करना। (४) वट, और पीपल ने जो सिर उठाया, और पाकर ने [जो ऐसा किया], उसी से उन्हें क्षीण फल [परमेश्वर ने] दिया। (५) दूसरी ओर बँवर (यथा कुम्हड़े की लता) ने जो पसरकर सिर भूमि से लगाया, हो न हो, उसी ने बड़ा और सुंदर फल प्राप्त किया। (६) आम जो फलकर नीचे की ओर नमित हुआ, तभी वह सबके ऊपर अमृत फल हो सका। (७) प्रिय की वही प्रिया और प्रीतिपात्र होती है जो उसकी सेवा और उसके आदेशों में जीवन-धारण करती है। (८) [अब] पोथे-पत्रे निकालकर गौने का दिन देखो, कि किस दिन चलना (यात्रा) है। (९) दिशा-शूल, और योगिनी-चक्र यदि [बाधक] हों, तो काल के सम्मुख यात्रा न करनी चाहिए।"

टिप्पणी—(१) चक<चक्क<चक्र=भूमि-खण्ड। सामान्यतः छः खण्ड भूमि मानी जाती रही है। जायसी चार ही चक्र भूमि मानते हैं। (२) चूर्<चूरय्<चूर्णय्=खंड-खंड करना। (४) ऊभ<उब्भ<ऊर्ध्वित=उठा हुआ, ऊँचा। (५) बँवर=लता। (६) नव्<नम्=नमित होना, झुकना। (७) पिरीत<प्रीत=प्रीतिपात्र। (९) सौंह<सउँह= सम्मुख।

आदित सूक पछिउँ दिसि राहू । बिहफै दखिन लंक दिसि डाहू ।
सोम सनीचर पुरुब न चालू । मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू ।

अवसि चला चाहै जौं कोई । ओखद कहौं रोग कहँ सोई ।
मंगर चलत मेलु मुख धना । चलिअ सोम देखिअ दरपना ।
सूकहि चलत मेलु मुख राई । बिहफै दखिन चलत गुर खाई ।
आदित हीं तँबोर मुख मंडिअ । बावभिरंग सनीचर खंडिअ ।
बुद्धहिं दधि कै चलिअ भोजना । ओखद यहै और नहिं खोजना ।
अब सुनु चक्र जोगिनी ते पुनि थिर न रहाहिं ।
तीसौ देवस चंद्रमा आठौ दिसा फिराहिं ॥३८२॥

अर्थ— "(१) आदित्यवार और शुक्रवार को पश्चिम दिशा में राहु रहता है, और बृहस्पति को दक्षिण अर्थात् लंका की दिशा में दाह (कष्ट) होता है। (२) सोमवार और शनिवार को पूर्व की यात्रा नहीं होती है, और मंगलवार तथा बुधवार को उत्तर दिशा में काल होता है। (३) यदि कोई [इसके विपरीत] अवश्य ही जाना चाहे, तो मैं उस [यात्रा-] रोग की औषध कह रहा हूँ। (४) मंगल को [उत्तर की यात्रा करते समय] मुख में धान्या (धनिया) डाल लो, और यदि सोमवार को [पूर्व की] यात्रा करनी हो तो दर्पण देख ले। (५) शुक्रवार को [पश्चिम की ओर] जाते समय मुख में राई डाल ले, और बृहस्पतिवार को दक्षिण जाते समय गुड़ खा ले। (६) आदित्यवार को [पश्चिम की यात्रा के समय] मुख को पान से मंडित कर ले, और शनिवार को [पूर्व की यात्रा के समय] बावभिडंग को [दाँतों से] खंडित कर ले। (७) बुधवार को [उत्तर की यात्रा के समय] दही का भोजन करके चले। यह ओषधियाँ हैं, अन्यों की खोज नहीं करनी है। (८) अब योगिनी-चक्र सुनो; वे पुनः स्थिर नहीं रहते हैं (९) और चन्द्रमा [भी] महीने के तीस दिनों में आठो दिशाओं में होता रहता है।"

टिप्पणी—(१) आदित<आदित्य=रवि। बिहफै<विहफइ<बृहस्पति। (४) मेल्<मेलय्=डालना। धना<धान्या=धनियाँ। (६) तँबोर<ताम्बूल =पान।

बारह ओनइस चारि सताइस । जोगिनि पच्छिउँ दिसा गनाइस ।
नव सोरह चौबिस औ एका । पुरुब दखिन गौनै कै टेका ।
तीन एगारह छबिस अठारह । जोगिनि दक्खिन दिसा बिचारह ।
दुइ पचीस सत्रह औ दसा । दक्खिन पछिउँ कोन बिच बसा ।
तेइस तीस आठ पंद्रहा । जोगिनि होइ पुरब सामुँहा ।
बीस अठाइस तेरह पाँचा । उत्तर पछिउँ कोन तेहि बाँचा ।
चौदह बाइस ओनतिस सात । जोगिनि उतर दिसा कहँ जात ।
इकइस औ छ जोगिनि उत्तर पुरुब के कोन ।
यह गनि चक्र जोगिनी बाँचहु जौं चाहौ सिधि होन ॥३८३॥

अर्थ— "(१) महीने की १२, १९, ४, तथा २७ की तिथियों में योगिनी की पश्चिम दिशा में गणना होती है [और पश्चिम की यात्रा न करनी चाहिए]। (२) ९, १६, २४ तथा १ की तिथियों में पूर्व-दक्षिण की यात्रा की रोक है। (३) ३, ११, २६ तथा १८ की तिथियों में योगिनी का विचार दक्षिण में किया जाता है [और दक्षिण की यात्रा नहीं की जाती है]। (४) २, २५, १७ तथा १० की तिथियों में, योगिनी दक्षिण-पश्चिम-कोण

में निवास करती है [और दक्षिण-पश्चिम-कोण की यात्रा न करनी चाहिए]। (५) २३, ३०, ८, तथा १५ की तिथियों में योगिनी पूर्व दिशा में सम्मुख होती है [इसलिए पूर्व की यात्रा न करनी चाहिए]। (६) २०, २८, १३ तथा ५ की तिथियों में उत्तर-पश्चिम-कोण में उसे बचाना (उससे बचना) चाहिए। [और उत्तर-पश्चिम-कोण की यात्रा न करनी चाहिए]। (७) १४, २२, २९, तथा ७ की तिथियों में योगिनी उत्तर दिशा को चली जाती है [इसलिए उत्तर की यात्रा न करनी चाहिए]।(८) २१ और ६ तिथियों में योगिनी उत्तर-पूर्व-कोण में रहती है [और उत्तर-पूर्व-कोण की यात्रा न करनी चाहिए]। (९) यह (इस प्रकार) गिनकर योगिनी-चक्र को बचाना चाहिए यदि [अपने कार्य में] सिद्धि की अपेक्षा हो।"

टिप्पणी– (६) अठाइस : मेरे 'जायसी-ग्रंथावली' संस्करण में भूल से 'अठारह' छप गया है। होना 'अठाइस' ही चाहिए था, जैसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है।

चलहु चलहु भा पिय कर चालू। घरी न देख लेत जिय कालू।
समदि लोग धनि चढ़ी बेवाना। जो दिन डरी सो आइ तुलाना।
रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जौं कंत चलाई।
रोवै सब नैहर सिंघला। लै बजाइ कै राजा चला।
तजा राज रावन का कोऊ। छाँड़ी लंक भभीखन लेऊ।
फिरी सखी भेंटत तजि भीरा। अंत कंत सो भएउ किरीरा।
कोउ काहूँ कर नाहिं नियाना। मया मोह बाँधा अरुझाना।
कंचन कया सो नारि की रहा न तोला माँसु।
कंत कसौटी घालि कै चूरा गढ़ै कि हाँसु ॥३८४॥

अर्थ-- (१) "प्रिय की यात्रा [प्रारंभ]हो गई, चलो, चलो",[पद्मावती ने सुना], "काल प्राण लेते समय [अच्छी-बुरी]घड़ी नहीं देखता है।"(२)[तदनंतर] लोगों(स्वजनों) को भेंटकर वह स्त्री विमान पर चढ़ी ; जिस दिन को वह डर रही थी, वह आकर तुल गया (पहुँच गया)। (३) माता-पिता और भाई रो रहे थे, [किन्तु] कोई उसे रोक नहीं सकता था, जब उसे कान्त (पति) ने चलाया था। (४) समस्त नैहर और सिंहल रो रहा था, [इसी समय] उसे लेकर बाजों के साथ राजा चल पड़ा। (५) रावण ने राज्य छोड़ा [और परलोक को प्रयाण किया] तो कोई भी [राजा] हो [उसे इससे क्या करना था?] उसने लंका छोड़ दी तो भले ही उसे विभीषण ले रहे। (६) उसे भेंटती हुई उसकी सखियाँ भीर (भावाकुलता) को छोड़कर लौट पड़ीं, और अन्त में यह हुआ कि कान्त से ही क्रीड़ा रह गई। (७) अन्त में कोई किसी का नहीं होता है, सभी माया-मोह में बँधे और उलझे हुए हैं, (सभी माया-मोह के बंधन और उलझाव हैं)। (८) उस नारी की कंचन काया जो थी, उसमें तोला भर मांस भी शेष नहीं रहा, (९) कान्त अब उसे कसौटी में डालकर [उसके वर्ण की परीक्षा कर] चाहे चूड़ा (पैर की चूड़ियाँ) गढ़े (पैरों में रक्खे) चाहे हाँसली तैयार करे (गले लगाए)।

टिप्पणी--(१) समद्<सम्+आदा =आलिंगन करना। (२) बेवान<विमान।

तुल्=तुलना, पहुँचना। (६) भीर=आकुलता। (७) निआन<निदान। (८) उक्ति में सजीवता लाने के लिए इस चरण में जायसी ने श्लेष द्वारा सुनारी की शब्दावली को भी समावेश किया है। कया=[१] काया,[२] वह धन (धातु राशि) जो सुनार को आभरण बनाने के लिए दी जाती है। सोनारि=[१] उस नारी, [२] सुनार। तोला मांस=[१] एक तोला मांस, [२] तोला-माशा। (९) कसौटी <कष पट्टिका। चूरा <चूडा=चूड़ियाँ, पैर की चूड़ियाँ। हाँस<अंस्य=कन्धे का [आभरण] हाँसली।

जौं पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन औगुन दोऊ।
औ सँग चला गवन जेत साजा। उहै देइ पारै अस राजा।
डाँड़ी सहज चली सँग चेरी। सबै पदुमिनी सिंघल केरी।
भल पटवन्ह खरबार सँवारे। लाख चारि एक भरे पेटारे।
रतन पदारथ मानिक मोंती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती।
परखि सो रतन पारिखन्ह कहा। एक एक नग सिस्टिहि बर लहा।
सहस पाँति तुरियन्ह कै चली। औ सै पाँति हस्ति सिंघली।
लिखै लाख जो लेखा कहै न पारहि जोरि।
अरबुद खरबुद नील सँख औ खँड पदुम करोरि ॥३८५॥

अर्थ-- (१) जब सब लोग [रत्नसेन-पद्मावती को कुछ दूर तक] पहुँचा कर लौटे तब उनके साथ उनके गुण-अवगुण गए; (२) इनके अतिरिक्त जितना गौने का सामान सजाया गया (निर्मित किया गया) था, वह साथ चला; वही राजा (गंधर्वसेन) ऐसा सामान दे सकता था। (३) एक सहस्र डाँड़ियों में सेविकाएँ साथ चलीं; वे सभी सिंहल की पद्मिनियाँ थीं। (४) अच्छे तंतुवायों ने खरबारों को सजाया, और चार लाख पेटारों को भरा। (५) रत्न, पदार्थ (हीरा), माणिक और मोती भांडारों से निकाले गए और उन्हें लादकर रथ चलाए गए। (६) उन रत्नों को परख कर पारखियों ने कहा, "एक-एक नग से भले ही सृष्टि [मोल] ले लीजिए। (७) सहस्र पंक्तियाँ घोड़ों की चलीं, और सौ पंक्तियाँ सिंहली हाथियों की। (८) यदि लाख आदमी [इस समस्त सामान का] लेख लिखें तो वे भी जोड़कर नहीं कह सकते, (९) कि अर्बुद, खर्बुद, नील, शंख, खंड और कोटि पद्मों में [वह सामान] कितना था।

टिप्पणी--(२) पार<पारय्=सकना, समर्थ होना। (३) डाँड़ी<दण्डिका=एक प्रकार की डोली। चेरी<चेटी=सेविका। (४) पटवा<पट्टवायक=रेशमी वस्त्र का बुनने वाला। खरबार<खल्ल+वार=खाल के बने या मढ़े हुए बड़े पेटक। पेटार<पेटाल=बड़ी पेटारी। (६) बर<वरम्=भले ही। (७) तुरिय<तुरग=घोड़ा।

देखि गवन राजा गरबाना। दिस्टि माहँ कोइ औरु न आना।
जौं मैं होंव समुँद के पारा। को मोरि जोरि जगत संसारा।
दरब त गरब लोभ बिख मूरी। दत्त न रहै सत्त होइ दूरी।
दत्त सत्त एइ दूनौ भाई। दत्त न रहै सत्त पुनि जाई।
जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती। संचि कै मरै आन कै थाती।
सिद्धन्ह दरब आगि कै थापा। कोई जरा जारि कोइ तापा।

काहू चाँद काहू भा राहू । काहू अंब्रित बिख भा काहू ।
तस फूला मन राजा लोभ पाप अँध कूप ।
आइ समुँद्र ठाढ़ भा होइ दानी के रूप ॥३८६॥

अर्थ-- (१) उस गौने के सामान को देखकर राजा रत्नसेन गर्व से फूल उठा । वह उस समय [अपने समान] दृष्टि में और किसी को नहीं ला रहा था । (२) [उसने सोचा] "जब मैं समुद्र के पार [अपने देश में] होऊँगा, संसार में मेरी जोड़ी का कौन होगा ?" (३) जब द्रव्य होता है, तो गर्व होता है तथा लोभ होता है जो विष का मूल होता है, क्योंकि जब [लोभवश] दत्त (दान) नहीं रह जाता है तब सत (सत्य) दूर हो जाता है । (४) दत्त (दान) और सत (सत्य) दोनों भाई-भाई हैं । दत्त (दान) नहीं रहता है तो उसके बाद सत (सत्य) भी चला जाता है । (५) और जहाँ लोभ होता है, वहाँ उसका संगी पाप भी होता है, और मनुष्य अन्य की थाती का संचय करते हुए ही मृत्यु को प्राप्त होता है । (६) सिद्धों ने [इसीलिए] द्रव्य को अग्नि करके माना है, कोई उससे जल मरा है और किसी ने उसे जलाकर उसे तापा है; (७) किसी को वह चंद्र हुआ है, तो किसी के लिए राहु, और किसी के लिए अमृत हुआ है, तो किसी के लिए विष । (८) इसलिए राजा [भी] मन में फूल उठा, क्योंकि लोभ पाप का अंधकूप है, (९) और इसी समय समुद्र दानी (दान लेने वालों) के रूप में उसके सामने आ खड़ा हुआ ।

टिप्पणी--(१) आन्<आ+नी=लाना । (३) दत्त=दिया हुआ द्रव्य, दान । सत्त <सत्य । (५) संच<सं+चि=संचय करना । थाती<थत्तिअ<स्थातृ=धरोहर । (९) ठाढ<ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा । दानी<दानिन्=दान लेने वाला ।

बोहित भरे चला लै रानी । दान माँगि सत देखै दानी ।
लोभ न कीजै दीजै दानू । दानहि पुन्य होय कल्यानू ।
दरबहि दान देइ बिधि कहा । दान मोख होइ दोख न रहा ।
दान आहि सब दरब क चूरू । दान लाभ होइ बाँचै मूरू ।
दान करै रछया मँझ नीराँ । दान खेइ लै लावै तीराँ ।
दान करन दै दुइ जग तरा । रावन संचि अगिनि महँ जरा ।
दान मेरु बढ़ि लाग अकाराँ । सैंति कुबेर बूड़ तेहि भाराँ ।
चालिस अंस दरब जहँ एक अंस तहँ मोर ।
नाहिं तो जरै कि बूड़ै कै निसि मूसहिं चोर ॥३८७॥

अर्थ--(१) जब राजा रत्नसेन के जलयान भी गए और वह रानी (पद्मावती) को लेकर चल पड़ा, दान माँगकर एक दानी (याचक) उसका सत्य देखने लगा । (२) उसने कहा, "लोभ न कीजिए, दान दीजिए [अथवा लोभ न करना चाहिए, दान देना चाहिए,] दान-पुण्य से कल्याण होता है । द्रव्य का दान देने के लिए विधाता ने कह रखा है; दान से मोक्ष होता है, और कोई दोष नहीं रहता है । (४) दान सब द्रव्यों का चूरा [मात्र] है [और यह उसी प्रकार फेंक या दे देने योग्य होता है जैसे मिष्ठान्न आदि का बचा खुचा चूरा], दान से लाभ होता है और मूल धन बच जाता है । (५) दान जल में [भी] रक्षा करता है और दान [दाता को] खेकर तीर पर लगाता है । (६) दान

देकर कर्ण दोनों जगत्—इहलोक और परलोक—में तर गया और रावण [द्रव्य का] संचय करके आग (विनाश) में पड़ा। (७) दान से सुमेरु आकार में बढ़ गया और कुबेर संचय करके उस [संचित द्रव्य] के भार से डूब गया (नष्ट हो गया)। (८) जहाँ चालीस अंश द्रव्य होता है, वहाँ एक अंश मेरा (दान का) भी होता है; (९) नहीं तो द्रव्य जल जाता है या डूब जाता है, या उसे रात में चोर चुरा लेते हैं।"

टिप्पणी—(१) बोहित<बोहित्थ [दे०]। वहित्र=जलयान। दानी<दानिन्=दान लेने वाला। (३) मोख<मोक्ख<मोक्ष। (४) चूर<चूर्ण। मूर<मूल=पूँजी। (५) रछ्या<रक्षा। खेव्<क्षिप्=प्रेरणा करना : (७) अकार<आकार। सँत्=बटोरना, इकट्ठा करना। (८) चालीस अंश : इस्लाम के धर्मशास्त्र के अनुसार ४० में से १ अंश दान (ज़कात) का होता है।

सुनि सो दान राजै रिस मानी। केइँ बौराएसु बौरे दानी।
सोई पुरुष दरब जेहि सैंती। दरबहि तें सुनु बातैं एती।
दरब त धरम करम औ राजा। दरब त सुद्धि बुद्धि बल गाजा।
दरब त गरबि करै जो चाहा। दरब त धरती सरग बेसाहा।
दरब त हाथ आव कबिलासू। दरब त आछरि छाँड़ न पासू।
दरब त निरगुन होइ गुनवंता। दरब त कुबुज होइ रुपवंता।
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा। अस मनि दरब देइ को पारा।
कहा समुँद रे लोभी बैरी दरब न झाँपु।
भएउ न काहू आपन मूँदि पेटारे साँपु ॥३८८॥

अर्थ—(१) दान की यह बात सुनकर राजा रुष्ट हुआ, [और उसने कहा,] "ऐ बावले दानी (दान लेने वाले), तुझे किसने बावला किया है? (२) वही पुरुष है जिसके साथ (पास) द्रव्य है। द्रव्य ही से सुन, इतनी बातें [होती] हैं : (३) द्रव्य है तो धर्म है, कर्म है, और राज्य है, द्रव्य है तो चेतना, बुद्धि और बल गर्जन करते हैं; (४) द्रव्य है तो गर्व करके जो चाहे सो करे, द्रव्य हो तो धरती और स्वर्ग मोल ले ले; (५) द्रव्य हो तो कैलास हाथ आ जाए, द्रव्य हो तो अप्सरा पास न छोड़े; (६) द्रव्य हो तो गुणहीन गुणवान हो जाए, द्रव्य हो तो कुबड़ा [भी] रूपवान हो जाए; (७) द्रव्य रहे तो भूमि (पृथ्वीतल) पर ललाट चमकता रहे; द्रव्य ऐसी मणि है यह जानते हुए [अथवा द्रव्य को ऐसा मानकर] उसे कौन [दान में] दे सकता है?" (८) समुद्र ने कहा, "ऐ लोभी, अपने शत्रु द्रव्य को मत ढँक, (९) पेटारे में साँप बन्द किया हुआ रक्खा रहने पर भी वह किसी का अपना नहीं हुआ है।"

टिप्पणी—(१) बौरा<वाउल<वातूल=वातग्रस्त, पागल। (२) सैंती<सहं<समम्=साथ। एत<इयत्=इतना। (३) गाज्<गज्ज्<गर्ज्=गर्जन करना। (४) बेसाह<वि+साधय्=मोल लेना। (५) कबिलास<कैलास=शिवलोक। आछीर<अप्सरस्=अप्सरा। पास<पार्श्व। (६) कुब्रुज<कुब्ज=कुबड़ा। (७) दिप्<दिप्पट<दीप्=चमकना। लिलार<ललाट। मन्=मानना, जानना। (८) झाँप्<झंप्=ढकना। (९) मूंद्<मुद्दे<मुद्रय्=मुद्रित करना, बंद करना। पेटार<पेटाल=बड़ा पेटक।

आधे समुँद आए सो नाहीं । उठी बाउ आँधी उपराहीं ।
लहरैं उठीं समुँद उलथाना । भूला पंथ सरग नियराना ।
अदिन आइ जौं पहुँचै काऊ । पाहन उड़ाइ बहै सो बाऊ ।
बोहित बहे लंक दिसि ताके । मारग छाँड़ि कुमारग हाँके ।
जौं लै भार निबाहि न पारा । सो का गरब करै कनहारा ।
दरब भार सँग काहु न उठा । जेइँ सैंता तेहि सौं पुनि रूठा ।
गहि पखान लै पंखि न उड़ा । मोर मोर जेइँ कीन्ह सो बुड़ा ।
दरब जो जानहिं आपन भूलहिं गरब मनाहँ ।
जो रे उठाइ न लै सकै बोरि चले जल माहँ ।।३८९।।

अर्थ--(१) रत्नसेन आधे समुद्र भी नहीं आया था, कि ऐसी वायु उठी जो आँधी से भी बढ़कर थी। (२) लहरें उठने लगीं और समुद्र उलथने लगा, मार्ग भूल गया और स्वर्ग (आकाश) निकट आ गया। (३) यदि कभी दुर्दिन निकट आता है तो वह (ऐसी) हवा बहती है कि पाषाण उड़ जाएँ। (४) जलयान बहकर लंका की दिशा में देखने (चलने) लगे, मार्ग छोड़कर वे कुमार्ग में हाँक उठे। (५) यदि कोई ऐसा भार ले ले कि उसका निर्वाह न कर सके, तो वह कर्णधार क्या गर्व कर सकता है? (६) द्रव्य के भार के साथ कोई भी नहीं उठ (उबर) सका है; जिसने उसे बटोरा है, वह तदनंतर उसी से रूठ गया है। (७) पाषाण ग्रहण करने के अनंतर उसे लेकर कोई पक्षी नहीं उड़ सका है; [इसी प्रकार] जिसने भी [द्रव्य को] 'मेरा है', 'मेरा है' कहा है, वह डूब गया (नष्ट हो गया) है। (८) जो द्रव्य को अपना जानते हैं, वे मन में गर्व करके [अपने को] भूलते हैं; (९) इसीलिए जो उसे उठाकर ले न जा सके, वे उसे जल में डुबाकर गए।"

टिप्पणी--(१) बाउ<वायु। (२) उलथ्=उल्लत्थ (<उल्लस्त) होना, ऊपर आकर प्रकट होना। निअराय्=निकट होना। (३) काउ<कआ+उ< कदापि=कभी। पाहन<पाषाण। (४) ताक्<तक्क<तर्कय्=तर्क करना, देखना, (५) पार्< पारय्=सकना, समर्थ होना। कनहार<कर्णधार। (६) सैंत्=बटोरना, इकट्ठा करना। (७) बुड़्<ब्रुड्=डूबना।

इस छंद में कवि ने द्रव्य और उसके संचय का विरोध किया है।

केवट एक भभीखन केरा । आवा मंछ कर करत अहेरा ।
लंका कर राकस अति कारा । आवै चला मेघ अँधियारा ।
पाँच मुंड दस बाहैं ताही । डहि भौ स्याम लंक जब डाही ।
धुवाँ उठै मुख स्वाँस सँघाता । निकसै आगि कहै जब बाता ।
फेकरे मुंड चँवर जनु लाए । निकसि दाँत मुँह बाहिर आए ।
देह रीछ कै रीछ डेराई । देखत दिस्टि धाइ जनु खाई ।
राते नैन निडेरें आवा । देखि भयावनु सब डर खावा ।
धरती पाय सरग सिर जानहुँ सहसराबाहु ।
चाँद सुरुज नखतन्ह महँ अस दीखा जस राहु ।।३९०।।

अर्थ--(१) [लंकाधिपति] विभीषण का एक केवट था, वह मछलियों का आखेट

करते हुए उधर आ गया। (२) वह लंका का अत्यधिक काला राक्षस था, और वह इस प्रकार चला आ रहा था जैसे अंधकारपूर्ण मेघ हो। (३) उसके पाँच सिर और दस बाहु थे, वह उस समय (दग्ध होकर) श्याम (काला) हुआ था जब लंका दग्ध हुई थी। (४) साँसों के साथ उसके मुख से धुँआ उठता था, और जब बातें कहता था, उसके मुख से आग निकलती थी। (५) वह अपना सिर फेकरे हुए (सिर के बालों को खोले हुए) था, इसलिए लगता था जैसे उसने चामर लगा रक्खा हो। उसके दाँत निकल-निकल कर मुख के बाहर आ गए थे। (६) उसका शरीर भालू का था, भालू भी (उसे देखकर) डर जाता; दृष्टि से देखते ही मानो वह दौड़कर खा लेगा (ऐसा लगता था)। (७) वह अपने रक्तवर्ण के नेत्रों को निडेरे हुए आया; उस भयावने (राक्षस) को देख सब डर गए। (८) धरती पर उसके पैर थे, और आकाश में उसका सिर था, मानो वह सहस्र-बाहु हो, (९) वह चंद्र, सूर्य तथा नक्षत्रों के बीच ऐसा दीख पड़ा जैसे राहु हो।

टिप्पणी--(१) मंछ<मच्छ<मत्स्य। अहेर<आखेट। (३) दह = दग्ध होना। (५) फेकर्=स्फीती-कृ=स्फीत करना, फुलाना, फैलाना। (६) रीछ<रिच्छ<ऋक्ष=भालू। (७) निडर<बाहर निकालना।

बोहित बहे न मानहिं खेवा। राकस देखि हँसा जस देवा।
बहुते दिनन्ह बार भै दूजी। अजगर केरि आइ भख पूजी।
इहै पदुमिनी भभीखन पावा। जानहुँ आजु अजोध्या छावा।
जानहुँ रावन पाई सीता। लंका बसी रमाएन बीता।
मंछ देखि जैसें बग आवा। टोइ टोइ भुइँ पाउ उठावा।
आइ नियर भै कीन्ह जोहारू। पूँछा खेम कुसल बेवहारू।
जो बिस्वास घातिका देवा। बड़ बिस्वास करै कै सेवा।
कहाँ मीत तुम्ह भूलेहु औ जाबेहु केहि घाट।
हौं तुम्हार अस सेवक लाइ देउँ तेहि बाट ॥३६१॥

अर्थ– (१) जलयान बहने लगे, वे खेने से वश में नहीं आ रहे थे, यह देखकर राक्षस दैत्य की भाँति हँस पड़ा। (२) (उसने कहा,) "बहुत दिनों पर यह दूसरी वेला हुई है; अजगर का भक्ष्य (स्वतः) आकर उसे पूरा पड़ा (प्राप्त हुआ) है। (३) यह पद्मिनी यदि विभीषण को मिल गई, तो (उसे ऐसा अनुभव होगा) जैसे वह पुनः अयोध्या में छाए हुए हो (राम का अतिथि बना हुआ पड़ा हो, और यह सुन्दरी मानवी उसे भोग के लिए मिली हो)। (४) अथवा, यह ऐसा होगा मानो रावण को सीता सदैव के लिए मिल गई हो, युद्ध से उजड़ी हुई लंका फिर से बस गई हो, और रामायण (राम का अभियान) (असफल होकर) बीत चुका हो।" (५) जैसे मछली को देखकर बगुला आता है, उसी प्रकार वह भी भूमि को टटोल-टटोल कर (दबे पाँव) आया। (६) निकट आकर उसने रत्नसेन को नमस्कार किया और व्यवहारानुकूल उससे कुशल क्षेत्र का प्रश्न किया। (७) जो विश्वासघाती देव होता है; वह सेवा करके बड़ा विश्वास (उत्पन्न) करता है। (८) उसने कहा, "हे मित्र तुम कहाँ भूल पड़े, और, तुम (समुद्र पार करके) किस घाट लगोगे? (७) मैं तुम्हारा ऐसा सेवक हूँ कि उस मार्ग पर (तुम्हें) लगा दूँगा।"

टिप्पणी--(१) खेवा<क्षेपण=खेया जाना। देव [फ़ा०] = दैत्य। (२) बार<बार<वेला। (३) छाव्<छादय्=आच्छादित करना। रमाएन<रामायण=राम का अभियान। (६) निअर<णिअड<निकट (९) बाट<वट्ट<वर्त्मन्=मार्ग।

गाढ़ परें जिउ बाउर होई। जो भलि बात कहै भल सोई।
राजैं राकस नियर बोलावा। आगें कीन्ह पंथ जनु पावा।
बहु पसाउ राकस कहँ बोला। बेगि टेकु पुहुमी सब डोला।
तूँ खेवक खेवकन्ह उपराहीं। बोहित तीर लाउ गहि बाँहीं।
तोहि तें बीर घाट जौं पावौं। नवगिरही टोडर पहिरावौं।
कुंडल स्रवन देउँ नग लाई। महरा कै सौंपौं महराई।
तस राकस तोरि पुरवौं आसा। रकसाइँध कै रहै न बासा।
राजैं बीरा दीन्हेउ जानैं नहिं बिसवास।
बगु अपने भख कारन भएउ मंछ कर दास ॥३६२॥

अर्थ—(१) संकट में पड़ने पर जी बावला हो जाता है, जिससे जो भी भली (सुहानी) बातें कहता है वही भला [लगता] है। (२) राजा ने राक्षस को निकट बुलाया, और उसे अपने आगे [पथ-प्रदर्शन के रूप में] किया [और ऐसा समझने लगा] मानो उसे [ठीक] मार्ग मिल गया हो। (३) बहुत प्रसाद (कृपाभाव) के साथ राक्षस से उसने कहा, "शीघ्र सहारा दे, [इस समय] समस्त पृथ्वी डोल रही है। (४) तू [अब] मेरे समस्त खेने वालों के ऊपर (उनका अध्यक्ष) है, [उनकी] बाहें पकड़कर [और ठीक दिशा में खेने का निर्देश करके] जलयान को समुद्र के किनारे लगा। (५) यदि तेरे [प्रयत्नों] से हे भाई, मैं किनारा और घाट पा जाऊँगा, तो तुझे मैं नवग्रही और टोडर पहिनाऊँगा; (६) और तेरे कानों में नग लगवाकर कुंडल दूँगा और तुझे महरा बनाकर महराई सौंपूँगा; (७) और हे राक्षस, तेरी आशाएँ इस प्रकार पूरी करूँगा कि राक्षस होने की तुझ में बू भी [शेष] न रहेगी। (८) राजा ने उसे [यह कहकर] पान का बीड़ा दिया (कार्य-भार सौंपा) क्योंकि विश्वास करके उसको जान न सका था। (९) [उसे यह नहीं सूझ रहा था कि] बगुला अपने भक्ष्य के लिए मछली का दास बन जाता है।

टिप्पणी--(१) भल<भल्ल<भद्र। (३) पसाउ<प्रसाद<कृपा भाव। (५) बीर=भाई। नवगिरही=नवग्रह के लिए शुभ नौप्रकार के बहुमूल्य पत्थरों से युक्त एक प्रकार का आभरण जो बाहों में पहिना जाता है। (दे० 'बिहार पीजेंट लाइफ़', पृ० १५४) टोडर=पैर का एक आभरण जिसे पुरुष धारण करते थे : ढुंढा दानव के वर्णन की 'पृथ्वीराज रासो' (ना० प्र० स०) में इसका उल्लेख आता है : मन सहस पाय टोडर खनकि। (५३.५३७) (६) महरा<महल्ल<महत् : सरदार, प्रमुख।

राकस कहा गोसाइँ बिनाती। भल सेवक राकस कै जाती।
जहिया लंक डही स्री रामा। सेव न छाँडि भएउँ डहि स्यामा।
अबहूँ सेव करहिं सँग लागे। मानुस भूल होहिं तिन्ह आगे।
सेत बंध जहँ राघौ बाँधा। तहँ लै चढ़ों भारु मैं काँधा।
पै जब तुरित दान कछु पावौं। तुरित खेइ ओहि बाँध चढ़ावौं।

तुरित जो दान पान हँसि दिया । थोरा दान बहुत पुनि किया ।
सेव कराइ जो दीजै दानू । दान नाहिं सेवा बर जानू ।
दिया बुझा सतु ना रहा हुत निरमल जेहि रूप ।
बहुँ आँधी उड़ आइ कै मारि किया अँध कूप ॥३६३॥

अर्थ—(१) राक्षस ने कहा, "हे स्वामी, मेरी विनती यह है कि राक्षस जाति अच्छी सेवक होती है । (२) जब श्रीराम ने लंका जलाई थी, मैंने [रावण की] सेवा तब भी नहीं छोड़ी, इसीलिए मैं जलकर श्याम हो गया । (३) राक्षस अब भी सेवा करते हैं और जब मनुष्य भूल (भटक) जाते हैं, तो वे उनके आगे हो–[कर उनका पथ-प्रदर्शन कर] ते हैं । (४) जहाँ राम ने सेतुबंध बाँधा था, जब मैंने भार कंधे पर ले लिया है, तो वहाँ तक तुम्हें लेकर चढ़ जाऊँगा (तुम्हें पहुँचा दूँगा) । (५) किन्तु यदि तत्काल दान कुछ पा जाऊँ, तो शीघ्र ही जलयान खेकर उसे उस बाँध (सेतुबंध) तक चढ़ा दूँ (पहुँचा दूँ) । (६) त्वरित् दान जो पान [के रूप में] भी हँसकर दिया जाता है, वह थोड़ा दान भी तदनन्तर बहुत सा किए के बराबर होता है । (७) किन्तु यदि सेवा कराकर दान दीजिए तो वह दान नहीं है, भले ही उसे सेवा [का पारिश्रमिक या पुरस्कार] मान लीजिए ।' (८) दिया (दान) का दीपक वुझ चुका था, इसलिए वह सत्य नहीं रह गया था, जिससे [पहले] उसका रूप निर्मल था । (९) [परिणामतः] बहुत ही आँधी उड़कर आई और उसने मारकरके सब कुछ चौपट करके अंधकूप कर दिया ।

टिप्पणी—(१) बिनाती<विज्ञप्ति=कथन, निवेदन । (२) जहिआ<यदा=जब । (५) खेव्<क्षिप्=प्रेरणा करना, ठेलना, आगे बढ़ाना । (७) बरु<वरम्=भले ही । (८) दिआ<दीअअ<दीपक । सत<सत्य ।

जहाँ समुँद मँझधार भँडारू । फिरै पानि पातार दुवारू ।
फिरि फिरि पानि ओहि ठाँ भरई । बहुरि न निकसै जो तहँ परई ।
ओहि ठाँव महिरावन पुरी । हलका तर जमकातरि जुरी ।
ओहि ठाँव महिरावन मारा । परे हाड़ जनु परे पहारा ।
परी रीरि जहँ ताकरि पीठी । सेतबंध अस आवै डीठी ।
राकस आनि तहाँ कै छरै । बोहित भँवर चक्र महँ परै ।
फिरै लाग बोहित अस आई । जनु कुम्हार धरि चाक फिराई ।
राजैं कहा रे राकस बौरे जानि बूझि बौरासि ।
सेतबंध जहँ देखिअ आगें कस न तहाँ लै जासि ॥३६४॥

अर्थ—(१) जहाँ पर समुद्र का मँझधार का भाण्डार था, वहाँ पानी पाताल के द्वार पर चक्कर लगा रहा था । (२) पानी पुनः-पुनः [भँवर के रूप में] उसी स्थान पर जा भरता था, और जो वहाँ पड़ जाता, वह उससे लौटकर न निकल पाता । (३) उसी स्थान पर महिरावण की पुरी थी, और पानी के झकोर के नीचे यम की काँती आ जुटी थी । (४) उसी स्थान पर महिरावण मारा हुआ था, और उसकी हड्डियाँ इस प्रकार पड़ी हुई थीं जैसे पहाड़ हो । (५) जहाँ पर उसकी रीढ़ और पीठ [की हड्डियाँ] पड़ी

हुई थीं, वहाँ पर सेतुबंध ऐसा दिखाई पड़ता था। (६) राक्षस [रत्नसेन को] वहाँ लाकर छल रहा था, और जलयान उसी भँवर के चक्र में पड़ रहा था। (७) [वहाँ] आकर जलयान इस प्रकार चक्कर खाने लगा मानों कुम्हार चक्के को पकड़कर फिरा रहा हो। (८) राजा ने कहा, "हे बावले राक्षस, तू जान-बूझकर बावला हो रहा है। (९) जहाँ पर आगे सेतुबंध दिखाई पड़ रहा है, क्यों तू मुझे वहाँ नहीं ले जा रहा है?"

टिप्पणी--(३) जमकातरि<यम्कर्त्तरि=यम की कटार। महिरावण=लोक-कथा के अनुसार रावण का एक पुत्र जो राम-लक्ष्मण को बन्दी बनाकर अपनी पुरी में ले गया था। (४) हाड<हड्ड<अस्थि=हड्डी। (५) रीरि<रीढक=पीठ की बीच की हड्डी, रीढ़। (६) बोहित<बोहित्थ [दे०] वहित्र=जलयान। (७) बौरा<बाउल> बातूल=वातग्रस्त, बावला।

सुनि बाउर राकस तब हँसा। जानहुँ टूटि सरग भुइँ खसा।
को बाउर तुहुँ बौरे देखा। सो बाउर भख लागि सरेखा।
बाउर पंखि जो रह धरि माँटी। जीभ चढ़ाइ भखै निति चाँटी।
बाउर तुहुँ जो भखै कह आने। तबहुँ न समुझहु पंथ भुलाने।
महिरावन कै रीरि जो परी। कहाँ सो सेतबंध बुधि हरी।
यह सो आहि महिरावन पुरी। जहँवाँ सरग नियर घर दूरी।
अब पछिताहु दरब जस जोरा। करहु सरग चढ़ि हाथ मरोरा।
जबहिं जियत महिरावन लेत जगत कर भार।
जौं रे मुवा लेइ गया न हाड़ो अस होइ परा पहार ॥३६५॥

अर्थ--(१) 'बावला' [संबोधन] सुनकर तब राक्षस हँस पड़ा, [और उसका हँसना ऐसा लगा] मानो आकाश टूटकर भूमि पर आ गिरा हो। (२) [उसने कहा,] "ऐ बावले, तूने किसको बावला देखा? [जिसे बावला समझा जाता है] वह बावला भी अपने भक्ष्य के लिए सरेख (चतुर) होता है। (३) बावली पाँखी (पतिंगा) होती है जो मिट्टी (भूमि) के आश्रय में रहती है, किन्तु वह भी जिह्वा पर चींटियों को चढ़ाकर नित्य उनका भक्षण करती रहती है। (४) बावले तुम हो जिसे मैं भक्ष्य करने के लिए लाया हूँ, और तुम तब भी नहीं समझ रहे हो और मार्ग भूल रहे हो। (५) वहाँ जो महिरावण की रीढ़ पड़ी हुई है, वह सेतुबंध कहाँ है? तेरी बुद्धि हर उठी है। (६) यह तो महिरावण की पुरी है, जहाँ पर स्वर्ग निकट है और घर दूर है। (७) अब तुम पश्चात्ताप करो, जिस प्रकार तुमने द्रव्य जोड़ा है; अब तुम स्वर्ग चढ़कर हाथ मलो। (८) जब महिरावण जी रहा था, उसने जगत् भर का भार ले रक्खा था; (९) जब वह मर गया, वह अपनी हड्डियाँ भी न ले जा सका, जो इस प्रकार पहाड़ होकर यहाँ पड़ी रह गयीं।"

टिप्पणी--(१) खस् [दे०]=खिसकना, गिरना। (२) सरेख<संलेखित=तपस्या से जिसने अपने शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी, चतुर। (४) आन्<आ+नी=लाना। (५) रीरि<रीढक=पीठ की हड्डी। (९) मुवा<मृत। हाड़<हड्ड<अस्थि=हड्डी।

बोहित भवैं भवै जस पानी । नाचै राकस आस तुलानी ।
बूड़हिं हस्ति घोर मानवा । चहुँ दिस आइ जुरे मँसुखवा ।
तेतखन राजपंखि एक आवा । सिखर टूट तस डहन डोलावा ।
परा दिस्टि वह राकस खोटा । ताकेसि जैस हस्ति बड़ मोंटा ।
आइ ओहि राकस पर टूटा । गहि लै उड़ा भँवर जल छूटा ।
बोहित टूक टूक सब भए । अँस न जानै दहुँ कहँ गए ।
भए राजा रानी दुइ पाटा । दूनौ बहे भए दुइ बाटा ।
काया जीउ मिलाइ कै कीन्हेसि अनँद उछाहुँ ।
लवटि बिछोउ दीन्ह तस कोउ न जानै काहुँ ।।३६६।।

अर्थ—(१) [उस भँवर में पड़कर] पानी के साथ-साथ जलयान भी चक्कर खाने लगा, और आशा तुलती देखकर राक्षस [भी] नाचने लगा। (२) हाथी, घोड़े और मानव—सभी डूबने लगे, और उनके चारों ओर मांसभक्षी [पक्षी] आ-आकर इकट्ठे होने लगे। (३) उसी क्षण एक राजपक्षी आया, जब उसने अपने डैने हिलाए, तो [ऐसा लगा] मानो पर्वत का शिखर टूट पड़ा हो। (४) उस राजपक्षी की दृष्टि में वह खोटा राक्षस पड़ा, तो उसे उसने ऐसा ताका (समझा) कि कोई बड़ा मोटा हाथी है। (५) अतः वह आकर उसी राक्षस पर टूट-पड़ा, और उसे पकड़कर उड़ चला; [उसके उड़ने से जो हवा का झोंका उठा] उससे जल में भँवर छूट पड़ी। (६) समस्त जलयान टुकड़े-टुकड़े हो गए, और ऐसे बिखरे कि पता नहीं कि कहाँ-कहाँ चले गए। (७) राजा और रानी भी [अलग-अलग जलयान के] दो फलकों (पल्लों) पर वह निकले और बहकर दोनों दो बाट हो गए। (८) [जहाँ उस परमेश्वर ने दो प्राणियों के] काया और जीवों को मिलाकर आनंद और उत्साह दिया था, (९) वहीं उलट-कर उन्हें ऐसा विछोह भी दिया कि कोई किसी को न जान सका [कि वह कहाँ गया]।

टिप्पणी—(१) भवँ <भ्रम्<भ्रस्=चक्कर खाना। तुल्=तुलना, पहुँचना। (३) तेतखन<तत्क्षण। डहन<डयन=डैना, पंखा। (४) खोटा<खोड [दे०]=दोषयुक्त, दुष्ट। ताक्<तक्क<तर्कय्=विचार करना, समझना। (७) पाटा<पट्ट=फलक, लकड़ी का पल्ला। बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग। (८) उछाह<उत्साह=उत्सव।

मुरुछि परी पदुमावति रानी । कहँ जिउ कहँ पिउ ऐस न जानी ।
जानु चित्र मूरति गहि लाई । पाटा परी बही तसि जाई ।
जनम न पौन सहै सुकुमारा । तेहि सो परा दुख समुँद अपारा ।
लखमिनि मान समुँद कै बेटी । ता कहँ लच्छि भई जेइँ भेंटी ।
खेलत अही सहेलिन्ह सेंती । पाटा जाइ लगा तेहि रेती ।
कहेसि सहेलिहु देखहु पाटा । मूरति एक लागि एहि घाटा ।
जौं देखेन्हि तिरिया है साँसा । फूल मुएउ पै मुई न बासा ।
रंग जो राती पेम के जानहुँ बीर बहूटि ।
आइ बही दधि समुँद महँ पै रँग गएउ न छूटि ।।३६७।।

अर्थ—(१) पद्मावती रानी मूर्च्छित हो पड़ी, कहाँ उसका जीव था और कहाँ उसका प्रिय था, यह उसे ज्ञात न होता था। (२) मानो चित्र की मूर्ति पकड़कर लगा दी गई हो, काष्ठ-फलक पर इस प्रकार बहती हुई वह जा रही थी। (३) जिस सुकुमार बाला ने जन्म भर पवन [का झोंका] भी न सहा था, उस पर यह अपार दुःख-समुद्र आ पड़ा! (४) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) मान समुद्र की बेटी थी; वह ऐसी थी कि जिसने भी उससे भेंट की, उसको लक्ष्मी (सुख-समृद्धि) प्राप्त हुई। (५) जहाँ वह अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी, काष्ठ-फलक उसी समुद्र की रेती से जा लगा। (६) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) ने कहा, "सहेलियो, इस काष्ठ-फलक को देखो, [इस पर आसीन] एक मूर्त्ति इस घाट से आ लगी है। (७) जब उन्होंने उस स्त्री को देखा, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उसकी साँस शेष है; फूल मृत है किन्तु उसकी वासना नहीं गई है। (८) और वह प्रेम के रंग में रँगी हुई है, मानो वीर बहूटी हो; (९) वह दधि समुद्र में बहती हुई आई है, किन्तु उसका रंग छूट नहीं गया है।

टिप्पणी—(१) ऐस<ईदृश्=ऐसा। (२) पाटा<पट्ट=फलक, काष्ठ-फलक। (४) लखमिनी<लक्ष्मणा=लक्ष्मी। (५) सेंती सइं<समम्=साथ। (८) बीर-बहूटी—इन्द्रगोपा, एक लाल मखमली रंग का कीट जो वर्षा में रेंगता दिखाई पड़ता है। (९) दधि समुँद : [इसके वर्णन के लिए दे० छंद १५२]।

लखमिनि लखन बतीसौ लखी। कहेसि न मरै सभाँरहु सखी।
कागर पुतरी जैस सरीरा। पवन उड़ाइ परी मँझ नीरा।
उदधि झकोर लहरि जल भीजी। तबहु रूप रँग नाहीं छीजी।
आपु सीस लै बैठी कोरा। पवन डोलावहिं सखि चहुँ ओरा।
पहरक समुझि परा तन जीऊ। माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ।
पानि पियाइ सखी मुँह धोईं। पदुमिनि जानु कँवल सँग कोईं।
तब लखिमिनि दुख पूँछ मरोही। तिरिया समुझि बात कहु मोही।
देखि रूप तोर आगर लागि रहा चित मोर।
केहि नगरी कै नागरि काह नाउँ धनि तोर ॥३६८॥

अर्थ—(१) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) ने उसे बत्तीसों लक्षणों से युक्त देखा, तो उसने अपनी सखियों से कहा, "यह मरने न पावे, इसकी सँभाल करो। (२) इसका शरीर काग़ज़ की बनी उस पुतली के जैसा है, जो पवन से उड़ाई जाकर जल के मध्य आ पड़ी हो। (३) उदधि के झकोरों से उठी हुई लहरों के जल से यह भीगी है, तब भी रूप-रंग में यह क्षीण नहीं हुई है।" (४) [यह कहकर] वह आप ही उसके सिर को गोद में लेकर बैठ गई, और उसकी सखियाँ चारों ओर से वायु करने लगीं। (५) एक प्रहर के बाद पद्मावती के शरीर में जीव (प्राण) समझ पड़ा, और 'प्रिय' कहकर उसने पानी माँगा। (६) उसे पानी पिलाकर सखियों ने उसका मुँह धोया; उसके साथ वे सखियाँ ऐसी लगीं मानों कमलिनी के साथ कुमुदिनियाँ हों। (७) तब लक्ष्मणा (लक्ष्मी) ने उस मरणासन्ना से उसका दुःख पूछा, [और कहा,] "स्त्री समझकर मुझसे [बिना किसी संकोच के] अपनी वार्त्ता कहो। (८) तुम्हारा ऐसा बढ़ा-चढ़ा रूप देखकर तुमसे मेरा

चित्त लग रहा है; (९) बताओ, तुम किस नगरी की नागरी हो, और ऐ स्त्री, तुम्हारा नाम क्या है ?"

टिप्पणी--(१) लखन बतीस=बतीस शुभ लक्षण। (पुरुषों के ३२ लक्षणों के लिए दे० १९३-५ टिप्पणी--स्त्रियों के लक्षण भिन्न हो सकते हैं) (२) कागर<काग़ज़ [फ़ा०]। पुतरी<पुत्तली। (३) छीज्<क्षी=क्षीण होना। (४) कोर<कोड< क्रोड=गोद। (७) मरौही=मरने वाली, मरणासन्न। अपने 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में मैंने संशोधन के रूप में 'पिरौही' पाठ रक्खा था, किन्तु प्रतियों में 'मरौही' पाठ ही मिलता है, और वह संगत है, इसलिए संशोधन अनावश्यक है। इस सुझाव के लिए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कृतज्ञ हूँ। (८) आगर<अग्र=बढ़ा चढ़ा। (९) धनि< धन्या=स्त्री।

नैन पसारि चेत धनि चेती। देखै काह समुँद कै रेती।
आपन कोउ न देखेसि तहाँ। पूँछेसि को हम को तुम कहाँ।
अहीं जो सखीं कँवल सँग कोईं। सो नाहीं मोहि कहाँ बिछोईं।
कहाँ जगत मनि पीउ पियारा। जो सुमेरु बिधि गरुअ सँवारा।
ताकरि गरुई प्रीति अपारा। चढ़ी हिएँ जस चढ़ै पहारा।
रहै न गरुई प्रीति सो झाँपी। कैसे जियौं भार दुख चाँपी।
कँवल करी केइँ चूरी नाहाँ। दीन्ह बहाइ उदधि जल माहाँ।
आवा पौन बिछोउ का पात परा बेकरार।
तरिवर तजै जो चूरि कै लागै केहि की डार॥३६६॥

अर्थ--(१) नेत्रों को प्रसारित कर (धीरे-धीरे खोलकर) वह स्त्री जब चेत से चेतित हुई, वह देखती क्या है ? समुद्र की रेत ! (२) वहाँ उसने अपना आत्मीय कोई नहीं देखा, अतः उसने पूछा, "मैं कौन हूँ और तुम सब कौन हो और मैं कहाँ [आ गई] हूँ ? (३) जो मेरी सखियाँ कमलिनी के साथ कुमुदिनी रूप में थीं, वे नहीं हैं। उन्होंने मुझे कहाँ छोड़ दिया ? (४) संसार का मणि मेरा प्यारा प्रिय (पति) कहाँ है जो विधाता के द्वारा सुमेरु सदृश गुरु (गौरवपूर्ण) निर्मित किया गया है ? (५) उसकी अपार रूप से गुर्वी प्रीति मेरे हृदय में इस प्रकार चढ़ी हुई है जैसे पहाड़ चढ़ा हो। (६) वह गुर्वी प्रीति ढँकी नहीं रह रही है; [उसके] दुःख-भार से दबाई हुई मैं कैसे जीवित रहूँ ? (७) हे नाथ, इस कमल-कलिका को किसने तोड़ा और समुद्र के जल में प्रवाहित कर दिया। (८) विछोह का पवन जब आया, पत्ता बेचेत होकर गिर पड़ा; (९) यदि तरुवर [अपने] पत्ते को तोड़कर त्याग दे, तो वह किसकी डाल लग सकता है ?"

टिप्पणी--(१) पसार्<प्रसारय्=फैलाना : अचेतावस्था से चेत में आते हुए नेत्रों को धीरे-धीरे खोल पाने के अर्थ में 'पसार' का यह प्रयोग किया गया है। (३) कोई< कुमुदिनी। (४) पिआर<प्रियालु=प्यारा। (५) गरुई<गुर्वी। (६) झाँप्<झंप्= ढाँकना। चाँप्<चंप्=दबाना। (७) चूर्<चूरय्<चूर्णय्=तोड़ना, टुकड़े-टुकड़े करना। (८) बेकरार<बेक़रार [फ़ा०]=बेचेत।

कहेन्हि न जानहिं हम तोर पीऊ। हम तोहि पावा अहा न जीऊ।

पाटा परी आइ तूँ बही । अैसि न जानहिं दहुँ का अही ।
तब सो सुधि पदुमावति भई । सूर बिछोह मुरुछि मरि गई ।
बिनु सिर रकत सुराही ढारी । जनहुँ बकत सिर काटि पवारी ।
खिनहिं चेत खिन होइ बेकरारा । भा चंदन बंदन सब छारा ।
बाउर होइ परी सो पाटा । देहु बहाइ कंत जेहि घाटा ।
को मोहि आगि देइ रचि होरी । जियत जो बिछुरी सारस जोरी ।
जेहि सर मारि बिछोहि गा देहि ओहि सर आगि ।
लोग कहै यह सर चढ़ी हौं सो चढ़ौं पिय लागि ।।४००।।

अर्थ—(१) [उन सबों ने कहा,] "हम तेरे प्रिय (पति) को नहीं जानती हैं हमने तुझे ही पाया है, और [उस समय] तुझमें जीव नहीं था । (२) तू काष्ठ फलक पर पड़ी हुई बहती आई थी, और ऐसी आई थी कि न जाने तू क्या थी ।" (३) तब उसे उस बात की (पति से बिछोह की) सुधि (समझ) हुई, और सूर्य (प्रेमी) के बिछोह में वह पद्मिनी मूर्च्छित होकर मर गई । (४) [वह ऐसी लग रही थी] मानो बिना सिर [गर्दन] की रक्त की सुराही ढरका दी गई हो, अथवा कोई बत्तख़ हो जिसका सिर अलग कर उसे फेंक दिया गया हो । (५) एक क्षण चेत में आती तो दूसरे क्षण बेचेत होती थी, और उसके चंदन और रोली आदि सभी [अलंकरण] क्षार हो गए थे । (६) वह बावली होकर काष्ठ-फलक पर पड़ी हुई थी [और कह रही थी,] "जिस घाट पर मेरा कान्त हो, उसी घाट पर प्रवाहित कर [के मुझे भी भेज] दो । (७) [मैं मर रही हूँ,] होलिका (चिता) रचकर और उस पर मुझे रखकर कौन मुझे आग देगा (मेरा दाह करेगा) जो जीते जी ही यह सारस-प्रिया [अपने सारस से] बिछुड़ गई है । (८) जिस शर (वाण) से [सारस के जोड़े—नर सारस को] मारकर, ऐ अहेरी (विधाता), तूने मुझे उससे वियुक्त किया, उसी शर (सरकंडे) से तू मुझे [चिता की] आग भी दे, (९) जिससे लोग कहें कि इसने चितारोहण किया है, और मैं भी प्रिय के लिए चितारोहण कर सकूँ ।"

टिप्पणी—(२) पाटा<पट्ट=फलक, काष्ठ-फलक । (३) सुधि<शुद्धि=चेत । (४) बकत<बत्तख़ [फ़ा०]=एक लंबी गर्दन की प्रख्यात बड़ी चिड़िया । (५) बेकरारा<बेक़रार [फ़ा०]=बेचेत । बंदन<वन्दन=रोली, श्री । (७) सारस जोरी=सारस युग्म का मादा पक्षी । (८) सर<शर=वाण । वाणशर (सरकंडे) के टुकड़ों में आगे लोहे के फल लगाकर बनाए जाते थे, वे इसलिए 'शर' कहलाते थे । सर<शर=सरकंडा । चिता में सरकंडे से आग दी जाती रही है । (९) सर<शर=चिता । चिता की रचना तथा उसमें आग लगाने के लिए सरकंडे का प्रयोग होता रहा है, इसलिए यह नाम पड़ा ।

कया उदधि चितवौं पिय पाहाँ । देखौं रतन सो हिरदै माहाँ ।
जानु आहि दरपन मोर हिया । तेहि महँ दरस देखावै पिया ।
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी । अब तेहि लागि मरौं सुठि झूरी ।
पिउ हिरदै महँ भेंट न होई । को रे मिलाव कहौं केहि रोई ।

साँस पास नित आवै जाई । सो न सँदेस कहै मोहि आई ।
नैन कौड़िया भै मँड़राहीं । थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं ।
मन भँवरा ओहि कँवल बसेरी । होइ मरजिया न आनहिं हेरी ।
साथी आथि निआथि भै सकेसि न साथ निबाहि ।
जौं जिउ जारें पिउ मिलै फिटु रे जीयजरि जाहि ॥४०१॥

अर्थ—(१) "मेरी काया उदधि (समुद्र) है, उसमें जब प्रिय पर दृष्टि डालती हूँ, तो उस रत्न (रत्नसेन) को हृदय में देखती हूँ । (२) मानो मेरा हृदय दर्पण है, और उसमें मेरा प्रिय दर्शन दिखाता है । (३) नेत्रों के लिए वह निकट है, किन्तु पहुँचने के लिए अत्यधिक दूर है, इसलिए अब उसके लिए मैं चिन्तित होकर मर रही हूँ । (४) मेरा प्रिय मेरे हृदय में ही है, किन्तु [विडंबना यह है कि] उससे मिलना नहीं हो रहा है । कौन उससे मुझे मिलाए ? किससे मैं [उससे मिलाने के लिए रोकर कहूँ ? (५) मेरी साँस नित्य ही उस [दय-निवासी] प्रिय के पास आती-जाती है, किन्तु वह उसका कोई सन्देश वहाँ से आकर नहीं कहती है । (६) मेरे नेत्र कौड़िया पक्षी होकर [इस आशा में] मँडराते रहते हैं [कि वह रत्न उलथकर ऊपर झलके, तो वे उसे पकड़ लें], किन्तु वे भी थिरक मारकर उसे नहीं लाते हैं ! (७) मेरा मन-भ्रमर भी उसी कलिका निवासी है किन्तु वह मरजीवा बनकर उसे नहीं ढूँढ़ लाता है । (८) यह जीव, अस्ति-नास्ति [की स्थितियों] का सार्थिक होकर भी [उस प्रिय का] सार्थ नहीं निभा सका; (९) इसलिए यदि इस जीव के जला देने से प्रिय मिलता हो, तो यह जीव नष्ट हो जाए और जल जाए ।"

टिप्पणी—(१) कया<काया=शरीर । (६) कौड़िया=एक समुद्री पक्षी, जिसके संबंध में धारणा थी कि वह रत्नों को चुगता है जब वे उलथकर समुद्र में ऊपर आ झलकते हैं । मँडराय्<मण्डलाय्=मंडलाकार उड़ना । थिरक्=[नृत्य की एक विशिष्ट गति की भाँति] क्षिप्र गति से पद-निक्षेप करना । (७) मरजिआ<मरजीवय<मरजीवक [दे०] = समुद्र में रत्नादि निकालने के लिए डुबकी लगाने वाला । (८) साथी <सत्थिअ<सार्थिक = सार्थ (समूह) का व्यक्ति । आथि निआथि<अत्थि-णत्थि< अस्ति-नास्ति=भाव-अभाव, जगत् के अस्तित्व-अनस्तित्व की स्थितियाँ । साथ<सत्थ< सार्थ=प्राणियों का समूह । (९) फिट् [दे०] नष्ट होना ।

इस छंद में कवि ने पारमार्थिक प्रेम और विरह के अपने सिद्धान्तों का अत्यंत भावपूर्ण उद्घाटन किया है । इस छंद की प्रत्येक पंक्ति कवि के सिद्धान्तों के समझने के लिए उपयोगी है ।

सती होइ कहँ सीस उघारै । घन महँ बिज्जु घाय जस मारै ।
सेंदुर जरै आगि जनु लाई । सिर की आगि सँभारि न जाई ।
छूटि माँग सब मोंति पुरोई । बारहिं बार गरहिं जनु रोई ।
टूटहिं मोंति बिछोहा भरे । सावन बुंद गरहिं जनु ढरे ।
भहर भहर कर जोबन बरा । जानहुँ कनक अगिनि महँ परा ।
अगिनि माँग पै देइ न कोई । पाहन पवन पानि सुनि होई ।

कनै लंक टूटी दुख जरी । बिनु रावन केहि बर होइ खरी ।
रोवत पंखि बिमोहे जनु कोकिला अरंभ ।
जाकरि कनक लता यह बिछुरी कहाँ सो प्रीतम खंभ ॥४०२॥

अर्थ--(१) [यह कहकर] सती होने के लिए पद्मावती ने सिर पर का वस्त्र हटाया, तो ऐसा जान पड़ा मानो बादलों (केश) में बिजली (माँग) ने प्रहार किया हो। (२) उसका सिन्दूर जलने लगा, मानो आग लगा दी गई हो, और उसके सिर की वह आग सँभाली नहीं जा रही थी। (३) उसकी समस्त माँग, जो कि मोतियों से पूरी हुई थी, छूट पड़ी, मानो वह माँग बार-बार रो-रोकर गल (गिर) रही थी। (४) उसमें जो मोती [पूरे हुए] थे, वे बिछोह से भरकर [क्योंकि वह सती होने के लिए प्रस्तुत थी] [इस प्रकार] टूटने (गिरने) लगे, मानो सावन की बूँदें ढलककर गल (गिर) रही हों। (५) उसका यौवन भहर-भहर (भक्-भक्) कर के इस प्रकार जल रहा था मानो सोना आग में पड़ गया हो। (६) वह [सती होने के लिए] अग्नि माँग रही थी, किन्तु कोई दे नहीं रहा था; उसकी अग्नि-याचना को सुनकर पाषाण भी पवन और पानी हो रहा था। (७) दुख से जलकर कनक-लंक (कटि और लंका) टूट गई थी, बिना रावन (रावण और रमण) के वह किसके बल पर खड़ी हो? (८) उसके रुदन से पक्षी विमुग्ध हो गए; [उन्हें लगा] मानो कोकिला ने [रोना] आरंभ किया हो। (९) [वे कहने लगे,] जिसकी यह कनकलता बिछुड़ गई है, वह प्रियतम खंभा [जिस पर यह चढ़ रही थी] कहाँ है?

टिप्पणी--(१) उघार्<उग्घाड<उद्घाटय्=उघाड़ना, खोलना। घाय<घात=चोट। (३) पुरोव्<पूरय्=पूरना, भरना। (५) बर्<बल्<ज्वल्=जलना। (६) पाहन<पाषाण। (७) कनै<कनक। लंक=[१] लंका, [२] कटि। रावन=[१] रावण, [२] रमण, पति। बर<बल। (८) अरंभ<आरंभ=आरंभ करना। (९) खंभ<स्कम्भ=खंभा, सहारा।

लखिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनि जिऔ तोर पीऊ।
पिउ पानीं होइ पौन अधारी। जस हौं तुहूँ समुंद्र कै बारी।
मैं तोहि लागि लेब खटवाटू। खोजब पितैं जहाँ लगि घाटू।
हौं जेहि मिलौं तासु बड़ भागू। राज पाट औ होइ सोहागू।
कै बुझाउ लै मँदिल सिधारी। भई सुसार जेंवै नहिं नारी।
जेहि रे कंत कर होइ बिछोवा। का तेहि भूख नींद का सोवा।
जिउ हमार पिउ लेबे अहा। दरसन देउ लेउ जब चहा।
लखिमिनि जाइ समुँद पहँ बिनईं ते सब बातैं चालि।
कहा समुंद्र अहै घट मोरें आनि मिलावौं कालि ॥४०३॥

अर्थ--(१) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) उसके [जलते हुए] जीव को बुझाने लगी, [और कहने लगी,] "ऐ भगिनी, तू न मर, तेरा प्रिय जीवित है। (२) पानी पी और वायु का आधार ले (साँस ले); जैसी मैं हूँ, तू भी समुद्र की कन्या है [यह समझ]। (३) मैं तेरे लिए खटवाट लूँगी (खाट पर पड़ जाऊँगी) और [तब अवश्य ही] मेरे पिता जहाँ

तक भी [समुद्र के] घाट हैं वहाँ तक [तेरे प्रिय की] खोज करेंगे। (४) मैं जिसे मिलती हूँ उसका बड़ा भाग्य होता है, उसे राज्य, सिंहासन और सौभाग्य की प्राप्ति होती है। (५) [इस प्रकार] समझा-बुझाकर उसे वह मंदिर (राजभवन) में ले गई। सुरस [रसोई] हुई, किन्तु नारी (पद्मावती) ने भोजन करना नहीं स्वीकार किया। (६) [उसने कहा,] "जिसे कान्त का विछोह होता है, उसे भूख, नींद और सोना कहाँ? (७) मेरा जीव प्रिय को लेने (लाने) पर [लगा हुआ] है, उसका दर्शन दो (कराओ) तो जब चाहे [मेरे जीव को] लो।" (८) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) ने समुद्र के पास जाकर उन सब बातों को चला (छेड़) कर वह बिनती की [जो पद्मावती ने की थी]; (९) [इस पर] समुद्र ने कहा, "वह (रत्नसेन) मेरे घट में ही है, उसे लाकर मैं कल ही मिलाऊँगा।"

टिप्पणी--(१) लखमिनि<लक्ष्मणा=लक्ष्मी। (२) बारी<बालिका। (३) खटवाट<खट्टा-वट्ट<खट्वा-वृत्ति=खाट पर पड़ने की प्रवृत्ति। (४) पाट<पट्ट=सिंहासन। (५) सुसार=सुरस (८) बिनव्<विण्णव्<विज्ञापय्=कहना, निवेदन करना। (९) कालि<कल्ल<कल्य=आनेवाला कल।

राजा जाइ तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोइ सँदेसी कागा।
तहाँ एक परबत हा ढूँगा। जहवाँ सब कपूर औ मूँगा।
तेहि चढ़ि हेरा कोइ न साथा। दरब सैंति कछु लाग न हाथा।
अहा जो रावन रैनि बसेरा। गा हेराइ कोइ मिलै न हेरा।
धाह मेलि कै राजा रोवा। केइँ चितउर कर राज बिछोवा।
कहाँ मोर सब दरब भँडारू। कहाँ मोर सब कटक खँधारू।
कहाँ मोर तुरग बालका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंघली।
कहँ रानी पदुमावति जीउ बसत तेहि पाहँ।
मोर मोर कै खोएउँ भूलेउँ गरब मनाहँ ॥४०४॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) बहकर वहाँ जा लगा, जहाँ पर कोई सन्देशवाहक [यहाँ तक कि] काग भी न था। (२) वहाँ एक ढूंगा पर्वत था, जहाँ सब कुछ कपूर और मूँगा ही थे। (३) उस पर चढ़कर देखा, साथ में कोई न था। [उसने कहा,] "द्रव्य बटोरकर हाथ कुछ न लगा। (४) जो रावण का रात्रि का निवास था (उसके सदृश मेरा जो सुख-सौख्य था), वह गुम हो गया, और ढूँढ़ने से भी नहीं मिल रहा है!" (५) [यह कहकर] राजा धाड़ मारकर रो पड़ा, [और कहने लगा], "किसने मेरा चित्तौर का राज्य (राजकीय वैभव) मुझसे अलग किया? (६) मेरा समस्त द्रव्य-भांडार कहाँ है? और, मेरा समस्त कटक स्कन्धावार कहाँ है? (७) मेरा बलशाली बालका तुरंग कहाँ है? मेरा सिंहली हाथी कहाँ है? (८) [मेरी] रानी पद्मावती कहाँ है, जिसके पास मेरा जीव निवास करता है? (९) मैंने 'मेरा', 'मेरा' करके [सब-कुछ]खो दिया, जब मैं मन के गर्व में [अपने को] भूल गया!"

टिप्पणी--(१) ढूंगा=ठिगना, नीचा। (३) साथ<सत्थ<सार्थ=जन-समूह, मंडली। सैंत्=इकट्ठा करना। (४) रैनि<रयणी<रजनी। (५) धार=पुकार, चिल्ला-

हट, धाड़। (६) खँधार<स्कन्धावार=सैनिक छावनी। (७) बालका=घोड़ की जाति-विशेष (८) पाह<पार्श्व।

चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा।
पदुमिनि चाह जहाँ सुनि पावौं। परौं आगि औ पानि धसावौं।
ढूँढ़ौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा।
कहँ अस गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ को होइ सँदेसी।
परेउँ आइ तेहि समुँद अथाहा। जहवाँ वार पार नहिं थाहा।
सीता हरन राम संग्रामा। हनिवँत मिला मिली तब रामा।
मोहि न कोइ केहि बिनवौं रोई। को बर बाँधि गवेंसी होई।
भँवर जो पावा कँवल कहँ मन चिंता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ चूरि गएउ सब बेलि॥ ४०५॥

अर्थ--(१) चंपक और भ्रमर का जो मिलाप होता है, [विधाता से] राजा (रत्नसेन) वह माँगता (चाहता) था, किन्तु वह शीघ्र उसे मिलने वाला नहीं था। (२) [यह देखते हुए] वह कहने लगा, "मैं पद्मिनी का कुशल-समाचार जहाँ सुन पाऊँ, [उस स्थान पर पहुँचने के लिए] आग में कूद सकता हूँ और पानी में धँस सकता हूँ, (३) सुमेरु पर्वत में खोज कर सकता हूँ, आकाश पर चढ़ और पाताल में गिर सकता हूँ। (४) कहाँ ऐसा उपदेश देने वाला गुरु मैं पाऊँ जो उस अगम्य पथ का सन्देश देने वाला हो? (५) [अब] मैं उस अथाह समुद्र में आ पड़ा हूँ जिसका न ओर है न छोर और न जिसकी थाह है। (६) सीता-हरण और राम-रावण-युद्ध [भले ही हुए] किन्तु हनुमान [जैसा संदेशी] मिला तभी तो वह रामा (सीता) [राम को] प्राप्त हुई? (७) मेरे लिए तो कोई नहीं है; मैं किससे रोकर विनय करूँ? कौन बल बाँधकर (साहस कर) [मेरी ओर से] पद्मिनी की खोज करने वाला होगा? (८) भौंरे (प्रेमी) ने जो कमलिनी (प्रेमिका) को प्राप्त किया, तो उसने मन में बहुतेरी केलि की कल्पना की; (९) किन्तु [तब तक] कोई हस्ती (संकट) वहाँ आ पड़ा और वह उसकी समस्त [आशा] वल्लरी को तोड़-ताड़ गया।"

टिप्पणी--(१) चंपा भँवरा कर जो मिलावा : चम्पक और भ्रमर का मिलन मृत्युदायक होता है। भौरहि मीचु निअर जब आवा। चंपा बास लेन कहँ धावा। अब वह जीवन में व्यथित होकर प्राण देना चाहता था किन्तु एक बार अपनी चम्पा (पद्मावती) से मिल कर। (५) वार(<आरओं<आरतस्=पास में)=पास का किनारा,। पार=दूसरा (दूर का) किनारा। (७) गवेंसी<गवेषिण्=खोज करने वाला। (९) चूर्<चूरय्<चूर्णय्=चूर्ण करना, तोड़ना, खंड-खंड करना।

कासुँ पुकारौं का पहँ जाऊँ। गाढ़ें मीत होइ एहि ठाऊँ।
को यह समुँद मँथै बर बाढ़ा। को मथि रतन पदारथ काढ़ा।
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू। कहाँ सो मेरु कहाँ सो सेसू।
को अस साज मेरावै आनी। बासुकि वोढ सुमेरु मथानी।
को दधि मथै समुँद जस मँथा। करनी सार न कथनी कथा।

जौं लगि मथै न कोइ दै जीऊ। सूधी अँगुरी न निकसै घीऊ।
लै नग मोर समुँद भा बटा। गाढ परै तौ पै परगटा।
लीलि रहा अब ढील होइ पेट पदारथ मेलि।
को उजियार करै जग झापाँ चाँद उघेलि ॥४०६॥

अर्थ—(१) उसने कहा, "किसको पुकारूँ और किसके पास जाऊँ जो संकट के समय इस स्थान पर मेरा मित्र हो? (२) कौन ऐसा है कि समुद्र-मंथन के लिए जिसका बल बढ़ा हो? उसे मथकर कौन उसमें से रत्न-पदार्थ (रूप पद्मिनी) को निकालेगा? (३) [उस समुद्र-मंथन के समय जो शक्तियाँ थीं वे आज कहाँ हैं?] वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहाँ हैं? और कहाँ वह मेरु तथा शेष हैं? (४) आज वैसा साज कौन लाकर जुटाएगा कि वासुकी रस्सी हो और मेरु मंथन दंड हो? (५) [पुनः] कौन दधि [-समुद्र] को उस प्रकार मथ सकता है जैसे [क्षीर] समुद्र मथा गया था? [सिद्धि के लिए] करनी ही सार पदार्थ है, कथनी की कथा नहीं। (६) जब तक जीव (प्राणों को) देकर कोई मंथन नहीं करता है, तब तक [कुछ संभव नहीं है] सीधी उँगली से तो घी भी नहीं निकलता है। (७) मेरा नग (पद्मिनी) लेकर समुद्र अपने रास्ते लगा (चलता बना) है; [अब तो] उसके ऊपर कोई कठिनाई पड़े, तभी वह [उसको लेकर] प्रकट होगा। (८) वह पेट में पदार्थ (पद्मिनी) को रखकर और अब ढीला (निश्चिन्त) होकर वह उसे निगल गया है। (९) अब कौन उस ढँके हुए चन्द्र को उद्घाटित करके [मेरे] जगत् को उज्ज्वल (प्रकाशित) करेगा?

टिप्पणी—(२) बर<बल। काढ़<कड्ढ<कृष् = काढ़ना, निकालना। (४) आन्<आ+नी=लाना। बोढ<बोढु<बोढृ=वहन करने वाला, रस्सी। 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में मैंने 'बंध' पाठ स्वीकार किया था, किन्तु मूल पाठ 'बोढ' ही प्रमाणित होता है, जिससे नागरी लिपि के माध्यम से 'बैठ' 'बैह', 'बोइध' विकृतियाँ हुईं, और फ़ारसी लिपि के माध्यम से डेढ [<बोइढ], 'होइ दधि' विकृतियाँ हुईं; 'बंध' पाठ प्रसंगार्थ समझ कर किया हुआ प्रक्षेप ज्ञात होता है। [तुल० साँस बोढ मन मथनी गाढ़ी। (१५२-४): वहाँ भी पाठांतर प्रायः इसी प्रकार हैं और प्रसंगार्थ के आधार पर एक प्रति में दवालै '(<दुवालै') प्रक्षेप किया गया है]। (८) ढील<ढिल्ल [दे०]=ढीला, शिथिल, निश्चित। (९) उघेल्<उग्घड्<उद्+घाटय्=खोलना।

ऐ गोसाइँ तू सिरजनहारू। तूँ सिरिजा यहु समुँद अपारू।
तूँ जल ऊपर धरती राखे। जगत भार लै भार न भाखे।
तूँ यह गँगन अंतरिख थाँभा। जहाँ न टेक न थूनी खाँभा।
चाँद सुरुज औ नखतन्ह पाँती। तोरे डर धावहिं दिन राती।
पानी पवन अगिनि औ माँटी। सब की पीठि तोरि है साँटी।
सो अमुरुख बाउर औ अंधा। तोहि छाँड़ि औरहिं चित बंधा।
घट घट जगत तोरि है डीठी। हौं अंधा जेहि सूझ न पीठी।
पौन हुतें भा पानी पानि हुतें भै आगि।
आगि हुतें भै माँटी गोरख धंधै लागि ॥४०७॥

अर्थ—[रत्नसेन विनती करना प्रारम्भ किया,] "(१) ऐ स्वामी, तू निर्माता है, तू ने ही यह अपार समुद्र निर्मित किया है; (२) तूने जल पर धरती को रक्खा है, और जगत् का भार लेकर उसको भार नहीं कहा है (तेरे लिए वह भार नहीं हुआ है); (३) तूने ही अन्तरिक्ष में इस आकाश को थाम रक्खा है, जहाँ न कोई सहारे की लकड़ी, थून और खंभा है; (४) चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों की पंक्तियाँ, तेरे डर से [उस आकाश में] दिन-रात [यथा-समय] दौड़ती रहती हैं; (५) पानी, पवन, अग्नि, मिट्टी—सभी की पीठ पर तेरी चाबुक रहती है; (६) [इसलिए] वह मूर्ख, बावला और अंधा है, जो तुझे छोड़कर किसी अन्य से चित्त बाँधता है; (७) जगत् में प्रत्येक प्राणी के घट के भीतर तेरी दृष्टि है, किन्तु मैं अंधा हूँ जिसे अपनी पीठ भी नहीं सूझती है। (८) पवन से पानी हुआ, और पानी से आग हुई, (९) और आग से भी [सृष्टि के] गोरखधंधे के लिए मिट्टी हुई।"

टिप्पणी—(१) सिरजन हार<सर्जन-कारिन्=निर्माण करनेवाला। (२) भाख्<भाष्=कहना। (३) अंतरिख<अंतरिक्ख<अन्तरिक्ष। थूनी<थूण<स्थूण=स्कन्ध तक का पेड़ का तना जो छाजन आदि को टेकने के लिए लगाया जाता है। खाँभ<स्कम्भ=खंभा। (५) माँटी<मट्टिआ<मृत्तिका। साँटी<सटा=बालों की गूथी हुई डोरी, चाबुक। (६) अमुरुख<मूर्ख। बाउर<बाउल<वातूल=बावला, बातग्रस्त, पागल। (७) घट=शरीर। पीठि<पिट्ट<पृष्ठ।

इस छंद में सृष्टि-धारण और उत्पत्ति के विषय के जायसी के विचार व्यक्त हुए हैं, जो प्रायः इस्लाम के उन विचारों से मिलते जुलते हैं जो 'क़ुरआन' में प्रतिपादित हैं।

तूँ जिउ तन मेरवसि दै आऊ। तुँही बिछोवसि करसि मेराऊ।
चौदह भुवन सो तोरें हाथा। जहँ लगि बिछुरे औ एक साथा।
सब कर मरम भेद तोहि पहाँ। रोम जमावसि टूटै तहाँ।
जानसि सबै अवस्था मोरी। जस बिछुरी सारस कै जोरी।
एक मुए सँग मरै सो दूजी। रहा न जाइ आइ सब पूजी।
झूरत तपत दगधि का मरऊँ। कलपौं सीस बेगि निस्तरऊँ।
मरौं सो लै पदुमावति नाँऊ। तूँ करतार करसि एक ठाँऊ।
दुख जो पिरीतम भेंटि कै सुक्ख न सोवै कोइ।
इहै ठाउँ मन डरपै मिलि न बिछोवा होइ ॥४०८॥

अर्थ—(१) "तू मनुष्य को आयु देकर उसके शरीर में जीव को डालता है; तू विछोव (विच्छेद) और तू ही मिलाप करता है; चौदह भुवनों में जहाँ तक भी बिछुड़े और एक-साथ (मिले हुए) हैं, वे सब तेरी मुट्ठी में हैं। (३) सभी के मर्म और भेद तेरे पास हैं, जहाँ उनके रोएँ भी टूटते हैं, तू ही उन्हें जमाता (पुनः उत्पन्न करता) है। (४) तू मेरी समस्त दशा जानता है; [मैं ऐसा हो रहा हूँ] जैसा वह सारस होता है जिसकी जोड़ी (जिसका मादा) बिछुड़ गई हो, (५) जिनमें से एक (नर) जब मर जाता है, तो उसके साथ दूसरी (उसकी मादा) भी मर जाती है। अब मुझसे रहा नहीं

जा रहा है, और मेरी आयु पूरी हो गई है। (६) सूखते और तप्त होते, जल कर क्या मरूँ ? सिर ही काट डालूँ जिससे शीघ्र [इस दुःख से] निस्तार पा जाऊँ [यह मैंने निश्चय किया है]। (७) अतः मैं 'पद्मावती' का नाम लेते हुए मर रहा हूँ; हे कर्त्ता, तू हम दोनों को एक स्थान पर करे ! (८) [सब से बड़ा] दुःख यह होता है कि प्रियतम से मिल पाने के अनंतर भी सुख से [उसके साथ] सो न सके; (९) [संयोग में भी] इसी स्थिति से मन डरता रहता है, कि कहीं मिलकर भी विछोह न हो।"

टिप्पणी--(१) आउ<आयु। (२) बिछुरा<विच्छुडिअ<विच्छुटित = विछुड़ा हुआ, अलग हुआ। (३) पाह<पार्श्व=पास। (४) जनाव्<जन्म + आपय् (?)= जन्माना, (६) झूर<ज्वल्=सूखता, संतप्त होना। कलप्<क्लृप् = काटना। (८) विछोव<विच्छोय<विच्छेद = अलग होना, विरह।

इस छंद की प्रारंभिक पंक्तियों में मानव-निर्माण के संबंध के जायसी के विचार हैं, जो 'क़ुरआन' के विचारों से मिलते हैं।

कहि कै उठा समुँद महँ आवा। काढ़ि कटार गरे लै आवा।
कहा समुंद्र पाप अब घटा। बाँभन रूप आइ परगटा।
तिलक दुवादस मस्तक दीन्हे। हाथ कनक बैसाखी लीन्हे।
मुंद्रा कान जनेऊ काँधे। कनक पत्र धोती तर बाँधे।
पायन्ह कनक जराऊ पाऊँ। दीन्ह असीस आइ तेहि ठाऊँ।
कहु रे कुँवर मोसौं यह बाता। काहे लागि करसि अपघाता।
परिहँसि मरसि कि कौनेहुँ लाजा। आपन जीउ देसि केहि काजा।
जनि कटार कँठ लावसि समुझि देखु जिउ आपु।
सकति हँकारि जीव जो काढ़ै महा दोख औ पापु ॥४०६॥

अर्थ--(१) यह कह कर वह उठा और समुद्र में आया; कटार निकालकर उसे उसने गले से लगाया [कि सिर काटकर आत्मघात करे]। (२) यह देखकर समुद्र ने [मन में] कहा (सोचा) कि अब इसका पाप घट (कट) चुका था, इसलिए ब्राह्मण के रूप में वह आकर प्रकट हुआ। (३) वह मस्तक पर द्वादश तिलक किए हुए था, और हाथ में सोने की बैसाखी लिए हुए था; (४) कानों में मुद्रा तथा कंधे पर यज्ञोपवीत [धारण किए हुए] था, धोती के नीचे कनक-पत्र बाँधे हुए था; (५) उसके पैरों में कनक की जड़ावदार पादुका थी। उस स्थान पर [इस वेष में आकर] उसने आशीर्वाद दिया। (६) उसने कहा, "ऐ कुमार, मुझसे एक बात बता; तू किसलिए यह अपघात (आत्मघात) कर रहा है ? (७) तू किस परिहास के कारण मर रहा है या किस लज्जा के कारण ? तू अपना जीव किस कार्य के लिए दे रहा है ? (८) तू कटार कंठ से न लगा; तू अपने जी में स्वयं समझ ले; (९) अपनी शक्ति को पुकार (आमंत्रित) कर यदि कोई जीव (प्राणों) को निकालता है, तो उसे महादोष और अपराध होता है।"

टिप्पणी--(३) मस्तक तिलक दुआदस कीन्हें : तुल० द्वादस तिलक चंदन की षौलि। (वीसलदवरास १०२.२) बैसाखी<वैशाखिन्=वह लकड़ी जिस पर टेक देकर कृश

अथवा लूले-लँगड़े चलते हैं। (४) मुंद्रा<मुद्रा। कनकपत्र=एक प्रकार का कपड़ा जिस पर सोने के पत्र (वरक) चिपकाए होते थे। महीन धोतियों के नीचे समृद्ध लोग कदाचित् नगोट के रूप में इसका प्रयोग करते थे। (दे० २८२.९) (५) पाउ<पाउआ<पादुका=खड़ाऊँ। (६) अपघात<अप्पघात<आत्मघात। (९) काढ़<कड्ढ<कृष्=निकालना, बाहर करना।

को तुम्हँ उतर देइ हो पाँड़े। सो बोलै जाकर जिय भाँड़े।
जंबू दीप केर हौं राजा। सो मैं कीन्ह जो करत न छाजा।
सिंघल दीप राज घर बारी। सो मैं जाइ बियाही नारी।
लाख बोहित तेइँ दाइज भरे। नग अमोल औ सब निरमरे।
रतन पदारथ मानिक मोंती। हती न काहु के संपति ओती।
बहुल घोर हस्ती सिंघली। औ सँग कुँवर लाख दुइ बली।
तेहि गोहन सिंघल पदुमिनी। एक सों एक चाहि रूपमनी।
पदुमावति संसार रूपमनि कहँ लगि कहौं दुहेल।
एत सब आइ समुँद महँ खोएउँ हौं काजियौं अकेल ॥४१०॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "हे पंडित, तुम्हें कौन उत्तर दे? वही बोल (उत्तर दे) सकता है जिसका जीव उसके भांड (घट) में होता है। (२) मैं जंबू द्वीप का राजा हूँ। किन्तु मैंने वह किया जो करते हुए मुझे शोभा नहीं देता था; (३) सिंहल द्वीप के राज गृह में एक कन्या थी, उस नारी को [वहाँ] जाकर मैंने ब्याहा। (४) उसने (उस राजा ने) एक लाख जलयान दायज से भर दिए: [उनमें] अमूल्य नग थे और वे सब निर्मल थे; (५) रत्न, पदार्थ (हीरे), माणिक, और मौक्तिक [इतने थे कि] किसी अन्य के पास उतनी संपत्ति नहीं थी। (६) [पुनः उसने] बहुलता से घोड़े, सिंहली हस्ती तथा दो लाख बलशाली कुमार साथ में दिए। (७) इसके साथ-साथ सिंहल की पद्मिनियाँ दीं, जो एक से एक अधिक रूपमणि थीं। (८) पद्मावती तो [इनमें] संसार का रूपमणि थी, कहाँ तक मैं [उस] दुर्हेल्य [घटना] को कहूँ? (९) और इतना सब मैंने आकर समुद्र में खो दिया, इसलिए मैं अकेला क्या (किसलिए) जीवित रहूँ?"

टिप्पणी—(१) पाँडे<पंडिअ<पण्डित। भाँड<भण्ड=बर्त्तन, घट, शरीर। (३) बारी<बालिका। (४) बोहित<बोहित्थ [दे०] वहित्र=जलयान। (५) पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि। (६) बहुल=बहुतेरा। (७) गोहन<साथ। (८) दुहेल<दुर्हेल्य।

हँसा समुँद होइ उठा अँजोरा। जग जो बूड़ सब कहि कहि मोरा।
तोर होत तोहि परत न बेरा। बूझि बिचारि तुँही केहि केरा।
हाथ मरोरि धुनै सिर माँखी। पै तोहि हिएँ न उघरी आँखी।
बहुतन्ह ऐस रोइ सिर मारा। हाथ न रहा झूठ संसारा।
जौं पै जगत होति थिर माया। सैंतत सिद्ध न पावत राया।
बड़ेन्ह जौं नहिं सैंता औ गाड़ा। देखा भार चूँचि कै छाड़ा।
पानी कै पानी महँ गई। जौं तू बचा कुसल सब भई।

जाकर दीन्ह कया जिउ लीन्ह चाह जब भाव ।
धन लछिमी सब ताकरि लेइ तौ का पछिताव ॥४११॥

अर्थ—(१) समुद्र [यह सब सुनकर] हँस पड़ा तो प्रकाश हो गया; [उसने कहा,] "संसार जो डूबा (नष्ट हुआ) है वह सभी 'मेरा' कह-कह कर (ममत्व की भावना के कारण) ही डूबा है। (२) यह सब तेरा होता तो तेरे सामने यह वेला न आती ; तू ही विचार करके समझ, कि यह सब किसका है? (३) मक्खी भी हाथ मलकर सिर पीटती [और इस प्रकार पश्चात्ताप करती] है, किन्तु तेरे हृदय में आँखें अभी तक नहीं खुलीं। (४) बहुतेरों ने इसी प्रकार रो-रोकर सिर पटका है, किन्तु झूठा संसार (संसार की झूठी माया) उनके हाथ में न रह सका। (७) यदि जगत् में माया स्थिर [रहने वाली] होती, तो उसे सिद्ध बटोर लेते और राजा न पाते। (६) बड़ों ने जो उसे बटोरा और गाड़ा नहीं, तो उन्होंने उसका भार देखकर चूमकर उसे छोड़ दिया। (७) वह सब [रत्नादिक वस्तुएँ] पानी की वस्तुएँ थीं, और वे पानी में ही गईं; [अतः] यदि तू बच गया, तो सब कुशल ही हुआ। (८) जिसके दिए हुए यह काया और जीव हैं, जब उसे भाता है, वह इन्हें [वापिस] ले लेना चाहता है; (९) धन और लक्ष्मी सब उसी के हैं, यदि वह उन्हें ले लेता है, तो पछतावा क्या (किस बात का) ?"

टिप्पणी—(१) **अँजोर<औज्ज्वल्य=प्रकाश। बूड़<बुड्ड<ब्रुड्=डूबना।** (२) **बेरा<वेला।** (३) **उघर<उद्+घट्=उघड़ना, खुलना।** (५) **सैंत्=संचित करना।** (९) **पछताव<पश्चात्ताप।**

अनु पाँड़े फुर कहिअ कहानी । जौं पावौं पदुमावति रानी ।
तपि कै पाव उमरि कर फूला । पुनि तेहि खोइ सोइ पँथ भूला ।
पुरुख न आपन नारि सराहा । मुएँ गएँ सँवरा पै चाहा ।
कहँ असि नारि जगत महँ होई । कहँ अस जिवन मिलन सुख सोई ।
कहँ अस रहस भोग अब करना । औसे जियन चाहि भल मरना ।
जहँ अस बरै समुँद नग दिया । तहँ किमि जीव आछै मरजिया ।
जस एइँ समुँद दीन्ह दुख मोकाँ । दै हत्या झगरौं सिवलोकाँ ।
का मैं एहिक नसावा का एइँ सँवरा दाउ ।
जाइ सरग पर होइहि एकर मोर नियाउ ॥४१२॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "हे पांडे, अवश्य; यह स्फुट (ठीक) ही है, किन्तु यह कहानी तब कहो जब मैं पद्मावती रानी को पा जाऊँ। (२) यदि कोई तप करके गूलर का फूल पाता है, तो तदनन्तर उसको खोकर वह उसके मार्ग में भटकता रहता ही है। (३) पुरुष अपनी स्त्री की सराहना नहीं करता है, किन्तु मृत होने अथवा [कहीं] जाने पर उसका स्मरण, हो न हो, करना चाहता है। (४) ऐसी (पद्मावती के जैसी) नारी संसार में होगी, और कहाँ जीवन में ऐसा मिलन का सुख होगा? कहाँ इस प्रकार के हर्ष और सुख भोग तथा करण मिलेंगे? ऐसे जीवन की अपेक्षा मरण भला है। (६) जहाँ पर (जब कि) समुद्र में ऐसे नग-दीपक जलते रहते हैं, वहाँ पर (ऐसी दशा में) मरजीवे का जीवन कैसे रह सकता है [वह अवश्य ही उसमें प्राणों की बाजी लगाकर

डुबकी लेगा]। (७) जिस प्रकार इस समुद्र ने मुझको दुःख दिया है, उसी प्रकार इस पर हत्या लगाकर शिवलोक में उससे झगड़ूँगा [और इसका न्याय कराऊँगा]। (८) मैंने इसका क्या बिगाड़ा था, और इसने क्या (कौन सा) दाँव सोच निकाला ? स्वर्ग पर जाकर इसका और मेरा न्याय होगा।"

टिप्पणी--(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक प्रत्यय। फुर<फुड<स्फुट=स्पष्ट, ठीक। (२) उमर<उदुम्बर=गूलर। गूलर का फूल अत्यंत दुर्लभ माना जाता है। (५) करन <करण=जीविका का साधन। (६) बर्<बल्<ज्वल्=जलना। आछ्<अस्=होना, रहना। मरजीआ<मरजीवय<मरजीवक=समुद्र में रत्नादि के लिए गोता लगाने वाला। (८) दाउ<दाय=खेल की बाजी।

जौं तू मुवा कस रोवसि खरा। न मुवा मरै न रोवै मरा।
जौं मर भया औ छाँड़ेसि माया। बहुरि न करै मरन कै दाया।
जौं मर भया न बूड़ै नीरा। बहत जाइ लागै पै तीरा।
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा। जैस राम दसरथ कर बेटा।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा। एहि समुँद्र महँ फिरि फिरि रोवा।
पुनि जौं राम खोइ भा मरा। तब एकअंत भएउ मिलि तरा।
तस मर होहि मूँदु अब आँखी। लावौं तीर टेकु बैसाखी।
बाउर अंध पेम कर लुबुधा सुनत ओहि भा बाट।
निमिखि एक महँ लेइ गा पदुमावति जेहि घाट ॥४१३॥

अर्थ—(१) [पंडित ने कहा,] "यदि तू मृत है, तो कैसे खड़े-खड़े रो रहा है ? मृत न [पुनः] मरता है और न वह रोता है। (२) यदि कोई मृत हो चुका है, और [संसार की] माया छोड़ चुका है, तो वह पुनः मरने की दाय नहीं करता है। (३) यदि कोई मृत हो जाता है, तो वह जल में डूबता नहीं है, वह बहता ही जाता है और, हो न हो, तीर पर [भी] लग जाता है। (४) तू भी वैसा ही एक बावला है जिससे मेरी भेंट हो रही है, जैसा दशरथ का पुत्र राम था। (५) उस पर जब स्त्री (सीता) का विछोह पड़ा था, इसी समुद्र में वह बार-बार रोया था। (६) किन्तु जब अपना रामत्व खोकर वह मृत हो गया, तब वह एकान्त हो गया और [उससे] मिलकर तर गया। (७) वैसे ही तू भी मृत हो जा और अब आँखें मूंद ले, मेरी वैशाखी टेक ले तो मैं तुझे तीर पर लगा दूं।" (८) वह बावला और अंधा, जो प्रेम में लुब्ध था, ऐसा सुनकर उसी बाट हो गया (उस उपाय को मान गया), (९) तो वह उसे एक पल में वहाँ ले गया जिस घाट पर पद्मावती थी।

टिप्पणी--(१) मुवा<मृत। (२) दाय=खेल, दावँ। (४) बाउर<बाउल< बातूल=बावला। (७) बैसाखी<वैशाखिन=वह लकड़ी जो चलने-फिरने में अशक्त लोग टेकते हैं। (८) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग।

इस छंद में कवि मरणान्तर जीवन का उपदेश करता है। उसका मत है कि जीवन में मरकर ही 'एकान्त' स्थिति प्राप्त होती है। किन्तु इस मृत होने का अर्थ है अपना व्यक्तित्व मिटाकर चेतना-शून्य होना।

पदुमावतिहि सोग तस बीता । जस असोग बीरौ तर सीता ।
कनक लता दुइ नारँग फरी । तेहि के भार उठि सकै न खरी ।
तेहि चढ़ि अलक भुअंगिनि डसा । सिर पर रहै हिएँ परगसा ।
रही म्रिनाल टेकि दुख दाधी । आधा कँवल भई ससि आधी ।
नलिनि खंड दुइ तस करिहाऊँ । रोमावलि बिछोउ कर भाऊ ।
रहै टूटि जस कंचन तागू । कहँ पिउ मिलै जो देइ सोहागू ।
पान न खंडै करै उपवासू । सूख फूल तन रहा सुबासू ।
गँगन धरति जल पूरि चखु बूड़त होइ निसाँसु ।
पिउ पिउ चात्रिक ज्यों रटै मरै सेवाति पियासु ॥४१४॥

अर्थ—(१) पद्मावती को शोक में ऐसा बीत रहा था, जैसे अशोक वृक्ष के नीचे सीता [का बीता था] । (२) कनक लता [सदृश उसके शरीर] में दो नारंगियाँ (दो कुच) फली हुई थीं; उनके भार से वह उठकर खड़ी नहीं हो सक रही थी; (३) उन [नारंगियों—कुचों] पर भुजंगिनियाँ—उसकी अलकें—डस रही थीं; वे सिर पर रहती थीं, किन्तु इस समय हृदय पर प्रकाशित (दिखाई पड़ रही) थीं। (४) वह दुःख-दग्धा [कनक लता] मृणाल [के तन्तु सदृश कटि?] को टेक रही थी; वह [शोक से] आधी हुई कमलिनी (पद्मिनी) [घटकर] आधा चन्द्रमा हो रही थी। (५) कमलिनी-लता के दो खंडों के सदृश उसकी कटि थी, और उसकी रोमावली भी [उन दोनों खंडों के] विछोह का भाव लिए हुए थी। (६) जिस प्रकार कंचन का तागा टूटकर रह गया हो, [इस प्रकार की उसकी कटि थी,] कहाँ उसका वह प्रिय मिल सकता था जो उसको सुहागा [सौभाग्य] देता ? (७) वह पान तक नहीं खा रही थी और उपवास कर रही थी; फूल [सा शरीर] सूख चुका था, केवल सुवास [उसके शरीर की पद्म-गंध] उसके शरीर में शेष थी। (८) उसके चक्षु जल गिराते-गिराते आकाश तथा धरती को भर चुके थे, और स्वतः उनमें डूबते हुए वे निसाँसे हो रहे थे, (९) चातकी के समान वह 'प्रिय', 'प्रिय' रट रही थी, और स्वाति-मेघ (प्रियतम) की पिपासा में मर रही थी।

टिप्पणी— (१) बीरौ<विटप=वृक्ष । (२) परगस<प्रकाशय्=प्रकाशित करना, प्रकाशित होना । (५) करिहाउँ=कटि । (८) पूर्<पूरय्=भरना । (९) रट्<रड्=रट्>रटना, चिल्लाना । सेवाति <स्वाति = नक्षत्र विशेष ।

लखमिनि चंचल नारि परेवा । जेहि सत देखु छरै कै सेवा ।
रतनसेनि आवा जेहि घाटा । अगुमन जाइ बैठ तेहि बाटा ।
औ भै पदुमावति के रूपा । कीन्हेसि छाँह जरै जनि धूपा ।
देखि सो कँवल भँवर मन धावा । साँस लीन्ह पै बास न पावा ।
निरखत आई लखमिनी डीठी । रतनसेनि तब दीन्ही पीठी ।
जौ भलि होति लखमिनी नारी । तजि महेस कत होत भिखारी ।
पुनि फिरि धनि आगे भै रोई । पुरुख पीठि कस देसि बिछोई ।
हौं पदुमावति रानी रतनसेनि तूँ पीउ ।
आनि समुँद महँ छाँड़े अब रे देब मैं जीउ ॥४१५॥

अर्थ—(१) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) नारी (मादा) पारावत के समान चंचला है। जिस में वह सत (सत्य) देखती है, उसको वह सेवा करके छलती है। (२) रत्नसेन जिस घाट पर आया, उस मार्ग पर वह आगे से ही जा बैठी (३) और पद्मावती के रूप की होकर उसने वहाँ छाया कर दी कि [रत्नसेन] धूप से जले न। (४) उस कमलिनी को देखकर भ्रमर (रत्नसेन) का मन दौड़ पड़ा किन्तु जब उसने साँस ली तो वह वासना (पद्मगंध) उसे न मिली। (५) निरीक्षण करने पर उसे लक्ष्मणा (लक्ष्मी) आई हुई दीख पड़ी, तब रत्नसेन ने उसे पीठ दी (उसकी ओर से मुँह फेर लिया)। (६) उसने सोचा, "यदि यह लक्ष्मणा (लक्ष्मी) नारी भली होती, तो इसे छोड़कर (न प्राप्त कर) महेश्वर भिखारी क्यों होते? (७) तदनंतर वह स्त्री घूमकर रत्नसेन के आगे आकर रोने लगी, "ऐ पुरुष, तू मुझे अलगकर (छोड़कर) पीठ क्यों दे रहा है? (८) मैं पद्मावती रानी हूँ, और तू, हे रत्नसेन, मेरा प्रिय है, (९) तू मुझे लाकर समुद्र में छोड़ रहा है, [इसलिए] अब मैं अपना जीव दूँगी।"

टिप्पणी—(१) लखमिनि <लक्ष्मणा = लक्ष्मी। परेवा <पारेवय <पारावत = कबूतर। (२) बाट <वट्ट <वर्त्म = मार्ग। (५) पीठी <पिट्ठ <पृष्ठ। (७) बिछोव <विच्छेद = अलग होने की स्थिति।

अनु हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू।
मालति नारि भँवर अस पीऊ। कहँ तोहि बास रहै थिर जीऊ।
तूँ को नारि करसि अस रोई। फूल सोइ पै बास न होई।
हौं ओहि बास जीउ बलि देऊँ। और फूल कै बास न लेऊँ।
भँवर जो सब फूलन्ह कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा।
जहाँ पाव मालति कर बासू। वारने जीउ देइ होइ दासू।
कब वह बास पौन पहुँचावै। नव तन होइ पेट जिउ आवै।
भँवर मालतिहि पै चहै काँट न आवै डीठि।
सौंहे भाल घाय हिय पैं फिरि देइ न पीठि ॥४१६॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन ने कहा,] "अवश्य, मैं वही भ्रमर (प्रेमी) और भोज [सदृश भोगी] हूँ; मैं मालती (प्रेमिका) की खोज लेता (करता) फिर रहा हूँ। (२) यदि मालती जैसी नारी हो तो भ्रमर जैसा 'प्रिय' को होना ही चाहिए किन्तु तुझमें मालती की वह वासना कहाँ जिससे [भ्रमर का] जीव स्थिर रहे? (३) ऐ नारी, तू कौन है जो इस प्रकार रुदन कर रही है? [देखने में] फूल वही (मालती) ही है, किन्तु वासना वह (उसकी) नहीं है। (४) मैं भ्रमर उसी वासना पर अपने जीव को न्यौछावर देता हूँ और अन्य फूलों की वासना नहीं लेता हूँ। (५) भ्रमर भले ही समस्त फूलों पर फिरता है, वह उनकी वासना नहीं लेता है, वह तो मालती को ढूँढ़ता फिरता है। (६) वह जहाँ पर मालती की वासना पाता है, उसका दास होकर उस पर अपना जीव न्यौछावर कर देता है। (७) कब वह वासना [इस भ्रमर को] पवन पहुँचाएगी जिससे [इस भ्रमर का] शरीर नया हो जाएगा और पेट में जीव [पुनः] आएगा? (८) भ्रमर मालती ही को चाहता है, उसके काँटे, हो न हो, उसकी दृष्टि में नहीं आते हैं, (९)

वह सम्मुख से भाले (काँटे) का घाव हृदय पर लेता है, किन्तु उससे मुड़कर उसे पीठ नहीं देता है।"

टिप्पणी--(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। भोज : प्रसिद्ध मध्ययुगीन परमार शासक। तुल० भोग भोग जस मानै (७३.८)। चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू : दहुँ को पाव को राजा भोजू। (११७.३) जोगिन आहि आहि सो भोजू। (२६४.१)। (५) हेर्=देखना। (६) बारनें=न्यौछावर। काँट<कण्ट=काँटा। (९) भाल< भल्ल=भाला। घाय<घात=घाव।

तब हँसि बोली राजा आऊ। देखेउँ पुरुख तोर सति भाऊ।
निस्चै भँवर मालतिहि आसा। लै गै पदुमावति के पासा।
पीउ पानि कँवला जसि तपा। निकसा सूर समुँद महँ छपा।
मैं पावा सो समुँद के घाटा। राजकुँवर मनि दिपै लिलाटा।
दसन दिपहिं जस हीरा जोती। नैन कचोर भरें जनु मोंती।
भुजा लंक उर केहरि जीता। मूरति कान्ह देखु गोपीता।
जस नल तपत दामनहि पूँछा। तस बिनु प्रान पिंड है छूँछा।
जस तूँ पदिक पदारथ तैस रतन तोहि जोग।
मिला भँवर मालति कहँ करहुँ दोउ रस भोग ॥४१७॥

अर्थ--(१) तब वह हँस कर बोली, "हे राजा, आओ; हे पुरुष, मैंने तेरा सत्य-निष्ठा का भाव देखा है। (२) ऐ भ्रमर (प्रेमी), तू निश्चय ही मालती (प्रेमिका) की आशा में है।" [यह कहकर] वह उसे पद्मावती के पास ले गई, [और पद्मावती से उसने कहा,] (३) "ऐ कमलिनी (पद्मिनी), जैसे तू तपस्या करती रही है, वैसे ही तू [तपस्या की सिद्धि के अनंतर] पानी पी, तेरा सूर्य (प्रेमी) जो समुद्र में छिपा था निकल आया है। (४) मैंने इसे समुद्र के घाट पर पाया है। यह राजकुमार है, और इसका ललाट मणि जैसा दीप्त हो रहा है। (५) इसके दाँत हीरे की ज्योति की भाँति चमक रहे हैं और इसके नेत्र मानो मुक्ता (अश्रु) भरे कच्चोल हैं। (६) भुजाओं, कटि तथा वक्षस्थल में इसने केसरी को जीत लिया है; ऐ गोपी, तू इस कृष्ण की मूर्त्ति को देख। (७) जैसे नल [विरह में] तप्त होते हुए दमयन्ती को पूछता फिरता था, वैसे इसका भी पिंड (शरीर) बिना प्राणों के खाली है। (८) तू जैसे पदार्थ (हीरा) का पदिक है, वैसे ही यह तेरे योग्य रत्न है; (९) भ्रमर मालती को आ मिला है, [अब] तुम दोनों रस (आनंद) भोग करो।"

टिप्पणी--(१) सति<सत्यनिष्ठ। (४) दिप्<दिप्प्<दीप्=चमकना, दीप्त होना। (५) कचोर<कच्चोल=प्याला, कटोरा। (६) दामन<दमयन्ती। छूंछ<छुच्छ= खाली। (७) पदिक=चौकी जो हार के बीचोबीच नीचे लगी रहती है।

पदिक पदारथ खीन जो होती। सुनतहि रतन चढ़ी मुख जोती।
जानहुँ सुरुज कीन्ह परगासू। दिन बहुरा भा कँवल बिगासू।
कँवल बिहँसि सुरुज मुख दरसा। सूरुज कँवल दिस्टि सों परसा।
लोचन कँवल सिरीमुख सूरू। भए अतियंत दुनहुँ रसमूरू।

मालति देखि भँवर गा भूली । भँवर देखि मालति मन फूली ।
डीठा दरसन भए एक पासा । वह ओहि के वह ओहि के बासा ।
कंचन डाहि दीन्ह जनु जीऊ । उगवा सुरुज छूटि गा सीऊ ।
पाय परी घनि पिय के नैनन्ह सों रज मेंटि ।
अचरज भएउ सबहि कहँ ससि कँवलहि भै भेंट ॥४१८॥

अर्थ--(१) जो पदिक का पदार्थ (पद्मिनी) क्षीण हो रही थी, रत्न (रत्नसेन) का नाम सुनते ही उसके मुख पर ज्योति दौड़ गई। (२) ऐसा ज्ञात हुआ मानो सूर्य ने प्रकाश किया हो और दिन लौट आया हो जिससे कमलिनी विकसित हो उठी हो। (३) कमलिनी (पद्मिनी) ने हँसकर सूर्य (रत्नसेन) का मुख देखा और सूर्य (रत्नसेन) ने भी उस कमलिनी (पद्मिनी) का दृष्टि से स्पर्श किया। (४) कमलिनी (पद्मिनी) के लोचन और सूर्य (रत्नसेन) का श्रीमुख दोनों ही आत्यंतिक रूप से रस के मूल (आनंद के उत्स) हो उठे। (५) मालती (प्रेमिका) को देखकर भ्रमर (प्रेमी) भूल उठा और भ्रमर (प्रेमी) को देखकर मालती (प्रेमिका) मन में फूल उठी। (६) दर्शन दीखने (होने) के अनंतर वे एक-दूसरे के पास आ गए वह उसकी और वह उसकी स्थिति में हो गए (दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हो गए)। (७) कंचन को आग में डालकर मानो उसे जीवन दे दिया गया हो, अथवा सूर्य उदय हुआ हो जिससे शीत छूट गया हो, [इस प्रकार दोनों की दशा हो गई] (८) [जब] स्त्री पति के पैरों में उसके चरणों की धूल को नेत्रों से मिटाते (पोंछते) हुए पड़ी, (९) तब सबको यह आश्चर्य हुआ कि चन्द्रमा (पद्मिनी के चन्द्रमुख) और कमल (रत्नसेन के चरण-कमल) में परस्पर भेंट हुई।

टिप्पणी--(१) पदिक=हार के बीच की चौकी। (३) परस्<स्पृश्=छूना। (६) पास<पार्श्व। बास<वास=स्थिति। (७) डाह्<दह्=दग्ध करना। उगव्<उद्+गम्=उदित होना। सीउ<सीअ<शीत। (८) धनि<धन्या=स्त्री।

ओहि दिन आइ रहे पहुनाई । पुनि भै बिदा समुँद सैं जाई ।
लखमिनि पदुमावति सैं भेंटी । जो साखा उपनी सो मेंटी ।
समदन दीन्ह पान कर बीरा । भरि कै रतन पदारथ हीरा ।
और पाँच नग दीन्ह बिसेखे । स्रवन जो सुने नैन नहिं देखे ।
एक जो अंब्रित दोसर हंसू । औ सोनहा पंखी कर बंसू ।
और दीन्ह सावक सादूरू । दीन्ह परस नग कंचन मूरू ।
तरुन तुरंगम दुऔ चढ़ाए । जल मानुस अगुवा सँग लाए ।
भेंटि घाट समदन कै फिरे नाइ कै माथ ।
जल मानुस तब बहुरे जब आए जग्रनाथ ॥४१९॥

अर्थ—(१) उस दिन वे आकर [समुद्र और लक्ष्मी की] पहुनाई में रहे, तदनंतर वे [समुद्र के पास] जाकर समुद्र से विदा हुए। (२) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) पद्मावती से गले मिली [और उसने कहा,] "जो स्नेह की शाखा [हम दोनों के मिलने पर] उत्पन्न हुई थी, वह [तुम्हारे जाने से] मिट रही है।" (३) मिलन के उपलक्ष्य में उसने [पद्मिनी को] पान का बीड़ा दिया, जिसमें उसने रत्न, पदार्थ (बहुमूल्य पत्थर) और हीरे भर

रक्खे थे, (४) और पाँच विशिष्ट नग ऐसे दिए जो श्रवणों से ही सुने गए थे आँखों से देखे नहीं गए थे : (५) एक तो अमृत था, दूसरा हंस था, और [तीसरा] श्वान-पक्षी का वंशज था; (६) (चौथा) एक शार्दूल-शावक दिया तथा (पाँचवाँ) स्पर्श नग (पारस) दिया जो कंचन का मूल (निर्माता) था। (७) तरुण तुरगों (अश्वों) पर दोनों को सवार कराया और उनके साथ जल-मानुष लगा दिए। (८) घाट पर पुनः भेंट (मिल) कर और मिलनी कर, वे उन्हें मस्तक झुकाकर लौटे। (९) जल मानुष तो तब लौटे जब वे दोनों जगन्नाथ पुरी में आ गए थे।

टिप्पणी--(१) पाहुन<प्राघुणक=मिहमान, अतिथि। (२) लखमिनि<लक्ष्मणा =लक्ष्मी। उपन्=उत्+पत्=उत्पन्न होना। (६) सबद्<सन्+आ+दा=आलिंगन करना, मिलना। (५) सोनहा<श्वान=कुत्ता। (६) सादूर<शार्दूल=शरभ। परस <स्पर्श। (९) बहुर्<बाहुड्<व्याघुट्=लौटना, वापस होना।

जगरनाथ जौं देखेन्हि आई। भोजन रींधा हाट बिकाई।
राजैं पदुमावति सौं कहाँ। साँठ नाठि किछु गाँठि न रहा।
साँठि होइ जासौं सो बोला। निसँठा पुरुख पात बरु डोला।
साँठे राँक चलै मौराई। निसँठ राउ सब कह बौराई।
साँठें ओद गरब तन फूला। निसँठें बोद बुद्धि बल भूला।
साँठें जाग नींद निसि जाई। निसँठें खिन आवै औंघाई।
साँठें द्रिस्टि जोति होइ नैना। निसँठें हियँ न आव मुख बैना।
साँठें रहै सुधीनता निसठें आगरि भूख।
बिनु गथ पुरुख पतंग ज्यौं ठाठ ठाढ़ पै सूख ॥४२०॥

अर्थ--(१) उन्होंने जो जगन्नाथपुरी को आकर देखा, तो उन्होंने देखा कि बाजारों में रींधा हुआ भोजन बिक रहा था। (२) राजा (रत्नसेन) ने पद्मावती से कहा, "हमारी स्थिति बिगड़ गई और गाँठ में कुछ न रह गया। (३) जिसके साथ संस्थिति (सुदशा) रहती है, वह बोलता है, जो पुरुष संस्थितिहीन है, उसका बोलना यदि बहुत हुआ तो [ऐसा अर्थ हीन होता है] जैसे पत्ता डोला (हिला) हो। (४) यदि सुदशा हो जाती है, तो रंक भी मुकुट धारण करके चलता है, और यदि सुदशाहीन राजा भी हो तो सब कहते हैं कि वह बावला हो गया है। (५) सुदशा से आर्द्रता (तरी) आ जाती है, [जिसके कारण] गर्व से शरीर फूल उठता है, और सुदशाहीनता से बोदापन आ जाता है [जिसके कारण] बुद्धि और बल भूल जाते हैं। (६) सुदशा से आदमी जागता रहता है और रात की नींद भी जाती रहती है, और सुदशाहीनता से प्रतिक्षण [आँखों में] नींद आती रहती है। (७) सुदशा से सुदृष्टि होती है, [जिसके कारण] नेत्रों में ज्योति हो जाती है, जब कि सुदशाहीन व्यक्ति के हृदय में उसके मुख के वचन भी नहीं आते हैं। (८) सुदशा में स्वतंत्रता रहती है, और सुदशाहीनता में भूख उग्र (बढ़ी हुई) होती है, (९) बिना पूंजी का पुरुष उस पतंग के वृक्ष के सदृश होता है जिसका पत्रों का ठाट खड़ा हो किन्तु जो सूखा हुआ हो।

टिप्पणी--(१) रींधा <रिद्ध [दे०]=पक्व, पका हुआ। (२) साँठि<संठिइ<

संस्थिति=सुदशा। (३) सौं<समम्=साथ। बरु<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक। (४) राँक<रंक=दरिद्र। मौर<मउड<मुकुट। (५) ओद<उद्द<आर्द्र=गीला। बोद=बोदा, बुद्धिहीन। (८) सुधीनता<स्वाधीनता=स्वतंत्रता। आगरि<अग्र=बढ़ी हुई। (९) गथ<ग्रथ=पूँजी, धन। पतंग<पत्रांग=घने पत्तों का एक वृक्ष।

पदुमावति बोली सुनु राजा। जीउ गएँ धन कवने काजा।
अहा दरब तब लीन्ह न गाँठी। पुनि कत मिलै लच्छि जौं नाँठी।
मुकुतें साँबर गाँठि जो करई। सँकरें परे सोइ उपकरई।
जौं तन पंख जाइ जहँ ताका। पैग पहार होइ जौं थाका।
लखमिनि अहा दीन्ह मोहि बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा।
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरी लच्छि फेरि दिनु पावा।
दरब भरोस करै जनि कोई। दरब सोइ जो गाँठी होई।
जोरि कटक पुनि राजा घर कहँ कीन्ह पयान।
देवसहि भान अलोपा बासुकि इंद्र सँकान ॥४२१॥

अर्थ—(१) पद्मावती ने कहा, "हे राजा सुनो, जीव (प्राणों) के चले जाने पर धन ही किस कार्य में आता है? (२) जब धन था तब तो उसे गाँठ में न ले सके, तो जब लक्ष्मी नष्ट हो गई, वह कहाँ मिल सकती है? (३) [कठिनाइयों से] मुक्त रहने पर यदि संबल गाँठ में कर लिया गया तो वह संकट में भले ही उपकार करे। (४) यदि शरीर में पंखे हों तो जहाँ विचार करे [पक्षी] जा सकता है, और यदि वह रुक गया तो एक पग चलना पहाड़ हो जाता है। (५) लक्ष्मणा (लक्ष्मी) ने मुझे [पान का] बीड़ा दिया था, जिसमें उसने रत्न, पदार्थ तथा हीरे भर दिए थे। (६) उनमें से एक नग निकालकर उसे मैंने शीघ्र ही भँजा (तुड़ा) लिया है, जिससे हमारी लक्ष्मी लौट आई है, और पुनः वही [समृद्धि के] दिन हम पा गए हैं। (७) द्रव्य का भरोसा कोई न करे, द्रव्य वही है जो गाँठों में हो।" (८) [उस द्रव्य की सहायता से] सेना जुटाकर राजा ने घर को प्रयाण किया; (९) [जिससे] दिन में ही सूर्य आच्छादित हो गया और [पाताल में] वासुकी तथा [स्वर्ग में] इन्द्र शंकित हो उठे।

टिप्पणी—(२) लच्छि<लक्ष्मी। नाँठा<णट्ठ<नष्ट। (३) मुकुत<मुक्त। साँबर<शम्बल=यात्रा के समय का खर्चबर्च। साँकर<संकट। (४) ताक्<तक्क्<तर्कय्=तर्क करना, विचार करना। (५) लखमिनि<लक्ष्मणा=लक्ष्मी। (८) पयान<प्रयाण। (९) अलोप<आ+लुप्=आच्छादित होना। संक्<शंक्=डरना।

चितउर आइ नियर भा राजा। बहुरा जीति इंद्र अस गाजा।
बाजन बाजै होइ अँदोरा। आवहि हस्ति बहुल औ घोरा।
पदुमावति चंडोल बईठी। पुनि गै उलटि सरग सौं डीठी।
यह मन अैंठा रहै न सूधा। बिपति न सँवरै सँपतिहि लुबुधा।
सहस बरिख दुख जरै जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई।
जोगिन्ह इहै जानि मन मारा। तउब न मुवा यह मन औ पारा।
रहै न बाँधा बाँधा जेही। तेलिया मुवा डारु पुनि तेही

मुहमद यह मन अमर है कहु किमि मारा जाइ ।
ग्यान सिला सौं जौं घँसै घँसतहि घँसत बिलाइ ॥४२२॥

अर्थ--(१) राजा (अब) आकर चित्तौर के निकट पहुँचा; वह विजय के साथ लौटा था, इसलिए उसने इन्द्र के समान गर्जन किया। (२) [उसके स्वागत में] वाद्य बजने लगे और अंदोर होने लगा, बहुतेरे हाथी और घोड़े आने लगे। (३) पद्मावती चंडोल (चतुर्दोल) पर बैठी तो उसकी दृष्टि पुनः (भूमि से) उलटकर आकाश से जा लगी। (४) यह मन [सुदशा के प्राप्त होने पर गर्व से] ऐंठ जाता है और सीधा नहीं रहता है; तब यह विपत्ति को नहीं स्मरण करता है, संपत्ति ही पर लुब्ध हो उठता है। (५) यदि एक सहस्र वर्षों तक कोई दुःख में जले, तो भी एक घड़ी का सुख प्राप्त होने पर वह उसे भूल जाता है। (६) यही जानकर योगियों ने मन को [सदैव] मारा है, फिर भी यह मन और पारा कभी मर नहीं सका है। (७) जिस प्रकार भी (?) यह बाँधा जाता है, यह बँधा नहीं रहता है, जैसे तेलिए में मृत [पारे] को भी यदि डाल दिया जाए (योंही पड़ा रहने दिया जाए) तो वह पुनः उसी प्रकार का (पूर्ववत्) हो जाता है। (८) मुहम्मद (जायसी) कहते हैं, यह मन अमर है, [इसलिए] बताओ किस प्रकार मारा जा सकता है? (९) [हाँ,] यदि ज्ञान-शिला से इसे घिसा जाएं, तो घिसते-घिसते विलीन (नष्ट) होता है।

टिप्पणी--(१) बहुर् <बाहुड् <व्याघुट् = लौटना, वापस आना। गाज् <गज्ज् <गर्ज् = गर्जन करना। (२) अंदोर = शोर, हल्ला। बहुल = बहुतेरा। (३) चंडोल < चउडोल < चतुर्दोल। (४) ऐंठा < अतिष्ठित = अतिक्रान्त। सूध < शुद्ध = सीधा। सँवर् <समर् <स्मृ = स्मरण करना। (५) बिसर् <विस्सर् < विस्मृ = भूलना। (७) जेह् <यथा (?)। मुवा < मृत। तेलिया = तैलकन्द, बद्ध पारद तैयार करने में उपयोगी एक प्रकार का विष जिससे पारे को मारा जाता है। बाँधा = [१] मन पक्ष में 'लगाया', और [२] पारे के पक्ष में 'बद्ध'। (९) घँस् < घृष् = घिसना।

इस छंद में कवि ने मन के दुर्दमनीय होने के संबंध में और ग्यान की सहायता से ही उसके शमित होने के संबंध में अपने विचार रक्खे हैं।

नागमती कहँ अगम जनावा । गै सो तपनि बरखा रितु आवा ।
अही जो मुई नागिनि जसि तचा । जिउ पाएँ तन महँ भै सँचा ।
सब दुख जनु कँचुली गा छूटी । होइ निसरी जनु बीर बहूटी ।
जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई । परहिं बुंद औ सोंध बसाई ।
ओहि भाँति पलुही सुख बारी । उठे करिल नव कोंप सँवारी ।
हुलसी गँग जस बाढ़ैं लेई । जोबन लाग तरंगैं देई ।
काम धनुक सर दै भै ठाढ़ी । भागेउ बिरह रही जिसु डाढ़ी ।
पूँछहि सखी सहेली हिरदै देखि अनंद ।
आजु बदन तुव निरमल कहाँ उवा है चंद ॥४२३॥

अर्थ--(१) नागमती को रत्नसेन के आगमन (वापस लौटने) का आभास मिल गया, तो उसके [विरह का] ग्रीष्म जाता रहा और [मिलन की] वर्षा आ गई। (२)

उसकी जो त्वचा नागिन की मृत त्वचा जैसी हो रही थी, वही जीवन पाने पर उसके शरीर में उसका संचय (परिचय) हो गई। (३) उसका समस्त दुःख मानो केंचुल रहा हो, इस प्रकार छूट गया, और वह [जीवन-रक्त से लाल होकर] मानो बीरबहूटी होकर निकली। (४) जैसे भूमि [ग्रीष्म में] दग्ध होकर आषाढ़ में पलुहती है, और जब उस पर [आषाढ़ की]बूँदें पड़ती हैं, वह सुगंध से सुवासित हो जाती है, (५) उसी प्रकार [नागमती की] सुख-वाटिका पलुह उठी, उसमें करिल्लों (करीलों) ने [भी] नई कोंपलें धारण कर लीं। (६) जिस प्रकार गंगा उल्लसित होकर बाढ़ पर आती है, उसी प्रकार उसका यौवन तरंगें देने लगा। (७) काम धनुष पर वह शर देकर उठ खड़ी हुई, जिसे देखते ही वह विरह भाग गया जिससे वह दग्ध थी। (८) उसकी सखियाँ-सहेलियाँ उसके हृदय में आनंद [का संचार] देखकर पूछने लगीं, "(९) आज तेरा मुख निर्मल है, यह चन्द्र [आज] कहाँ (किस प्रकार) उदित हुआ है ?"

टिप्पणी—(१) अगम<आगम=आगमन। (२) तचा<त्वचा=चमड़ी, खाल। सँच<सञ्चय<परिचय। (३) कँचुली<कञ्चुकी=केंचुल। (४) पलुह<प्ररुह्=अंकुरित होना। सोंध<सुअंध=सुगन्ध। (५) करिल<करिल्ल<करीर=करील, जो अपनी पत्रहीनता के लिए प्रसिद्ध है। कोंप<कुड्म (ल) (?)=कोंपल, नए पत्ते। (७) डाढ<डड्ढ<दग्ध। (९) बदन<वदन=मुख। उवा<उदित।

अब लगि सखीं पवन हा ताता। आजु लाग मोहि सीतल गाता।
महि हुलसै जस पावस छाँहा। तस हुलास उपना जिय माहाँ।
दसौं दाँउ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाँउँ लै महरा।
अब जोवन गंगा होइ बाढ़ा। औटन घटन मारि सब काढ़ा।
हरियर सब देखौं संसारू। नए चार जानहुँ अवतारू।
भागेउ बिरह करत जो डाहू। भा मुख चंद छूटि गा राहू।
लहकहिं नैन बाँह हिय खिला। को दहुँ हितू आइ चह मिला।
कहतहिं बात सखिन्ह सौं तेतखन आवा भाँट।
राजा आइ नियर भा मँदिल बिछावहु पाट ॥४२४॥

अर्थ— (१) नागमती ने उत्तर दिया, "हे सखी, अब तक पवन तप्त था, आज ही मुझे वह गात्र में शीतल प्रतीत हुआ है; (२) जिस प्रकार पृथ्वी वर्षा की छाया पाकर उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार का उल्लास मेरे जी में उत्पन्न हुआ है। (३) [किसी समय]दशम (विरह की दशम अवस्था-मरण) का दाँव चल करके जो [ज्येष्ठ का] दशहरा गया था, वह नाम (दशहरा) अब महरा (स्वामी) को लेकर आया है [अर्थात् जिस ज्येष्ठ के दशहरे ने प्रियतम के प्रयाण के समय मरण की अवस्था उत्पन्न कर दी थी-नागमती के बारह मासे में प्रथम आषाढ़ विषयक है—वही मेरे प्रियतम को अब वापस ला रहा है।] (४) अब मेरा यौवन् गंगा होकर बढ़ रहा है, और जो कुछ औटन थी, और पटने की स्थिति थी, उस सब को मार-मारकर उसने निकाल दिया है। (५) अब समस्त संसार मुझे हरा-भरा दिखाई पड़ रहा है, या तो वह नए ढंग से अवतरित हुआ है। (६) वह विरह भाग गया जो मुझे दग्ध कर रहा था, उस [विरह] राहु (ग्रहण) के

छूट जाने पर मेरा मुख [पुनः] चन्द्र हो गया है। (७) मेरे नेत्र, और मेरी भुजाएँ लहक रही हैं, और हृदय खिल रहा है, क्योंकि मेरा कोई हितू मुझसे आकर मिलना चाहता है।" (८) यह बात सखियों से जब वह कह ही रही थी, उसी क्षण भाँट आया [और उसने कहा,] (९) "राजा [वापस] आकर निकट पहुँच गया है, मंदिर में पाट (सिंहासन) बिछाओ।"

टिप्पणी—(१) तात<तत्त<तप्त। (२) पावस<प्रावृट्=वर्षा। हुलास<उल्लास। (३) दाउ<दाय। महरा<महल्ल<महत्=सरदार, प्रमुख, स्वामी। (४) औटन<आवर्तन। काढ़्<कड्ढ्<कृष्=खींचना, निकालना। (५) हरिअर<हरिअ+डा<हरित्=हरा (७) लहक्=नवस्फूर्ति से युक्त होना। (९) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन।

सुनतहि खिन राजा कर नाऊँ। भा अनंद सब ठावहिं ठाऊँ।
पलटा कै पुरखारथ राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा।
देखि छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ।
सैन पूरि आए घन घोरा। रहस चाउ बरिसै चहुँ ओरा।
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरिअहि पोखरि ताल तलावा।
लहकि उठा सब भुमिया नामा। ठाँवहि ठाँव दूब अस जामा।
दादुर मोर कोकिला बोले। हते अलोप जीभ सब खोले।
भै असवार परथमै मिलै चले सब भाइ।
नदी अठारह गंडा मिलीं समुँद कहँ जाइ॥४२५॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) का नाम जिस क्षण सुना उसी क्षण स्थान-स्थान पर समस्त लोक आनंदमय हो गया। (२) राजा उसी प्रकार पुरुषार्थ करके लौट रहा था, जैसे [आकाश में] आषाढ़ का [बादल] दल सजा हुआ आ रहा था। (३) वह (उसका) छत्र देखकर जगत् में छाया हो गई। उसके हस्ती [और वर्षा के) मेघ जगत् में उमड़ पड़े थे। (४) इधर उसके सैनिक भर रहे थे [और उधर] भयावने घन आ गए थे, चारों ओर हर्ष और उमंग की वर्षा हो रही थी। (५) [सेना की उड़ी हुई धूल से–जिस प्रकार बादलों से] धरती और आकाश में अब मिलन हो रहा था, और पोखरे, ताल और तालाब [उस धूल से उसी प्रकार भर रहे थे जैसे वे वर्षा के जल से भर रहे हों]। (६) भूम्य (भूमि से संबंधित) नाम का समस्त [वनस्पति समुदाय] अब लहक उठा था और स्थान-स्थान पर दूर्वा जैसी [घास] जम आई थी। (७) मेंढक, मोर और कोकिल बोल उठे, और जो अभी तक आलुप्त थे, उन्होंने अपनी जिह्वाएँ खोल दीं। (८) सवार होकर सर्वप्रथम उसके समस्त भाई-बंधु उससे मिलने चले, (९) जिस प्रकार अठारह गंडा नदियाँ [वर्षा में] दौड़कर समुद्र से मिलती हैं।

टिप्पणी—(२) पलट्<परि+अस्=बदलना, लौटना। दर<दल। (३) ओनव्<अव+नम्=अवनमित होना, झुकना, उमड़ पड़ना। (४) घोर=भयानक। रहस्<रभस्=हर्ष। (५) पोखर<पुष्कर। (६) लहक<लवक् [दे०] अंकुरित होना। भुमिआ<भूम्य=भूमि से संबंधित। (९) गंडा<गण्डक=चार चार की गणना।

बाजत गाजत राजा आवा । नगर चहूँ दिसि होइ बधावा ।
बिहँसि आइ माता कहँ मिला । जनु रामहि भेंटै कौसिला ।
साजे मंदिल बंदनवारा । औ बहु होइ मंगलाचारा ।
आवा पदुमावति क बेवानू । नागमती घिकि उठा सो भानू ।
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई । तैस झार लागी जौं आई ।
सहि नहिं जाइ सौति कै झारा । दोसरे मंदिल दीन्ह उतारा ।
भै अहानि चहुँ खंड बखानी । रतनसेनि पदुमावति आनी ।
पुहुप सुगंध संसार मनि रूप बखानि न जाइ ।
हेम सेत औ गौर गाजना जगत बात फिरि आइ ॥४२६॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) बाजे-गाजे के साथ [चित्तौर] आ गया, और नगर में चारों ओर बधावा होने लगा। (२) वह हँसते हुए आकर माता से मिला; [माता ने उसे इस प्रकार गले लगाया] मानो कौसल्या राम को भेंट रही हो। (३) मंदिरों (प्रासादों) में बंदनवार सजाए गए, और बहुतेरा मंगलाचार होने लगा। (४) पद्मावती का विमान (चंडोल) आया, तो नागमती को ऐसा प्रतीत हुआ मानो सूर्य छिप उठा हो, (५) और मानो छाया में धूप दिखाई पड़ी हो; इस प्रकार की झार उसे लगी जब (पद्मावती) आई। (६) सौत की झार नहीं सहन की जाती है, इसलिए उसे दूसरे मंदिर (प्रासाद) में उतारा किया (७) यह बात आख्यान (कहावत) हो गई और चारों खंडों में बखानी गई कि रत्नसेन पद्मावती (पद्मिनी) को ले आया है, (८) कि वह पुष्प के सुगन्ध वाली है, संसार की मणि है, और उसका रूप अवर्णनीय है। (९) यह वार्त्ता हेमकूट, श्वेत पर्वत गोर और ग़ज़नी तक संसार भर में फिर आई।

टिप्पणी--(१) बधाव<वद्धावण<वर्धन=अभ्युदय सूचक वाद्य। (३) बंदनवार<वन्दनमाला=मंगल अवसरों पर घर के द्वार पर लगाए जाने वाली पत्र-माला। (४) बेवान<विमान=चौडोल। (५) झार<ज्वाला। (७) अहानि<आख्यान+इका=किंवदन्ती, लोकोक्ति, कहावत। आनय<आ+नी=लाना। (८) बखान<वक्खाण<व्याख्यानय्=वर्णन करना। (९) हेमसेत, हेमकूट और श्वेतपर्वत: मत्स्य-पुराण से उद्धरण देते हुए अल्बेरूनी (सचाउ, ५.२४७) ने लिखा है कि मेरु के चारों ओर ये बड़े बड़े पर्वत हैं: हिमवंत, हेमकूट, निखध, नील, श्वेत और शृंगवंत। गौर=गोर, गौड़ देश को जायसी ने 'गौर बंगाला' कहा है (४९८.२) और 'गौर गरजना' से अलग किया है (४९८.९)। गाजना=ग़ज़ना।

सब दिन बाजा दान दवाँवाँ । भै निसि नागमति पहँ आवा ।
नागमती मुख फेरि बईठी । सौंह न करै पुरुख सौं डीठी ।
ग्रीखम जरत छाँड़ि जो जाई । पावस आव कवन मुख लाई ।
जबहिं जरै परबत बन लागे । औ तेहि झार पंखि उड़ि भागे ।
अब साखा देखिअ औ छाहाँ । कवने रहस पसारिअ बाहाँ ।
को नहिं थिरकि बैठ तेहि डारा । को नहिं करै केलि कुरुआरा ।
तूँ जोगी होइगा बैरागी । हौं जरि भई छार तोहि लागी ।

काह हँससि तूँ मोसौं किए जो और सौं नेहु ।
तोहि मुख चमकै बीजुरी मोहि मुख बरसै मेंहु ॥४२७॥

अर्थ-- (१) समस्त दिन दान का दमामा बजता रहा। रात हुई तो रत्नसेन नागमती के पास आया। (२) नागमती मुख फेरकर बैठ गई, और वह सम्मुख पुरुष (पति) से दृष्टि नहीं मिला रही थी। (३) उसने कहा, "जो किसी को ग्रीष्म में जलता छोड़ जाए, वह उसके पास वर्षा में कौन मुँह लगाकर आता है ? (४) जब पर्वत और वन [ग्रीष्म में] जलने लगे थे, और उसी ज्वाला [से झुलसने के भय] से, ऐ पक्षी, तू [भी] उड़कर भाग गया था, (५) तो अब शाखाएँ और उनकी छाया देखकर तू किस हर्ष से बाँह पसार रहा है ? (६) तब तो कोई भी नहीं उस डाल पर थिरक कर बैठा, और किसी ने भी नहीं केलि और उछल कूद की ! (७) तू योगी, विरागी हो गया, और मैं तेरे लिए जलकर राख हो गई। (८) तू मुझसे क्या हँस रहा है, जब तूने अन्य से स्नेह किया है ? (९) तेरे मुख में [हर्ष की] बिजली चमक रही है, जबकि मेरे मुख में [रुदन का] मेघ बरस रहा है।"

टिप्पणी--(१) दवाँवाँ<दमाम : [फ़ा०] = नगाड़ा, डंका। (२) सौंह<सउँह <सम्मुख। डीठी<दृष्टि। (३) पावस<प्रावृट् = वर्षा। (४) झार<ज्वाला। पंखि<पक्षिन् = चिड़िया। (५) रहस<रभस् = हर्ष। (६) थिरक् = चंचलता के साथ उछलना-कूदना। कुरुआर<कुल्ल+आर <कूर्द+जाल=कूद-फाँद, उछल-कूद। (७) छार<क्षार = राख। (९) मेह<मेघ = बादल।

नागमती तूँ पहिलि बियाही। कान्ह पिरीति डही जसि राही।
बहुते दिनन्ह आवै जौं पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ।
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ। सोउ मिलहिं मन सँवरि बिछोऊ।
भलेहि सेत गंगा जल डीठा। जउँन जो स्याम नीर अति मीठा।
काह भएउ तन दिन दस डहा। जौं बरखा सिर ऊपर अहा।
कोउ केहि पास आस कै हेरा। धनि वह दरस निरास न फेरा।
कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई।
फरे सहस साखा होइ दारिवँ दाख जँभीर।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे लौटि उहै भै भीर ॥४२८॥

अर्थ--(१) [राजा ने उत्तर दिया,] "ऐ नागमती, तू प्रथम विवाहिता है, [इसलिए अवश्य ही तू उसी प्रकार मेरे विरह में दग्ध हुई] जिस प्रकार कृष्ण की प्रीति में राधिका दग्ध हुई थी। (२) किन्तु यदि बहुत दिनों बाद प्रिय आए फिर भी स्त्री न मिले, तो उसका पाषाण-हृदय धन्य है। (३) संसार में पाषाण और लौह प्रौढ़ (कठोर) [माने गए] हैं, किन्तु वे भी मन में विछोह का स्मरणकर [कभी न कभी] मिल जाते हैं। (४) भले ही गंगा-जल श्वेत दिखाई पड़ता है (पद्मिनी गौरवर्ण की है), जमुना जो श्याम है, उसका जल अत्यन्त मीठा है [तू साँवली है, तो मुझे अत्यंत प्रिय भी है]। (५) क्या हुआ जो शरीर दस दिन दग्ध हुआ, यदि वर्षा सिर पर (निकट) रहा ? (६) यदि कोई किसी के पास आशा पूर्वक देखता है, तो वह दर्शन धन्य है कि जो [दर्शक को] निराश

नहीं लौटाता है।" (७) गले से लगाकर उसने स्त्री को मनाया, और जो [प्रीति की] लता [विरहाग्नि से] जल गई थी, उसे [प्रेम नीर से] सींचकर हरा भरा किया। (८) [परिणाम-स्वरूप नागमती की शरीर-वाटिका के] दाडिम (दाँत), द्राक्षा (ओष्ठ), और जंभीर (कुच) सहस्र-सहस्र शाखाओं के होकर (उमड़कर) फल युक्त हो गए, (९) और सभी पक्षियों (सुख-विलास) ने सम्मिलितरूप में आकर उस [शरीर वाटिका को] नमस्कार किया और उस वाटिका में लौटकर पुनः वही चहल-पहल हो गई।

टिप्पणी---(१) डह्<दह = दग्ध होना। राही<राधिका। (२) पाहन<पाषाण। (३) पोढ<प्रौढ = समर्थ, प्रगल्भ, कठोर। (४) सेत<श्वेत। डीठा<दृष्ट। जउँन< यमुन। (७) पलुहाव्<प्ररोपय् = अंकुरित करना, हरा-भरा करना।

जौं भा मेरु भएउ रँग राता। नागमती हँसि पूँछी बाता।
कहहु कंत जो विदेस लोभाने। कसि धनि मिली भोग कस माने।
जौं पदुमावति है सुठि लोनी। मोरे रूप कि सरवरि हानी।
जहाँ राधिका अछरिन्ह माहाँ। चंद्रावलि सरि पूज न छाहाँ।
भँवर पुरुख अस रहै न राखा। तजै दाख महुआ रस चाखा।
तजि नागेसरि फूल सोहावा। कँवल बिसैंधे सौं मन लावा।
जौं नहवाइ भरिअ अरगजा। तबहु गयंद धूरि नहिं तजा।
काह कहौं हौं तोसौं किछौ न तोरे भाउ।
इहाँ बात मुख मोसौं उहाँ जीउ ओहि ठाँउ ॥४२६॥

अर्थ— (१) जब दोनों में मेल हो गया, और दोनों में [अनुराग का] रक्त रंग हुआ, नागमती ने हँसकर यह बात पूछी, (२) "हे कान्त, बताओ, विदेश में जो तुम लुभाए रहे, तो तुम्हें स्त्री कैसी मिली, और कैसा भोग तुमने माना? (३) यदि पद्मावती अत्यधिक लावण्यवती है, तो भी क्या मेरे रूप की समतुल्यता हो सकती है? (४) जहाँ [ब्रज की] अप्सराओं (सुन्दरियों) में राधिका हो, चन्द्रावली उसकी छाया की भी सादृश्यता नहीं पा सकती है। (५) भ्रमर और पुरुष ऐसे होते हैं कि रखने (रोकने) पर रहते (रुकते) नहीं, वे द्राक्षा त्यागकर महुए का रस चखते हैं। (६) वे नागकेसर का सुन्दर फूल त्याग कर बिसाइँध कमल से मन लगाते हैं। (७) गजेन्द्र को स्नान करा कर यदि अरगजा भरिए (लगाइए) तो भी गजेन्द्र धूल नहीं छोड़ सकता है। (८) मैं तुझसे क्या कहूँ? तुझमें कुछ भी प्रेम नहीं है (९) यहाँ बात करते हुए मुख मेरे सम्मुख है किन्तु वहीं तेरा जी उस स्थान पर [पद्मावती के पास] है।"

टिप्पणी—(१) रात<रत्त<रक्त। बात<वत्ता<वार्त्ता। (२) कंत<कान्त = पति। धनि<धन्या = स्त्री। (३) लोनी<लवण+इका = लावण्यवती। (४) अछरी< अच्छरि<अप्सरस् = अप्सरा। (६) नागेसरि<नागकेसर। बिसाइँध<बिस+गन्ध = कमलनाल की गंध जो उसके पानी के भीतर रहने के कारण एक विशेष प्रकार की होती है। (७) गयंद<गजेन्द्र = बड़ा हाथी।

कही दुख कथा रैनि बिहानी। भोर भएउ जहँ पदुमिनि रानी।
भान देख ससि बदन मलीनी। कँवल नैन राते तन खीनी।

रैनि नखत गनि कीन्ह बिहानू। बिमल भई जस देखे भानू।
सुरुज हँसा ससि रोई डफारा। टूटि आँसु नखतन्ह कै मारा।
रहै न राखे होइ निसाँसी। तहँवहि जाहि जहाँ निसि बासी।
हौं कै नेहु आनि कुँव मेली। सींचै लाग झुरानीं बेली।
भए दुइ नैन रहँट की घरी। भरीं ते ढारीं छूँछीं भरीं।
सुभर सरोवर हंस जल घटतहि गएउ बिछोइ।
कँवल प्रीति नहिं परिहरै सूखि पंक बरु होइ ॥४३०॥

अर्थ—(१) [नागमती ने इस प्रकार अपनी] दुःख-कथा कही और रजनी व्यतीत हो गई। जब प्रभात हुआ, (राजा वहाँ गया) जहाँ पद्मिनी रानी थी। (२) सूर्य (रत्न-सेन) ने देखा कि वह शशि (पद्मिनी) वदन से मलिन हो गई है, उसके कमल नेत्र (रोते-रोते) लाल हो गये हैं, और उसका शशि क्षीण हो गया है। (३) उसके रजनी के नक्षत्रों को गिन-गिनकर व्यतीत किया था, और वह भानु (रत्नसेन) को देखकर निर्मल हो गई। (४) सूर्य (रत्नसेन) हँसा, तो वह शशि (पद्मिनी) डफार छोड़कर रो पड़ी, और उसके आँसू जो टूटे, तो मानो नक्षत्रों की माला टूट पड़ी। (५) वह ऐसी निःश्वसित हुई (सिसकियाँ लेने लगी) कि रोकने से रुक नहीं रही थी; वह कहने लगी, "वहीं जाओ जहाँ पर रात्रि में निवासी थे। (६) मुझ से स्नेहकर तुमने मुझे लाकर कुँए में डाल दिया, और [नागमती की] सूखी हुई प्रीति-वल्लरी को तुम सींचने लगे! (७) मेरे दोनों नेत्र तो रहँट की घरियाँ हो गए हैं जो भरी होने पर ढाल दी जाती हैं और खाली होने पर पुनः भर जाती हैं। (८) सरोवर के भली भाँति भरे होने पर ही उसके जल में हंस था, और जल के घटते ही वह उसे छोड़कर चला गया, (९) किन्तु कमलिनी (पद्मिनी) तो उसकी प्रीति को नहीं छोड़ सकती, भले ही वह सूखकर [वहीं] पंक हो जाए।"

टिप्पणी—(२) खीन<क्षीण। (४) मारा<माला। (५) निसाँसी<निःश्वसित=निःश्वास छोड़ती हुई। (६) कुँव<कूप। (७) रहँट<अरहट्ट<अरवट्ट=कुएँ से पानी निकालने का चरखा। घरी<घटिका। छूँछ<तुच्छ=खाली। (८) सुभर=भरपूर। (९) परिहर<परिहृ=त्याग करना, छोड़ना। बरु<वरम्=भले ही।

पदुमावति तूँ जीव पराना। जिय तें जगत पियार न आना।
तूँ जस कँवल बसी हिय माहाँ। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ।
मालति करी भँवर जौं पावा। सो तजि आन फूल कित धावा।
अनु हौं सिंघल कै पदुमिनी। सरि न पूज जंबू नागिनी।
हौं सुगंध निरमलि उजियारी। वह बिख भरी डरावनि कारी।
मोरें बास भँवर सँग लागहिं। ओहि देखें मानुस डरि भागहिं।
हौं पूरुख कै चितवौं डीठी। जेहिं के जियँ असि अहौं पईठी।
ऊँचे ठाँव जो बैठै करै न नीचेहँ संग।
जहाँ सो नागिनि हिरगै काह कहिअ सो अंग ॥४३१॥

अर्थ—(१) राजा ने कहा, "ऐ पद्मावती, तू मेरा जीव और प्राण है, जगत् में

जीव से प्यारा अन्य नहीं होता है। (२) तू कमलिनी की भाँति मेरे हृदय [सरोवर] में बसी हुई है, और मैं भ्रमर होकर तुझ पर [तेरी सुगंध के द्वारा] विद्ध हूँ। (३) यदि भ्रमर मालती-कलिका को पा जाए तो वह उसे छोड़कर अन्य फूल के लिए क्यों दौड़ेगा?" (४) [पद्मावती ने कहा,] "अवश्य; मैं सिंहल की पद्मिनी हूँ, जंबू [और जंबू-जामुन का रंग काला होता है] द्वीप की नागिनी (नागमती) मेरा सादृश्य नहीं पा सकती है। (५) मैं सुगन्धवाली, निर्मल और उज्ज्वल हूँ, और वह विष से भरी हुई, डरावनी और काली है। (६) मेरी वासना से [आकृष्ट होकर] भ्रमर साथ लग जाते हैं, और उसे देखकर मनुष्य भी डरकर भाग जाते हैं। (७) मैं तो पुरुष (पति) की दृष्टि देखती रहती हूँ, और उसके जी में इस प्रकार [उसकी दृष्टि के मार्ग से] प्रविष्ट हो जाती हूँ। (८) जो ऊँचे स्थान पर बैठता हो, नीच का साथ उसे नहीं करना चाहिए। जिस अंग से वह नागिन हि लगती (सटकर लगती) होगी उस अंग को क्या कहा जाए (उसकी क्या नौबत होती होगी)?"

टिप्पणी--(१) पिआर<प्रियालु=प्यारा। (४) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। सरि<सादृश्य। पूज्<पूरय् =पूरा करना, प्राप्त करना। (५) उजिआर< उज्ज्वल। (७) डीठि<दृष्टि। पईठी<प्रविष्ट।

पलुही नागमती कै वारी। सोन फूल फूली फुलवारी।
जावँत पंखि अहे सब डहे। ते बहुरे बोलत गहगहे।
सारौ सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला।
हारिल भ्रिंग महोख सो आवा। काग कोराहर करहिं सोहावा।
भोग बेरास कीन्ह अब फेरा। बासहिं रहसहिं करहिं बसेरा।
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल न जाइ काहु कै सेवा।
होइ उजियार बैठि जस तपी। खूसट मुहँ न देखावहिं छपी।
नागमती सब साथ सहेली अपनी वारी माहँ।
फूल चुनहिं फर चूरहिं रहस कोड सुख छाँह ॥४३२॥

अर्थ—(१) नागमती की वाटिका [पुनः] हरी-भरी हुई, और उसकी पुष्पवाटिका सोने के फलों से फल उठी। (२) [उन वाटिकाओं के] जितने पक्षी थे, सब दग्ध हो गए थे; वे अब हर्षपूर्वक बोलते हुए वापिस हुए। (३) सारिका (मैना), शुक (तोता), महरी, और कोकिला थे, तथा पपीहा हर्षित हुआ आकर [उन में] मिल गया। (४) हारिल, भृंगराज, और महोख भी आए; तथा काग सुहावना कोलाहल करने लगे। (५) [उनके] भोग-विलास ने पुनः फेरा लगाया, और वे [उन वाटिकाओं में] बोलने, हर्ष मनाने और बसेरा करने लगे। (६) पण्डुक, मयूर और पारावत नाचने लगे, क्योंकि किसी की सेवा निष्फल नहीं जाती है। (७) जब उजाला हो जाता, तब खूसट (उल्लू) [अवश्य] तपस्वी की भाँति [पत्तों की ओट में] बैठ जाते और छिपकर मुँह नहीं दिखाते। (८) नागमती अपनी समस्त सखियों के साथ अपनी वाटिका में (९) हर्ष, कौतुक, और सुख की छाया में फूल चुनती और फल तोड़ती।

टिप्पणी--(१) पलुह<प्ररुह् =अंकुरित होना, हरा-भरा होना। (२) डहा<

डड्ढ<दग्ध । बहुर्<बाहुड्<व्याघुट्=वापस होना । गह=आनंद । (३) सारौ<सारिक=मैना । रहस--रहस्=हर्ष । (४) कोराहर<कोलाहल । (५) बास्<वाश्=पशु-पक्षियों का बोलना । (६) परेवा<पारेवय<पारावत=कबूतर। (७) उजिआर<औज्ज्वल्य=प्रकाश। (९) चूर्<चूरय्<चूर्णय्=चूर्ण करना, खंड-खंड करना, तोड़ना। कोड<कोड्ड [दे०]=कौतुक ।

जाही जूही तेहिं फुलवारी । देखि रहस सहि सकी न बारी ।
दूतिन्ह बात न हिएँ समानी । पदुमावति सौं कहा सो आनी ।
नागमती फुलवारी बारी । भँवर मिला रस करी सँवारी ।
सखी साथ सब रहसहिं कूदहि । औ सिंगार हार जनु गूँदहिं ।
तहँ तो बकावरि तुम्ह सो लरना । बकचुन कहौं लहौं जस करना ।
नागमती नागेसरि रानी । कँवल न आछै अपनी बानी ।
जस सेवती गुलाल चँबेली । तैसि एक जनि उहौ अकेली ।
अति जो सुदरसन कूजा तव सत बरगहि जोग ।
मिला भँवर नागेसरि सेंती दैय दीन्ह सुख भोग ।।४३३।।

अर्थ—(१) [नागमती की] उस पुष्पवाटिका में जाही और जूही [नामकी पद्मावती की दो दूतियाँ] थीं । वे बालिकाएँ नागमती के उस हर्षोल्लास को देखकर सहन न कर सकीं । (२) उन दूतियों के हृदय में यह बात समा न सकी, और उन्होंने आकर पद्मावती से वह बात कही । (३) [उन्होंने कहा,] "नागमती की फुलवाड़ी और वाटिका ने भौंरे (रत्नसेन) के आ मिलने से रस (आनंद)-कलिकाएँ सँवारी हैं। (४) उसके साथ उसकी समस्त सखियाँ भी हर्षित हो रहीं और कूद रही हैं, और मानो उसके लिए शृंगार का हार गूथ रही हैं । (५) वहाँ पर [उनकी] जो वाक्यावली थी, वह तुमसे लड़ने की थी [उसे सुनकर] हमने जो वाक्य चुन-चुन कर कहे थे [उनका उत्तर] वैसा ही पाया जैसा हमारा करण (साधन) था । (६) [उसकी सखियों ने कहा,] 'फुलवारी की रानी नागमती है जो नागकेसर है, कमलिनी (पद्मिनी) [सरोवर के बाहर] यहाँ अपनी बान (वर्ण) में नहीं है । (७) जिस प्रकार [इस फुलवारी में] सेवती [सेवा करती हुई] गुलाल और चमेली हैं, वैसी ही मानो वह [कमलिनी (पद्मिनी)] भी यहाँ एक और अकेली है । (८) [नागकेसर (नागमती) ने] [पति के] सुदर्शन के लिए जो अत्यधिक कूक लगाई, तब उसके अच्छे वर (पति) ने उसका योग (संयोग) ग्रहण किया । (९) अब वह भ्रमर (प्रेमी) नागकेसर (नागमती) से आ मिला है, और दैव ने उसे [पुनः] सुख-भोग दिया है ।"

टिप्पणी--(१-९) इस छंद में फूलों के नामों का साधन ग्रहणकर एक सार्थक वार्ता की रचना की गई है । इस प्रसंग में जिन फूलों के नाम लाए गए हैं वे हैं : जाही (जाती), जूही (यूथिका), सिंगारहार (हर शृंगार), बकावरि (बकावली) बकुचुन (मुचुकुन्द), करना (करणक), नागेसरि (नागकेसर) , कवँल (कमलिनी), सेवती (शतपत्रिका), गुलाल (गुल्लाला), चँबेली (चम्पक-मल्लिका ?) सुदरसन (सुद-

र्शन), कूजा (कुब्जक), सतबरग (सद्बर्ग—फ़ा०) । इनका वार्त्ता -विषयक अर्थ ऊपर आ चुका है ।

सुनि पदुमावति रिस न नेवारीं । सखी साथ आई तेहि बारी ।
दुऔ सवति मिलि पाट बईठीं । हियँ बिरोध मुख बातैं मीठीं ।
बारी दिस्टि सुरँग सुठि आई । हँसि पदुमावति बात चलाई ।
बारी सुफल आहि तुम्ह रानी । है लाई पै लाइ न जानी ।
नागेसरि औ मालति जहाँ । संखदराउ न चाहिअ तहाँ ।
अहा जो मधुकर कँवल पिरीती । लागेउ आइ करील की रीती ।
जो अँबिली बाँकी हिय माहाँ । तेहि न भाव नाँरग कै छाहाँ ।
पहिलें फूल कि दहुँ फर देखिअ हिएँ बिचारि ।
आँब होइ जेहि ठाईं जाँबु लागि रहि आरि ॥४३४॥

अर्थ—(१) यह सुनकर पद्मावती रिस का निवारण न कर सकी, और उन सखियों के साथ उस [नागमती की] वाटिका में आई । (२) दोनों सवतें मिलकर एक पाट (फलक) पर बैठ गई, उनके हृदय में विरोध था किन्तु उनकी बातें मीठी थीं । (३) पद्मावती ने हँसकर वार्ता प्रारंभ की, "यह वाटिका अत्यधिक सुरंग दिखाई पड़ी है । (४) हे रानी, यह तुम्हारी वाटिका सुफल है ; यह लगाई तो हुई है किन्तु इसे लगाना आया नहीं है । (५) इसमें जहाँ नागकेसर [नागमती] और मालती (पद्मिनी) है वहाँ शंखद्राव (अम्लवेतस) न होना चाहिए [दोनों के संबंधों में खटाई न आनी चाहिए] (६) [इस वाटिका में] जो भ्रमर (प्रिय) कमलिनी [पद्मिनी] की प्रीति से आया था, वह [पास ही लगे हुए] करील [साँवली नागमती] की रीति-भाँति (सत्कार) में उलझ गया । (७) [तू] जो इमली है, [अम्ल स्वभाव की है] और हृदय में बाँकी [वक्र] है, उसे [मुझ] [मधुररसवाली] नारंगी की छाया भी अच्छी नहीं लगती है । (८) पहिले फूल को (नवयौवना-पद्मावती को) होना चाहिए था कि फल (पूर्णयुवती—नागमती) को ? तूही हृदय में विचार करके देख ! (९) जिस स्थान पर [मैं] [रसाल] आम हूँ, वहीं उसकी आर (पास) में [तू] [नीरस] जामुन भी लगी हुई है ।"

टिप्पणी—(१) नेवार्<निवारय्=निवारण करना, निषेध करना । बारी< वाडिआ<वाटिका । (२) सवति<सपत्नी । पाट<पट्ट = फलक, तख्ता । (४) संख-दराउ<शंखद्राव = अम्लवेतस । (५) नागेसरि<नागकेसर । (६) बाँकी<बंक< वक्र । करील=(१) करील वृक्ष, (२) काला, कृष्ण वर्ण का । (९) आर<आरओ< आसस्=पास ।

अनु तुम्ह कही नीकि यह सोभा । पै भलि सोइ भँवर जेहि लोभा ।
साँवरि जाँबु कस्तुरी चोवा । आँब जो ऊँच तौ हिरदै रोवाँ ।
तेहि गुन अस भै जाँबु पियारी । लाई आनि माँझ कै बारी ।
जल बाढ़ै ऊभै जो आई । हिय बाँकी 'अँबिली सिर नाई ।
सो कस पराई बारी दूखी । तजै पानि धावहि सुँह सूखी ।

उठै आगि दुइ डार अभेरा। कौनु साथ तेहिं बैरी केरा।
जो देखी नागेसरि बारी। लाग मरै सब सुग्गा सारी।
जेहि तरिवर जो बाढ़ै रहै सो अपने ठाउँ।
तजि केसरि औ कुंदहि जाँउन पर अँबराउँ ॥४३५॥

अर्थ—(१) [नागमती ने उत्तर दिया,] "अवश्य ; अच्छी शोभा यही होती [जो तुमने बताई है], किन्तु भली वह होती है जिस पर भ्रमर लुब्ध हो (२) जामुन और कस्तूरी की त्वचा (खाल) अवश्य साँवली होती है, किन्तु जहाँ आम ऊँचा (बड़ा तथा आकर्षक) होता है उसके हृदय में रोएँ (रेशे) भी तो होते हैं। (३) इसी गुण के कारण जामुन (जम्बूद्वीप निवासिनी—मैं) प्यारी (प्रिया) हुई, और वाटिका के मध्य में लाकर लगाई गई। (४) (कमलिनी सरोवर के) जल के बढ़ने पर जहाँ ऊपर आ जाती है, हृदय की सुंदर इमली सिर झुकाए ही रहती है। (५) वह [कमलिनी—पद्मिनी] कैसे दूसरे की वाटिका में दोष निकालती है, जो पानी जल (तथा मर्यादा) छोड़कर सूखे मुँह दौड़ी आई है। (६) जिसकी दो डालों के संघर्ष से आग उठती है, उस बैरी (बदरी फल तथा शत्रु) का मुझे क्या साथ करना है ? (७) वाटिका में जहाँ, नागकेसर (नागमती) को देखा, सब शुक—सारिकाएँ (दूतत्व करने वाली स्त्रियाँ—यथा 'जाही जूही' ४३३.१) मरने लगीं । जिस [स्थान] पर जो तरुवर बढ़ता है, अपने उसी स्थान पर वह रहता है; (९) केसर और कुंद [जैसे फूलों] को छोड़कर आम्राराम में हो न हो [फलवती] जामुन ही होती है।"

टिप्पणी—(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। नीक<णिक्क (दे०)= निर्मल। (२) चोवा<चोयग (दे०)=त्वचा, छाल। (३) पिआरि<प्रियालु=प्रिय। बारी<वाटिका। (४) ऊभ<उब्भ<ऊर्ध्वित=ऊँचा आया हुआ। बाँकी<बंक< वक्र। (६) अभेरा=भिड़त। (७) सारी<सारिका=मैना। (९) पर<परम्=हो न हो। अँबराउँ<अम्बाराम<आम्राराम।

तुम्ह अँबराँउ लीन्ह का चूरी। काहे भई नींबि बिख मूरी।
भई बैरि कत कुटिल कटैली। तेंदू कैथ चाहि बिगसैली।
नारँग दाख न तुम्हरी बारी। देखि मरहिं जहँ सुग्गा सारी।
अवन सदाफर तुरुँज जँभीरा। कटहर बड़हर लौकी खीरा।
कँवल के हिय रोंवा तौ केसरि। तेहिं नहिं सरि पूजै नागेसरि।
जहँ केसरि नहिं उँबरै पूँछी। बर पाकरि का बोलहिं छूँछी।
जो फर देखिअ सोइअ फीका। ताकर काह सराहिअ नीका।
रहु अपनी तैं बारी मों सौं जूझु न बाँझ।
मालति उपम कि पूजै बन कर खूझा खाझ ॥४३६॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा] "मैंने तुम्हारे आम्राराम में क्या तोड़ लिया ? यह विष मूल (कड़वी) नीम [जैसी वार्ता] किस प्रयोजन से हुई ? (२) यह कुटिल और कँटीली बैर (बदरी फल तथा शत्रुता) क्यों हुई, जों कि तेंदू और कैथ (निरर्थक फलों—निरर्थक व्यवहारों) की अपेक्षा भी अधिक विकासशील है ? (३) नारंगी

और द्राक्षा [की मधुरता] तुम्हारी वाटिका में नहीं हैं, जिन्हें देखकर [उन पर लुब्ध हो] शुक-सारिकाएँ (मेरी दूतियाँ) मरें। (४) उसमें वर्णहीन सदाफल तुरंज, और जंभीर हैं [उनकी खटास है] और वर्णहीन कटहल, बड़हल और लौकी—खीरा है [उनकी जैसी वर्णहीनता—भद्दापन है] (५) कमलिनी (पद्मिनी) के हृदय में रोयाँ है, तो केसर भी है, नागकेसर (नागमती) उसकी समानता नहीं प्राप्त कर सकती है) (६) जहाँ केसर [उसका वर्ण और सुवास] नहीं है, वहाँ [जिसके पेट में कशकों—दुर्गुणों की भरमार है] उदुंबर ही पूँछी जाएगी तुच्छ वड़ और पाकर [तुच्छता, गुणहीनता] भी यहाँ क्या बोल रही हैं? (७) यहाँ जो फल देखिए वही फीका है, [इसलिए] इस वाटिका का कौन-सा फल अच्छा कह कर सराहा जाए? (८) तू अपनी वाटिका में रह, ऐ वन्ध्या मुझ से न लड़; (९) मालती की [मेरी] उपमा (समानता) क्या [तेरे] वन के टेढ़े-मेढ़े खर्ज पा सकते हैं [तेरी विकृतियाँ पा सकती हैं] ?"

टिप्पणी—(१) अँबराउँ<अम्बाराम<आभ्राराम। चूर्<चूरय्<चूर्णय्=चूर करना, खंड-खंड करना, तोड़ना। नींबि<निम्ब। (२) बइरि<बदर=बैर। तेंदू<तिंदुय<तिन्दुका। कैथ<कइत्थ<कपित्थ। (३) नारँग<नारंग। दाख<द्राक्षा। (४) अवन<अवण्ण<अवर्ण=वर्णहीन, भद्दा। तुरंज<तुरंज (फ़ा०) एक प्रकार का नीबू। जंभीर<जम्बीर=एक प्रकार का नीबू। कटहर<कण्टकफल। बड़हर<वट+फल (उड़द की दाल के बने) बड़े के समान फल वाला वृक्ष, अंग्रेजी में इसीलिए 'ब्रेड-फ्रूट-ट्री' कहा जाता है। लौका<अलाबु। खीरा<क्षीरक? । (६) उँबर<उदुम्बर। 'उबरै' के स्थान पर डॉ० वासुदेवशरण ने उँबरै के संशोधन का सुझाव दिया है, जो प्रसंग में अधिक मान्य प्रतीत होता है, अतः स्वीकार किया गया है। बर<वट। पाकर=वट की जाति का एक वृक्ष। छूँछ<तुच्छ। (९) पूज<पुज्ज्<पूरय्=पूरा पड़ना। खूझा<खुज्जय<कुब्ज=कुबड़ा, टेढ़ा मेढ़ा। खाझ<खञ्ज<खर्ज=वृक्ष विशेष।

जौं कटहर बड़हर तौ बड़ेरी। तोहि अस नाहिं जो कोका बेरी।
स्यामि जानु मोर तुरुँज जँभीरा। करुई नींबि तौ छाँह गँभीरा।
नारँग दाख ओहि कहँ राखौं। गलि गलि जाउँ न सौतहिं भाखौं।
तोरे कहें होइ मोर काहा। फर बिनु बिरिख कोइ ढेल न बाहा।
नवै सदा फर सो नित फरई। दारिवँ देखि फाटि हिय मरई।
जैफर लौंग सुपारी हारा। मिरिचि होइ जो सहै न पारा।
हौं सो पान रँग पूज न कोऊ। बिरह जो जरै चून जरि होऊ।
लाजन्ह बूड़ि मरसि नहिं ऊभि उठावसि माँथ।
हौं रानी पिउ राजा तो कहँ जोगी नाथ ॥४३७॥

अर्थ—(१) [नागमती ने कहा,] मेरी वाटिका में यदि कटहल, बड़हल हैं तो यह मेरा बड़प्पन है; मैं तेरे ऐसी नहीं हूँ जो कोकाबेरी [जैसी व्यर्थ की वस्तु] है। (२) मेरे तुरंज और जँभीर [मेरी खटास] को मेरा स्वामी जाने; नीम कड़वी होती है, तो उसकी छाया तो गँभीर होती है [मैं बोल चाल में कड़वी हूँ तो मेरा स्पर्श तो शीतल है]! (३) अपने नारंग और अपनी द्राक्षा [अपनी मधुरता] मैं उसी के लिए

रखती हूँ [उन्हें किसी और को दिखाती भी नहीं] गलगल और जामुन की बात [खटास और नीरसता] भी मैं सौत से नहीं करती । (४) तेरे [इस प्रकार] कहने से मेरा क्या होता (बिगड़ता) है ? [मेरे फलवती होने में कोई बुराई नहीं है] यदि फल न हो तो वृक्षपर कोई ढेला (मिट्टी का डला) भी न चलाए। (५) सदाफल जो नमित होता है, उसका कारण यह है कि वह नित्य (सदैव) फलता रहता है ; दाड़िम [तेरी जैसी ईर्ष्यालु] भले ही [मेरा यह गुण] देखकर हृदय फटने से मरे। (६) जायफल, लवंग, सुपारी हार गए [मेरी सौतें मेरे इस गुण के कारण मुझ से हार गईं] यदि वे इसको सहन न कर सकें, तो वे भले ही मिर्च (कटु) हो जाएँ। (७) मैं वह पान हूँ जिसका रंग कोई नहीं पा सकता है, जो इस विरह 'अभाव विषयक' चिन्ता में जले वह भले ही [जलकर] चूना (चूर्ण) हो जाए। (८) तू [कमलिनी–पद्मिनी] लज्जा से डूब नहीं मरती है जो [पानी––मर्यादा से] ऊपर आकर मत्था (सिर) उठाती है ! (९) मैं रानी हूँ, और मेरा प्रिय राजा है, तुझे तो योगी ही स्वामी मिला है।"

टिप्पणी––(१) कोंकाबेरी=कुमुदिनी, अथवा कुमुदिनी का फल। (२) स्यामि<स्वामि। (३) नसौतहिं=(१) सौत से नहीं, (२) निसोत=खालिस, अमिश्रित असत्य। (४) ढेल<डल=लोष्ठ, मिट्टी का टुकड़ा। बाह<वाहय्=चलाना। (५) नव<नम्=नमित होना, झुकना। दारिवँ<दाडिम<अनार। (६) जैफर<जातीफल। (७) पूज्<पुज्ज्<पूरय्=पूरा पड़ना। चून<चूर्ण=चूना। (८) ऊभ<ऊर्ध्वय्=उठना।

हौं पदुमिनी मानसर केवा। भँवर मराल करहिं निति सेवा।
पूजा जोग दैय हौं गढ़ी। मुनि महेस के माँथें चढ़ी।
जानै जगत कँवल कै करी। तोहि असि नाहिं नागिन बिखभरी।
तूँ सब लेसि जगत के नागा। कोइल भइसि न छाँड़सि कागा।
तूँ भुँजइलि हौं हंस की जोरी। मोहि तोहि मोंति पोति कै जोरी।
कंचन करी रतन नग बना। जहाँ पदारथ सोह न पना।
तूँ रे राहु हौं ससि उजियारी। दिनहि कि पूजै निसि अँधियारी।
ठाढ़ि होसि जेहि ठाईं मसि लागै तेहि ठाउँ॥
तेहि डर राँध न बैठौं जनि साँवरि होइ जाउँ॥४३८॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा,] "मैं पद्मिनी मानसर की केतकी हूँ, भौंरे और हंस नित्य मेरी सेवा करते हैं ; (२) दैव ने मुझे पूजा [में अर्पित करने] के योग्य गढ़ा है, और मैं महेश स्वामी के सिर पर चढ़ चुकी हूँ। (३) जगत् भर मुझे कमल-कलिका के रूप में जानता है, मैं तेरी तरह विषभरी नागिन नहीं हूँ। (४) तू जगत के समस्त नागों को लेती है (उनका सत्कार करती है), तू कोयल है और कागों को भी नहीं छोड़ती है (उन्हें भी अपनाती है)। (५) तू भुजदल है, और मैं हंस की जोड़ी (हंसिनी) हूँ ; मेरी-तेरी मोती और काँच की पोत की जोड़ी है। (६) तेरा और मेरा कंचन-कलिका तथा [उसमें जड़े जाने वाले] रत्न-नग का वर्ण है, जहाँ [मेरे जैसा] पदार्थ हो वहाँ [तेरे जैसा] पन्ना नहीं शोभा देता है। (७) तू राहु है, और मैं उज्ज्वल शशि हूँ, [मुझ] दिन को क्या [तू] अँधेरी रात पा सकती है ? (८) तू जहाँ खड़ी

होती है, उस स्थान पर स्याही लग जाती है, (९) इसी डर से मैं तेरे निकट नहीं बैठती हूँ कि कहीं साँवली न हो जाऊँ।"

टिप्पणी—(१) केवा<केअअ<केतक। मानसर केवा=मानसरोवर की केतकी जायसी ने कमलिनी को सरोवर की केतकी कहा है (तुल० सरभ सूर भुइ सरवर केवा (२७४.५)। (३) कर<कलिआ<कलिका। (५) भुँजइलि = भुंजइटी = एक काली छोटी चिड़िया। पोति<पोत्ती (दे०) = काँच की गुरिया। (६) बना<वण्ण<वर्ण। पना<पर्ण=पन्ना। (७) पूज्<पुज्ज्<पूरय्=पूरा पड़ना। (९) राँध<राद्ध (?) = निकट लाया हुआ।

कँवल सो कवन सुपारी रोठा। जेहि के हिएँ सहस दुइ कोठा।
रहै न झाँपे आपन गटा। सकति उघेलि चाह परगटा।
कँवल पत्र दारिवँ तोरि चोली। देखसि सूर देसि हँसि खोली।
ऊपर राता भीतर पिअरा। जारौं वहै हरद अस हिअरा।
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज हँसि हँसि तेहि रावसि।
सब निसि तपि तपि मरसि पियासी। भोर भए पावसि पिय बासी।
जल सेजवाँ रोइ रोइ जल भरसी। तूँ मोसौं का सरबरि करसी।
सुरुज किरिन तोहि रावै सरवर लहरिन पूज।
करम बिहून ए दूनौ कोउ रे धोबि कोउ भूँज ॥४३६॥

अर्थ—(१) [नागमती ने कहा,] "कमलिनी ऐसी कौन-सी सुपारी की डली है (सुपारी की डली के समान ठोस पदार्थ है) जिसके हृदय में दो सहस्र (अनेकानेक) कोठे होते हैं [जिनमें वह उतने ही बीजों को धारण करती है]? (२) वह अपने गट्टों (कमलगट्टों के रूप में कुचों) को ढँककर नहीं रखती है, और भरसक उघाड़कर प्रकट करना चाहती है। (३) कमल की पंखुड़ियों की तेरी फाड़ी हुई चोली है, और उसे तू ज्यों ही सूर्य को देखती है, हँसकर खोल देती है। (४) ऊपर से जो लाल है और भीतर से पीला है उस तेरे हल्दी के सदृश [रसहीन] हृदय को जला दूँ। (५) यहाँ जब कि तू भौंरे (प्रिय) को मुख की बातों से लगाती (फँसाती) है, वहाँ [तेरा जार] सूर्य है, जिसके साथ न हँस-हँसकर रमण करती है। (६) समस्त निशा तू प्यासी तप करते-करते मरती है, तब सवेरा होने पर तू बासी पति को पाती है। (७) जल की शय्या में रो रो कर तू रातें बिताती है, ऐसी तू क्या मुझसे समानता करती है? (८) तुझसे सूर्य की किरणें रमण करती हैं, जबकि सरोवर लहरों से तुझे पूजता है; (९) ये दोनों ही कर्म-विहीन हैं; कोई धोबी है [जो लहरों से तेरी गंदगी धोता है] तो कोई भूँज है [जो अपनी किरणों से उसी प्रकार समस्त पदार्थों को जलाता है जैसे कोई भड़भूँजा धान्य भूनता है]।"

टिप्पणी— (१) रोठा<लोट्ठ<लोष्ठ = डला। कोठा<कोट्ठ<कोष्ठ=आवास। (२) उघेल्<उग्घाड्<उद्+घाटय्=उघाड़ना, खोलना। (३) दारिवँ (दृ=फाड़ना =फटी हुई। (४) पिअर<पीअ+डा<पीत=पीला। (५) राव्<रम्=रमण करना। (६) बासी<वासित=एक दिन का रक्खा हुआ (भोजन)। यहाँ भोर भए पावसि पिय

'बासी' से तात्पर्य है कि रात में वह प्रिय (सूर्य) नहीं मिलता है, कहीं अन्यत्र रात काटकर वह तुझसे दूसरे दिन मिलता है, जब उसकी रात्रि की रमणेच्छा समाप्त हो जाती है।

अनु हौं कँवल सुरुज कै जोरी। जौं पिय आपन तौ का चोरी।
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार भोर उठि देखौं।
मोर बिगास ओहिक परगासू। तूँ जरि मरसि निहारि अकासू।
हौं ओहि सौं वह मो सौं राता। तिमिर बिलाइ होत परभाता।
कँवल के हिरदै महँ जौं गटा। हरिहर हार कीन्ह का घटा।
जाकर देवस ताहि पै भावा। कारि रैनि कत देखै पावा।
तू उँबरी जेहिं भीतर माँखा। चाँटिहि उठे मरन कै पाँखा।
धोबिनि धोवै बिख हरै अंब्रित सौं सरि पाव।
जेहि नागिनि डसु सो मरै लहरि सुरुज कै आव ॥४४०॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा,] "तू ठीक कहती है, मैं कमलिनी हूँ और सूर्य की जोड़ी हूँ ; यदि प्रिय अपना है, तो इसमें चोरी क्या हुई ? (२) मैं उसे अपना दर्पण मानती हूँ, और शृंगार करके सबेरे उठकर [उस के बिम्व में] अपने मुख की छवि देखती हूँ। (३) मेरा विकास उसी का प्रकाश है, और [रजनी सदृश] तू आकाश में देखती हुई जल-भरती है। (४) मैं उससे अनुरक्ता हूँ, और वह मुझसे अनुरक्त है, [तेरा उपमान] तिमिर तो प्रभात होते ही विलीन हो जाता है। (५) कमलिनी के हृदय में जो गट्टा होता है, उसको हरि और हर ने हार [बनाकर धारण] किया तो इससे क्या घट गया ? (६) दिन जिसका होता है, उसे हो न हो, वही अच्छा लगता है, क्योंकि काली रजनी में कहाँ देखने को मिलता है ? (७) तू उदुम्बरी (गूलर) है, जिसके भीतर [नन्हीं-नन्हीं] मक्षिकाएँ हैं, और वे मक्खियाँ भी क्या हैं, वे चीटियाँ हैं जिन्हें मरने के पंखे उठे हैं। (८) (सरोवर को तू ने धोबी कहा—सो] मुझे धोबिन धोती है, तो वह [मल के रूप में लगे हुए मेरे] विष का हरण करती है, जिससे मैं अमृत से सादृश्य प्राप्त करती हूँ। (९) [दूसरी ओर] जिसे तू नागिन डस लेती है, वह मर जाता है, और उसे सूर्य [के–लू लगने की] [जैसी] लहर आती है।"

टिप्पणी—(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। (४) रात<रत्त<रक्त=अनुरक्त। बिला<विली=विलीन होना। (६) कत<कुत्र=कहाँ। (७) उँबरी<उदुम्बरी=गूलर। पाँख<पंख<पक्ष=डैना। (८) सरि<सादृश्य = समानता।

फूलु न कँवल भान के उएँ। मैल पानि होइहि जरि छुएँ।
भँवर फिरहिं तोरे नैनाहाँ। लुबुध बिसाइँध सब तोहि पाहाँ।
मंछ कच्छ दादुर तोहि पासा। बग पंखी निसि बासर बासा।
जो जो पंखि पास तोहि गए। पानी महँ सो बिसइध भए।
सहस बार जौं धोवै कोई। तबहुँ बिसाइँध जाइ न धोई।
जौं उजियार चाँद होइ उई। बदन कलंक डोँव कै छुई।

औ मोहि तोहि निसि दिनकर बीचू। राहु के हाथ चाँद कै मीचू।
काह कहौं ओहि पिय कहँ मोहिं पर धरेसि अँगार।
तेहि के खेल भरोसें तुइँ जीता मोरि हार ॥४४१॥

अर्थ--(१) [नागमती ने कहा,] "ऐ कमलिनी, सूर्य के उदित होने पर न फूल; वह जिस समय तेरी जड़ छूएगा, वह तेरा पानी (जल और मान-मर्यादा) [सोखकर] मलिन कर देगा। (२) तेरे नेत्रों में [कितने ही] भ्रमर (प्रेमी) फिरते रहते हैं, वे सब तेरी बिसाइंध (बिस-गंध) पर लुब्ध होकर तुझे घेरे रहते हैं। (३) मच्छ, कछुए और मेढक तेरे पास रहते हैं, बगुले [तथा अन्य जल के] पक्षी दिन-रात [तेरे साथ] बसेरा लेते हैं, (४) [और इस प्रकार] जो-जो पक्षी तेरे पास रह आए, वे सभी पानी में बिसाइंध (बिस-गंध युक्त) हो गए। (५) [फिर तो,] उन्हें कोई हज़ार बार धोए, उनकी बिसाइंध (बिस-गंध) धोई नहीं जा सकती है। (६) यदि तू उज्ज्वल चन्द्र (चन्द्रिका) होकर उदित हुई है, तो तेरा बदन (शरीर) कलंकित हो चुका है, क्योंकि तू डोम की छुई है। (७) और, मेरे-तेरे में रात-दिन का अन्तर है, [मैं राहु हूँ यदि तू चन्द्र है और] राहु के हाथ चन्द्र की मृत्यु होती ही है। (८) मैं उस प्रिय (पति) को क्या कहूँ, जिसने मुझ पर अंगार के रूप में तुझे लाकर रख दिया? (९) उसके इस खेल के भरोसे (परिणामस्वरूप) [मैंने मान लिया कि] तू जीत गई और मेरी हार हो गई।"

टिप्पणी--(२), (५) बिसाइँध<बिस-गन्ध=कमलनाल की एक विशेष प्रकार की दुर्गंध जो उसके पानी में रहने के कारण होती है। (३) मंछ<मच्छ<मत्स्य। कच्छ <कच्छप=कछुआ। दादुर<दद्दुर<दर्दुर=मेंढक। पास<पार्श्व। पंखी<पक्षिन्= चिड़िया। (६) उजिआर<उज्ज्वल। डोवँ=डोम, एक अस्पृश्य मानी जाने वाली जाति जिसे चन्द्र ग्रहण के समय कदाचित् इस भावना से दान दिया जाता है कि चंद्रमा राहु का ऋणी होता है (दे० ९७. ७), और डोम राहु की ओर से वह ऋण उगाह कर चंद्रमा को उससे मुक्त कराता है। (७) मीचु<मृत्यु।

तोर अकेल जीतेउँ का हारू। मैं जीता जग केर सिंगारू।
बदन जीतेउँ जो ससि उजियारी। बेनी जीतेउँ भुअंगिनि कारी।
लोयन जीतेउँ मिरिग के नैना। कंठ जीतेउँ कोकिल के बैना।
भौंह जीतेउँ अर्जुन धनुधारी। गीवँ जीतेउँ तँवचूर पुछारी।
नासिक जीतेउँ पुहुप तिल सूवा। सूक जीतेउँ बेसरि होइ उवा।
दामिनि जीतेउँ दसन चमकाहीं। अधर रंग रवि जीतेउँ सबाहीं।
केहरि जीति लंक मैं लीन्हा। जीति मरालि चाल ओइ दीन्हा।
पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ परिमल अंग बसाइ।
तूँ नागिनि मोरि आसा लुबुधी मरसि कि हिरकौं जाइ ॥४४२॥

अर्थ (१)--[पद्मावती ने कहा] "मैंने अकेली तेरी हार क्या जीती? मैंने तो जगत् का शृंगार जीता है। (२) मैं वदन (मुख) से शशि की उज्ज्वलता जीत ली है, अपनी वेणी से काली भुजंगिनी को जीता है; (३) लोचनों से मृगों के नेत्रों को जीता है, और कंठ से कोकिल के वचनों को जीता है; (४) भौंहों से धनुर्धर अर्जुन को जीता है, ग्रीवा

से कुक्कुट और मयूर को जीता है; (५) नासिका से तिल के पुष्प और शुक को जीता है, और मैंने शुक्र को जीता है जो बेसर [का मोती] बनकर उदित हुआ है, (६) दाँतों की चमक से दामिनी को जीता है और अधरों के रंग (अरुणता) से समग्र [प्रातःकालीन] रवि को जीता है; (७) केसरी को जीतकर उससे कटि मैंने छीन ली है, और मैंने मराली को जीता है; उसने मुझे अपनी चाल दी है। (८) अंगों में परिमल बसाकर मैं पुष्पों की सुवास और मलयगिरि चंदन को जीता है। (९) तू नागिन (नागमती) मेरी आशा लुब्ध है और इसलिए मर रही है कि मेरे पास आकर तू मुझसे हिलगे !"

टिप्पणी-- (२) उजिआरी<औज्ज्वल्य। बेनी<वेणी। (३) लोयन<लोचन। बैन<वयण<वचन। (४) गीव<ग्रीवा। तवँचूर<ताम्रचूड़=कुक्कुट। पुछारि<पिच्छालु=मोर। (५) बेसरि<द्विस्रगिका (?)=नाक का एक आभरण। (७) केहरि<केसरिन्=सिंह। (९) हिरक्=हिलगना, पास जाना, सटकर लगना। मेरी 'जायसी ग्रन्थावली' में पाठ 'हरकौं' था, 'हिरकौं' पाठ डॉ० वासुदेव शरण का संशोधन है, जो प्रसंग में अधिक संगत प्रतीत होता है, और इसलिए स्वीकार्य है।

का तोहि गरब सिंगार पराएँ। अबहीं लेहिं लूसि सब ठाएँ।
हौं साँवरि सलोनि सुभ नैना। सेत चीर मुख चात्रिक बैना।
नासिक खरग फूल धुव तारा। भौहैं धनुक गँगन को पारा।
हीरा दसन सेत औ स्यामा। छपै बिज्जु जौं बिहँसै रामा।
बिद्रुम अधर रंग रस राते। जूड़ अमीं अस रबि परभाते।
चाल गयंद गरब अति भरी। बिसा लंक नागेसरि करी।
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का गोरी सरबरि कर फीकी।
पुहुप बास हौं पवन अधारी कँवल मोर तरहेल।
जब चाहौं धरि केस ओनावौं तोर मरन मोर खेल॥४४३॥

अर्थ—(१) [नागमती ने कहा,] "इस अन्यों से प्राप्त शृंगार पर तुझे क्या गर्व है ? वे सब अभी तुझे इसी स्थान पर मटियामेट कर [अपना शृंगार] तुझसे ले लेंगे। (२) मैं साँवली हूँ, सलोनी हूँ और शुभ नेत्रा हूँ, श्वेत चीर धारिणी हूँ और मेरे मुख में [सदैव] चातक का वचन ('प्रिय') रहता है। (३) मेरी नासिका खड्ग [सदृश] है, उसका फूल ध्रुवतारक [सदृश] है; मेरी भौंहें धनुष हैं, जिनकी समानता आकाश में निकलने वाला इन्द्रधनुष भी नहीं कर सकता है। (४) मेरे दाँत हीरों जैसे श्वेत तथा [मिस्सी के कारण] श्याम हैं, मैं रामा यदि हँसूँ तो बिजली छिप जाए। (५) मेरे विद्रुम [सदृश] अधर रंग रस से रक्त हैं, वे अमृत सदृश शीतल और प्रभात के रवि सदृश [लाल] हैं। (६) मेरी चाल गजेन्द्र की है, जो अति गर्व से भरी हुई है, मेरी कटि बिसा (बर्र) की है, ऐसी मैं नागकेसर की कलिका हूँ। (७) जहाँ मैं साँवली हूँ, मैं सलोनी और अत्यधिक नीकी भी हूँ; गौरवर्ण वाली कोई स्त्री अपने फीके वर्ण के साथ मुझसे क्या समानता कर सकती है ? (८) मैं [नागकेसर की] पुष्पवासना हूँ, केवल पवन के आधार पर जीवित रहती हूँ, कमलिनी तो मेरी अनुचरी है; (९) मैं जब चाहूँ तेरे केशों को पकड़कर तुझे झुका दूँ; तेरा मरण मेरा खेल होगा।"

टिप्पणी--(१) लूस्<लूष = नष्ट करना, मटियामेट करना । (२) सलोनी< सलवण + इका=लावण्यवती । बैन<वयण<वचन । (३) पार्<पारय्=सकना, समर्थ होना । (४) सेत<श्वेत । बिज्जु<विद्युत् = बिजली । (६) गयंद<गजेन्द्र । करी< कलिआ<कलिका । (८) तरहेल=अधीनस्थ । (९) ओनाव्<अवनामय्<अवनमित करना ।

पदुमावति सुनि उतर न सही । नागमती नागिनि जिमि गही ।
ओइँ ओहि कहँ ओइँ ओहि कहँ गहा । गहा गहनि तस जाइ न कहा ।
दुओ नवल भर जोबन गाजीं । अछरी जानु अखारैं बाजीं ।
भा बाँहनि बाँहनि सौं जोरा । हिया हिया सों बाग न मोरा ।
कुच सौं कुच जौं सौंहें आने । नवहिं न नाए टूटहिं ताने ।
कुंभ स्थल जेउँ गज मैमंता । दूनौ अल्हर भिरे चौदंता ।
देव लोक देखत मुए ठाढ़े । लागे बान हियँ जाहिं न काढ़े ।
जानहुँ दीन्ह ठग लाड़ू देखि आइ तस मींचु ।
रहा न कोइ धरहरिया करै जो दुहुँ महँ बीचु ॥४४४॥

अर्थ—(१) पद्मावती इस उत्तर को सुनकर सहन न कर सकी, और उसने नाग-मती को नागिन के समान पकड़ लिया । (२) उसने उसको और उसने उसको पकड़ा, और ऐसी धर-पकड़ हुई कि उसका वर्णन नहीं हो सकता है । (३) दोनों ही नववयस्काएँ यौवन में भरी हुई इस प्रकार गर्जन करने लगीं, मानो अप्सराएँ अखाड़े में उतर कर एक दूसरे से भिड़ गई हों । (४) बाहों-बाहों से बल का प्रयोग हुआ, और एक के हृदय ने दूसरे के हृदय से बाग न मोड़ी, (५) और जो कुच के सम्मुख कुच लाए गए, तो वे नमित करने से नमित नहीं हो रहे थे, और [ऐसे लगते थे कि] तानने (रोकने) पर टूट जाते । (६) वे ऐसे लग रहे थे मानो मदमत्त गजों के कुम्भ स्थल हों, और वे दोनों अल्हड़ (नववयस्क) हाथी हों जो भिड़कर चौदंत हो रहे हों । (७) देवलोक के देवता [इनका यह भिड़ना] देखते ही मृत [से] हो गए, क्योंकि उनके हृदय में ऐसे [काम के] बाण लगे (चुभ गए) जो निकाले नहीं जा सकते थे । (८) मानो उन्हे ठगों का लड्डू दिया गया हो, इस प्रकार उन्होंने अपनी मृत्यु आयी देखी; (९) इसलिए कोई रोक-थाम करने वाला भी न रहा जो दोनों में बीच-बचाव कर सकता ।

टिप्पणी-- (३) गाज्<गज्ज्<गर्ज् =गर्जन करना । अछरी<अच्छरि<अप्स-रस्=अप्सरा । अखार<अक्खाड<अक्षवाटक = कुश्ती का अखाड़ा । (५) सौंहं<सउँह <सन्मुख । (६) मैमंत<मयमत्त<मदमत्त । अल्हर=नव युवा । (९) धरहरिआ= धरहर = रोकथाम करने वाला ।

पवन सवन राजा के लागा । लरहिं दुऔ पदुमावति नागा ।
दूऔ सम साँवरि औ गोरी । मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी ।
चलि राजा आवा तेहि बारीं । जरत बुझाइँ दूनौ नारीं ।
एक बार जिन्ह पिउ मन बूझा । काहे कौं दोसरे सौं जूझा ।
अैस ग्यान मन जान न कोई । कबहूँ राति कबहुँ दिन होई ।

धूप छाँह दुइ पिय के रंगा । दूनौं मिली रहहु एक संगा ।
जूझब छाँड़हु बुझहु दोऊ । सेव करहु सेवाँ कछु होऊ ।
तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग ।
सेव करहु मिलि दूनहुँ औ मानहु सुख भोग ॥४४५॥

अर्थ—(१) पवनदेव राजा (रत्नसेन) के कानों में लगकर कहने लगे, "पद्मावती और नागमती—दोनों लड़ रही हैं। (२) दोनों ही साँवली और गोरी स्त्रियाँ समान हैं; यदि ये [लड़कर] मर जाएँगी तो ऐसी जोड़ी तू [पुनः] कहाँ पाएगा ?" (३) [यह सुनकर,] राजा चलकर उस वाटिका में आया, और उन दोनों नारियों को जो [द्वेष से] जल रही थीं, शान्त किया। (४) उसने कहा, "जिन्होंने एक बार भी प्रिय के विचार जान लिए [अथवा मन में प्रिय को जान लिया], वे क्यों दूसरे से युद्ध करेंगी ? कोई ऐसा ज्ञान मन में नहीं जानता (लाता) है कि कभी रात होती है तो कभी दिन भी होता है; (६) धूप और छाया (गौरवर्ण और साँवलापन)—दोनों ही प्रिय के रंग हैं; इसलिए दोनों को एक साथ मिलकर रहना चाहिए। (७) दोनों इस बात को समझो, और युद्ध करना छोड़ो; [प्रिय की] सेवा करो; सेवा से ही कुछ [स्थायी लाभ] हो सकता है। (८) तुम दोनों नारियाँ गंगा (गौरवर्ण की पद्मिनी) यमुना और (श्याम वर्ण की नागमती) हो, [अथवा तुम दोनों शरीर की गंगा, यमुना पिंगला और इड़ा नाम की दो नाड़ियाँ हो] मुहम्मद कवि कहता है, तुम दोनों का संयोग होना विधाता द्वारा लिखित था। (९) [अब] तुम दोनों मिलकर [प्रिय की] सेवा करो और दोनों सुख-भोग मानो।"

टिप्पणी— (१) सवन<श्रवण=कान। (४) जूझ<युध्=युद्ध करना। (७) बूझ<बुज्झ्<बुध्=जानना। (८) नारी<नाडि=नाड़ी। इस छंद में कवि ने विभिन्न साधन-मार्गियों को पारस्परिक द्वन्द्व मिटाकर परमेश्वर की सेवा करने का उपदेश किया है। उसका कहना है कि समस्त प्राणियों को परमेश्वर ने बनाया है और सभी प्राणी उसकी सेवा के लिए ही संसार में आते हैं, इसलिए सब को आपस में मिल-जुलकर रहते हुए उसकी सेवा करनी चाहिए। उसकी सेवा से ही कुछ स्थायी लाभ प्राप्त हो सकता है।

राघौ चेतनि चेतनि महा। आइ ओरगि राजा के रहा।
चित चिंता जानै बहु भेऊ। कबि बियास पंडित सहदेऊ।
बरनी आइ राज कै कथा। सिंघल कबि पिंगल सब मथा।
कबि ओहि सुनत सीस पै धुना। स्रवन सो नाद बेद कबि सुना।
दिस्टि सो धर्म पंथ जेहि सूझा। ग्यान सो परमारथ मन बूझा।
जोग सो रहै समाधि समाना। भोग सोग नीकें रँग जाना।
बीर हो रिस मारै मन गहा। सोइ सिंगार पाँच भल कहा।
बेद भेद जस बररुचि चित चिंता तस चेत।
राजा भोज चतुर्दस बिद्या भा चेतन सौं हेत ॥४४६॥

अर्थ—(१) राघव चेतन महाचेतन था, वह आकर राजा की सेवा में लग गया।

(२) वह चित्त में चिन्तन करने वाला था और बहुत-से भेद जानता था, कवि के रूप में वह [महाभारतकार] व्यास तथा पंडित के रूप में वह [महाभारत का] सहदेव था। (३) उसने आकर राजा की [सिंहल-यात्रा की] कथा का वर्णन [काव्य के रूप में] किया था, वह सिंहल का (सिंहल से आया हुआ) कवि था और उसने समस्त पिंगल (छंदशास्त्र) को मथ डाला था। (४) कविता वह है जिसको सुनते ही [श्रोता] सिर पीटने लगे, श्रवण वह है जो नाद-वेद (संगीत) और काव्य सुनता हो, (५) दृष्टि वह है जिससे सद्धर्म-पथ सूझे, ज्ञान वह है जिससे मन को परमार्थ (परमतत्त्व) का बोध हो, (६) योग वह है जिससे योगी समाधि में समाया (लीन) रहे, और भोग वह है जो शोक को भली भाँति जानता हो, (७) वीरता वह है कि क्रोध को मारे और मन को पकड़े (नियंत्रण में करे), शृंगार वह है जिसे पंच (समाज) भला कहे। (८) वेदों के भेद (रहस्य) के विषय में जैसे वररुचि था, उसी प्रकार जो चित्त की चिन्ताओं को चेतता था, (९) और जो चतुर्दश विद्याओं के विषय में भोज सदृश था, ऐसे चेतन से [राजा को] स्नेह हो गया।

टिप्पणी--(१) ओरग्<अवलग्=सेवा करना (दे० २६.३ टिप्पणी) (२) चिंता<चितय<चिन्तक। भेउ=भेद। (३) सिंघल कवि : जटमल ने गोरा बादल की कथा में भी उसे सिंहल से आया हुआ कहा है दे० छंद २७ (तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग संस्करण) (४) कबि<कवि। (९) चतुर्दस् विद्या=४ वेद + ६ वेदांग + पुराण + मीमांसा + न्याय + धर्मशास्त्र।

इस छंद की अद्धाली ४-७ में कवि ने अपने काव्य तथा जीवन दर्शन के कुछ विचारों को संक्षेप में किन्तु स्पष्टता के साथ रक्खा है।

घरी अचेत होइ जौं आई। चेतन कर पुनि चेत भुलाई।
भा दिन एक अमावस सोई। राजैं कहा दुइज कब होई।
राघौ के मुख निकसा आजू। पँडितन्ह कहाँ कालि बड़ राजू।
राजैं दुहूँ दिसा फिरि देखा। को पंडित बाउर को सरेखा।
पैज टेकि तब पँडितन्ह बोला। झूठा बेद बचन जौं डोला।
राघौ करत जाखिनी पूजा। चहत सो रूप देखावत दूजा।
तेहि बर भए पैज कै कहा। झूठ होइ सो देस न रहा।
राघौ पूजा जाखिनी दुइज देखावा साँझ।
पंथ गरंथ न जे चलहिं ते भूलहिं बन माँझ ॥४४७॥

अर्थ—(१) [किन्तु] जब अचेत होने की घड़ी आई, तब राघव चेतन की चेतना भुला गई (भ्रष्ट हो गई)। (२) [वह इस प्रकार हुआ कि] एक दिन हुआ (आया) और वह अमावस था; राजा ने पूछा, "द्वितीया कब होगी ?" (३) राघव के मुख से निकला, "आज"; पंडितों ने कहा, "महाराज, कल।" (४) राजा ने दोनों ओर घूम कर देखा [और यह जानना चाहा कि] कि दोनों पक्षों में से कौन बावला और कौन जानकार है। (५) तब प्रतिज्ञा टेककर पंडितों ने कहा, "यदि हमारा वचन टल जाए तो वेद झूठा है।" (६) राघव यक्षिणी-पूजा करता था [उसके बल पर] जैसा चाहता

था वह दूसरा (वास्तविक से भिन्न) रूप दिखा देता था। (७) उसी बल पर [अवलंबित] होकर उसने प्रतिज्ञा करके यह कहा, "जो झूठा ठहरे, वह देश में न रहे (देश छोड़कर निकल जाए)। (८) राघव ने यक्षिणी-पूजा की और संध्या को द्वितीया दिखा दी। (९) किन्तु जो ग्रंथ (धर्मग्रन्थों) के मार्ग पर नहीं चलते हैं, वे वन (अमार्ग) के मध्य भटक जाते हैं।

टिप्पणी-- (३) कालि<कल्ल<कल्य=आने वाला दिन। (४) बाउर< वाउल<वातूल=बावला। सरेख<संलेखित=तपश्चर्या से जिसने शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी। (५) पैज<पइज्जा<प्रतिज्ञा। (६) जाखिनी<यक्षिणी। (९) माँझ= मध्य।

इस छंद की अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने ग्रंथ (शरअ्) के मार्ग पर चलने का समर्थन किया है।

पंडित कहहिं हम परा न धोखा। यह सो अगस्ति समुँद जेइँ सोखा।
सो दिन गएउ साँझ भौ दूजी। देखिअ दूजि घरी वह पूजी।
पंडितन्ह राजहिं दीन्ह असीसा। अब कसिअइ कंचन औ सीसा।
जौं वह दूजि कालिन्ह कै होती। आजु तीजि देखिअति तसि जोती।
राघौ काल्हि दिस्टि बँध खेला। सभा मोहि चेटक सिर मेला।
एहिं कर गुरू चमारिन लोना। सिखा काँवरू पाढ़ित टोना।
दूजि अमावस महँ जो देखावै। एक दिन राहु चाँद कहँ लावै।
राज बार अस गुनी न चाहिअ जेहि टोना कर खोज।
एहि छंद ठगबिद्या डहँका राजा भोज ॥४४८॥

अर्थ—(१) पंडित कहने लगे, "हमें धोखा नहीं हुआ, यह (राघव) तो वह अगस्त्य है जिसने समुद्र सोख लिया [जिसने ऐसे असंभव को संभव कर दिखाया]।" (२) वह दिन गया, और दूसरी संध्या आई, और जब द्वितीया का चन्द्रमा दीख पड़ता, वह घड़ी पूरी हो गई। (३) पंडितों ने [जाकर] राजा को आशीर्वाद दिया, और कहा, "अब कसकर देखिए कि [जो हमने कहा था वह] कंचन था या शीशा। (४) यदि वह द्वितीया कल की रही होती, तो आज तृतीया को वैसी (तृतीया के जैसी) ज्योति दिखाई पड़ती। (५) राघव ने कल दृष्टि-बंध खेला है और उसने राजसभा को मुग्ध करके उसके सिर पर चेटक (इन्द्रजाल) डाला है। (६) इसकी गुरु लोना चमारिन है, और इसने कामरूप में टोने का शास्त्र पढ़ा है। (७) जो अमावस में द्वितीया दिखा सकता है वह एक दिन चन्द्रमा (राजा-रानी) के लिए यह राहु (उनको वन्दी करने वाली कोई शक्ति) भी ला सकता है। (८) राजद्वार पर ऐसा गुणी न होना चाहिए जिसे टोने की खोज हो (जो टोने की खोज में पड़ा रहता हो), (९) इसी प्रकार छद्म और ठग विद्या से राजा भोज डहका करता था।"

टिप्पणी--(१) अगस्ति<अगस्त्य=प्रसिद्ध ऋषि जिन्होंने पुराणों के अनुसार समुद्र को पी डाला था। (२) पूज्<पूरय्=पूरा पड़ना। (६) लोना चमारिन=टोना की प्रसिद्ध गुरु जो कामरूप की निवासिनी मानी जाती है। काँवरू<कामरूप। पाढित<

पाठित=सिखाया हुआ मंत्र। (८) बार<वार<द्वार। (९) छंद<छद्म। डहक् = छलना।

राघौ बैन जो कंचन रेखा। कसें बान पीतर अस देखा।
अग्याँ भई रिसान नरेसू। मारौं काह निसारौं देसू।
तब चेतन चित चिंता गाजा। पंडित सो जो बेद मति साजा।
कबि सो पेम तंत कबि राजा। झूँठ साच जेहि कहत न साजा।
खोट रतन सेवा फटिकरा। कहँ खर रतन जो दारिद हरा।
चहै लच्छि बाउर कबि सोई। जेहि सुरसती लच्छि कित होई।
कबि ता सँग दारिद मति भंगी। काँटइ कुटिल पुहुप के संगी।
कबि ता चेला बिधि गुरू सीप सेवाती बुंद।
तेहि मानुस कै आस का जो मरजिआ समुंद ॥४४६॥

अर्थ—(१) राघव का वचन जो कंचन की रेखा [लगता] था, कसने पर उसका वर्ण पीतल का सा दिखाई पड़ा। (२) [अतः] राजा रुष्ट हुआ और उसकी आज्ञा हुई, "इसको मारूँ क्या ? इसको देश से निकालता हूँ।" (३) तब चित्त-चिन्तक चेतन गर्ज उठा, "पंडित वही है जो वेद (धर्म ग्रंथों) की बुद्धि [अथवा युक्ति] साजता है। (४) कवि वही है जो प्रेम-तंत्र की कविता से चमके, जिसमें वह सच को कहते हुए झूठ को सजाने का प्रयास न करे। (५) मैंने तो फिटकरी जैसे खोटे रत्न (रत्नसेन) की सेवा की; वह खरा रत्न कहाँ है जो मेरे दारिद्रय का हरण करे ? (६) [किन्तु] जो लक्ष्मी चाहता है, वह कवि बावला है; जिसे सरस्वती [इष्ट] होती है, उसे लक्ष्मी कहाँ [प्राप्त] होती है ? (७) जो कवि होता है उसके साथ मति को नष्ट करने वाला दारिद्रय होता ही है, जिस प्रकार कुटिल काँटे पुष्प के साथी होते हैं। (८) जो विधाता [आदि] गुरु है, कवि उसका चेला होता है, [और कवि उसी प्रकार उस गुरु का आश्रित होता है] जिस प्रकार सीपी स्वाति-बिन्दु की आश्रित होती है। (९) उस [कवि जैसे साधक] को जो समुद्र का मरजीवा है मनुष्य की क्या आशा-अपेक्षा होनी चाहिए ?"

टिप्पणी— (१) बान<वण्ण<वर्ण। (३) चिता<चितअ<चिन्तक=चिंतन करने वाला। गाज्<गज्ज्<गर्ज्=गर्जन करना। (४) तंत<तंत्र। कबि<कवि। राज्=चमकना। साज्<सस्ज्=सजाना। (६) लच्छि<लक्ष्मी। बाउर<वाउल<वातूल=बावला। (७) काँट<कण्टक। पुहुप<पुष्प। (८) सेवाती<स्वाति=नक्षत्र-विशेष। (९) मरजिआ<मरजीवय<मरजीवक (दे०)=समुद्र में डुबकी लगाकर रत्नादि निकालने वाला। इस छंद की पंक्तियों में जायसी ने कवि-कर्म की पवित्रता का बहुत ही सुन्दर प्रतिपादन किया है। जीवन के मरण-मार्ग का प्रतिपादन कवि के लिए भी यहाँ जायसी ने किया है।

यह रे बात पदुमावति सुनी। चला बिपुरि कै राघौ गुनी।
कै गियान धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा।
जेइँ जाखिनी पूजि ससि काढ़ी। सुरुज के ठाउँ करै पुनि ठाढ़ी।
कबि कै जीभ खरग हिरवानी। एक दिसि आग दोसर दिसि पानी।

जनि अजुगत काढ़ै मुख भोरें । जस बहुतें अपजस होइ थोरें ।
राघौ चेतनि बेगि हँकारा । सुरुज गरह भा लेहु उतारा ।
बाँभन जहाँ दक्खिना पावा । सरग जाइ जौं होइ बोलावा ।
आवा राघौ चेतनि धौराहर के पास ।
ऐस न जानै हिरदैं बिजुरी बसै अकास ॥४५०॥

अर्थ—(१) पद्मावती ने यह वार्त्ता सुनी कि गुणी राघव खिन्न होकर जा रहा है। (२) ज्ञान करके उस स्त्री ने भविष्य के संबंध में विचार किया, और सोचा, "ऐसा गुणी निकाल (निर्वासित) कर राजा ने भला नहीं किया; (३) जिसने यक्षिणी की पूजा करके चन्द्रमा को निकाल दिया, वह उसे पुनः सूर्य के स्थान पर खड़ाकर [सूर्य-ग्रहण—रत्नसेन को परास्तकर] सकता है। (४) कवि की जिह्वा हीरे के वर्ण की खड्ग [सदृश] होती है, एक ओर जहाँ वह आग में [तपाए जाने के लिए] घुसती है, दूसरी दिशा में वह पानी में [ठंडी की जाने के लिए] घुसती है। (५) मुख से भूलकर भी अयुक्त (अयोग्य) शब्द न निकालना चाहिए; क्योंकि यश तो बहुतेरा सत्कर्म करने से मिलता है, किन्तु अपयश जरा सी बात में मिल जाता है।" (६) राघव चेतन को [यह सब सोचकर] उसने शीघ्र बुलाया और कहा, 'सूर्य का ग्रह हुआ है (सूर्य अनिष्ट-कारी ग्रह होकर जन्मपत्री में आ गया है) इसलिए [उसके निवारणार्थ] उसका उतारा (उबारा) लो।" (७) ब्राह्मण जहाँ दक्षिणा पाने को हो, वह स्थान यदि स्वर्ग हो, तो बुलाने पर वह वहाँ भी जा पहुँचता है। (८) [फलतः] राघव चेतन धवलगृह (राज-प्रासाद) के पास आया, (९) किन्तु वह हृदय में ऐसा न जानता था कि आकाश [सदृश उस धवल गृह] पर बिजली [सदृश पद्मावती] बसती है।

टिप्पणी— (१) बिसुर<विसुर [दे०]=खिन्न होना। (२) अगम<आगम=भविष्य। (३) जाखिनी<यक्षिणी। काढ़्<कड्ढ<कृष्=खींचना, निकालना। सुरुज के ठाँउ करै पुनि डाढी=चन्द्रमा जब सूर्य के सामने आ जाता है सूर्य ग्रहण होता है, और यहाँ सूर्य-ग्रहण होने से तात्पर्य रत्नसेन के पराभूत होने और बन्धन में पड़ने से है। (४) अजुगत<अयुक्त=अयोग्य। (६) सुरुज गरह = सूर्य का अनिष्टकारी ग्रह होकर जन्म पत्री में आना। (८) धौराहर<धवलगृह=प्रासाद।

पदुमावति सो झरोखें आई । निहकलंक जसि ससि देखराई ।
तेतखन राघौ दीन्ह असीसा । जनहुँ चकोर चंद मुख दीसा ।
पहिरें ससि नखतन्ह कै मारा । धरती सरग भएउ उजियारा ।
औ पहिरें कर कंगन जोरी । लहै सो एक एक नग नव कोरी ।
कंगन काढ़ि सो एक अडारा । काढ़त हार टूटि गिय मारा ।
जानहुँ चाँद टूट लै तारा । छूटेउ सरग काल कर धारा ।
जानहुँ सुरुज टूट लै करा । परा चौंधि चित चेतनि हरा ।
परा आइ भुइँ कंगन जगत भएउ उजियार ।
राघौ मारा बीजुरी बिसँभर कछु न सँभार ॥४५१॥

अर्थ—(१) पद्मावती अतः झरोखे पर आई, मानो [आकाश के झरोखे पर] निष्कलंक

शशि दिखायी पड़ा हो। (२) उसी क्षण राघव ने उसे आशीर्वाद दिया, [और उसने पद्मावती को इस प्रकार सतृष्ण नेत्रों से देखा] मानो चकोर को चन्द्रमा दिखाई पड़ा हो। (३) वह चन्द्रमा नक्षत्रों (रत्नों) की माला पहिने था, जिससे धरती से लेकर स्वर्ग तक प्रकाश हो गया था, (४) और वह करों में कंगन की जोड़ी पहने हुए था, जिसका एक-एक नग नवकोटि द्रव्य प्राप्त करने वाला था। (५) [इस जोड़ी में से] एक कंगन निकाल कर उसने [धरती पर] डाल दिया; और जब वह हार [देने के लिए] निकालने लगी, उसकी ग्रीवा की माला टूट गई। (६) [तब तो ऐसा प्रतीत हुआ] मानो चन्द्रमा (कंगन) तारकों (माला की मणियों) को लेकर टूट पड़ा हो, अथवा स्वर्ग (आकाश) में काल की धारा छूट पड़ी हो; (७) [अथवा] मानो सूर्य अपनी कलाओं को लेकर टूट पड़ा हो; फलत: चेतन चौंक पड़ा और उसका चित्त हर उठा। (८) जब कंगन भूमि पर आ पड़ा, जगत् प्रकाशित हो गया, (९) राघव तो [मानो] बिजली से आहत हुआ बेसँभाल हो गया और उसे कुछ भी चेत न रहा।

टिप्पणी— (१) झरोखा<जालाक्ष। (२) तेतखन<तत्क्षण। (३) मारा< माला। (५) अडार्<डालना। (७) करा<कला। (८) उजिआर<औज्ज्वल्य।

पदुमावति हँसि दीन्ह झरोखा। अब जो गुनी मरइ मोहिं दोखा।
सखीं सरेखीं देखहिं धाई। चेतन अचेत परा केहि घाई।
चेतन परा न एकौ चेतू। सबन्हि कहा एहि लाग परेतू।
कोइ कह काँप आहि सनिपातू। कोइ कह आहि मिरिगिया बातू।
कोइ कह लाग पवन कर झोला। कैसेहुँ समुझि न राघौ बोला।
पुनि उठारि बैसारिन्हि छाहाँ। पूँछहिं कौनि पीर जिय माहाँ।
दहुँ काहू के दरसन हरा। कै एहि धूत भूत छँद छरा।
कै तोहि दीन्ह काहु किछु कै रे डसा तूँ साँप।
कहु सचेत होइ चेतन देह तोरि कस काँप ॥४५२॥

अर्थ—(१) पद्मावती ने [यह उलटा परिणाम देखकर] हँसकर झरोखा [बंद कर] दिया और वह [मन में कहने लगी,] "अब यदि गुणी राघव मरता है, तो दोष मुझे होगा।" (२) उसकी जानकार सखियाँ दौड़कर यह देखने लगीं, कि चेतन किस आघात से [आहत हो] अचेत पड़ा था। (३) सभी सखियों ने कहा, "चेतन पड़ा हुआ है, उसे तनिक भी चेत नहीं है; [हो न हो] इसे प्रेत बाधा हुई है।" (४) [फिर] कोई कहने लगी, "यह काँप रहा है, इसे सन्निपात हुआ है।" कोई कहने लगी, "इसे मृगी की वात-व्याधि है।" (५) कोई कहने लगी, "इसे वायु का झोंका लगा है, [जिसके कारण] किसी भी प्रकार से समझकर राघव बोल नहीं रहा है।" (६) तदनंतर उन्होंने उठाकर उसे छाया में बिठाया, और वे पूछने लगीं, "तेरे जी में कौन-सी पीड़ा है? (७) क्या तू किसी के दर्शनों से ऐसा हर उठा (अचेत हुआ) है, या इस प्रकार किसी धूर्त अथवा भूत के छद्मों से छला गया है। (८) या तुझे किसी ने कुछ [खिला] दिया है या तुझे साँप ने डसा है? (९) ऐ चेतन, तू सचेत होकर बता कि तेरी देह कैसे (क्यों) काँप रही है।"

टिप्पणी—(१) झरोखा<जालाक्ष। (२) सरेखी<संलेखित=वह व्यक्ति जिसने तप से शरीर को सुखाया हो, ज्ञानी, जानकार। (७) धूत<धूर्त। छँद<छद्म।

भएउ चेत चेतन तब जागा। बकति न आव टकटका लागा।
पुनि जौं बोला बुधि मति खोवा। नैन झरोखा लाएँ रोवा।
बाउर बहिर सीस पै धुना। आप न कहै पराए न सुना।
जानहुँ लाई काहुँ ठगौरी। खिन पुकार खिन बाँधै पौरी।
हौं रे ठगा एहि चितउर माहाँ। कासौं कहौं जाउँ केहि पाँहा।
यह राजा सुठि बड़ हत्यारा। जेइँ अस ठग राखा उजियारा।
का कोइ बरज न लाग गोहारी। अस एहि नगर होइ बटवारी।
दिस्टि दिए ठगलाडू अलक फाँस परि गींव।
जहाँ भिखारि न बाँचहि तहाँ बाँच को जीव ॥४५३॥

अर्थ—(१) जब चेत हुआ, तब चेतन जागा, किन्तु [उसके मुख से] कोई उक्ति नहीं निकल रही थी, और [नेत्रों में] टकटकी लगी हुई थी। (२) फिर जब वह बोला भी, तो वह बुद्धि और मति खो बैठा, और नेत्रों को झरोखे पर लगाए हुए रोने लगा। (३) बावला और बहरा वह सिर ही पीटता था, न स्वतः कहता था, और न अन्य की सुनता था, (४) मानो उसे किसी ने ठगौरी लगाई हो; एक क्षण वह पुकार उठता तथा दूसरे क्षण वह मुट्ठी बाँध लेता। (५) [तदनंतर उसने कहा,] "मैं इस चित्तौर में ठगा गया! [अब] किससे यह कहूँ और किसके पास जाऊँ? (६) यह राजा (रत्न-सेन) बहुत बड़ा हत्यारा है जिसने ऐसा उज्ज्वल ठग रख छोड़ा है। (७) न कोई उस ठग को मना करता है, और न कोई [मेरी] गुहार लगता है, इस प्रकार इस नगर में बटपारी होती है। (८) उसने मेरी दृष्टि को ठगलाडू दिए, और उसका अलकपाश मेरी ग्रीवा में पड़ गया। (९) जहाँ भिखारी नहीं बच पाता है, वहाँ कौन जीव बच सकता है?"

टिप्पणी— (१) बकति<वक्ति=उक्ति। (२) झरोखा<जालाक्ष। (३) बाउर <वाउल<वातूल=बावला। बहिर<बधिर। (४) पोरि<पर्वन्=ग्रन्थि, गाँठ, हड्डी का जोड़। (६) उजिआर<उज्ज्वल। (७) गोहारी< गो+आकारय्=सहायता या रक्षा के लिए लगाई गई पुकार। (८) गीव<ग्रीवा। (९) भिखारि<भिक्षाकारिन्।

कत धौराहर आइ झरोखें। लै गै जीव दक्खिना धोखें।
सरग सूर ससि करै अँजोरी। तेहि तें अधिक देउँ केहि जोरी।
ससि सूरहि जौं होति यह जोती। दित भा रहत रैनि नहिं होती।
सो हँकारि मोहिं कंगन दीन्हा। दिस्टि न परै जीव हरि लीन्हा।
नैन भिखारि ढीठ सत छाँड़े। लागे तहाँ बान बिखु गाड़े।
नैनहिं नैन जो बेधि समाने। सीस धुनहिं नहिं निसरहिं ताने।
नवहिं न नाएँ निलज भिखारी। तबहुँ न रहहिं लागि मुख कारी।
कत करमुखे नैन भए जीव हरा जेहि बाट।
सरवर नीर बिछोह जेउँ तरकि तरकि हिय फाट ॥४५४॥

अर्थ--"(१) धवलगृह के झरोखे पर आकर वह दक्षिणा के धोखे में क्यों मेरा जीव ले गई ? (२) आकाश में सूर्य और शशि प्रकाश करते हैं उनसे अधिक किससे उसकी समानता दूँ ? (३) यदि शशि और सूर्य को यह ज्योति प्राप्त होती, तो दिन ही हुआ रहता, रात न होती। (४) उसने बुलाकर मुझे कंगन दिया और वह दिखाई भी नहीं पड़ रही है जिसने मेरा जीव हर लिया। (५) धृष्ठ नेत्र भिखारियों ने सत्य छोड़ दिया और वे वहाँ जा लगे जहाँ उनमें [उसके नेत्रों के] विष-वाण चुभे। (६) उसके नेत्र जो मेरे नेत्रों को वेधकर इनमें समा रहे, तो वे इनमें इस प्रकार तन [कर चुभ] गए हैं कि कितना भी सिर पीटिए निकलते नहीं हैं। (७) [फिर भी] ये निर्लज्ज भिखारी (मेरे नेत्र) झुकाने से झुक नहीं रहे हैं (उसी झरोखे पर लगे हुए हैं), और यद्यपि इनके मुख में कालिख लग गया है किन्तु तब भी रुकते (मानते) नहीं हैं। (८) ये मेरे नेत्र क्यों ऐसे अपने मुख में कालिख लगाने वाले हुए, जिनके मार्ग से मेरा जीव हरा गया ? (९) मेरा हृदय तड़फ-तड़फ करके उसी प्रकार फट रहा है जैसे सरोवर का हृदय जल के विछोह में फटता है।"

टिप्पणी-- (१) **धौराहर<धवलगृह=प्रासाद** । (२) **अँजोरी<औज्ज्वल्य** । (३) **रैनि<रयणी=रजनी** । (४) **भिखारि<भिक्षाकारिन्** । (६) **निसर<णिस्सर<निर्+सृ=बाहर आना, निकलना** । (७) **कारी<कालिमा** । (८) **बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग** ।

सखिन्ह कहा चेतनि बिसँभरा । हिएँ चेतु जिय जासि न मरा ।
जौं कोइ पावै आपन माँगा । ना कोइ मरै न काहू खाँगा ।
वह पदुमावति आहि अनूपा । बरनि न जाइ काहु के रूपा ।
जेइँ चीन्हा सो गुपुत चलि गएऊ । परगट गाहि जीउ बिनु भएऊ ।
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए । धुनि धुनि सीस जीव दै गए ।
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गींवा । उतरु न देइ मार पै जीवाँ ।
तूँ पुनि मरब होब जरि भुँई । अबहुँ उघेलु कान कै रूई ।
कोई माँगि मरै नहिं पावै कोइ बिनु माँगा पाउ ।
तूँ चेतनि औरहिं समुझावहि दहुँ तोहि को समुझाउ ॥४५५॥

अर्थ--(१) [पद्मावती] की सखियों ने कहा, "ऐ बेचेत चेतन, हृदय में चेत ला, जी में मरा न जा। (२) यदि कोई अपना माँगा पा जाए, तो न कोई मरे और न किसी को कुछ खँगे (अभाव हो)। (३) वह पद्मावती अनुपम है; वह किसी के रूप की सहायता से वर्जित नहीं हो सकती है। (४) जिसने भी उसे पहचाना (उसको जान लिया) वह [बिना साक्षात्कार किए] गुप्त रूप में चला गया, किन्तु जिसने उसे प्रकट में ढूँढ़ा (उसको प्रत्यक्ष देखा), वह बिना जीव का हो गया। (५) तुम्हारे ऐसे बहुतेरे उस पर विमोहित हुए और अपना सिर पीट-पीटकर अपना जीव देकर गए। (६) बहुतों ने अपनी ग्रीवा उसे (उसके सामने) झुका कर दी; वह उत्तर नहीं देती है, और हो न हो, जीव-वध ही करती है। (७) पुनः तू भी मरेगा और जलकर राख हो जाएगा; अब भी कान की रुई खोल (निकाल) [और हमारी बातें सुन]। (८) कोई माँग कर

मरना (मृत्यु) भी नहीं पाता है, और कोई बिना माँगे ही [उस तत्त्व को] पा जाता है; (९) ऐ चेतन, सबको तो तू समझाता है, [इसलिए] तुझे कौन समझाए ?"

टिप्पणी--(२) माँग्<मग्<मार्गय्=माँगना। खाँग्=अभाव होना। (४) गाह=ढूंढ़ना, टोह लगाना, अनुभव करना। (६) गीव<ग्रीवा। पै<परम्=हो न हो। (७) भुई<भूइ<भूति=राख। उघेल्<उग्घाड्<उद्+घाटय् = खोलना।

इन पंक्तियों में उस सौन्दर्य तत्त्व की रहस्यात्मकता की ओर संकेत किया गया है।

भएउ चेत चित चेतनि चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता।
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले कवन सुख तहाँ।
जहँवाँ रहें साँसौ जिय केरा। कौनु रहनि मकु चलौं सबेरा।
अब यह भीख तहाँ होइ माँगौं। तेत देइ जग जरमि न खाँगौं।
औ अस कंगनु पावौं दूजी। दारिद हरै इंछ मन पूजी।
ढीली नगर आदि तुरुकानू। साहि अलाउदीन सुलतानू।
सोन जरै जेहि की टकसारा। बाहर बानी परहिं दिनारा।
तहाँ जाइ यह कँवल अभासौं जहाँ अलाउद्दीन।
सुनि के चढ़ै भानु होइ रतन होइ जल मीन ॥४५६॥

अर्थ--(१) [यह सुनकर] चेतन को चेत हुआ और चित्त में वह चेत गया; उसने कहा, "मैं पुनः आकर इतना दुःख न सहन करूँगा। (२) जहाँ हम रोते हुए आ पड़े, और जहाँ से रोते हुए ही विदा हुए, वहाँ कौन-सा सुख [माना जाए] ? (३) जहाँ रहने में जी का संशय है, वहाँ रहना ही क्या ? बल्कि वहाँ से सबेरे (शीघ्र) चल दूं। (४) अब यह भिक्षा वहाँ पहुँचकर माँगू जो इतना दे कि जन्म भर मैं अभाव में न पड़ूँ, (५) और ऐसा ही दूसरा कंगन भी पाऊँ, जो मेरे दारिद्रय को हर ले और मेरे मन की इच्छाओं को पूरा करे। (६) दिल्ली नगर तुर्कों का सर्वोच्च स्थान है, जहाँ पर शाह अलाउद्दीन सुल्तान है, (७) जिसकी टकसाल में सोना जलता (गलता है) और बारह बान के दीनार ढलते हैं। (८) वहाँ जाकर मैं इस कमलिनी (पद्मिनी) की आभा न दूँ जहाँ पर अलाउद्दीन है, (९) जिसे सुनकर वह [इस कमलिनी के लिए] सूर्य होकर चढ़ाई करे जिससे यह रत्न (रत्नसेन) [उसके जाल में फँसी हुई] जल की मछली हो जाए।

टिप्पणी--(१) एत<इयत् : इतना। (३) साँसौ<संशय। (४) तेत<तेत्तिअ<तावत्<उतना। खाँग्=अभाव में होना। (५) पूज्<पुज्ज्<पूरय्=पूरा होना। (६) तुरकाना=तुर्कों की बस्ती। (७) बारह बानी<द्वादश वर्णित=बारह वर्णों का : सबसे अधिक खरा सोना बारह वर्णों का माना जाता था; खरेपन की बारह श्रेणियाँ मानी गई थीं जिन्हें वर्ण या बान कहते थे। (विस्तृत विवरण के लिए दे० आईन-ए-अकबरी) इस छंद की प्रारंभिक पंक्तियों में इस जगत् से मुँह मोड़कर विदा लेने का उपदेश है और कहा गया है कि याचना उससे करनी चाहिए जो जीवन के समस्त अभावों से मुक्त कर सकता है।

राघौ चेतनि कीन्ह पयाना । ढीली नगर जाइ नियराना ।
जाइ साहि के बार पहूँचा । देखा राज जगत पर ऊँचा ।
छतिस लाख ओरगहिं असवारा । बीस सहस हस्ती दरबारा ।
जाँवत तपै जगत महँ भानू । ताँवत राज करै सुलतानू ।
चहूँ खंड के राजा आवहिं । होइ अस मर्द जोहारि न पावहिं ।
मन तिवानि कै राघौ झूरा । नहिं उबारु जिय कादर पूरा ।
जहाँ झूराहिं दिहें सिर छाता । तहाँ हमार को चालै बाता ।
अरध उरध नहिं सूझै लाखन्ह उमरा मीर ।
अब खुर खेह जाब मिलि आइ परे तेहि भीर ॥४५७॥

अर्थ--(१) राघव चेतन ने प्रयाण किया, और दिल्ली नगर निकट आ गया। (२) [तदनंतर] वह जाकर शाह (अलाउद्दीन) के द्वार पर पहुँचा, और उस राज्य को देखा जो जगत् में सबसे अधिक वैभवशाली था। (३) उसकी सेवा में छत्तीस लाख सवार थे और बीस सहस्र हस्ती दल उसके द्वार पर था। (४) जगत् में जहाँ तक भानु तपता था, वहाँ तक वह सुल्तान राज्य करता था। (५) चारों खंडों के राजा आते थे, और ऐसे मर्द (बल-पौरुष सम्पन्न पुरुष) होकर भी उसे जुहार नहीं कर पाते थे [उसके पास पहुँचना ऐसा कठिन होता था]। (६) राघव मन में उस स्त्री (पद्मिनी) को किए (लिए) हुए संतप्त हो रहा था, और [उसे] उसके जीव का कोई बचाव नहीं [दिखाई पड़ रहा] था, इसलिए वह पूरा कादर हो गया था। (७) [वह सोचने लगा], "जहाँ पर सिर पर छत्र दिए हुए छत्रपति [जुहार करने के लिए] खड़े-खड़े सूख रहे हैं, वहाँ मेरी वार्त्ता कौन चलाए? (८) जहाँ नीचा-ऊँचा (ओर-छोर) [कुछ] नहीं सूझ रहा है, और लाखों की संख्या में उमरा और अमीर हैं, (९) मैं ऐसी भीड़ में आ पड़ा हूँ; अब तो घोड़ों की खुरों से उठी धूल [होकर मैं उस] में मिल जाऊँगा।"

टिप्पणी-- (१) पयान<प्रयाण। निअर<णिअड<निकट। (२) बार<वार <द्वार। (३) ओरग्<ओलग्ग<अव+लग् = सेवा करना, चाकरी करना। (दे० २६.३ की टिप्पणी) दर<दल। (४) जाँवत<यावत् = जितना, जितनी दूर तक। ताँवत<तावत् = उतना, उतनी दूर तक। (६) तिवानि = स्त्री। झूर<ज्वल् = संतप्त होना। उबार<उव्वार<उद्+वार<बचाव। कादर<कातर। (८) उमरा = अमीर (फ़ा०) का बहुवचन। मीर<अमीर (फ़ा०) = मुसलमान सामंत। (९) खेह = धूल, गर्द।

पातसाहि सब जाना बूझा । सरग पतार रैनि दिन सूझा ।
जौं राजा अस सगज न होई । काकर राज कहाँ कर कोई ।
जगत भार वहि एक सँभारा । तौ थिर रहै सकल संसारा ।
औ अस ओहिक सिंघासन ऊँचा । सब काहू पर दिस्टि पहूँचा ।
सब दिन राज काज सुख भोगी । रैनि फिरै घर घर होइ जोगी ।
राँव राँक सब जावत जाती । सब की चाह लेइ दिन राती ।
पंथी परदेसी जेत आवहिं । सब कै बात दूत पहुँचावहिं ।

यहु रे बात तहँ पहुँची सदा छत्र सुख छाँह ।
बाँभन एक बार है कँगन जराऊ बाँह ॥४५८॥

अर्थ—(१) बादशाह (अलाउद्दीन) सब जानता-बूझता रहता था और आकाश-पाताल की [गति] उसे रात-दिन सूझती रहती थी। (२) यदि राजा ऐसा सजग न हो तो किसका राज्य रहे और कहाँ का कोई माना जाए? (३) वह (राजा) अकेला जगत् का भार सँभालता है, तब समस्त संसार स्थिर रहता है। (४) और उस (अलाउद्दीन) का सिंहासन ऐसा ऊँचा था (सब सामंतादि पर वह इस प्रकार का नियंत्रण रखता था) कि सब किसी पर उसकी दृष्टि पहुँचती थी। (५) समस्त दिन वह राज-कार्य का सुख-भोगी रहता और रात को वह घर-घर योगी होकर फिरता था। (६) राव, रंक सभी जितनी भी जातियों के थे, वह सबकी खबर दिन-रात लेता रहता था। (७) पथिक और परदेसी (विदेशी) जितने भी आते थे, उन सबकी बातें उसके दूत उसके पास तक पहुँचाते रहते थे। (८) [अतः] यह बात वहाँ (उसकी सेवा में) पहुँची, "तुम्हारे छत्र की सुख-छाया सदैव बनी रहे; (९) एक ब्राह्मण द्वार पर उपस्थित हुआ है जिसकी [एक] बाँह में जड़ाऊ कंगन है।"

टिप्पणी—(१) रैनि<रयणी<रजनी। (६) राँक<रंक=निर्धन। जाँवत<यावत्=जितना। (७) जेत<जेत्तिअ<यावत्=जितना। (९) बार<वार<द्वार।

मया साहि मन सुनत भिखारी। परदेसी कहँ पूँछु हँकारी।
हम पुनि है जाना परदेसा। कौनु पंथ गवनब केहि भेसा।
ढीली राज चिंत मन गाढ़ी। यह जग जैस दूध महँ साढ़ी।
सैंति बिरोरि छाछि कै फेरा। मथि घिउ लीन्ह महिउ केहि केरा।
एहि ढीली कत होइ होइ गए। कै कै गरब छार सब भए।
तेहि ढीली का रही ढिलाई। साढ़ी गाढ़ि ढीलि जब ताईं।
रावन लंक जारि सब तापा। रहा न जोबन औ तरुनापा।
भीखि भिखारिहि दीजिऔ का बाँभनु का भाँट।
अग्याँ भई हँकारहु धरती धरै लिलाट ॥४५९॥

अर्थ—(१) 'भिखारी' का शब्द सुनते ही शाह (अलाउद्दीन) के मन में मया (स्नेहपूर्ण कृपा) उत्पन्न हुई, और उसने कहा, "वह परदेसी कहाँ है? उसे बुलाकर पूछो। (२) फिर हमें भी तो परदेस जाना है, [पता नहीं] कौन सा मार्ग होगा और किस वेष में जाना होगा।" (३) [यह सोचते ही] दिल्ली के राजा (अलाउद्दीन) के मन में गाढ़ी चिन्ता व्याप्त हुई; [वह कहने लगा,] "इस जगत् की स्थिति वही है जो दूध की साढ़ी (बालाई) की होती है। (४) लोगों ने [इस साढ़ी को] इकट्ठा करके, बिलो करके, पुनः छाछ करके और [तदनंतर] मथ करके घी ले लिया, मही किसी का भी हो। (५) इस दिल्ली में कितने ही हो-हो कर चले गए, वे गर्व कर-करके सब राख हो गए। (६) इस ढिल्ली की ढिलाई (ढिल्ली की विशेषता) भी क्या [सदैव] रहेगी? जब तक उसमें ढीलापन (चिकनापन—घी) रहता है, तभी तक साढ़ी गाढ़ी रहती है [जैसे ही ढीलापन—चिकनापन निकाल लिया गया, साढ़ी का गाढ़ापन भी समाप्त हो जाता है]। (७)

रावण की लंका को जलाकर सबने ताप डाला, [सच है] यौवन और तरुणता [सदैव] नहीं रहे हैं। (८) [अतः] भिखारी को भिक्षा देनी चाहिए, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे भाट।" (९) [यह कहने के अनंतर] बादशाह की आज्ञा हुई, "[उस ब्राह्मण को] बुलाओ, वह धरती पर [मेरे समक्ष] अपना मत्था टेके।"

टिप्पणी—(१) मया<माया (?)=स्नेहपूर्ण कृपा। भिखारी<भिक्षा कारिन्। (३) साढ़ी<सढा<सटा = शिखा, सब से ऊपर का अंश, पके हुए दूध के ऊपर जमा हुआ अंश। (४) सत्=इकट्ठा करना: साढ़ी इकट्ठी कर ली जाती है, तब मथी जाती है। बिरोर्=बिलोना, साढ़ी में से मक्खन का अंश अलग कर लेना। छाछ=मठा। मही< महिअ<मथित=मक्खन निकालने के बाद बचा हुआ मथित अंश। (७) तरुनापा< तरुणत्व।

राघौ चेतनि हुत जो निरासा। तेतखन बेगि बोलावा पासा।
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा। चमके नग कंगनु कर दीसा।
अग्याँ भई सो राघौ पाहाँ। तूँ मंगन कंगन का बाहाँ।
राघौ बहुरि सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा।
पदुमिनि सिंघल दीप की रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी।
कँवल न सरि पूजै तेहि बासाँ। रूप न पूजै चंद अकासाँ।
जहाँ कँवल ससि सूर न पूजा। केहि सरि देउँ औरु को पूजा।
सो रानी संसार मनि दखिना कंगन दीन्ह।
आछरि रूप देखाइ कै करि गहनें जिउ लीन्ह ॥४६०॥

अर्थ—(१) राघव चेतन जो निराश था, उसे बादशाह ने तत्क्षण और शीघ्रता-पूर्वक पास बुलाया। (२) राघव ने सिर झुकाकर आशीर्वाद दिया, [उस समय] [कंगन के] नग चमक पड़े इसलिए कंगन उसके [दाहिने] हाथ में दिखाई पड़ा। (३) राघव को आज्ञा हुई, "तू तो मंगन (भिखमंगा) है, यह कंगन क्या (क्यों) तेरे बाहु में है ?" (४) राघव ने फिर (तब) अपना सिर भूमि पर रक्खा [और कहा,] "ऐ राजा (बादशाह), तू युगों तक भानु की कला (जैसा देदीप्यमान) रहे; (५) पद्-मिनी नाम की एक सिंहल द्वीप की रानी को रतनसेन चित्तौरगढ़ ले आया है, (६) कमल सुवास में उसकी समानता नहीं कर सकता है, और रूप में आकाश में चन्द्रमा नहीं पाता है। (७) जहाँ पर (जब कि) कमल, शशि और सूर्य समानता नहीं कर पाते, तो और किससे उसकी समानता करूँ ? दूसरा और कौन है [जिससे समानता दी जाए] ? (८) वह रानी संसार की मणि है, और उसी ने यह कंगन मुझे दक्षिणा [के रूप में] दिया है। (९) [किन्तु साथ ही] उस अप्सरा ने [अपना] रूप दिखाकर मेरे जीव को [अपने पास] गहने (बंधक) के रूप में कर (रख) लिया है।

टिप्पणी— (१) तेतखन<तत्क्षण। (४) करा<कला। (५) सरि<सादृश्य। पूज्<पुज्ज्<पूरय्=पूरा करना, पूरा पड़ना। (८) दखिना<दक्षिणा। कंगन< कंकण। (९) आछरि<अप्छरी<अप्सरस्। गहना<गहण [दे०]=बंधक।

सुनि कै उतर साह मन हँसा। जानहुँ बीज चमकि परगसा।

काँच जोग जहँ कंचन पावा । मंगन तेहि सुमेरु चढावा ।
नाउँ भिखारि जीभ मुख बाँची । अबहुँ सँभारु बात कहु साँची ।
कहँ असि नारि जगत उपराहीं । जेहि के सरिस सूर ससि नाहीं ।
जौं पदुमिनि तौ मंदिर मोरें । सातौ दीप जहाँ कर जोरें ।
सप्त दीप महँ चुनि चुनि आनी । सो मोरें सोरह सौ रानी ।
जौं उन्ह महँ देखसि एक दासी । देखि लोन होइ लोन बेरासी ।
चहूँ खंड हौं चक्कवै जस रबि तवै अकास ।
जौं पदुमिनि तौ मंदिल मोरें आछरि तौ कबिलास ॥४६१॥

अर्थ--(१) यह उत्तर सुनकर बादशाह मन में हँसने लगा [तो ऐसा लगा] मानो विद्युत् चमककर प्रकाशित हुई हो। (२) उसने कहा, "काँच के पाने का पात्र भिखारी जहाँ (जिसे) कंचन पा जाता है, उसे वह [प्रशंसा करके] सुमेरु पर चढ़ा (पहुँचा) देता है। (३) तेरा नाम भिखारी है, इसलिए तेरे मुख में जिह्वा बची रहने दी गई है; तू अब भी [अपने को] सँभाल और सच्ची बात कह। (४) संसार के ऊपर कहाँ ऐसी नारी है जिसके सदृश सूर्य और शशि नहीं हैं। (५) यदि [संसार में कोई स्त्री भी] पद्मिनी हुई, तो वह मेरे मंदिर में [मिलनी चाहिए], जहाँ पर सातो द्वीप [का सौन्दर्य] हाथ जोड़े हुए [प्रस्तुत] है। (६) सातों द्वीपों में से जो चुन-चुनकर लाई गई हैं, ऐसी मेरे [मंदिर में] सोलह सौ रानियाँ हैं। (७) यदि उनमें से तू एक की दासी भी देख ले, तो उसका लावण्य देखकर तू स्वयं लवण होकर विलीन हो जाए। (८) मैं चारों खंडणों का चक्रवर्ती हूँ, [उसी प्रकार] जिस प्रकार सूर्य आकाश में तप्त होता है। (९) यदि [संसार] में कोई पद्मिनी हुई तो वह मेरे मंदिर में मिलेगी, यदि अप्सरा हुई तो [भले ही] वह शिवलोक में मिले।

टिप्पणी-- (१) बीज<विज्जु<विद्युत्। (३) भिखारि=भिक्षाकारिन्=मंगन। (४) सरिस<सदृश। (७) लोन<लवण=नमक, लावण्य। बेराय्<वि+ली=विलीन होना। (८) चक्कवै<चक्रवर्तिन्। चक्रपति। तव्<तप्=तप्त होना। (९) आछरि< अच्छरी<अप्सरस्। कबिलास<कैलास=शिवलोक।

तुम्ह बड़ राज छत्रपति भारी । अनु बाँभन हौं आहि भिखारी ।
चारिहुँ खंड भीख कहँ बाजा । उदै अस्त तुम्ह अैस न राजा ।
धरम राज औ सत कुल माहाँ । झूठ जो कहै जीभ केहि पाहाँ ।
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं । सो एहि जंबु दीप महँ नाहीं ।
पदुमिनि अंब्रित हंस सदूरु । सिंघल दीप सो भलेहिँ अँकूरू ।
सातौ दीप देखि हौं आवा । तब राघौ चेतनि कहवावा ।
अग्याँ होइ न राखौं धोखा । कहौं सो सब नारिन्ह गुन दोखा ।
इहाँ हस्तिनी सिंखिनी औ चित्रिनि बनबास ।
कहाँ पदुमिनी पदुमसरि भँवर फिरहिं चहुँ पास ॥४६२॥

अर्थ--(१) [राघव ने कहा] "तुम बड़े राजा हो, और भारी छत्रपति हो; अवश्य मैं ब्राह्मण और भिखारी हूँ। (२) मैं चारों खंडों में भिक्षा के लिए जा चुका हूँ, और

उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक तुम्हारे जैसा राजा नहीं है। (३) [तुम्हारे जैसे] धर्मात्मा राजा और सत्कुल के सम्मुख जो झूठी बात कहे, ऐसी जिह्वा किसके पास है ? (४) [किन्तु] जो चार पदार्थ संसार के समस्त पदार्थों के ऊपर हैं, वे इस जंबू द्वीप में नहीं हैं। (५) वे हैं : पद्मिनी, अमृत, हंस और शार्दूल, वे भले (अवश्य) ही सिंहल द्वीप में अंकुरित (उत्पन्न) होते हैं। (६) मैं सातों द्वीपों को देख आया, तब राघव चेतन कहलाया। (७) यदि आज्ञा हो तो मैं कोई धोखा (दुराव) न रखूँ, और समस्त [प्रकार की] नारियों के गुण-दोष कहूँ। (८) यहाँ (जंबू द्वीप में) हस्तिनी, सिंहिनी और चित्रिणी स्त्रियाँ ही [जैसे सिंहल से निष्कासित होकर] वनवास में, रहती हैं। (९) पद्म के सदृश वह पद्मिनी यहाँ कहाँ, जिसके चारों ओर भ्रमर फिरते रहते हैं ?"

टिप्पणी— **(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। (२) बाज्<वज्ज<व्रज्=जाना। (३) सतकुल<सत्कुल=सद्वंश। (५) सदूर शार्दूल<शरभ। (८) सिंघिनी<शंखनी : जायसी ने शंखिनी को 'सिंघिनी' ही कहा है। बनबास : हस्तिनी (हथिनी), सिंहिनी, चित्रिणी (=मादाचीता) के साथ 'बनवास' की संगति स्पष्ट है। (९) सरि<सदृश।**

पहिलें कहौं हस्तिनी नारी। हस्ती कै परकीरति सारी।
कर औ पाय सुभर गियँ छोटी। उर कै खीनि लंक कै मोंटी।
कुंभस्थल गज मैमँत आहीं। गवन गयंद ढाल जनु बाहीं।
दिस्टि न आवै आपन पीऊ। पुरुख पराएँ ऊपर जीऊ।
भोजन बहुत बहुत रति चाऊ। अछ्वाई सों थोर सुभाऊ।
मद जस मंद बसाइ पसेऊ। औ बिसवास घरें जस देऊ।
डर औ लाज न एकौ हिएँ। रहै जो राखें आँकुस दिएँ।
गज गति चलै चहूँ दिसि हेरति लाइ जगत कहँ चोख।
वह हस्तिनी नारि पहिचानिअ सब हस्तिन्ह गुन दोख ॥४६३॥

अर्थ—(१) "पहले मैं हस्तिनी स्त्री का कथन (वर्णन) करता हूँ : उसकी समस्त प्रकृति हाथी (हथिनी) की होती है। (२) उसके हाथ और पैर सुभर (भरे पूरे) होते हैं और उसकी ग्रीवा छोटी होती है; वह उर (हृदय-वक्ष) की क्षीण और कटि की मोटी होती है। (३) उसके कुंभस्थल (कुच) मद्मत्त गज के [कुंभ स्थल] जैसे होते हैं, उसकी गति गजेन्द्र की होती है और बाहें मानो [पर्वत की] ढालें हों, ऐसी होती हैं। (४) उसे अपना पति दिखाई नहीं पड़ता है, पर-पुरुष पर उसका जी [लगा] रहता है। (५) भोजन की भूख और रति की चाह बहुत होती है, शरीर की सफाई से (के प्रति) उसका स्वभाव (ध्यान) थोड़ा होता है। (६) मद की भाँति बुरी तरह से उसका प्रस्वेद गंध देता है, और वह [मन में] मारने [या आहत] करने की इच्छा धारण करने के कारण देव (दानव) जैसी होती है (७) उसके हृदय में डर और लाज में से एक भी नहीं होती है; वह जो [मर्यादा में] रखने से रहती है, वह अंकुश (नियंत्रण) दिये होने के कारण रहती है। (८) जो जगत् भर को चोखा लगा (मान) कर चारों ओर

देखती हुई गज गति से चलती है; (९) उसे हस्तिनी नारी पहिचानिए; उसमें समस्त गुण-दोष हाथियों हस्ति (हथिनियों) के होते हैं।"

टिप्पणी-- (१) परकीरति<प्रकृति। (२) पाय<पाद=पैर। गिय=ग्रीवा। खीन<क्षीण। (३) मैमँत<मयमत्त<मदमत्त। गयंद<गजेन्द्र। बाही<बाहु। (४) पीउ<प्रिय। (५) अछवाई=स्वच्छता [तुल० आछरि जसि नागरि अछवाई: ४६५.२] (६) बिसवास [९वि+शस्=वध करना, मार डालना] मारने या आहत करने की इच्छा। (८) चोख<चोक्ख<चौक्षप=सुंदर, निर्मल, अच्छा।

दोसरें कहौं सिंघिनी नारी। करै बहुत बल अलप अहारी।
उर अति सुभर खीनि अति लंका। गरब भरी मन धरै न संका।
बहुत रोस चाहै पिय हना। आगें घालि न काहूँ गना।
अपनै अलंकार ओहि भावा। देखि न सकै सिंगार परावा।
मोंट माँसु रुचि भोजन तासू। औ मुख आव बिसाइधि बासू।
सिंघ कै चाल चलै डग ढीली। रोवाँ बहुत होहि दुहुँ फीली।
दिस्टि तराहीं हेर न आगें। जनु मथवाह रहै सिर लागें।
सेजवाँ मिलत स्यामिहि लावै उर नख बान।
जे गुन सबै सिंघ के सो सिंघिनि सुलतान ॥४६४॥

अर्थ--(१) "दूसरे मैं सिहनी (शंखिनी) स्त्री का कथन (वर्णन) कर रहा हूँ: वह अल्पाहार करके भी बहुत बल करती (दिखाती) है। (२) उसका वक्ष अत्यधिक भरपूर होता है, और उसकी कटि अति क्षीण होती है; वह गर्व से भरी हुई होती है और मन में शंका नहीं धारण करती है। (३) उसे क्रोध बहुत होता है और [जिसके कारण वह] पति को मार डालना चाहती है; [अपने] आगे किसी को वह घलुवा बराबर भी नहीं गिनती है। (४) उसे अपने ही अलंकार अच्छे लगते हैं और दूसरे का श्रृंगार देख नहीं सकती है। (५) मोटे मांस के भोजन की उसे रुचि होती है और उसके मुख से विष गंध की सी बास आती है। (६) वह ढीले डग से सिंह की चाल चलती है, और उसकी दोनों फीलियों (पिंडलियों) में रोएँ बहुत होते हैं। (७) उसकी दृष्टि नीची होती है वह आगे नहीं देखती है, मानो उसके सिर से कोई मथवाह लगा हुआ हो। (८) वह शय्या में स्वामी के मिलते ही उसके उर पर नखों का वाण लगाती है। (९) जो समस्त सिंहों (सिंहिनियों) के गुण होते हैं, वे ही, हे सुल्तान सिंहिनी नारी में होते हैं।"

टिप्पणी-- (१) सिंघिनी=शंखिनी। जायसी ने 'शंखिनी' को 'सिंहिनी' मानकर वर्णन किया है। (२) खीन<क्षीण। (३) घालि<घल्ल=फेंक या डाल दी जाने वाली वस्तु, घेलुआ। (५) मोट माँसु=शरीर के कुछ अंगों का मांस जो मोटा (स्थूल) होता है। (७) मथवाह=मस्तक पर बैठकर चलाने वाला, महावत। (८) स्यामि=स्वामिन्=पति।

तीसरि कहौं चित्रिनी नारी। महा चतुर रस पेम पियारी।
रूप सुरूप सिंगार सवाई। आछरि जसि नागरि अछवाई।

रोस न जानै हँसता मुखी। जहँ असि नारि पुरुख सो सुखी।
अपने पिय कै जानै पूजा। एक पुरुख तजि जान न दूजा।
चंद वदन रँग कुमुदिनि गोरी। चाल सोहाइ हंस कै जोरी।
खीर खाँड किछु अलप अहारू। पान फूल सौं बहुत पियारू।
पदुमिनि चाहिं घाटि दुइ करा। और सबै ओहि गुन निरमरा।
चित्रिनि जैस कमोद रँग आव न वासना अंग।
पदुमिनि सब चंदन अस भँवर फिरहिं तिन्ह संग ॥४६५॥

अर्थ—(१) "तीसरी जो चित्रिणी नारी होती है, अब उसका कथन (वर्णन) कर रहा हूँ। प्रेम-रस में वह अति चतुर और प्यारी (प्रिय) होती है। (२) रूप में सुरूप और शृंगार में वह औरों से सवाई (बढ़ी चढ़ी) होती है, और वह अप्सरा के समान नागरी और स्वच्छता प्रिय होती है। (३) रोष करना नहीं जानती है, सदैव प्रसन्न मुख रहती है, जहाँ ऐसी नारी हो, वहाँ पुरुष सुखी होगा ही। (४) अपने पुरुष की ही पूजा करना जानती है, और एक पुरुष के अतिरिक्त दूसरे को नहीं जानती है। (५) चंद्र-वदनी और कुमुदिनी के रंग की गौरवर्ण की होती है, और उसकी चाल इस प्रकार अच्छी लगती है जैसे हंस की जोड़ी की हो। (६) दूध और शक्कर का कुछ हल्का आहार होता है और पान-फूल से उसे बहुत प्यार होता है। (७) वह पद्मिनी से [सोलह कलाओं में से] दो ही कलाएँ [जिनका उल्लेख आगे होता है] घट कर होती है, और उसके शेष सभी निर्मल गुण इसमें भी होते हैं। (८) [एक तो] चित्रिणी का रंग जैसा कुमुदिनी का होता है, और [दूसरे] उसके अंग से कोई सुगंध नहीं आती है, (९) [जब कि] पद्मिनी समस्त [अंगों में] चंदन जैसी होती है और [उसके शरीर के सुवास के कारण] भ्रमर उसके साथ-साथ लगे फिरते हैं।"

टिप्पणी— (१) पिआर<प्रियालु=प्रिय। (२) आछरि<अच्छरि<अप्सरस्। अछवाई=स्वच्छता। [तुल० अछवाई सौं थोर सुभाऊ। ४६३.५] (६) खीर<क्षीर। खाँड<खण्ड=शर्करा-खण्ड, शक्कर। (८) कमोद<कुमुद।

चौथें कहौं पदुमिनी नारी। पदुम गंध सो दैय सँवारी।
पदुमिनि जाति पदुम रँग ओहीं। पदुम बास मधुकर सँग होहीं।
ना सुठि लाँबी ना सुठि छोटी। ना सुठि पातरि ना सुठि मोंटी।
सोरह करा अंग होइ बनी। वह सुलतान पदुमिनी गनी।
दीरघ चारि चारि लहु सोई। सुभर चारि चारि खीन जो होई।
औ ससि बदन देखि सब मोहा। चाल मराल चलत गति सोहा।
खीर न सहै अधिक सुकुवारा। पान फूल के रहै अधारा।
सोरह करा सँपूरन औ सोरहौ सिंगार।
अब तेहि भाँति बरनि गुन जस बरनै संसार ॥४६६॥

अर्थ—(१) "चौथे, पद्मिनी नारी का कथन (वर्णन) करता हूँ; वह दैव के द्वारा पद्म गंध से निर्मित होती है। (२) उस पद्मिनी जाति की स्त्री का रंग भी पद्म जैसा होता है; और [उसके शरीर में] पद्म की वासना होती है, इसलिए उसके साथ मधुकर

(भ्रमर) होते हैं। (३) न वह अधिक लंबी और न अधिक छोटी होती है, न अधिक पतली और न अधिक मोटी होती है। (४) सोलह कलाओं के अंगों से वह बनी होती है; हे सुल्तान, वह पद्मिनी गिनी जाती है। (५) उसके चार [अंग] दीर्घ, चार लघु, चार भरपूर और चार क्षीण होते हैं। (६) उसका मुख-चंद्र देखकर सब मुग्ध हो जाते हैं और चलते समय उसकी चाल हंसिनी की गति सी शोभित होती है। (७) वह दूध का भी आहार नहीं सहन कर सकती है, ऐसी अधिक सुकुमारी वह होती है, वह पत्र-पुष्प ही के सहारे रहती है।" (८) [पद्मिनी के ये लक्षण सुनकर बादशाह ने कहा,] "जिस प्रकार वह सोलह कलाओं और सोलहों शृंगारों से संपूर्ण होती है, (९) और जिस प्रकार संसार उसका वर्णन करता है, उसी प्रकार तू अब उसका वर्णन कर।"

टिप्पणी-- (३) **लाँबी<लम्ब = दीर्घ। छोटी<छोडि** [दे०] = **लघु। पातरि<पत्तल** [दे०] = **कृश।** (५) **लहु<लघु। सुभर = भरपूर। खीन<क्षीण।** (७) **खीर-क्षीर = दूध। सुकुवार<सुकुमार। पान<पण्ण<पर्ण = पत्ता।**

प्रथम केस दीरघ सिर होहीं। औ दीरघ अँगुरी कर सोहीं।
दीरघ नैन तिक्ख तिन्ह देखा। दीरघ गीवँ कंठ तिरि रेखा।
पुनि लघु दसन होहिं जस हीरा। औ लघु कुच जस उतँग जँभीरा।
लघू लिलाट दुइज परगासू। औ नाभी लघु चंदन बासू।
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जेहि केहरि हारा।
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर बिद्रुम रँग राता।
सुभर कपोल देहिं सुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा।
सुभर बने भुअडंड कलाई सुभर जाँघ गज चालि।
ये सोरहौ सिंगार बरनि कै करहिं देवता लालि ॥४६७॥

अर्थ—(१) [राघव ने कहा,] "प्रथम तो केश उसके सिर पर दीर्घ होते हैं, और उसके हाथों की दीर्घ (बड़ी) उँगलियाँ अच्छी लगती हैं। (२) उसके नेत्र दीर्घ होते हैं, और वे तीक्ष्ण (पैने) देखते हैं; उसकी ग्रीवा दीर्घ (बड़ी) होती है तथा कंठ में तिर्यक् रेखाएँ होती हैं। (३) पुनः उसके दाँत लघु होते हैं, [और वे ऐसे चमकते हैं] जैसे हीरे हों, और उसके कुच ऐसे लघु होते हैं जैसे उत्तुंग (ऊँचे उठे हुए) जंभीर हों। (४) उसका ललाट ऐसा लघु होता है जैसे द्वितीया का प्रकाश [युक्त शशि] हो, और उसकी नाभि लघु होती है जिसमें चन्दन की सुवास होती है। (५) उसकी नासिका ऐसी क्षीण होती है जैसी खड्ग की धार हो, और उसकी कटि क्षीण होती है जिससे केसरी हारा हुआ होता है। (६) उसका पेट ऐसा क्षीण होता है मानो उसमें आँत होती ही नहीं और उसके अधर क्षीण होते हैं, जो मूँगे के रंग जैसे रक्त होते हैं। (७) उसके कपोल भरे पूरे होते हैं जो उसके मुख पर शोभा देते हैं, उसके नितंब भरे पूरे होते हैं जिन्हें देखकर मन लुब्ध हो जाता है। (८) उसकी भुजाएँ और उस की कलाइयाँ भरपूर बने हुए होते हैं, और जाँघें भरपूर होती हैं तथा उसकी चाल गज की होती है; (९) उसके इन सोलहों शृंगारों का वर्णन करके देवता उसकी चाटुकारी करते हैं।"

टिप्पणी-- (२) **तिक्ख<तीक्ष्ण = पैना। गीव<ग्रीवा। तिरि<तिरिअ<तिर्यक्।**

(३) उतँग<उत्तुंग=ऊँचा। (४) खीन<क्षीण। केहरि<केसरिन् = सिंह। (६) आँत<अन्त्र=अँतड़ी। (८) भुअडंड<भुजदण्ड। कलाई<कलाचिका। (९) लालि< लल्लि [दे०]=खुशामद।

यह जो पदुमिनी चितउर आनी। कुंदन कया दुवादस बानी।
कुंदन कनक न गंध न बासा। वह सुगंध जनु कँवल बिगासा।
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोवँलि रँग पुहुप सुरंगा।
ओहि छुइ पवन बिरिख जेहि लागा। सोइ मलयागिरि भएउ सभागा।
काह त मूँठि भरी ओहिं खेही। असि मूरति कै दैयँ उरेही।
सबै चितेर चित्र कै हारे। ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे।
कया कपूर हाड़ जनु मोंती। तेहि तें अधिक दीन्हि बिधि जोती।
सूरुज क्रांत करा जसि निरमल नीर सरीर।
सौंहँ निरख नहिं जाइ निहारी नैनन्ह आवै नीर ।४६८।।

अर्थ—(१) "यह पद्मिनी जो चित्तौर में लाई गई है, द्वादश वर्ण वाले कुन्द [जैसे] काया की है। (२) कुन्दन सोने में न गंध होती है और न वासना, किन्तु वह ऐसी सुगंध वाली है मानो कमलिनी विकसित हुई हो। (३) कुन्दन सोने का अंग कठोर होता है, किन्तु उसका शरीर कोमल और उसका रंग सुरंग (सुन्दर) पुष्प का है। (४) उसको छूकर पवन जिस वृक्ष को लगा, वह भाग्यशाली मलयगिरि चंदन हो गया। (५) तब [उसके शरीर के निर्माण के लिए] विधाता ने कौन सी मिट्टी मुट्ठी में ली, जिससे ऐसी मूर्त्ति का निर्माण कर उसको उरेहा ? (६) सभी चित्रकार उसका चित्र बनाते-बनाते हार (थक) गए किन्तु कोई भी उसका रूप नहीं अंकित कर सके। (६) उसकी काया मानो कपूर है, उसकी हड्डियाँ मानो मोतियाँ हैं, बल्कि उनसे भी अधिक विधाता ने उन्हें ज्योति दी है। (८) सूर्यकान्तमणि की कला के जैसी उसके शरीर की निर्मल कान्ति है। (९) इसीलिए वह सम्मुख से निरीक्षण करते हुए देखी नहीं जाती है, क्योंकि [उसे देखते समय] नेत्रों में पानी आ जाता है।"

टिप्पणी—(१) कुंदन=खरा सोना। बाँरहबानी<द्वादश वर्णिन् : जायसी के समय में सोने के खरेपन की १२ श्रेणियाँ थीं, बारहवानी सोना सबसे उत्तम माना जाता था (दे० ऊपर ८३.५ की टिप्पणी, तथा 'आईन-ए-अकबरी' भाग १, पृ० १८) (३) कोंवल< कोमल। (५) मूँठि<मुष्टि=मुट्ठी । उरेहु<उल्लिह<उल्लिख् = रेखाओं द्वाराचित्र बनाना। (७) हाड<हड्ड<अस्थि=हड्डी। मोंती<मौक्तिक। (८) सूरुज क्रांत< सूर्यकान्त-=एक विशेष प्रकार का पत्थर जिसे धूप में रखने के अनंतर उसके पास रूई रखने पर रूई जलने लगती है। 'आईन-ए-अकबरी' में भी इसे 'सूरजक्रांत' कहकर वर्णित किया गया है। (जिल्द १, पृ० ५०)। करा<कला।

कत हौं अहा काल कर काढ़ा। जाइ धौराहर तर भौ ठाढ़ा।
कत वह आइ झरोखें झाँकी। नैन कुरंगिनि चितविन बाँकी।
बिहँसी ससि तरई जनु परीं। कै सो रैनि छूटी फुलझरी।
चमकि बीज जस भादौं रैनी। जगत दिस्टि भरि रही उड़ैनी।

काम कटाख दिस्टि बिख बसा । नागिनि अलक पलक महँ डसा ।
भौहँ धनुक तिल काजर ठोड़ी । वह भै धानुक हौं हियँ ओड़ी ।
मारि चली मरतहि मैं हँसा । पाछें नाग अहा ओइँ डसा ।
पाछें घालि काल सो राखा मंत्र न गारुरि कोइ ।
जहाँ मँजूर पीठि ओइँ दीन्हे कासुँ पुकारौं रोइ ।।४६९।।

अर्थ--(१) "क्यों मैं काल का निकाला हुआ था कि जाकर उसके धवलगृह के नीचे खड़ा हो गया ? (२) [फिर] क्यों वह आकर झरोखे से झाँक गई, जिसके नेत्र कुरंगिनी (मृगी) के थे और जिसकी चितवन वक्र थी ? (३) कब वह शशि [मुखी] हँस पड़ी, मानो तारिकाएँ गिर पड़ीं अथवा रात्रि में [आतशबाज़ी की] फुलझड़ियाँ छूट पड़ीं । (४) जिस प्रकार भादौं की रात में बिजली चमकी हो, उसी प्रकार जगत् की दृष्टि में वह डकैत स्त्री भर रही । (५) उसकी काम-कटाक्ष-दृष्टि में विष बस रहा था, और उसकी नागिन [-सदृश] अलकों ने पल भर में डस लिया । (६) उसकी भौंहें धनुष थीं, और उसकी चिबुक पर कज्जल का तिल था, [इस रूप से] वह धानुष्क हुई और मैंने हृदय पर उसकी चोट को लिया । (७) वह जब [इस प्रकार] मुझे मार चली, और मरते हुए मैं हँस पड़ा तो उसके पीछे जो [वेणी का] नाग था उसने मुझे डस लिया । (८) उसने अपने पीछे [वेणी के रूप में] ऐसे काल (काले नाग) को डाल रक्खा था, जिसका न कोई मंत्र था और न कोई गारुड़ी, (९) जहाँ मयूर ने भी [ग्रीवा के रूप में] उसको पीठ दे रक्खा था (उससे मुँह फेर रक्खा था) मैं किसे रोकर पुकारता ।"

टिप्पणी-- (१) काढ़ा<कड्ढिय<कृष्ट=निकाला हुआ । धौराहर<धवल गृह=प्रासाद । (२) झरोखा<जालाक्ष । बाँक<बंक<वक्र । (५) तरई<तारिका । (४) बीज<विज्जु<विद्युत् । उड़ैनी<उड्डहण+इका=डकैत स्त्री । (५) कटाख <कटाक्ष । (६) धानुक<धानुष्क=धनुर्धर । घोड़=थामना, रोकना । (९) गारुरि<गारुडिक : मंत्र=शास्त्रज्ञ । (९) मँजूर<मयूर=मोर ।

बेनी छोरि झारु जौं केसा । रैनि होइ जग दीपक लेसा ।
सिर हुति सोहरि परहिं भुइँ बारा । सगरे देस होइ अँधियारा ।
जानहुँ लोटहिं चढ़े भुवंगा । बेधे बास मलैगिरि संगा ।
सगबगाहिं बिख भरे बिसारे । लहरिआहिं लहकहिं अति कारे ।
लुरहिं मुरहिं मानहिं जनु केली । नाग चढ़ा मालति की बेली ।
लहरै देइ जानहुँ कालिंदी । फिरि फिरि भँवर भए चित फंदी ।
चवँर ढरत आछहिं चहुँ पासा । भवँर न उड़हिं जो लुबुधे बासा ।
होइ अँधियारी बीजु खन लौकै जबहिं चीर गहि झाँपु ।
केस काल ओइ कत मैं देखे सँवरि सँवरि जिय काँपु ।।४७०।।

अर्थ--(१) "जब वह वेणी खोलकर केशों को झाड़ती है, रात्रि हो जाती है, और जगत् भर दीपक जला लेता है । (२) उसके सिर से बाल जब भूमि पर छिटक पड़ते हैं तब सारे देश में अंधकार हो जाता है । (३) वे ऐसे हैं मानो [मलय वृक्ष पर] चढ़े हुए भुजंग लोट रहे हों, और मलयागिरि (चंदन) के संग के कारण उसकी वासना से

बिद्ध हो रहे हों। (४) वे विषैले और विष भरे [सर्प] चौंक-चौंक उठते हैं, और वे अत्यधिक काले सर्प लहरें लेते और लपकते हैं। (५) वे लोल होते और मुड़ते हैं, मानो केलि मान रहे हों, [और इस प्रकार लगते हैं जैसे] नाग मालती की लता पर चढ़े हों। (६) अथवा मानो कालिंदी (यमुना) लहरें दे रही हो, और उसकी भँवरें पुनः-पुनः चित्त को फँसाने वाली हो रही हो। (७) पुनः [उसके मुख के आस-पास] उसकी पद्म-गंध से लुब्ध हुए जो भौंरे नहीं उड़ पाते हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो उसके चारों ओर चामर झल रहे हों। (८) वह जब जब चीर पकड़कर उन बालों को ढँकती है, तब तब ऐसा लगता है मानो अँधेरे में होकर क्षण भर के लिए बिजली चमक जाती हो। (९) मैंने उन काल-केशों को क्यों देखा कि उन्हें स्मरण कर-कर जी काँप जाता है ?"

टिप्पणी—– (१) लेस् < लिश् = प्रकाशित करना ['लेश्य' और 'लेश्या' शब्द में धातु का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है]। (२) सोहर् = फूलना, खुल पड़ना। (३) भुजंग < भुजंग = सर्प। (४) सगबगाय् = चकपकाना, चौंकना। बिसार < विषालु = विषाक्त। लहक् = लपकना, कुछ लेने के लिए आगे बढ़ना। (५) लुर् < लुल् = लोल होना। (६) फंद < स्पंद = पाश। (८) लौक् = चमक उठना।

कनक माँग जो सेंदुर रेखा। जनु बसंत राता जग देखा।
कै पत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र बिचित्र सँवारी।
भएउ उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बगरि रहे घन स्यामा।
जमुँना माँझ सुरसती माँगा। दुहुँ दिसि चित्र तरंगहि गाँगा।
सेंदुर रेख सो ऊपर राती। बीर बहूटिन्ह की जनु पाँती।
बलि देवता भए देखि सेंदूरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू।
भोर साँझ रबि होइ जो राता। ओहीं सो सेंदुर राता गाता।
बेनी कारी पुहुप लै निकसी जमुना आइ।
पूजा इंदु अनंद सों सेंदुर सीस चढ़ाइ ॥४७१॥

अर्थ—(१) "उसकी कनक-माँग में जो सिन्दूर रेखा पड़ी हुई थी, वह [ऐसी सुहावनी लगती थी] मानो जगत् में रक्त वसन्त दिखाई पड़ा हो। (२) पत्रावली करके उसने जो पट्टी पार रक्खी थी, और रचना करके उसने विचित्र चित्रों का जो सँभार किया था, (३) उसमें जितने भी पुष्प थे उनका उरेह इस प्रकार हुआ था, मानो श्याम घन में बक छिटके हुए हों। (४) वह माँग यमुना में सरस्वती [तुल्य] थी और उसके दोनों ओर बने हुए चित्र [ऐसे लगते थे मानो] गंगा तरंगें ले रही हो। (५) [माँग के] ऊपर जो रक्त वर्ण की सिन्दूर रेखा थी, वह [ऐसी लगती थी] मानो वीरबहूटियों की पंक्ति हो। (६) उस सिन्दूर को देखकर देवता बलिहार हुए, और प्रतिदिन सबेरे उठकर सूर्य उस माँग की पूजा करता है। (७) सबेरे और सन्ध्या समय जो सूर्य लाल होता है, उसी सिन्दूर से उसका गात्र लाल हो जाता है। (८) [उसके शशि मुख के समीप सिन्दूरित माँग और पुष्पों से अलंकृत वह वेणी ऐसी थी] मानो यमुना अपनी काली वेणी में पुष्प लेकर आई हुई हो। (९) और उसने सिर पर सिन्दूर चढ़ाकर आनन्दपूर्वक इन्दु की पूजा की हो।"

टिप्पणी— (१) पत्रावलि=वे फूल-पत्तियाँ जो कस्तूरी तथा अन्य सुगंधित पदार्थों से मुख पर बनाई जाती हैं। पाटी<पट्टिका=बालों की पट्टियाँ जिनके बीच में माँग काढ़ी जाती है। पारना=बनाना। (२) उरेह<उल्लेह<उल्लेख=रेखाओं द्वारा चित्रांकन। बगर्<वि+कृ=फैलना, तितर-बितर होना। अलग-अलग होना। (५) बीर बहूटी—इन्द्र गोपा।

दुइज लिलाट अधिक मनि करा। संकर देखि माँथ भुइँ धरा।
एहि निति दुइज जगत महँ दीसा। जगत जोहारै देइ असीसा।
ससि जो होइ नहिं सरवरि छाजै। होइ जो अमावस छपि मन लाजै।
तिलक सँवारि जो चूनी रची। दुइज माहँ जानहुँ कचपची।
ससि पर करवत सारा राहू। नखतन्ह भरा दीन्ह पर दाहू।
पारस जोति लिलाटहि ओती। दिस्टि जो करै होइ तेहिं जोती।
सिरी जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट निसि तारा।
ससि औ सूर जो निरमल तेहि लिलाट की ओप।
निसि दिन चलहिं न सरबरि पावहिं तपि तपि होहिं अलोप ॥४७२॥

अर्थ—(१) "द्वितीया के चन्द्रमा का ललाट मणि की अधिक कलाओं से युक्त (देदीप्यमान) होता है, यह देखकर शंकर ने [उसके सम्मुख] भूमि पर माथा टेक दिया। (२) और इसी कारण द्वितीया का चन्द्रमा जगत् में देखा जाता है (दर्शन की वस्तु होता है) और जगत् उसे जुहारता और आशीर्वाद देता है। (३) किन्तु वह [पूर्णिमा का] शशि होकर भी [कान्ति में] उसकी बराबरी नहीं कर सका, इसलिए जब अमावस्या होती है, वह मन में लज्जित होकर छिप जाता है। (४) उसने तिलक सँवारकर उस पर जो चूनी रचकर लगाई थी, वह ऐसी लगी मानो द्वितीया के चन्द्रमा पर मानो कृत्तिका की नक्षत्रमाला हो। (५) [उसकी माँग ऐसी है मानो] शशि पर राहु ने करवत सारा हो (आरा चलाया हो) अथवा नक्षत्रों से भरे शशि में उसने आग लगा दी है। (६) उस ललाट को इतनी (ऐसी) पारस-ज्योति प्राप्त है कि जो उस पर दृष्टि करता है उसको भी ज्योति प्राप्त हो जाती है। (७) जो रत्न की श्री उसकी माँग में बिठाई हुई थी, वह ऐसी लगती थी मानो रात्रि में आकाश में तारा टूटा हो। (८) शशि और सूर्य जो निर्मल हैं, वे उस ललाट की दीप्ति के कारण हैं (९) वे रात दिन चलते हैं किन्तु बराबरी नहीं कर पाते हैं, इसलिए तप्त हो-होकर वे लुप्त होते रहते हैं।

टिप्पणी—(१) करा<कला। (४) कचपची<कृत्ति प्रचित=कृत्तिका से समृद्ध नक्षत्र माला। (५) करवत<करपत्र। परदाह<प्रदाह। (६) पारस<स्पर्श। (७) सिरी<श्री=बिंदिया, एक शिरोभूषण। जायसी ग्रंथावली पाठ में शुद्धिपत्र में 'सिरीं' के स्थान पर 'सिरै' दिया गया है, किन्तु जैसा डॉ० अग्रवाल ने कहा है 'सिरी' पाठ अधिक संगत है।

भौहैं स्याम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करै मानुस कहँ गढ़ा।
चाँद कि मूँठि धनुक तहँ ताना। काजर पनच बरुनि बिख बाना।
जासहुँ फेर छोहाइ न मारे। गिरिवर टरहिं सो भौहँन्ह टारे।

सेत बंध जेइ धनुक बिडारा। उहौ धनुक भौंहन्ह सौं हारा।
हारा धनुक जो बेधा राहू। औरु धनुक कोइ गनै न काहू।
कत सो धनुक मैं भौंहँन्हि देखा। लाग बान तेत आव न लेखा।
तेत बानन्ह झाँझर भा हिया। जेहि अस मार सो कैसें जिया।
सोत सोत तन बेधा रोवँ रोवँ सब देह।
नस नस महँ भै सालहिं हाड़ हाड़ भए बेह ॥४७३॥

अर्थ—(१) उसकी काली भौंहें ऐसी हैं मानो [प्रत्यंचा] चढ़े हुए धनुष हों, जो मनुष्यों को वेध्य करने के लिए गढ़े हुए हों। (२) चन्द्र [सदृश ललाट] की मुट्ठियों में वे धनुष ताने हुए हैं, कज्जल उनकी प्रत्यंचा है और बरौनियाँ उनके विष बाण हैं। (३) जिसके सम्मुख वह उन धनुषों को घुमाती है, उन पर कृपा नहीं करती है, और उन्हें मार डालती है और उन भौंहों के हटाने (मोड़ने) पर बड़े-बड़े पर्वत डिग जाते हैं। (४) [राम के] जिस धनुष ने [लंका से लौटते समय] सेतुबंध को तोड़-फोड़ डाला था, वह धनुष भी उन भौंहों से हार गया। (५) [अर्जुन का] वह धनुष हार गया जिसने राधा वेध किया था, अतः कोई और किसी धनुष को [उसके सामने] नहीं गिनता है। (६) क्यों मैंने उस धनुष को उन भौंहों [के रूप] में देखा, जिससे इतने बाण लगे जिनका लेखा करना नहीं आता है। (७) उतने बाणों से मेरा हृदय जर्जर हो गया। जिस पर ऐसी मार पड़ी हो, वह कैसे जी सकता है? (८) मेरा शरीर अपने प्रत्येक रोमकूप में विद्ध हुआ, समस्त देह में रोम-रोम [विद्ध हो गया], (९) वे बाण नस-नस में होकर शल्य (काँटों) की भाँति पीड़ा पहुँचा रहे हैं, और मेरी हड्डी-हड्डी में वेध (छिद्र) हो गए हैं।"

टिप्पणी—(१) रणबेझ<वेध्य=लक्ष्य। (२) पनच<प्रत्यञ्चा। (३) सहुँ<सम्मुख। (५) राहु<राधा=नाचती हुई पुतली जिसकी बाईं आँख का वेध लक्ष्य-वेध कौशल की परीक्षा में किया जाता था। अर्जुन ने इसी प्रकार राधा वेध कर द्रौपदी को प्राप्त किया था। (७) झाँझर<जर्जर। (८) सोत<स्रोत=रोम-कूप। (९) बेह<वेह<वेध=छिद्र।

नैन चित्र वै रूप चितेरे। कँवल पत्र पर मधुकर घेरे।
समुँद तरंग उठहिं जनु राते। डोलहिं तस घूमहिं जनु माँते।
सरद चंद महँ खंजन जोरी। फिरि फिरि लुरहिं अहोरि बहोरी।
चपल बिलोल डोल रह लागी। थिर न रहहिं चंचल बैरागी।
निरखि अघाहिं न हत्या हतें। फिरि फिरि स्रवनन्हि लागहिं मतें।
अंग सेत मुख स्याम जो ओहीं। तिरिछ चलहिं खिन सूध न होहीं।
सुर नर गंध्रप लालि कराहीं। उलटे चलहिं सरग कहँ जाहीं।
अस वै नैन चक्र दुइ भवँर समुँद उलथाहिं।
जनु जिउ घालि हिडोरैं लै आवहिं लै जाहिं ॥४७४॥

अर्थ—(१) उसके जो नेत्र हैं, वे रूप-चित्रकार के बनाए हुए चित्र हैं, [वे ऐसे हैं मानो] कमल की पंखुड़ियों पर मधुकर घेरे हुए हों। (२) [और वे ऐसे हैं]

मानो समुद्र की उठती हुई लाल (माणिक्य भरी) तरंगें हों वे इस प्रकार डोलते हैं मानो मत्त हुए घूम रहे हों। (३) वे शरदचंद्र [मुख-मंडल] में खंजन-जोड़े के सदृश हैं, जो बार-बार आकर लोल हो रहे हों। (४) वे इस प्रकार चंचल तथा विशेष लोल हैं [जैसे] हिंडोलों से लगे हुए हों, और वे चंचल विरागी के समान स्थिर नहीं रहते हैं। (५) वे केवल देखकर नहीं अघाते [वे अघाते हैं] हत्या से, और वे बार-बार श्रवणों से लग कर मंत्रणा करते हैं। (६) उनके अंग श्वेत किन्तु उनके मुख जो श्याम हैं, वे तिरछे ही चलते हैं, और एक क्षण भी सीधे नहीं होते हैं। (७) देवता, मनुष्य और गंधर्व उनकी खुशामद करते हैं, इसीलिए वे और भी [गर्व से फूलकर] उलटे चलते हैं और आकाश पर पैर रखते हैं। (८) वे दो नेत्र-चक्र ऐसे हैं कि समुद्र की भँवरों के समान ऊपर आते हैं; (९) वे [दर्शक के] जीव को मानो हिंडोले में डालकर [कभी] ले आते और [कभी] ले जाते हैं।"

टिप्पणी— (१) चितेरा=चित्रकार। कमल-पत्र = कमलपुष्प की पंखुडियाँ। (२) माँते<मत्त हुए। रात<रक्त = लाल वर्ण का। [तुल० सुभर समुँद अस नैन हुई मानिक भरे तरंग। (१०३.८)] (३) लुर्<लुल्=चंचल होना। (४) डोल<दोल=हिंडोला। चंचल बैरागी: [नारद की भाँति] वह विरागी जो एक स्थान पर नहीं रहता है। (६) तिरिछ<तिर्यक्=वक्र। सूध<शुद्ध = सीधा। (७) लालि<लल्लि=खुशामद। सरग<स्वर्ग=आकाश। (८) उलथ्=उल्लस्त होना [उल्लत्थ<उल्लस्त=ऊपर आया हुआ]।

नासिक खरग हरे धनि कीरू। जोग सिंगार जिते औ बीरू।
ससि मुख सौंहँ खरग गहि रामा। रावन सौं चाहै संग्रामा।
दुहूँ समुंद्र रचा जहँ बीरू। सेत बंध बाँधेउ नल नीरू।
तिल क पुहुप अस नासिक तासू। औ सुगंध दीन्हेउ बिधि बासू।
करन फूल पहिरें उजियारा। जानु सरद ससि सोहिल तारा।
सोंहिल चाहि फूल वह ऊँचा। धावहिं नखत न जाइ पहूँचा।
न जनै केइँ फूल वह गढ़ा। बिगसि फूल सब चाहहिं चढ़ा।
अस वह फूल बास कर आकर भा नासिक सनमंध।
जेत फूल ओहि फूलहिं हिरके ते सब भए सुगंध ॥४७५॥

अर्थ—(१) "उस स्त्री ने सुए से नासिका-खड्ग हरण कर लिया है और उसके योग (उसकी सहायता) से उसने शृंगार और वीर रसों को जीत लिया है। (२) अपने चन्द्रमुख के सम्मुख उस [नासिका-] खड्ग को ग्रहणकरके वह रामा रमण (प्रिय) से संग्राम चाहती है [जिस प्रकार राम रावण से संग्राम चाहते थे] (३) जहाँ दोनों ने [सेनाओं के रूप में] वीर रस का समुद्र रच रक्खा था, नल और नील ने वहाँ [दोनों के बीच में] सेतु बंध बाँधा था [उसी प्रकार जहाँ रामा और रमण ने अपनी-अपनी शक्तियों को तैयार कर रक्खा है, इस नासिका के दोनों के बीच में संघर्ष के लिए एक मार्ग प्रस्तुत कर दिया है। (४) तिल के पुष्प के समान उसकी नासिका है, और विधाता ने उसमें सुगंध को निवास दे रक्खा है। (५) वह उज्ज्वल करना पुष्प [के आकार-

प्रकार की फुल्ली] पहने हुए है जो [उसके मुख के पास] ऐसा लगता है मानो शरद-चन्द्र के निकट सुहेल तारा हो। (६) वह सुहेल से भी ऊँचा है, और नक्षत्र उसके पास तक दौड़ते हैं किन्तु वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता है। (७) न जाने किसने उस फूल को बनाया है कि समस्त फूल विकसित होकर उस पर चढ़ना (न्यौछावर होना) चाहते हैं। (८) नासिका के सम्बन्ध से वह करना-पुष्प इस प्रकार वासना की खान हुआ है, (९) कि जितने भी फूल उस फूल से हिलगे, वे सभी सुगंधित हो गए।"

टिप्पणी—(१) धनि<धन्या=स्त्री। जोग<योग=सम्बन्ध। (२) सौंह<सम्मुख। रावन<रमण। (५) करन फूल = करना पुष्प के आकार की नकफुल्ली (?)। २९८.४ में 'करन फूल' के स्थान पर कुछ प्रतियों में मिलने वाले पाठान्तर 'कनकफूल' को स्वीकार करते हुए यहाँ भी 'जायसी ग्रन्थावली' में मैंने 'कनक फूल' पाठ का सुझाव दिया था। अब यहाँ पाठ 'करन फूल' कर रहा हूँ फिर भी मुझे पाठ और अर्थ से अभी सन्तोष नहीं है। किन्तु 'कनक फूल' पाठ यहाँ किसी प्रति में नहीं मिलता है। (५)-(६) सोहिल<सुहेल [अ०] = एक नक्षत्र जिसके उदित होने पर वर्षा समाप्त हो जाती है। (दे० १७५.७, ६२९.३)। (८) आकर=खान। सनसंध<सम्बन्ध। (९) हिरकना-हिलगना, पास आना।

अधर सुरंग पान अस खीने। राते रंग अमिय रस भीने।
आछहिं भीजि तँबोर सों राते। जनु गुलाल दीसहिं बिहँसाते।
मानिक अधर दसन नग हेरा। बैन रसाल खाँड मकु मेरा।
काढ़े अधर डाभ सौं चीरी। रुहिर चुवै जौं खंडहिं बीरी।
धारे रसहि रसहिं रस गीले। रकत भरे वै सुरंग रँगीले।
जनु परभात रात रवि रेखा। बिगसे बदन कँवल जनु देखा।
अलक भुवंगिनि अधरन्ह राखा। गहै जो नागिनि सो रस चाखा।
अधर धरहिं रस पेम का अलक भुअंगिनि बीच।
तब अंब्रित रस पाउ पिउ ओहि नागिनि गहि खींचु ॥४७६॥

अर्थ—(१) "उसके सुन्दर अधर पान के जैसे क्षीण (पतले) हैं। वे लाल रंग के और अमृत रस से सिक्त हैं। (२) वे ताम्बूल-रस से भींगकर रक्त वर्ण के [हुए रहते] हैं, और ऐसे लगते हैं मानो विहँसते हुए (विकसित) गुल्लाला पुष्प दीख रहे हों। (३) उन माणिक्य जैसे अधरों के साथ उसके दाँत नग जैसे दीखते हैं। उसके वचन ऐसे रसीले हैं जैसे उनमें खाँड मिली हो। (४) वे अधर ऐसे हैं मानो दर्भ से चीरकर दो फाँकों के रूप में निकाले (किए गए) हों और जब वे पान की बीड़ी खंडते (कुटकते) हैं, रुधिर चूने लगता है। (५) रस धारण किए हुए वे गीले अधर रस टपकाते रहते हैं; वे रक्त भरे हुए सुंदर और रंगीले हैं। (६) वे ऐसे लगते हैं मानो प्रभात के सूर्य की रक्तिम रेखाएँ हों। उसके [चन्द्र-] मुख के विकसित होने पर वे ऐसे लगते हैं मानो कमल [पत्र] दिखाई पड़े हों। (७) उन अधरों पर उसने अलकों को सर्पिणियों के रूप में रख छोड़ा है, परिणामतः जो उन नागिनों को पकड़ सकता है वही उन अधरों का रस भी चख सकता है। (८) वे अधर प्रेम का रस धारण करते हैं, किन्तु अलकों के रूप

में नागिनें बीच में आती हैं, (९) इसलिए उसका प्रिय तभी उनका अमृत रस पा सकता है जब वह उन नागिनों को पकड़कर खींचे (दूर करे)।"

टिप्पणी— **(१) पान<पण्ण<पर्ण=ताम्बूल। खीन<क्षीण। (२) तँबोर< ताम्बूल। (४) डाभ<दर्भ=एक प्रकार की घास। (६) कमल-पत्र=कमल पुष्प की पंखुड़ियाँ। (७) भुअंग<भुजंग=सर्प।**

दसन स्याम पानन्ह रँग पाके। बिहँसत कवँल भँवर अस ताके।
चमतकार मुख भीतर होई। जस दारिवँ औ स्याम मकोई।
चमकै चौक बिहँसु जौं नारी। बीज चमक जस निसि अँधियारी।
सेत स्याम अस चमकै डीठी। स्याम हीर दुहुँ पाँति बईठी।
केइँ सो गढ़े अस दसन अमोला। मारै बीज बिहँसि जौं बोला।
रतन भीजि रँग मसि भै स्यामा। ओही छाज पदारथ नामा।
कत वह दरस देख रँग भीने। लै गौ जोति नैन भौ खीने।
दसन जोति होइ नैन पँथ हिरदै माँझ बईठि।
परगट जग अँधियार जनु गुपुत ओहि पै डीठि ॥४७७॥

अर्थ—(१) "उसके दाँत पानों का रंग लगते-लगते पककर श्याम वर्ण के हो गए हैं, और हँसते समय वे कमल [मुख] में भ्रमर जैसे जान पड़ते हैं। (२) मुख के भीतर उन दाँतों की चमक ऐसी होती है जैसे उसमें दाड़िम (अनार) और काली मकोय के दाने [साथ-साथ] हों। (३) जब वह स्त्री हँस पड़ती है, उसके दाँतों के चौके उसी प्रकार चमक उठते हैं जिस प्रकार अँधेरी रात में बिजली चमक जाती हो। (४) उनका श्वेत और श्याम वर्ण दृष्टि में ऐसा चमकता है मानो श्याम वर्ण के हीरों की दो पंक्तियाँ बिठाई गई हों। (५) किसने ऐसे अमूल्य दाँतों को गढ़ा जो, यदि वह हँसती हुई बोले, बिजली [सी] मार देते हैं? (६) [मानो] रत्न (रत्नसेन) के रंग में भींगकर वे उसकी मसि से श्याम हो गए हैं, ऐसे वे दाँत हैं; इसलिए उस [स्त्री] का पदार्थ नाम होना उसको ही शोभा देता है। (७) रंग से भीने उन दाँतों का दर्शन ही मैंने क्यों देखा (किया) कि वह दर्शन [मेरे नेत्रों की] ज्योति ले गया और मेरे नेत्र क्षीण हो गए? (८) नेत्रों के मार्ग से होकर वह दशन-ज्योति हृदय में जा बैठी है, (९) [जिसके परिणामस्वरूप] उनके लिए प्रकट (प्रत्यक्ष) में जगत् मानो अंधकार पूर्ण हो गया है किन्तु गुप्त रूप में हो न हो, वही वह ज्योति [मुझे] दिखाई पड़ती है।"

टिप्पणी— **(१) पाक<पक्क<पक्का=पक्का। ताक्<तक्क<तर्कय्=तर्क करना, विचार करना। (३) चौक<चउक<चतुष्क=सामने के चार दाँत: दो ऊपर के और दो नीचे के। बीज<बिज्जु<विद्युत्। (४) डीठी<दृष्टि। (६) छाज्<झछज्ज् [दे०]शोभा देना। (४)-(८) बईठ<बइट्ठ<उपविष्ठ=बैठा हुआ। (९) डीठ< दृष्ट।**

रसना सुनहु जो कह रस बाता। कोकिल बैन सुनत मन राता।
अंब्रित कोंप जीभ जनु लाई। पान फूल असि बात सुहाई।
चात्रिक बैन सुनत होइ साँती। सुनै सो परै पेम मद माँती।

बीरौ सूख पाव जस नीरू । सुनत बैन तस पलुह सरीरू ।
बोल सेवाति बुंद जेंउ परहीं । स्रवन सीप मुख मोती भरहीं ।
धनि वह बैन जो प्रान अधारू । भूखे स्रवननि देहि अहारू ।
ओन्ह बैनन्ह कै काहि न आसा । मोहहिं मिरिग बिहँसि भरि स्वाँसा ।
कंठ सारदा मोहहिं जीभ सुरसती काह ।
इंद्र चंद्र रवि देवता सबै जगत मुख चाह ॥४७८॥

अर्थ--(१) "अब उसकी रसना का वर्णन सुनो जो रस-वार्त्ता कहती है, उसके कोकिल वचनों को सुनकर मन रक्त (अनुरक्त) हो जाता है। (२) उसकी जिह्वा ऐसी है मानो अमृत[-तरु]की कोंपल लगाई हुई हो, और उसकी सुहावनी बातें ऐसी हैं जैसे पत्र-पुष्प हों। (३) उसके चातक-वचनों को सुनकर शांति [प्राप्त] होती है, और जो उन्हें सुनता है, वह प्रेम मद में मत्त हो उठता है। (४) जैसे सूखा (सूखता) विटप जल पा जाए, उसी प्रकार उसके वचनों को सुनते ही शरीर अंकुरित हो उठता है। (५) उसके बोल जब स्वाति विन्दु के समान पड़ते हैं, वे श्रवण-सीपियों के मुखों में मौक्तिक भी देते हैं। (६)उसके वे वचन धन्य हैं जो [सुनने वाले के] प्राणाधार होते हैं, जो भूखे श्रवणों को आहार देते हैं। (७) उन वचनों की किसे आशा नहीं होती है ? उनको सुनकर हँसकर और साँसें भरकर मृग भी मोहित हो जाते हैं। (८) उसके कंठ [की ध्वनि] से शारदा मोहित होती है, और उसकी जिह्वा के सामने सरस्वती क्या है ? (९) इसीलिए इंद्र, चंद्र, सूर्य आदि सभी देवता तथा समस्त जगत् उसका मुँह देखता रहता है।"

टिप्पणी-- (१) बैन<वयन<वचन। (२) कोंप<कुड्म[ल] =कोंपल, नवीन पत्ता। पान<पण्ण<पर्ण = पत्र, पत्ता। (४) बीरौ<विडव<विटप। पलुह<प्ररुह् = अंकुरित होना। (९) चाह=देखना।

स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपी । पहिरें कुंडल सिंघल दीपी ।
चाँद सुरुज दुहुँ दिसि चमकाहीं । नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं ।
खिन खिन करहिं बिज्जु अस काँपे । अंबर मेघ महँ रहहिं नहिं झाँपे ।
सूक सनीचर दुहुँ दिसि मतें । होहिं निरार न स्रवनन्हि हुतें ।
काँपत रहहिं बोल जौं बैना । श्रवनन्हि जनि लागहिं फिरि नैना ।
जौ जौ बात सखिन्ह सौं सुना । दुहुँ दिसि करहिं सीस वै घुना ।
खूँट दुहूँ धुव तरइँ खूँटीं । जानहुँ परहिं कचपचीं टूटी ।
बेद पुरान ग्रंथ जत सबै सुने सिखि लीन्ह ।
नाद बिनोद राग रस बिंदक स्रवन ओहि बिधि दीन्ह ॥४७९॥

अर्थ--(१) "अब उसके कानों का वर्णन सुनो जो [मानो] कुन्दन की सीपियाँ हैं। वे सिंहल द्वीप के बने हुए कुंडल पहिने हुए हैं। (२) वे कुंडल चंद्र और सूर्य हैं जो दोनों दिशाओं में (ओर) चमकते रहते हैं, और नक्षत्रों [के रूप में मणि-माणिक्य] से भरे होने के कारण वे देखे नहीं जाते हैं। (३) क्षण-प्रति-क्षण बिजली की भाँति काँपकर बेकलते (पीड़ा पहुँचाते) रहते हैं और वे अम्बर (चीर) रूपी मेघ में [ढाँकने

से भी] ढँके नहीं रहते हैं। (४) वे दोनों ओर शुक्र और शनि की भाँति [मंत्री होकर] मंत्र देते रहते हैं। और [इसलिए] कानों से अलग नहीं होते हैं। (५) जब वह वचन बोलती है, वे काँपते रहते हैं, कि कहीं मुड़-मुड़कर उसके नेत्र उसके कानों से न लगें [और उनसे कोई मंत्रणा करने लगें]। (६) जब जब वह सखियों से बातें सुनती है, [उन बातों पर मुग्ध होकर] वे दोनों ओर सिर पीटने लगते हैं। (७) दोनों कानों में जो दो खूँट हैं, वे [मानो] दो ध्रुव हैं, और जो खूँटियाँ हैं वे [मानो] तारिकाएँ हैं; वे ऐसी लगती हैं मानो कृत्तिका की नक्षत्र-माला टूट पड़ी हो। (८) वेद, पुराणादि जितने भी ग्रंथ हैं, सभी को सुन-सुनकर उसने सीख लिया है, (९) क्योंकि नाद-विनोद और राग-रस के जानकार कान उसे विधाता ने दिए हैं।"

टिप्पणी— (१) कुंदन=खरा सोना। सीपी<सुत्ति<शुक्ति। (२) निरख्<णिरिक्ख<निर्+ईक्ष=निरीक्षण करना, देखना। (३) कर्<कलय्=पीड़ा पहुँचाना। (४) निरार<निरालय्=घर के बाहर, अलग। (६) जौ<जउ<यदा=जब। (७) खूँट, खूँटी=कानों के आभरण-विशेष। कचपची<कृत्ति-प्रचित। (९) बिदक=जानकार।

कँवल कपोल ओहि अस छाजे। और न काहु दैयँ अस साजे।
पुहुप पंक रस अमिअ सँवारे। सुरँग गेंदु नारँग रतनारे।
पुनि कपोल बाएँ तिल परा। सो तिल बिरह चिनिगि कै करा।
जो तिल देख जाइ डहि सोई। बाईं दिस्टि काहु जनि होई।
जानहुँ भँवर पदुम पर टूटा। जीउ दीन्ह औ दिएहुँ न छूटा।
देखत तिल नैनन्ह गा गाड़ी। औरु न सूझै सो तिल छाँड़ी।
तेहि पर अलक मंजरी डोला। छुऐ सो नागिनि सुरँग कपोला॥
रख्या करै मँजूर ओहि हिरदैं ऊपर लोट।
केहि जुगुति कोइ छुइ सकै दुइ परबत की ओट॥४८०॥

अर्थ—(१) "कमल के [सदृश] कपोल उसी को इस प्रकार शोभा देते हैं; ऐसे कपोल दैव ने किसी के नहीं साजे। (२) पुष्प-पराग तथा अमृत रस से निर्मित वे सुंदर गेंद [के समान वर्त्तुलाकार] और नारंगियों के समान रक्ताभ वर्ण के हैं। (३) पुनः बाएँ कपोल पर जो तिल पड़ा हुआ है, वह विरह की चिनगारी की कला (विशेषता) का है। (४) जो ही उस तिल को देखता है, वही दग्ध हो जाता है, इसलिए किसी की दृष्टि भी बाईं ओर (वाम मार्ग पर न) हो। (५) [वह तिल ऐसा है] मानो किसी कमल पर भौंरा आ टूटा हो, जिसने अपने प्राण दे दिए हों किन्तु फिर भी जो न छूट सका हो। (६) देखते ही वह तिल मेरे नेत्रों में इस प्रकार गड़ गया कि उस तिल को छोड़कर और कुछ नहीं सूझता है। (७) उन कपोलों पर उसकी जो अलकें आम्र-मंजरी की भाँति हिलती रहती हैं, वे ऐसी लगती हैं मानो नागिनें उन सुंदर नारंगियों (कपोलों) को छू रही हों। (८) और उन [अलक-नागिनों] की रक्षा मयूर के रूप में ग्रीवा करती है, जब वे हृदय के ऊपर लोटती है; पुनः वे [अलक-नागिनें] दो पर्वतों के रूप में होने वाले कुचों की ओट में रहती हैं, इसलिए उन्हें किस युक्ति से कोई [हटाने के लिए] छू सकता है?"

टिप्पणी--(१) छाज्<छज्ज् [दे०] = शोभा देना। साज्<सज्ज्<स्रस्ज् = सजाना। (२) गेंदु<कन्दुक। (३) करा<कला=विशेषता, गुण। (८) रख्या<रक्षा। मँजूर<मयूर।

गीवँ मजूर केरि जनु ठाढ़ी। कुंदै फेरि कुँदेरैं काढ़ी।
धन्य गीवँ का बरनौ करा। बाँक तुरंग जानु गहि धरा।
घुरत परेवा गीवँ उँचावा। चहै बोल तवँचूर सुनावा।
गीवँ सुराही कै असि भई। अमिय पियाला कारन नई।
पुनि तेहि ठाउँ परी तिरि रेखा। नैन ठाँव जिउ होइ सो देखा।
सूरुज कांत करा निरमली। दीसै पीकि जाति हिय चली।
कंज नार सोने कै करा। साजि कँवल तेहि ऊपर धरा।
नागिनि चढ़ी कवँल पर चढ़ि कै बैठ कमंठ।
जो ओहि काल गहि हाथ पसारै सो लागै ओहि कंठ।।४८१।।

अर्थ--(१) "उसकी ग्रीवा ऐसी है मानो मयूर की खड़ी ग्रीवा हो; पुनः वह [मानो] कुंदकार के द्वारा खराद पर फेरकर निकाली गई हो। (२) वह ग्रीवा धन्य है, क्या मैं उसकी कला (विशेषता) का वर्णन करूँ? कोई बाँका अश्व मानो पकड़ लिया गया हो [तो उसकी उठी हुई] ग्रीवा की भाँति यह ग्रीवा है]। (३) वह ऐसी लगती है मानो वह ग्रीवा ऊँचा कर घूम रहे पारावत की हो, अथवा वह उस ताम्रचूड़ (मुर्ग) की हो जो बाँग लगाना चाहता हो। (४) [पुनः] वह ग्रीवा उस सुराही के जैसी है जो अमृत के प्याले के कारण (उसे भरने के लिए) झुकी हुई हो। (५) पुनः उसी [ग्रीवा-] स्थान में तीन रेखाएँ पड़ी हुई हैं, जिन्हें तभी देखा जा सकता है जबकि नेत्रों के स्थान पर जीव भी हो [क्योंकि नेत्र उसे देखते ही जड़ हो जाते हैं]। (६) वह ग्रीवा सूर्यकान्त मणि की जैसी निर्मल कला की है इसलिए जो पान की पीकें वह घूँटती (निगलती) है, वे हृदय में (कंठ से नीचे) जाते समय दिखाई पड़ती हैं। (७) उसकी ग्रीवा सोने की कला वाली कञ्ज नाल जैसी और उसके ऊपर [उसका मुख ऐसा लगता है] मानो कमल रक्खा हुआ हो। (८) [अलक-] नागिन उसके [मुख-] कमल पर चढ़ी और तदनंतर कमंठ (थाली सदृश वक्ष अथवा कलश सदृश कुचों) पर जा बैठी है। (९) [फलतः] जो उस काल-स्वरूपिणी अलक को पकड़ (हटा) कर हाथ पसारे, वही उस कंठ से लग सकता है।"

टिप्पणी--(१) मँजूर<मयूर। कुंदेरा<कुंदआर<कुन्दकार=कुंदीगर। (२) करा<कला। (३) घुर्<घुर्ण=घूमना। तवँचूर<ताम्रचूड=कुक्कुट, मुर्ग। (४) नई<नमित=झुकी हुई। (६) सूरुज कांत<सूर्य कान्त=एक प्रकार का पत्थर जिसको धूप में रखकर उसके पास रूई रखने पर रूई जलने लगती है (दे० ४६८.८ की टिप्पणी तथा 'आईन-ए-अकबरी, जि० १, पृ० ५०)। (८) कमंठ<कमंड [दे०] = (१) दही का कलश, (२) स्थाली (पा० स० म०)।

कनक डंड भुज बनीं कलाईं। डाँड़ी कवँल फेरि जनु लाईं।
चँदन गाभ की भुजा सँवारी। जनु सुमेल कोंवलि पौनारी।

तिन्ह डाँड़िन्ह वह कँवल हथोरी । एक कँवल कै दूनौ जोरी ।
सहजहिं जानहुँ मेंहदी रची । मुकुता लिए जनु घुँघुची पची ।
कर पल्लौ जो हथोरिन्ह साथाँ । वै सुठि रकत भरे दुहुँ हाथाँ ।
देखत हिए काढ़ि जिउ लेहीं । हिया काढ़ि लै जाहिं न देहीं ।
कनक अँगूठी औ नग जरी । वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी ।
जैसनि भुजा कलाई तेहि बिधि जाइ न भाखि ।
कंगन हाथ होइ जहँ तहँ दरपन का साखि ॥४८२॥

अर्थ--(१) "उसकी कनक दंड सदृश भुजाएँ और कलाइयाँ इस प्रकार बनी लगती हैं मानो कमल की डंडी (नाल) उलटकर लगाई गई हो [क्योंकि कमल सदृश हथेली नीचे और डंडी सदृश भुजा ऊपर है] । (२) उसकी भुजाएँ [मानो] चंदन के गाभ की बनाई गई हैं, अथवा मानो वे मेल-ढाल वाली (सुडौल) और कोमल पद्म नालें हों । (३) उन [भुज-] दण्डों में कमल-सदृश हथेलियाँ ऐसी हैं मानो एक ही कमल की वे दोनों जोड़ियाँ हों । (४) वे हथेलियाँ इस प्रकार लाल रहती हैं मानो उनमें स्वभावतः मेंहदी रची हुई है, वे मोतियाँ लेती हैं तो वे ऐसी लगती हैं मानो घुँधुचियाँ पकी हों । (५) उन हथेलियों के साथ उसके जो कर-पल्लव (उँगलियाँ) हैं, वे ऐसे लाल हैं मानो उसके वे दोनों हाथ अत्यधिक रक्त में सने हों । (६) देखते ही वे कर-पल्लव हृदय को निकालकर प्राण ले लेते हैं, और हृदय को निकालकर वे ले ही जाते हैं, [वापिस] नहीं देते हैं । (७) उसकी सोने की और नग-जटित अँगूठियाँ हैं, जिनके कारण वह हत्यारिन नक्षत्रों से भरी (चन्द्रमा जैसी) लगती है । (८) जैसी उसकी भुजाएँ और कलाइयाँ हैं, वैसा उनका कथन नहीं किया जा सकता है । (९) जहाँ पर (जबकि) कंगन हाथ में हो वहाँ पर (तब) उसके लिए दर्पण क्या साक्षी हो (उसके साक्ष्य की क्या आवश्यकता हो सकती है) ?" [उसका दिया हुआ कंगन तुम्हारे सामने है, इसी से उसके हाथों और कलाइयों की सुन्दरता का अनुमान कर सकते हो ।] "

टिप्पणी--(१) कलाई<कलाचिका=प्रकोष्ठ । (२) गाभ<गब्भ्<गर्भ=भीतर की लकड़ी । पौनारी<पद्मनलिका । (३) हथोरी<हस्तपुटिका=हथेली । (९) साखि <सक्खि<साक्षिन्=साक्ष्य देने वाला, गवाह ।

हिया थार कुच कनक कचोरा । साजे जनहुँ सिरीफल जोरा ।
एक पाट पर दूनौं राजा । स्याम छत्र दूनहुँ सिर साजा ।
जानहुँ लटू दुऔ एक साथाँ । जग भा लटू चढ़ै नहिं हाथाँ ।
पातर पेट आहि जनु पूरी । पान अधार फूल अस कोवँरी ।
रोमावलि ऊपर लटु झूमा । जानहुँ दुऔ स्याम औ रूमा ।
अलक भुवंगिनि तेहि पर लोटा । हेंगुरि एक खेल दुइ गोटा ।
बाँह पगार उठे कुच दोऊ । नाग सरन उन्ह नाव न कोऊ ।
कैसेहुँ नवहिं न नाएँ जोबन गरब उठान ।
जो पहिलें कर लावै सो पाछें रति मान ॥४८३॥

अर्थ--(१) "उसका हृदय थाल है, जिसमें उसके कुच कनक के कच्चोल हैं; [अथवा

वे मानो श्रीफल (बेल) के जोड़े हैं जो उसमें साजे हुए हैं। (२) अथवा वे [मानो] एक ही सिंहासन पर [बैठे हुए] दो राजे हैं, और इन दोनों के सिर पर श्याम वर्ण का छत्र साजा हुआ है। (३) अथवा वे दोनों ही मानो लट्टू हैं, जो एक साथ [नाच रहे] हैं; जगत् उन पर लट्टू हो रहा है किन्तु वे उसके हाथ पर नहीं चढ़ रहे हैं [जिस प्रकार नाचते-नाचते लट्टू नचाने वाले के हाथ पर चढ़ जाते हैं]। (४) उसका पतला पेट मानो पूरी है, क्योंकि वह केवल पान के आधार पर जीती है और फूल जैसी कोमल है। (५) उसकी रोमावली के ऊपर वे [दोनों] लट्टू (कुच) इस प्रकार झूमते [रहते] हैं मानो वे [जलडमरूमध्य बासफोरस के दोनों ओर स्थित] साम और रूमदेश हों। (६) पुनः उन [कुचों] पर एक अलक-नागिन लोटती रहती है, जो ऐसी लगती है जैसे चौगान की हैंगुरी (लकड़ी) एक हो और उससे दो गोट (गोले) खेले जा रहे हों। (७) बाहु-प्राकारों की सुरक्षा में उठते हुए वे [दोनों] कुच [-दुर्ग] अलक-नाग की शरण में है, इसलिए उन्हें कोई नमित नहीं कर सकता है। (८) यौवन के गर्व की उठान में वे किसी प्रकार भी नमित करने पर नमित नहीं होते हैं; (९) जो पहले उन पर कर लगा सके, वही पीछे [उस रमणी से] रति का आनन्द लाभ कर सकता है।"

टिप्पणी--(१) थार<स्थाल। कचोर∠कच्चोल=प्याला, कटोरा। (२) पाट <पट्ट=फलक, सिंहासन। (४) पूरी<पूरित=पूड़ी। यह मोटे ढंग की दो प्रकार की होती हैं: एक सादी और दूसरी दाल भरी। दाल भरी प्रायः कुछ मोटी होती है, पतली सादी ही होती हैं। सादी में भी मैदे की लुचुई पूरी सबसे अधिक पतली होती है। (५) स्याम<शाम या सीरिया। रूस=देश-विशेष जिसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया थी। (६) हेंगुरि=चौगान जिस लकड़ी से खेला जाता है यथा: बंसी बेत विमान बन गेंद 'हींगुरी जोरि। घरिया सबै दुराय है ले न राधा चोरि॥ पृथीराज रासो ('सभा संस्करण' २.५५०) किसी किसी प्रति में 'हींगुरी' के स्थान पर पाठ 'हइंगुरी' है। [खेल के विवण के लिए दे० ६२६, ६२८] गोटागोला, गेंद। (७) पगार<प्राकार=परकोटा। (८) उठान<उत्थान। (९) कर लगाना=[१] हाथ लगाना, [२] वश में करके करदबाना।

भ्रिंगि लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खँड नलिनि माँझ जस तागा।
जब फिरि चली देख मैं पाछें। आछरि इंद्र केरि जस काछें।
उजहि चली जनु भा पछिताऊ। अबहूँ दिस्टि लागि ओहि भाऊ।
ओहि के गवन छपि अछरीं गईं। भइँ अलोप नहिं परगट भईं।
हंस लजाइ समुँद कहँ खेले। लाजि गयंद धूरि सिर मेले।
जगत इस्त्रीं देखी महूँ। उदै अस्त असि नारि न कहूँ।
महि मंडल तौ ऐस न कोई। ब्रह्ममँडल जौं होइ तो होई।
बरनी नारि तहाँ लगि दिस्टि झरोखें आइ।
औरु जो रही अदिस्टि भै सो कछु बरनि न जाइ॥४८४॥

अर्थ--(१) "भृंगी की कटि में मानो मध्य का भाग लगा हुआ न हो, अथवा नलिनी-दंड के दो खंड हो गए हों और उनके मध्य जैसे बिस-तन्तु मात्र रह गया हो, इस प्रकार की उसकी कटि है। (२) जब वह [झरोखे से झाँककर] लौट चली और मैंने उसके

पीछे की सज्जा देखी तो वह मुझे ऐसी लगी जैसे इन्द्र की कोई अप्सरा वेष-भूषा किए हुए हो। (३) किन्तु वह मानो मुझे [मेरा सर्वस्व लेकर] छोड़ चली, ऐसा पछतावा मुझे हुआ, और अभी तक मेरी दृष्टि उसी भाव (सौन्दर्य) पर लगी हुई है। (४) उसके गमन (उसकी चाल) को देखकर अप्सराएँ छिप गईं, और वे [सदैव के लिए] इस प्रकार लुप्त हुईं कि फिर प्रकट न हुईं। (५) [उस चाल से] लज्जित होकर हंस समुद्र (मान समुद-मान सरोवर) को चले गए, और गजेन्द्र लज्जित होकर सिर पर धूल डालता रहता है। (६) मैंने भी जगत् में [सभी प्रकार की] स्त्रियाँ देखी हैं, किन्तु उदयाचल से अस्ताचल तक ऐसी नारी [अन्य] कहीं भी नहीं देखी है (७) पृथ्वी मंडल पर तो ऐसी [अन्य] कोई नहीं है, ब्रह्मंडल में यदि हो तो हो। (८) मैंने उस नारी का वर्णन वहाँ तक किया जहाँ तक वह झरोखे में दिखाई पड़ी, (९) और जहाँ तक वह अदृष्ट रही (दिखाई न पड़ी) वहाँ तक कुछ भी उसका वर्णन करना मेरे लिए संभव नहीं है।"

टिप्पणी--(१) माँझ<मज्झ<मध्य। (२) आछरि<अच्छरी<अप्सरस्=अप्सरा। (३) उजह<उज्झ्=छोड़ देना : साग-सब्जी के खेत फसल के समाप्त होने पर जब फलों को तोड़कर छोड़ दिए जाते हैं, तो वे उजहे खेत कहलाते हैं। (५) खेल्=योगियों और हंसों का एक स्थान को छोड़कर दूसरे को चला जाना खेलना कहा गया है। (८) झरोखा<जालाक्ष=जालियों का गवाक्ष।

का धनि कहौं जैसि सुकुवारा। फूल के छुएँ जाइ बेकरारा।
पँखुरीं लीजहि फूलन्ह सेंती। सो नित डासिअ सेज सुपेती।
फूल समूच रहै जो पावा। ब्याकुलि होइ नींद नहिं आवा।
सहै न खीर खाँड औ घीऊ। पान अधार रहै तन जीऊ।
नसि पानन्ह कै काढ़िअ हेरी। अधरन्ह गड़ै फाँस ओहि केरी।
मकरी क तार ताहि कर चीरू। सो पहिरें छिलि जाइ सरीरू।
पालँक पाँव कि आछहिं पाटा। नेत बिछाइअ जौ चल बाटा।
घालि नयन जनु राखिअ पलक न कीजै ओट।
पेम क लुबुधा पावै काह सो बड़ का छोट॥४८५॥

अर्थ--"(१) वह स्त्री जैसी सुकुमार है, उसको मैं क्या कहूँ? फूलों से भी छू जाने पर वह बेकरार (बेचैन) हो जाती है। (२) फूलों से पंखुड़ियाँ लीजिए तो उन्हें शय्या की चादर के रूप में बिछाइए। (३) यदि कोई फूल समूचा रह गया, तो वह व्याकुल हो जाती है और उसे नींद नहीं आती है। (४) वह दूध, शक्कर और घी तक नहीं सहन करती है; उसके शरीर में जीव केवल पान के आधार पर बना रहता है। (५) और पानों की भी नसें ढूँढ-ढूंढ कर निकाल ली जाती हैं कि उनकी फाँस उसके अधरों में न चुभ जाए। (६) उसका चीर मकड़ी के तारों (तंतुओं) के सदृश होता है किन्तु उसे भी पहिनने पर उसका शरीर छिल जाता है। (७) उसके पैर या तो पर्यंक पर या पीढ़ों पर रहते हैं, और यदि वह बाट चलती है तो नेत्र (एक प्रकार वस्त्र, तथा नयन) बिछाना पड़ता है। (८) मानो उसको नेत्रों में डालकर

रखिए और पल भर के लिए भी आँखों से ओझल न होने दीजिए; (९) इस प्रकार जो प्रेम का लुब्ध हो वही ऐसी नारी को पा सकता है ; वह बड़ा हो तो क्या, और छोटा हो तो क्या ?"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री । बेकरार<बेक़रार [फ़ा०] =बेचैन । (२) पँखुरी<पंख + डी<पक्ष=पत्र, फूल के पत्र । (३) समूँच<समुच्चिय<समुच्चित = समूचा । (४) खीर<क्षीर । खाँड<खण्ड=शर्करा खण्ड, शक्कर । घीउ<घृत । (५) काढ़्<कड्ढ<कृष्=खींचना, निकालना ।(७) नेत<नेत्र = (१)एक प्रकार का रेशमी वस्त्र, (२) नयन । बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग ।

राघौ जौं धनि बरनि सुनाई । सुना साह मुरुछा गति आई ।
जनु मूरति वह परगट भई । दरस देखाइ तबहिं छपि गई ।
जो जो मँदिल पदुमिनी लेखी । सुनत सो कवँल कुमुद जेउँ देखी ।
मालति होइ असि चित्त पईठी । औरु पुहुप कोइ आव न डीठी ।
मन ह्वै भँवर भँवै बैरागा । कँवल छाँड़ि चित औरु न लागा ।
चाँद के रंग सुरुज जस राता । अब नखतन्ह सौं पूँछ न बाता ।
तब अलि अलाउद्दीन जग सूरू । लेउँ नारि चितउर कै चूरू ।
जौं वह मालति मानसर अलि न बेलंवैं जात ।
चितउर महँ जो पदुमिनी फेरि ओहि कहु बात ।।४८६।।

अर्थ—(१) राघव ने [इस प्रकार] जो उस स्त्री का वर्णन कर सुनाया, और उसे शाह ने सुना, तो उसे (शाह को) मूर्छा-गति आ गई । (२) [उस मूर्छा में उसे ऐसा लगा] मानो वह [सौन्दर्य-] मूर्ति प्रकट हुई, और उसे दर्शन देकर तत्काल ही छिप गई । (३) उसने अपने मंदिर में जो-जो पद्मिनियाँ समझ रखी थीं, इस कमलिनी को सुनते ही वे कुमुदिनियाँ जैसी दिखाई पड़ीं । (४) वह [नारी] अब मालती हो कर उसके चित्त में इस प्रकार प्रविष्ट हो गई कि और कोई पुष्प [अब] उसकी दृष्टि में न आता था । (५) उसका मन [जगत् से] विरक्त होकर भ्रमने (घूमने) लगा, और उस कमलिनी को छोड़कर उसका चित्त और किसी पर नहीं लग रहा था । (६) अब उसकी दशा ऐसी हो गई जैसी चन्द्र के प्रेम में अनुरक्त सूर्य की हो, जो अब नक्षत्रों से बातें भी न पूछता हो । (७) उसने कहा, "मैं तब जगत् शूर और भ्रमर (प्रेमी) अलाउद्दीन होऊँ जबकि चित्तौर को चूर-चूरकर उस नारी को ले आऊँ । (८) यदि वह मालती मानसरोवर में भी हो तो भ्रमर [उसके पास] जाने में विलंब नहीं कर सकता है । (९) [अतः] चित्तौर में जो पद्मिनी है, तू पुनः [और आगे की] उस की वार्त्ता कह ।"

टिप्पणी--(१) धनि<धन्या=स्त्री । (४) पईठ<प्रविष्ट । डीठी<दृष्टि । (५) भवँ, भम्<भ्रम्=भ्रमण करना, घूमना । (६) राता<रत्त<रक्त=अनुरक्त । (७) चूर<चूर्ण ।

ऐ जग सूर कहौं तुम्ह पाहाँ । औरु पाँच नग चितउर माहाँ ।
एक हंस है पंखि अमोला । मोंती चुनै पदारथ बोला ।

दोसर नग जेहि अँब्रित बसा। सब बिख हरै जहाँ लगि डसा।
तीसर पाहन परस पखाना। लोह छुवत होइ कंचन बाना।
चौथ अहै सादूर अहेरी। जेहिं बन हस्ति धरे सब घेरी।
पाँचौ है सोनहा लागना। राज पंख पंखी कर जना।
हरिन रोझ कोइ बाँच न भागा। जस सैचान तैस उड़ि लागा।
नग अमोल अस पाँचौं मान समुँद ओहि दीन्ह।
इसकंदर नहिं पाएउ जौं रे समुँद धँसि लीन्ह ॥४८७॥

अर्थ—"(१) ए जगत्-सूर्य [तदनुसार] मैं तुमसे कहता हूँ ; चित्तौर में और भी पाँच नग हैं ; (२) एक तो अमूल्य पक्षी हंस है, जो मोती चुगता है और पदार्थ (बहुमूल्य रत्न) बोलता है। (३) दूसरा एक नग है जिसमें अमृत निवास करता है ; जहाँ तक [कोई भी जन्तु] दंश कर सकता है, वह समस्त (उन सभी का) विष हर लेता है। (४) तीसरा पत्थर (नग) स्पर्श-पाषाण है, जिसको छूते ही लोहा कंचन के वर्ण का हो जाता है। (५) चौथा नग आखेट करने वाला शार्दूल (शरभ) है, जिसकी सहायता से वन के समस्त हस्तियों को घेर कर पकड़ा जा सकता है। (६) पाँचवाँ नग है [अचूक ढंग से] लगने वाला श्वान है, जो राजपंख-पक्षी की संतान है। (७) हिरन, और नीलगाय [आदि] कोई भी उस से बचकर भाग नहीं सकते; जैसे बाज़ होता है, उसी प्रकार वह उड़-उड़कर [जन्तुओं से] लगता है। (८) ऐसे अमूल्य पाँचों नग उसे मान समुद्र ने दिए हैं ; (९) इन्हें सिकन्दर भी नहीं पा सका था जिन्हें (रत्नसेन) उसने समुद्र में पैठ कर प्राप्त किया है।"

टिप्पणी--(४) परस पखान<स्पर्श-पाषाण = पारस पत्थर। बान<वण्ण<वर्ण। (५) सादूर<शार्दूल=शरभ। अहेर<आखेट = शिकार। (६) सोनहा<श्वान। (७) रोझ<ऋष्य=नीलगाय। सैचान<सञ्चान=एक जाति का बाज़, पक्षी। (९) इसकंदर<सिकंदर [फ़ा०] = प्रसिद्ध विश्व-विजेता।

पान दीन्ह राघौ पहिरावा। दस गज हस्ति घोर सौ पावा।
ओ दोसर कंगन कर जोरी। रतन लागि तेहि तीस करोरी।
लाख दिनार देवाई जेंवा। दारिद हरा समुद कै सेवा।
हौं जेहि देवस पदमिनी पावौं। तोहि राघौ चितउर बैसावौं।
पहिलें के पाँचौं नग मूँठी। सो नग लेउँ जो कनक अँगूठी।
सरजा सेर पुरुख बरियारू। ताजन नाग सिंघ असवारू।
दीन्ह पत्र लिखि बेगि चलावा। चितउर गढ़ राजा पहँ आवा।
पत्र दीन्ह लै राजहि किरिपा लिखी अनेग।
सिंघल की जो पदुमिनी सो चाहौं यहिं बेगि ॥४८८॥

अर्थ—(१) बादशाह ने राघव को पान का बीड़ा दिया और उसे [सम्मान के] वस्त्र धारण कराए ; उसने दस हाथी तथा सौ घोड़े भी [बादशाह से] प्राप्त किए; (२) और उसने [पद्मावती के दिए हुए] कंगन का जोड़ा भी पाया जिसमें तीस करोड़ के रत्न लगे हुए थे। (३) बादशाह ने उसे भुक्ति (गुज़ारे) के रूप में एक लाख

दीनारें दिलवाईं, और प्रसन्नतापूर्वक राघव की सेवा करके उसका दारिद्रय हर लिया। (४) [तदनंतर] बादशाह ने कहा, "जिस दिन मैं पद्मिनी को पाऊँगा, तुझे हे राघव, मैं चित्तौर [की गद्दी] पर बिठाऊँगा। (५) पहले [तुम्हारे बताए] पाँचों नगों को मुट्ठी में (हस्तगत) करके [तदनंतर] उस नग को लूँगा जो सोने की अँगूठी है। (रत्नसेन को-जिसमें ये सभी नग जड़े हुए हैं) (६) सरजा पुरुष-सिंह था और बली था, वह सर्प का चाबुक लेकर सिंह पर सवारी करता था। (७) बादशाह ने पत्र लिख दिया और उसे शीघ्र ही रवाना किया, जो चित्तौरगढ़ के राजा रत्नसेन के पास आ गया। (८) उस पत्र को लेकर उसने राजा रत्नसेन को दिया, जिसमें बादशाह की ओर से अनेक कृपाएँ लिखी हुई थीं, (९) किन्तु तदनंतर यह भी लिखा हुआ था, "सिंहल की जो पद्मिनी है, उसे मैं इसी समय शीघ्र चाहता हूँ।"

टिप्पणी--(३) जेंवा=भोजन, भुक्ति, गुज़ारा। (६) ताजन<ताज़ियानः [फ़ा०]= कोड़ा, चाबुक।

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहुँ दैउ तरपि घन गाजा।
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूर लै खाई।
भलेहँ सो साहि पुहुमिपति भारी। माँग न कोइ पुरुख कै नारी।
जौं सो चक्कवै ता कहँ राजू। मँदिर एक कहँ आपन साजू।
आछरि जहाँ इंद्र पै रावा। औरु जो सुनै न देखै पावा।
कंस क राज जिता जौं कोपी। कान्हहि दीन्ह काहुँ कह गोपी।
का मोहि तें अस सूर अगाराँ। चढ़ौं सरग औ परौं पताराँ।
का तोहि जीव मरावौं सकति आन के दोस।
जो तिस बुझै न समुँद जल सो बुझाइ कत ओस ॥४८६॥

अर्थ—(१) ऐसा लिखा हुआ सुनकर राजा (रत्नसेन) जल उठा, मानो देव (इंद्र) ने तड़पकर घन गर्जन किया हो। (२) [उसने कहा,] "तू मुझे सिंह क्या दिखा रहा है? यदि मैं आज्ञा दूँ तो मेरा शार्दूल उसे ले जाकर खा डाले। (३) भले ही बादशाह भारी पृथ्वीपति है, किन्तु कोई [कितना भी बड़ा हो] किसी पुरुष की नारी नहीं माँगता है। (४) यदि वह चक्रवर्ती है, तो उसका राज्य है, किन्तु एक अपने मंदिर के लिए तो [सभी का] अपना ही साज होता है। (५) जहाँ इन्द्र अप्सरा के साथ, हो न हो, रमण करता है, और कोई न उसे देखने और न सुनने पाता है। (६) कृष्ण ने कंस का राज्य कोपकर के जीता किन्तु क्या कृष्ण को किसी [गोप] ने (अपनी स्त्री) गोपिका दी? (७) वह मुझसे अग्र (बढ़कर) क्या शूर होगा? मैं वैसा सूर ('शूर' और 'सूर्य') हूँ जो आकाश तक चढ़ सकता और पाताल तक धँस सकता हूँ। (८) तुझे मैं जान से क्या मरवाऊँ जो अन्य की शक्ति के आधार पर दोष कर रहा है? (९) जो प्यास समुद्र के जल से नहीं बुझ सकती है, वह ओस से कहाँ तक बुझ सकती है?"

टिप्पणी--(२) सारदूर<शार्दूल=शरभ। (४) चक्कवै<चक्रपति=चक्रवर्ती। (५) राव्<रम्=रमण करना। (७) अगार<अग्रे=आगे बढ़ा हुआ। सरग<स्वर्ग=

आकाश। (९) तिस<तृषा = प्यास । कत<कुत्र = कहाँ। ओस<अवश्याय = तुहिन-बिन्दु ।

राजा रिसि न होहि अस राता । सुनि होइ जूड़ न जरि कहु बाता ।
आवा हौं सो मरै कहँ आवा । पातसाहि अस जानि पठावा ।
जौं तोहि भार न औरहि लेना । पूँछिहि कालि उतर है देना ।
पातसाहि कहँ अैस न बोलू । चढ़ै तौ परै जगत महँ दोलू ।
सूरहि चढ़त न लागै बारा । धिकै आगि तेहि सरग पतारा ।
परबत उड़हिँ सूर के फूँके । यह गढ़ छार होइ एक झूँके ।
धँसै सुमेरु समुँद का पाटा । भुइँ सम होइ धरै जौं बाटा ।
तासौं का बड़ बोलसि बैठि न चितउर खासि ।
उपर लेहि चँदेरी का पदुमिनि एक दासि ॥४६०॥

अर्थ—(१) सरजा ने कहा, "ऐ राजा, तू क्रोध से ऐसा लाल न हो, ठंडा होकर सुन, जलभुन कर बातें न बोल । (२) मैं जो यहाँ आया वह तो मरने ही के लिए आया, और बादशाह ने मुझे ऐसा समझकर ही भेजा है। (३) यदि तुझे यह भार लग रहा है, तो भी तुझे ही इसे वहन करना है, किसी और को नहीं ; वह कल पूछेगा, और तुझे उत्तर देना होगा। (४) बादशाह को ऐसा न कह, यदि वह चढ़ाई कर दे तो जगत् में हलचल पड़ जाए। (५) सूर्य के चढ़ते देर नहीं लगती है ; उसकी ज्वाला से आकाश और पाताल तप्त हो जाते हैं। (६) शूर की फूंक से पर्वत उड़ जाते हैं, और यह चित्तौर गढ़ तो एक झोंके में राख हो जाएगा। (७) सुमेरु पृथ्वी में धँस जाता है, और समुद्र का पाट क्या रह सकता है ? भूमि समतल हो जाती है जब वह कोई मार्ग पकड़ता है। (८) उससे क्या बढ़-बढ़कर बातें करता है ? चित्तौर में बैठे-बैठे क्यों नहीं खाता है ? (९) चँदेरी तू ऊपर से (और) ले जा, उसके आगे पद्मिनी क्या है, एक दासी ही तो है ?"

टिप्पणी—(३) कालि<कल्ल<कल्य = आने वाला दिन । (४) दोल = झूला, हलचल। (५) सूर<सूर्य। (६) सूर<शूर = योद्धा ।

जौं पै घिहिनि जाइ घर केरी । का चितउर केहि काज चँदेरी ।
जिऔं लेइ घर कारन कोई । सो घर देइ जो जोगी होई ।
हौं रनथँभउर नाँह हमीरू । कलपि माँथ जेइँ दीन्ह सरीरू ।
हौं तौ रतनसेनि सक बंधी । राहु बेधि जीती सौरिंधी ।
हनिवँत सरिस भारु जेइँ काँधा । राघौ सरिस समुँद हठि बाँधा ।
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइँ साका । सिंघल दीप लीन्ह जौं ताका ।
ताहि सिंघ कै गहै को मोंछा । जौं अस लिखा होइ नहिं ओछा ।
दरब लेइ तौ मानौं सेव करौं गहि पाउ ।
चाहै नारि पदुमिनि तौ सिंघल दीपहि जाउ ॥४६१॥

अर्थ—(१) [राजा ने उत्तर दिया,] "यदि घर की गृहिणी ही चली गई तो चित्तौर क्या रहा और चंदेरी किस प्रयोजन की रही ? (२) घर (गृहिणी) के कारण

भले ही कोई जीवन ले ले [जीते जी वह अपना घर नहीं दे सकता है] घर केवल वही दे सकता है जो योगी हो जाए। (३) मैं रणथंभौर-पति हम्मीर हूँ, । जिसने अपना मत्था (सिर) काटकर शरीर दिया था। (४) मैं साका करने वाला (प्राणों पर खेलने वाला) रत्नसेन हूँ, जिसने राधावेध कर इस सैरिन्ध्री (द्रौपदी) को जीता [पद्मिनी को मैंने उसी प्रकार पुरुषार्थ से प्राप्त किया है जैसा राधा वेध करके अर्जुन ने द्रौपदी को पाया था] (५) [पद्मिनी को प्राप्त करने में] जिसने हनुमान के सदृश भार (भारी कार्य) करना कंधे पर लिया था और राघव (राम) के सदृश हठपूर्वक समुद्र को बाँधा था ; (६) जिसने विक्रम के सदृश साका (पुरुषार्थ) किया था, और जब निश्चय कर लिया था, सिंहल द्वीप को ले लिया था। (७) ऐसे सिंह [सदृश रत्नसेन] की मूँछ कौन पकड़ रहा है ? यदि [तेरे स्वामी ने] ऐसा लिखा भी है, तो भी [तू उससे कह दे कि] वह इस प्रकार ओछा न हो। (८) यदि वह द्रव्य ले तो [द्रव्य देना] मैं मान लूँ और उसके पैर पकड़कर उसकी सेवा करूँ, (९) और यदि पद्मिनी नारी चाहता हो तो वह सिंहल द्वीप जाए [चित्तौर की पद्मिनी उसे नहीं मिल सकती है]।"

टिप्पणी--(२) रनथँभउर नाँह : रणथंभौर नाथ=हमीर ने पराजित होने पर शत्रु के हाथों में अपने को जीते जी बन्दी नहीं होने दिया था, शत्रु के हाथों में पड़ने के पूर्व ही उसने अपना सिर काटकर प्राणान्त कर दिया था, यह कथा हम्मीर संबंधी सभी प्राचीन रचनाओं में मिलती है। (दे० 'संस्कृत और हिन्दी का हम्मीर-विषयक साहित्य' =प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखित, हिन्दुस्तानी भाग २१ : अंक ३ (१९६०) पृ० १)। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध १३०१ ईस्वी में चित्तौर के युद्ध से दो वर्ष पूर्व हुआ था। (४) राहु<राधा=वह नाचती हुई पुतली जिसकी बाईं आँख को लक्ष्य-वेध की परीक्षा में विद्ध करना होता था। (६)साका=प्राणों पर खेलकर पुरुषार्थ दिखाने का आयोजन। संभव है यह रीति शकों से प्रचलित हुई हो इसलिए इस का नाम 'शाक' पड़ा हो। ताक् <तवक<तर्कय्=विचार करना, निश्चय करना। (७)मोंछा<स्मँश्रु=मूँछ। ओछ <तुच्छ।

बोलु न राजा आपु जनाई। लीन्ह उदैगिरि लीन्हि छिताई।
सप्त दीप राजा सिर नावहिं। औ सैं चलीं पदुमिनी आवहिं।
जाकरि सेवा करै सँसारा। सिंघल दीप लेत का बांरा।
जनि जानसि तूँ गढ़ उपराहीं। ताकर सबै तोर कछु नाहीं।
जेहि दिन आइ गाढ़ के छेंकै। सरबस लेइ हाथ को टेकै।
सीस न झारु खेह के लागें। सिर पुनि छार होइ देखु आगें।
सेवा करु जो जियनि तोहि फाबी। नाहिं तौ फेरि भाँग होइ जाबी।
जाकरि लीन्हि जियनि पै अगुमन सीस जोहारि।
ताकर कै सब जानै काह पुरुख का नारि ॥४९२॥

अर्थ--(१) [सरजा ने कहा,] "ऐ राजा, तू अपने को इस प्रकार विज्ञप्त करते हुए न बोल ; अलाउद्दीन ने उदैगिरि को ले लिया है, और छिताई को ले लिया है।

(२) सातों द्वीपों के राजा उसे सिर झुकाते हैं, और पद्मिनी स्त्रियाँ स्वयं [अथवा साथ-साथ] चली आती हैं। (३) जिसकी सेवा संसार करता है, उसे सिंहल द्वीप लेते क्या (कितनी) देर? (४) तू यह न समझे कि तू गढ़ के ऊपर [सुरक्षित] है; उसी का सब कुछ है, तेरा कुछ भी नहीं है। (५) जिस दिन वह आकर प्रगाढ़ रूप से घेरा डाल देगा, वह तेरा सर्वस्व ले लेगा, उसका हाथ कौन रोकेगा? (६) [इतनी सी] मिट्टी के लगने से ही (सिर न झाड़, क्योंकि आगे पुनः यही सिर राख (मिट्टी) होने वाला है। (७) यदि तुझे जीविका फबती (भाती) है तो तू [बादशाह की] सेवा कर, नहीं तो तू पुनः भाँग [और भँग–नष्ट] हो जाएगा। (८) जिसकी बदौलत तू ने जीविका प्राप्त की है, उसे आगे (पहले) से ही सिर झुका; (९) उसीका करके सबको जानना चाहिए, क्या (चाहे) पुरुष हो, और क्या (चाहे) नारी हो।"

टिप्पणी--(१) उदैगिरि = दक्षिण का एक दुर्ग। छिताई: देवगिरि की राजकन्या, जिसके अपहरण की कथा नारायण दास कृत 'छिताई वार्त्ता' (प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित और नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित) में दी हुई है। (२) सँ <सइँ<(१) स्वयं।(२) समम् = [१] अपने-आप, [२] साथ। (३) बार< वेला = समय, देरी। (६) छार<क्षार = राख, धूल। (७) जिअनि = जीविका। भाँग = [१] भंग की नशीली पत्ती, जो मध्ययुग में बेदाम की चीज़ होती थी, [२] भंग, नष्ट। (८) अगुमन = आगे ही, पहले ही।

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इसकंदर कै नाई।
उनि अंब्रित कजली बन धावा। हाथ न चढ़ा रहा पछितावा।
उड़ि तेहि दीप पतँग होइ परा। अगिनि पहार पाऊ दै जरा।
धरती लोह सरग भा ताँबै। जीउ दीन्ह पहुँचब गा लाँबै।
यह चितउर गढ़ सोइ पहारू। सूर उठै धिकि होइ अँगारू।
जौ पै इसकँदर सरि कीन्ही। समुँद लेउ धँसि जस वै लीन्ही।
जौं छरि आने जाइ छिताई। तब का भएउ जो मुक्ख जताई।
महूँ समुझि अस अगुमन सँचि राखा गढ़ साजु।
कालि होइ जेहि अवना सो चढ़ि आवौ आजु ॥४६३॥

अर्थ—(१) [राजा ने कहा,] "तू जाकर कह कि वह तुर्क [व्यर्थ] दौड़कर (धावा कर) न मरे; उसकी नाईं (दशा) सिकंदर की ही होगी। (२) जैसे वह अमृत [फल] की बात सुनकर कजली वन पर चढ़ दौड़ा किन्तु वह उसके हाथ न आया, पश्चात्ताप ही [हाथ] रहा। (३) वह उस दीपक पर पतिंगा बनकर उड़ कर जा पड़ा, वह अग्नि के पर्वत पर [स्वतः] पैर देकर (चढ़कर) जल गया। (४) उसके लिए [उस पर्वत की] धरती [तप्त] लौह, और [उसका] आकाश [तप्त] ताम्र हो गए; अपना जीवन तक उसने दिया, फिर भी उसके लिए [उस कजली वन तक] पहुँचना लंबा (दूर) रहा। (५) यह चित्तौरगढ़ भी वही [अग्नि का] पहाड़ है; [इसके संपर्क में आकर] सूर्य तप्त हो उठता है और अंगार बन जाता है। (६) यदि तुमने सिकंदर की समानता की है, तो तुम भी समुद्र में धँसकर [मेरे द्वारा

समुद्र से प्राप्त की गई वस्तुओं को] ले लो, जैसा उसने किया था। (७) यदि तुम [देवगिरि] जाकर छिताई को छल भी लाए, तो [ऐसा] क्या हो गया कि अपने मुख से उसे विज्ञप्त कर रहे हो ? मैंने भी आगे (पहले) से ऐसा समझकर गढ़ में [समस्त] साज (सामान) संचित कर रक्खा है ; (९) जिसे कल (कुछ समय बाद) आना (चढ़ाई करना) हो, वह आज ही चढ़ आए।"

टिप्पणी--(१) नाई<न्याय। (२) कजली बन<कज्जली तीर्थ। (२)-(४) सुनि अंब्रित केदली बन धावा : सिकंदर पश्चिम भारत से ही लौटकर चला गया था, संभवतः इसी को लेकर उसके कजली-वन जाने और असफल लौटने की यह लोक-कथा प्रचलित हो गई। (दे० ५०९.८ भी) (५) धिक्<दह् (?) = दग्ध होना, तप्त होना। (६) सरि<सादृश्य : अलाउद्दीन 'सिकंदर-सानी' कहा जाता था। (७) छिताई : दे० ४९२.१ की पाद-टिप्पणी। (८) सँच्<सं+चि = संचय करना, इकट्ठा करना। (९) कालि<कल्ल<कल्य = कल, आने वाला दिन।

सरजा पलटि साहि पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा।
आगि जो जरा आगि पैं सूझा। जरत रहै न बुझाएँ बूझा।
ऐसें पंथ न आवै देऊ। चढ़ै सुलेमा मानैं सेऊ।
सुनि कै रिसि राता सुल्तानू। जैसे धिकै जेठ कर भानू।
सहसौं करा रोस तस भरा। जेहि दिसि देखै सो दिसि जरा।
हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहुँ अब न आगि सौं बाँचा।
एहि जग आगि जो भरि मुँह लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा।
जस रनथँभउर जरि बुझा चितउर परी सो आगि।
एह रे बुझाएँ ना बुझै जरै दोस की लागि ॥४६४॥

अर्थ--(१) सरजा लौटकर बादशाह के पास आया, [और कहने लगा,] "मैंने बहुतेरा मनाया, किन्तु वह देव (दैत्य) नहीं मानता है ; (२) जो आग से [एक बार] जल जाता है, उसे आग ही सूझती है, वह जलता ही रहता है, उसे कोई बुझाए भी तो वह नहीं बुझता है। (३) वह देव (शैतान) इस प्रकार [कहने सुनने से] रास्ते पर न आएगा, सुलेमान चढ़ाई करे तो वह सेवा करना स्वीकार करेगा।" (४) यह सुनकर सुल्तान क्रोध से लाल हो गया, जिस प्रकार जेठ मास का सूर्य तप्त हो उठता है। (५) सूर्य की भाँति ही अपनी समस्त सहस्र कलाओं से वह रोष से भर गया और जिस दिशा में भी उसने देखा, वह दिशा जल उठी। (६) उसने कहा, "इस हिन्दू देव (शैतान) ने क्या बल खींचा है ? अब आकाश [का देव-समुदाय] भी [मेरे रोष की] आग से नहीं बचेगा। (७) इस जगत् में जिसने [स्वतः] मुँह में आग भर ली, उसने दोनों जगतों में अपने साथ वह आग कर ली। (८) जिस प्रकार [इस आग से] रणथंभौर जल बुझा, चित्तौर में भी [अब] वह आग पड़ गई। (९) यह आग दोष के कारण लगी है, इसलिए यह बुझाने से नहीं बुझ सकती है।

टिप्पणी--(१) पलट्<परि+अस् (?) = बदलना, लौटा। देव [फ़ा०] = दैत्य। (२) बुझाव्<विध्मापय् = आग को ठंडा करना। (३) सुलेमा<सुलेमान : प्रसिद्ध

यहूदी शासक जिसने देवों (जिनों) को अपने वश में कर रक्खा था। (६) बर<बल। (७) रनथँभउर=हम्मीर देव का सुप्रसिद्ध गढ़।

लिखे पत्र चारिहुँ दिसि धाए। जावँत उमरा बेगि बोलाए।
दंद घाउ भा इंद्र सँकाना। डोला मेरु सेस अँगिराना।
धरती डोली कुरुँभ खरभरा। महनारंभ समुँद महँ परा।
साहि बजाइ चढ़ा जग जाना। तीस कोस भा पहिल पयाना।
चितउर सौहँ बारिगह तानी। जहँ लगि कूच सुना सुलतानी।
उठि सरवान गँगन लहि छाए। जानहुँ राते मेघ देखाए।
जो जहँ तहाँ सूति अस जागा। आइ जोहारि कटक सब लागा।
हस्ति घोर दर परिगह जावँत बेसरा ऊँट।
जहँ तहँ लीन्ह पलानी कटक सरह गति छूट ॥४६५॥

अर्थ--[सुल्तान के द्वारा] लिखे हुए पत्र चारों दिशाओं में दौड़ पड़े; जितने भी अमीर थे उन्हें बुलाया गया। (२) धौसों पर चोट पड़ी, तो इन्द्र भी शंकित हो गया, मेरु हिल गया और शेष ने अँगड़ाई ली। (३) धरती डोल उठी और कूर्म सकपका उठा; समुद्र में मंथनारंभ [जैसा उद्वेलन] होने लगा। (४) संसार जान गया कि बादशाह ने [धौंसे] बजाकर चढ़ाई कर दी है। उसका पहला प्रयाण तीस कोस का हुआ। (५) चित्तौर के सम्मुख वहाँ तक बारगह तानी गई जहाँ तक सुल्तानी [सेना का] प्रयाण सुना गया। (६) सरवन आकाश तक उठ-उठकर इस प्रकार छा उठे मानो रक्तवर्ण के मेघ दिखाई पड़े हों। (७) जो भी जहाँ पर था वह वहीं पर मानो सोकर जाग उठा हो, ऐसा ज्ञात हुआ, और सभी कोई जुहार करके सुल्तानी कटक में आ लगा। (८) हाथी, घोड़े, दल और परिग्रह तथा जितने भी खच्चर और ऊँट थे (९) जहाँ-तहाँ सभी ने पलानें लीं और [शाही] कटक शरभ (शार्दूल) की गति से छूट पड़ी।

टिप्पणी--(२) दुंद<दुन्दुभि (?)=धौंसा (दे० १८९२.२, ६३९.७) (३) कुरुँभ<कूर्म = कच्छप जिनके पीठ पर पृथ्वी टिकी हुई मानी जाती है। महनारंभ<मन्थनारंभ := मन्थन का आरंभ।(४) पयान = प्रयाण। (५)सौहँ<सम्मुख। बारिगह= एक प्रकार का शामियाना जो बड़ा बनाया जाने पर १०,००० मनुष्यों के बैठने के लिए पर्याप्त होता था (आईन-ए-अकबरी, जिल्द १, पृ० ५५) (६) सरवान = एक प्रकार का तम्बू। (८) दर<दल। परिगह<परिग्रह<प्रति ग्रह =सेना का पिछला भाग। (मो० वि०) (९) पलावी<पर्याण=घोड़े-हाथियों का साज।

चली पंथ परिगह सुलितानी। तीख तुरंग बाँक कैकानी।
पखरैं चली सो पाँतिन्ह पाँती। बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती।
काले कुमँइत लील सनेबी। खंग कुरंग बोरदुर केबी।
अबलक अबसर अगज सिराजी। चौधर चाल समंद सब ताजी।
खुरुमुज नोकिरा जरदा भले। औ अगरान बोलसिर चले।
पँचकल्यान सँजाब बखाने। महि सायर सब चुनि चुनि आने।

मुसुकी औ हिरमिजी इराकी । तुरुकी कहे भोथार बुलाकी ।
सिर औ पोंछि उठाए चहुँ दिस साँस ओनाहिं ।
रोस भरे जस बाउर पवन तरास उड़ाहिं ॥४९६॥

अर्थ--(१) सुल्तान की परिग्रह पथ पर अग्रसर हुई, जिसमें तीक्ष्ण (तेज़) त्वरा पूर्वक चलने वाले और बाँके कैकानी (घोड़े) थे। (२) उनकी पंक्तियों की पंक्तियाँ पाखरी हुई चल पड़ीं ; वे वर्ण-वर्ण की और भाँति-भाँति की थीं। (३) काले, कुम्मैत, नील, सनेवी, खंग, फुरंग, बोरदुर, केवी, (४) अबलक, अवसर, (अफ़सर) अगज़, शीराज़ी, चौधर, चाल, समंद और समस्त प्रकार के ताज़ी (५) खुरमुज, नुक़रा, अच्छे ज़र्दा, अगरान, और बोलसिर चल पड़े। (६) प्रकांक्षित पंचकल्याण, और संजाव घोड़े भी थे, जो पृथ्वी और सागर [के देशों] से चुन-चुनकर लाए हुए थे, (७) और वे भी थे जो मुश्की, हिरमिजी, ईराकी, तुर्की, भोथार और बुलाक़ी कहे जाते हैं। (८) वे सिर और पूँछ उठाए हुए चारों ओर [आदेश की] साँसों को सुनते रहते थे ; (९) और वे [चाबुक का त्रास (भय) दिखाए जाने पर] रोष से भरकर पागल जैसे हो जाते थे, और पवन वेग से उड़ने लगते थे।

टिप्पणी--(१) परिगह<परिग्रह<प्रतिग्रह=सेना का पिछला भाग (मो० वि०)। कैकानी=केकाण देश के घोड़े, किन्तु यह शब्द पीछे 'घोड़ा' का पर्याय-सा हो गया था। (२) पाखर=अश्व कवच, अश्व कवच से सुसज्जित अश्व-सेना। (३-७) इन पंक्तियों में अनेक जातियों के घोड़ों का उल्लेख हुआ है। इनके नाम तथा लक्षण मध्ययुगीन अश्व-परीक्षा और अश्व-चिकित्सा के ग्रंथों में मिलते हैं (दे० प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ८१)। कुछ नाम जायसी के प्रायः समकालीन पद्मनाभकृत 'कान्हड् दे प्रबंध' (३.४४) और नारायणदास तथा रतनरंग कृत 'छिताई वार्ता' (छंद ७२४)। तथा जटमल की 'गोरा बादल की कथा' (छंद ७२) में मिलते हैं। (८) ओनाय्=सुनना, आज्ञामानना। (९) बाउर<वाउल<वातूल = वातग्रस्त, पागल, बावला। तरास<तरस्=वेग, बल; गति।

लोहें सारि हस्ति पहिराए । मेघ घटा जस गरजत आए ।
मेघन्ह चाहि अधिक वै कारे । भएउ असूझ देखि अँधियारे ।
जनु भादौं निसि आई डीठी । सरग जाइ हिरगै तिन्ह पीठी ।
सवा लाख हस्ती जब चला । परबत सरिस चलत जग हला ।
कलित गयँद माँते मद आवहिं । भागहिं हस्ति गंध जहँ पावहिं ।
ऊपर जाइ गँगन सब खसा । औ धरती तर गह धसमसा ।
भा भुइँचाल चलत गज गानी । जहँ पौ धरहिं उठै तहँ पानी ।
चलत हस्ति जग काँपा चाँपा सेस पतार ।
कुरुँभ लिहें हुत धरती बैठिं गएउ गज भार ॥४९७॥

अर्थ—(१) लोहे के गज-पर्याण हाथियों को पिन्हाए गए थे, और वे घन-घटा के जैसे गरजते हुए आ रहे थे (२) वे बादलों से भी अधिक काले थे, और उन अंधकार-पूर्ण हाथियों को देखकर कुछ सूझ नहीं रहा था। (३) ऐसा लगता था मानो भादों की रात दृष्टि में आई हो। [वे ऊँचे इतने थे कि] उनकी पीठ आकाश से जा लगती

थी। (४) [ऐसे] सवालाख हाथी जब चले, वे पर्वत के समान चल पड़े और जगत् हिल गया। (५) वे सजे हुए हाथी मद से मत्त आ रहे थे, और जहाँ (जभी) उन्हें [अपने मद की] गंध मिलती, वे भागने लगते। (६) ऊपर [उनकी ऊँचाई से] समस्त आकाश गिरा पड़ रहा था, और [उनके भार से] नीचे धरती धसमस (ध्वस्ता) ग्रहण कर रही थी। (७) गज-प्रमुखों के चलने से भूचाल हो उठा; वे जहाँ पर पैर रखते थे, वहाँ पानी उभड़ आता था। (८) हाथियों के चलते ही जगत् काँप उठा, और शेष पाताल में [उनके भार से] दब गए, (९) और कूर्म, जो धरती को लिए हुए थे, उन गजों के भार से बैठ गए।

टिप्पणी--(१) सारि<शारि=युद्ध के लिए प्रयुक्त गज-पर्याण। (५) कलित-सज्जित। गयंद<गजेन्द्र=बड़ा हाथी। (६) खस् [दे०]=खिसकना, गिरना। (७) गानी<गणिन्=गण का नायक, प्रमुख। (९) कुरुँभ<कूर्म=कच्छप। हुत: मेरे 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'होत' था; डॉ० अग्रवाल ने 'हुत' का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव है, और इसलिए स्वीकार्य है।

चले सो उमरा मीर बखाने। का बरनौं जस उन्हके थाने।
खुरासान औ चला हरेऊ। गौर बंगाले रहा न केऊ।
रहा न रूम साम सुलतानू। कासमीर ठट्ठा मुलतानू।
जावँत बीदर तुरुक कि जाती। माँडौ वाले औ गुजराती।
पाटि ओडैसा के सब चले। लै गज हस्ति जहाँ लगि भले।
काँवरू कामता औ पँडुआई। देवगिरि लेत उदयगिरि आई।
चला सो परबत लेत कुमाऊँ। खसिया मगर जहाँ लगि नाऊँ।
हेम सेत औ गौर गाजना बंग तिलंग सब लेत।
सातौ दीप नवौ खँड जुरे आइ एक खेत ॥४६८॥

अर्थ—(१) प्रशंसित अमीर व उमरा चल पड़े; उनके स्थान जैसे-जैसे (जो जो) थे, उनका क्या वर्णन करूँ? (२) खुरासान और हिरात चल पड़ा, गौड़ बंगाल में कोई न रह गया। (३) रूम और शाम का सुल्तान भी न रहा [वह भी आया] न काश्मीर, ठट्टा और मुल्तान में कोई रहा। (४) बीदर में जितनी जातियाँ तुर्कों की थीं माँडू वाले और गुजरात के जो तुर्क थे पाटी (महानदी और गोदावरी के बीच का प्रदेश) तथा उड़ीसा के जो थे, वे सब [भूमि को] जहाँ तक भले (भद्र जाति के) गज और हस्ती प्राप्त हो सके उन्हें लेकर चले। (६) कामरूप, कामता और पंडुआ, देवगिरि को साथ लेते हुए उदैगिरि आ गई। (७) कुमाऊँ, खसिया, मगर आदि [पर्वतीय प्रदेशों के] नाम जहाँ तक ज्ञात हैं, वे पर्वतीय प्रदेश चल पड़े। (८) हेमपर्वत, श्वेत पर्वत्, और ग़ज़नी तथा वंग—तिलंग तक [आदि] समस्त [देशों] को लेते हुए [पृथ्वी के] सप्त द्वीप तथा नवखंड एक [युद्ध-] क्षेत्र में आ जुटे।

टिप्पणी--(२) हरेउ<हिरात। (३) ठट्ठा=थट्टा, मध्ययुग में सिंध का एक प्रांत। (४) बीदर=दक्षिण भारत का एक प्रदेश। माँडौ<मंडप=वर्त्तमान मांडू जो मालवा में है (५) पाटि<पट्टिका=महा नदी और गोदावरी के बीच की पट्टी। ओडैसा=

ओड़ देश, उड़ीसा। (६) काँवरू<कामरूप। कामता<पूर्व वंग का कूच बिहार प्रदेश। पँडुआ=मध्ययुग में पश्चिम वंग की राजधानी थी। देवगिरि=महाराष्ट्र का प्रसिद्ध राज्य। उदयगिरि=आंध्र अथवा दक्षिण कोसल का एक गढ़। (७) कुमाऊँ<कूर्माचल। खसिया =खस जाति के निवास का पर्वतीय प्रदेश। मगर=मगर जाति के निवास का पर्वतीय प्रदेश। (८) हेम=मेरु के पास का एक पर्वत। (दे० ४२६.९ की टिप्पणी) सेत=मेरु के पास का श्वेत पर्वत।

घनि सुलतान जेहिक संसारू। उहै कटक अस जोरै पारू।
सबै तुरुक सिरताज बखाने। तबल बाज औ बाँधे बाने।
लाखन्ह मीर बहादुर जंगी। जंत्र कमानैं तीर खदंगी।
जेबा खोलि राग सों मढ़े। लेजिम घालि इराकिन्ह चढ़े।
चमकैं पखरैं सार सँवारीं। दरपन चाहि अधिक उजियारीं।
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती। चली सो सैना भाँतिहि भाँती।
बेहर बेहर सब कै बोली। बिधि यह खानि कहाँ सौं खोली।
सात सात जोजन कर एक एक होइ पयान।
आगिल जहाँ पयान होइ पाछिल तहाँ मेलान ॥४६६॥

अर्थ—(१) वह सुल्तान (अलाउद्दीन) धन्य था, जिसका [वशवर्ती] संसार था, वही ऐसी सेना इकट्ठी कर सकता था। (२) तुर्कों के समस्त प्रशंसित सरताजों ने जैसे ही युद्ध का तबल बजा, बाने बाँध लिए। (३) इनमें युद्ध करने वाले लाखों वीर अमीर थे, जिनके साथ यंत्र परिचालित कमानें और खदंगी तीर थे। (४) वे जेबा (एक प्रकार का शरीर-त्राण), खोल (कुलाह) और राग (टाँगों का कवच) से मढ़े हुए थे; लेजिम (एक प्रकार का धनुष जिसमें सामान्य प्रत्यंचा के स्थान पर लोहे की प्रत्यंचा होती थी) डाल (रख) कर वे ईराकी घोड़ों पर सवार हुए। (५) उनकी पाखरें (अश्व कवचें) सार (फौलाद) से सँवारी हुई ऐसी चमकती थीं कि वे दर्पण से भी अधिक उज्ज्वल थीं। (६) वर्ण-वर्ण (रंग-रंग) की और पंक्तियों-पंक्तियों में वह भाँति-भाँति की सेना चल पड़ी। (७) सबकी बोलियाँ भिन्न भिन्न थीं। ऐ विधाता! तू ने [बोलियों की] यह खानि कहाँ खोल दी (उत्पन्न की)? (८) सात-सात योजन (अट्ठाईस कोस) का एक-एक प्रयाण (कूच) होता था और जहाँ अगला प्रयाण (कूच) आता था (प्रारंभ होता था), वहाँ पर पिछला मिलान (पड़ाव) होता था।

टिप्पणी—(२) तबल [तु०] = बड़ा ढोल, डंका। किताब आदाब-उल-हरब-अल शुजाअत के आधार पर शीरानी [पृथ्वीराज रासो पृ० ३५३] ने लिखा है, "कूच के वक्त तबल या बौक की पहली आवाज पर सवार को होशियार हो जाना चाहिए। दूसरी आवाज पर वह घोड़ा जीन करके और हथियार बाँध करके तैयार रहे और तीसरी आवाज पर सवार हो जाए। (३) जंत्र कमान=लोहे के वे धनुष जो चरखों की सहायता से चलाए जाते थे। खदंगी [फ़ा०]=वह एक प्रकार का लंबा तीर था, जो जंत्र कमान के साथ प्रयुक्त होता था (शीराजी—पृथ्वीराज रासो पृ० ३५६) 'जायसी-ग्रंथावली' संस्करण में मैंने 'खंडगी' पाठ दिया था, किन्तु जैसा डॉ० वासुदेव शरण जी का सुझाव है 'खदंगी' अधिक

संगत है। (४) जेबा=एक प्रकार का शरीर-त्राण (आईन-ए-अकबरी, जिल्द १, पृ० ११८)। खोल=कुलाह। राग=टाँगों का कवच। लेजिम : एक प्रकार का धनुष जिसमें लोहे की प्रत्यंचा होती थी। (५) पखर<पक्खर=अश्व-कवच। सार=फौलाद। (७) बेहर<विहडिअ<विघटित=विच्छिन्न।

डोले गढ़ गढ़पति सब काँपे। जीउ न पेट हाथ हिय चाँपे।
काँपा रनथँभउर डरि डोला। नरवर गएउ झुराइ न बोला।
जूनागढ़ औ चंपानेरी। कांपा माँडौ लेत चँदेरी।
गढ़ गवालियर परी मथानी। औ खंधार मठा होइ पानी।
कालिंजर महँ परा भगाना। भाजि अजैगिर रहा न थाना।
काँपा बाँधौ नर औ प्रानी। डर रोहितास बिजैगिरि मानी।
काँप उदैगिरि देवगिरि डरा। तब सो छिताई अब केहि धरा।
जावँत बढ़ गढ़पति सक काँपे औ डोले जस पात।
का कहँ बोलि सौंह भा पातसाहि कर छात ॥५००॥

अर्थ—(१) गढ़ डोल उठे, और गढ़पति काँप उठे; उनके पेटों में जीव नहीं रहा, और उन्होंने अपने हृदयों को हाथों से दबा लिया। (२) रणथंभौर काँप उठा और डरकर डोल गया; नखल सूख गया और [कुछ भी] न बोला। (३) जूनागढ़, चोपानेर और चंदेरी को लेते हुए (के साथ) मांडव गढ़ काँप उठा। (४) ग्वालियर गढ़ में जैसे मथानी पड़ गई, और उसका स्कंधावार मट्ठे का पानी होने लगा। (५) कालिंजल में भगदड़ पड़ गई; और अजयगिरि ऐसा भागा कि [वहाँ का] थाना ही न रहा। (६) बांधवगढ़ अपने निवासी नरों और प्राणियों के साथ काँप उठा, तथा रोहतासगढ़ और विजयगिरि ने भय माना। (७) उदयगिरि काँप उठा तथा देवगिरि डर गया; वे डरे कि तब (उस बार) तो यह छिताई को ले गया था, अब (इस बार) किसे लेगा। (८) जितने भी गढ़ और गढ़पति थे सब काँप उठे और पत्तों के समान डोल उठे। (९) [वे कहने लगे,] "बादशाह का छत्र किसको लक्ष्य कर उसके सम्मुख हो रहा है?"

टिप्पणी—(२-६) रनथँभउर (रणथंभौर), नखर(नखल), जूनागढ़, चंपानेरि, मांडव, चंदेरी ग्वालियर, कालिंजर, अजयगिरि (अजयगढ़), बांधवगढ़, रोहतास, विजयगिरि—ये मध्यभारत और राजस्थान के तत्कालीन प्रसिद्ध गढ़ थे। (७) उदयगिरि=आंध्र अथवा दक्षिण का सत्र (दक्षिण भारत) का एक गढ़। देवगिरि=महाराष्ट्र के यादवों का प्रसिद्ध गढ़, जहाँ की राजकन्या छिताई का अलाउद्दीन ने अपहरण किया था (दे० ४९२.१ की टिप्पणी) (८) पात<पत्त<पत्र=पत्ता। (९) छात <छत्त<छत्र।

चितउर गढ़ औ कुंभलनेरै। साजे दूनौ जैस सुमेर।
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा।
सुनि राजैं दौराई पाती। हिंदू नाँव जहाँ लगि जाती।
चितउर हिंदुन्ह कर अस्थानू। सतुरु तुरुक हठि कीन्ह पयानू।
आवा समुँद रहै नहिं बाँधा। मैं होइ मेंड़ भारु सिर काँधा।

पुरवहु आइ तुम्हार बड़ाई । नाहिं त सत को छाँड़ि पराई ।
जौ लगि मेंड़ रहै सुख साखा । टूटे बार जाइ नहिं राखा ।
सती जो जिय महँ सतु करै मरत न छाँड़ै साथ ।
जहँ बीरा तहँ चून है पान सुपारी काथ ॥५०१॥

अर्थ--(१) चित्तौरगढ़ और कुंभलनेर--दोनों इस प्रकार [युद्ध के लिए] सज्जित किए गए जैसे सुमेरु हों । (२) दूतों ने वहाँ आकर, जहाँ राजा (रत्नसेन) था, कहा, "तुर्क (अलाउद्दीन) दल साजकर आ रहा है ।" (३) राजा ने यह सुनकर वहाँ तक पत्रिकाएँ दौड़ाईं जहाँ तक हिन्दू नाम धारण करने वाली जाति थी । (४) [उसने लिखा,] "चित्तौर हिन्दुओं का स्थान है, [जिस पर] तुर्क शत्रु ने हठपूर्वक प्रयाण किया है । (५) वह समुद्र है जो आ रहा है ; इसे बाँधकर रोका नहीं जा सकता है, फिर भी मैंने मेंड़ बनकर इस [को रोकने] का भार अपने सिर पर उठा लिया है । (६) यदि तुम आकर [मेरे उस, मेंड़ बनने के संकल्प को] पूरा करते हो, तो तुम्हारा बड़प्पन है, नहीं तो सत को छोड़कर कौन पलायित होगा । (७) जब तक मेंड़ रहता है, सुख-शाखा रहती है, उसके टूटने पर द्वार की रक्षा नहीं हो सकती है । (८) सती यदि जी में सत कर लेती है तो वह [पति के] मरते समय भी उसका साथ नहीं छोड़ती है ; (९) जहाँ पर [पान का] बीड़ा होता है, वहाँ चूना, पान, सुपारी और कत्था होता है [तुम्हारे सहयोग से ही मैं जो कुछ हूँ सो हूँ]।"

टिप्पणी--(१) कुंभलनेर : चित्तौर के पास का एक गढ़, जहाँ के देवपाल राय से रत्नसेन का अन्तिम युद्ध इस रचना में आगे वर्णित हुआ है । (२) दर<दल=सैन्य । (३) पाती<पत्तिआ<पत्रिका । (४) पयान∠प्रयाण । (७) बार<वार<द्वार । (९) बीरा<बीडय<बीटक=सज्जित ताम्बूल । चून<चुण्ण<चूर्ण=चूना । पान< पण्ण<पर्ण । सुपारी<शूर्पारिका । काथ<क्वाथ (?)=कत्था ।

करत जो राय साहि कै सेवा । तिन्ह कहँ पुनि अस आउ परेवा ।
सब होइ एकहि मतें सिधारैं । पातसाहि कहँ आइ जोहारैं ।
चितउर है हिंदुन्ह कै माता । गाढ़ परे तजि जाइ न नाता ।
रतनसेनि है जौहर साजा । हिंदुन्ह माँह अहै बड़ राजा ।
हिंदुन्ह केर पतँग कर लेखा । दौरे परहिं आगि जहँ देखा ।
किरिपा करसि त करसि समीरा । नाहिं त हमहिं देहि हँसि बीरा ।
हम पुनि जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ । मेटि न जाइ लाज कर नाऊँ ।
दीन्ह साहि हँसि बीरा आवहिं तीन दिन बीच ।
तिन्ह सीतल को राखे जिन्हैं आगि महँ मीच ॥५०२॥

अर्थ--(१) पुनः, जो राजे बादशाह की सेवा करते थे, उनके लिए भी इस प्रकार का संदेश आया । (२) वे सब एकमत होकर चल पड़े और उन्होंने आकर बादशाह को जुहार की । (३) [उन्होंने कहा,] "चित्तौर हिन्दुओं की माता है; और माता पर विपत्ति पड़ने पर उसका नाता छोड़ा नहीं जाता है । (४) रत्नसेन ने जौहर का साज किया है, और वह हिन्दुओं में एक बड़ा राजा है । (५) हिन्दुओं का पतिंगे का हिसाब

है ; वे जहाँ पर भी आग देखते हैं, दौड़कर उसमें गिरते हैं। (६) यदि तू [चित्तौरपति पर] कृपा करता है तो समीर (शीतल उपचार) करता है, अन्यथा हमें भी हँसकर (प्रसन्नतापूर्वक) बीड़ा दे, (७) जिससे कि हम भी जाकर उस स्थान पर मरें; लज्जा का नाम नहीं मिटाया जाता है।" (८) बादशाह ने उन्हें हँसकर (प्रसन्नतापूर्वक) बीड़ा दिया और कहा, "तीन दिनों के भीतर आ जाओ। (९) उन्हें कौन शीतल रख सकता है जिन्हें [पतिंगों की भाँति] आग में मृत्यु लिखी है ?"

टिप्पणी--(१) परेवा<पारेवय<पारावत = कबूतर, सन्देश-वाहक। मध्ययुग में संदेश भेजने के लिए कबूतरों का उपयोग किया जाता था इसी से संदेश-वाहकों को पारावत कहा गया। (५) पतंग=पतिंगा। (६) समीर=एक सुगंधित पदार्थ (पौदा) जिसका एक परिमल बनता था (दे० २९०.६)। बीरा<बीडय<बीटक=सज्जित ताम्बूल। (९) मीच<मृत्यु।

रतनसेनि चितउर महँ साजा। आइ बजाइ पैठ सब राजा।
तोंवर बैस पवाँर जो आए। औ गहिलौत आइ सिर नाए।
खत्री औ पँचबान बघेले। अगरवार चौहान चँदेले।
गहरवार परिहार सो कुरी। मिलन हंस ठकुराई जुरी।
आगे ठाढ़ बजावहिं हाड़ी। पाछें धजा मरन कै काढ़ी।
बाजहिं सींग संख औ तूरा। चंदन घेवरें भरें सेंदूरा।
सँचि संग्राम बाँधि सत साका। तजि कै जिवन मरन सब ताका।
गँगन धरति जेइँ टेका का तेहि गरुअ पहार।
जब लगि जीव कया महँ परै सो अँगवै भार ॥५०३॥

अर्थ--(१) रत्नसेन ने चित्तौर में सज्जा (तैयारी) की, तो सभी [हिन्दू] राजे चित्तौर में वाद्यादि के साथ आ प्रविष्ट हुए। (२) तोमर, बैस, पँवार जो थे, वे आए, और गहलोतों ने आकर सिर झुकाया। खत्री, पंचबान, बघेल, अग्रवाल, चौहान, चंदेल, (४) गाहरवार, परिहार जैसे कुलीनों और मल्हनंस की ठकुराई (ठाकुरों-क्षत्रियों की जाति) आ जुटी। (५) आगे-आगे वे खड़े हुए हाड़ी बजा रहे थे, और पीछे मरने की ध्वजा निकाले हुए थे। (६) सिंगे, शंख और तूर्य बज रहे थे, और वे चंदन का लेप लगाए हुए तथा सिन्दूर भरे हुए थे। (७) संग्राम का संचयकर और सत का साका बाँधकर जीवन [के मोह] का त्यागकर सबने मरने का निश्चय कर लिया था। (८) जिसने आकाश और धरती को टेक रक्खा हो, उसके लिए पर्वत क्या भारी होगा ? (९) जब तक काया में जीव रहता है, जो भी भार उस पर आ पड़ता है, उसे वह अंगीकार (शरीर पर धारण) करता है।

टिप्पणी--(४) मल्ह नंस : जाति-विशेष। इस जाति के राजपूतों का उल्लेख 'पृथ्वीराज रासो' में भी हुआ है ('पृथ्वीराज रासो' ८. भुजं० १) (५) ठाढ़<ठड्ढ <स्तब्ध=चुपचाप, खड़ा। हाडी<हड्ड<अस्थि। धजा<ध्वजा। मरण-ध्वजा : वह ध्वजा जिसकी रक्षा प्राण देकर भी करना धर्म समझा जाता था। (दे० ५१५.३)। (६) घेवर=लेप करना। (७) साका<शाक=शत्रु से पराजित होने की संभावना देखकर

सामूहिक रूप से लड़ मरना। यह प्रथा संभवतः शकों से आई इसलिए इसका यह नाम पड़ा। ताक्<तक्क्<तर्कय् = विचार करना, निश्चय करना।

गढ़ तस सँचा जो चाहिअ सोई। बरिस बीस लहि खाँग न होई।
बाँकै चाहि बाँक सुठि कीन्हा। औ सब कोट चित्र कै लीन्हा।
खंड खंड चौखंडी सँवारीं। धरीं बिखम गोलन्ह की नारीं।
ठाँवहि ठाँव लीन्ह गढ़ बाँटी। बीच न रहा जो सँचरै चाँटी।
बैठे धानुक कँगुरहि कँगुरा। पुहुमि न आँटी अँगुरहि अँगुरा।
औ बाँधे गढ़ि गढ़ि मँतवारे। फाटै धरति होहिं जिवधारे।
बिच बिच बुरुज बने चहुँ फेरी। बाजैं तबल ढोल औ भेरी।
भा गढ़ गरजि सुमेरु जेंउ सरग छुवै पै चाह।
समुँद न लेखैं लावै गाँग सहस मकु बाह ॥५०४॥

अर्थ--(१) [चित्तौर] गढ़ में इस प्रकार [समस्त आवश्यक पदार्थों का] संचय किया गया कि जो चाहिए (जिस पदार्थ की आवश्यकता पड़े) वही [उपस्थित] हो, और [यदि युद्ध चलता रहे तो] बीस वर्षों तक वह कम न पड़े। (२) गढ़ पहले से ही बाँका था, उसे और भी अधिक बाँका किया गया और समस्त कोट (परकोटे) को चित्र [की भाँति सुनिर्मित] कर लिया गया। (३) उसके एक-एक खंड में चौखंडियाँ सँवारी गईं और उन पर गोला बरसाने वाली विषम नारियों (तोपों) की मालिकाएँ (पंक्तियाँ) रक्खी गईं। (४) गढ़ को भी [सुरक्षा के लिए] स्थान-स्थान पर बाँट लिया गया और इतनी भी भूमि शेष न रही कि चींटी चल सकती। (५) प्रत्येक कँगूरे पर धानुष्क बैठ (बैठाए गए) इस प्रकार [धानुष्कों के हिस्से में] अंगुल-अंगुल तक भूमि न अँटी (पूरी पड़ी)। (६) पुनः गढ़-गढ़ कर मतवाले बाँधे (बनाए) गए, जो जब सजीव होते थे, धरती फट जाती थी। (७) बीच-बीच में चारों ओर बुर्ज बने, और तबल, ढोल और भेरियाँ बजने लगे। (८) वह गढ़ गर्जन करता हुआ सुमेरु जैसा हो गया और हो न हो आकाश को छूने की कामना करने लगा। (९) वह शत्रु-सेना के लिए उसी प्रकार का हो गया] जैसे समुद्र हो, जो भले ही [उसकी ओर] सहस्र गंगाएँ प्रवाहित हों, उनका लेखा न करता हो।

टिप्पणी--(१) खाँग् = कम पड़ना, पूरा न पड़ना। (२) बाँक<बंक<वक्र। (३) नारी<नलिका = तोप। (जायसी के समय की तोपों के लिए दे० 'आईन-ए-अकबरी' जिल्द १, पृ० ११९) मारी<मालिका। (५) धानुक<धानुष्क = धनुर्विद्या में पटु धनर्धर। (६) मतवारा<तोपों में प्रयुक्त बारूद का गोला। (७) तबल [तु०] = बड़ा ढोल, डंका। (९) बाह्<वह् = प्रवाहित होना।

पातसाहि हठि कीन्ह पयाना। इंद्र फनिंद्र डोलि डर माना।
नबे लाख असवार सो चढ़ा। जो देखिअ सो लोहें मढ़ा।
चढहिं पहारन्ह भै गढ़ लागू। बनखँड खोह न देखहिं आगू।
बीस सहस धुम्मरहिं निसाना। गल गाजहिं बिहरै असमाना।
बैरख ढाल गँगन गा छाई। चला कटक धरती न समाई।

सहस पाँति गज हस्ति चलावा । खसत अकास धँसत भुइँ आवा ।
बिरिख उपारि पेंडि सौं लेहीं । मस्तिक झारि डारि मुँह देहीं ।
कोउ काहू न सँभारै होत आव तस चाँप ।
धरति आपु कहँ काँपै सरग आपु कहँ काँप ॥५०५॥

अर्थ—(१) बादशाह ने जब हठपूर्वक प्रयाण किया, तब इन्द्र और फणीन्द्र (शेष) हिल गए और वे डर गए । (२) ऐसे नवे लाख सवारों ने चढ़ाई की कि जिनमें से जिसे देखिए वही लोहे के शरीर-त्राणों से मढ़ा हुआ था । (३) वे पहाड़ों पर इस प्रकार चढ़ते थे जैसे किसी गढ़ को घेर [कर उस पर चढ़] रहे हों, वे आगे आने वाले बनखंड और खोहों को नहीं देखते थे । (४) बीस सहस्र धौंसे घुमड़ रहे (शब्द कर रहे) थे, और इस प्रकार गल गर्जन कर रहे थे कि मानो आकाश फट रहा हो । (५) पताकाओं और ढालों से आकाश आच्छादित हो उठा । इतना विशाल कटक चला कि धरती में नहीं समा रहा था । (६) हाथियों की जो सहस्र पंक्तियाँ चलाई गईं, उनसे आकाश गिरा पड़ रहा था और भूमि दबती आ रही थी । (७) वे हाथी वृक्षों को पींड के साथ (जड़ से) उखाड़ लेते थे और उनसे अपने मस्तक झाड़कर उन्हें अपने मुख में डाल देते थे । (८) कोई किसी को नहीं सँभाल रहा था, इस प्रकार का दबाव होता आ रहा था ।(९) धरती अपने लिए कंपित हो रही थी और आकाश अपने लिए कंपित हो रहा था ।

टिप्पणी—(१) पयान<प्रयाण=कूच । (४) गलगाज्<गलगर्ज् =गड़गड़ाना । बिहर<विहड्<विघट्= फटना ।(५) बैरख्<बैरक़ [तु०]=झंडा, पताका । (६) खस् [दे०]=खसकना, गिरना । (७) पेंडी<पिण्ड=तने का वह नीचे का भाग जो भूमि के भीतर रहता है । (९) सरग<स्वर्ग=आकाश ।

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला । आवहिं चलीं धरति सब डोला ।
लागे चक्र बज्र के गढ़े । झमकहिं रथ सब सोने मढ़े ।
तिन्ह पर बिखम कमानैं धरीं । गाजहिं अस्ट धातु की भरीं ।
सौ सौ मन पीअहिं वै दारू । हेरहिं जहाँ सो टूट पहारू ।
माँती रहहिं रथन्ह पर परी । सतुरुन्ह कहँ सो होहिं उठि खरी ।
लागहिं जौं संसार न डोलहिं । होइ भौकंप जीभ जौं खोलहिं ।
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती । खाँचहिं रथ डोलहिं नहिं माँती ।
नदी नगर सब पानी जहाँ धरहिं वै पाउ ।
ऊँच खाल बन बेहड़ होत बराबरि आउ ॥५०६॥

अर्थ—(१) [सेना के साथ] कमानें (तोपें) चलीं जिनके मुहों में गोले थे ; वे इस प्रकार चली आ रही थीं कि समस्त धरती हिल रही थी । (२) [उन के रथों में] चक्के ऐसे लगे थे जो वज्र (फ़ौलाद) के गढ़े हुए थे, और उनके समस्त रथ सोने से मढ़े हुए होने के कारण झमक (चमचमा) रहे थे । (३) उन [रथों] पर वे विषम कमानें (तोपें) रक्खी हुई थीं, जो अष्टधातु [के गोलों] से भरी हुई होने पर गर्जन करती थीं । (४) वे सौ-सौ मन बारूद पीती (लेती) थीं और जहाँ (जिधर) देखती

(गोले बरसाती) थीं, वहाँ (उधर) पर्वत भी टूट जाते थे। (५) वे मत्त हुई रथों पर पड़ी रहती थीं, और शत्रुओं के लिए (उनके विरुद्ध) वे उठ खड़ी होती थीं। (६) यदि संसार भी उनके विरुद्ध लग जाए, वे हटने वाली नहीं थीं, और जब वे जिह्वा खोलती थीं, भूकंप हो उठता था। (७) हज़ार-हज़ार हाथियों की पंक्तियाँ उनके रथों को खींचती थीं, किन्तु वे मत्त कमानें हिलती नहीं थीं। (८) जहाँ पर भी वे पैर रखती थीं, नदी-नाले पानी-पानी हो जाते थे; (९) ऊँची-नीची भूमि वन और बीहड़ सभी बराबर (समतल) होते आते थे।

टिप्पणी--(१) कमान [फ़ा०] = तोप। (३) अस्टधातु : गोले अष्ट धातु के बनते थे : अस्ट धातु के गोला छूटहिं (५२५.५)। (४) दारू [फ़ा०] = बारूद। (५) मांत <मत्त। (६) भौकंप <भूकम्प। जीभ <जिह्वा। (८) पाउ <पाद। (९) बेहड़ <विहडिय <विघटित = बस्ती से अलग का प्रान्त।

कहौं सिंगार सों जैसी नारी। दारू पिअहिं सहज मँतवारी।
उठै आगि जौं छाँड़हिं स्वाँसा। तेहिं डर कोउ रहै नहिं पासा।
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन झमकत जाहीं।
कुच गोला दुइ हिरदैं लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए।
रसना गूँगि रहहिं मुख खोले। लंका जरी सों उन्हके बोले।
अलक जँजीर फेरि गियँ बाँधे। खाँचहिं हस्ती टूटहिं काँधे।
बीर सिंगार दुवौ एक ठाऊँ। सतुरु साल गढ़ भंजन नाऊँ।
तिलक पलीता तुपक तन दुहुँ दिसि बज्र के बान।
जहँ हेरहिं तहँ परै भगाना हँसहिं त केहि के मान ॥५०७॥

अर्थ--(१) वे जैसी नारियाँ (नलिकाएँ--तोपें तथा नारियाँ--स्त्रियाँ) थीं, उनका श्रृंगार मैं वर्णन कर रहा हूँ। वे दारू (बारूद और मदिरा) पीतीं और स्वभाव से ही मतवारी (मतवालों--गोलोंवाली और मत्त) रहती थीं। (२) वे साँस छोड़तीं तो आग उठती, इसलिए कोई उनके पास नहीं रहता था। (३) उनके सिर के ऊपर जो आग लगाई जाती थी, वही उनके सिर का सिंदूर था, उनके पहिये जो थे वे ही उन नारियों के ताटंक थे जो झमकते (चमचमाते) जा रहे थे। (४) उनके हृदय से लगे हुए दो गोले थे जो उनके दोनों कुच थे, और उनकी जो ध्वजा थी वही उनका अंचल था जिसे छिटकाए (हटाए) रखती थीं। (५) वे रसना से गूँगी (हीन) थीं और मुख खोले रहती थीं। किन्तु उनके बोलने से लंका जल गई थी। (६) उनकी जो जंजीरें थीं, वे ही उन नारियों की अलकें थीं, जिन्हें उन्होंने अपनी ग्रीवा में लपेटकर बाँध रक्खा था। जो हाथी उन्हें खींचते थे, उनके कंधे टूटते थे। (७) [इस प्रकार] वीर और श्रृंगार दोनों रस इन नारियों में इकट्ठा थे, और इनके नाम 'शत्रुसाल' तथा 'गढ़भंजन' थे। (८) इन तुपकों के तन में लगा हुआ पलीता इन नारियों का तिलक था, और ये दोनों ओर वज्र के वर्ण से (वज्र के सदृश) (९) जहाँ भी देखती थीं, वहाँ भगदड़ पड़ जाती थी, और यदि हँसतीं (गोले बरसातीं) तो किसके वश की थीं?

टिप्पणी--(१) नारी <नलिका = तोप। इन तोपों के प्रसंग में 'आईन-ए-अकबरी'

(जिल्द १, पृ० ११९) में दिए हुए विवरण तुलनीय हैं। अबुलफ़ज़्ल ने लिखा है "आज कल बहुत-सी तोपें इतनी बड़ी बनाई जाती हैं कि उनके गोले १२-१२ मन के होते हैं और उनमें से एक-एक को खींचने के लिए अनेक हाथी और एक हज़ार तक जानवर चाहिएँ।" दारू [फ़ा०]=मदिरा, बारूद। (३) तरिवन<तालपर्ण=एक प्रकार का कर्णाभरण। (४) धजा<ध्वज।=झंडा, पताका। (६) गिव<ग्रीवा=गर्दन। (७) सतुरुसाल<शत्रु-शल्य=शत्रु को कष्ट पहुँचाने वाली। गढ़ भंजन=गढ़ को तोड़ने वाली। 'गढ़भंजन' नाम की एक तोप का उल्लेख मुगल इतिहास में भी मिलता है (इरविन : आर्मी आव् दि इंडियन मुगल्स, पृ० ११८) (८) बान<वण्ण=वर्ण।

जेहि जेहि पंथ चली वै आवहिं। आवै जरत आगि तसि लावहिं।
जरहिं सो परबत लागि अकासा। बन खँड ढंख परास को पासा।
गैंड गयंद जरे भए कारे। औ बन मिरिग रोझ झौंकारे।
कोकिल काग नाग औ भँवरा। औरु जो जरहिं तिन्हैं को सँवरा।
जरा समुंद्र पानि भा खारा। जमुना स्याम भई तेहिं झारा।
धुआँ जामि अँतरिख भै मेघा। गँगन श्यामु भै भार न थेघा।
सूरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी लंक भा डाहू।
धरती सरग असूझ भा तबहुँ न आगि बुझाइ।
अहुठौ बज्र दंगवै मारा चहैं जुझाइ ॥५०८॥

अर्थ—(१) वे जिस-जिस मार्ग से चली आ रही थीं, वह-वह [मार्ग] जलता आ रहा था, ऐसी आग वे लगाती थीं। (२) जब आकाश तक उठते हुए पर्वत जल जाते थे, तब बनखंड और ढाक-पलाश कौन उस आग के पास टिक सकता था? (३) गैंडे और गजेन्द्र उससे जलकर काले हो गए और वन के मृग तथा नीलगाय उसकी लपक से झुलस [कर काले पड़] गये। (४) कोकिल, कौए, नाग और भौंरे [जलकर काले हो गए, और जो जल गए उन्हें कौन स्मरण कर सकता है? (५) समुद्र जल गया, इसीलिए उसका पानी खारा हो गया, और यमुना उसकी झार (आँच) से श्याम वर्ण की हो गई। (६) उसका धुआँ जो अंतरिक्ष में जम गया, मेघ हो गया। आकाश श्याम वर्ण का हो गया जब वह [उन मेघों के] भार को टेक न सका। (७) सूर्य, चन्द्र और राहु जल गए। धरती जल गई और लंका-दाह हो गया। (८) धरती और आकाश नहीं सूझ पड़ते थे, तब भी वह आग बुझ नहीं रही थी। (९) ऐसा ज्ञात होता था कि मानो साढ़े तीनों वज्र दंगवै को युद्ध में लिप्त कर मारना चाहते हों।

टिप्पणी—(२) ढंख<ढंखर [दे०]=पत्र-फल-हीन डाल। पलाश का वृक्ष जो वसंत के पूर्व पतझड़ में पत्र-फल-हीन होता है। परास<पलाश। (५) झार<ज्वाला। (६) अँतरिख<अन्तरिक्ष। थेघ्=टेकना। (९) अहुठ<अर्ध चतुर्थ। अध्युष्ठ=साढ़े तीन। दंगवै<दंगपति [दंग=महानगर]। मेरी 'जायसी-ग्रंथावली' में पाठ 'दिनकोई' था, जिसके स्थान पर डॉ० अग्रवाल ने 'दंगवै' का सुझाव दिया है जो अवश्य ही अधिक संगत है, इसलिए स्वीकार्य है। यद्यपि उनका किया गया अर्थ स्वीकार्य नहीं है। अहुठौ बज्रदंगवै : जुझाइ : इसमें एक लोक कथा की ओर संकेत है जिसके लिए दे० १९६.८ की

टिप्पणी तथा 'पद्मावत में दंगवै और भीम' शीर्षक मेरा लेख 'हिंदी अनुशीलन', भाग ११, अंक १, पृ० १२।

आवै डोलत सरग पतारू। काँपै धरति न अँगवै भारू।
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ होइ चूर उड़हि होइ छारा।
सत खँड धरति भई खट खंडा। ऊपर अस्ट भए बम्हंडा।
इंद्र आइ तेहि खँड होइ छावा। औ सब कटक घोर दौरावा।
जेहि पँथ चला एरापति हाथी। अबहुँ सो डगर गँगन महँ आथी।
औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहुँ बसी सो हरिचँद पूरी।
गँगन छपान खेह तसि छाई। सूरुज छपा रैनि होइ आई।
इसिकंदर कजली बन गवने अस होइ गा अँधियार।
हाथ पसार न सूझै बरै लागु मसियार ॥५०६॥

अर्थ—(१) [इस सेना के चलने से] आकाश और पाताल हिलते आ रहे थे, धरती काँप रही थी और [सेना के] भार को अंगों पर नहीं धारण कर पा रही थी। (२) पर्वत तथा सुमेरु पहाड़ टूट रहे थे, तथा चूर हो-हो कर क्षार बनकर उड़ रहे थे। (३) सात खंड की धरती छः खंड की हो गई थी [क्योंकि उसका एक खंड धूल के रूप में ब्रह्मांड तक पहुँच गया था] और [इसलिए] ऊपर ब्रह्मांड आठ [खंडों का] हो गया था। (४) इन्द्र इसी [आठवें] खंड में आकर उसे आच्छादित कर रहा था, और उसकी समस्त सेना [उस खंड में] घोड़े दौड़ा रही थी। (५) जिस मार्ग से [उस खंड में] इंद्र का ऐरापति हाथी चल रहा था, वह मार्ग अब भी आकाश में बना हुआ है। (६) और जहाँ पर वह धूल जम रही, अब भी [वहाँ] हरिश्चन्द्र पुरी बसी हुई है। (७) धूल इस प्रकार छा गई कि आकाश छिप गया, सूर्य छिप गया और रजनी हो आई। (८) जैसा अंधकार सिकंदर को कजलीवन में जाने पर मिला था, उस प्रकार का [गहन] अंधकार हो गया। (९) हाथ का पसारा नहीं सूझ रहा था, इसलिए मशाल जलने लगे (जलाये जाने लगे)।

टिप्पणी—(१) सरग<स्वर्ग=आकाश। पतार<पाताल। (२) छार<क्षार=राख। (५) डगर=[पैदल चलने का] मार्ग। आथ्<अस्=होना। (८) कजली बन<कज्जली तीर्थ। (८) इसकंदर कजली बन गवने: [दे० ४९३.२]। (९) मसि आर<मशअल [अ०]=मशाल।

दिनहिं राति असि परी अचाका। भा रवि अस्त चंद रथ हाँका।
दिन के पंखि चरत उठि भागे। निसि के निसरि चरैं सब लागे।
मँदिलन्ह दीप जगत परगसे। पंथिक चलत बसेरैं बसे।
कवँल सँकेता कुमुदिनि फूली। चकई बिछुरि अचक मन भूली।
तैस चलावा कटक अपूरी। अगिलहि पानी पछिलहि धूरी।
महि उजरी सायर सब सूखा। बनखँड रहा न एको रूखा।
गिरि पहार पब्बै भे माँटी। हस्ति हेरान तहाँ को चाँटी।
जिन्ह जिन्ह के घर खेह हेराने हेरत फिरहिं ते खेह।
अब तौ दिस्टि तबहि पै आवहिं उपजहिं नए उरेह ॥५१०॥

अर्थ—(१) दिन ही में अचानक रात्रि ऐसी पड़ गई कि सूर्य अस्त हो गया। और चंद्र [आकाश में] रथ हाँकने लगा। (२) दिन के पक्षी चरना (चुगना) छोड़कर [बसेरा लेने को] उठ भागे, और रात्रि के समस्त पक्षी निकलकर चरने (चुगने) लगे। (३) जगत् में मंदिरों (भवनों) में प्रकाशित हो गए और पथिकों ने चलते हुए बसेरा ले लिया। (४) कमल संकुचित हो गया, कुमुदिनी फूल उठी, चकवी चकवे से अलग होने के कारण चकित होकर मन में भूल गई। (५) कटक आपूरित करके इस प्रकार चलाया गया कि जहाँ अग्रभाग को पानी मिला वहाँ पिछले भाग को धूल मिली। (६) धरती उजड़ गई, समस्त सागर सूख गये, वनखंड में एक भी वृक्ष न रहा। (७) गिरि, पहाड़ और पर्वत मिट्टी हो गए, और हाथी गुम हो गए, वहाँ चीटियाँ किस गिनती में रहतीं। (८) जिन-जिन के घर उस धूल में गुम हो गए वे उस धूल में उन्हें खोजते फिरते थे। (९) अब तो वे तभी दृष्टि में आ सकते थे जब नए निर्माण के फलस्वरूप उत्पन्न होते।

टिप्पणी—(२) निसर<णिस्सर<निद्+सृ=बाहर निकलना। (४) भूल्<भुल्ल्<भ्रंश्=स्मृति खोना। (५) अवूर<आपूरय्=आपूरित करना। अगिल=अग्रभाग। पछिल=पश्च भाग। (६) साएर<सागर। रूख<रुक्ख<वृक्ष। (७) पब्बै<पव्वय<पर्वत। (९) उरेह<उल्लेह<उल्लेख=रेखा-चित्र। इस छंद में पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का जो वर्णन किया गया है, वह सूर्य ग्रहण के समय की उनकी चेष्टाओं से तुलनीय है (यथा: देखिए जून १९५५ के सूर्य ग्रहण के विवरण, जो पत्रों में प्रकाशित हुए थे)।

एहि बिधि होत पयान सो आवा। आइ साहि चितउर नियरावा।
राजा राउ देख सब चढ़ा। आउ कटक सब लोहैं मढ़ा।
चहुँ दिसि दिस्टि परी गज जूहा। स्याम घटा मेघन्ह जग रूहा।
अरध उरध कछु सूझ न आना। खरग लौक घुम्मरहिं निसाना।
बैरख ढाल गँगन भै छाहाँ। रैनि होत आवै दिन माहाँ।
चढ़ि धौराहर देखहिं रानी। धनि तूँ असि जाकर सुलतानी।
कै धनि रतनसेनि तूँ राजा। जाकहँ बोलि कटक अस साजा।
अंध कूप भा आवै उड़त आव तसि छार।
ताल तलाव अपूरि गढ़ धूरि भरी जेवँनार ॥५११॥

अर्थ—(१) इस प्रकार वह प्रयाण होता आया, और बादशाह आकर चित्तौर के निकट पहुँच गया। (२) राजा (रत्नसेन) और रावों सबने [गढ़ पर] चढ़कर देखा कि समस्त कटक जो कि लोहे [के कवच] से मढा (मंडित) था, आ रहा था। (३) चारों ओर गज-यूथ इस प्रकार दृष्टि पड़ा, जैसे श्याम घटा के मेघों ने जगत् को रुद्ध कर लिया हो। (४) नीचे और ऊपर कुछ अन्य सूझ नहीं रहा था, केवल यही ज्ञान हो रहा था कि तलवारें [उस अंधकार में] चमक रही हैं और धौंसे घुमड़ रहे हैं। (५) झंडों और ढालों से आकाश में भी छाया हो गई थी, और दिन में ही रात होती आ रही थी। (६) धवल गृहों (ऊँचे राज प्रासादों) पर चढ़कर रानियाँ देख रही थीं, [और कह रही थीं,] "अलाउद्दीन, तू धन्य है, जिसका ऐसा सुल्तानी वैभव है। (७) अथवा

राजा रत्नसेन, तू धन्य है, जिसको लक्ष्य करके इस प्रकार का कटक साजा गया है।" (८) ऐसी धूल उड़ती आ रही थी कि अन्धकूप [के जैसा अंधकार] होता आ रहा था। (९) वह धूल ताल-तालाबों को आपूरित कर ज्यौनार में भर गई।

टिप्पणी—(१) पयान<प्रयाण=कूच। (२) जह<यूथ=झुंड, समूह। (३) रुह<रुध्=रोकना। (४) अरध<अधस्=नीचे। उरध<ऊर्ध्व=ऊपर। (५) बैरख< बैरक़ [तु०]=झंडा, पताका। रैनि<रयणी<रजनी। (६) धौराहर<धवलगृह= प्रासाद। (८) छार<क्षार=राख, धूल। (९) तलाब<तडाग=सरोवर। अपूर्< आपूरय्=आपूरित करना, भरना। जेवनार<जीवनवारि=रसोई। इस छंद में जो वर्णन हुआ है वह सूर्य ग्रहण के वर्णनों से तुलनीय है (दे० जून १९५५ के सूर्य ग्रहण के विषय का विवरण)।

राजें कहा कीन्ह जस करना। भएउ असूझ सूझ जस मरना।
जहँ लगि राज साज सब होंऊ। तेतखन भएउ सँजोउ सँजोऊ।
बाजे तबल अकूत जुझाऊ। चढ़ा कोपि सब राजा राऊ।
राग सनाहा पहुँची टोपा। लोहैं सारि पहिरि सब कोपा।
करहिं तोखार पवन सों रीसा। कंध ऊँच असवार न दीसा।
का बरनौं जस ऊँच तोखारा। दुइ पैरीं पहुँचै असवारा।
बाँधे मौर छाँह सिर सारहिं। भाँजहिं पूँछि चँवर जनु ढारहिं।
टैआ चँवर बनाए औ घाले गज झाँप।
औ गजगाह सेत तिन्ह बाँधे जो देखै सो काँप ॥५१२॥

अर्थ—(१) राजा ने कहा, "जैसा करणीय था वह मैंने किया ; अब [सभी कुछ] असूझ हो रहा है। केवल मरण सूझ रहा है। (२) [फलतः] जहाँ तक राज्य हो, सब सज जाए।" [तदनुसार] ऐसा तत्क्षण [निश्चय] हुआ कि संयोजन किया जाए। (३) तबल और युद्ध के वाद्य अपरिमेय रूप में बजने लगे और समस्त राजे और राव कुपित होकर युद्ध के लिए चढ़ चले। (४) राग, सन्नाह, पहुँची और टोप [आदि] फौलादी लोहे के कवच पहनकर सब कुपित हो उठे। (५) उनके घोड़े हवा से समानता कर रहे थे। उनके कंधे इतने ऊँचे उठ रहे थे कि उनके सवार नहीं दीख रहे थे। (६) वे घोड़े जैसे ऊँचे थे, उसका क्या वर्णन करूँ ? दुहरी पैरी पर पैर देकर सवार [उनकी पीठों पर] पहुँच पाते थे। (७) [लोहे के] मौर बाँधे हुए [सूर्य-ताप से बचने के लिए] वे सिरको छाया [बार-बार] में ले जा रहे थे, और अपने पूँछ इस प्रकार भाँज रहे थे मानो चामर ढाल रहे हों। वे टैया और चामर बनाए (लगाए) हुए तथा गज-झाँप डाले हुए थे, (९) और वे श्वेत गजगाह बाँधे हुए थे ; [फलतः] उन्हें जो देखता था, काँप उठता था।

टिप्पणी—(२) तेतखन<तत्क्षण। संजोअ्<सं+योजय्=संयुक्त करना, संबद्ध करना, इकट्ठा करना। (३) तबल [तु०]=बड़ा ढोल, डंका। अकूत<अ+कुत्त [दे०] = जिसका परिमाण निश्चित न हो, (४) राग=टाँगों का कवच। सनाह<सन्नाह =शरीर-त्राण। पहुँची=बाहों का कुहनी के नीचे के भाग का कवच। टोप=कुलाह।

सार=फ़ौलाद। (५) तोखार=तुख़ारिस्तान का घोड़ा, घोड़ा। (६) पैरी=पायदान। (७) मौर< मउड<मुकुट=शिर का साज। सार्<सारय्=प्रेरणा करना, सरकाना, खिसकाना, एक स्थान से अन्य स्थान को ले जाना। भाँज<भञ्ज्=[मुद्गर की भाँति] हिलाना। (८-९) टँआ=गले की पट्टी [हाथी की टँआ के विषय में दे० 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० १३६] गजझाँप=एक झूल जो पाखर के ऊपर ओढ़ाई जाती है [हाथी की गजझाँप के विषय में दे० 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० १३६] गजगाह =गले से पैर तक लटकती हुई एक झालर।

राज तुरंगम बरनौं काहा। आने छोरि इंद्र रथबाहा।
अैस तुरंगम परे न डीठी। धनि असवार रहहिं तिन्ह पीठी।
जाति बालका समंद न भाए। माँथे पूँछि गँगन सिर लाए।
बरन बरन पखरे अति लोने। सार सँवारि लिखे सब सोने।
मानिक जरे सिरी औ काँधे। चँवर मेलि चौरासी बाँधे।
लागे रतन पदारथ हीरा। पहिरन देहिं देहिं तिन्ह बीरा।
चढ़े कुवँर मन करहिं उछाहू। आगें घालि गनहिं नहिं काहू।
सेंदुर सीस चढ़ाएँ चंदन घेवरें देह।
सो तन काह लगाइअ अंत भरै जो खेह ॥५१३॥

अर्थ--(१) राजा (रत्नसेन) के तुरंगों (घोड़ों) का मैं क्या वर्णन करूँ? वे तो [मानो] इन्द्र के रथवाह थे, जो [इन्द्र-रथ से] खोलकर लाए हुए थे। (२) ऐसे घोड़े कभी दृष्टि में नहीं पड़े हैं; वे सवार धन्य थे जो उनकी पीठों पर [चढ़े] रहते थे। (३) [उनके सामने] बालका जाति के समंद (घोड़े) नहीं भरते थे। वे अपनी पूँछ मस्तक पर तथा सिर आकाश पर लगाए हुए थे। (४) वे वर्ण-वर्ण के पाखरों से अति लावण्यपूर्ण ढंग से पाखरे हुए कवच से (सज्जित) थे; उन पाखरों में जो सार (फ़ौलाद) लगा हुआ था, वह समस्त सँवारा जाकर सोने से पचित था। (५) उनकी सिरी और उनके कंधे माणिक्य-जटित थे, और वे (चौंरी) चामर [की डोरी] में डाली हुई चौरासी बाँधे हुए थे। (६) रत्न, पदार्थ (बहुमूल्य पत्थर) और हीरे लगे हुए परिधान [उन पर चढ़े हुए कुमारों को] दिए जा रहे थे, और उन्हें [युद्ध के लिए] बीड़े दिए जा रहे थे। (७) उन पर चढ़ते हुए कुमार मन में उत्साह कर रहे थे और अपने आगे किसी को घलुवे के बराबर भी नहीं गिनते थे। (८) वे सिर पर सिन्दूर चढ़ाए हुए और देह में चन्दन पोते हुए थे। [वे कह रहे थे], "उस शरीर पर [अन्य कुछ] क्या लगाइए, जो अंत में धूल भरता (धूल में मिलता) है?"

टिप्पणी--(१) रथबाह<रथवाह=रथ खींचने वाले। (२') बालका=घोड़ों की जाति विशेष (दे० २६.४, ४०४.७), अबलक? समंद [फ़ा०]=घोड़ा, बादामी रंग का घोड़ा। (४) पाखर: एक प्रकार के कवच जो फौलाद के बने होते थे (दे० आईन-ए-अकबरी,' जिल्द १, पृ० १३६)। (५) सिरी=एक प्रकार का हाथियों का शिर का कवच (दे० ५१४.४)। काँधा=कन्धों पर की साज। चौरासी=अनेक (प्रायः ८४) घंटियों या घूँघुरुओं की एक माला जो घोड़ों को गले में पहनाई जाती थी। (दे० आईन-ए-अकबरी

जिल्द १, पृष्ठ १३५ (७) घालि<घल्ल=ढेलुवा। (दे० १४७.३) (८) घेवर=पोतना, लेप करना।

गज मैमँत पखरे रजवारा। देखिअ जानहुँ मेघ अकारा।
सेत गयंद पीत औ राते। हरे स्याम घूमहि मद माँते।
चमकहिं दरपन लोहें सारी। जनु परवत पर परी अँबारी।
सिरी मेलि पहिराई सूँड़ैं। कटक सुहाए पाय तर गूँड़ैं।
सोनैं मेलि सो दाँत सवाँरे। गिरिवर टरहिं सो उन्हकें टारे।
परवत उलटि पुहुमि सब मारहिं। परै ज्यों भीर तीर जेउँ टारहि।
अस गयंद साजे सिंघली। गवनत कुरुँभ पीठि कलमली।
ऊपर कनक मँजूसा लाग चँवर औ ढार।
भलइत बैठ भाल लै औ बैठे धनुकार ॥५१४॥

अर्थ—(१) राजद्वार पर मदमत्त गज पाखरे हुए (कवच-सज्जित) थे; उन्हें देखिए तो वे मानो मेघों के आकार के थे। (२) वे गजेन्द्र श्वेत, पीले, लाल, हरे और श्याम वर्णों के थे और मदमत्त घूम (झूम) रहे थे। (३) उनकी लोहे की सारें (झूलें) दर्पण जैसी चमकती थीं, और वे ऐसी लगती थीं मानो पर्वतों पर अंबारियाँ पड़ी हुई हों। (४) [ऊपर] सिरी लगाकर उन्हें सूँड पहनाई हुई थी, और नीचे उनके पैरों को सुन्दर कटक (कड़े) आच्छादित कर रहे थे। (५) सोना (सोने के छल्ले) लगाकर उनके दाँत सँवारे हुए थे; और उनके हटाने (ढकेलने) से श्रेष्ठ गिरि स्थान से हट जाते थे। (६) पर्वतों को उलटकर वे समस्त पृथ्वी को मारने में समर्थ थे और उन पर जिस प्रकार की भी भीर (कठिनाई अथवा भीड़) पड़ती थी, उसे वे तीर के समान बढ़कर हटा देते थे। (७) ऐसे-ऐसे सिंहली गजेन्द्र सजाए गए थे कि जिनके गमन करते समय कूर्म की पीठ कलमलाती थी (चर्र-मर्र करती थी)। (८) उनके ऊपर सोने की मंजूषा (हौद) थी, जिसमें चामर और ढाल लगी हुई थी। (९) [उन मंजूषाओं में] भाला चलाने वाले भाला लेकर तथा धानुष्क बैठे हुए थे।

टिप्पणी—(१) पाखर=एक प्रकार के कवच जो फौलाद के बने होते थे (दे० 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० १३६)। रजबार<राजद्वार। अकार<आकार। (२) सेत<श्वेत। गयंद<गजेन्द्र। (३) सारि<शारि=गज-कवच। (४) सिरी, सूँड: हाथियों के शरीर त्राणमें जो फौलाद का होता था, सिर और सूँड के टुकड़े अलग-अलग होते थे (दे० आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० १३६)। गूंड़<गुण्ड्=आच्छादित करना। (७) कुरुँभ<कूर्म। (९) धनुकार<धाणुक्क<धानुष्क=धनुष चलाने वाले।

असु दल गज दल दूनौ साजे। औ घन तबल जूझि कहँ बाजे।
माँथें मटुक छत्र सिर साजा। चढ़ा बजाइ इंद्र होइ राजा।
आगें रथ सैना भइ ठाढ़ी। पाछें धजा अचल सो काढ़ी।
चढ़ा बजाइ चढ़ै जस इंदू। देव लोक गोहन सब हिंदू।
जानहुँ चाँद नखत लै चढ़ा। सुरुज कि कटक रैनि मसि मढ़ा।

जौं लहि सुरुज चाह देखरावा । निकसि चाँद घर बाहेर आवा ।
गँगन नखत जस गने न जाहीं । निकसि आइ तस भुइँ न समाहीं ।
देखि अनी राजा कै जग होइ गएउ असूझ ।
दहुँ कस होइ चलत ही चाँद सुरुज के जूझ ॥५१५॥

अर्थ--(१) अश्वदल तथा गजदल, दोनों साजे गए, और युद्ध के लिए सघन रूप से तवल (बड़े ढोल) बज उठे । (२) मस्तक पर मुकुट और सिर पर छत्र साजकर इंद्र होकर वाद्यध्वनि के साथ राजा (रत्नसेन) चढ़ चला । (३) आगे रथसेना खड़ी हुई, और उसके पीछे अचल ध्वजा निकाली गई । (४) राजा इस प्रकार वाद्यादि के साथ चढ़ा जैसे इन्द्र चढ़ाई करता है और जैसे देवलोक [इन्द्र के] साथ हो, उसी प्रकार समस्त हिन्दू [योद्धा] उसके साथ थे । (५) अथवा, जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों को लेकर चढ़ पड़ा हो, और सूर्य (अलाउद्दीन) के कटक को रजनी के अन्धकार से मढ़ रहा हो। (६) जब तक सूर्य (अलाउद्दीन) [अपने आप को] दिखाना (प्रकाशित करना) चाहता था, तब तक चन्द्र (रत्नसेन) निकलकर अपने घर से वाहर आ गया । (७) जिस प्रकार आकाश के नक्षत्र नहीं गिने जा सकते हैं, उसी प्रकार निकल आकर [रत्नसेन के योद्धा] भूमि पर नहीं समा रहे थे । राजा की सेना देखकर संसार असूझ हो गया; (९) [लोग कहने लगे,] "पता नहीं सूर्य (अलाउद्दीन) से युद्ध के लिए चन्द्र (रत्नसेन) के चलते समय क्या होगा !"

टिप्पणी--(१) असु<अश्व । तबल [तु०]=बड़ा ढोल, डंका । (३) अचलधजा= वह ध्वजा जिसकी रक्षार्थ प्राण दिया जाना धर्म समझा जाता था। (दे० पृ० ३.५)। (४) इंद<इन्द्र । गोहन = साथ । (५) नखत<नक्षत्र=तारागण । (७) अनी< अनीक=सेना ।

इहाँ राजा असि साज बनाई । उहाँ साहि की भई अवाई ।
अगिली धौरी आगें आई । पाछिल पाछु कोस दस ताँई ।
आइ साहि मंडल गढ़ बाजा । हस्ती सहस बीस सँग साजा ।
ओनै आइ दूनौ दर गाजे । हिंदू तुरुक दुऔ सम बाजे ।
दुऔ समुँद दधि उदधि अपारा । दूऔ मेरु खिखिंद पहारा ।
कोपि जुझार दुहूँ दिसि मेले । औ हस्ती हस्तिन्ह कहँ पेले ।
आँकुस चमकि बीज अस जाहीं । गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं ।
धरती सरग दुऔ दर जूहहिं ऊपर जूह ।
कोऊ टरै न टारे दूऔ बज्र समूह ॥५१६॥

अर्थ--(१) यहाँ राजा ने यह सज्जा बनाई, और वहाँ बादशाह का आगमन हुआ। (२) [बादशाही] सेना की अगली धौरी (पंक्ति) आगे आई थी, सेना का पिछला भाग दस कोस पीछे तक था । (३) बादशाह मंडल गढ़ पर आ धमका । बीस सहस्र हस्ती साथ साजे हुए था । (४) उन्नमित होकर दोनों दल गर्जन करने लगे, और हिन्दू और तुर्क दोनों समान [वेग से] भिड़ गए । (५) दोनों अपार दधि और उदधि समुद्र थे, दोनों मेरु और किष्किंधा पर्वत थे । (६) कुपित होकर दोनों पक्षों ने योद्धाओं

को आगे बढ़ाया और हाथी हाथियों को ढकेलने लगे। (७) उनके अंकुश बिजली जैसे चमक जाते थे, और हस्ती गरजते थे तो [मानो] मेघ घहरा उठते थे। (८) धरती से आकाश तक (अथवा धरती और आकाश की भाँति) दोनों दल थे, यूथ के ऊपर यूथ [आक्रमण करता] आ रहा था। (९) कोई भी दल हटाने से हटता नहीं था, दोनों [जैसे] वज्र के समूह थे।

टिप्पणी--(१) धौरी<घोरणी=पंक्ति, कतार। (३) मंडलगढ़ : चित्तौड़ के कुछ पहले ही दिल्ली के मार्ग में आने वाला एक गढ़। (४) ओनव्<अवनम्=नीचे झुकना। दर<दल। बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना, भिड़ना। (५) दधि, उदधि : इन समुद्रों का वर्णन अन्यत्र हुआ है (दे० छंद १५२, १५३)। (६) पेल<पेर्<प्रेरय्=आगे बढ़ाना। (७) बीज<बिज्जु<विद्युत्। (८) जूह<यूथ।

हस्तिन्ह सौं हस्ती हठि गाजहिं। जनु परबत परबत सौं बाजहिं।
गरुअ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दंत सुंड भुइँ परहीं।
परबत आइ जो परहिं तराहीं। दरमरि चाँप खेह मिलि जाहीं।
कोइ हस्ती असवारन्ह लेहीं। सुंड समेटि पाय तर देहीं।
कोइ असवार सिंघ होइ मारहिं। हनि मस्तक सिउँ सुंड उतारहिं।
गरब गयंदन्ह गँगन पसीजा। रुहिर जो चुवै धरति सब भीजा।
कोइ मैमंत सँभारहिं नाहीं। तब जानहिं जब सिर गड़ खाँहीं।
गँगन रुहरि जस बरिसै धरती भीजि मिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहिं तस पानी पंक बिलाइ ॥५१७॥

अर्थ--(१) हाथियों के सम्मुख हाथी इस प्रकार गर्ज रहे थे, मानो पर्वत से पर्वत भिड़ रहे हों। (२) वे गुरु गजेन्द्र हटाने से हटते नहीं थे; उनके दाँत टूट रहे थे और उनके सूँड भूमि पर गिर रहे थे। (३) यदि उनके नीचे पर्वत आ पड़े, तो उनके दबाव से दलित-मृदित होकर धूल में मिल जाएँ। (४) कोई हाथी सवारों को ले लेते थे और सूँड से उन्हें समेटकर पैरों के नीचे [दबा] देते थे। (५) और, कोई सवार ही सिंह होकर हाथियों को मार डालते थे, और उन पर प्रहार कर उनके मस्तक के साथ उनका सूँड काट लेते थे। (६) गर्वीले गजेंद्र [के मद] के रूप में मानो आकाश पसीज रहा था, और उनका जो रुधिर चू रहा था उससे समस्त धरती भीग रही थी। (४) कोई-कोई मदमत्त हाथी [अपने को] सँभाल नहीं रहे थे; वे तब जानते (चेतते) थे जब गड़ खाते थे। (८) [इन हाथियों का रुधिर इस प्रकार गिरता था] जैसे आकाश रुधिर की वर्षा कर रहा हो, और उस [रुधिर वर्षा] में धरती भीगकर विलीन हो रही थी; (९) पुनः [हाथियों के] सिर और धड़ टूट-टूटकर उसमें इस प्रकार विलीन हो रहे थे, जैसे पानी में पंक विलीन होता हो।

टिप्पणी--(१) गाज्<गर्ज्=गर्जन करना। बाज<वज्ज्<व्रज्=जाना, भिड़ना। (२) गरुअ<गुरु। गयंद<गजेन्द्र। (३) दरमर=दलित-मृदित। (४) सिउँ<समम्=साथ। (६) पसीज्<पसिज्ज्<प्रस्विद्=प्रस्वेद के रूप में बहना। (७) मैमंत<मयमत्त<मदमत्त। गड़=दो फलों वाला एक भाला जो हाथियों को

नियंत्रण में रखने के लिए प्रयुक्त होता है (दे० आईन-ए-अकबरी, जिल्द १, पृ० १३६) । [देखिए गड़ किल्ली,--'बिहार पीजेंट लाइफ़', पृ० ४८] इसे चलाने वाले को गड़दार कहते थे, यथा : 'जैसे गड़दार अड़दार गजराज को' ।--भूषण

अहुठौ बज्र जूझि जस सुना । तेहि तें अधिक होइ चौगुना ।
बाजहिं खरग उठै दर आगी । भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी ।
चमकै बीज होइ उजियारा । जेहि सिर परै होइ दुइ फारा ।
सैन मेघ अस दुहुँ दिसि गाजै । खरग जो बीच बीज अस बाजै ।
बरिसै सेल माँसु होइ काँदौ । जस बरिसै सावन औ भादौं ।
टूटहिं कुंत परहिं तरवारी । औ गोला ओला जस भारी ।
जूझे बीर लिखौं कहँ ताईं । लै आछरि कबिलास सिधाईं ।
स्यामी काज जे जूझे सोइ गए मुख रात ।
जो भागे सत छाँड़ि कै मसि मुख चढ़ी परात ।।५१८।।

अर्थ---(१) साढ़े तीन वज्रों का जैसा युद्ध सुना गया था, उससे भी चौगुना अधिक यह युद्ध हो रहा था । (२) जब खड्ग से खड्ग बजते (टकराते) थे, तब दल में आग उठने लगती थी, और भूमि जलकर आकाश से मिलना चाहती थी । (३) [जब खड्ग चमकते थे,]ऐसा उजाला होता था जैसे बिजली के चमकने से हो, और जिसके सिर पर वे खड्ग पड़ते थे, वह दो फाँकों में हो जाता था । (४) सेनाएँ दोनों ओर मेघों के समान गर्ज उठीं, और उनके खड्ग जो उनके मध्य थे बिजलियों के समान परस्पर बज (भिड़) गए । (५) बर्छों की वर्षा हो रही थी, जिससे [निकली हुई रक्त-धारा से] मांस कर्दम (कीचड़) हो जाता था, और यह बर्छे भी इस प्रकार बरस रहे थे जैसे सावन-भादौं के मास बरसते हैं । (६) कुंत (भाले) टूट रहे थे, और तलवारें गिर रही थीं और गोले इस प्रकार गिर रहे थे, जैसे भारी ओले हों । (७) जो वीर युद्ध करते हुए गिरे, उनका कहाँ तक उल्लेख करूँ ? उन्हें अप्सराएँ ले-लेकर शिवलोक को चली गईं । (८) जो स्वामी के कार्य में युद्ध करते हुए मारे गए, वे ही रक्तवर्ण के मुख (सत्य के तेज) के साथ [स्वर्ग] गए ; (९) किन्तु जो सत छोड़कर भाग निकले, पलायित होते हुए उनके मुखों पर कालिमा चढ़ी ।

टिप्पणी--(१) अहुठ<अर्धचतुर्थ<अध्युष्ठ = साढ़े तीन । अहुठौ वज्र : दंगवै से कृष्णा का जो युद्ध हुआ था, उसमें साढ़े तीन वज्र कृष्ण की ओर से सम्मिलित हुए थे । (दे० १९६.८ की टिप्पणी तथा 'पद्मावत में दंगवै और भीम' शीर्षक प्रस्तुत लेखक का लेख 'हिंदी अनुशीलन', भाग० ११, अंक १, पृ० १२) (२)दर<दल।(३)बीज< विज्जु<विद्युत् = बिजली । उजिआरा<औज्ज्वल्य । (४) गाज्<गज्ज्<गर्ज = गर्जन करना । (५) सेल<शल्य = एक प्रकार का बर्छा । काँदौ<कद्दस<कर्दम = कीचड़ । (६) कुंत = एक प्रकार का बर्छा । (७) आछरि<अप्सरस = अप्सरा । कबिलास <कैलास = शिवलोक । (८) स्यामि<स्वामिन् । (९) पराय<पलाय = भागना ।

भा संग्राम न अस भा काऊ । लोहैं दुहुँ दिसि भएउ अघाऊ ।
कंध कबंध पूरि भुइँ परे । रुहिर सलिल होइ सायर भरे ।

अनँद बियाह करहिं मँसुखाए । अब भख जरम जरम कहँ पाए ।
चौसँठि जोगिनि खप्पर पूरा । बिग जँबुकन्ह घर बाजहिं तूरा ।
गीध चील्ह सब माँड़ो छावहिं । काग कलोल करहिं औ गावहिं ।
आजु साहि हठि अनी बियाही । पाई भुगुति जैस जियँ चाही ।
जेन्ह जस माँसू भखा परावा । तस तेन्ह कर लै औरन्ह खावा ।
काहूँ साथ न तनु गा सकति मुअै पै पोखि ।
ओछ पूर तब जानब जब भरि आउब जोखि ॥५१६॥

अर्थ--(१) [जैसा] संग्राम यह हुआ, ऐसा कभी नहीं हुआ था; दोनों दिशाओं (पक्षों) में लोहे (शस्त्रास्त्र) [की मार] से अघाना हो गया । (२) कंधे और कबंध (धड़) पूरित होकर भूमि पर पड़े हुए थे, और रुधिर जल होकर सागर को भर रहा था । (३) मांस भक्षी [पशु-पक्षी] आनंद और विवाहोत्सव कर रहे थे, [और कह रहे थे] "अब हमने जन्म-जन्म के लिए भक्ष्य प्राप्त कर लिया ।" (४) चौंसठ योगिनियों ने अपने खप्पर [वीरों के रक्त से] भर लिए । वृक और जम्बुकों के घर तूर्य बजने लगे (आनंद मनाया जाने लगा) । (५) गीध, और चील्ह सभी [विवाहोत्सव के लिए] मंडप छाने लगे, कौए किलोलें करने और गाने लगे । (६) [वे कहने लगे], "आज बादशाह ने हठ पूर्वक सेना का [अमरता से] विवाह किया है, इसलिए हम जैसा जी में चाहते थे वैसा भोजन हमने पा लिया है ।" (७) [किन्तु] जिन्होंने जिस प्रकार दूसरों का मांस-भक्षण किया, उसी प्रकार उनके मांस को लेकर औरों ने खाया । (८) किसी के भी साथ यह शरीर नहीं गया है, शक्ति भर उसका पोषण करते हुए भले ही कोई क्यों न मरे । (९) यह ओछा रह गया था पूरा हुआ, इस बात का ज्ञान तो तब होगा जब यह [न्याय के दिन] तौलने पर भरा (पूरा) उतरेगा ।

टिप्पणी--(१) काउ<कआ+उ=कदापि । अघा=ऊतृप्ति, अग्घुव=पूर्ति करना । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने मेरे 'जायसी ग्रंथावली' के 'अगा' पाठ के स्थान पर 'अघाऊ' पाठ रक्खा है, जो अधिक संगत है । उनके अर्थ से अवश्य मैं सहमत नहीं हूँ । उन्होंने उसे अग्घ से उसे व्युत्पन्न माना है, जिसका अर्थ शोभित होना या चमकना होता है । (२) रुहिर<रुधिर । साएर<सागर । (४) बिग<वृक=भेड़िया । (५) माँडा<मण्डप । (६) अनी<अनीक=सेना । भुगुति<भक्ति=भोजन । (८) सकति<शक्ति भर । (९) ओछ<तुच्छ=खाली । जोख्=तौलना ।

चंद न टरै सूर सौं कोपा । दोसर छत्र सौंहँ कै रोपा ।
सुना साहि अस भएउ समूहा । पेले सब हस्तिन्ह के जूहा ।
आजु चंद तोहि करौं निपातू । रहै न जग महँ दोसर छातू ।
सहस कराँ होइ किरिन पसारा । छपि गा चाँद जहाँ लगि तारा ।
दर लोहें दरपन भा आवा । घट घट जानहुँ भानु देखावा ।
बहु किरोध कुंताहल धावै । अगिनि पहार जरत जनु आवै ।
खरग बीज जस तुरुक उठाएँ । ओड़ न चंद कँवल कर घाएँ ।

चकमक अनी देखि कै धाइ दिस्टि तसि लागि ।
छुई होइ जौं लोहँ रुई माँझ उठ आगि ॥५२०॥

अर्थ--(१) सूर्य (अलाउद्दीन) से कुपित होकर चंद्र (रत्नसेन) हट नहीं रहा था ; उसने [बादशाह के] सम्मुख ही दूसरा छत्र लगाया । (२) बादशाह ने सुना कि रत्नसेन इस प्रकार सम्मुख हुआ है, तो उसने हाथियों के समस्त यूथों को आगे बढ़ाया । (३) [उसने कहा,] "ऐ चंद्र मैं आज तुझे नष्ट करता हूँ, [जिससे] जगत में दूसरा छत्र न रहे" (४) उसने अतः सहस्र-कला (सूर्य) होकर किरणों का प्रसार किया, और [परिणामस्वरूप] जहाँ तक चाँद (रत्नसेन) और उसके तारागण (योद्धा सामंतगण) थे, वे छिप गए । (५) [अलाई] दल लौह [-कवचों और शस्त्रास्त्रों] के कारण दर्पण जैसा [चमकता] हुआ आ गया ; उसके घट-घट (प्रत्येक सैनिक) में [प्रतिबिम्बित होकर] मानो भानु (अलाउद्दीन ही) दिखाई पड़ रहा था । (६) कुंत (बर्छे) धारण करने वाले सैनिक बहुत क्रोध के साथ इस प्रकार दौड़े आ रहे थे मानो जलता हुआ अग्नि का पहाड़ ही आ रहा हो । (७) तुर्क बिजलियों के समान खड़ग उठाए हुए [कह रहे] थे, "ऐ चन्द्र (रत्नसेन), तू अपने कमल [जैसे कोमल] करों से हमारे आघातों को रोके तो (भला रोके तो सही) !" (८) चकमक [जैसी] [बादशाह की·]सेना को देखकर [रत्नसेन की सेना की लौह-दृष्टि] दौड़कर उससे ऐसी टकराई (९) कि जैसे [चकमक से टकरानेवाले] उस लोह से छुई हुई होने पर रुई में आग उठ पड़ी हो ।

टिप्पणी--(१) सौंहँ<सउँह<सम्मुख । (२) समूह<संमुह<संमुख । पेल<पेर <प्रेरय् = आगे बढ़ाना । (३) नियात<निष्पन्न = पत्रहीन,-नष्ट भ्रष्ट । छात<छत्त <छत्र । (४) करा<कला । पसार्<प्रसारय् ।(५) दर = दल । (६) कुंताहल< कुन्त+फल = बर्छे का फल । (७) ओड़=आड़ करना, रोकना । (८)-(९) चकमक. . . आगि=चकमक पत्थर से लोहे की टक्कर होने पर लोहे से चिनगारियाँ निकलती हैं । इस समय यदि रुई लोहे के संपर्क में रख दी जाती है तो वह जलने लगती है ।

सूरुज देखि चाँद मन लाजा । बिगसत बदन कुमुद भा राजा ।
चंद बड़ाई भलेहँ निसि पाई । दिन दिनअर सौं कौंनु बड़ाई ।
अहे जो नखत चंद संग तपे । सूर की दिस्टि गँगन महँ छपे ।
कै चिंता राजा मन बूझा । जेहि सिउँ सरग न धरती जूझा ।
गढ़पति उतरि लरै नहिं धाए । हाथ परें गढ़ हाथ पराएँ ।
गढ़पति इंद्र गँगन गढ़ गाजा । देवस न निसर रैनि को राजा ।
चंद रैनि रह नखतन्ह माँझा । सुरुज न सौंह होइ चह साँझा ।
देखा चंद भोर भा सूरुज के बड़ भाग ।
चाँद फिरा भा गढ़पति सुरुज गँगन गढ़ लाग ॥५२१॥

अर्थ--(१) सूर्य (अलाउद्दीन) को देखकर चंद्र (रत्नसेन) मन में लज्जित हुआ । राजा की दशा वह हो गई जो [सूर्य को देखकर] विकास करते हुए मुख वाले

कुमुद की होती है । (२) चंद्र भले ही रात्रि में बड़प्पन पा ले, किन्तु दिन में दिनकर से (उसके सम्मुख) उसकी कौन सी बड़ाई संभव है ? (३) जो नक्षत्र (सामंत) चन्द्र (रत्नसेन) के साथ तप्त हो रहे थे, सूर्य (अलाउद्दीन) की दृष्टि पड़ते ही वे आकाश (गढ़) में छिप गए । (४) चिन्ता करके राजा (चन्द्र) ने मन में समझ लिया कि जिसके साथ (पास) सर्ग (गढ़) हो उसे धरती पर (गढ़ के बाहर आकर) युद्ध न करना चाहिए (५) इसलिए वह गढ़पति (रत्नसेन) [आकाश (गढ़) से] उतर-कर दौड़कर युद्ध नहीं कर रहा था ; वह डर रहा था कि यदि वह [सुलतान के] हाथ में पड़ गया तो गढ़ भी पराए (सुल्तान) के हाथ में चला जाएगा । (६) वह गढ़पतियों का इन्द्र गढ़-गगन में ही गर्जन कर रहा था ; दिन में वह नहीं निकलता था । और रजनी में [निकलने वाला] राजा कौन (कब) होता है ? (७) वह चंद्र (रत्नसेन) रजनी में नक्षत्रों के मध्य रहता था, और संध्या को भी सूर्य (अलाउद्दीन) के सम्मुख नहीं होना चाहता था । (८) जब चंद्र (रत्नसेन) ने देख लिया कि प्रभात हो गया और सूर्य का बड़ा भाग्य [उदित हो गया] है, (९) वह चंद्र (रत्नसेन) [गढ़ में] लौट गया और गढ़पति हो गया, जबकि सूर्य (अलाउद्दीन) गढ़-गगन पर लग (चढ़) गया ।

टिप्पणी––(२) दिनिअर<दिनकर = सूर्य । (३) नखत<नक्षत्र = तारागण । (६) गाज्<गज्ज्<गर्ज् = गर्जन करना । रैनि<रयणी<रजनी । (७) सौंह<सउँह <सम्मुख । (८) भोर = प्रभात ।

कटक असूझ अलावल साही । आवत कोइ न सँभारै ताही ।
उदधि समुँद जेउँ लहरैं देखी । नैन देखि मुँह जाहिं न लेखी ।
केत बजावत उतरे घाटी । केत बजाइ गए मिलि माँटी ।
केतन्ह नितिहि देइ नव साजा । कबहुँ न साज घटै तस राजा ।
लाख जाहिं आवहिं दुइ लाखा । फरहिं झरहिं उपनहिं नौ साखा ।
जो आवै गढ़ लागै सोई । थिर होइ रहै न पावै कोई ।
उमरा मीर अहे जहँ ताईं । सबहूँ बाँटि अलंगै पाईं ।
लागि कटक चारिहु दिसि गढ़ सो परा अगिडाहु ।
सुरुज गहन भा चाँदहि चाँद भएउ जस राहु ॥५२२॥

अर्थ––(१) अलाउल शाह (अलाउद्दीन) की सेना असूझ थी ; उसके आने (आक्रमण करने) पर कोई उसे सँभाल नहीं पाता था । (२) जिस प्रकार उदधि समुद्र की लहरों को देख भर लीजिए । नेत्रों से देखकर मुख से उनका लेखा (विवरण) नहीं दिया जा सकता है [उसी प्रकार वह सेना थी] । (३) [उस सेना में के] कितने ही गाजे-बाजे के साथ घाटी उतर गए (कृतकार्य हुए) और कितने ही गाजे-बाजे के साथ मिट्टी में मिल गए । (४) कितनों ही को वह (अलाउद्दीन) नित्य नए साज देता था, और वह ऐसा राजा था कि कभी भी उसका साज घटता नहीं था । (५) एक लाख जाते (मरते) थे तो दो लाख नए आते थे, जैसे वृक्ष फलते हैं, झड़ते हैं, और नवीन शाखाएँ उनमें उत्पन्न होती रहती हैं । (६) जो भी आता वह गढ़ पर लग जाता

था, कोई भी स्थिर होकर रहने नहीं पाता था। (७) जहाँ तक भी अमीर-उमरा थे, सभी ने गढ़ की कोई न कोई अलंग बाँट कर लेली। (८) वह [अलाई] कटक [गढ़ के] चारों ओर से लग गया, और गढ़ [मानो] अग्निदाह में पड़ गया। (९) सूर्य (अलाउद्दीन) चन्द्र (रत्नसेन) के लिए ग्रहण बन गया और चंद्र (रत्नसेन) जैसे उसके लिए राहु हो गया।

टिप्पणी--(२) उदधि समुंद : दे० छंद १५३ में उदधि समुद्र का वर्णन। (३) घाटी=दो पहाड़ों के बीच का सँकरा मार्ग। (७) अलंग<पार्श्व, पहलू। (८) अग्नि-डाह<अग्नि-दाह।

अँथवा देवस सुरुज भा बासाँ। परी रैनि ससि उवा अकासाँ।
चाँद छत्र दै बैठेउ आई। चहुँ दिसि नखत दीन्ह छिटकाई।
नखत अकासहुँ चढ़े दिपाहीं। टूटहिं लूक परहिं न बुझाहीं।
परहिं सिला जस परैं बजागी। पाहनहि पाहन बाजि उठ आगी।
गोला परहिं कोल्हु ढुरुकावहिं। चून करत चारिहुँ दिसि आवहिं।
अवनि अँगार बिस्टि झरि लाई। ओला टपकै परै न बुझाई।
तुरुक न मुँह फेरहिं गढ़ लागें। एक मरें दोसर होइ आगें।
परहिं बान राजा कै मुख न सकै कोइ काढ़ि।
अनी साहि कै सब निसि रही भोर लहि ठाढ़ि ॥५२३॥

अर्थ--(१) दिवस अस्त हो गया और सूर्य (अलाउद्दीन) ने बसेरा लिया ; रात पड़ गई और चन्द्र (रत्नसेन) आकाश (गढ़) में उदित हुआ। (२) चन्द्र (रत्नसेन) छत्र धारण कर आ बैठा, और चारों ओर उसने नक्षत्रों (सामंतों) को छिटका दिया। (३) वे नक्षत्र (सामंत) आकाश [जैसे ऊँचे] (गढ़) पर चढ़े हुए होने पर भी दिप (चमक) रहे थे। वे टूट-टूटकर [जब] उल्काएँ बनकर गिरते थे, वे बुझते न थे (गिरने पर भी शौर्य-प्रदर्शन करते रहते थे)। (४) [गढ़ पर से] शिलाएँ गिर रही थीं, जैसे वज्राग्नि गिर रही हो, पाषाण से पाषाण बज (टकरा) रहे थे, जिससे आग उठ रही थी। (५) गोले गिर रहे थे, जिन्हें कोल्हू [गढ़ के नीचे] ढुलका रहे थे ; वे चारों ओर [सब कुछ] चूर्ण करते आ रहे थे। (६) अवनी पर [गढ़ से की जाती हुई] अंगार-वृष्टि ने झड़ी लगा रक्खी थी ; आग ओलों के समान गिर रही थी और बुझती नहीं थी। (७) गढ़ पर लगे हुए (गढ़ को घेरे हुए) तुर्क मुँह नहीं फेर रहे थे; एक मरता था, तो दूसरा [उस के स्थान पर] आगे आता था। (८) [गढ़ पर से] राजा के बाण पड़ (आ) रहे थे, जिनके कारण कोई मुख नहीं निकाल पाता था। (९) [इस प्रकार] बादशाह की सेना सारी रात प्रभात होने तक खड़ी रही।

टिप्पणी--(१) अँथव<अत्थम्<अस्तस्+इ=अस्त होना, अदृश्य होना। (३) दिप्<दिप्प<दीप्=दीप्त होना, चमकना। लूक<उल्का। (४) बजागी<वज्राग्नि। पाहन<पाषाण। पाहनहि ... आगी : उस समय शिलाओं के फेंकने के यंत्र होते थे, यथा अरादा, भुंजनीक। बरानी ने रणथंभौर के युद्ध में संग-ए-मग़रबी के फेंके जाने का उल्लेख किया है (बरानी, पृ० २७२) और खुसरो ने 'तारीख-ए-अलाई

में लिखा है कि गढ़ के ऊपर और गढ़ के भीतर से जो पत्थर फेंके जा रहे थे वे बीच में प्रायः टकरा जाते थे और बिजली की भाँति आग उत्पन्न करते थे (इलियट, जिल्द ३, पृ० ७५)। (६) अवनि : डॉ० अग्रवाल ने 'ओनइ' पाठ रक्खा है। अंगारे यदि आकाश में कहीं पर कुछ समय के लिए थमते होते तो 'ओनइ' पाठ अधिक संगत होता। ब्रिस्टि<वृष्टि। (७) अनी<अनीक=सेना। ठाढ<ठड्ढ<स्तब्ध।

भएउ बिहान भानु पुनि चढ़ा। सहसहुँ करा जैस बिधि गढ़ा।
भा ढोवा गढ़ लीन्ह गरेरी। कोपा कटक लाग चहुँ फेरी।
बान करोरि एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लगि फूटहिं।
नखत गँगन जस देखिअ घने। तस गढ़ भा तिन्ह बानन्ह हने।
बानन्ह बेध साहि कै राखा। गढ़ भा गरुर फुलाएँ पाँखा।
ओरगा केरि कठिन औ जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता।
पीठि देहिं नहिं बानन्हि लागे। चाँपत जाहिं पगहिं पग आगे।
चारि पहर दिन बीता गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुव होत पै आवै दिन दिन टाँकहि टाँक ॥५२४॥

अर्थ—(क) प्रभात होने पर सूर्य (अलाउद्दीन) पुनः चढ़ पड़ा—और अपनी सहस्र कलाओं के साथ [चढ़ा] जैसा उसे विधाता ने निर्मित किया था। (२) ढोवा हुआ, और गढ़ को भली भाँति घेर लिया गया। [शाही] कटक कुपित हुआ और वह [गढ़ के] चारों ओर लग गया। (३) करोड़-करोड़ वाण एक-मुख (एक दिशा में) छूटते थे और वे जहाँ टकराते थे, [उनके] फोंक तक फूट निकलते थे (पार हो जाते थे)। (४) जिस प्रकार आकाश में घने नक्षत्र देखे जाते हैं, उन वाणों के मारे जाने (लगने) पर उसी प्रकार का वह गढ़ हो गया। (५) बादशाह ने [गढ़ को] वाणों से ऐसा बेध रक्खा था कि मानो उसे साही बना रक्खा हो; पुनः वह पंखों को फुलाए हुए गरुड़ हो रहा था। (६) ओरँगा (सेवक) की जाति कठिन होती है (कठिनाइयों को झेलने के लिए बनी होती है); यदि उसका मुख [कर्त्तव्यपालन से] रक्त वर्ण का होता है, तभी वह [शोभा-] लाभ करता है। (७) वे वाणों के लगने पर पीठ नहीं देते हैं, और वे एक-एक पग चाँपते हुए आगे बढ़ते हैं। (८) चार प्रहर दिन व्यतीत हो गया किन्तु गढ़ ऐसा बाँका था कि टूटा नहीं; (९) [उल्टे] वह, हो न हो, दिन-दिन टंक-टंक करके (थोड़ा-थोड़ा करके) गुरु (भारी) होता आता था।

टिप्पणी—(१) बिहान<विहाण [दे०]=प्रभात। (२) ढोवा=सैनिक सहायता (दे० छिताई वार्ता छंद ३०२, ३१८, ३२५, ४९६)। गरेर्=चारों ओर से घेर लेना। (३) फोंक=फुक्का, सरकंडा (जो बाण के फल में लगा हुआ होता है)। (५) साहि=साही : एक जन्तु जिसके शरीर पर भी काँटे होते हैं। गरुर<गरुड़। (६) ओरंगा <ओलग्ग<अवलग्न=भृत्य, सेवक (दे० २६.३ की टिप्पणी)। लह्<लभ्=प्राप्त करना, शोभा प्राप्त करना : यथा—भले भलाइहि पै लहहिं, लहहिं निचाइहि नीच। (मानस १) (९) टाँक<टंक=एक प्राचीन वजन। छटाँक में छः टंक होते थे।

छेंका गढ़ जौरा अस कीन्हा । खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा ।
गरगज बाँधि कमानैं धरीं । चलहिं एक मुख दारू भरीं ।
हबसी रूमी औ जो फिरंगी । बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी ।
जिन्ह के गोट जाहिं उपराहीं । जेहि ताकहिं तेहि चूकहिं नाहीं ।
अस्ट धातु के गोला छूटहिं । गिरि पहार पब्बै सब फूटहिं ।
एक बार सब छूटहिं गोला । गरजै गँगन धरति सब डोला ।
फूटै कोट फूट जस सीसा । ओदरहिं बुरुज परहिं कौसीसा ।
लंका रावट जसि भई डाह परा गढ़ सोइ ।
रावन लिखा जो जरैं कहँ किमि अजरावर होइ ॥५२५॥

अर्थ—(१) [बादशाह ने] गढ़ को छेंककर [उसके घेरे को] बेड़ी सा कर दिया और उसने खसिया तथा मगर [के पर्वतीय] जैसी सुरंगें लगाते हैं, उस प्रकार की सुरंगें [गढ़ तक] लगवाईं। (२) गरगजें बँधवाकर उसने तोपें रखवाईं, जो बारूद से भरी हुई एक-मुख होकर (एक ही लक्ष्य पर) चलने लगीं। (३) हब्शी, रूमी, फिरंगी और जो [तोपों के चलाने में] विशेष कुशल थे, ऐसे उनके साथी हुए (उन पर नियुक्त किए गए)। (४) वे तोपें ऐसी थीं जिनके गोले [गढ़ के] ऊपर जाते थे, और जिसे वे देखते (लक्ष्य करते) थे, उसे चूकते नहीं थे। (५) अष्टधातु के गोले उनसे छोड़े (फेंके) जा रहे थे, [जिनके लगने पर] गिरि, पहाड़, पर्वत सभी फूट (टूट) जाते थे। (६) वे गोले सब एक बार (साथ) छूटते थे, जिससे आकाश गरजने (गूँजने) लगता था और समस्त धरती डोलने लगती थी। (७) उनके लगने से परकोटा इस प्रकार फूट (टूट) जाता था जैसे शीशा फूटता हो, और बुर्ज फट जाते तथा कपिशीर्ष गिर पड़ते थे। (८) लंका [जिस अग्नि-दाह से] जलकर रावट (काला पत्थर) हो गई थी, उसी प्रकार के अग्निदाह में वह गढ़ (चित्तौर) भी पड़ गया। (९) रावण का यदि जल मरना ही [विधाता-द्वारा] लिखा हुआ था, तो वह किस प्रकार अजर-अमर हो सकता था ?

टिप्पणी—(१) जोरा<जौलाँ [फ़ा०]=बेड़ी। खसिया=खसजाति के निवास का हिमालय का प्रदेश। मगर=मगर जाति के निवास का हिमालय का प्रदेश। (२) गरगज=कृत्रिम रूप से बनाया गया ऊँचा टीला जिस पर तोपें रखकर गोले गढ़ के भीतर फेंके जाते थे। (दे० इलियट, जिल्द ३, पृ० १७२)। दारू [फ़ा०]=बारूद। (३) फिरंगी=फराँसीसी। (४) गोट=गोला (तुल० 'गुटिका')। ताक्<तक्क<तर्क=विचार करना, अनुमान करना, देखना। (५) पब्बै<पव्वय<पर्वत। (७) कोट=परकोटा। बुर्ज [अ०]=किसी ऊँचे स्तम्भ या मीनार का ऊपरी भाग। कौसीस<कपिशीर्ष=[परकोटे में] में बने हुए कँगूरे। (९) अजरावर<अजरामर<अजर+अमर=जरा-मृत्यु से परे।

राजा केरि लागि रहि ढोई । फूटै जहाँ सँवारहिं सोई ।
बाँके पर सुठि बाँक करेई । रातिहि कोट चित्र कै लेई ।
गाजै गँगन चढ़े जस मेघा । बरिसहिं बज्र सिला को थेघा ।

सौ सौ मन के बरिसहिं गोला । बरिसहिं तुपक तीर जस ओला ।
जानहुँ परी सरग हुति गाजा । फाटै धरति आइ जहँ बाजा ।
गरगज चूर चूर होइ परहीं । हस्ति घोर मानुस संघरहीं ।
सबहिं कहा अब परलौ आवा । धरती सरग जूझ दुहुँ लावा ।
अहुठौ बज्र जुरे सनमुख होइ एक दंगवै लागि ।
जगत जरै चारिहुँ दिसि को रे बुझावै आगि ॥५२६॥

अर्थ--(१) राजा की ढोई (मदद) लगी हुई थी ; जहाँ [गोलों के बरसने से गढ़ का] कोई भाग फूटता था, वे उसे सँवारते रहते थे । (२) गढ़ बाँका था ही उसे वे अधिक बाँका (दुर्जेय) करते रहते थे, और रातों-रात परकोटे को वे चित्र [जैसा मन-वांछित] कर लेते थे । (३) किन्तु तोपें इस प्रकार निरंतर गर्जन कर रही थीं, मानो मेघों के चढ़ने पर गगन गर्जन कर रहा हो, और वे ऐसी वज्र-शिलाओं की वर्षा कर रही थीं कि उन्हें कौन टेकता ? (४) वे सौ-सौ मन के गोले बरसा रही थीं और तुपकें तथा तीर इस प्रकार बरस रहे थे जैसे ओले बरस रहे हों । (५) मानो आकाश से बिजली गिरी हो, इसी प्रकार जहाँ वे आकर टकराते थे, धरती फट जाती थी । (६) [उनके गिरने से] गरगज चूर-चूर होकर गिर पड़ते थे, और हाथी, घोड़े तथा मनुष्यों का संहार हो जाता था । (७) सभी ने कहा, अब प्रलय आ गया है, क्योंकि धरती (नीचे की शत्रु-सेना) और आकाश (गढ़) दोनों में युद्ध छिड़ गया है । (८) इस समय मानो [साढ़े तीनों वज्र एक दंगवै के लिए सम्मुख होकर [युद्ध-क्षेत्र में] आ जुटे हैं । (९) जगत [उनकी ज्वाला से] चारों ओर जलने लगा है । कौन उस आग को बुझाए ?"

टिप्पणी--(१) ढोई<मजदूरों आदि की मदद । (२) बाँक<बंक=वक्र । (३) गाज्<गज्ज्<गर्ज्=गर्जन करना । थेध्<टेकना । (५) गाज<गज्ज= गर्ज=बिजली । (६) गरगज=वे कृत्रिम मचान या टीले जो गढ़ में गोले फेंकने के लिए तोपों के रखने को बनाए जाते थे ।(७)परलौ<प्रलय । (८) अहुठ<अध्युष्ठ= साढ़े तीन । अहुठौ-दंगवैलागि : यहाँ पर भी दंगवै (द्रंगपति) और कृष्ण के उसी युद्ध का उल्लेख है जिसका उल्लेख अन्यत्र हुआ है (दे० १९६.८ की टिप्पणी तथा 'पद-मावत में दंगवै' शीर्षक प्रस्तुत लेखक का लेख, 'हिंदी अनुशीलन' भाग ११, अंक १, पृ० १२) दंगवै : मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'दिन कोई' था ; डॉ० अग्रवाल ने दंगवै का सुझाव दिया है , जो निश्चय ही अधिक संगत है और इसलिए स्वीकार्य है यद्यपि 'दंगवै' से अर्थ उन्होंने भिन्न लिया है, जिससे सहमत होना संभव नहीं है ।

तबहूँ राजा हिएँ न हारा । राज पँवरि पर रचा अखारा ।
सौंहँ साहि जहँ उतरा आछा । ऊपर नाच अखारा काछा ।
जंत्र पखाउझ आउझ बाजा । सुरमंडल रबाब भल साजा ।
बीन पिनाकि कुमाइच कहे । बाजि अँबिरती अति गहगहे ।
चंग उपंग नाग सुर तूरा । महुवरि बाज बंसि भल पूरा ।
हुरुक बाज डफ बाज गँभीरा । औ तेहि गोहन झाँझ मँजीरा ।

तंत बितंत सिखर घनतारा । बाजहिं सबद होइ झनकारा ।
जस सिंगार मन मोहन पातर नाँचहिं पाँच ।
पातसाहि गढ़ छेंका राजा भूला नाँच ॥५२७॥

अर्थ—(१) तब भी राजा (रत्नसेन) हृदय में न हारा ; उसने राजपौरि पर [नृत्य] का एक अखाड़ा आयोजित किया । (२) सम्मुख ही जहाँ पर बादशाह उतरा हुआ था, ऊपर (गढ़ पर) नृत्य का अखाड़ा काछ उठा (वस्त्रादि से सज उठा)। (३) यंत्रों में पखावज और आउझ बजने लगे, और भले सुरमंडल तथा रबाब सज गए । (४) वीणा, पिनाक, और जो कुमाइच कहे जाते हैं, तथा इमरती अत्यधिक गहगह (आनन्दोल्लास) के साथ बज उठे । (५) चंग, उपंग, नागसुर, तूर्य तथा महुवर बजने लगे और वंशी को भली-भाँति [स्वर से] पूरित किया गया । (६) हुडुक बजा, डफ गंभीर [रूप में] बजा, और उसके साथ झाँझ तथा मंजीरे [बजे] । (७) तंत्र, वितंत्र, शिखर और धनताल [आदि] शब्द (वाद्य) बजने लगे, जिससे झनकार होने लगी । (८) जैसा उनका मनोमोहक श्रृंगार था, वैसे ही [मनोमोहक ढंग से] पाँच पातरें नाचने लगीं । (९)उधर बादशाह ने गढ़ को [घेरा डालकर] छेंक रक्खा था, इधर राजा (रत्नसेन) नृत्य में भूला हुआ था ।

टिप्पणी--(१) पँवरि<प्रतोली=मुख्य द्वार । अखारा<अक्षवाटक<आघाट= नृत्य-संगीत मंडली । (२) आछ्<अस्=होना ।' (३) जंत्र<यंत्र=वाद्य यंत्र । पखाउझ<पक्खाउज्ज<पक्षातोद्य=मृदंग की भाँति का एक बाजा । आउझ< आओज्ज<आओद्य=हुड़ुक की जाति का एक बाजा । सुरमंडल=स्वर-मण्डल=एक प्रकार की वीणा । रबाब=सारंगी की जाति का एक बाजा ।(४) बीन<वीणा । पिनाकि<पिनाकी=एक प्रकार की तंत्री । कुमाइच<कूर्मिका (?) एक प्रकार की वीणा या सारंगी । अँबिरती<एक प्रकार की तंत्री । गह=आनंद । (५) चंग= एक प्रकार की डफ । उपंग<उपांग; =ढोल की भाँति का एक बाजा । नाग सुर= एक प्रकार का फूंक से बजाया जाने वाला बाजा । तूर<तूर्य=तुरही । महुअरि< मधुकरी=तूमड़ी का बना एक प्रकार का फूँककर बजाया जाने वाला बाजा, (६) हुडुक=एक प्रकार का चमड़े से मढ़ा डमरू की आकृति का बाजा । (७) तंत, वितंत, सिखर घनतार=वंतंत, वितंत, शिखर, धनतार । वाद्य-विशेष । जायसी के समय के वाद्य-यंत्रों के संबंध में दे० आइन-ए-अकबरी' जिल्द ३, पृ० २६९-७० । इस प्रकार के प्रसंग की योजना अनेक कार्यों में मिलती है । दे० प्रस्तुत लेखक का 'मध्ययुगीन' युद्ध-वर्णन का एक रोचक प्रसंग, भारतीय साहित्य, जुलाई १९५७, पृ० ४३ ।

बीजानगर केर सब गुनी । करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी ।
प्रथम राग भैरौ तेन्ह कीन्हा । दोसरें मालकौस पुनि लीन्हा ।
पुनि हिंडोल राग तिन्ह गाए । चौथें मेघमलार सोहाए ।
पुनि उन्ह सिरी राग भल किया । दीपक कीन्ह उठा बरि दिया ।
छवउ राग गाएन भल गुनी । औ गाएन छत्तीस रागिनी ।
ऊपर भई सो पातर नाँचहिं । तर भै तुरुक कमानैं खाँचहि ।

सरस कंठ भल राग सुनावहिं । सबद देहिं मानहुँ सर लागहि ।
सुनि सुनि सीस धुनहिं सब कर मलि मलि पछिताहिं ।
कब हम हाथ चढ़हिं ये पातरि नैनन्ह के दुख जाहिं ॥५२८॥

अर्थ—(१) विजयनगर के समस्त गुणी (कलावन्त) चौगुनी बुद्धि (प्रतिभा) के साथ आलाप कर रहे थे । (२) पहले उन्होंने भैरव राग किया (गाया), दूसरी बार उन्होंने मालकौस लिया । (३) पुनः (तीसरी बार) उन्होंने हिंडोल राग गाया, और चौथी बार सुन्दर मेघमलार गाया । (४) पुनः (पाँचवीं बार) उन्होंने भले श्री राग को किया; [छठी बार] उन्होंने दीपक किया, [जिसके गाते ही] दीपक जल उठा । (५) इन अच्छे गुणियों ने छहों राग गाये, और [पुनः] छत्तीस रागिनियों को गाया । (६) [गढ़ के] ऊपर [स्थित] होकर वे पातरें नाचती थीं, और नीचे [स्थित] हो कर तुर्क [उन्हें लक्ष्य बनाने के लिए] अपनी धनुषें खींच रहे थे । (७) वे पातरें सरस कंठ से भले राग सुना रही थीं, और जो शब्द उच्चारण कर रही थीं, वे इन तुर्क सैनिकों-सामंतों को बाणों के समान लग रहे थे । (८) [उन शब्दों को] सुन-सुन-कर वे सिर पीट रहे थे, और हाथ मल-मलकर पछता रहे थे । (९) [वे कहते थे,] "ये पातरें कब ऐसा होगा कि हमारे हाथ आएँगी जिससे हमारे नेत्रों के दुःख जाएँगे ?"

टिप्पणी—(१) बीजानगर—जायसी के समय का दक्षिण का एक नगर जो पहले विजयनगर के नाम से प्रख्यात था ।

पतुरिनि नाँचै दिहें जो पीठी । परिगै सौहँ साहि कै डीठी ।
देखत साहि सिंघासन गूँजा । कब लगि मिरिग चंद रथ भूँजा ।
छाँड़हु बान जाहिं उपराहीं । गरब केर सिर सदा तराहीं ।
बोलत बान लाख भा ऊँचा । कोइ सो कोट कोइ पँवरि पहूँचा ।
मलिक जहाँगिर कनउज राजा । ओहि क बान पातरि कहँ बाजा ।
बाजा बान जंघ जस नाँचा । जिउ गा सरग परा भुइँ साँचा ।
उदसा नाँच नचनिया मारा । रहसे तुरुक बाजि गए तारा ।
जो गढ़ साजा लाख दस कोटि सवाँरेन्हि कोट ।
पातसाहि जब चाहै बचहि न कौनिहु ओट ॥५२९॥

अर्थ—(१) वे पातरें जो [बादशाह की ओर] पीठ देकर नाच रही थीं, [इस बात पर बादशाह का ध्यान गया] जब सम्मुख [स्थित] बादशाह की दृष्टि उन पर पड़ी । (२) यह देखते ही बादशाह सिंहासन पर [अपने सामंतों से] गर्ज उठा, "कब तक मृग चंद्र-रथ का भोग करेगा (ये गुणी तथा पातरें अपने स्वामी रत्नसेन की संरक्षा का सुख उठाती रहेंगी) ? [इन्हें लक्ष्य करके] बाण छोड़ो जो ऊपर जाएँ ; गर्व का सिर सदैव नीचा होता है ।" (४) [बादशाह के] ऐसा कहते ही एक लाख बाण उठ गए, किन्तु कोई गढ़ के परकोटे तक और [अधिक से अधिक] कोई राज-प्रतोली तक पहुँचा । (५) मलिक जहाँगीर कन्नौज का राजा था, उसी का बाण [नाचती हुई] पातर से टकराया । (६) वह बाण लगा और [उसके लगते ही] पातर की जाँघ जैसे नाच उठी उसका जीव स्वर्ग चला गया और उसका साँचा (शरीर) भूमि पर

गिर पड़ा। (७) नाच उदस (उठ) गया जब नर्तकी मारी गई ; तुर्क हर्षित हुए और उनकी तालियाँ बज गईं। (८) जिस गढ़ को दस लाख ने सजाया हो और जिसके परकोटे को करोड़ों ने सँवारा हो, (९) उसे जब बादशाह चाहे ही तब वह किसी की ओट (आड़---संरक्षा) में नहीं बच सकता है।

टिप्पणी--(१) सौंह<सउँह<सम्मुख। (४) पँवरि<प्रतोली=मुख्य द्वार। (६) सरग<स्वर्ग=आकाश। (७) उदस=बिछाई या फैलाई हुई वस्तु का समेटा जाना। रसह<रभस्=हर्ष। तार<ताल=ताली, हथोड़ी। (८) कोट=परकोटा।

राजैं पँवरि अकास चलाई। परा बाँध चहुँ फेर अलाई।
सेतबंध जस राघौ बाँधा। परा फेरु भुइँ भारु न काँधा।
हनिवँत होइ सब लाग गुहारा। आवहिं चहुँदिसि केर पहारा।
सेत फटिक सब लागै गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा।
खँड ऊपर खँड होहिं पटाऊ। चित्र अनेग अनेग कटाऊ।
सीढ़ी होति जाहिं बहु भाँती। जहाँ चढ़हिं हस्तिन्ह कै पाँती।
भा गरगज अस कहत न आवा। जनहुँ उठाइ गँगन कहँ लावा।
राहु लाग जस चाँदहि गढ़हि लाग तस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा रहा जाइ गढ़ काँध ॥५३०॥

अर्थ--(१) [इस घटना के बाद वह पौरि बन्द करके] राजा ने आकाश-पौरि चालू की, तो अलाउद्दीन का बाँध [गढ़] के चारों ओर पड़ गया। (२) जिस प्रकार राघव ने सेतुबंध बाँधा था, उसी प्रकार [के बाँध] का फेरा पड़ गया, जिसका भार भूमि नहीं वहन कर [पा] रही थी। (३) हनुमान [सदृश] होकर सब [सैनिक] गुहार में लग गए और चारों ओर के पहाड़ आने लगे। (४) गढ़ा हुआ श्वेत स्फटिक ही समस्त रूप से लग रहा था, इस प्रकार [सैनिकों ने] बाँध उठाकर चारों ओर से गढ़ को मढ़ दिया। (५) एक खंड के ऊपर दूसरा खंड पाटकर बन रहा था, जिसमें अनेक चित्र और अनेक कटाव हो रहे थे। (६) बहुत-सी भाँति की सीढ़ियाँ बनती जा रही थीं, जिन पर हाथियों की पंक्तियाँ चढ़ रही थीं। (७) इस प्रकार ऐसा गरगज तैयार हो गया कि कहने में नहीं आता है, मानो ऊँचा उठाकर वह गगन से लगा (मिला) दिया गया हो। (८) जिस प्रकार चन्द्र को राहु लगता है, उसी प्रकार गढ़ को वह बाँध लग गया। (९) समस्त दल को निगल (ले) कर वह खड़ा हो गया, और गढ़ के कंधे तक पहुँच रहा।

टिप्पणी--(१) आकाश-पँवरि<आकाश-प्रतोली : वह पौर जो गढ़ में सबसे अधिक ऊँचाई पर बनाई गई हो। अलाई=अलाउद्दीन का। (२) काँध=कंधे पर लेना, वहन करना। (३) गुहार<गोहक्कार<गो+आकार=पुकार, मदद। (७) गरगज=वह ऊँचा बाँध या टीला जो गढ़ के भीतर गोलाबारी करने के उद्देश्य से तोपों को रखने के लिए बनाया जाता था। (९) दर<दल।

राजसभा सब मतैं बईठी। देखि न जाइ मंदि भै डीठी।
उठा बाँध तस सब गढ़ बाँधा। कीजै बेगि भार जस काँधा।

उपजै आगि आगि जौं बोई । अब मत किएँ आन नहिं होई ।
भा तेवहार जो चाँचरि जोरी । खेलि फागु अब लाइअ होरी ।
समदहु फागु मेलि सिर धूरी । कीन्ह जो साका चाहिअ पूरी ।
चंदन अगर मलैगिरि काढ़ा । घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा ।
जौहर कहँ साजा रनिवाँसू । जेहि सत हिएँ कहाँ तेहि आँसू ।
पुरुखन्ह खरग सँभारे चंदन घेवरे देह ।
मेहरिन्ह सेंदुर मेला चहिन्हि भई जरि खेह ॥५३१॥

अर्थ--(१) राजा की पूरी सभा मंत्रणा के लिए बैठी । उसने कहा, "कुछ सूझ नहीं पड़ रहा है, दृष्टि [ऐसी] मंद हो गई है । (२) बाँध उठने के साथ-साथ समस्त गढ़ बँध गया है ; अब जैसा भार कंधे पर लिया गया है [तदनुसार] शीघ्र [कार्य] करना चाहिए । (३) यदि आग बोइएगा तो आग ही उत्पन्न होगी ; अब मंत्रणा करने से अन्य कुछ नहीं हो सकता है । (४) चाँचर का आयोजन करके जो त्यौहार हमें मनाना था वह [त्यौहार] हो चुका ; अब तो फाग खेलकर (युद्ध में रक्त-स्नान करके) होली लगाइए (जौहर कीजिए) । (५) अब सिर पर धूल डालकर फाग मिलिए ; जो साका किया गया, उसे पूरा करना चाहिए ।" (६) चंदन, अगुरु और मलयागिरि निकाले गए, तथा घर-घर चिताएँ रचकर खड़ी की गईं । (७) रनिवास ने जौहर के लिए [उत्साहपूर्वक] तैयारी की ; जिसके हृदय में सत होता है, उसे आँसू कहाँ आते हैं ? (८) पुरुषों ने खड्ग सँभाले और शरीर में चंदन का लेप किया, (९) स्त्रियों ने [माँग में] सिन्दूर डाला, [क्योंकि] उन्होंने जलकर धूल (राख) होना चाहा ।

टिप्पणी--(३) बोव् <वप्=बोना, बीज डालना । (४) चाँचर<चच्चरी< चचेरी=फ़ाग की ऋतु में गाया जाने वाला एक प्रकार का गीत। (५) समद्<सम्+आ+दा=गले मिलना, आलिंगन करना। साका<शाक=शत्रु के हाथों में बंदी होने की परिस्थिति आई हुई देखकर मर मिटने के लिए लड़ना। यह प्रथा संभवतः शकों से आई, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। (६) सरा<शर=चिता। (७) जौहर= शत्रु से मान-रक्षा के लिए स्त्रियों का जलती हुई अग्नि में भस्म होना। (८) घेवर्= लेप करना। (९) खेह=धूल, राख।

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा । धनि सुलतान कि राजा महा ।
आइ साहि अँबराँउजो लाए । फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए ।
हठि चूरौं तौ जौहर होई । पदुमिनि पाव हिएँ मति सोई ।
एहि बिधि ढीलि दीन्ह तब ताँई । ढीली की अरदासैं आई ।
पछिउँ हरेव दीन्ह जौ पीठी । सो अब चढ़ा सौहँ कै डीठी ।
जिन्ह भुइँ माँथ गँगन तिन्ह लागा । थाने उठे आउ सब भागा ।
उहाँ साह चितउर गढ़ छावा । इहाँ देस सब होइ परावा ।
जेहि जेहि पंथ न तिनु परत बाढ़े बैरि बबूर ।
निसि अँधियार बिहाइ तब बेगि उठै जब सूर ॥५३२॥

अर्थ--(१) [इस प्रकार] आठ वर्षों तक गढ़ घिरा रहा ; सुल्तान (अलाउद्दीन) धन्य था, अथवा कि वह महाराजा (रत्नसेन)। (२) बादशाह ने [चित्तौर] आकर जो आम्राराम लगाया था, उसके वृक्षों में फल आए और वे झड़ भी गए किन्तु बादशाह ने गढ़ को नहीं प्राप्त किया। (३) [उसने सोचा,] "यदि गढ़ को हठ पूर्वक [गोले बरसाकर] तोड़वा दूँ, तो जौहर होता है, और हृदय में यह विचार है कि पद्मिनी को किसी प्रकार प्राप्त करूँ।" (४) इस प्रकार (इस असमंजस में) उसने तब तक ढिलाई की जब तक कि दिल्ली से उसके पास अर्जदाश्तें (अनुरोध-पत्रिकाएँ) आईं। (५) [उनमें लिखा हुआ था,] "पच्छिम हिरात के थाने की ओर आपने जो पीठ फेर दी (उपेक्षा की), इसी कारण अब वह (वहाँ का जन-समूह) [दिल्ली के] सम्मुख दृष्टि करके चढ़ पड़ा है। (६) जिनके मस्तक पहले भूमि पर थे, उनके अब आकाश से लग रहे हैं, याने उठ गए हैं और [वहाँ के] सब लोग भागे आ रहे हैं। (७) वहाँ बादशाह चित्तौर गढ़ पर छाए हुए हैं, और यहाँ समस्त देश दूसरों का हो रहा है! (८) जिन-जिन मार्गों में पहले तृण भी नहीं पड़ते (उत्पन्न होते) थे, उनमें बैर, और बबूल बढ़ आए हैं। (९) यह अँधेरी रात्रि तब समाप्त होगी जब कि शीघ्र सूर्य का उदय होगा।"

टिप्पणी--(२) अँबराउँ<आम्राराम = आम्र का बाग। (३) चूर<चूरय्<चूर्ण्य् = चूर्ण करना, तोड़ना। (४) अरदासि<अर्ज़दाश्त = आवेदन-पत्र। (५) हरेउ<हिरात = हिरात का प्रान्त। हिरात उस समय मुग़लों के अधिकार में था, जो अलाउद्दीन के राज्य की सीमा पर थे। (६) थाना<स्थान = सैनिक सुरक्षा केन्द्र, जहाँ पर किसी भू-भाग पर अधिकार बनाए रखने के लिए कोई सैनिक टुकड़ी रक्खी जाती थी।

सुना साहि अरदासि जो पढ़ी। चिंता आनि आन जिअँ चढ़ी।
तब अगुमन मन चितै कोई। जो आपन चिंता कछु होई।
मन झूठा जिउ हाथ पराएँ। चिंता एक भए दुइ ठाँए।
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटा। होइ मेराउ कि सो गढ़ टूटा।
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। बेधौं रतन पान दै बीरा।
सरजा सेंती कहा यह भेऊ। पलटि जाहि जौं मानै सेऊ।
कहु तोसौं न पदुमिनी लेऊँ। चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ।
आपन देस खाहि भा निस्चल औरु चँदेरी लेहि।
समदन समुँद जो कीन्ह तोहि ते पाँचौं नग देहि ॥५३३॥

अर्थ—(१) जो अर्ज़दाश्त (अनुरोध-पत्रिका) पढ़ी गई, उसे बादशाह ने सुना, और उसके जी में और ही चिन्ता आकर चढ़ गई। (२) [उस ने अपने-आप से कहा,] "मन में कोई पहले से तब चिन्ता करे जब कि अपना सोचा हुआ कुछ होता हो। (३) मेरा मन [राज्य की माया में लिप्त है इसलिए] झूठा है, और मेरा जीव पराए (पद्मिनी) के हाथ में है ; [इस प्रकार] मैं दो स्थानों पर बँटा हुआ हूँ, यही एक चिंता है। (४) गढ़ से उलझकर तभी मुक्त हुआ जा सकता है, जबकि राजा से

मेल हो जाए अथवा गढ़ टूटे। (५) पाषाण का शत्रु हीरे के रूप में पाषाण ही होता है, [इस नीति के अनुसार] मैं भी पान का बीड़ा देकर (मेल-मिलाप का छद्म करके) उस रत्न (रत्नसेन) को विद्ध करूँगा।" (६) [तदनंतर] सरजा से उसने अपना यह भेद कहा [और कहा,] "तू [मेरे पास से] लौटकर [पुनः राजा के पास] जा और यदि वह तेरी सेवा [तेरा अनुरोध] स्वीकार करे, (७) [मेरी ओर से] तू उससे कहः 'मैं तुझसे पद्मिनी को [अब] नहीं ले रहा हूँ, और तोड़ा हुआ गढ़ भी छोड़ रहा हूँ; (८) तू निश्चल होकर अपना देश खा (भोग), और चन्देरी और (उसके अतिरिक्त) [मुझसे] ले जा, (९) केवल जो पाँच नग समुद्र ने तुझे भेंट किए थे, उन्हें तू मुझे दे दे।"

टिप्पणी—(१) अरदासि<अर्जदाश्त = आवेदन पत्र। (४) अरुझ<उत्+लुभ = उलझना। (५) पाहन<पाषाण। पाहन कर रिपुपाहन हीरा: रत्नों को बेधने के लिए हीरे की कनी का प्रयोग किया जाता है। (६) भेउ<भेद। (९) समद <सम्+आदा = आलिंगन करना, मिलना।

सरजा पलटि सिंघ चढ़ि गाजा। अग्याँ जाइ कही जहँ राजा।
अबहूँ हिएँ समुझु रे राजा। पातसाहि सौं जूझ न छाजा।
जाकरि धरी पिरिथिमी सेई। चहै त मारै औ जिउ देई।
पींजर महँ तूँ कीन्ह परेवा। गढ़पति सो बाँचै कै सेवा।
जब लगि जीभि अहै मुख तोरें। पँवरि उघेलु बिनौ कर जोरें।
पुनि जौं जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै को बोलै देई।
आगें जस हमीर मत मंता। जौं तस करसि तोर भावंता।
देखु कालिह गढ़ टूटिहि राज ओही कर होइ।
करु सेवा सिर नाइ कै घर न घालु बुधि खोइ ॥५३४॥

अर्थ—(१) सरजा [बादशाह के पास से] लौटकर सिंह पर चढ़कर गर्ज उठा और जहाँ पर राजा (रत्नसेन) था, उसने [बादशाह की] आज्ञा जाकर कही। (२) [उसने कहा,] "हे राजा, तू अपने हृदय में अब भी समझ; बादशाह से तेरा युद्ध करना शोभा नहीं देता है। (३) जिसके द्वारा सेवित पृथ्वी को तू धारण कर रहा है, वह चाहे तो तुझे मारे और चाहे तो जीवनदान करे। (४) तुझे उसने पिंजर में का पारावत (पक्षी) कर रक्खा है, इसलिए ऐ गढ़पति, तू उसकी सेवा करके ही बच सकता है। (५) जब तक तेरे मुख में जिह्वा है, तू अपनी पौरि [उसके स्वागत में] खोल और उससे हाथ जोड़कर विनय कर। (६) [क्योंकि ऐसा न करने पर] तदनंतर यदि वह तेरी जिह्वा पकड़कर तेरे प्राण ले लेगा तो कौन तुझे तेरी पौरि खोलने और बोलने [की शक्ति] देगा? (७) फिर भी, जैसा हमीर ने मंत्र विचारा था, यदि तू भी वैसा ही करे, तो तेरी इच्छा! (८) तू देख ले, कल गढ़ टूटेगा और उसी का राज्य होगा। (९) [इसलिए] तू उसे सिर झुकाकर उसकी सेवा कर; बुद्धि खोकर घर को न फेंक (बिगाड़)

टिप्पणी—(१) गाज्<गज्ज्<गर्ज् = गर्जन करना। (३) सेई<सेवित। (४) परेवा<पारेवय<पारावत = कबूतर, पक्षी। (५) पँवरि<प्रतोली = मुख्य

द्वार। हमीर = रणथंभौर नरेश जिसने अलाउद्दीन से युद्ध करके प्राण दे दिए थे। घाल्<घल्ल = डालना, फेंकना।

सरजा जस हमीर मन थाका। ओर निबाहेसि आपन साका।
ओहि अस हौं सकबंधी नाहीं। हौं सो भोज विक्रम उपराहीं।
बरिस साठ लहि अन्न न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा।
तेह ऊपर जौं पै गढ़ टूटा। सत सकबंधी केर न छूटा।
सोरह लाख कुँवर हहिं मोरे। परहिं पतिंग जस दीपक अँजोरे।
तेहि दिन चाँचरि चाहौं जोरी। समदौं फागु लाइ कै होरी।
जो दै गिरिहिनि राखत जीऊ। सो कस आहि निपुंसिक पीऊ।
अब हौं जौहर साजि कै कीन्ह चहौं उजियार।
फागु गएँ होरी बुझें कोउ समेंटहु छार ॥५३५॥

अर्थ--(१) [रत्नसेन ने उत्तर दिया,] "ए सरजा, [तूने हम्मीर की जो बात कही सो] जैसा हमीर था, जिसने मन के थक (हार) जाने पर भी अपने साके का निर्वाह अंत (सीमा) तक किया, (२) वैसा साका बाँधने वाला तो मैं नहीं हूँ; फिर भी मैं भोज और विक्रम से ऊपर (बढ़कर) हूँ ही। (३) [मेरे गढ़ में] साठ वर्षों तक अन्न कम नहीं पड़ सकता है, और पानी पहाड़ बिना माँगे चूता ही रहता है। (४) उस पर भी यदि गढ़ टूट गया तो सकबंधी का सत तो नहीं छूटने वाला है। (५) मेरे [साथ] सोलह लाख कुमार हैं, जो [इस प्रकार प्राणों की आहुति देना जानते हैं जैसे पतिंगे दीपक के उजाले (लौ) पर गिरते हैं। (६) [जिस दिन गढ़ टूटेगा,] उसी दिन मैं चाँचर जोड़ना (करना) चाहूँगा, और उसी दिन होली लगा (जला) कर फाग मिलूँगा। (७) जो गृहिणी देकर अपने प्राणों को रखता है, वह नपुंसक [गृहिणी का] (प्रिय पति) किस प्रकार है? (८) अब मैं जौहर साजकर प्रकाश करना चाहता हूँ। (९) फाग हो जाने और होली [की आग] के बुझ जाने पर [भले ही] कोई हमारी राख को समेटे [हमें जीवित अवस्था में वह नहीं पा सकता है]।"

टिप्पणी --(१) थाक्<थक्क = श्रान्त होना। साका<शाक = शत्रु के हाथों में बन्दी होने की स्थिति जानकर मर मिटने के लिए लड़ना। यह प्रथा संभव है कि शकों से आई हो, इसलिए इसका यह नाम पड़ा हो। (३) खाँग् = पूराना पड़ना, कम पड़ना। (५) अँजोर<औज्ज्वल्य = प्रकाश। (६) चाँचरि<चच्चरी = फाग की ऋतु का एक गीत। (९) छार<क्षार = राख।

अनु राजा सो जरै निआना। पातसाहि कै सेव न माना।
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना। अंत भए लंका के रवना।
जेहिं दिन ओइँ छेंकी गढ़ घाटी। भएउ अन्न तेहि दिन सब माँटी।
तूँ जानहि जल चुवै पहारू। सो रोवै मन सँवरि सँघारू।
सोतहि सोत अैस गढ़ रोवा। कस होइहि जौं होइहि ढोवा।
सँवरि पहार सो ढारै आँसू। पै तोहि सूझ न आपन नासू।
आजु कालि्ह चाहै गढ़ टूटा। अबहुँ मानु जौं चाहसि छूटा।

हहिं जो पाँच नग तो सिउँ लै पाँचौं करु भेंट ।
मकु सो एक गुन मानै सब औगुन धरि मेंट ॥५३६॥

अर्थ--(१) "अवश्य, ऐ राजा, वह निदान जलता ही है जो बादशाह की सेवा करना स्वीकार नहीं करता है। (२) बहुतों ने ऐसा ही (तेरी ही भाँति) गढ़ में संचय किया था, किन्तु वे सभी अन्त में लंका के रावण हो [कर नष्ट हो] गए। (३) जिस दिन वह गढ़ की घाटियाँ छेंकेगा (बंद कर देगा) उसी दिन तेरे गढ़ का समस्त अन्न मिट्टी हो जाएगा। (४) तू समझता है कि पहाड़ [तेरे गढ़ में] जल चूता है ; किन्तु [सच पूछो तो] वह आने वाले संहार (विनाश) का मन में स्मरणकर रोता है। (५) जब ऐसे ही तेरा गढ़ स्रोतों-स्रोतों से रो रहा है, तो जब [शाही सेना का] ढोवा (पुंजीकरण) होगा [और वह एक साथ आघात करेगी], तब कैसा होगा ? (६) उसी का स्मरण करके पहाड़ आँसू गिराता है, किन्तु तुझे अपना विनाश नहीं दिखाई पड़ रहा है ! (७) आज या कल गढ़ टूटना ही चाहता है ; [इसलिए] अब भी मान ले, यदि तू [उस विनाश से] छूटना चाहता है। (८) तेरे साथ जो पाँच नग हैं, उन पाँचों को लेकर तू उसे भेंट कर दे। (९) संभव है कि वह एक यही गुण मान ले और तेरे समस्त अवगुणों को [इस एक गुण के कारण] मिटा दे (क्षमा कर दे)।"

टिप्पणी--(१) अनु = अवश्य। अनुमोदनात्मक अव्यय। (२) सजौना = सज्जा। (३) घाटी <उत्तरण के लिए उपयुक्त स्थल। (४) सोत <स्रोत। ढोवा = सैनिक सहायता, सैनिक शक्ति का पुञ्जीकरण। (८) सिउँ <सउँ <समम् = साथ।

अनु सरजा को मेंटै पारा । पातसाहि बड़ आहि हमारा ।
औगुन मेंटि सकै पुनि सोई । औरु जो कीन्ह चहै सो होई ।
नग पाँचौं औ देउँ भँडारा । इसकंदर सौं बाँचै दारा ।
जौं यह बचन तौ माँथें मोरें । सेवा करौं ठाढ़ कर जोरें ।
पै बिनु सपत न अस मन माना । सपत क बोल बचा परवाना ।
नाइत माँझ भँवर हति गीवाँ । सरजैं कहा मंद यहु जीवाँ ।
खंभ जो गरुव लेहिं जग भारू । ताकर बोल न टरै पहारू ।
सरजैं सपत कीन्ह छर बैनन्हि मीठै मीठ ।
राजा कर मन माना साजे तुरित बसीठ ॥५३७॥

अर्थ--(१) [राजा ने कहा,] ऐ सरजा, "अवश्य [बादशाह की बात को] कौन मिटा सकता है ? बादशाह हमारा बड़ा है। (२) पुनः वही [मेरे] अवगुण भी मिटा सकता है, और जो वह करना चाहे, वही होता है। (३) मैं उसे वे पाँचों नग और भांडार देने को प्रस्तुत हूँ, बस किसी प्रकार [उस] सिकन्दर से यह दारा बच जाए। (४) यदि यही उसका वचन (आदेश) है, तो मेरे मस्तक पर है ; मैं [उसके समक्ष] हाथ जोड़े हुए खड़ा रहकर सेवा करने को प्रस्तुत हूँ। (५) किन्तु बिना शपथ के मेरा मन इस प्रकार नहीं मान रहा है शपथ का बोल प्रमाण वचन होता है।" (६) सरजा ने कहा, "यदि कोई नाइत्त (समुद्री व्यापारी) की भँवर के मध्य गर्दन मारे, तो [अवश्य ही] ऐसा [नृशंस] जीव मंद (अधम) होगा। (७) किन्तु जो गुरु स्तंभ

जगत् का भार उठाता है, उसका बोल पहाड़ सदृश नहीं टलता है।" (८) सरजा ने ऐसी छल पूर्ण शपथ की जो वचनों में मधुर ही मधुर थी। (९) राजा का मन मान गया (राजा को विश्वास हो गया) और तुरत ही उसने [अपने] बसीठों को सजाया।

टिप्पणी—(१) अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय (३) इसकंदर=सिकंदर जिसने दारा को परास्त किया था। दारा<फ़ारस का एक प्रतापी राजा। (४) ठाढ़ <ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा। (५) सपत<शपथ। परवान<प्रमाण। (६) नात<णायत्त [दे०] = समुद्री व्यापारी। (९) बसीठ<वसिष्ठ (?) = दूत।

हंस कनक पिंजर हुति आना। औ अंब्रित नग परस पखाना।
औ सोनहा सोने की डाँड़ी। सारदूर रूपे की काँड़ी।
बसिठ दीन्ह सरजा लै आए। पातसाहि पहँ आनि मिलाए।
ऐ जग सूर पुहुमि उजिआरे। बिनती करहिं काग मसि कारे।
बड़ परताप तोर जग तपा। नवौ खंड तोहिं कोइ न छपा।
कोह छोह दूनौ तोहि पाहाँ। मारसि धूप जियावसि छाहाँ।
जौं मन सुरुज चाँद सौं रूसा। गहन गरासा परा मँजूसा।
भोर होइ जौं लागै उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैनि कै कागा काइँ अभाग ॥५३८॥

अर्थ—(१) वह सोने के पिंजड़े में से हंस ले आया, अमृत, नग, और स्पर्श पाषाण (पारस पत्थर) लाया (२) और सोनहा लाया जो सोने की डंडी पर [बैठा] था, और शार्दूल (शरभ) लाया जो रौप्य (चाँदी) के कटहरे में [रक्खा हुआ] था। (३) [इन्हें लाकर] उसने [साथ-साथ] वसीठों (दूतों) को दिया, और सरजा के द्वारा लाए जाकर ये बादशाह से मिलाए गए (बादशाह के सम्मुख लाए गए)। (४) [उन्हें सामने रखते हुए बसीठों ने कहा,] "ऐ जगत् के सूर्य और पृथ्वी के प्रकाश, मसि के से काले कौए तुझसे विनती कर रहे हैं। (५) तेरा बड़ा प्रताप जगत् में तप्त हो रहा है, और नौ खंड [पृथ्वी] में तुझसे कोई छिपा नहीं [रह सका है]। (६) क्रोध तथा कृपा—दोनों तेरे पास हैं; तू धूप में मार सकता है, और छाया में जीवित भी कर सकता है। (७) यदि तू सूर्य चन्द्र (राजा) से मन में रुष्ट हो जाए, तो चन्द्र (राजा) ग्रहण से ग्रसित होकर मंजूषा (कटहरा—बंदीगृह) में पड़ जाए। (८) जब प्रभात होने लगता है, तब कौए [इसलिए] रोर कर उठते हैं (९) कि जब रात्रि की समस्त कालिमा छूट रही है, तो क्या कौओं का ही अभाग्य है [कि उनकी कालिमा न छूटे]?"

टिप्पणी—(१)-(२) इन अर्द्धालियों में उल्लिखित पाँच नगों के लिए दे० ४१९. ४-६। इन्हें समुद्र ने रत्नसेन को विदाई में दिया था। (२) काँड़ी<कण्डिका = कटहरा। (४) उजिआर<औज्ज्वल्य = प्रकाश। (६) कोह<क्रोध। छोह=कृपा। (८) रोर<रव=शोर। (९) काइँ<किम = क्या। इस चरण की तुलना कीजिए खुसरो के 'खाजाइन उल-फुतूह' की प्रभात् होने के संबंध में कही गई इस उक्ति से; "the wild black crow of darkness assumed a white colour" (खजाइन-उल-फुतूह : में हबीब कृत अनुवाद, पृ० ५४)

कै बिनती अग्याँ असि पाई । कागहु सैं आपुहि मसि लाई ।
पहिलें धनुक नवै जब लागे । काग न नए देखि सर भागे ।
अबहूँ तेहिं सर सौंह न होहीं । देखहिं धनुक चलहिं फिरि ओहीं ।
तिन्ह कागन्ह कै कौनु बसीठी । जो मुख फेरि चलहिं दै पीठी ।
जौं ओहि सर सौं होत संग्रामा । कत बग सेत होत ओइ स्यामा ।
करहिं न आपन उजिअर केसा । फिरि फिर करहिं पराव सँदेसा ।
काग नाग एइ दूनौ बाँके । अपने चलत स्याम भै आँके ।
अब कैसेहुँ मसि जाइ न मेंटी भे जो स्याम ओइ अंक ।
सहस बार जौं धोवहु तबहु गयंदहि पंक ॥५३९॥

अर्थ—(१) [बसीठों] विनती करके [उत्तर में] यह आज्ञा [बादशाह से] पाई, "कागों ने स्वयं आपही मसि लगा ली। (२) पहले जब [पक्षी] धनुष के सम्मुख नमित होने लगे, कौए नहीं नमित हुए, और वाण को देख कर भाग निकले। (३) वे अब भी इसीलिए वाण के सम्मुख नहीं होते हैं, और धनुष देखते हैं तो उसी प्रकार चल देते हैं। (४) उन कौओं की क्या बसीठी [मानी जाए] जो मुख फेर करके और पीठ देकर चल देते हैं। (५) यदि उस शर से [होने वाले] संग्राम में वे सम्मुख होते, तो वक (बगुले) क्यों श्वेत होते और वे क्यों श्याम होते? (६) वे (कौए) [स्वयं] अपने केश (पंख) उजले नहीं करते हैं, और बार-बार पराया संदेश (पराये की बात कि दूसरे श्वेत हुए जब कि वे काले ही बने रहे) कहते हैं। (७) कौए और नाग ये दोनों ही वक्र हैं, अपने करतब से ये श्याम होकर आँके गए। (८) अब इनकी मसि किसी प्रकार भी मिटाई नहीं जा सकती है जो वे [स्वतः] श्याम अंक के हो गए, (९) [जैसे] गजेन्द्र को सहस्र बार धोओ, तब भी उसके शरीर में पंक लगा ही हुआ मिलेगा।"

टिप्पणी—(१) सैं<सइं<स्वयं। (३) सौंह<सउँह<सम्मुख। (५) सेत<श्वेत। (६) उजिअर<उज्ज्वल<श्वेत। (७) बाँक<वंक=वक्र<टेढ़े। आँक्<अंक=अंकित करना।

इस छंद में काग वे हिन्दू शासक हैं जिन्होंने सुल्तान की वश्यता नहीं स्वीकार की; बक वे हैं, जिन्होंने सुल्तान के बल के सामने उसकी वश्यता स्वयं स्वीकार कर ली।

अब सेवाँ जौं आइ जोहारै । अबहूँ देखौं सेत कि कारै ।
कहहु जाइ जौं साँच न डरना । जहवाँ सरन नाहिं तहँ मरना ।
काल्हि आव गढ़ ऊपर भानू । जौं रे धनुक सौहँ हिय बानू ।
बसिठन्ह पान मया के पाए । लीन्ह पान राजा पहँ आए ।
जस हम भेंट कीन्ह गा कोहू । सेवा महँ पिरीति औ छोहू ।
काल्हि साहि गढ़ देखै आवा । सेवा करहु जैस मन भावा ।
गुन सौं चलै सो बोहित बोझा । जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा ।
भा आएसु राजा कर बेगिहिं करहु रसोइ ।
तस सुसार रस मेरवहु जेहिं रे प्रीति रस होइ ॥५४०॥

अर्थ--(१) "अब यदि मेरी सेवा में आकर वह मुझे जुहार करे, तो अब भी मैं देखूँ कि वह श्वेत है या काला। (२) उससे जाकर कहो, 'यदि सचाई है तो डर न होना चाहिए; और फिर जहाँ शरणागति है, वहाँ मरण [का भय] नहीं है। (३) कल गढ़ के ऊपर भानु (अलाउद्दीन) आएगा, यदि [मेरे साथ] धनुष हुआ (मेरे मन में कोई कुटिलता हुई) तो [मेरे] हृदय के सम्मुख [उसका] वाण भी तो होगा।" (४) बसीठों ने बादशाह से कृपापूर्ण स्नेह के पान पाए, और उन पानों को लेकर वे राजा के पास आए। (५) उन्होंने कहा, "हम जैसे ही उससे मिले, उसका क्रोध चला गया; सेवा में प्रीति और कृपा होती ही है। (६) कल बादशाह गढ़ देखने आएगा; उस समय जैसा तुम्हारे मन में भाए, उसकी सेवा करो। (७) गुण (अच्छाई तथा रस्सी) से बोझा (भार से लदा) हुआ बोहित्थ भी चलता है, [पर यदि अन्यथा दीख पड़े, तो] जहाँ पर धनुष है (मन में कुटिलता है), वहाँ पर उसके सीधे वाण हैं ही।" (८) राजा का आदेश हुआ, "शीघ्र ही रसोई करो, (९) और [भोजन के] स्वादिष्ट पदार्थों में ऐसा रस मिलाओ जिससे प्रीति का रस उत्पन्न हो।"

टिप्पणी--(४) मया=कृपापूर्ण स्नेह। (५) छोह=कृपा। (७) गुन<गुण=[१] अच्छाई, और [२] रस्सी। बोहित<बोहित्थ, वहित्र [दे०] जलयान। सोझ=सीध में। (८) आएसु<आदेश। रसोइ<रसवती। (९) सुसार=स्वादिष्ट पदार्थ। (तुल० २८३.१, ४०३.५)

छागर मेंढा बड़ औ छोटे। धरि धरि आने जहँ लगि मोंटे।
हरिन रोझ लगुना बन बसे। चीतर गौन झाँख औ ससे।
तीतर बटई लवा न बाँचे। सारस कूँज पुछारि जो नाँचे।
धरे परेवा पंडुक हेरी। खेहा गडुरू उसर बगेरी।
हारिल चरज आइ बँदि परे। बन कुकुटी जल कुकुटी धरे।
चकवा चकई केंव पिदारे। नकटा लेदी सोन सिलारे।
मोंट बड़े सब टोइ टोइ धरे। उबरे दुबरे खुरुक न चरे।
कंठ परी जब छूरी रकत ढरा होइ आँसु।
कै आपन तन पोखा भा सो परावा माँसु ॥५४१॥

अर्थ--(१) छागल (बकरे) और मेढ़े बड़े-छोटे जहाँ तक मोटे मिल सकें, पकड़-पकड़कर लाए गए। (२) हरिण, नीलगाय, लगुना, जो वन में निवास करते थे, चीतल, गौन, झाँख, और शशक [इसी प्रकार पकड़-पकड़ कर लाए गए]। (३) तीतर, बटेर, लवा न बच सके, तथा सारस, क्रौञ्च, और मोर जो नाचते थे [वे भी न बच सके]। (४) पारावत (कबूतर) और पंडुक ढूँढ-ढूँढकर पकड़े गए, और [इसी प्रकार] खेहा, गुडरू और ऊसर बगेरी [भी पकड़े गए]। (५) हारिल और चरज आकर बंधन में पड़े, तथा बन मुर्गियाँ, और जल मुर्गियाँ पकड़ी गईं। (६) चकवा, चकवी, केंव, पिछे, नकटे, लेदी, सोन और सिलारे (७) इनमें से जो भी [शरीर का पोषण कर] मोटे और बड़े हुए थे, सब टटोल-टटोलकर पकड़े गए। जो दुर्बल थे, वे बच गए, और वे बेखटक चर रहे थे। (८) जब इनके गले पर छुरी पड़ी, [इनकी आँखों से] इनका रक्त

आँसू बन कर गिरा, (९) [क्योंकि इन्होंने अनुभव किया] कि जिस शरीर को इन्होंने अपना करके पोषित किया था, वह मांस पराया हो गया ।

टिप्पणी--(१) छागर<छगल=बकरा । मेंढा<मेष=भेंडा । (२) रोझ<ऋष्य=नीलगाय । लगुना, चीतल, गौन, झाँख-ये हरिण जातियों के पशु हैं। ससा<शशक=खरगोश । (३)-(६) तीतर, बटई (बटेर), लवा, सारस, कुंज (क्रौञ्च), पुछारि (मोर), परेवा (पारावत-कबूतर), पंडुक, खेहा, गुडुरु, ऊसर बगेरी (ऊसर में रहने वाला एक पक्षी), हारिल, चरज, (मोर से मिलता-जुलता एक पक्षी) (बन मुर्गी), जलकुकुटी (जल मुर्गी), चकवा, चकवी, केंव (एक जलपक्षी), पिदार (पिद्दी), नकटा, बन कुकुटी (एक प्रकार की बत्तख), लेदी (एक प्रकार की छोटी बत्तख), सोन (एक प्रकार की बड़ी बत्तख), सिलार (एक प्रकार की बत्तख)-ये विभिन्न प्रकार की चिड़ियाँ हैं जिनका मांस खाया जाता रहा है ।

धरे मंछ पढ़िना औ रोहू । धीमर मारत करै न छोहू ।
संध सिलंध धरे जल बाढ़े । टेंगनि मोइ टोइ सब काढ़े ।
सिंगी मँगुरी बीनि सब धरे । नरिया भोथ बाँब बेगरे ।
मारे चरक चाल्ह परहाँसी । जल तजि कहाँ जाइ जल बासी ।
मन होइ मीन चरा सुख चारा । परा जाल दुख को निरुवारा ।
माँटी खाइ मंछ नहिं बाँचे । बाँचहि का जो भोग सुख राँचे ।
मारै कहँ सब अस कै पाले । को उबरा एहि सरवर घाले ।
एहि दुख कंठ सारि कै अगुमन रकत न राखा देह ।
पंथ भुलाइ आइ जल बाझे झूठे जगत सनेह ॥५४२॥

अर्थ--(१) पढ़िना और रोहू [नाम की] मछलियाँ पकड़ी गईं ; उन को मारने के समय धीमर दया नहीं करता था। (२) संध, सिलंध नामक मछलियाँ पकड़ी गईं जो जल में बढ़ती हैं, और टेंगनी और मोय भी टटोल-टटोल कर निकाली गईं। (३) सिंगी और मंगुरी नाम की मछलियाँ बीन-बीन कर रक्खी गईं। नरिया, भोथवा, बाम और बेगुर [मछलियाँ भी बीन-बीन कर रक्खी गईं] (४) चरक, चाल्हा और परहाँसी, मारी गईं, जल को त्याग कर ये जल की निवासिनी कहाँ जातीं ? (५) [इसी प्रकार मनुष्य का] मन मछली होकर यदि सुख का चारा चुगता है, और [मृत्यु के] जाल में पड़ता है, तो उसे उस दुःख से कौन निकाल सकता है । (६) मिट्टी खा-खाकर यदि मत्स्य नहीं बच सके, तो वे [मनुष्य] क्या बच सकते हैं जो भोग-सुख में अनुरक्त हैं ? (७) [संसार के समस्त प्राणी] इसी प्रकार मारे जाने के लिए पाले हुए हैं ; इस [संसार-] सरोवर में डाले जाने पर कौन उबर सका है ? (८) इसी दुःख से अपने कंठ (गले) को पहले से ही [यातनाओं की फाँसी में] ले जा (डाल) कर [मैंने] शरीर में रक्त को नहीं रहने दिया है। (९) किन्तु जो [कर्त्तव्य का] मार्ग भुलाकर [इस इन्द्रिय पोषण वाले] जल में आ पड़े हैं, वे [अवश्य ही] जाल में बिद्ध होंगे, क्योंकि संसार के स्नेह-संबंध झूठे हैं ।

टिप्पणी--(१)-(४) चरक, चाल्ह, परहाँसी, पढिना, रोहू, संध, सिलंध, टेंगरी,

मोइ, सिंगी, मँगुरी, नरिया, मोथ, बाँब और बेगरा विभिन्न प्रकार की मछलियों के नाम हैं। (२) सिलंध : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'सुगंध' था। डॉ० अग्रवाल ने 'सिलंध' का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव है इसलिए स्वीकार्य है। (५) निरुवार् = पकड़ कर निकालना। (६) माँटी<मट्टिआ<मृत्तिका = मिट्टी। राँच्<रच्च<रञ्ज् = अनुरक्त होना, आसक्त होना। (७) उबर् = उद् + वृ = शेष रहना, बच रहना। (८) सार्<सारय् = ले जाना। (९) बाझ्<बध् = बँधना, फँसना।

इस छंद की अंतिम पंक्तियों में शरीर को कृष करने की बात कही गई है।

देखत गोहूँ कर हिय फाटा। आने तहाँ होब जहँ आटा।
तब पीसे जब पहिलेहिं धोए। कापर छानि माँड भल पोए।
करिल चढ़े तहँ पाकहिं पूरीं। मूँठिहि माँह रहहिं सौ चूरीं।
जानहुँ सेत पीत ऊजरी। लैनू चाहि अधिक कोंवरी।
मुख मेलत खिन जाहिं बिलाई। सहस सवाद पाव जो खाई।
लुचुई पोय घीय सो भेईं। पाछें चहीं खाँड सों जेईं।
पूरि सोहारी करी घिउ चुवा। छुवत बिलाहि डरन्ह को छुवा।
कही न जाइ मिठाई कहति मीठि सुठि बात।
जेंवत नाहि अघाइ कोइ हिय बरु जाइ सिरात ॥५४३॥

अर्थ--(१) यह देखते ही गेहूँ का हृदय फट गया कि उसे वहाँ ले आया गया है जहाँ वह [पिस कर] आटा होगा। (२) पहले गेहूँ को धोया गया, तदनंतर पीसा गया और कपड़े से छान कर उसके अच्छे माँड पकाए गए। (३) कड़ाहे चढ़ाए गए थे। उनमें पूड़ियाँ पक रही थीं, जो मुट्ठी में लेने पर सौ टुड़े हो जाती थीं। (४) वे मानो श्वेत, पीत और उज्ज्वल थीं, और नवनीत से अधिक कोमल थीं। (५) मुख में डालते ही क्षण में विलीन हो जाती थीं, और उन्हें जो खाता था, सहस्र स्वाद पाता था। (६) लुचुई पका कर घी से तर की गईं, जिन्हें पीछे खाँड के साथ जीमना था। (७) पूरियाँ और सोहारियाँ ऐसी की गईं कि घी उनसे टपक रहा था, और वे छूते ही विलीन हो जातीं, इसलिए डर के मारे उन्हें कौन छूता? (८) उनकी मिठाई (मिठास) का कथन नहीं किया जा सकता है, उनकी बात ही कहने में इतनी अधिक मिठाई (मिठास) है। (९) उन्हें जीमने से कोई अघा नहीं सकता था, भले ही उसका हृदय [उनके जीमने से] शीतल हो जाता था।

टिप्पणी--(२) माँड<मंडअ<मण्डक = एक प्रकार की रोटी। मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'माँडि' था। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसके स्थान पर 'माँड' पाठ का सुझाव दिया है, जो अधिक संगत ज्ञात होता है। (३) करिल<कडिल्ल [दे०] = कड़ाह। (४) ऊजर<उज्ज्वल = निर्मल। कोंवरी<कोमल। (५) बिला<बि + ली = द्रवित होना, पिघलना। (६) लुचुई = तवे पर सिकी हुई एक प्रकार की मैदे की बहुत पतली पूरी जो अत्यधिक मुलायम होती है। भेईं<भेइअ<भेदित = भिगोई। (७) पूरी<पूरित = उबाली हुई दाल भरकर तवे पर सिकी हुई आटे की पूरी। सोहारी = आटे की सादी पूरी जो कड़ाहों में काढ़ी जाती है। (९) अघाय्<अग्घव = क्षुधापूर्ति करना।

सीझहिं चाउर बरनि न जाहीं। बरन बरन सब सुगँध बसाहीं।
रायभोग औ काजर रानी। झिनवा रुदवा दाउद खानी।
कपुरकांत लेंजुरि रतसारी। मधुकर देहुला जीरा सारी।
घिर्तकाँदौ औ कुँवर बेरासू। रामरासि आवै अति बासू।
कहिअ सो सोंधे लाँवे बाँके। सगुनी बेगरी पढ़िनी पाके।
गड़हन जड़हन बड़हन मिला। औ संसार तिलक खँडचिला।
रायहंस औ हंसा भौंरी। रूपमाँजरि केतुकी बकौरी।
सोरह सहस बरन अस सुगँध वासना छूटि।
मधुकर पुहुप सो परिहरे आइ परे सब टूटि ॥५४४॥

अर्थ--(१) चावल ऐसे-ऐसे सीझ रहे थे कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है ; वे सभी भाँति-भाँति की सुगंधों से सुवासित थे। (२) राय भोग, काजर रानी, झिनवा, रुदवा, दाऊद खानी, (३) कपूरकांत, लेंजुर, रतसारी, मधुकर, देहुला, जीरा-सारि, (४) घृत काँदौ, कुँअरविलास और राम राशि से अत्यधिक सुवास आती थी। (५) और जो सुगंधित, लंबे और उत्कृष्ट कहे जाते हैं, वे सगुनी, बेगरी और पढ़िनी पक रहे थे। (६) गड़हन, जड़हन, बड़हन वहाँ मिला (आया हुआ था), और संसार-तिलक तथा खंडचिला भी थे। (७) राजहंस, हंसा भौंरी, रूपमंजरी, केतकी, और बकावली भी थे। (८) [इस प्रकार] सोलह सहस्र वर्ण (भाँति) के चावल थे और उनसे ऐसे सुगंधित वासना (महक) निकल रही थी (९) कि मधुकर (भौंरे) पुष्पों को परित्याग कर उन पर आ टूट पड़े।

टिप्पणी--(१) सीझ्<सिध्=सिद्ध होना, भोजन के लिए तैयार होना। (२)-(७) इन पंक्तियों में विभिन्न जातियों के उत्कृष्ट चावलों के नाम आते हैं। (३) 'रतसारी' तथा 'देहुला' : 'मेरी जायसी-ग्रंथावली' में इनके स्थान पर पाठ था 'रितु-सारी' और 'ढेला'। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इनके स्थान पर 'रतसारी' और 'देहुला' पाठों का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव ज्ञात होते हैं, और इसलिए स्वीकार्य हैं। (९) पुहुप<पुष्प। परिहर<परि+हृ=त्याग करना, छोड़ना।

निरमल माँसु अनूप पखारा। तिन्ह के अब बरनौं परकारा।
कटवाँ बटवाँ मिला सुबासू। सीझा अनबन भाँति गरासू।
बहुतै सोंधै घिरित बघारा। औ तहँ कुंकुहँ पीसि उतारा।
सेंधा लोन परा सब हाँड़ी। काटे कंद मूर कै आँड़ी।
सोवा सौंफ उतारी धना। तेहि तें अधिक आव बासना।
पानि उतारा टाकहिं टाका। घिरित परेह रहा तस पाका।
औरु कीन्ह माँसुन्ह के खंडा। लाग चुरै सो बड़ बड़ हंडा।
छागर बहुत समूँचे घरे सरागन्हि भूँजि।
जो अस जेंवन जेंवै उठै सिंघ अस गूँजि ॥५४५॥

अर्थ--(१) निर्मल मांस अनुपम रीति से धोए गए। अब मैं उनके प्रकारों का वर्णन करता हूँ। (२) कटवाँ और बटवाँ मांस थे जिनमें सुवास मिश्रित था, और

उनसे अनोखे भाँति के ग्रास सीझे । (३) बहुत ही सुगंधित घृत में वे बघारे गए और तदनंतर केसर पीस कर उनमें उतारी (छोड़ी) गई । (४) समस्त हाँडियों में [जिनमें मांस पक रहा था] सैंधव लवण पड़ा, और कन्द-मूलादि की भी आँड़ियाँ काट कर डाली गईं । (५) सोवा, सौंफ और धनिया उतारी (छोड़ी) गईं उससे और भी वासना (महक) आने लगी । (६) पानी टाक ही टाक उतारा (छोड़ा) गया और शोरवा घृत का रहा, वह इस प्रकार पका । (७) और मांसों के खंड किए गए, जो बड़े-बड़े हंडों में पकने लगे । (८). [पुनः] बहुत से समूचे बकरे शलाकाओं में भून कर रक्खे गए । (९) जो भी ऐसा भोजन करे, वह सिंह की भाँति दहाड़ उठे ।

टिप्पणी--(१) **पखार्<प्रक्खाल्<प्र+क्षालय्=धोना** । (२) **कटवाँ=काटकर पकाया जाने वाला [मांस] । बटवाँ=पीसकर पकाया जाने वाला [मांस] । सीझ्<सिध्=सिद्ध होना । गरास<ग्रास । (३) सोंधा<सुगंधित । बघार्<बग्घार्<व्या+घृ=छौंक देना । कुंकुहँ<कुङ्कुम=केसर । उतार्,<उत्तार्<अव+तारय्=छोड़ना, नीचे डालना । (४) हाँडी<भाण्डिका । आँडी<अण्ड=गाँठ । (५) धना<धान्या=धन्या । (६) टाक=झटका (दे० 'बिहार पीजेंट लाइफ' पृ० ७८) परेह=रसा या शोरवा (दे० 'बिहार पीजेंट लाइफ', पृ० ३५२) (७) हंडा<भाण्ड=एक प्रकार का बड़ा बर्तन । (८) छागर<छगल=बकरा ।**

भूँजि समोसा घिय महँ काढ़े । लौंग मिरिच तिन्ह महँ सब ठाढ़े ।
औरु जो माँसु अनूप सो बाँटा । भे फर फूल आँब औ भाँटा ।
नारँग दारिवँ तुरुँज जँभीरा । औ हिंदुआना बालबाँ खीरा ।
कटहर बड़हर तेउ सँवारे । नरियर दाख खजूर छोहारे ।
औ जावँत खजेहजा होहीं । जो जेहि बरन सवाद सो ओहीं ।
सिरिका भेइ काढ़ि ते आने । कँवल जो कीन्ह रहहिं बिगसाने ।
कीन्ह मसौरा धनि सो रसोई । जो किछु सबहि माँसु हुतेँ होई ।
बारी आइ पुकारै लिहें सबै फर छूँछ ।
सब रस लीन्ह रसोईं अब मो कहँ को पूँछ ॥५४६॥

अर्थ--(१) [मांस भरे] समोसे भून कर घी में निकाले गए ; लौंग, मिर्च [आदि] उनमें समूचे ही पड़े थे । (२) और जो मांस था, वह अनुपम रीति से बाँटा (पीसा) गया और [उसे भरकर] फल, फूल, आम और भाँटे [तैयार] हुए । (३) नारंगी, दाड़िम (अनार), तुरुंज, जंभीर, हिन्दुआने (तरबूज), बालम खीरे [तैयार हुए] (४) कटहर और बड़हर होते हैं, वे भी सँवारे गए, और नारियल, किशमिश-मुनक्के, खजूर और छुहाड़े [सँवारे गए] ।(५) और भी जितने खाद्य-भर्ज्य होते हैं [वे सँवारे गए] और जो जिस वर्ण का था, उसका स्वाद [भी] उसी का था । (६) सिरके में भिगो कर और तदनंतर निकाल कर वे लाए गए थे । [इसी विधि से] जो कमल [तैयार] किये गये थे और वे खिले हुए बने थे । (७) इस प्रकार के मसौरे जिस में तैयार किए गए थे, वह रसोई धन्य थी ; जो कुछ भी उसमें था, सभी मांस से तैयार किया गया था । (८) वाटिका समस्त खाली फलों को लिए हुए आकर पुकार

रही थी, (९) "[मेरे फलों का] समस्त रस तो इस रसोई ने ले लिया (और वह उसमें मिल रहा है), तो मुझे [अब] कौन पूछेगा ?"

टिप्पणी--(१) ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा, समूचा। (५) जाँवत<यावत् =जितने। खजेहजा<खाद्य+भ्रज्ज्य=अपने प्राकृतिक रूप में खाए जाने वाले फलादि, और भून कर खाए जाने वाले शाकादि। बरन<वर्ण। (६) आन्<आ+नी=लाना। (७) मसौरा<मांस+वडग<मांस+वटक=मांस का बड़ा। (८) बारी<वाडिआ<वाटिका। छूँछ<तुच्छ=खाली [इस रसोई के सभी फल भरे हुए थे--उनमें मांस भून कर भरा हुआ था]।

काटे मंछ मेलि दधि धोए। औ पखारि चहुँ बार निचोए।
करुए तेल कीन्ह बिसवारू। मीठे कर तेहि दीन्ह धुँगारू।
जुगुति जुगुति सब मंछ बघारे। आँब चीरि तेहि माहँ उतारे।
ऊपर तेहिं तहँ चटपट राखा। सो रस परस पाव जो चाखा।
भाँति भाँति तिन्ह खँडरा तरे। अंडा तरि तरि बेहर धरे।
घिउ टाटक महँ सोधि सिरावा। नक्ख बघारि कीन्ह अरदावा।
कुंकुहँ परा कपूर बसाई। लौंग मिरिचि तेहि ऊपर लाई।
घिरित परेह रहा तस हाथ पहुँच लहि बूड़।
बूढ़ खाइ तौ होइ नवजोबन सौ मेहरी लै ऊड़ ॥५४७॥

अर्थ--(१) मछलियाँ काट-काट कर दही में धोई गईं, और उन्हें पानी में चार बार पखार कर उनका पानी निचोड़ दिया गया। (२) कड़ए तेल का बसिवारा किया गया और मीठे तेल का धुँगार दिया गया। (३) भाँति-भाँति की युक्तियों से सब मछलियाँ बघारी गईं और आम की फाँकें चीर-चीर कर उनमें उतारी (छोड़ी) गईं। (४) तदनंतर ऊपर से चटपटे [मसाले] रखे गए। उस रस का स्पर्श (स्वाद) वही पा सकता जो उसे चखता। (५) भाँति-भाँति के उनके खंडरे (कटे हुए टुकड़े) तले गए। अंडे तल-तल कर अलग रक्खे हुए थे। (६) टटके (ताज़े) घी में उन्हें सोंधा बनाकर ठंडा किया हुआ था, और [तदनंतर] नख की बघार दे कर उनका. अरदावा [तैयार] किया गया था। (७) कपूर से सुवासित कर उसमें केसर डाली गई थी, और लौंग तथा मिर्च उसके ऊपर लगाई हुई थी। (८) शोरबे के रूप में घी इस प्रकार [पड़ा हुआ] था कि हाथ [डाला जाए] तो पहुँचे तक डूब जाए (९) उसे यदि बुड्ढा खा ले, तो उसे नव यौवन प्राप्त हो जाए और वह सौ स्त्रियों को ले उड़े।

टिप्पणी--(१) मंछ<मच्छ<मत्स्य। पखार्<प्रक्षालय्=धोना। (२) करुआ तेल=कड़ुआ तेल, सरसों का तेल। बिसवार<वेसवार=धनिया, राई, मिर्च, सोंठ तथा मसाले की छौंक। धुंगार=जीरा, हींग आदि सुवासित पदार्थों की छौंक। (दे० ५४८.४) (३) बघार्<व्या+घृ=तप्त तैल-घृत आदि को डालकर छौंकना। (५) बेहर<विहडिअ<विघटित=अलग। (६) सिराव्<शीतलाय्=शीतल करना। नक्ख<नख=नाखूना नाम की एक सुगंधित वनस्पति। नक्ख बघारि : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'घरिव बघारि' था, जिसके स्थान पर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

ने 'अनेक बखान' पाठ रक्खा है। किन्तु पुनर्विचार के अनंतर ज्ञात होता है। कि पाठ 'नख बघारि' या 'नक्ख बघारि' होना चाहिए। (८) परेह<तरकारी का रसा या झोर (दे० 'बिहार पीजेंट लाइफ़', पृ० ३५२) (९) ऊड़्<उड्डी = उड़ना, ले भागना।

भाँति भाँति सीझी तरकारी। कइउ भाँति कुम्हड़ा कै फारी।
भै भूँजी लौआ परबती। रैता कहँ काटे कै रती।
चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा। अरुई कहँ भल अरिहन बाँटा।
तोरई चिचिंडा डिंडसी तरे। जीर धुँगारि कलै सब धरे।
परवर कुँदरू भूँजे ठाढ़े। बहुते घियँ चुरुचुर कै काढ़े।
करुई (करुअई) काढ़ि करैला काटे। आदी मेलि तरे किए खाटे।
रींधे ठाढ़ सेंब के फारा। छौंकि साग पुनि सोंधि उतारा।
सीझी सब तरकारी भा जेंवन सब ऊँच।
दहुँ जेंवत का रूचै केहि पर दिस्टि पहूँच ॥५९८॥

अर्थ--(१) तरकारियाँ भाँति-भाँति की सिद्ध हुईं ; कई भाँति की तो कुम्हड़े की फाँकें थीं। (२) पर्वतीय लौकी की भूँजी हुई और रायते के लिए उसे रत्ती-रत्ती करके काटा गया। (३) चूक लगा कर भाँटा रींधा गया और अरवी के लिए अच्छा अरिहन पीसा गया। (४) तुरई, चिचिंड़ा और डेंडसी तले गए और जीरे से धुँगार कर और कला कर सब रक्खे गए। (५) परवल और कुंदरू खड़े (समूचें) भूने गए और बहुत-से घी में वे चुरचुरे करके काढ़े गए। (६) कड़ुआहट (कड़ुआ अंश) निकाल कर के करैले काटे गये, तथा अदरख डाल कर और खट्टे करके वे तले गए। (७) सेम की फांकें खड़ी (समूची) रींधी गईं, और शाक को छौंक कर और तदनंतर सोंधा करके उतारा गया। (८) समस्त तरकारियाँ सिद्ध हुईं और समस्त जेंवन (भोज्य पदार्थ) ऊँचा (उत्कृष्ट) [तैयार] हुआ। (९) इस प्रकार उत्तम भोजन के तैयार करते में विचार यह सामने रक्खा गया था कि पता नहीं जीमते समय [बादशाह को] क्या रुच जाए और किस पर [उसकी] दृष्टि जा पहुँचे।

टिप्पणी--(१) सीझ्<सिध् = सिद्ध होना। (२) भूँजी<भज्जिअ<र्भाजत = भून कर बनाई गई तरकारी। रैता = रायता, राई डालकर दही में बनाया गया लौकी या किसी भी शाक का एक व्यंजन। (३) चुक्क = नींबू और नारंगी के रस से बनी एक प्रकार की खटाई (दे० 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द २, पृ० १८२)। अरिहन = तरकारी के रस को गाढ़ा करने के लिए उसमें मिलाया जाने वाला बेसन या आटा। (४) धुँगार = हींग, जीरे आदि सुगंधोत्पादक पदार्थों की छौंक। कलव् = आग पर चढ़ाकर कुरकुरा करना। (६) करुअई = कड़ुआहट, वह अंश जिसमें कुड़आहट होती है।

घिरित कराहन्हि बेहर धरा। भाँति भाँति सब पाकहिं बरा।
एकहि आदि मिरिच सिउँ पीठे। औरु जो दूध खाँड सों मीठे।
भई मुँगौछी मिरिचैं परी। कीन्ह मुंगौरा औ गुरबरी।
भई मेंथौरी सिरका परा। सोंठि लाइ कै खिरसा धरा।
मीठ महिउ औ जीरा लावा। भीजि बरी जनु लैनू खावा।

खँडुई कीन्ह अँबचुर तेहिं परा । लौंग लाइची सिउँ खँडि धरा ।
कढ़ी सँवारी औ डुभुकौरी । औ खँडवानी लाइ बरौरी ।
पान लाइ कै रिंकवछ छौंके हींगु मिरिच औ आद ।
एक कठहँडी जेंवत सत्तरि सहस सवाद ॥५४९॥

अर्थ--(१) घी कड़ाहों में अलग रक्खा था, [जिसमें] भाँति-भाँति के बड़े पक रहे थे। (२) एक अदरक और मिर्च के साथ पीठे हुए थे और दूसरे जो थे वे दूध तथा खाँड से मीठे किए हुए थे। (३) मुँगौछी हुई (बनी) थी, जिसमें मिर्चें पड़ी हुई थीं, और मूँगबड़ा तथा गुड़बड़ा भी किए (बनाए) गए थे। (४) मेंथौरी हुई (बनी)थी, जिसमें सिरका पड़ा था और सोंठ लगाकर खिरसा रक्खा गया था। (५) मीठा मही था और उसमें ज़ीरा लगाया (पड़ा) हुआ था ; उसमें जो बड़ी भीग रही थी, वह खाने में ऐसी [मुलायम] थी मानो नवनीत हो। (६) खँडुई भी (बनाई) गई थी जिसमें अमचुर पड़ा हुआ था ; वह लौंग तथा इलायची के साथ खंडित कर के रक्खी गई थी। (७) कढ़ी सँवारी गई थी, और डुभकौरी भी, और खँडवानी लगा कर बरौरी भी [सँवारी गई थी]। (८) [अरवी के] पत्ते लगाकर रिंकवछ [बनाए गए थे] जो हींग, मिर्च तथा अदरक से छौंके हुए थे। (९)·[इन व्यंजनों की] एक-एक कठहंडी जीमते समय सत्तर सहस्र [प्रकार के] स्वाद [प्राप्त] होते थे।

टिप्पणी--(१) बेहर<विहडिअ<विघटित = अलग किया हुआ। (२) आदि< आर्द्रक = अदरक। पीठ् = [उड़द आदि की] पिट्ठी से तैयार करना। (३) मुंगौछी= मूँग की पीठी का एक व्यंजन जिसमें अरवी आदि के पत्ते पड़ते हैं। मुंगौरा<मुग्ग-वडअ<मुद्ग-वटक = मूँग का बड़ा। गुरबरी = मीठी बड़ी। (४) मेंथौरी = मेंथी की बड़ी। खिरसा = दूध से बना हुआ एक प्रकार का मीठा व्यंजन। (५) मही<मथित = मट्ठा। लैनू<नवनीत। (६) खँडई = पकाकर जमाए हुए बेसन के टुकड़ों का एक व्यंजन। (७) डुभकौरी=भिगोई हुई पकौड़ी। खँडवानी<खण्ड+पानीय= खाँड का पानी। बरौरी = [उड़द की?] बड़ी। (८) पान<पण्ण<पर्ण = पत्ता। रिकवछ = उड़द की पीठी में अरवी के पत्ते मिलाकर बनाए और पीठी के रसे में पकाए हुए बड़े। (९) कठहंडी<काष्ठ-भाण्डिका = काठ का बर्त्तन।

तहरी पाकि लोनि औ गरी। परी चिरौंजी औ खुरुहुरी।
घिरित भूँजि कै पागा पेठा। औ भा अंब्रित गुरँब गरेठा।
चुंबक लोहड़ा औटा खोवा। भा हलुवा घिउ करै निचोवा।
सिखरन सोंधि छनाई गाढ़ी। जामा दूध दहिउ सिउँ साढ़ी।
और दहिउ के मोरँड बाँधे। औ संधान बहुत तिन्ह साँधे।
मै जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खिनु जाइ बिलाई।
मोंतिलडु छाल और मुरकुरी। माँठ पेराक बुँद दुरहुरी।
फेनी पापर भूँजे भए अनेग परकार।
मै जाउरि पछियारि सीझा सब जेंवनार ॥५५०॥

अर्थ--(१) तहरी पकी हुई थी, जो [देखने में] सुंदर और [खाने में] गली

हुई (मुलायम) थी ; उसमें चिरौंजी और खुरुहुरी (?) पड़ी हुई थीं। (२) घी में भून कर पेठा पागा गया था, और गरेठा गुरंब अमृत [तुल्य] हुआ (बना) था। (३) चुंबक के लोहे की कड़ाही में खोया औटा गया था ; वह हलुआ [जैसा] हुआ था, और उससे घी निचुड़ रहा था। (४) सोंधी (सुगंधित द्रव्यों से युक्त) सिखरन गाढ़ी छनाई हुई थी और साढ़ी युक्त दूध का दही जमा हुआ था। (५) और दही के मोरंड बाँधे गए थे, और बहुत से संधान (अँचार-चटनी) साँधे हुए थे। (६) जो मिठाइयाँ हुईं (बनीं) थीं, वे अकथनीय थीं, मुँह में डालते ही वे क्षण में विलीन हो जाती थीं। (७) मोतीचूर के लड्डू, छालें (पपड़ियाँ ?), मुरुकुरी, माँठ, पेराक, ढुरहुरी और बुंदिया हुई (बनीं)। (८) फेनी तथा पापड़ भूने गए थे जो अनेक प्रकार के हुए (बने) थे। (९) [पुनः] जाउर की पछियाउर हुई थी। इस प्रकार समस्त भोजन सिद्ध हुआ था।

टिप्पणी--(१) तहरी=चावल की खिचड़ी। खुरुहुरी<क्षुद्र फुल्ली (?)। (२) गुरंब=गुड़ के शीरे में पकाया हुआ आम। गरेठा<गरिष्ठ=भारी, [शीरे से] भरा पूरा। (३) लोहडा=लोहे की कड़ाही (दे० 'बिहार पीज़ेंट लाइफ़', पृ० १३१) (४) सिखरन<श्रीखण्ड (?)=दही और चीनी मिलाकर बनाया गया एक घोल। सिउँ<समम्=साथ। (५) मोरंड<मयूराण्ड=मोदक। संधान=अँचार-चटनी। सांध्<सं+धा=मिलाना, कुछ पदार्थों को मिलाकर कोई व्यंजन तैयार करना। (७) छाल<खल्ला [दे०]=वल्कल [की आकृति की पपड़ी]। मुरकुरी<मुरुविक=इमरती (?)। माँठ=बड़ी मठरी। पेराक=गोझा, गुझिया। ढुरहुरी=ढुलकने वाली, गोल। (८) फेनी=फेन के रंग का मैदे का एक व्यंजन (९) जाउरि=चावल की नमकीन खीर (दे० 'बिहार पीज़ेंट लाइफ़' पृ० ३५०)। पछियाउरि=अंत में परसा जाने वाला मीठा व्यंजन।

जेति परकार रसोइँ बखानी। तब भइ जब पानी सौं सानी।
पानी मूल परेखौ कोई। पानी बिना सवाद न होई।
अंम्रित पानि न अंम्रित आना। पानी सों घट रहै पराना।
पानि दूध महँ पानी घीऊ। पानि घटे घट रहै न जीऊ।
पानी माहँ समानी जोती। पानिहि उपजै मानिक मोती।
पानी सब महँ निरमरि करा। पानि जो छुवै होइ निरमरा।
सो पानी मन गरब न करई। सीस नाइ खाले कहँ ढरई।
मुहमद नीर गँभीर जो सो नै मिलै समुंद।
भरे तें भारी होइ रहे छूँछे बाजहि दुंद ॥५५१॥

अर्थ--(१) [ऊपर] जितनी प्रकार की रसोई वर्णित हुई है, वह तब हुई जब पानी से सानी गई। (२) पानी ही समस्त [रसोई का] मूल है, कोई भी इस बात को देख ले ; बिना पानी के स्वाद की स्थिति नहीं है। (३) अमृत [वास्तव में] पानी ही है, अमृत अन्य (इससे भिन्न कोई पदार्थ) नहीं है। पानी से ही शरीर में प्राण रहता है। (४) पानी दूध में है, पानी घी में है, और पानी के घट जाने पर जीव भी शरीर

में नहीं रहता है। (५) पानी में ज्योति समाई होती है, और पानी में ही माणिक्य-मुक्ता उत्पन्न होते हैं। (६) पानी ही [सृष्टि के] समस्त पदार्थों में निर्मल कला का है, [इसीलिए] जो पानी का स्पर्श करता है, वह निर्मल हो जाता है। (७) [किन्तु[वह पानी गर्व नहीं करता है, [उल्टे] सिर झुका कर नीचे की ओर ढुलक जाता है। (८) मुहम्मद कहता है, जो पानी (मनुष्य) गंभीर (गहरा) होता है, वह नमित हो कर समुद्र (ईश्वर) में जा मिलता है। (९) जो पात्र (मनुष्य) [इस पानी से] भरे होते हैं, वे भारी होते हैं, और जो रीते रहते हैं, वे तो दुंदुभी (नगाड़े) [की भाँति] का-सा शब्द करते हैं।

टिप्पणी--(१) जेति<यावत्→जितना। बखान्<वक्खाण=वर्णन करना। (२) परेख्<प्रेक्ष्य=देखना। (६) करा<कला। (९) छूँछ<तुच्छ=रीता, खाली। दुंद<दुंदुहि<दुंदुभि (?) = नगाड़ा।

सीझि रसोई भएउ बिहानू। गढ़ देखै गवनै सुलतानू।
कँवल सहाइ सूर सँग लीन्हा। राघौ चेतनि आगें कीन्हा।
तेतखन आइ बेवान पहूँचा। मन सो अधिक गँगन सौं ऊँचा।
उघरी पँवरि चला सुलतानू। जानहुँ चला गँगन कहँ भानू।
पँवरि सात सातौ खँड बाँकी। सातौ गढ़ि काढ़ी दै टाँकी।
जानु उरेह काटि सब काढ़ीं। चित्र मूरति जनु बिनवहिं ठाढ़ीं।
आजु पँवरि मुख भा निरमरा। जौं सुलतान आइ पगु धरा।
लख लख बैठ पँवरिया जिन्ह सौं नवहिं करोरि।
तिन्ह सब पँवरि उघारी ठाढ भए कर जोरि ॥५५२॥

अर्थ--(१) रसोई सिद्ध हुई और प्रभात हुआ; गढ़ देखने के लिए सुल्तान गया। (२) कमल (पद्मिनी) की प्राप्ति में सहायक (सरजा ?) को उस सूर्य (सुल्तान) ने साथ लिया और राघव चेतन को उसने अपने आगे किया। (३) उसी क्षण (अविलंब) [सुल्तान का] विमान [गढ़ पर] आ पहुँचा, वह मन से अधिक [वेगवान]और आकाश से अधिक ऊँचा था। (४) राजपौरि उघाड़ी (खोली) गई और सुल्तान [आगे] चला, मानो सूर्य ही आकाश [पर चढ़ने] के लिए चला हो! (५) [गढ़ के] सात खंडों में बाँकी (सुदृढ़) सात पौरियाँ थीं, वे सातों टाँकी के द्वारा गढ़कर काढी (निकाली) गई थीं। (६) उन पौरियों पर बनी हुई आकृतियाँ ऐसी लगती थीं [मानो वे सभी उरेहों (रेखा-चित्रों) को काट कर निकाली (उभाड़ी) गई हों, अथवा वे चित्रों [यथा भित्ति-चित्रों] की मूर्त्तियाँ हों जो खड़ी-खड़ी निवेदन कर रही हों। (७) आज उन पौरियों का मुख निर्मल हो गया क्योंकि सुल्तान ने आकर [उनमें] पैर रक्खा। (८) एक-एक लाख पौरी-रक्षक उन पौरियों पर बैठे हुए थे, जहाँ करोड़ों सिर झुकाते थे। (९) उन्होंने उन पौरियों को उघाड़ा (खोला) और वे [बादशाह के सम्मुख] हाथ जोड़ कर खड़े हो गए।

टिप्पणी--सीझ्<सिध् = सिद्ध होना, तैयार होना। (१) बिहान<विहाण[दे०]= प्रभात। (२) सहाय = किसी कार्य अथवा किसी की प्राप्ति में सहायक। (३) तेतखन<

तत्क्षण। (४) पँवरि<प्रतोली = मुख्य द्वार। (५) बाँकी<बंक<वक्र। (६) उरेह< उल्लेह<उल्लेख = रेखांकित आकृति। (८) पँवरिआ = प्रतोली-रक्षक। नव्<नम् = नमित होना, झुकना। (९) उवार्<उग्घाड्<उद्‌घाटय् = उघाड़ना, खोलना।

सातहुँ पँवरिन्ह कनक केवारा। सातहुँ पर बाजहिं घरियारा।
सातहुँ रंग सो सातहुँ पवँरी। तब तहँ चढ़ै फिरैं सत भँवरी।
खँड खँड साजी पालक पीढ़ी। जानहुँ इंद्र लोक की सीढ़ी।
चंदन बिरिख सुहाई छाँहा। अंम्रित कुंड भरे तेहि माहाँ।
फरे खजेहजा दारिवँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा।
सोने क छात सिंघासन साजा। पैठत पँवरि मिला लै राजा।
चढ़ा साहि चितउर गढ़ देखा। सब संसार पाँव तर लेखा।
साहि जबहि गढ़ देखा कहा देखि कै साजु।
कहिअ राज फुर ताकर सरग करै जो राजु ॥५५३॥

अर्थ--(१) सातों पौरियों में सोने के किवाड़ थे, और सातों पर घड़ियाल बजते थे। (२) उन सातों पौरियों के [अलग-अलग] सात रंग थे, और उन पर तभी कोई चढ़ सकता था जब कि सात भाँवरें (चक्कर) फिर लेता था। (३) प्रत्येक खंड में पालक-पीढ़ी ऐसी सजी (बनी) हुई थी मानो वह इन्द्रलोक की सीढ़ी हो। (४) वहाँ चंदन के वृक्षों की सुखद छाया थी, और उस [छाया] में अमृत के कुण्ड भरे हुए थे। (५) खाद्य-भर्ज्य, दाड़िम--द्राक्षा आदि फले हुए थे और जो उस मार्ग से जाता, वही उन्हें चख सकता था। (६) सोने का छत्र और सिंहासन सजाया हुआ था। सुल्तान ने जैसे ही पवँरी में प्रवेश किया, [आगे से] ले कर राजा उससे मिला। (७) [जब] इस प्रकार चढ़ कर सुल्तान ने चित्तौर गढ़ को देखा, तो उसे समस्त संसार पैरों के तले ज्ञात हुआ। (८) बादशाह ने जैसे ही वह गढ़ देखा, उसकी सज्जा देख कर उसने कहा, (९) "राज्य स्फुट रूप में (सचमुच) उसी का कहिए जो [इस प्रकार] स्वर्ग में राज्य करता हो।"

टिप्पणी--(१) केवार<कवाड़<कपाट। घरिआर=घड़ी का समय पूरा होने पर बजाया जाने वाला घंटा। (३) पालक पीढी<पर्यङ्क-पीठ = सीढ़ियों के बीच बीच में पड़ने वाली चौड़ी सीढ़ियाँ, जो चढ़ने वालों को सुस्ताने के लिए सुविधा देती हैं। (५) खजेहजा<खाद्य-भ्रज्य = अपने प्रकृत रूप में खाए जाने वाले तथा भून कर खाए जाने वाले फल-शाकादि। दाख<द्राक्षा = किशमिश-मुनक्का। (६) छात<छत्त< छत्र। (९) फुर<फुड<स्फुट = स्पष्ट, व्यक्त, विशद।

चढ़ि गढ़ ऊपर बसगति देखी। इंद्रपुरी सो जानु बिसेखी।
ताल तलाव सरोवर भरे। औ अँबराउँ चहूँ दिसि फरे।
कुँवा बावरी भाँतिन्ह भाँती। मढ़ मंडप तहँ भे चहुँ पाँती।
राय राँक घर घर सुख चाऊ। कनक मँदिल नग कीन्ह जराऊ।
निसि दिन बाजहिं मादर तूरा। रहस कोड सब लोग सेदूरा।
रतन पदारथ नग जो बखाने। खोरिन्ह महँ देखिअ छिरिआने।

मँदिल मँदिल फुलवारी बारी । बार बार तहँ चित्तरसारी ।
पाँसा सारि कुँवर सब खेलहिं स्रवनन्ह गीत ओनाहि ।
चैन चाउ तस देखा जनु गढ़ छेंका नाहिं ॥५५४॥

अर्थ--(१) गढ़ के ऊपर चढ़ कर [सुल्तान ने] चित्तौर की बस्ती देखी, और उसे ऐसा लगा कि मानो वह कोई विशिष्ट इन्द्रपुरी हो। (२) ताल, तालाब, और सरोवर भरे हुए थे, और आम्राराम चारों ओर फले हुए थे। (३) भाँति-भाँति के कूप और वापिकाएँ थीं, और गढ़ (मंदिर) और मंडप वहाँ चारों ओर पंक्तियों में [बनाए] हुए थे। (४) राजा-रंक [प्रत्येक] के घर में सुख–चाव था कनक-मंदिरों में नगों का जड़ाव किया हुआ था। (५) रात-दिन मर्दल और तूर्य बजते रहते थे और सभी लोग, हर्ष और कौतुक में रँगे रहते थे। (६) रत्न, पदार्थ, तथा जो [बहुमूल्य] नग वर्णित किए गए हैं, उन्हें वहाँ की गलियों में छिटका देखा। (७) घर-घर में फुलवारी और वाटिका थी, और द्वार-द्वार पर वहाँ चित्रशालिका थी। (८) सारे कुमार या तो पाँसा और गोटियाँ खेल रहे थे, अथवा कानों से गीत सुन रहे थे ; (९) वहाँ पर उसने ऐसा सुख और ऐसा हर्षोल्लास देखा मानो गढ़ घेरा ही न गया हो।

टिप्पणी--(१) बसगति = बस्ती। (२) तलाब<तलाग<तडाग = सरोवर, तालाब। अँबराउँ<आम्राराम=आम्र का बाग़। (३) बावरी<वापी। (५) मादर<मर्दल=मृदंग की जाति का एक बाजा। रहस<रभस् = हर्ष। कोड<कोड्ड [दे०] = कौतुक। (७) बारी<वाडिआ=वाटिका। बार<वार<द्वार। (८) पाँसा<पार्श्व=[चौपड़ का] पासा। सारि<शारि=[चौपड़ की] गोटी। ओनाय्=कान लगाना, सुनना।

देखत साहि कीन्ह तहँ फेरा । जहाँ मँदिल पदुमावति केरा ।
आस पास सरवर चहुँ पासाँ । माँझ मँदिल जनु लाग अकासाँ ।
कनक सँवारि नगन्हि सब जरा । गँगन चाँद जनु नखतन्ह भरा ।
सरवर चहुँ दिसि पुरइनि फूली । देखा बारि रहा मन भूली ।
कुँवर लाख दुइ बार अगोरे । दुहुँ दिसि पँवरि ठाढ़ कर जोरे ।
सारदूर दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े । गल गाजहिं जानहुँ रिसि ठाढ़े ।
जावँत कहिअै चित्र कटाऊ । तावँत पँवरिन्ह लाग जराऊ ।
साहि मँदिल अस देखा जनु कबिलास अनूप ।
जाकर अस धौराहर सो रानी केहि रूप ॥५५५॥

अर्थ--(१) देखते-देखते बादशाह ने वहाँ फेरा किया जहाँ पद्मावती का मंदिर (प्रासाद) था। (२) उसके आस-पास चारों ओर सरोवर थे, और उनके मध्य में वह मंदिर [इतना ऊँचा था] मानो आकाश से लग (मिल) रहा हो। (२) वह सोने से सँवार कर सब का सब नग-जटित था, और ऐसा लगता था मानो आकाश में नक्षत्रों से पूरित चन्द्रमा हो। (४) सरोवरों में चारों ओर कमलिनी फूली (खिली) हुई थी, उन सरोवरों का जल देख कर [बादशाह का] मन भूला रहा। (५) दो लाख कुमार उसके द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे, और वे [उस मंदिर की] पौरि के दोनों ओर हाथ जोड़े हुए खड़े थे। (६) [उस पौरि के] दोनों ओर शार्दूल (शरभ) गढ़ कर

बनाए हुए थे ; [वे इस प्रकार लग रहे थे] मानो क्रोध में खड़े होकर वे गड़गड़ा रहे हों (७) जितने [प्रकार थे] भी चित्र और कटाव कहे जा सकते हैं, उतने [प्रकार के] उन पौरियों में हुए थे और उनमें जड़ाव के पत्थर भी लगे हुए थे। (८) बादशाह ने वह मंदिर इस प्रकार देखा मानो वह अनुपम कैलास (शिवलोक) ही हो, (९) [और उसने मन में कहा,] "जिस [रानी] का ऐसा धवलगृह (प्रासाद) है, वह रानी किस [अनुपम] रूप की होगी ?"

टिप्पणी--(४) पुरइनि<पुडइणी<पुटकिनी=कमलिनी। (५) बार<वार< द्वार। अगोर्=प्रतीक्षा करना, बाट देखना। (६) सारदूर<शार्दूल=शरभ। <गलगाज्<गलगर्ज् = गड़गड़ाना। (८) कबिलास<कैलास=शिवलोक। (९) धौराहर<धवलगृह=प्रासाद।

नाँघत पँवरि गए खँड साता। सोनै पुहुमि बिछावन राता।
आँगन साहि ठाढ़ भा आई। मँदिल छाँह अति सीतलि पाई।
चहूँ पास फुलवारी बारी। माँझ सिंघासन धरा सँवारी।
जनु बसंत फूला सब सोने। हँसहि फूल बिगसहिं फर लोने।
जहाँ सो ठाँउ दिस्टि महँ आवा। दरपन भा दरसन देखरावा।
तहाँ पाट राखा सुलतानी। बैठि साहि मन जहाँ सो रानी।
कँवल सहाय सूर सौं हँसा। सूर क मन सो चाँद पहँ बसा।
सो पै जान पेम रस हिरदैं पेम अँकूर।
चंद्र जो बसै चकोर चित नैनन्ह आव न सूर ।।५५६।।

अर्थ--(१) पौरियों को लाँघते हुए वे सातवें खंड में पहुँचे। [उस खंड में] फर्श सोने की थी, और बिछावन लाल था। (२) बादशाह आँगन में आकर खड़ा हुआ, उस मंदिर में उसे अत्यधिक शीतल छाया प्राप्त हुई। (३) चारो ओर फुलवारियाँ और वाटिकाएँ [बनी हुई] थीं, बीच में सँवार कर सिंहासन रक्खा गया था। (४) [उन फुलवारियों और बाटिकाओं में] मानो वसंत सोना होकर फूल रहा था ; फूल हँस रहे थे और सुंदर फल विकसित हो रहे थे। (५) जहाँ वह स्थान दृष्टि में आया, [उसे ऐसा ज्ञात हुआ मानो] वह [उसके लिए] दर्पण हो गया था, जिसमें [उसका अपना] रूप दिखाई पड़ रहा था। (६) वहाँ पर [बादशाह का] सुल्तानी सिंहासन रक्खा गया, [जिस पर] बादशाह बैठ गया, किन्तु उसका मन वहाँ लगा हुआ था, जहाँ रानी (पद्मावती) थी। (७) कमलिनी (पद्मिनी) की सहायों (सखियों) ने सूर्य (अलाउद्दीन) के सम्मुख [किंचित्] हास किया, किंतु सूर्य (अलाउद्दीन) का मन तो चंद्र (पद्मिनी) पर बस रहा था [उनके हास पर उसने ध्यान न दिया]। (८) हो न हो, वही प्रेम के रस को जानता है जिसके हृदय में प्रेम अंकुरित होता है। (९) यदि चकोर के चित्त में चन्द्रमा बस रहा है, तो उसे सूर्य नहीं दिखाई पड़ता है।

टिप्पणी--(१) नाँघ्<लङ्घ्। पुहुमि<पृथ्वी=फ़र्श। (२) ठाढ़<ठड्ढ< स्तब्ध=खड़ा। (६) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। (७) सहाय=सहायिका, सखी। मेरी 'जायसी-ग्रंथावली' में पाठ 'सुभाय' था, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'सहाइ' का

सुझाव दिया है, जो अधिक संगत और इसलिए स्वीकार्य है, यद्यपि अर्थ के विषय में मेरा मत भिन्न है। उन्होंने 'कँवल सहाय' का अर्थ सरजा किया है; किन्तु 'सरजा' बादशाह के सम्मुख हास नहीं कर सकता था, वह तो उसका भृत्य था।

रानी धौराहर उपराहीं। गरबन्ह दिस्टि न करहिं तराहीं।
सखीं सहेलीं साथ बईठी। तपै सूर ससि आव न डीठी।
राजा सेव करै कर जोरें। आजु साहि घर आवा मोरें।
नट नाटक पतुरिनि औ बाजा। आनि अखार सबै तहँ साजा।
पेम क लुबुध बहिर औ अंधा। नाच कोड जानहुँ सब धंधा।
जानहुँ काठ नचावै कोई। जो जियँ नाँच न परगट होई।
परगट कह राजा सौं बाता। गुपुत पेम पदुमावति राता।
गीत नाद जस धंधा धिकै बिरह कै आँच।
मन की डोरि लागि तेहि ठाँई जहाँ सो गहि गुन खाँच॥५५७॥

अर्थ--(१) रानी (पद्मावती) धवलगृह (प्रासाद) के ऊपर थी, और गर्व के कारण दृष्टि नीचे नहीं कर रही थी। (२) वह सखियों-सहेलियों के साथ बैठी थी; नीचे सूर्य (अलाउद्दीन) तप रहा था किन्तु वह चन्द्र (पद्मावती) दृष्टि नहीं आ रहा था। (३) राजा हाथ जोड़े हुए [सुल्तान की] सेवा कर रहा था, कि आज उसके घर बादशाह आया था। (४) उसने नट, नाटक, पातुरें, वाद्य--इनका अखाड़ा ला कर सब कुछ वहाँ सजा कर रक्खा था। (५) किन्तु प्रेम-लुब्ध तो बहरा और अंधा होता है; उसके लिए नृत्य और कौतुक सब [झूठे] धंधे होते हैं। (६) [उसें अपने संबंध में ऐसा लग रहा था] मानो वह कोई काठ [का पुतला] हो जिसे कोई नचा रहा हो, किन्तु उसके जी में जो नृत्य चल रहा हो, वह प्रकट न हो रहा हो। (७) प्रत्यक्ष तो वह राजा (रत्नसेन) से बातें कर रहा था, किन्तु गुप्त रूप से वह पद्मावती पर अनुरक्त था। (८) उसके लिए गीत और वाद्य लोक-धंधे जैसे थे, क्योंकि वह स्वयं विरह की अग्नि में तप्त हो रहा था; (९) उसके मन की [यथा पुतले की] डोरी तो उस स्थान पर लगी हुई थी जहाँ वह (उसको नचाने वाला) उस गुण (डोरी) को पकड़ कर खींच रहा था।

टिप्पणी--(१) धौराहर<धवलगृह=प्रासाद। (४) अखार<अक्षवाटक। आघाट=अखाड़ा, नर्तक-गायक-मंडली। (५) कोड<कोड्ड[दे०]=कौतुक। (८) नाद=वाद्य। धिक्=तपना, तप्त होना।

गोरा बादिल राजा पाहाँ। राउत दुवौ दुवौ जनु बाहाँ।
आइ स्रवन राजा के लागे। मूसि न जाहि पुरुख जौं जागे।
बाचा परखि तुरुक हम बूझा। परगट मेरु गुपुत छर सूझा।
तुम्ह न करहु तुरुकन्ह सौं मेरू। छर पै करहिं अंत के फेरू।
बैरी कठिन कुटिल जस काँटा। सो मकोइ रहि चूरिहि आँटा।
सतुरु कोटि जौं पाइअ गोटी। मींठे खाँड जेंवाइअ रोटी।
हम सों ओछ कै पावा छातू। मूल गए सँग रहै न पातू।

इहाँ किस्न बलि बार जस कीन्ह चाह छर बाँध ।
हम बिचार अस आवै मेरहि दीज न काँध ।।५५८।।

अर्थ—(१) राजा के पास (उसके पार्श्ववर्ती) गोरा और बादिल थे ; दोनों रावत थे और दोनों मानो [राजा के] दोनों बाहु थे । (२) वे आकर राजा के कानों में [कहने] लगे, "यदि मनुष्य जागता रहे तो उसे मूसा नहीं जा सकता है । (३) वचन की परख करके हम ने तुर्कों को समझ लिया है ; प्रकट रूप में वे मेल रखते हैं, किन्तु गुप्त रूप में उन्हें छल सूझता है । (४) तुम तुर्कों से मेल न करो ; अंत के दावँ में वे हो न हो छल करते ही हैं । (५) कठिन वैरी काँटे जैसा कुटिल होता है; वह मकोय [की भाँति] वने रहने पर चूर-चूर करके ही निपटता है । (६) शत्रु की कोटि में यदि [चौपड़ की] गोट भी पाइए तो [यह नीति है कि] उसे मीठी खाँड के साथ रोटी जिमाइए [और इसी नीति का पालन बादशाह भी कर रहा है ; इसके मधुर व्यवहार से हमें धोखा न खाना चाहिए] । (७) और यदि ओछा कर्म (धोखा) करके यह [हमारे] छत्र (राजा) को पा गया, तो मूल के जाने पर उसके साथ का पत्ता भी नहीं रहता है (राजा के वश में हो जाने पर उसके सामंतादि भी वश में हो जाते हैं) । (८) जिस प्रकार कृष्ण ने बलि के द्वार पर पहुँचकर छल से उसे बाँधा था, उसी प्रकार यह भी [तुम्हारे गढ़ में आकर] छल से तुम्हारा वन्धन करना चाहता है । (९) इस-लिए हमारे मन में ऐसा विचार आता है कि मेल को कंधा न दिया जाए (अंगीकार न किया जाए) ।

टिप्पणी—(१) राउत<राअउत्त<राजपुत्र । (२) मूस्<मुष्=चुराना, अपहरण करना । (५) सो मकोय. . .आँटा : तु० झाँखर जहाँ सो छाडहु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा । (३७.६) आँट्=कर पाना, कर निबटना । (६) गोटी<गुटिका=[चौसर की] गोटी । (७) ओछ<तुच्छ=ओछा कर्म, बुराई । छात<छत्त<छत्र । पात<पत्त<पत्र । (८) बार<वार=द्वार ।

सुनि राजा हियँ बात न भाई । जहाँ मेरु तहँ अस नहिं भाई ।
मंदहि भल जो करै भलु सोई । अंतहु भला भले कर होई ।
सतुरु जौं बिख दै चाहै मारा । दीजै लोन जानु बिख सारा ।
बिख दीन्हे बिखधर होइ खाई । लोन देखि होइ लोन बिलाई ।
मारें खरग खरग कर लेई । मारै लोन नाइ सिर देई ।
कौरवँ बिख जौं पंडवा दीन्हा । अंतहुँ दाँउ पंडवन्ह लीन्हा ।
जो छर करै ओहि छर बाजा । जैसें सिंघ मंजूसा साजा ।
राजैं लोन सुनावा लाग दुहूँ जस लोन ।
आए कोंहाइ मंदिल कहँ सिंघ जानु औगौन ।।५५९।।

अर्थ—(१) राजा को यह बात सुनकर पसंद न आई, [और उसने कहा,] "हे भाई, जहाँ पर मेल होता है, वहाँ ऐसी बात नहीं [होती है] । (२) बुरे के साथ भी जो भलाई करे, वही भला है ; और अंत में भी भले का भला ही होता है । (३) शत्रु यदि विष दे कर मारना चाहता है और उसे आप अपना लवण (उपकार) दीजिए,

तो मानो आपने उसे विष ही सरकाया (दिया)। (४) विष देने पर वह विषधर (सर्प) हो कर खाएगा, जब कि लवण (उपकार) देख कर वह [स्वतः] लवण हो कर विलीन हो जाएगा। (५) खड्ग से मारने पर वह हाथ में खड्ग लेगा, और लवण (उपकार) से मारने पर वह सिर झुका देगा। (६) कौरवों ने जो पांडवों को विष दिया, तो अंत तक भी पांडवों ने दाँव लिया। (७) जो छल करता है, छल [लौट कर] उसी पर बजता है (जाता है), जिस प्रकार सिंह ने [छल करके] मंजूषा साजी थी (अपने छल के परिणाम-स्वरूप वह मंजूषा में बन्द हुआ था)।" (८) राजा ने जब [शत्रु के साथ] लवण (उपकार) [का सिद्धान्त] सुनाया, वह उन दोनों को [जले पर] लवण जैसा लगा। (९) वे क्रुद्ध होकर (रुठ कर) अपने घर को [इस प्रकार] चले आए मानो सिंहों ने अपगमन किया हो [उन्हें हार कर या असफल हो कर पीछे हटना पड़ा हो]।

टिप्पणी—(३) सार्<सारय्=सरकाना। (४) बिला<वि+ली=विलीन होना। (७) बाज्<वज्ज<व्रज्=जाना। जैसें सिंघ मंजूसा साजा: कथा है कि एक सिंह पिंजड़े में बन्द था। उसे एक ब्राह्मण ने जब उसके अनुनय विनय करने पर निकाल दिया, वह ब्राह्मण को ही खाने के लिए दौड़ा। ब्राह्मण ने जब इस पर आपत्ति की तो सिंह ने कहा कि मनुष्य तो मेरा भक्ष्य है, पाने पर उसे छोड़ना न चाहिए। झगड़ा न निपटता देख कर उन्होंने पंचायत की शरण ली। पंचों ने कहा, "तुम दोनों की बातें हम ठीक ठीक समझ नहीं पा रहे हैं; यदि तुम दोनों अपनी पूर्व की स्थितियों में हो जाओ तब मामला स्पष्ट हो।" यह सुनकर सिंह जब पिंजड़े में चला गया, उसे पुनः उसमें बन्द कर दिया गया। (९) कोहाय्<क्रुध्=क्रोध करना। औगौन<अपगमन=[हार कर या असफल हो कर] पीछे हटना।

राजा कें सोरह सै दासीं। तिन्ह महँ चुनि काढ़ीं चौरासीं।
बरन बरन सारी पहिराईं। निकसि मँदिल हुतें सेवाँ आईं।
जनु निसरीं सब बीर बहूटीं। रायमुनी पिंजर हुति छूटीं।
सबै प्रथम जोबन सौं सोहीं। नैन बान औ सारँग भौंहीं।
मारहिं धनुक फेरि सर ओहीं। पनघट घाट ढंग जेत होहीं।
काम कटाख रहैं चित हरनी। एक एक तें आगरि बरनी।
जानहुँ इंद्र लोक तें काढ़ीं। पाँतिन्ह पाँति भईं सब ठाढ़ीं।
साहि पूँछ राघौ कहँ सर तीखे नैनाहँ।
तैं जो पदुमिनी बरनी कहु सो कवन इन्ह माहँ॥५६०॥

अर्थ—(१) राजा (रत्नसेन) के यहाँ सोलह सै दासियाँ थीं, उनमें उसने चौरासी दासियों को चुन कर ले लिया। (२) उन्हें उस ने रंग-रंग की साड़ियाँ पहनाईं और वे राज-भवन से निकल कर [बादशाह की] सेवा के लिए आ गईं। (३) वे सभी ऐसी लगती थीं मानो वीर बहूटियाँ निकली हों, अथवा पिंजड़े से निकल कर आई हुई रायमुनियाँ हों। (४) सभी यौवन की प्रथमावस्था से शोभित थीं, वे बाण जैसे नेत्रों (दृष्टि) और शार्ङ्ग (धनुप) जैसी भौंहों वाली थीं। (५) वे उन धनुषों (भौंहों) को

फेरती हुई उसी बाण (दृष्टि) से, चाहे वे पनघट पर हों, चाहें घाट पर हों, जितने भी भ्रमर (रसिक) होते, उन्हें मारा करतीं। (६) अपने कामपूर्ण कटाक्षों से वे चित्त को हरण करने वाली [बनी] रहतीं और वर्ण में एक से एक आगे थीं। (७) वे मानो इन्द्रलोक से निकाली (लाई) हुई थीं। वे सब पंक्तियों-पंक्तियों में [आ] खड़ी हुई। (८) बादशाह ने [इन्हें देखकर] राघव से पूछा, "बाणों जैसे तीक्ष्ण नेत्रों की (९) जिस पद्मिनी का तू ने वर्णन किया था, बता वह इनमें से कौन है ?"

टिप्पणी--(३) राएमुनी=एक प्रकार की छोटी लाल चिड़िया। (४) सारँग<शाङ्गं=सींगों से बना हुआ धनुष। (५) ढंग [दे०]=भ्रमर। (६) कटाख<कटाक्ष। आगरि<अग्र=आगे, बढ़ी-चढ़ी। (८) तीख<तीक्ष्ण।

दीरघ आउ पुहुमिपति भारी। इन्ह महँ नाहिं पदुमिनी नारी।
यह फुलवारि सो ओहि की दासी। कहँ वह केत भँवर सँग बासी।
वह सो पदारथ एइ सब मोंती। कहँ वह दीप पतँग जेहि जोती।
ये सब तरई सेव कराहीं। कहँ वह ससि देखत छपि जाहीं।
जौ लहि सूर कि दिस्टि अकासू। तब लगि ससि न करै परगासू।
सुनि कै साह दिस्टि तर नावा। हम पाहुन एक मँदिल परावा।
पाहुन ऊपर हेरै नाहीं। हना राहु अरजुन परिछाहीं।
तपै बीज जस धरती सूख बिरह कै घाम।
कब सुदिस्टि कै बरिसै तन तरिवर होइ जाम ॥५६१॥

अर्थ--(१) [राघव ने उत्तर दिया,] "हे महान् पृथ्वीपति, आपकी आयु लंबी हो। इनमें वह पद्मिनी नारी नहीं है। (२) यह फुलवारी [जिसे आप देख रहे हैं], उस [पद्मिनी] की दासियाँ हैं; इनमें कहाँ वह केतकी है जिसके साथ भ्रमर निवास करते हैं ? (३) वह [पद्मिनी] पदार्थ (हीरा) है, और ये सब मोतियाँ हैं; वह दीपक इनमें कहाँ है जिसकी ज्योति पर [तुम] पतिंगा [बने हुए] हो। (४) ये सब तारिकाएँ हैं जो उस [शशि की] सेवा करती हैं। इनमें वह शशि कहाँ है, जिसे देखते ही ये छिप जाती हैं ? (५) जब तक सूर्य की (तुम्हारी) दृष्टि आकाश में ऊपर (पद्मावती के झरोखे की ओर) लगी रहती है, तब तक वह शशि (पद्मावती) प्रकाश नहीं कर सकती है।" (६) यह सुनकर बादशाह ने दृष्टि को नीची कर लिया; उसने मन में कहा, "हम अतिथि हैं, और यह मंदिर पराये का है। (७) अतिथि ऊपर नहीं देखता है। अर्जुन ने राधा-वेध [पानी में] प्रतिच्छाया को देखते हुए किया था [अतः मैं भी उस का दर्शन प्रतिच्छाया में कर सकता हूँ]।" (८) बीज धरती में तप्त हो रहा है, और विरह की धूप में सूख रहा है; (९) पता नहीं कब सुदृष्टि करके वह [घन] बरस जाए कि मेरा तनु तरुवर हो कर [नूतन] जन्म ग्रहण कर ले !"

टिप्पणी--(१) आउ<आयु। पुहुमि<पृथ्वी। (२) केत<केतकी। (४) तरई<तारिका। (६) पाहुन<प्राघुण=अतिथि, मेहमान। (७) राहु<राहा<राधा=लक्ष्य-वेध के लिये रक्खी गई एक पुतली जो चक्राकार घूमती रहती थी, जिसकी बाईं आँख को बिद्ध करना होता था। (९) जाम<जम्म्<जन्=उत्पन्न होना।

सेव करहिं दासी चहुँ पासाँ। अछरी जानु इंद्र कबिलासाँ।
कोइ लोटा कोंपर लै आईं। साहि सभा सब हाथ धोवाईं।
कोइ आगें पनवार बिछावहिं। कोइ जेंवन सब लै लै आवहिं।
कोई माँड जाहिं धरि जूरी। कोई भात परोसहिं पूरी।
कोई लै लै आवहिं थारा। कोइ परसहिं बावन परकारा।
पहिरि जो चीर परोसै आवहिं। दोसरैं औरु बरन देखरावहिं।
बरन बरन पहिरहिं हर फेरा। आव झुंड जस अछरिन्ह केरा।
पुनि सँधान बहु आनहिं परसहिं बूकहिं बूक।
करै सँवार गोसाईं जहाँ परै किछु चूक ॥५६२॥

अर्थ--(१) [बादशाह के] चारों ओर दासियाँ इस प्रकार सेवा कर रही थीं, मानो अप्सराएँ कैलास (शिवलोक) में इन्द्र की कर रही हों। (२) कोई लोटा और कोंपर ले आईं और उन्होंने बादशाह की सभा [के सभ्यों] का हाथ धुलाया। (३) कोई उनके आगे पत्तल बिछाने लगीं, कोई समस्त [प्रकार के] भोजन ले ले कर आने लगीं। (४) कोई [दो-दो करके] जुड़ी हुई माँड (एक प्रकार की रोटियाँ) परस जाती थीं, कोई भात और पूरियाँ परस रहीं थीं। (५) कोई थालों को ले लेकर आती थीं और कोई बावन प्रकार [के व्यंजनों को] परसती थीं। (६) जो चीर पहन कर वे एक बार परसने आती थीं, दूसरे अवसर पर आने पर वे [भिन्न रंग के वस्त्र पहनने के कारण] और ही रंग की दिखाई पड़ती थीं। (७) वे हर फेरे में रंग-रंग के परिधान धारण करती थीं, [और आती हुई इस प्रकार लगती थीं] मानो अप्सराओं का झुंड आ रहा हो। (८) पुनः वे बहुत-से अँचार-चटनी लाती थीं, और उन्हें मुट्ठी-मुट्ठी भर परसती थीं; (९) और जहाँ कहीं कोई चूक हो जाती थी, उनका स्वामी (रत्नसेन) उसे सँवारता (ठीक करता) था।

टिप्पणी--(१) आछरि<अच्छरि<अप्सरस्=अप्सरा। (२) कोंपर=परात। (३) पनवार<पर्णमाला=पत्तल। (४) माँड<मंडअ<मण्डक=एक प्रकार की रोटी। (दे० २८४. २) जूरी<जुडिअ [दे०]=आपस में जुड़ी हुई। (८) बूक<बुक्का [दे०]=मुट्ठी।

जानहुँ नखत रहहिं रबि सेवाँ। बिनु ससि सूरहि भाव न जेंवाँ।
सब परकार फिरा हर फेरें। हेरा बहुत न पावा हेरें।
परी असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी।
मंछ छुऔ आवहिं कर काँटे। जहाँ कँवल तहँ हाथ न आँटे।
मन लागेउ तेहि कँवल की डंडी। भावै नहिं एकौ कठहंडी।
सो जेंवन नहिं जाकर भूखा। तेइ बिनु लाग जानु सब रूखा।
अनभावत चाखै बैरागा। पंच अंब्रित जानहुँ बिख लागा।
बैठि सिंघासन गूँजे सिंघ चरै नहिं घास।
जौं लहि मिरिग न पावै भोजन गनै उपास ॥५६३॥

अर्थ--(१) [वे दासियाँ अलाउद्दीन की सेवा करती हुई ऐसी लग रही थीं] मानो

नक्षत्र सूर्य की सेवा में हों, किन्तु बिना चन्द्रमा (पद्मिनी) के सूर्य (अलाउद्दीन) को भोजन अच्छा नहीं लग रहा था। (२) हर फेरे में समस्त प्रकार के व्यंजन फिरे, [और हर फेरे में] उसे बहुत देखा पर ढूंढने पर भी उस व्यंजन को न पाया। (३) समस्त तरकारी असूझ पड़ गई; जो लवण युक्त थीं, और जो बिना लवण की थीं सभी खारी लगीं। (४) मछलियाँ छूने पर हाथ में [उनके] काँटे आ रहे थे और जहाँ कमलिनी (पद्मिनी) थी वहाँ तक हाथ नहीं अँटता (पहुँचता) था। (५) बादशाह का मन उस कमल दण्ड (पद्मिनी की शरीर-यष्टि) पर लगा हुआ था, इसलिए उसे एक भी कठहंडी का व्यंजन भी नहीं अच्छा लग रहा था। (६) वह भोजन तो वहाँ था नहीं जिसकी उसे भूख थी, और उसके बिना उसे [शेष] सब [भोजन] रूखा लग रहा था। (७) बिना इच्छा के जब विरक्त भाव से वह उसे चखता था, तो पञ्चामृत मानो उसे विष प्रतीत होता था। (८) [भले ही] सिंह अपने सिंहासन पर बैठा-बैठा गूँजता (दहाड़ता) रहता है, किन्तु घास नहीं चरता है ; (९) जब तक वह कोई मृग नहीं पाता है, [अन्य] भोजनों को प्राप्त करके भी वह उपास ही गिनता (मानता) है।

टिप्पणी--(१) नखत<नक्षत्र<तारक गण। (४) आँट्=पूरा पड़ना। (५) कठहंडी<काष्ठ भाण्डिका=काठ का पात्र, जिसमें रसोई के व्यंजन रक्खे जाते हैं। (६) रूख<रुक्ष=रसहीन। (९) उपास<उपवास=भूखा रहना।

पानि लिहें दासीं चहुँ ओरा। अंब्रित बानी भरें कचोरा।
पानी देहिं कपूर क बासा। पियै न पानी दरस पियासा।
दरसन पानी देइ तौ जीयौं। बिनु रसना नैनन्ह सौं पीयौं।
पीउ सेवाती बुंदहि अघा। कौनु काज जौं बरिसै मघा।
पुनि लोटा कोंपर लै आईं। कै निरास अब हाथ धोवाईं।
हाथ जो धोवै बिरहि करोरा। सँवरि सँवरि मन हाथ मिरोरा।
बिधि मिलाउ जासौं मन लागा। जोरि न तोरु पेम कर तागा।
हाथ धोइ जस बैठेउ ऊभि लीन्ह तस साँस।
सँवरा सोई गोसाईं देहि निरासहि आस ॥५६४॥

अर्थ--(१) पानी लिए हुए दासियाँ चारों ओर [खड़ी] थीं ; वह पानी अमृत-वर्णी था और कच्चोलों में भरा हुआ था। (२) वे उस कपूर से सुवासित पानी को [पीने के लिए] दे रही थीं, किन्तु [सुल्तान] उस पानी को नहीं पी रहा था क्योंकि वह तो [पद्मावती के] दर्शनों का प्यासा था। (३) [वह मन में कहता था,] "[उस पद्मिनी के] दर्शन का कोई पानी दे तो जीऊँ [अन्यथा मर जाऊँगा], और उसे रसना से न पी कर नेत्रों से पीऊँ। (४) पपीहा स्वाती के बिन्दुओं से अघाता है, मघा नक्षत्र [का मेघ] बरसा भी तो उसे [उससे] क्या प्रयोजन ?" (५) [दासियाँ] पुनः लोटा और कोंपर (परात) लाईं, और पुनः [बादशाह को] निराश करके इस बार [उसका] हाथ धुला गईं। (६) वह विरही जो कटोरे में हाथ धो रहा था, वह [सच पूछिए तो] मन में [अपने विरह का] स्मरण कर-करके [अपने] हाथ मल रहा था। (७) [वह विधाता से यही मना रहा था,] "हे विधाता, उससे मिलन करा जिससे मन लगा हुआ

है ; प्रेम का सूत्र जोड़ कर उसे मत तोड़ !" (८) ज्योंही वह हाथ धो कर बैठा, उसने ऊभ कर साँस ली (९) और उसने उसी मालिक का स्मरण किया [और कहा], "मुझ निराश को आशा दे !"

टिप्पणी--(१) बानी<वर्णिन्=वर्ण का। (४) पीउ [दे०]=पपीहा। अघाय <अग्घव्=पूर्त्ति करना, पेट भरना। मघा=वर्षा का एक नक्षत्र, जिसमें वृष्टि अधिक होती है। (५) कोंपर=परात। (६) करोरा<करोडग [दे०]=पात्र-विशेष। (७) तागा<तग्ग=धागा। (८) ऊभ्<उब्भ्<ऊर्ध्वय्=उभड़ना।

भै जेवनार फिरा खँडवानी। फिरा अरगजा कुंकुहँ बानी।
नग अमोल सौ थारा भरे। राजैं सेवा आनि कै धरे।
बिनती कीन्ह घालि गियँ पागा। ऐ जग सूर सीउ मोहि लागा।
औगुन भरा काँप यह जीऊ। जहाँ भान रहै तहँ न सीऊ।
चारिहुँ खंड भान अस तपा। जेहि की दिस्टि रैनि मसि छपा।
कँवल भान देखे पै हँसा। औ भानहि चहै परगसा।
औ भानहि असि निरमरि करा। दरस जो पाव सोइ निरमरा।
रतन स्याम तहँ रैनि मसि ऐ रवि तिमिर संघार।
करु सुदिस्टि औ किरिपा देवस देहि उजियार ॥५६५॥

अर्थ--(१) ज्यौनार हो गई तो खाँड का पानी फिरा, और कुंकुमवर्ण का अरगजा फिरा। (२) अमूल्य नग, सौ थालों में भरे हुए, राजा ने ला कर [बादशाह की] सेवा में रक्खे। (३) [तदनंतर] उसने [अपने] गले में पाग डाल कर बिनती की, "ऐ जगत् के सूर्य, मुझे शीत लग रहा है। (४) अवगुणों से भरा हुआ यह जीव काँप रहा है, [यद्यपि] जहाँ पर भानु होता है वहाँ पर शीत नहीं रहता है। (५) हे भानु तुम चारो खंड में इस प्रकार तप्त हुए हो कि जिसकी दृष्टि पड़ने पर रजनी का अंधकार छिप गया है। (६) कमल भानु को देख कर, हो न हो, हँसता (खिलता) है, और भानु को [इसीलिए] प्रकाशित [देखना] चाहता है। (७) और भानु की ऐसी निर्मल कला होती है कि जो ही उसका दर्शन पाता है, वही निर्मल हो जाता है। (८) किन्तु, रत्नसेन अब भी रजनी के उसी अंधकार में श्यामवर्ण का [बना हुआ] है; हे सूर्य, तू उसके तिमिर का संहार कर! (९) उस पर सुदृष्टि और कृपा कर और उसे उज्ज्वल दिन दे !"

टिप्पणी--(१) खँडवानी<खण्ड+पानीय=खाँड का पानी। अरगजा=एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य। (३) घाल्<घल्ल् [दे०] =डालना। गिय<ग्रीवा। (४) सीउ< शीत। (५) रैनि<रयणी<रजनी। (७) करा<कला। (९) उजिआर<औज्ज्वल्य।

सुनि बिनती बिहँसा सुलतानू। सहसहुँ करा दिपै जस भानू।
अनु राजा तूँ साँच जड़ावा। भै सुदिस्टि सो सीउ छुड़ावा।
भान की सेवा जाकर जीऊ। तेहि मसि कहाँ कहाँ तेहि सीऊ।
खाहि देस आपन करु सेवा। औरु देउँ माँडौ तोहिं देवा।
लीक पखान पुरुख कर बोला। धुव सुमेरु तेहि उपरे डोला।

बहुरि पसाउ दीन्ह नग सूरू। लाभ देखाइ लीन्ह चह मूरू।
हँसि हँसि बोलै टेकै काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छरि बाँधा।
मांया बोलि बहुत कै पान साहि हँसि दीन्ह।
पहिलें रतन हाथ कै चहै पदारथ लीन्ह ॥५६६॥

अर्थ--(१) इस बिनती को सुन कर सुल्तान हँस पड़ा, [और ऐसा प्रतीत हुआ] जैसे अपनी सहस्रों कलाओं से भानु दीप्त हुआ (चमक उठा) हो। (२) [उसने कहा,] "अवश्य, ऐ राजा, तू सच ही शीत खाया हुआ है; अब मेरी दृष्टि हो गई और मैंने तेरा शीत छुड़ा दिया। (३) जिसका मन सूर्य की सेवा में है, उसे अंधकार कहाँ और शीत कहाँ? (४) अपना देश भोग और मेरी सेवा कर; मैं तुझे [अपनी ओर से], हे देव, मांडव [गढ़] और दे रहा हूँ। (५) पुरुष का बोल पाषाण की रेखा होता है, उसके बोल उपड़ने (उखड़ने) पर ध्रुव और सुमेरु [जैसे अविचल पदार्थ] भी डोल जाएँ।" (६) पुनः (तदनंतर) उस सूर्य (सुल्तान) ने नग (रत्न-रतनसेन) को पसाव (उपहार) दिए, [क्योंकि] वह लाभ दिखा कर मूल (पद्मिनी) को लेना चाहता था। (७) वह [रतनसेन से] हँस-हँस कर बोल रहा और उसके कंधे का सहारा ले रहा था, [क्योंकि] उसे उस प्रीति में भुला कर उसे छल से बाँधना (बन्दी करना) चाहता था। (८) बहुतेरी मया (स्नेहपूर्ण कृपा) [की बातें] कह कर बादशाह ने [रतनसेन को] हँसते हुए पान दिया, (९) [क्योंकि] वह पहले रत्न (रतनसेन) को हाथों में करके पदार्थ (पद्मिनी) को लेना चाहता था।

टिप्पणी--(१) दिप् <दिप्प<दीप्=दीप्त होना, चमकना। (२) अनु<अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय। (३) सीउ<शीत। (४) माँडौ<मण्डप=मांडू--मालवा राज्य की राजधानी। (५) पखान<पाषाण। मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में भूल से 'पखान' के स्थान पर 'प्रवान' छपा हुआ है। उपर<उपड़्<उत्+पत्=उखड़ना। (६) पसाउ<प्रसाद=उपहार। बहुरि पसाउ : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसके स्थान पर 'बहु बौसाउ' पाठ दिया है। किन्तु यहाँ बौसाउ (व्यवसाय--वृत्ति) का कोई प्रसंग नहीं है, रतनसेन एक बड़ा राजा था। नग : मेरी 'जायसी ग्रंथावली' में भूल से 'जग' छपा हुआ है। माया=स्नेहपूर्ण कृपा (दे० ५६७.१)।

मया सूर परसन भा राजा। साहि खेल सँतरज कर साजा।
राजा है जो लहि सिर घामू। हम तुम्ह घरिक करहिं बिसरामू।
दरपन साहि पैंत तहँ लावा। देखौं जबहिं झरोखें आवा।
खेलहिं दुवौ साहि औ राजा। साहि क रुख दरपन रह साजा।
पेम क लुबुध पयादें पाऊँ। चलै सौहँ ताकै कोनहाऊँ।
घोरा दै फरजी बँद लावा। जेहि मोहरा रुख चहै सो पावा।
राजा फील देइ सह माँगा। सह दै साहि फरजी दिग खाँगा।
फीलहि फील ढुकावा भए दुवौ चौ दंत।
राजा चहै बुरुद भा साहि चहै सह मंत ॥५६७॥

अर्थ--(१) सूर्य (अलाउद्दीन) की मया (स्नेहपूर्ण कृपा) से राजा (रतनसेन)

प्रसन्न हो गया, [तो] बादशाह ने शतरंज का खेल सजाया। (२) [उसने कहा,] "हे राजा जब तक सिर पर घाम है, हम-तुम एक घड़ी भर विश्राम करें।" (३) [तदनंतर] जहाँ उसका पैताना था, वहाँ बादशाह ने एक दर्पण लगा लिया [और सोचा कि] जब पद्मिनी [अपने] झरोखे पर आएगी, वह [उसमें] उसे देख लेगा। (४) बादशाह और राजा दोनों [शतरंज] खेल रहे थे, किन्तु बादशाह का रुख दर्पण पर सजा (जमा) हुआ था। (५) प्रेम का लुब्ध [शतरंज के] प्यादे की गति से चलता है, वह चलता सामने है, किन्तु देखता (मुहरे मारता) कोण की ओर (तिरछे) है। (६) उसने अपना घोड़ा देकर (चल कर) फरजी-बंद की चाल चली, और [उस चाल] के लिए जिन मुहरों का जो रुख (स्थान) वह चाहता था, वह पा गया। (७) राजा ने फ़ील (हाथी) चल कर बादशाह से शह बचने को कहा, तो बादशाह शह बचकर अपने फ़रजी की दिशा में हट गया (पिछड़ गया)। (८) अब राजा ने अपने फ़ील को बादशाह के फ़ील पर ढकेल (चला) दिया, और दोनों चौदंत हो गए। (९) राजा चाहता था कि बादशाह [उसके फ़ील को मार कर] बुर्द कर दे [क्योंकि] उसके पास अपने बादशाह के अतिरिक्त एक ही दो मुहरे थे], किन्तु बादशाह उसे शह मात देना चाहता था।

टिप्पणी--(३) झरोखा<जालाक्ष=जालियों का बना गवाक्ष। (६) फरजी-बंद=शह देने की वह चाल जिसमें किसी मुहरे के बल पर फ़रजी को आगे बढ़ाकर शह दी जाती है। (७) फील<फ़ील [फ़ा०] = हाथी का मुहरा। खाँग = हटना, पिछड़ना, यथा : हाँ अब कुसल एक पै माँगौ। पेम पंथ सत बाँधि न खाँगौ। (१४९.५) (८) चौदंत=शतरंत के खेल में वह स्थिति जिसमें दोनों पक्ष के हाथी एक दूसरे के सम्मुख आ जाते हैं फिर भी एक दूसरे को मार नहीं सकते हैं, क्योंकि उस स्थिति से हटने पर शह हुई रहती है। (९) बुरुद<बुर्द [फा०]=शतरंज के खेल की वह स्थिति जब कि एक के पास बादशाह के अतिरिक्त कोई मुहरा शेष नहीं रह जाता है और बाजी मात नहीं होती है।

सूर देखि ओइ तरईं दासीं। जहँ ससि तहाँ जाइ परगासीं।
सुना जो हम ढीली सुलतानू। देखा आजु तपै जस भानू।
ऊँच छत्र ताकर जग माँहाँ। जग जो छाँह सब ओहि की छाँहाँ।
बैठि सिंघासन गरबन्ह गूँजा। एक छत्र चारिहुँ खँड भूँजा।
सौंह न निरखि जाइ ओहि पाहीं। सबै नवहिं कै दिस्टि तराहीं।
मनि माँथें ओहि रूप न दूजा। सब रुपवंत करहिं ओहि पूजा।
हम अस कसा कसौटी आरस। तहूँ देखु कंचन कस पारस।
पातसाहि ढीली कर फत चितउर महँ आव।
देखि लेहि पदुमावति हियँ न रहै पछिताव ॥५६८॥

अर्थ—(१) सूर्य (अलाउद्दीन) को देख कर वे दासी-तारिकाएँ वहाँ पर जाकर प्रकाशित हुईं जहाँ शशि था (पद्मिनी थी)। (२) [उन्होंने कहा,] "हमने जो दिल्ली के सुल्तान को सुना था, आज उसको देखा भी ; वह सूर्य जैसा तपता है। (३) उसका

छत्र संसार में ऊँचा है, और जगत् में जो छाया (सुख-शांति) है, उसके छत्र की ही छाया है (उसके सुशासन के ही कारण है)। (४) वह सिंहासन पर बैठ कर गर्ववश दहाड़ता रहता है, और वह चारों खंडों का भोग एक छत्र होकर करता है। (५) उस पर सम्मुख से दृष्टि नहीं डाली जा सकती है, सभी उसे नीची दृष्टि कर के नमित होते हैं। (६) उसके मस्तक पर मणि [की आभा] है, और उसके रूप का दूसरा कोई नहीं है ; समस्त रूपवान् उसकी पूजा करते हैं। (७) इस प्रकार हमने उसे अपने आदर्श की कसौटी में कस कर देखा है [किन्तु हमारा आदर्श ही क्या है ?] ; ऐ पारस, तू भी देख कि वह कैसा कंचन है [तू ही उसको ठीक-ठीक परख सकती है]। (८) दिल्ली का बादशाह [पुनः] क्यों चित्तौर में आने लगा ? (९) उसे, ऐ पद्मावती, देख ले, कि हृदय में पछतावा न रहे।"

टिप्पणी--(१) तरई<तारिका। (४) भुंज्<भुज्=भोग करना। (५) सौंह<सउँह<सम्मुख। (७) आरस<आदर्श। मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ 'आरसि' दिया हुआ है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'आरस' का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव है, इसलिए स्वीकार्य है। पछताव<पश्चात्ताप।

बिगसि जो कुमुद कहै ससि ठाँऊ। बिगसा कँवल सुनत रबि नाऊँ।
भै निसि ससि धौराहर चढ़ी। सोरह करा जैसि बिधि गढ़ी।
बिहँसि झरोखें आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी।
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना।
रुख माँगत रुख तासौं भएउ। भा सह माँत खेल मिटि गएऊ।
राजा भेदु न जानै झाँपा। भै बिख नारि पवन बिनु काँपा।
राघौ कहा कि लागि सुपारी। लै पौढावहु सेज सँवारी।
रैनि बिहानी भोर भा उठा सूर तब जागि।
जौं देखै ससि नाहीं रही करा चित लागि ॥५६६॥

अर्थ--(१) इस प्रकार विकसित हो कर कुमुदिनियों (दासियों) ने जब शशि (पद्मिनी) के स्थान पर यह बात कही, कमलिनी (पद्मिनी) सूर्य के नाम को सुनते ही विकसित हो गई। (२) रात हो गई तो वह शशि (पद्मिनी) धवलगृह (प्रासाद) पर चढ़ी, वह सोलह कलाओं से युक्त थी, जैसा उसे विधाता ने निर्मित किया था। (३) [जब] हँसती हुई झरोखे में आकर उसने [अपनी सखियों की बात की] सत्यता आँकी, निरख कर बादशाह ने उसे दर्पण में देख लिया। (४) दर्शन होते ही उसका लावण्यपूर्ण स्पर्श हो गया, [जिसके परिणाम स्वरूप] धरती और आकाश सब स्वर्ग हो गया। (५) [शतरंज के खेल में] बादशाह ने रुख (ऊँट) माँगा, तो उस (पद्मिनी) से उसका रुख (सम्मुखत्व—सामना) हुआ ; शह मात [और बादशाह मत्त] हो गया और खेल मिट गया। (६) राजा इस छिपे भेद को नहीं जान पाया कि [उसकी] नारी अलाउद्दीन के लिए विष हो गई थी और इसी कारण वह बिना पवन के भी काँप रहा था। (७) राघव ने कहा, "इसे सुपारी लग गई है, और शैया सँवार कर उस पर इसे लिटा दो। (८) रजनी समाप्त हुई, प्रभात हुआ, तब सूर्य (अलाउद्दीन)

जागा और उठा। (९) और किन्तु जब उसने देखा कि शशि (पद्मिनी) नहीं है, उसकी कला उसके चित्त में लग रही।

टिप्पणी—(२) धौराहर<धवलगृह=प्रासाद। (३) झरोखा<जालाक्ष। सरेख<संलिख्=सत्यता आँकना, परखना, रेखाएँ खींच कर (कस कर) देखना। (४) लोन<लवण=लावण्यपूर्ण। (५) रुख<रुख़ [फ़ा०]=[१] शतरंज का एक मुहरा, ऊँट, [२] मुँह। (७) लाग सुपारी=सुपारी कभी-कभी नशीली होती है, अथवा कभी-कभी उसका बीज उसमें रह जाता है तो वह एक प्रकार की गर्मी पैदा करती है। इसी को सुपारी लगना कहते हैं। (८) बिहाय्=समाप्त होना। (९) करा<कला।

भोजन पेम सो जान जो जेंवा। भँवर न तजै बास रस केवा।
दरस देखाइ जाइ ससि छपी। उठा भान जस जोगी तपी।
राघौ चेतनि साहि पहँ गएउ। सूरुज देख कँवल बिख भएऊ।
छत्रपती मन कहाँ पहूँचा। छत्र तुम्हार गँगन पर ऊँचा।
पाट तुम्हार देवतन्ह पीठी। सरग पतार रैनि दिन डीठी।
छोह त पलुहै उकठा रूखा। कोह त महि सायर सब सूखा।
सकल जगत तुम्ह नावै माँथा। सब की जियनि तुम्हारे हाथा।
दिन न नैन तुम्ह लावहु रैनि बिहावहु जागि।
अब निचिंत अस सोए काहे बेलँब असि लागि ॥५७०॥

अर्थ—(१) [किसी विशिष्ट] भोजन का प्रेम वह जानता है, जो उसे जीमता है, [इसीलिए] भ्रमर केतकी का वास और रस नहीं छोड़ता है। (२) जिसका शशि अपना दर्शन दिखा (करा) कर जा कर छिप रहा हो, ऐसा सूर्य (अलाउद्दीन) एक [ऐसे] योगी अथवा तपस्वी जैसा उठा [जिसे अपनी साधना की सिद्धि झलकी हो] (३) राघव चेतन बादशाह के पास गया, तो उसने देखा कि सूर्य (अलाउद्दीन) के लिए कमलिनी (पद्मिनी) विष हो गई थी। (४) उसने कहा, "छत्रपति, तुम्हारा मन कहाँ जा पहुँचा था? तुम्हारा छत्र तो आकाश से भी ऊँचा है। (५) तुम्हारा सिंहासन देवताओं की पीठ पर है, और तुम्हारी दृष्टि में आकाश और पाताल रात दिन रहते हैं। (६) तुम्हारी कृपा हो तो सूख कर लकड़ी हुआ वृक्ष पुनः अंकुरित हो जाए, और तुम्हारा क्रोध हो तो पृथी और सागर—सभी कुछ सूख जाएँ। (७) समस्त जगत् तुम्हें मस्तक झुकाता है, और समस्त प्राणियों का जीवन तुम्हारे हाथों में है। (८) [इसीलिए] दिन में तुम नेत्र नहीं लगाते (नहीं सोते) हो और रातें भी जाग कर व्यतीत करते हो, (९) किन्तु अब (आज) तुमने निश्चिंत होकर सोए। क्यों ऐसा विलंब [तुम्हारे जागने में] हुआ ?"

टिप्पणी—(१) केवा<केअअ<केत=केतकी। (५) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। (६) पलुह्<प्ररुह्=अंकुरित होना, हरा भरा होना। (८) बिहाव्<वि+हा=परित्याग करना, व्यतीत करना।

देखि एक कौतुक हौं रहा। अहा अँतरपट पै नहिं अहा।
सरवर एक देख मैं सोई। अहा पानि पै पानि न होई।

सरग आइ धरती महँ छावा । अहा धरति पै धरति न आवा ।
तेहि महँ जस पुनि मंडप ऊँचा । करहि अहा पै कर न पहूँचा ।
तेहि मंदिल मूरति मैं देखी । बिनु तन बिनु जिय जियैं बिसेखी ।
चाँद सँपूरन जनु होइ तपी । पारस रूप दरस दै छपी ।
अब तहँ चतुरदसी जिउ तहाँ । भान अमावस पावै कहाँ ।
बिगसा कँवल सरग निसि जनहुँ लौकि गा बीजु ।
भौंर डाह भा भानुहि राघौ मनहिं पतीजु ॥५७१॥

अर्थ--(१) बादशाह ने उत्तर दिया, "मैं एक कौतुक देखता रह गया ; [उस कौतुक के और मेरे बीच] अन्तरपट था भी और नहीं भी था । (२) मैंने एक सरोवर देखा ; उसमें पानी था और पानी नहीं भी था । (३) आकाश आकर धरती पर छा रहा था; था वह धरती पर ही, पर वह धरती पर आया भी नहीं था । (४) पुन: जैसे उसमें एक ऊँचा मंडप था, जो हाथ [की पहुँच] में था फिर भी [जिसके पास तक] हाथ न पहुँचता था । (५) उस मंदिर में मैं ने एक मूर्त्ति देखी ; वह बिना शरीर और बिना जीव की थी, पर वह जीव (चेतना) के विषय में औरों से विशिष्ट भी थी । (६) वह मानों पूर्ण चन्द्र हो कर तप्त हो रही थी, और वह पारस-रूप वाली दर्शन देकर छिप गई । (७) मेरा जीव अब वहाँ बस रहा है जहाँ वह चतुर्दशी का चन्द्र है; अब यह भानु [विच्छेद की] अमावास्या में उस [चंद्र] को कहाँ पा सकता है ? (८) आकाश में रात्रि को वह कमलिनी इस प्रकार विकसित हुई थी मानो बिजली कौंद गई हो । (९) यह भी इस भानु के लिए भ्रमर-दाह हुआ, ऐ राघव, तू मन में प्रतीति कर ।"

टिप्पणी--(१) कौकुत<कौतुक । (३) सरग<स्वर्ग = आकाश । (६) पारस< स्पर्श = स्पर्श मणि । (८) लौक = लपलपाना, चमकना । बीज<विज्जु<विद्युत् । भौंर-डाह<भ्रमर-दाह=भ्रमर का कष्ट, भ्रमर कमल-कोष में बंद होकर जिस प्रकार का कष्ट पाता है। (९) पतीय्<पत्तिअ<प्रति+इ = प्रतीति करना, विश्वास करना ।

सौन्दर्य शरीर के माध्यम से व्यक्त होते हुए भी अशरीरी और दिव्य है, वह आकृति में व्यक्त होता है किन्तु उसकी कोई आकृति नहीं है, यही इस छंद में कहने का यत्न किया गया है ।

अति बिचित्र देखेउँ सो ठाढ़ी । चित कै चित्र लीन्ह जिय काढ़ी ।
सिंघ कै लंक कुंभस्थल जोरू । अंकुस नाग महावत मोरू ।
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू । फिरि अलि लीन्ह पुहुप रस बासू ।
दुहुँ खंजन बिच बैठेउ सुवा । दुइज क चाँद धनुक लै उवा ।
मिरिग देखाइ गवन फिरि किया । ससि भा नाग सुरुज भा दिया ।
सुठि ऊँचे देखत औचका । दिस्टि पहुँचि कर पहुँचि न सका ।
भुजा बिहूनि दिस्टि कत भई । गहि न सकी देखत वह गई ।
राघौ आवौ होत जौं कत आकृति जियँ साध ।
ओहि बिनु आघ बाघ बर सकै त लै अपराध ॥५७२॥

अर्थ—(१) "अत्यधिक विचित्र बात यह थी कि मैंने उसे खड़ी देखा, और उसने मेरे चित्त में [अपना] चित्र [अंकित] करके मेरे जीव को निकाल लिया। (२) उसकी लंक (कटि) सिंह की [थी, किन्तु [उसके ऊपर गज के] कुंभस्थल [कुचों] का जोड़ा था, उस पर अंकुश (अलक-समूह) नाग का था, और उस पर महावत मोर (ग्रीवा के रूप में) था। (३) उस पर कमल (मुख) विकसित हो रहा था, जिस पर फिरते (मँडराते) हुए अलि (घुँघुराले बाल) उस पुष्प का रस और उसकी सुवास ले रहे थे। (४) दो खंजन (नेत्र) थे, जिनके बीच में शुक (नासिका के रूप में) बैठा हुआ था। और [उस शुक के पास ही] द्वितीया का चंद्र (ललाट) धनुषों (भौंहों) को लेकर उदित था। (५) [ऐसी] मृगी दिखाई पड़ी जो लौट कर चली भी गयी। [उसके मुड़कर जाने पर] शशि (मुख) [के स्थान पर] नाग (वेणी) हो गया, और सूर्य (आशा-उत्साहपूर्ण चित्त) के स्थान पर दीपक (निराश और भग्नोत्साह चित्त) हो गया। (६) अत्यधिक ऊँचाई पर उसे देख कर मैं आश्चर्यचकित रह गया; दृष्टि ही [उसके पास तक] पहुँच पाई, हाथ [उसके पास तक] नहीं पहुँच सका। (७) दृष्टि भुजाविहीन क्यों हुई, कि वह उसे पकड़ न सकी और देखते-देखते वह चली गई? (८) हे राघव, यदि इच्छा की पूर्त्ति हो गई होती, तो जी में [उसे पाने की] साध क्यों रहती? (९) अब मैं बिना मूल्य का हो रहा हूँ; मेरे अपराध (मेरी असफलता और तज्जनित व्यथा) को अपने साहाय्य के बल से तू ले सके (हरण कर सके) तो [भले ही] ले ले (हरण कर ले)।"

टिप्पणी—(१) ठाढ़<ठड्ढ<स्तब्ध = खड़ा। (४) उव्<उग्ग्<उद्+गम् = निकलना। (६) औचक्=आश्चर्यचकित होना। (७) सकी: मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ 'सके' था, जिसके स्थान पर डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'सकी' का सुझाव दिया है, जो अधिक संगत होने के कारण स्वीकार्य है। (८) आघौ< अग्घव = पूर्त्ति, तृप्ति। आछ्<अस्=होना। (९) आघ<अग्घ = मूल्य, कीमत। बाघ<बग्घाअ [दे०]=साहाय्य, मदद। बर = बल। अपराध = असफलता, ससफलता जनित कष्ट।

राघौ सुनत सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा।
ओहि करा औ रूप बिसेखी। निस्चैं तुम्ह पदुमावति देखी।
केहरि लंक कुँभस्थल हिया। गीवँ मंजूर अलक रिपु दिया।
कँवल बदन औ बास समीरू। खंजन नैन नासिका कीरू।
भौहँ धनुक ससि दुइज लिलाटू। सब रानिन्ह ऊपर वह पाटू।
सोई मिरिग देखाइ जो गएउ। बेनी नाग दिया चित भएउ।
दरपन महँ देखी परिछाँहीं। सो मूरति जेहि तन जिय नाहीं।
सबहिं सिंगार बनी धनि अब सोई मत कीज।
अलक जो लगुने अधर कें सो गहि कै रस लीज ॥५७३॥

अर्थ—(१) [कौतुक का यह विवरण] सुनते ही राघव ने अपना सिर [बादशाह के सम्मुख] भूमि पर रख दिया [और कहा,] "तुम्हारा राज्य युगों-युगों तक भानु की कला की भाँति रहे। (२) तुमने उसी की कला और रूप का निरूपण किया है

और निश्चय ही तुम ने पद्मावती का दर्शन किया है। (३) [तुम्हारे वर्णन का] केसरी उसकी कटि थी, कुंभस्थल उसका हृदय था, मयूर उसकी ग्रीवा थी, और [उस मयूर के] रिपु (नाग) को जो तुमने [अपने विवरणों में] दिया (बताया) है, वह उसकी अलक थी। (४) कमल उसका मुख था, और उसका सुवास समीर था, खंजन उसके नेत्र थे, कीर (शुक) उसकी नासिका था। (५) धनुष उसकी भौंहें थीं, द्वितीया का चंद्रमा उसका ललाट था। [रत्नसेन की] समस्त रानियों के ऊपर वह पट्टराज्ञी है। (६) वही उसका मृग भावं था जो वह इस प्रकार दिखाई पड़कर चली गई। [जाते समय] जो नाग [दिखाई पड़ा] था, वह उसकी वेणी थी, और जो दीपक था वह [तुम्हारा] चित्त था। (७) तुमने [उसे न देखकर] दर्पण में उसकी प्रतिच्छाया [मात्र] देखी, इसीलिए वह प्रतिमा ऐसी थी जिसके तन में जीव नहीं था। (८) वह स्त्री समस्त शृंगारों से निर्मित है; इसलिए अब वह विचार कीजिए (९) कि उसकी जो अलकें उसके अधरों से लगी [रह कर उनका रस लेती] रहा करती हैं, उन्हें पकड़ कर आप किस प्रकार वह (उन अधरों का) रस लीजिएगा।"

टिप्पणी—(२) विसेख् <विशेषय् = विशेषण युक्त करना, निरूपण करना। (५) पाट < पट्ट = फलक, सिंहासन। (९) लगुन < लग्गुण = लगा रहने वाला, संग करने वाला।

मत भा माँगा बेगि बेवानू। चला सूर सँवरा अस्थानू।
चलन पंथ राखा जो पाऊ। कहाँ रहन थिर जहाँ बटाऊ।
पंथिक कहाँ कहाँ सुस्ताई। पंथ चलें पै पंथ सिराई।
छर कीजै बर जहाँ न आँटा। लीजै फूल टारि कै काँटा।
बहुत मया सुनि राजा फूला। चला साथ पहुँचावै भूला।
साहि हेतु राजा सौं बाँधा। बातन्ह लाइ लीन्ह गहि काँधा।
घिउ मधु सानि दीन्ह रस सोई। जो मुख मीठ पेट बिख होई।
अमिय बचन औ माया को न मुएउ रस भीजि।
सतुरु मरै जौं अंब्रित कत ताकहँ बिख दीजि ॥५७४॥

अर्थ—(१) मंत्र [निश्चित] हो गया, तो बादशाह ने शीघ्र विमान माँगा। सूर्य (अलाउद्दीन) चल पड़ा, और उसने अपने स्थान (दिल्ली) का स्मरण किया। (२) चलने के लिए यदि [किसी ने] पथ पर पैर रख दिया, तो उसे कहाँ स्थिर रहना जब वह पथिक हो गया? (३) पथिक कहाँ-कहाँ विश्राम करे? मार्ग तो मार्ग चलने से ही, हो न हो, समाप्त होता है। (४) [नीति कहती है] जहाँ बल न पूरा पड़ता हो, छल कीजिए, और काँटे को हटा कर फूल लीजिए (मार्ग की बाधाओं को हटा कर कार्य सिद्ध कीजिए)। (५) बादशाह की बहुतेरी मया (स्नेहपूर्ण कृपा) [की बातें] सुन कर राजा फूल उठा, और [उन्हीं में] भूला हुआ वह बादशाह के साथ उसे पहुँचाने चला। (६) बादशाह ने राजा से प्रीति-सूत्र बाँधा और बातों में राजा को लगा कर उसका कंधा थाम लिया। (७) घी और मधु सान कर उसने राजा को वही रस दिया जो मुख में (खाते समय) मधुर हो किन्तु पेट में पहुँच कर विष हो जाए। (८)

अमृत [जैसे मधुर] वचनों और माया (छल-प्रपंच) के रसों में सिक्त हो कर कौन नहीं मृत हुआ ? (९) और, यदि शत्रु अमृत देने से मरता हो (मधुर व्यवहार से वश में आता हो) तो उसे विष क्यों दीजिए (उससे कठोर व्यवहार क्यों कीजिए) ?

टिप्पणी--(१) सँवर्<समर्<स्मृ=स्मरण करना। (३) सुस्ताय=स्वस्थ होना, विश्राम करना। सिराय्=समाप्ति पर आना। (४) ऑट्=पूरा पड़ना। (५) मया<माया (?)=स्नेहपूर्ण कृपा। (७) घिउ मधु सानि: घी तथा मधु का मिश्रण स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

एहि जग वहुत नदी जल जूड़ा। कौन पार भा को नहिं बूड़ा।
को न अंध भा आँखि न देखा। को न भएउ डिठियार सरेखा।
राजा कहँ बियाधि भै माया। तजि कबिलास परे भुइँ पाया।
जेहि कारन गढ़ कीन्ह अँगूठी। कत छाँड़ै जौं आवै मूँठी।
सतुरुहि कोउ पाव जौं बाँधी। छाँड़ि आपु कहँ करै बियाधी।
चारा मेलि धरा जस माछूँ। जल हुँति निकसि सकति मुव काछू।
मंत्रन्ह नाग पेटारें मूँदा। बाँधा मिरिग पैगु नहिं खूँदा।
राजा धरा आनि कै औ पहिरावा लोह।
अैस लोह सो पहिरै जो चेत स्यामि कहँ दोह ॥५७५॥

अर्थ--(१) इस संसार के नदी-जल के निकट बहुतेरे [उसके पार जाने को] इकट्ठे हुए, किन्तु इसे कौन पार कर सका है, और कौन इसमें [इसे पार करने के प्रयत्न में लगकर] नहीं डूबा है ? (२) जिसने अपनी आँखों [को खोलकर उन] से देखा नहीं, ऐसा कौन है जो अन्धा न बना ? और जो देखने वाला था, ऐसा कौन है जो चतुर नहीं बना ? (३) राजा (रत्नसेन) के लिए [बादशाह के द्वारा की गई] वह माया (स्नेहपूर्ण कृपा) व्याधि हो गई, जिसके परिणाम-स्वरूप [चित्तौरगढ़ के] कैलास (शिवलोक) को छोड़ कर उसके पाँव [उसके बाहर की] भूमि पर पड़े। (४) जिसके कारण बादशाह ने चित्तौरगढ़ की अवगुंठिका की (आवेष्टन किया), उसको कब छोड़ता यदि वह मुट्ठी में आ जाता ? (५) शत्रु को यदि कोई बाँध पाए, तो उसे [तदनंतर] मुक्त करके अपने लिए वह व्याधि करता है। (६) जैसे चारा डाल कर मछली को [जल में से ही] पकड़ लिया जाात है, जल से निकल आने पर कछुवे की शक्ति मृत हो जाती है, [और उसे पकड़ा जा सकता है], (७) मंत्रों से नाग को पेटारे में बन्द किया जाता है और मृग को [जाल में] बाँध (फँसा) लेने पर वह एक पग [भूमि को] भी खूँद (रौंद) नहीं सकता है। (८) [उसी प्रकार] राजा को [गढ़ के बाहर] ला कर [सुल्तान ने] पकड़ लिया और उसे लौह पहिना दिया (हथकड़ी-बेड़ी पहना दी)। (९) ऐसा लौह वही पहनता है जो स्वामी का द्रोह सोचता है।

टिप्पणी--(१) जूड़<युज् (?)=जुटना, इकट्ठा होना। (२) डिठियार<दृष्टिवाला। सरेख<संलेखित=ज्ञानी, चतुर। (३) कबिलास<कैलास=शिवलोक (४) अँगूठी<अंगुट्ठी<अवगुण्ठिका=आवेष्टन। (६) माँछ<मच्छ=मत्स्य। सकति<शक्ति : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ 'सकत' था। डॉ० वासुदेव

शरण अग्रवाल ने उसके स्थान पर 'सकति' पाठ का सुझाव दिया है, जो अधिक संगत होने के कारण स्वीकार्य है। काछू<कच्छप=कछुआ। (७) खूँद्<स्कुन्द=पैरों से रौंदना, कुचलना (९) स्यामि<स्वामिन्।

पायन्ह गाढ़ीं बेरीं परीं। साँकरि गींव हाथ हथकरीं।
औ धरि बाँधि मँजूसा मेला। अस सतुरुहु जनि होइ दुहेला।
सुनि चितउर महँ परा भगाना। देस देस चारिहुँ खंड जाना।
आजु नराए नफिरि जग खूँदा। आजु सिंघ मंजूसा मूँदा।
आजु खसे रावन दस माँथा। आजु कान्ह कारी फन नाथा।
आजु परान कंससेनि ढीला। आजु मीन संखासुर लीला।
आजु परे पंडव बँदि माहाँ। आजु दुसासन उपरी बाहाँ।
आजु धरा बलि राजा मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अँथवा भा चितउर अँधियार ॥५७६॥

अर्थ—(१) [रत्नसेन के] पैरों में कठिन बेड़ियाँ पड़ गईं, गले में शृंखला और हाथों में हथकड़ियाँ पड़ गईं। (२) और उसे पकड़ कर कटहरे में डाल दिया गया; ऐसा दुर्हेल्य [दुःख] शत्रु को भी न हो! (३) [राजा का बंदी होना] सुन कर चित्तौर में भाग पड़ गई और देश-देशान्तर में चारों खंडों को यह ज्ञात हो गया। (४) आज [मानो] नारायण (वामन) ने पुनः जगत् को पदाक्रान्त किया है; आज [मानो] पुनः सिंह कटहरे में वन्द किया गया है, (५) आज [मानो पुनः] रावण के दस मस्तक गिरे हैं, आज [मानो पुनः] कृष्ण ने कालीय के फनों को नाथा है; (६) आज [मनो पुनः] कंस सेन ने प्राण छोड़े हैं, आज [मानो पुनः] मीन [अवतार] ने शंखासुर को निगला है, (७) आज [मानो पुनः] पांडव बंदीगृह में पड़े हैं; आज [मानो पुनः] दुःशासन की बाहु उखाड़ी गई। (८) आज [मानो पुनः] वामन ने राजा बलि को पकड़ा और उसे बंदी कर पाताल भेजा; (९) आज [मानो] दिन ही में सूर्य अस्त हो गया, चित्तौर में [इस प्रकार का] अंधकार हो गया।

टिप्पणी—(२) **मँजूषा<मञ्जूषा=कठहरा। दुहेल<दुर्हेल्य। (४) खूँद<स्कुन्द=कूद-फाँद करना, फाँदना, लाँघना। सिंह मंजूषा मेला: दे० ५५९.७ की टिप्पणी। (७) पंडव<पाण्डव। आजु परे पंडव बँदि माँहाँ: यहाँ कदाचित् वारणावत में कौरवों के छल से पांडवों के लाक्षागृह में पड़ने की ओर संकेत है। (४), (८): (८) में वामन द्वारा बलि के बंदी किए जाने का उल्लेख है; (४) में भी वामनावतार की किसी घटना की ओर संकेत है, जो मेरी समझ में उनके द्वारा तीनों लोकों को माप लेने की है। ये दोनों घटनाएँ अलग-अलग अपने-आप में स्वतंत्र रूप से अप्रतिम महत्त्व की हैं: बलि जैसे महान् ऐश्वर्यशाली और साथ ही पुण्यात्मा दानव-राज को बंदी करना केवल विष्णु के लिए संभव था, और इसी प्रकार तीनों लोकों को भी तीन डगों का करना एकमात्र उन्हीं के लिए संभव था। (५) तथा (६) में भी इसी प्रकार कृष्ण अवतार की दो प्रमुख घटनाओं की ओर संकेत किया गया है: एक है कालीय-दमन की और दूसरी है कंस-वध की।**

देव सुलेमाँ की बँदि परा । जहँ लगि देव सबहि सत हरा ।
साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना । जो जहँ सतुरु सो तहाँ बिलाना ।
खुरासान औ डरा हरेऊ । काँपा बिदर धरा अस देऊ ।
बिंधि उदैगिरि धवलागिरी । काँपी सिस्टि दोहाई फिरी ।
उवा सूर भै सामुहँ करा । पाला फूटि पानि होइ ढरा ।
डंडवै डंड दीन्ह जहँ ताईं । आइ सो डँडवत कीन्ह सबाईं ।
दुंदि डाँड़ि सब सरगहि गईं । पुहुमि जो डोली सो अस्थिर भई ।
पातसाहि ढीली महँ आइ बैठ सुख पाट ।
जिन्ह जिन्ह सीस उठाए धरती धरे लिलाट ॥५७७॥

अर्थ--(१) अब देव (हिन्दू राजा--रत्नसेन) अलाउद्दीन के बन्धन में उसी प्रकार पड़ गया जिस प्रकार देव (जिन) सुलेमान के बन्धन में पड़ा था। [इस का परिणाम यह हुआ कि] जहाँ तक भी देव (हिन्दू राजा) थे, उन सबका सत्त्व अपहृत हो गया। (२) बादशाह ने उसे पकड़ कर [दिल्ली को] प्रयाण किया, और उसके जो भी शत्रु जहाँ पर थे, वे वहीं पर विलीन हो गए । (३) खुरासान और हिरात डर गए, तथा बीदर [यह देख कर] काँप उठा कि ऐसे देव (हिन्दू राजा) को [अलाउद्दीन ने] बन्दी किया है । (४) विंध्यगिरि, उदयगिरि और धवलागिरि [काँप उठे] और सृष्टि ही काँप उठी जब [अलाउद्दीन की] दुहाई फिरी । (५) सूर्य उदय हो गया और उसकी कला सम्मुख हो गई, पाला फट गया और वह पानी हो कर ढुलक गया। (६) जहाँ तक भी उसके दडपतियों ने दंड दिया, सबों ने आ कर [बादशाह को दंडवत किया। (७) उसकी दुंदुभी [पृथ्वी तल पर] सब को इस प्रकार दंडित कर स्वर्ग लोक [के विद्रोहियों को दंडित करने के लिए] चली गई और पृथ्वी जो डोल उठी थी, वह स्थिर हो गई । (८) बादशाह दिल्ली में आकर सुख के सिंहासन पर बैठा, (९) और जिन्होंने भी [विद्रोह में] सिर उठाए थे, उन्होंने [आकर] उसके सामने धरती पर माथे टेके ।

टिप्पणी--(१)सुलेमाँ<सुलेमान[अ०] : कहा जाता है कि प्रसिद्ध यहूदी बादशाह सुलेमान ने कुछ जिनों को अपने वश में कर लिया था, और उनसे वह भाँति भाँति के ऐसे कार्य करवाता था जो मनुष्य द्वारा संभव नहीं थे ।(२) बिलाय्<वि+ली= विलीन होना । (३) हरेउ<हिरात । बीदर = दक्षिण का प्रसिद्ध प्रदेश । (५) सामुंह <सम्मुख । (६) डंडवै>दण्डपति=दण्डनायक । (७) दुंदि<दुंदुहि=दुन्दुभी । डाँडि : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में छापे की भूल से पाठ 'छांडि' छप गया है, जो अशुद्ध है, 'डाँडि' होना चाहिए था ।

हबसी बँदिवान जियबधा । तेहि सौंपा राजा अगिदधा ।
पानि पवन कहँ आस करेई । सो जिय बधिक साँस नहिं देई ।
माँगत पानि आगि लै धावा । मोंगरु हूँ एक आइ सिर लावा ।
पानि पवन तैं पिया सो पिया । अब को आनि देइ पापिया ।
तब चितउर जिय अहा न तोरें । पातसाहि है सिर पर मोरें ।

जबहि हँकारहि है उठि चलना । सो कत करौं होइ कर मलना ।
करौं सो मीत गाढ़ि बंदि जहाँ । पानि पवन पहुचावै तहाँ ।
जल अंजुलि महँ सोवा समुँद न सँवरा जागि ।
अब धरि काढ़ा मंछ जेउँ पानी माँगत आगि ।।५७८।।

अर्थ--(१) बन्दीगृह में जो हबशी जल्लाद (प्राणदण्ड देनेवाला) था, उस अग्नि-दाहक के हाथों में राजा को सौंप दिया गया। (२) यदि कोई पानी और हवा की आशा करता, तो वह जल्लाद उस बन्दीगृह में [हवा जाने के लिए] साँस नहीं करता था। (३) राजा के पानी माँगते ही वह आग ले कर दौड़ा आया और राजा के सिर पर उसने एक मुँगरी जमा दी (४) [उसने कहा,] "तू ने [अब तक] जो पानी और हवा पी, वह पी ; अब कौन, ऐ पापी, तुझे [पानी या हवा]. ला कर देगा ? (५) तब चित्तौर में तेरे जी में यह न रहा (हुआ) "बादशाह मेरे सिर पर है, (६) और जभी वह पुकारेगा, उठ कर चलना होगा, इसलिए वह कार्य क्यों किया जाय जिससे [पीछे] हाथ मलना पड़े ? (७) उसको मित्र बनाएँ जो जहाँ प्रगाढ़ बन्दीगृह है, वहाँ भी पानी और पवन पहुँचाता है।" (८) [ऐ राजा,] तू [एक मछली के समान] अंजली भर जल में (थोड़े से वैभव) में [निश्चिन्त हो कर] सोया हुआ था ; तू ने जाग कर समुद्र (सुल्तान की अपार शक्ति) का स्मरण नहीं किया। (९) अब तू पकड़ कर निकाली हुई मछली के समान है, जिसे पानी माँगते समय आग ही मिलेगी।

टिप्पणी--(१) बंदिवान = बन्दीगृह (दे० ६०४.३)। जियबधा = जीव-वध करनेवाला, जल्लाद। (२) साँस = हवा और प्रकाश की किरण आने के लिए किया गया छिद्र। (३) मोगर < मोग्गर < मुद्गर = मुँगरी। (९) मंछ = मत्स्य।

(६)-(७) में कवि सांकेतिक शैली में कहना चाहता है कि परमेश्वर जब बुलाता है, मनुष्य को संसार छोड़ कर चलना पड़ता है, इसलिए उसे ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए जिससे परमेश्वर के समक्ष पहुंचने पर पश्चात्ताप करना पड़े। वही एक ऐसा मित्र है जो [माता के गर्भ जैसे] प्रगाढ़ बंदीगृह में भी पानी और पवन पहुँचाता है।

पुनि चलि दुइ जन पूँछै आए । ओहि सुठि दगध आइ देखराए ।
तूँ मरपुरी न कबहूँ देखी । हाड़ जो बिथुरे देखि न लेखी ।
जाने नहिं कि होब अस महूँ । खोजें खोज न पाउब कहूँ ।
अब हम उतर देहि रे देवा । कवने गरब न माने सेवा ।
तोहि अस केत गाड़ खनि मूँदे । बहुरि न निकसि बार गै खूँदे ।
जो जस हँसै सो तैसै रोवा । खेलि हाँसि एहि भुँइ पै सोवा ।
तस अपने मुँह काढ़े धुवाँ । चाहसि परा नरक के कुँवा ।
जरसि मरसि अब बाँधा तैस लाग तोहि दोख ।
अबहूँ माँगु पदुमिनी जौं चाहसि भा मोख ।।५७९।।

अर्थ--(१) पुनः चल कर दो व्यक्ति उससे [पद्मिनी को देने के लिए] पूछने आए। उन्होंने आ कर (और राजा को साथ ले जाकर) उसे [आग में झोंके हुए मनुष्यों के] एक बड़े दग्ध को दिखाया। (२) उन्होंने कहा, "तू ने मृत्युपुरी कभी

नहीं देखी है ; किन्तु यहाँ जो हड्डियाँ छिटकी पड़ी हैं, उन्हें देख कर उसका लेखा (अनुमान) क्यों न कर ले ? (३) तू ने यह नहीं जाना (सोचा) कि तू भी ऐसा होगा कि खोजने पर तेरी खोज कहीं न मिलेगी। (४) हमें, ऐ देव, अब तू उत्तर दे: किस गर्व के कारण तू ने बादशाह की सेवा करना न स्वीकार किया ? (५), तेरे ऐसे कितनों को उसने गड्ढा खोद (खुदवा) कर उसमें मूँद (ढक) दिया जिससे कि पुनः निकल कर और जाकर [अपने] द्वार को वे नहीं खूँद सके। (६) जो [जीवन में] जैसे हँसता है, उसी प्रकार रोता भी है, और खेल-हँसकर पुनः इसी भूमि पर सोता है। (७) तू ने अपने मुख से ऐसी धूएँ के सदृश [आकाश को छूने वाली] बातें निकाली हैं, कि तू अब नर्क के कुएँ में पड़ना ही चाहता है। (८) तुझे (तुझ पर) ऐसा दोष लगा है कि तू अब वंदीगृह में रह कर जले-मरेगा ही। (९) यदि तू अपना मोक्ष होना चाहता है, तो अब भी तू पद्मिनी को मँगा ले' (बुला भेज)।"

टिप्पणी--(२) बियुर्<वित्थुर्<वि+स्तृ=फैलना। (५) केत<कियत्=कितने ही। गाड़<गड्ड<गर्त=गड्ढा। मूँद्<मुद्द<मुद्रय्=मुद्रित करना, बंद करना। बार<वार<द्वार। खूँद्<स्कुन्द=पैरों से कुचलना। (९) जौं<जउ<यदि।

पूँछेन्हि बहुत न बोला राजा। लीन्हेसि चूपि मीचु मन साजा।
खनि गड़ ओबरी महँ लै राखा। निति उठि दगध होहिं नौ लाखा।
ठाँउ सो साँकर औ अँधियारा। दोसरि करवट लेइ न पारा।
बीछी साँप आनि तहँ मेले। बाँका आनि छुवावहिं हेले।
दहकहिं सँडसी छूटहिं नारी। राति देवस दुख गंजन भारी।
जो दुख कठिन न सहा पहारू। सो अँगवा मानुस सिर भारू।
जो सिर परै सरै सो सहें। कछु न बसाइ काहु के कहें।
दुख जारै दुख भूँजै दुख खोवै सब लाज।
गाजहि चाहि गरुव दुख दुखी जान जेहि बाज ॥५८०॥

अर्थ--(१) उन्होंने बहुतेरा पूछा, किन्तु राजा न बोला। उसने चुप्पी साध ली, और मन में मृत्यु की तैयारी कर ली। (२) उसे ले जा कर और एक ऐसी गड़-ओबरी (गड्ढे की कोठरी) खोद कर उसमें रक्खा गया, जैसी गड़-ओबरी में रक्खे गए दंड-भोगी नित्य [सोकर] उठने पर नौ लाख दग्ध होते थे। (३) वह स्थान संकीर्ण और अंधकारपूर्ण था, जिसमें राजा दूसरी करवट भी नहीं ले सकता था। (४) वहाँ साँप और बिच्छू लाकर डाल दिए गये थे, और डोम (बधिक) बाँका ला-लाकर [राजा को] छुआते थे। (५) सँड़सियाँ तप्त होती रहती थीं, जिनसे आँके जाने पर नाड़ी छूट-छूट जाती थी ; रात-दिन भारी दुःख की यातना थी। (६) जिस (जैसे) कठिन दुःख को पहाड़ ने भी न सहन किया होगा, उस (वैसे) [कठिन दुःख-] भार को मनुष्य ने अंगों पर लिया। (७) जो सिर पर पड़ता है, वह सहन करने से ही जाता है, किसी के कहने से कुछ बस नहीं चलता है। (८) दुःख जलाता है, दुःख भूनता है, और दुःख समस्त लज्जा को खो (मिटा) देता है। (९) दुःख वज्र से भी गुरु होता है, और उसे दुखिया ही जानता है जिस पर वह आ पड़ता है।

टिप्पणी--(१) चूपि=चुप्पी । (२) गड़<गर्त=गड्ढा । ओबरी<उव्वरिअ <अपवरिका=कोठरी । (३) साँकर<संकीर्ण (?) । पार<पारय् = सकना । (४) बाँका<बंक<वक्र=टेढे छुरे जैसा एक हथियार जिसका उपयोग डोम और धरिकार बाँस के सामान बनाने में करते हैं । हेला=डोम । (५) सँडसी<संदंशिका= यंत्र-विशेष जिससे कोई तप्त चीज़ पकड़ी जाती है । (६) सर्<सृ=जाना । (९) गांज<गज्ज<गर्ज = वज्र । बाज्<वज्ज<व्रज् = जाना, पड़ना ।

पदुमावति बिनु कंत दुहेली । बिनु जल कँवल सूखि जसि बेली ।
गाढ़ि प्रीति प्रिय मो सों लाए । ढीली जाइ निचिंत होइ छाए ।
कोइ न बहुरा निबहुर देसू । केहि पूछौं को कहै सँदेसू ।
जो गौने सो तहाँ कर होई । जो आवै कछु जान न सोई ।
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा । जो रे जाइ सो बहुरि न आवा ।
कुँआ ढार जल जैस बिछोवा । डोल भरे नैनन्ह तस रोवा ।
लेजुरि भई नाँह बिनु तोही । कुवाँ परी धरि काढ़हु मोही ।
नैन डोल भरि ढारैं हिएँ न आगि बुझाइ ।
घरी घरी जिउ बहुरैं घरी घरी जिउ जाइ ।।५८१।।

अर्थ--(१) पद्मावती पति के बिना दुर्हेल्य दुःख-ग्रस्ता थी, उसी प्रकार जिस प्रकार बिना जल के कमलिनी की बेल सूख जाती है । (२) [वह कहने लगी,] "प्रियतम ने मुझ से प्रगाढ़ स्नेह लगाया किन्तु स्वतः वे दिल्ली जाकर और वहाँ निश्चिन्त होकर छा रहे हैं । (३) वह देश ही ऐसा निबहुर है कि वहाँ जाकर कोई लौटा नहीं है । इसलिए किस से पूछूँ और कौन [मेरे पति का] संदेश कहेगा । (४) जो जाता है, वही वहाँ का हो जाता है, और जो [वहाँ से] आता है, वह [उनके विषय में] कुछ जानता नहीं है । (५) जहाँ मेरा प्रिय गया है, [उस देश का] पथ अगम्य है ; जो वहाँ जाता है लौट कर नहीं आता है । (६) कुएँ पर जिस प्रकार ढार (मोट) जल गिराता है, उसी प्रकार मैं डोल-डोल [आँसू] भरे नेत्रों से रोती रही हूँ । (७) ऐ नाथ, मैं तुम्हारे बिना रज्जु जैसी [निःसत्त्व] हो गई हूँ ; मैं कुएँ में पड़ी हुई हूँ, तुम मुझे पकड़ कर निकालो । (८) मेरे नेत्र आँसुओं के डोल भर-भर कर ढुलका रहे हैं, किन्तु हृदय में जो अग्नि है वह बुझ नहीं रही है । (९) घड़ी-घड़ी पर यदि प्राण लौट भी आते हैं, तो घड़ी-घड़ी वे जाते भी रहते हैं ।"

टिप्पणी--(१) दुहेली=दुर्हेल्य दुःख ग्रस्ता । (३), (९) बहुर<वाहुड्< व्यावृट्=लौटना । (३) निबहुर=जहाँ से कोई लौटता न हो । (४) गवन< गमन । (६) ढार=मोट । बिछोव=अपने से अलग करना । (७) लेजुरि<रज्जु । लेजुरि लोक-साहित्य में निःसत्त्वता का उपमान है । (६-८) इन अर्द्धालियों में वर्णन के लिए जो अप्रस्तुत लिए गए हैं वे सभी कूप से जल निकालने की क्रिया से संबंधित हैं ।

नीर गँभीर कहाँ हो पिया । तुम बिनु फाट सरोवर हिया ।
गएहु हेराइ बिरह के हाथा । चलत सरोवर लीन्ह न साथा ।
चरत जो पंछि केलि के नीरा । नीर घटै कोउ आउ न तीरा ।

कँवल सूख पँखुरी बिहरानी । कन कन होइ मिलि छार उड़ानी ।
बिरह रेति कंचन तनु लावा । चून चून कै खेह मिलावा ।
कनक जो कन कन होइ बिहराई । पिय पै छार समेटैं आई ।
बिरह पवन यह छार सरीरू । छारहु आनि मिलावहु नीरू ।
अबहुँ मया कै आइ जियावहु बिथुरी छार समेटि ।
नव अवतार होइ नइ काया दरस तुम्हारें भेंटि ।।५८२।।

अर्थ--(१) "हे गंभीर नीर [सदृश] प्रिय, तुम कहाँ हो ? तुम्हारे बिना मेरा हृदय सरोवर फटा जा रहा है। (२) तुम विरह के हाथों से [छीने जाकर] लुप्त हो गए, और चलते समय [मेरे हृदय] सरोवर को साथ न ले गए। (३) जो [सुख-] पक्षी, ऐ वीर, [तुम्हारे रहने पर] तुममें केलि करके वहाँ चरते थे, उसी नीर के (तुम्हारे) घट रहने पर कोई [सरोवर के] तीर (पास) तक नहीं आते हैं। (४) कमलिनी (पद्मिनी) सूख गई, उसकी पंखुड़ियाँ टूट गईं, वे कण-कण हो कर और क्षार (धूल) के साथ मिल कर वे उड़ गईं। (५) मेरे कंचन रूपी तन में विरह की रेती लग गई है ; वह उसे चूर्ण-चूर्ण करके धूल में मिला रही है। (६) जो कनक था, वह कण-कण हो कर विघटित हो रहा है ; हो न हो, हे प्रिय [उस कनक की] क्षार (धूल) को समेटने के लिए ही आ जाओ। (७) विरह का पवन है, और यह शरीर उसके द्वारा उड़ाई जाने वाली धूल है ; तुम आकर उस धूल में ही [भला] [जीवन-] जल मिला जाओ ! (८) अब भी मया (स्नेहपूर्ण कृपा) पूर्वक आकर और मेरी छिटकी धूल समेट कर मुझे जीवित कर जाओ। (९) तुम्हारे दर्शनों को भेंट (पा) कर मेरा नया अवतार होगा और मेरी नई काया होगी।

टिप्पणी—(१–४) इनमें कवि ने सरोवर और कमल के विघटन से अप्रस्तुत लिए हैं। (५–९) इनमें कवि ने कंचन के [आभरण के] विघटन से अप्रस्तुत लिए हैं। (५) चून<चुण्ण<चूर्ण। खेह=धूल। (६) छार<क्षार=राख, धूल। (८) बिथुर्<वित्थर<वि+स्तृ=छिटकना, फैलना।

नैन सीप मोंतिन्ह भरि आँसू । टुटि टुटि परहिं करै तन नाँसू ।
पदिक पदारथ पदुमनि नारी । पिय बिनु भै कौड़ी बर बारी ।
सँग लै गएउ रतन सब जोती । कंचन कया काँचु भै पोती ।
बूड़ति हौं दुख उदधि गँभीरा । तुम्ह बिन कंत लाव को तीरा ।
हिएँ बिरह होइ चढ़ा पहारू । जल जोवन सहि सकै न भारू ।
जल महँ अगिनि सो जान बिछूना । पाहन जरै होइ जरि चूना ।
कवने जतन कंत तुम्ह पावौं । आजु आग हौं जरत बुझावौं ।
कवन खंड हौं हेरौं कहाँ मिलहु हो नाहँ ।
हेरें कतहुँ न पावौं बसहु तौ हिरदै माहँ ।।५८३।।

अर्थ--(१) "मेरे नेत्र-सीप आँसुओं के मोती भरते रहते हैं ; वे मोती टूट-टूट कर गिरते रहते और [मेरे] शरीर को नष्ट करते रहते हैं। (२) पदिक के पदार्थ के रूप में यह पद्मिनी नारी थी, किन्तु बिना तुम्हारे, हे प्रिय वह श्रेष्ठ बालिका कौड़ी

हो गई। (३) हे [मेरे] रत्न, तुम [अपने साथ इस पदार्थ की] ज्योति लेते गए, और मेरी कंचन की काया काँच की पोत हो गई। (४) मैं दुःख के गंभीर उदधि में डूब रही हूँ; तुम्हारे विना, हे कान्त, कौन मुझे तीर पर लाए? (५) मेरे हृदय पर विरह पहाड़ बन कर चढ़ा हुआ है, और मेरा यौवन-जल उसके भार को नहीं सहन कर सकता है। (६) उस [यौवन-] जल में जो अग्नि है, उसे [कोई] वियुक्त ही जान सकता है, उस अग्नि में पत्थर जल कर चूना हो जाता है। (७) हे कान्त, मैं तुम्हें किस यत्न से पाऊँ कि आज उस जलती हुई आग को बुझाऊँ? (८) मैं तुम्हें [पृथ्वी के] किस खंड में ढूँढूँ? तुम मुझे कहाँ मिलोगे? (९) मैं तुम्हें ढूँढने पर कहीं नहीं पा रही हूँ, क्योंकि तुम मेरे हृदय में निवास कर रहे हो।"

टिप्पणी--(१--३) इन अर्द्धालियों में अप्रस्तुत मुक्ताहार से लिए गए हैं। (१) सीप<सुत्ति<शुक्ति। (२) पदिक=हार के मध्य में लगी हुई चौकी। पदारथ<पदार्थ=हीरा। वारी<बालिका। (३) पोती<पोत्ती [दे०]=काँच की गुरिया। (४-७) इन अर्द्धालियों में अप्रस्तुत समुद्र और उसकी बड़वाग्नि से लिए गए हैं। (६) बछुना<विच्छिन्न=वियुक्त। पाहन<पाषाण। चूना<चुण्ण<चूर्ण=क़लई का चूना।

(७-९) में कवि ने स्पष्ट संकेत किया है कि ईश्वर कहीं बाहर नहीं मिलता है, क्योंकि वह हृदय में निवास करता है।

कुंभलनेर राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय सालू।
ओइँ पुनि सुना कि राजा बाँधा। पाछिल बैर सँवरि छर साँधा।
सतुरु साल तब नेवरै सोई। जौ घर आव सतुरु कै जोई।
दूती एक बिरिध ओहि ठाऊँ। बाँभनि जाति कमोदिनि नाऊँ।
ओहि हँकारि कै बीरा दीन्हा। तोरे बर मैं बर जिय कीन्हा।
तूँ कुमुदिनी कँवल के निअरे। सरग जो चाँद बसै तुव हिअरे।
चितउर महँ जो पदुमिनी रानी। कर बर छर सो देहि मोहिं आनी।
रूप जगत मनि मोहनि औ, पदुमावति नाउँ।
कोटि दरब तोहि देइँ आनि करसि एक ठाउँ ॥५८४॥

अर्थ--(१) कुंभलनेर का राय देवपाल राजा (रत्नसेन) का शत्रु था और उसके हृदय में [उस शत्रुता का] शल्य था। (२) पुनः उसने सुना कि राजा बंदी हो गया है, इसलिए पिछले वैर को स्मरण कर उसने छल का संधान किया। (३) [उसने सोचा,] "शत्रु का वह शल्य तब समाप्त होगा, जब उसकी जोय (स्त्री) मेरे घर आएगी।" (४) उस स्थान पर एक वृद्धा दूती (कुटनी) थी, जो जाति की ब्राह्मणी थी, और जिसका नाम कुमुदिनी था। (५) उसे बुलाकर देवपाल ने [उस कार्य के लिए] बीड़ा दिया और कहा, "तेरे बल से ही मैंने जी में यह बल (साहस) किया है। (६) तू कुमुदिनी है, इसलिए कमलिनी (पद्मिनी) के निकट [की] है। जो चन्द्र गगन में है वह चन्द्र [तेरे कुमुदिनी होने के कारण] तेरे हृदय में निवास करता है। (७) इसलिए चित्तौर में जो पद्मिनी रानी है, उसे तू अपनी कलाओं से, बल से, अथवा छल से [जिस प्रकार भी संभव हो] मेरे पास ला दे। (८) वह रूप के संसार की मोहिनी मणि है,

और उसका नाम पद्मावती है। (९) तुझे एक कोटि द्रव्य दूँगा, यदि तू [किसी प्रकार] उसे लाकर [मेरे साथ] एक स्थान पर कर दे।"

टिप्पणी--(१) कुंभलनेर=चित्तौर के पास का एक स्थान। देवपाल : इस नाम का एक मालवे का राजा भी था, जो १२३१-३२ ई० में था (ओझा : राजस्थान का इतिहास, भाग १, पृ० २०१-२०३)। साल<सल्ल<शल्य। (२) छर<छल। साँध्<सं+धा=मिलाना, लगाना। (३) नेवर<नि+वृ=निपटना, समाप्त होना / जोई<जोइआ<योजिता=[ग्रंथि-बंधन (विवाह-संबंध) से] जोड़ी हुई, स्त्री। (५) बीरा<वीडय<वीटक=सज्जित ताम्बूल। (६) निअर<णिअड<निकट। (७) कर, बर, छर=कल, बल, छल।

कुमुदिनि कहा देखु मैं सो हौं। मानुस काह देवता मोहौं।
जस काँवरू चमारी लोना। को न छरा पाढ़ित औ टोना।
बिसहर नाँचहिं पाढ़ित मारें। औ धरि मूँदहि घालि पेटारें।
बिरिख चलै पाढ़ित की बोला। नदी उलटि बह परबत डोला।
पाढ़ित हरै पँडित मति गहिरे। औरु को अंध गूँग औ बहिरे।
पाढ़ित औसि देवतन्ह लागा। मानुस का पाढ़ित हुति भागा।
पाढ़ित कै सुठि गाढ़ी बानी। कहाँ जाइ पदुमावति रानी।
दूती बहुत पैज कै बोली पाढ़ित बोल।
जाकर सत्त सुमेरु है लागै जगत न डोल ॥५८५॥

अर्थ--(१) कुमुदिनी ने कहा, "[देवपाल,] देख, मैं वह हूँ जो मनुष्य क्या, देवता को भी मोहित कर लूँ। (२) जिस प्रकार कामरूप में लोना चमारिन थी, [उसी प्रकार] मेरे भी मंत्र और टोने से कौन नहीं छला जा सका है? (३) मेरे मंत्र की मार से विषधर (सर्प) नाचने लगते हैं; तब उसे [कोई भी] पकड़ कर पेटारे में डाल कर बन्द कर दे। (४) मेरे मंत्र के बोल से वृक्ष चलने लगता है, नदी उलटी बहने लगती है, और पर्वत हिलने लगता है। (५) मेरा मंत्र गंभीर पंडित की मति भी हर ले, फिर अंधे, गूँगे और बहरे [उसके सम्मुख] कौन हैं? (६) मेरा मंत्र अवश्य कर के देवताओं को लगता है, [तब] मनुष्य क्या मेरे मंत्रों से भाग सकता है। (७) मंत्र की वाणी अत्यधिक गाढ़ी होती है, [उससे बचकर] पद्मावती रानी कहाँ जा सकती है?" (८) दूती ने बहुत प्रतिज्ञा करके [अपने] मंत्र के बोलों के संबंध में कहा (९) किन्तु जिसका सत्य सुमेरु सदृश [अटल] है, [उसको डिगाने के लिए] जगत् लग जाए तो वह डिग नहीं सकता है।

टिप्पणी--(२) काँवरू<कामरूप=असम का प्रसिद्ध तंत्र-पीठ। लोना चमारी : टोने की विद्या में लोना नाम की वहाँ की चमारिन प्रसिद्ध रही है। पाढ़ित<पाठित=पढ़ाया हुआ मंत्र। टोना<तंत्र। (३) बिसहर<विषधर=सर्प। घाल्<घल्ल् [दे०]=डालना। पेटार>पेटाल=बड़ा पेटक। (५) गूँग<मूक। (६) औसि<अवश्य। (८) पएज=प्रतिज्ञा।

दूती दुत पकवान जो साँधे। मोंतिलडु कीन्ह खिरौरा बाँधे।
माँठ पेराक फेनी औ पापर। भरे बोझ दूती कै कापर।

लै पूरी भरि डाल अछूती । चितउर चली पैज कै दूती ।
बिरिध बएस जो बाँधै पाऊ । कहाँ सो जोबन का बेवसाऊ ।
तन बुढ़ाइ मन बूढ़ न होई । बल न रहा लालच जिय सोई ।
कहाँ सो रूप देखि जग राता । कहाँ सो गरब हस्ति जस माँता ।
कहाँ सो तीख नैन तन ठाढ़ा । सबै मारि जोबन पुनि काढ़ा ।
मुहमद बिरिध जो नै चलै काह चलै भुइँ टोइ ।
जौबन रतन हेरान है मकु धरती महँ होइ ॥५८६॥

अर्थ--(१) दूती कुमुदिनी शीघ्र जो पकवान [आवश्यक] थे, तैयार कर लिए। उसने मोतीचूर के लड्डू [तैयार] किए तथा खिरौरे [दूध के लड्डू] बाँधे। (२) माँठ, पेराक, फेनी और पापड़ के बोझ उसने [डालों में] कपड़े (कपड़े के अस्तर) कर भरे। (३) [तदनंतर] अछूती पूरियाँ लेकर और उन्हें डालियों में भरकर वह दूती प्रतिज्ञा करके चित्तौर चली। (४) वृद्धावस्था में जो उसने पादुका बाँधी, तो अब वह यौवन कहाँ था और कहाँ वह व्यवसाय (पौरुष) था [जो युवावस्था में होता है] ? (५) किन्तु शरीर के वृद्ध होने पर भी मन वृद्धावस्था में वृद्ध नहीं होता है; [भलेँही शरीर में] बल शेष नहीं रहता है, किन्तु जी में लालच वही (उसी प्रकार की) रहती है। (६) [अब] वह [युवावस्था का] रूप कहाँ, जिसको देख कर जगत् अनुरक्त हो जाता था, और वह गर्व कहाँ, जो हाथी के सदृश मत्त रहता था ? (७) [अब] वह तीक्ष्ण नेत्र कहाँ और वह खड़ा शरीर कहाँ ? [वृद्धावस्था] सब को मार कर तदनंतर यौवन को शरीर से निष्कासित कर देती है। (८) मुहम्मद [जायसी] कहता है, वृद्ध जो झुक कर चलता है, वह क्यों भूमि को टटोलता हुआ चलता है ? (९) [वह सोचता है,] उसका जो यौवन-रत्न गुम हो गया है, ऐसा न हो कि वह धरती में [गिरा] हो।

टिप्पणी--(१) डुत > द्रुत,=शीघ्र। सांध् < सं + धा=मिलाना, बनाना। खिरौरा < खीर + बट्टअ < क्षीर + वर्त्तक=दूध का लड्डू। (२) माँठ पेराक : दे० ५५०.७। फेनी : दे० ५५०.८। पापर < पप्पड < पर्पट=पापड़। कापर < कप्पड < कर्पट = कपड़ा। (३) पूरी : दे० ५४३.७। डाल < डल्ल = पिटिका। पएज < प्रतिज्ञा। (४) पाऊ= पाउअ < पादुका=खड़ाऊँ, [काष्ठ का] पौला। (६) राता < रत्त < रक्त=अनुरक्त। (७) तीख < तिक्ख < तीक्ष्ण ॥ ठाढ < ठड्ढ़ < स्तब्ध=खड़ा। काढ़् < कड्ढ < कृष्= खींचना, निकालना। (८) नय् < नम्=नमित होना, झुकना।

आइ कमोदिनि चितउर चढ़ी । जोहन मोहन पाढ़ित पढ़ी ।
पूँछि लीन्ह रनिवाँस बरोठा । पैठि पँवरि भीतर जहं कोठा ।
जहँ पदमावति ससि उजियारी । लै दूती पकवान उतारी ।
बाँह पसारि धाइ कै भेंटी । चीन्है नहिं राजा कै बेटी ।
हौं बाँभनि जेहि कुमुदिनि नाँऊ । हम तुम्ह उपनी एकहि ठाँउ ।
नाँउ पिता कर दूबे बेनी । सदा पुरोहित गंध्रप सेनी ।
तुम्ह बारी तब सिंघल दीपाँ । लीन्हें दूध पिआइउँ छीपाँ ।

ठाउँ कीन्ह मैं दोसर कुंभलनेरिहि आइ ।
सुनि तुम्ह कहँ चितउर महँ कहिउँ कि भेंटौं जाइ ॥५८७॥

अर्थ--(१) कुमुदिनी आकर चित्तौर गढ़ पर चढ़ी, जो जोहन और मोहन के मंत्रों को पढ़े हुए थी। (२) उसने रनिवास के बरोठे को पूँछ [कर जान] लिया, और वह जहाँ पर प्रकोष्ठ था, वह पौंरि के भीतर प्रविष्ट हुई। (३) जहाँ पर शशि के समान उज्ज्वल पद्मावती थी, वहाँ ले जाकर उस दूती ने पकवानों को उतारा। (४) वह बाहों को फैलाए हुए दौड़ कर [पद्मावती को] भेंटने लगी, [और कहने लगी,] "तू, ऐ राजकन्या, मुझे पहचानती नहीं है। (५) मैं वह ब्राह्मणी हूँ जिसका नाम कुमुदिनी है ; मैं और तुम एक ही स्थान की उत्पन्न हैं। (६) मेरे पिता का नाम बेनी दूबे है, जो सदैव ही गंधर्व सेन के पुरोहित रहे। (७) तुम उस समय सिंहल द्वीप में बालिका थीं, और मैंने तुम्हें लेकर (उठा कर) क्षिप्रता पूर्वक दूध पिलाया है। (८) मैंने दूसरा [निवास-]स्थान कुंभलनेर आ कर किया और तुम्हें चित्तौर में [आया] सुन कर [मन में] कहा कि जा कर तुम से भेंट करूँ।"

टिप्पणी--(१) जोहन<जोअण<योजन=मिलाना, संबंध करना। मोहन=मुग्ध करना (२) बरोठा<द्वार+[प्र] कोष्ठ=द्वारों वाला प्रकोष्ठ, खुली बैठक। (५) उपँन्<उत्+पत्=उत्पन्न होना। (७) छीप<छिप्प<क्षिप्र=शीघ्र।

सुनि निस्चै नैहर कै कोई । गरें लागि पदुमावति रोई ।
नैन गँगन रवि बिनु अँधियारे । ससि मुख आँसु टूट जनु तारे ।
जग अँधियार गहन दिन परा । कब लगि ससि नखतन्ह निसि भरा ।
माइ बाप कत जनमी बारी । दिएउ तुहूँ न जन्मतहि मारी ।
कत बियाहि दुख दीन्ह दुहेला । चितउर पठै कंत बँदि मेला ।
अब एह जीवन बादि जौ मरना । भएउ पहार जरम दुख भरना ।
निसरि न जाइ निलज यह जीऊ । देखौं मंदिल सून बँदि पीऊ ।
कुहुँकि जो रोई ससि नखत नैनन्ह रात चकोर ।
अबहूँ बोलहिं तेहिं कुहुँकि कोकिल चातिक मोर ॥५८८॥

अर्थ--(१) यह सुन कर कि वह निश्चित रूप से कोई उसके पीहर की है, पद्मावती उसके गले लग कर रो पड़ी। (२) उसके नेत्र-गगन उसके [स्वामी-] सूर्य के बिना अन्धकारपूर्ण हो रहे थे और उसके शशिमुख पर गिरनेवाले आँसू ऐसे लग रहे थे मानो [उस अंधकार पूर्ण आकाश से] तारे टूट रहे हों। (३) [यह देखकर कुमुदिनी ने कहा,] "[तुम्हारे] दिन (दिनकर) के ग्रहण लगने के कारण [तुम्हारा] जगत् (जीवन) अंधकारपूर्ण हो रहा है, किन्तु ऐ शशि, कब तक रात्रि नक्षत्रों से भरी रहेगी (कब तक तुम अश्रुपात करती रहोगी) ? (४) माँ-बाप ने तुम्हें बालिका के रूप में जन्म ही क्यों दिया अथवा तुम्हें तुम्हारे जन्म ग्रहण करते ही क्यों न मार डाला ? (५) तुम्हें व्याह कर क्यों उन्होंने ऐसा दुहेला दुःख दिया, और तुम्हें चित्तौर भेज कर उन्होंने तुम्हारे पति को बंदीगृह में डाल (डलवा) दिया ? (६) यदि [इस प्रकार रोते-कलपते] मरना ही है, तो तुम्हारा यह जीवन व्यर्थ होगा ; जन्म भर दुःख भरना

तुम्हारे लिए पहाड़ हो गया ! (७) जीव ऐसा निर्लज्ज है कि निकल भी नहीं जाता है, जब मैं देखती हूँ कि तुम्हारा मंदिर सूना है और तुम्हारा प्रिय बंदी गृह में है । (८) ऐ शशि, जो तू कूक भर कर नक्षत्रों (आँसुओं) को [गिराते हुए] रोती रही है, [उसी से] चकोर के नेत्र लाल हो गए हैं (९) तथा उसी के कारण अब भी कोकिल चातक और मयूर कूकते हुए बोल रहे हैं ।"

टिप्पणी--(३) गहन<ग्रहण । (४) बारी<बालिका । (५) दुहेल<दुर्हेल्य=जिसकी अवज्ञा या उपेक्षा न की जा सके । (६) बादि=व्यर्थ । (७) निसर<णिस्सर<निर्+सृ=निकलना । (९) कुहुँक्=कूक भरना, वेदनापूर्ण स्वर निकालना ।

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई । पुनि लै रोक वारि मुख धोई ।
तूँ ससि रूप जगत उजियारी । मुख न झाँपु निसि होइ अँधियारी ।
सुनि चकोर कोकिल दुख दुखी । घुँघुची भए नैन करमुखी ।
केतौ धाइ मरै कोइ बाटा । सो पै पाव जो लिखा लिलाटा ।
जो पै लिखा आन नहिं होई । कत धावै कत रोवै कोई ।
कत कोइ इंछ करै औ पूजा । जो बिधि लिखा सो होइ न दूजा ।
जेत कमोदिनि बैन करेई । तस पदुमावति स्रवन न देई ।
सेंदुर चीर मैल तस सूखि रहे सब फूल ।
जेहिं सिंगार पिउ तजि गा जरम न बहुरै मूल ॥५८६॥

अर्थ--(१) कुमुदिनी [पद्मावती के] गले लग कर खूब रोई तदनंतर रुपए लेकर और उनका वारा कर के उसने उसका मुख धोया । (२) [उसने कहा,] "रूप जगत् की तू उज्ज्वल शशि है ; तू अपना मुख न ढँक कि अँधेरी रात हो जाए । (३) तेरा दुःख सुन कर चकोर और कोकिल दुःखित हैं, और उनके काले मुख की नेत्र घुँघची [जैसे] हो गए हैं । (४) कोई कितना भी [किसी] मार्ग में दौड़कर मरे, हो न हो, वह वही पाता है जो उसके ललाट में लिखा होता हैं । (५) होता वही है जो [भाग्य में] लिखा होता है , अन्य [कुछ] नहीं होता है, कितना ही क्यों न कोई दौड़े और रोए । (६) [किसी देवता से] कोई कितनी ही इच्छा (कामना) करे और उसकी पूजा करे, जो कुछ विधाता ने [भाग्य में] लिख दिया है, वही होता है, दूसरा कुछ, नहीं होता है ।" (७) [इस प्रकार] जितने ही वचन कुमुदिनी कर (कह) रही थी पद्मावती उसी प्रकार उन्हें कान भी नहीं दे रही थी । (८) उसके सिंदूर, चीर [आदि] मलिन हो रहे थे, और [उसके श्रृंगार के] समस्त फूल सूख रहे थे । (९) जिस श्रृंगार को प्रिय (पति) छोड़ गया था, वह अब जन्म (जीवन) भर में भी अपने मूल (पूर्ववर्ती) रूप में नहीं लौट सकता था ।

टिप्पणी--(१) रोक<रूवग<रूपक=रुपया । वार्=कष्ट के निषारण के लिए न्यौछावर करना, उवारा करना । (४) केत<कियत्=कितना भी । बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग । (७) बैन<वयन<वचन । (९) जरम<जन्म ।

पुनि पकवान उघारे दूती । पदुमावति नहिं छुवै अछूती ।
मोहिं अपने पिय केर खँभारू । पान फूल कस होइ अहारू ।

मो कहँ फूल भए जस काँटे। बाँटि देहु जेहि चाहहु बाँटे।
रतन छुए जिन्ह हाथन्ह सेंती। औरु न छुओं सो हाथ सँकेती।
ओहि के रँग तस हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तौ घुँघुची डीठी।
नैन करमुखे राती काया। मोंति होहिं घुँघुची जेहि छाया।
अस करि ओछ नैन हत्यारे। देखत गा पिउ गहै न पारे।
का तेहि छुओं पकावन गुर करुवा घिउ रूख।
जेहि मिलि होत सवाद रस लै सो गएउ सब भूख ॥५६०॥

अर्थ--(१) तदनंतर दूती (कुमुदिनी) ने पक्वान्नों को उघाड़ा (खोला), किन्तु पद्मावती उसकी अछूती [पूरियों तक] को नहीं छू रही थी। (२) [पद्मावती ने कहा,] "मुझे अपने प्रिय (पति) की हलचल (व्यथा) है, [ऐसी दशा में] पान-फूल का आहार मुझ से कैसे होगा ? (३) मुझे तो फूल जैसे काँटे हो रहे हैं, इसलिए इन्हें जिसे बाँटना चाहो बाँट दो। (४) जिन हाथों से मैंने रत्न (रत्नसेन) का स्पर्श किया है (जिन हाँथों को रत्नसेन के स्पर्श के लिए पसारती रही हूँ), उन हाथों को सिकोड़ कर अब मैं अन्य [पदार्थों] का स्पर्श नहीं करूँगी। (५) उस [रत्न] के रंग से मेरे हाथ जैसे मंजिष्ठा हो इस प्रकार लाल हो गए हैं। परिणाम-स्वरूप यदि मैं अपने हाथों में मोती भी लेती हूँ तो वे घुंघची [जैसे] दीखते हैं। (६) इस राती (लाल और अनुरक्त) काया के साथ [मेरे] नेत्र काले मुख के हैं, इसीलिए उनकी छाया पड़ने पर मोती भी घुँघची हो जाते हैं। (७) ये ओछे नेत्र ऐसे हत्यारे हैं कि प्रिय इनके देखते-देखते चला गया और ये उसे पकड़ न सके। (८) इस कारण क्या मैं इन पक्वान्नों को छुऊँ ? मेरे लिए तो गुड़ भी कटु और घृत भी रूखा है, (९) [क्योंकि] जिस [प्रिय] के मिलने से स्वाद का रस होता था, वह मेरी समस्त भूख ले[कर चला] गया है।"

टिप्पणी–(१) उघार<उग्घाड्<उद्+घाटय्=खोलना। अछूती<अस्पृष्ट : यह पूरियों के विशेषण के रूप में आया है(देखिए ५३६)। (२)खँभार [<खम्ब्=चलना, हिलना]=हलचल, व्यथा। (४) सँकेत्<सं+केतय्=सकेलना, संकुचित करना। (७) अोछ<अोच्छ<तुच्छ=छोटा, मर्यादाहीन। पार्<पारय्=सकना (८) रूख<रुक्ख<रुक्ष=रूखा।

कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सुरुज चाँद कै आसा।
दिन कुँभिलानि रहै भै चोरू। रैनि बिगसि बातन्ह कर भोरू।
कस तूँ बरि रहसि कुँभिलानी। सूखि बेलि जस पाव न पानी।
अबहीं कँवल करी तूँ बारी। कोंवलि बएस उठत पौनारी।
बैरिनि तोरि मैलि औ रूखी। सरवर माँझ रहसि कत सूखी।
पानि बेलि बिधि कया जमाई। सींचत रहै तबहिं पलुहाई।
करु सिंगार सुख फूल तँबोरा। बैठु सिंघासन झूलु हिंडोरा।
हार चीर तन पहिरहि सिर कर करहि सँभार।
भोग मानि ले दिन दस जोबन के पैसार ॥५६१॥

अर्थ--(१) कुमुदिनी (दूती) कमलिनी (पद्मावती) के पास रह गई, क्योंकि सूर्य [उस कुमुदिनी का] वैरी था, चंद्र की ही उसे आशा थी। (२) वह दिन में चोर बन कर कुम्हलाई रहती थी और रात्रि में विकसित हो कर बातों से (बातें करते-करते) सबेरा कर देती थी। (३) [उसने कहा,] "ऐ बालिका, तू कैसे (क्यों) कुम्हलाई रहती है, जैसे सूखी वल्लरी हो, जो पानी न पाती हो ? (४) ऐ बालिका, अभी तो तू कमल-कलिका है, तू कोमल वयस् की उठती हुई पद्मनाल है ; (५) तेरी वैरिणी मलिन और रूखी रहे ! तू क्यों [वैभव और यौवन के] सरोवर में रहती हुई सूखी है ? (६) विधाता ने पान की वल्लरी [जैसी] [मनुष्य की] काया बनाई है ; उसे सींचता रहे तभी वह पलुहती है। (७) तू फूल और ताम्बूल का शृंगार-सुख करे (भोगे), और सिंहासन पर बैठ कर हिंडोला झूले। (८) तू हार और वस्त्र धारण करे तथा सिर का संभार करे ; (९) यौवन के प्रवेश (आगमन) के जो दस (इने-गिने) दिन मिले हैं, उनमें भोग मान (स्वीकार कर) ले (उन्हें अभुक्त न जाने दे) !"

टिप्पणी--(२) कुँभिलाय्<कुड्मलाय=कुड्मल जैसा बनना, [फूल का] कुम्हलाना। (४) बारी<बालिका। पौनारि<पद्म-नलिका। (६) जम<जन्म। पलुह्<प्ररुह्=अंकुरित होना, हरा-भरा होना। (७) तँबोर<ताम्बूल=पान। (९) पैसार=प्रवेश।

बिहँसि जो कुमुदिनि जोबन कहा। कँवल जो बिगसा संपुट गहा।
कुमुदिनि कहु जोबन तेहि पाहाँ। जो आछरि पिय की सुख छाँहाँ।
जाकर छतिवनु बाहर छावा। सो उजार घर को रे बसावा।
अहा जो राजा रैनि अँजोरा। केहि क सिंघासन केहि क हिंडोरा।
को पालक सोवै को माढ़ी। सोवनिहार परा बँदि गाढ़ी।
जेहि दिन गा घर भा अँधियारा। सब सिंगार लै साथ सिधारा।
कया बेलि तब जानौं जामी। सींचनहार आव घर स्यामी।
तब लगि रहौं झूरि असि जब लहि आव सो कंत।
यहै फूल यह सेंदुर नव होइ उठै बसंत ॥५६२॥

अर्थ--(१) कुमुदिनी ने जो हँस कर 'यौवन' शब्द कहा (यौवन की बात कही) तो जो कमलिनी विकसित हुई थी उसने संपुट ग्रहण कर लिया (वह सिकुड़ गई)। (२) [पद्मावती ने कहा,] "ऐ कुमुदिनी 'यौवन' [की बात] तू उससे कह जो प्रिय (पति) की सुख-छाया में है। (३) जिस [घर] का छतिवन बाहर छा (रह) रहा है, उस उजड़े हुए घर को कौन बसा सकता है ? (४) जो रत्न (रत्नसेन) राजा था, उस को जब [अन्य ने] अंजली में कर लिया (मुझ से छीन लिया), तो किसका सिंहासन है और किसका हिंडोला है ? (५) कौन पर्यंक में सोए और कौन मढ़ी में, जब कि उनमें सोने वाला प्रगाढ़ बन्दी गृह में पड़ गया है ? (६) वह जिस दिन गया, उसी दिन घर अंधकारमय हो गया, और वह मेरे समस्त शृंगार साथ लेकर गया। (७) मैं काया-वल्लरी को तब जमी हुई जानूँगी जब उसे सींचने वाला मेरा स्वामी घर आ जाएगा। (८) तब तक इसी प्रकार सूखी रहूँगी जब तक वह कान्त (पति)

[नहीं] आता है, (९) उस वसंत के आगमन पर पुनः यही [कुम्हलाया] फूल और [मलिन हुआ] सिंदूर नए हो जाएँगे।"

टिप्पणी--(२) आछ्<अस्=होना। (३) छतिवन<छत्रवत्, छाजन [में रहने] वाला। (४) रैन<रयण<रत्न=रत्न, रत्नसेन। (५) पालक<पर्यंङ्क। माढ़ी<मठिका=मंदिर, भवन। (७) स्यामी<स्वामिन्।

जनि तूँ वारि करसि अस जीऊ। जौं लहि जोबन तौं लहि पीऊ।
पुरुख सिंघ आपन केहि केरा। एक खाइ दोसरेहि मुँह हेरा।
जोबन जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपाइ हंस परगटा।
सुभर सरोवर जौं लहि नीरा। बहु आदर पंछी बहु तीरा।
नीर घटे पुनि पूँछ न कोई। बेरसि जो लींज हाथ रह सोई।
जब लगि कालिंदिरी बेरासी। पुनि सुरसरि होइ समुँद गरासी।
जोबन भँवर फूल तन तोरा। बिरिध पोंछ जस हाथ मरोरा।
क्रिस्न जो जोबन करत तन मया गुनत नहि साथ।
छरिकै जाइहि बान लै धनुक छाँड़ि तोहि हाथ॥५६३॥

अर्थ--(१) [कुमुदिनी ने कहा,] "ऐ बालिका, तू अपने जी को ऐसा न कर; जब तक यौवन होता है, तभी तक प्रिय भी होता है। (२) पुरुष और सिंह किसके अपने हुए हैं? एक को खा कर वे दूसरे की ओर मुँह फेर लेते हैं। (३) यौवन-जल दिन-प्रतिदिन जिस प्रकार घटता जाता है, भौंरों (काले केशों) को छिपाकर हंस (श्वेत केश) प्रकट होते हैं। (४) जब तक सरोवर में नीर होता है और वह भरा-पूरा होता है, उसका बहुत आदर होता है और बहुतेरे पक्षी उसके तीर पर होते हैं। (५) [किन्तु उसी सरोवर को] जल के घट जाने पर कोई नहीं पूछता है। जो कुछ विलास कर लीजिए, वही हाथ रहता है। (६) जब तक सरिता (नारी) कालिन्दी (कृष्ण केशों वाली) रहती है, वह विलासवती होती है, और तदनंतर वह सुरसरिता (श्वेत केशों वाली) होकर समुद्र द्वारा ग्रसित हो जाती है। (७) तेरे फूल जैसे शरीर पर भ्रमर जैसा यौवन [आया हुआ] है, वृद्धावस्था में तो मनुष्य पूँछ (दुम) जैसे हाथों को ही मलता रहता है। (८) जो यौवन शरीर को कृष्ण करता है (उसे वर्ण प्रदान करता है), वह साथ में होते हुए भी मया (स्नेहपूर्ण कृपा) का विचार नहीं करता है। (९) वह तुम्हें छल कर, तुम्हारा वर्ण रूपी बाण ले कर और तुम्हारे हाथों में धनुष (शरीर का टेढ़ापन--कमर का झुकना) छोड़ कर चला जाएगा।"

टिप्पणी--(५) बेरस्<विलस्=विलास करना। (६) कालिदिरी<कालिन्दी =यमुना। (७) पोंछ<पिच्छ=पूँछ, दुम। (९) बान=[१] वण्ण<वर्ण, [२] <बाण।

कित पावसि पुनि जोबन राता। मैमँत चढ़ा स्याम सिर छाता।
जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ। बिनु जोबन थाकसि सब ठाऊँ।
जोबन हेरत मिलै न हेरा। तेहि बन जाइहि करिहि न फेरा।
हहिं जो केस नग भँवर आरसा। पुनि बग होहिं जगत सब हँसा।

सेंबर सेइ न चित करु सुवा । पुनि पछितासि अंत होइ भुवा ।
रूप तोर जग ऊपर लोना । यह जोबन पाहुन जग होना ।
भोग बेरास केरि यह बेरा । मानि लेहि पुनि को केहि केरा ।
उठत कोंप तरिवर जस तस जोबन तोहि रात ।
तौ लहि रंग लेहि रचि पुनि सो पियर ओइ पात ।।५६४।।

अर्थ—(१) "तुम पुनः यह रक्तवर्ण का यौवन कहाँ पाओगी जो सिर पर [स्तनाग्र के रूप में] श्यामछत्र दिए हुए मदोन्मत्त [गज तुल्य शरीर], पर ,चढ़ा हुआ है ? (२) यौवन के बिना नाम वृद्ध का हो जाता है, और बिना यौवन के समस्त स्थानों पर मनुष्य थकता रहता है । (३) यौवन ढूंढन से नहीं मिलता है ; वह ऐसे वन को चला जाएगा कि पुनः न लौटेगा । (४) जो केश अभी [कांति में] नग और [श्यामता में] भ्रमर के आदर्श के (सदृश) हैं, वे पुनः (बाद में) [श्वेत] बगुले [जैसे] हो जाएँगे और समस्त जगत् (उन पर) हँसेगा । (५) ऐ शुकी, तू सेमल [के फल] की सेवा चित्त में न कर (ला) ; अंत में जब वह भुवा हो जाएगा, तू पछताएगी । (६) तेरा रूप जगत् के ऊपर (संसार में सर्वाधिक) सुन्दर है, और यह यौवन जगत् में पाहुना हो कर ही रहेगा (किसी न किसी दिन चला जाएगा) । (७) यह 'बेला भोग-विलास की है, मेरा कहना तू मान ले । पुनः (यौवन जाने के अनंतर) कौन किसका होता है ? (८) जैसा राता (राग-रंजित) तरुवर कोपलों के निकलने समय होता है, उसी प्रकार का राता (राग-रंजित) तेरा यौवन है। (९) जब तक संभव हो, तू [इस की सहायता से] रंग की रचना कर ले; पुनः (यौवन के बाद) ये पत्र पीले पड़ जाएँगे [और यह रंग-रचना संभव न होगी] ।"

टिप्पणी—(१) मैमँत < मदमत्त = मदोन्मत्त हाथी । छाता < छत्त = छत्र । (४) आरसा < आदर्श । (५) सेंवर < सेमल < शाल्मली । (६) लोन < लवण = लावण्यपूर्ण । (८) कोंप < कोंपल < कुड्म [ल] = नया पत्ता । (९) रंग = [१] वर्ण, [२] क्रीड़ा । पिअर < पीअडा < पीत = पीला ।

कुमुदिनि बैन सुनाए जरे । पदुमिनि हिय अँगार जस परे ।
रँग ताकर हौं जारौं रचा । आपन तजि जो पराएँ लचा ।
दोसर करै जाइ दुइ बाटा । राजा दुइ न होहिं एक पाटा ।
जेहि जियँ पेम प्रीति दिढ़ होई । सुख सोहाग सौं निबहा सोई ।
जोबन जाउ जाउ सो भँवरा । पिय कै प्रीति सो जाइ न सँवरा ।
एहि जग जौं पिय करिहि न फेरा । ओहि जग मिलिहिं सो दिन दिन मेरा ।
जोबन मोर रतन जहँ पीऊ । बलि सौंपौं यह जोबन जीऊ ।
भरथरि बिछोउ पिंगला आहि करत जिय दीन्ह ।
हौं बिसारि जौं जियति हौं यहै दोस बहु कीन्ह ।।५६५।।

अर्थ—(१) कुमुदिनी ने जब ये जले वचन सुनाए, वे पद्मिनी के हृदय पर अंगारों के सदृश पड़े । (२) [उसने कहा,] "मैं उसका रचा हुआ रंग जला दूँ जो अपने [प्रिय] को त्याग कर दूसरे से लच (झुक) रही हो । (३) दूसरा [प्रेमी] वह करे जो दो

मार्गों पर चलती हो, दो राजे (दो स्वामी) एक पाट (स्त्री) के नहीं होते हैं। (४) हो न हो, जिसके जी में दृढ़ प्रेम–प्रीति होता है, वह (उसका जीवन) सुख-सौभाग्य से निभ जाता है। (५) वह यौवन जाए और वह भ्रमर (केशों का कालापन) जाए जिसके कारण प्रीति-पूर्वक प्रिय का स्मरण न किया जा सके। (६) यदि इस जगत् में प्रिय ने फेरा न किया (वह वापस न आया), तो वह उस जगत् में मिलेगा और दिन-प्रति-दिन का मिलन होगा। (७) मेरा यौवन तो वहाँ है जहाँ मेरा प्रिय रत्नसेन है; उसी को मैं यह यौवन और जीव (जीवन) बलि के रूप में सौंपने को प्रस्तुत हूँ। (८) भर्तृहरि के विछोह में पिंगला ने आहें भरकर अपने प्राण दे दिए थे, (९) किन्तु मैं [अपने प्रिय को] विस्मृत कर जी रही हूँ, यही मैं ने एक बड़ा अपराध किया है।"

टिप्पणी––(१) बैन<बयण<वचन। (३) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग। पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। (४) पैं<परम्=हो न हो। (६) मेर<मेल=मिलन। (८) भरथरि<भर्तृहरि। पिंगला : भर्तृहरि की प्रेमिका।

पदुमावति सो कवनि रसोई। जेहि परकार न दोसर होई।
रस दोसर जेहि जीभ बईठा। सो पै जान रस खट्टा मींठा।
भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई।
तैं रस परस न दोसर पावा। तिन्ह जाना जिन्ह लीन्ह परावा।
एक चुरू रस भरै न हिया। जौ लहि नहिं भरि दोसर पिया।
तोर जोबन जस समुँद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा।
दिन क ओर नहिं पाइअ बैसे। जरम ओर तुइँ पाउब कैसें।
देखि धनुक तोर नैना मोंहि लागहिं बिख बान।
बिहँसि कँवल जौं मानै भँवर मिलावौं आनि॥५८६॥

अर्थ––(१) [कुमुदिनी ने कहा,] "ऐ पद्मावती वह रसोई कौन सी है, जिसमें [एक के अतिरिक्त] दूसरा प्रकार (व्यंजन) न हो। (२) जिसकी जिह्वा पर दूसरा रस बैठा हो, हो न हो, वही खट्टे औ मीठे रस [के अन्तर] को जान सकता है। (३) भ्रमर बहुतेरे फूलों की सुवास लेता है, और फूल भी बहुतेरे भ्रमरों को सुवास देता है। (४) तू ने दूसरे के स्पर्श का रस नहीं पाया है; वे ही इसे जानते हैं जिन्होंने इस पराये [के स्पर्श-रस] को ग्रहण किया है। (५) एक चुल्लू रस से हृदय नहीं भरता है, जब तक कि पुनः दूसरा [चुल्लू] भी भर कर न पिया जाए। (६) तेरा यौवन समुद्र की हिल्लोल के समान है; उसे [व्यर्थ जाते हुए] देख-देख कर मेरा जी डूबता है। (७) दिन का ही अंत जब बैठे-बैठे नहीं मिलता है, जन्म (जीवन) का अन्त तू [बैठे-बैठे] कैसे पाएगी? (८) तेरे नेत्र-धनु को देखती हूँ तो मुझे विष-बाण लगते हैं। (९) ऐ कमलिनी, यदि तू हँस कर (प्रसन्न मन से) माने, तो मैं लाकर तुझे एक भ्रमर (प्रेमी) मिला दूँ।

टिप्पणी––(१) रसोई<रसवती। परकार<प्रकार=व्यंजन के प्रकार। (५) चुरू<चुलुअ<चुलुक=चुल्लू, पसर, हाथ का संपुटाकार। (६) हिलोर<हिल्लोल=समुद्र की ऊँची लहर। (७) ओर<अवर<अपर=दूसरा छोर, अंत।

कुमुदिनि तूँ बैरिन नहिं धाई । मुँह मसि बोलि चढ़ावै आई ।
निरमल जगत नीर कस नामा । जौं मसि परै सोउ होइ स्यामा ।
जहँवाँ धरम पाप तहँ दीसा । कनक सोहाग माँझ जस सीसा ।
जो मसि परे भई ससि कारी । सो मसि लाइ देसि मोहि गारी ।
कापर महँ न छूट मसि अंकू । सो मोहि लाए देसि कलंकू ।
स्यामि भँवर मोर सूरुज करा । औरु जो भँवर स्याम मसि भरा ।
कँवल भँवर रवि देखै आँखी । चंदन बास न बैठै माँखी ।
स्यामि समुँद मोर निरमल रतनसेनि जग सेनि ।
दोसर सरि जो कहावै तस बिलाइ जस फेनि ।।५६७।।

अर्थ--(१) [पद्मावती ने कहा,] "ऐ कुमुदिनी, तू धाय नहीं, वैरिणी है ; तू [मुझ से] बोल कर के (बातें करके) मेरे मुख पर मसि (कालिख) चढ़ाने आई है। (४) जगत् में जल का नाम कैसा निर्मल है, किन्तु यदि मसि (कालिख) पड़ जाए, तो वह [निर्मल जल] भी श्याम हो जाता है। (३) जहाँ पर धर्म होता है, वहाँ पर पाप उसी प्रकार दीख पड़ता है जैसे कनक के सौभाग्य में शीशा पड़ गया हो। (४) जो कालिमा चन्द्रमा में पड़ी और जिससे वह काला हो गया, उसी कालिमा को लगा कर मुझे तू गाली दे रही है। (५) कपड़े में [लग जाने पर] कालिमा के जो अंक (चिह्न) नहीं छूटते हैं, वे ही कालिमा [के अंक] लगा कर तू मुझे कलंक दे (लगा) रही है ! (६) मेरा स्वामी भ्रमर सूर्य की कला है, अन्य जो भ्रमर हैं, वे श्यामता (कलंक) की कालिमा से भरे हुए हैं। (७) कमलिनी को रवि-भ्रमर ही आँखों से देख सकता है ; चंदन की सुवास पर मक्खी नहीं बैठती है। (८) जगत् की श्रेणि (अग्रभाग) रूप मेरा स्वामी रत्नसेन निर्मल समुद्र है ; (९) दूसरा जो उसके सदृश कहलाएगा वह उसके सम्मुख उसी प्रकार विलीन हो जाएगा जैसे [समुद्र का] फेन होता है।"

टिप्पणी--(१) धाइ<धातृ । (५) कापर<कप्पड<कर्पट=कपड़ा । (६) करा<कला । (८) स्यामि<स्वामिन् । सेनि<श्रेणि=अग्रभाग । (९) सरि=सदृश् ।

पदुमिनि बिनु मसि बोलु न बैना । सो मसि चित्र दुहूँ तोर नैना ।
मसि सिंगार काजर सब बोला । मसि क बुंद तिल सोह कपोला ।
लोना सोइ जहाँ मसि रेखा । मसि पुतरिन्हि निरमल जग देखा ।
जो मसि घालि नैन दुहुँ लीन्ही । सो मसि बेहर जाइ न कीन्ही ।
मसि मुंद्रा दुहुँ कुच उपराही । मसि भँवरा जस कँवल बसाहीं ।
मसि केसन्हि मसि भौहँ उरेही । मसि बिनु दसन सोभ नहिं देही ।
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं । सो कस पिंड न जेहि परिछाहीं ।
अस देवपाल राउ मसि छत्र धरा सिर फेरि ।
चितउर राज बिसरि गा गएउ जो कुंभलनेरि ।।५६८।।

अर्थ--(१) [कुमुदिनी ने उत्तर दिया,] "ऐ पद्मिनी, मसि के बिना (मसि की उपेक्षा कर) बातें न कर, क्योंकि वह विचित्र मसि (कालिमा) तेरे दोनों नेत्रों में है।

(२) जिसको सब कज्जल कहते हैं, वह मसि (कालिमा) शृंगार है, और कपोलों पर
तिल के … लावण्यपूर्ण वही है जहाँ
(जिस … मा) ही है जिसके
कारण … कालिमा) को दोनों
नेत्रों … ो उससे अलग नहीं
किया …) की मुद्रा है, और
वह म … कर रहे हों। (६)
केशों … से उरेही हुई हैं;
दाँत … वह (ऐसा) श्वेत
(पदार्थ … पिंड कहाँ है जिस
की प्र … मसि (कालिमा)
है, जि … किया है। (९)
यदि को … हो गया।"

टि … ण=लावण्यपूर्ण।
(४) … त=अलग। (६)
उरेह …

सु … धनि फेरी।
मो … रि भालू।
दो … वहि बेसा।
सो … हरुआ।
जे … ाएँ जीऊ।
फे … तसि कूटी।
का … ार नँघाई।
… ५।

…॥५६६॥

अ … पद्मावती) ने अपने
कमलने … ो कहा,] "देवपाल
मेरे प्रिय … त कर सकता है ?
(३) उ … है, और तू वेश्या
उसी का … ी के समान गुरु है,
और उस … त्थर [जैसा भारी]
हो जाता … (विचलित करने)
पर कैसे डोल सकता (विचलित हो सकता है) ?" (६) नेत्रों को घुमाते ही सौ चेरियाँ छूट पड़ीं और कुटनी को उन्होंने इस प्रकार कूटा (पीटा) कि कूटन (कूटी हुई वस्तु) हो गई। (७) [उसके मुख में] मसि (कालिख) लगा कर उसके नाक-कान उन्होंने काट लिए और बड़े क्रोध-पूर्वक उसे [घर से] निकाल कर द्वार लँघा दिया। (८)

मूलाधार गुह्यस्थान
स्वाधिष्ठान लिंगमूल में
मणीपूर्क नाभि के समीप
अनाहत हृदयस्थान
विशुद्ध कंठ में
आज्ञाचक्र त्रिकुटी
सहस्रदल कमल मस्तिष्क। तालुमूल में। यहीं ब्रह्मरंध्र है।

इड़ा मेरुदंड के बाईं ओर है। वह सुषुम्ना से लिपटी हुई नासिका के दाहिनी ओर जाती है। पिंगला नाड़ी मेरुदंड के दाहिनी ओर है वह सुषुम्ना से लिपटती हुई नाक की बाईं ओर जाती है। ये दोनों नाड़ियाँ मूलाधार चक्र (गुह्यस्थान) से आरंभ होती हैं और नाक में जाकर समाप्त होती हैं।

सुषुम्ना इड़ा और पिंगला के मध्य में है। उसमें छः कमल है। यह मेरुदंड में से जाती है। कंठ के समीप दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक त्रिकुटी की ओर से और दूसरे पीछे की ओर से ब्रह्मरंध्र में जा मिलती है।

सुषुम्ना के निम्न छोर में कुंडलिनी (अधोमुखी) निवास करती है। कुंडलिनी अभ्यास से जाग्रत होकर सुषुम्ना के सहारे ऊपर बढ़ती है।

सुषुम्ना की भीतर स्थितियाँ जिनमें होकर कुंडलिनी जाती है चक्रों के मार्ग से (ऊपर चली जाती है)

(२) जिसको सब कज्जल कहते हैं, वह मसि (कालिमा) शृंगार है, और कपोलों पर तिल के रूप में उसी मसि (कालिमा) का बिन्दु शोभित है। (३) लावण्यपूर्ण वही है जहाँ (जिसमें) मसि (कालिमा) की रेखा है, पुतलियों में भी मसि (कालिमा) ही है जिसके कारण जगत् निर्मल रीति से दिखाई पड़ता है। (४) जिस मसि (कालिमा) को दोनों नेत्रों में [प्राणि-मात्र ने] डाल रक्खा है, उस मसि (कालिमा) को उससे अलग नहीं किया जा सकता है। (५) दोनों कुचों के ऊपर भी मसि (कालिमा) की मुद्रा है, और वह मसि (कालिमा) ऐसी लगती है जैसे कमल में भ्रमर वास कर रहे हों। (६) केशों में भी मसि (कालिमा) है और भौंहें भी मसि (कालिमा) से उरेही हुई हैं ; दाँत भी मसि (कालिमा) के बिना नहीं शोभा देते हैं। (७) वह (ऐसा) श्वेत (पदार्थ) कहाँ पर है जहाँ (जिसमें) मसि (कालिमा) न हो? ऐसा पिंड कहाँ है जिस की प्रतिच्छाया न हो। (८) देवपाल राव में भी इसी प्रकार की मसि (कालिमा) है, जिसने [चारों ओर से] फेर (घेर) कर सिर पर छत्र धारण किया है। (९) यदि कोई भी कुंभलनेर गया, तो उसे चित्तौर का राज्य विस्मृत हो गया।"

टिप्पणी--(१) बैन<बयण<वचन। (३) लोना<लवण=लावण्यपूर्ण। (४) घाल<घल्ल् [दे२]=डालना। बेहर<विहडिय<विहघटित=अलग। (६) उरेह्<उल्लेह<उल्लिख्=रेखांकित करना। (७) सेत<श्वेत।

सुनि देवपाल जो कुंभलनेरी। कँवल जो नैन भँवर धनि फेरी।
मोरे पिय क सतुरु देवपालू। सो कत पूज सिंघ सरि भालू।
दोख भरा तन चेतनि कैसा। तेहि क संदेस सुनावहि बेसा।
सोन नदी अस मोर पिय गरुआ। पाहन होइ परै जौं हरुआ।
जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ। सो कस डोल डोलाएँ जीऊ।
फेरत नैन चेरि सौ छूटीं। भै कूटनि कुटनी तसि कूटी।
कान नाक काटे मसि लाई। बहु रिसि काढ़ि दुवार नँघाई।
मुहमद गरुए जो विधि गढ़े का कोई तिन्ह फूँक।
जिन्हके भार जगत थिर उड़हिं न पवन के झूँक ॥५६६॥

अर्थ--(१) कुंभलनेर के देवपाल का नाम सुनकर स्त्री (पद्मावती) ने अपने कमलनेत्रों के भ्रमरों (आँखों की पुतलियों) को घुमाया। (२) [उसने कहा,] "देवपाल मेरे प्रिय (पति) का शत्रु है; वह भालू कहाँ सिंह का सादृश्य प्राप्त कर सकता है? (३) उसका भी शरीर चेतन (राघव) की भाँति दोष से भरा हुआ है, और तू वेश्या उसी का संदेश सुना रही है! (४) मेरा प्रिय (पति) सोन नदी के समान गुरु है, और उसमें यदि [मेरे जैसा] हलका पदार्थ भी पड़ जाए तो वह पत्थर [जैसा भारी] हो जाता है। (५) जिसके ऊपर ऐसा गुरु प्रिय हो, वह जी के डुलाने (विचलित करने) पर कैसे डोल सकता (विचलित हो सकता है)?" (६) नेत्रों को घुमाते ही सौ चेरियाँ छूट पड़ीं और कुटनी को उन्होंने इस प्रकार कूटा (पीटा) कि कूटन (कूटी हुई वस्तु) हो गई। (७) [उसके मुख में] मसि (कालिख) लगा कर उसके नाक-कान उन्होंने काट लिए और बड़े क्रोध-पूर्वक उसे [घर से] निकाल कर द्वार लँघा दिया। (८)

मुहम्मद कहता है, जो विधाता के द्वारा गुरु गढ़े गए हैं, उन्हें क्या कोई फूँक सकता है? (९) [पर्वतों के समान] जिन के भार से जगत स्थिर है, वे पवन के झोंके से नहीं उड़ सकते हैं।

टिप्पणी--(२) सरि<सदृश्। (४) सोन<शोण=सोनभद्र। गरुअ<गुरु। हरुअ<लघुक=हल्का। पाहन होइ परै जो हरुवा : कहते हैं कि फ़ारस की एक नदी के संबंध में ऐसी प्रसिद्धि थी, असंभव नहीं कि सोनभद्र के संबंध में भी ऐसी प्रसिद्धि रही हो। (६) चेरी<चेटी=दासी। (७) लंघाव्<लंघापय्=लँघाना।

रानी धरमसार पुनि साजा। बंदि मोख जेहिं पावै राजा।
जाँवत परदेसी चलि आवा। अन्न दान पय पानि पियावा।
जोगी जती आव जेत कंथी। पूँछै पियहि जान कोइ पंथी।
देत जो दान बाँह भइ ऊँची। जाइ साहि पहँ बात पहूँची।
पातर एक हुती जोगि सुवाँगी। साहि अखारें हुति ओहि माँगी।
जोगिनि भेस बियोगिनि कीन्हा। सिंगी सबद मूल तँतु लीन्हा।
पदुमिनि कहँ पठई कै जोगिनि। वेगि आनु कै बिरह बियोगिनि।
चतुर कला मन मोहनि परकाया परवेस।
आइ चढ़ी चितउर गढ़ होइ जोगिनि के भेस ॥६००॥

अर्थ--(१) तब रानी (पद्मावती) ने धर्मशाला सजाई (आयोजित की), जिससे कि [उसके पुण्य से] राजा (रत्नसेन) बंदीगृह से मोक्ष पा जाए। (२) वहाँ जितने भी परदेशी पहुँचते थे, उन्हें अन्न दिया जाता तथा दूध और पानी पिलाया जाता था (३) जितने भी यती और कंथाधारी आते थे, उनसे वह पूछती, "क्या कोई पथिक मेरे प्रिय (पति) को (उसका कुशल) जानता है?" (४) "वह दान देने लगी है और उसकी बाहें ऊँची हो गई हैं (वह निरंतर दान देती रहती है)", यह बात बादशाह तक जा पहुँची। (५) [यह सुनकर] एक पातर को, जो योगिनी का स्वाँग करती थी, बादशाह ने [पातरों के] अखाड़े से मँगाया (बुलाया)। (६) उसने वियोगिनी योगिनी का वेष किया और सिंगी का शब्द करते हुए मूल तंत्री (किंगरी) ले ली। (७) उसे [बादशाह ने] पद्मिनी के लिए योगिनी बना कर भेजा [और कहा,] "[उसे मेरी विरह-वियोगिनी बना कर ला।" (८) यह आज्ञा पा कर मन के मोहने की, और परकाय-प्रवेश की कलाओं में चतुर [वह पातर] (९) योगिनी का वेष धारण कर चित्तौर गढ़ पर आ चढ़ी।

टिप्पणी--(१) धरमसार<धर्मशाला। मोख<मोक्ख=मोक्ष। (३) जेत <यावत्=जितना। कंथी=कंथाधारी, गूदड़ पहनने वाले। (५) अखार<अक्षवाटक। आघाट=अखाड़ा, नर्तक-मंडली। तंत<तंत्र=तंत्री, ताँत का बना वाद्य। (८) परकाया परवेस=दूसरे के शरीर में अपने जीव को प्रविष्ट करने की विद्या; मध्ययुग में इस विद्या में व्यापक विश्वास था। (दे० २५८.८)

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई।
जोगिनि एक बार है कोई। माँगै जैस वियोगिनि होई।

अबहिं नवल जोबन तप लीन्हे । फारि पटोरा कंथा कीन्हे ।
बिरह भभूति जटा बैरागी । छाला काँध जाप कँठ लागी ।
मुंद्रा स्रवन डँड न थिर जीऊ । तन तिरसूल अधारी पीऊ ।
छात न छाँह धूप जस मरई । पायन पाँवरि भूँभुरि जरई ।
सिंगी सबद धधाँरी करा । जरै सो ठाँउ पाँउ जहँ धरा ।
किंगिरी गहें बियोग बजावै बारहिं बार सुनाव ।
नैन चक्र चारिहुँ दिसि हेरै दहुँ दरसन कब पाव ॥६०१॥

अर्थ--(१) [भिक्षा] माँगती हुई वह [पातर] राजद्वार पर चली आई, और चेरियों ने [उसके आगमन की] बात भीतर [पद्मावती से] विज्ञप्त की। (२) [उन्हों ने कहा,] "कोई एक योगिनी द्वार पर है, और वह इस प्रकार [भिक्षा] माँग रही है जैसे कोई वियोगिनी हो। (३) [उसके शरीर में] अभी नवयौवन है, [फिर भी] उसने तपस्या ले (अंगीकार कर) ली है, और अपनी रेशमी ओढ़नी फाड़ कर उसने कंथा (गूदड़) बना डाला है। (४) वह विरह की विभूति (राख) किए हुए और विराग की जटा बनाए हुए है, कंधे पर चर्म लिए हुए है और उसके कंठ में जप [माला] लगी हुई है; (५) उसके कानों में मुद्रा है, और उसका जीव एक दंड भी स्थिर नहीं रहता है; उसका तन ही त्रिशूल हो रहा है, और प्रिय [का स्मरण] ही उसकी अधारी हो रहा है। (६) छाते की छाया नहीं कर रही है और धूप में जैसे मर रही (प्राण दे रही) है; पैरों में पाँवरी (पादुका) नहीं है और वह तप्त भूमि पर जल रही है। (७) वह शृंगी का शब्द, और गोरखधंधे की कला [कर रही है]; वह स्थान जल जाता है, जहाँ पर वह पैर रखती है। (८) किंगरी लिए हुए वह वियोग की कोई ध्वनि बजा रही है और बार-बार उसे सुना रही है। (९) [पुनः] अपने नयन-चक्र (चक्कर लगाते हुए नेत्रों) से चारों ओर देख रही है कि कब वह [अपने प्रिय का] दर्शन प्राप्त करे।"

टिप्पणी--(१) बार<वार<द्वार। चेरी<चेटी=दासी। (३) पटोर<पट्ट+कूल=रेशमी ओढ़नी (दे० ३२९.१)। कंथा=गूदड़ों का कपड़ा। (४) भभूति<विभूति=राख। (५) अधारी=एक लकड़ी जिस पर योगी आसन के समय हाथ टेकते हैं। (६) छात<छत्त<छत्र=छाता। भूँभुरि=तप्त धूल। पाँवरि<पादत्री=खड़ाऊँ या उपानह। (८) किंगरी<किन्नरी=एक प्रकार की तंत्री, ताँत का एक बाजा।

सुनि पदुमावति मँदिल बोलाई। पूँछी कवन देस सों आई।
तरुनि बैस तुम्ह छाज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह बियोगू।
कहेसि बिरह दुख जान न कोई। बिरहिनि जान बिरह जेहि होई।
कंत हमार गए परदेसा। तेहि कारन हम जोगिनि भेसा।
काकर जिउ जोबन औ देहा। जौं पिय गएउ भएउ सब खेहा।
फारि पटोर कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलै लेहुँ सो पंथा।
फिरा करौं चहुँ चक्र पुकारा। जटा परें को सीस सँभारा।

हिरदै भीतर पिउ बसै मिलै न पूँछौं काहि ।
सून जगत सब लागै पिय बिन किछौ न आहि ।।६०२।।

अर्थ—(१) यह सुनकर उसे पद्मावती ने मंदिर (राजभवन) में बुलाया, और पूछा, "तुम किस देश से आई हो ? (२) तुम्हारी अवस्था तरुण है, तुम्हें योग नहीं शोभा देता है; किस कारण से तुमने ऐसा वियोग [धारण] कर रक्खा है ?" (३) [उसने कहा,] "वियोग का दुःख कोई नहीं जानता है; उसे केवल विरहिणी जानती है जिसे विरह होता है। (४) मेरे कान्त (पति) परदेश चले गए, इसी कारण से मैंने योगिनी का वेष [धारण] किया है। (५) किसके यह जीव, यौवन, और शरीर हैं ? यदि प्रिय ही चला गया तो सब-कुछ धूल हो गया। (६) पटोर (रेशमी ओढ़नी) को फाड़ कर मैंने कंथा कर डाला, [और यह संकल्प किया] कि जहाँ पर प्रिय मिले उसी मार्ग को ग्रहण करूँ। (७) इसीलिए फिरा करती हूँ और चारो चक्रों में पुकार लगाती रहती हूँ ; जटाएँ पड़ गई हैं, सिर की सँभाल कौन करे ? (८) मेरे हृदय के भीतर वह प्रिय निवास करता है, फिर भी वह मिलता नहीं है, किससे [उससे मिलने की युक्ति] पूछूँ ? (९) सब जगत् मुझे [उसके विरह में] सूना लगता है, [क्योंकि] प्रिय के बिना वह कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—(२) बैस<वयस्=अवस्था। (५) खेह [दे०]=धूल, मिट्टी। (६) पटोर<पट्ट+कूल=रेशमी ओढ़नी (दे० ३२९.१)। कंथा=गूदड़ों का वस्त्र। (९) सून<शून्य=सूना।

स्रवन छेदि मुंद्रा मैं मेले । सबद ओनाउँ कहाँ दहुँ खेले ।
तेहि बियोग सिंगी नित पूरौं । बार बार होइ किंगरी झूरौं ।
को मोहिं लै पिउ के डँड लावै । परम अधारी बात जनावै ।
पाँवरि टूटि चलत गा छाला । मन न मरै तन जोबन बाला ।
गइँउ पयाग मिला नहिं पीऊ । करवत लीन्ह दीन्ह बलि जीऊ ।
जाइ बनारसि जारिउँ कया । पारिउँ पिंड निबहुरे गया ।
जगरनाथ जगरन कै आई । पुनि दुवारिका जाइ अन्हाई ।
जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ तहँ न मिला तन आँकि ।
ढूँढ़ि अजोध्या सब फिरिउँ सरग दुवारी झाँकि ।।६०३।।

अर्थ—(१) "मैंने कानों को छेद कर उनमें मुद्राएँ डाल ली हैं, और मैं [अनाहत] शब्द सुनती रहती हूँ ; पता नहीं वे मौज में आकर कहाँ चले गए हैं। (२) उसी वियोग में मैं नित्य शृंगी में साँसें भरती हूँ, और द्वार-द्वार पर [स्वयं] किंगरी बन कर उन्हें झूरती (उनका चिन्तन करती) हूँ। (२) किन्तु कौन मुझे ले चल कर प्रिय के मार्ग पर [तथा उनके दण्ड से] लगाए और, कौन मुझे उनकी परम विश्वसनीय [तथा उनकी परम अधारी की] बात बताए ? (४) चलते-चलते मेरी पाँवरी टूट गई, और पैरों में छाले पड़ गए, फिर भी इस बाला के तन में यौवन होने के कारण, इसका मन नहीं मर रहा है। (५) मैं प्रयाग गई, किन्तु प्रिय नहीं मिला, यद्यपि मैंने करवत ली और अपने प्राणों की बलि दी। (६) वाराणसी जाकर मैं ने काया को जलाया, और

निवहुर गया जाकर पिंड-दान किया। (७) जगन्नाथ जा कर मैं जागरण कर आई, और तदनंतर द्वारका जा कर (समुद्र) में स्नान कर आई। (८) केदार जाकर मैंने शरीर पर दाग़ लगाए, किन्तु शरीर को [तप्त धातु से] आँकने पर भी वहाँ [प्रिय] न मिला। (९) स्वर्ग द्वार झाँकती हुई उसे समस्त अयोध्या में भी ढूँढती फिरी।"

टिप्पणी--(१) ओनाय्=कान देना, सुनना। खेल्=क्रीड़ापूर्वक गमन करना। (२) झूर<ज्वल=संतप्त होना, चिन्ता करना। (३) डंड<दण्ड=[१] मार्ग, पगडंडी; [२] दण्डः योगियों का डण्डा। =अधारी=[१] विश्वसनीय, [२] वह लकड़ी जिस पर योगी हाथ टेकते हैं। (४) पाँवरि<पादत्री=खड़ाऊँ या उपानह। (५) करवत<करपत्र=आरा, जिससे तीर्थों में शरीर चिरा कर लोग सद्गति की आशा करते थे। (६) जारिउँ कया: करसी (कंडे) की आग में शरीर को जलाया; तुल० सिर करवत तन करसी लै लै बहुत सीझे तेहि आस। (११४.८) निबहुर= जहाँ से कोई लौटता न हो। (७) सरगदुआरी<स्वर्ग-द्वार=अयोध्या का एक स्थान।

बन बन सब हेरेउँ बनखंडा। जल जल नदी अठारह गंडा।
चौंसठि तिरथ कीन्ह सब ठाउँ। लेत फिरौं ओहि पिय कर नाउँ।
ढीली सब हेरेउँ तुरुकानू। औ सुलतान केर बँदिवानू।
रतनसेनि देखेउँ बँदि माहाँ। जरै धूप खिन पाव न छाहाँ।
का सो भोग जेहि अंत न केऊ। एहि दुख लिहें भई सुखदेऊ।
सब राजा बाँधे औ दागे। जोगिनि जानि राजा पाँ लागे।
ढीली नाउँ न जानहि ढीली। सुठि बँदि गाढ़ न निकसै कीली।
देखि दगध दुख ताकर अबहूँ कया न जीउ।
सो धनि जियत किमि आछै जेहिक अैस बँदि पीउ ॥६०४॥

अर्थ--"(१) बन-बन (एक-एक बन) करके मैंने समस्त बन खंड ढूँढ डाला, और इसी प्रकार जल-जल (एक-एक जलाशय) करके मैंने अठारह गंडा (बहत्तर) नदियों को देख डाला, (२) चौसठों तीर्थ मैंने किए और समस्त स्थानों पर उस प्रिय का नाम लेती फिरी; (३) तुर्कों की बस्ती समस्त दिल्ली को ढूँढ डाला और सुल्तान के वन्दी वान (बन्दी गृह) को ढूँढा। (४) बंदीगृह में रत्नसेन को देखा, जो धूप में जलता रहता है और एक क्षण के लिए भी छाया नहीं पाता है। (५) वह योग ही क्या है (किस कार्य का है) जिसके अन्त में कुछ भी न रहे; इसी दुख के कारण मैं [गृह त्याग कर] शुकदेव बन गई। (६) समस्त राजे उसमें बन्दी थे और [तप्त लौहादि से] आँके हुए थे; मुझे योगिनी जान कर राजा (रत्नसेन) मेरे पैरों में गिर पड़े। (७) [उन्होंने कहा,] "[इस नगरी का] नाम मात्र ढिल्ली है, किन्तु यह ढीला होना नहीं जानती है; यह बन्दीगृह भी अत्यधिक प्रगाढ़ है, जिसकी कील नहीं निकलती है!" (८) उसका दग्ध होना और दुखी होना देख कर मेरी काया में अभी तक जीव नहीं [लौटा] है; (९) फिर भला वह स्त्री किस प्रकार [अभी तक] जीवित है जिसका प्रिय इस प्रकार बन्दी है?"

टिप्पणी--(१) गंडा<गण्डक=चार-चार की गिनती । (४) बँदिवान=बन्दीगृह (दे० ५७८.१) । (५) सुखदेउ<शुकदेव : जो बाल्यावस्था में ही गृह त्याग कर विरक्त हो गए थे । (६) दाग्<दाग़ [फ़ा०]=तप्त लौहादि से चिह्नित करना । (९) धनि<धन्या = स्त्री । आछ्<अस्=होना ।

पदुमावति जौं सुना बँदि पीऊ । परा अगिनि महँ जानहुँ घीऊ ।
दौरि पायँ जोगिनि के परी । उठी आगि जोगिनि पुनि जरी ।
पायँ देइ दुइ नैनन्ह लावौं । लै चलु तहाँ कंत जहँ पावौं ।
जहँ नैनन्ह देखा तैं पीऊ । सो मोहि देखाउ देउँ बलि जीऊ ।
सत औ धरम देउँ सब तोही । पिय की बात कही जेंइ मोही ।
तूँ मोरि गुरू तोरि हौं चेली । भूलीं फिरत पंथ जेइँ मेली ।
डंड एक माया करु मोरें । जोगिनि होउँ चलौं सँग तोरें ।
सखिन्ह कहा पदुमावति रानी करहु न परगट भेस ।
जोगी सोइ गुपुत मन जोगवै लै गुरु कर उपदेस ॥६०५॥

अर्थ--(१) पद्मावती ने जब अपने प्रिय को बन्दी गृह में [पड़ा] सुना, तो [उसे ऐसा हुआ] मानो आग में घी पड़ गया हो । (२) वह दौड़ कर योगिनी के पैरों पर गिर पड़ी, और जो आग [उसके शरीर से] उठी, उससे वह योगिनी भी जल (झुलस) गई । (३) [पद्मावती ने कहा,] "अपने पैर तू मुझे दे, कि मैं उन्हें दोनों नेत्रों से लगा लूँ, और मुझे वहाँ ले चल जहाँ मैं अपने कान्त (पति) को पा जाऊँ । (४) जहाँ नेत्रों से तू ने मेरे प्रिय को देखा है, वह [स्थान] तू मुझे दिखा तो मैं अपने जीव (प्राणों) को [वहाँ] बलि दूँ । (५) मैं तुझे अपना सत और धर्म सब दे रही हूँ, जिसने मुझ से मेरे प्रिय की बात कही है । (६) तू मेरी गुरु है, और मैं तेरी चेली हूँ, जिस भूली फिरती हुई को तू ने मार्ग पर लगा दिया है । (७) मेरे ऊपर एक दंड भर माया (स्नेहपूर्ण कृपा) कर [जिससे] मैं भी योगिनी हो जाऊँ और तेरे साथ चलूँ ।" (८) [यह सुन कर] उस की सखियों ने कहा, "ऐ पद्मावती रानी, तुम [योगिनी का] वेष प्रकट न करो ; (९) योगी वही है जो गुरु का उपदेश ले कर उसे गुप्त रूप से मन में सँभाल कर रखता है ।"

टिप्पणी--(१) जौं<जउ <यदा=जब । (२) पायँ<पाअ<पाद=पैर । (५) सत <सत्य = सत्यनिष्ठा । (६) चेली<चेडिआ<चेटी=दासी, शिष्या । मेल्<मेलय्=लगाना, डालना । (९) जोगव्=सुरक्षित रखना ।

भीखि लेहि जोगिनि फिर माँगू । कंत न पाइअ किए सँवागू ।
एइ बिधि जोग बियोग जो सहा । जैसें पिउ राखै तिमि रहा ।
गिरिही महँ भै रहै उदासा । अंचल खप्पर सिंगी स्वाँसा ।
रहै पेम मन अरुझा लटा । बिरह धँधोर परहिं सिर जटा ।
नैन चक्र हेरैं पिय पंथा । कया जो कापर सोई कंथा ।
छाला पुहुमि गँगन सिर छाता । रंग रकत रह हिरदै राता ।
मन माला फेरत तँत ओहीं । पाँचौं भूत भसम तन होहीं ।

कुंडल सो जो सुनै पिय बैना पाँवरि पाय परेहु ।
डँड एक जाहु गोरा बादिल पहँ जाइ अधारी लेहु ॥६०६॥

अर्थ—(१) "ऐ योगिनी, यदि तुम भीख लो (तुम्हें भीख लेनी है), तो भले ही फिरती हुई तुम माँगो, किन्तु कान्त (पति) को [इस प्रकार] स्वाँग करने से नहीं पाओगी। (२) जो तुम वियोग सहन कर रही हो, यही योग की विधि है; प्रिय जिस प्रकार स्त्री को रक्खे उसी प्रकार उसे रहना चाहिए। (३) वह गृहस्थी में रहते हुए ही उदासीन हुई रहे, अंचल का खप्पर और श्वासों की श्रृंगी [बनाए]। (४) उसका मन प्रेम में उलझा और लटा (लुब्ध) हो, तथा विरह के धँधोर के कारण [केशों की उपेक्षा करने से] सिर में जटाएँ पड़ गई हों। (५) नेत्र ही चक्र हों जिनसे वह प्रिय का मार्ग देख रही हो, काया पर जो कपड़ा हो, वही उसका कंथा (गूदड़ों का वस्त्र) हो। (६) चर्म पृथ्वी हो, और सिर पर छत्र आकाश हो, हृदय का अनुरक्त होना ही रक्त का रंग हो। (७) मन में जो [प्रिय के ध्यान की] माला वह फेरती हो, वही उसकी तंत्री (किंगरी) हो, [शरीर के] पंचभूत [को भस्म करने से जो विभूति प्राप्त हुई हो वही] शरीर पर लगा हुआ भस्म हो। (८) जो प्रिय के वचन सुनती हो वही उसके [कानों का] कुंडल हो, और [उसके] पैर ही पहनी हुई पादत्री हों। (९) एक दंड के लिए गोरा और बादल के पास जाओ और जाकर उनसे अधारी लो।"

टिप्पणी—(३) खप्पर<कर्पर = भिक्षापात्र। सिंगी<श्रृंगी=सींग का बाजा। (४) लटा=लुब्ध। धँधोर=चक्करदार हवा। (६) छाला<खल्ला [दे०]=खाल, चर्म। छाता<छत्त<छत्र। रात<रत्त<रक्त = अनुरक्त। (७) तँत<तंत्र = तंत्री (किंगरी)। (८) परेह<परिहिअ<परिहित = पहना हुआ। (९) अघारी=वह लकड़ी जिस पर योगी हाथ टेकते हैं।

सखिन्ह बुझाई दगधि अपारा। गै गोरा बादिल के बारा।
कँवल चरन भुइँ जरम न धरे। जात तहाँ लगि छाला परे।
निसरि आए सुनि छत्री दोऊ। तस काँपे जस काँप न कोऊ।
केस छोरि चरनन्ह रज झारे। कहाँ पाउ पदुमावति धारे।
राखा आनि पाट सोनवानी। बिरह बियोग न बैठी रानी।
चँवरधारि होइ चँवर डोलावहिं। माथें छाहँ रजायसु पावहिं।
उलटि बहा गंगा कर पानी। सेवक बार न आवै रानी।
का अस कीन्ह कस्ट जिय जो तुम्ह करत न छाज।
अग्याँ होइ बेगि कै जीव तुम्हारे काज ॥६०७॥

अर्थ—(१) [पद्मावती की] सखियों ने उसके अपार [विरह-]दाह (परिताप) को बुझाया, तब वह गोरा और बादल के द्वार पर गई। (२) उस कमलिनी ने जीवन भर भूमि पर चरणों को नहीं रक्खा था, इसलिए वहाँ तक जाते-जाते [उसके चरणों में] छाले पड़ गए। (३) [उसका आना] सुनकर दोनों क्षत्रिय [घर में से] बाहर निकल आए, और वे इस प्रकार काँपे कि जैसा [अन्य] कोई न काँपता। (४) [अपने] केशों को खोल कर उन्होंने [पद्मावती के] चरणों की धूल झाड़ी,

[और कहा,] "ऐ पद्मावती, तुमने कहाँ ये पैर रक्खे हैं ?"(५) तदनंतर उन्होंने [उसके बैठने के लिए] सोने के वर्ण का पाट ला कर रख दिया, किन्तु [पति के] विरह और वियोग में वह रानी उस पर न बैठी। (६) [तदनंतर उसके] चामर-धारी हो कर वे चामर डुलाने लगे [और कहने लगे,] "हमारे मस्तक पर तुम्हारी छाया हो, तुम राजादेश दो। (७) [आज] गंगा का पानी उलट कर बहा है, क्योंकि सेवक के द्वार पर रानी नहीं आती है [सेवक ही अपनी रानी के द्वार पर जाता है]। (८) तुमने अपने जी में ऐसा कष्ट करने का [संकल्प] क्यों किया जो तुम्हें करते हुए शोभा नहीं देता है ? (९) शीघ्रतापूर्वक आज्ञा हो, हमारे जीव तुम्हारे कार्य के लिए हैं।"

टिप्पणी—(१) बार<वार<द्वार। (२) जरम<जन्म=जीवन। (३) निसर<णिस्सर<निर्+सृ=बाहर निकलना। (५) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन। वान<वण्ण<वर्ण। (८) छाज्<छज्ज् [दे०]=शोभा देना।

कहै रोइ पदुमावति बाता। नैनन्ह रकत देखि जग राता।
उलथि समुँद जस मानिक भरै। रोई रुहिर आँसु तस ढरै।
रतन के रंग नैन पै वारौं। रती रती कै लोहू ढारौं।
कँवलन्ह ऊपर भँवर उड़ावौं। सूरुज जहाँ तहाँ लै लावौं।
हिय कै हरद बदन कै लोहू। जिउ वलि देउँ सो सँवरि बिछोहू।
परहिं आँसु सावन जस नीरू। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चीरू।
चढ़े भुवंग लुरहिं लट केसा। भै रोवत जोगिनि के भेसा।
बीर बहूटी होइ चली तबहूँ रहहिं न आँसु।
नैनन्हि पंथ न सूझै लागेउ भादवँ मासु ॥६०८॥

अर्थ—(१) पद्मावती रो-रो कर वह बात कहने लगी; उसके नेत्रों में रक्त [आया हुआ] देख कर जगत् रक्तवर्ण हो गया। (२) जैसे समुद्र उल्लस्त हो कर माणिक्य भरता है, उसी प्रकार जब वह रोई, [उसके नेत्रों से] रुधिर के अश्रु ढलने लगे (३) [उसने कहा,] "हो न हो, मैं रतन (रत्नसेन) के रंग (अनुराग) पर अपने नेत्रों को वार दूँगी, और रत्ती-रत्ती करके उनसे [हृदय का] रुधिर गिराऊँगी। (४) [अपने] कमलों (नेत्रों) के ऊपर से मैं भ्रमरों (पुतलियों) को उड़ा दूँगी और जहाँ पर [उनका] सूर्य [रत्नसेन] है, वहाँ पर मैं उन्हें ले जाकर लगा दूँगी। लाल (५) हृदय को हल्दी (पीला—रक्तहीन) और मुख को [अपने सत के तेज से] लहू (रुधिराक्त) करके उसके वियोग का स्मरण करके अपने जीव को बलि दे दूँगी। (६) उसके विरह के अश्रु श्रावण के [वर्षा-] नीर सदृश थे, और उसके शरीर पर का कुसुंभी चीर [वर्षा की] हरित् भूमि [सदृश] था; (७) उसके लटके केश मानो [उस के सिर पर] चढ़े हुए भुजग (सर्प) थे, जो लोल होरहे थे, और वह रोती-रोती मानो योगिनी के वेष में हो रही थी। (८) [उसके रुधिर के अश्रुपात से] जैसे वीर बहूटियाँ हो निकली हों, फिर भी उसके अश्रु रुक नहीं रहे थे। (९) अब उसके नेत्रों से मार्ग नहीं सूझ रहा था, [क्यों कि आँसुओं की ऐसी रिम-झिम लगी थी मानो] भाद्रपद मास लग गया था।

टिप्पणी—(१) बात<वत्ता<वार्त्ता। रात<रत्त<रक्त=लाल। (२)

उलथ्=उल्लस्त होना [उल्लत्थ<उल्लस्त=उतराया हुआ, ऊपर आया हुआ।]। (३) वार=न्यौछावर करना। रती<रत्ती<रत्तिका=घुंघुची। लोहू<लोहिआ<लोहित =रक्त। (५) तुल० ऊपर राता भीतर पियरा। जारौं वहै हरद अस हियरा।(४३९.४) मुख राता तन हरिअर कीन्हे ओहूँ जगत लै जाउँ। (९३.७) (७) लुर्=लोल होना।

तुम्ह गोरा बादिल खँभ दोऊ। जस भारथ तुम्ह औरु न कोऊ।
दुख बिरिखा अब रहै न राखा। मूल पतार सरग भइ साखा।
छाया रही सकल महि पूरी। बिरह बेलि होइ बाढ़ि खजूरी।
तेहि दुख केत बिरिख बन बाढ़े। सीस उघारें रोवहिं ठाढ़े।
पुहुमि पूरि सायर दुख पाटा। कौड़ी भई बिहरि हिय फाटा।
बिहरा हिए खजूरि क बिया। बिहरै नहिं यह पाहन हिया।
पिय जहँ बंदि जोगिनि होइ धावौं। हौं होइ बंदि पियहि मोकरावौं।
सूरुज गहन गरासा कवँल न बैठै पाट।
महूँ पंथ तेहि गवनब कंत गए जेहि बाट॥६०६॥

अर्थ--(१) [पद्मावती कहने लगी,] "ऐ गोरा और बादल, तुम दोनों [मेरे राज्य के] स्तंभ हो; महाभारत (युद्ध) [करने] में जैसे तुम [दोनों] हो, वैसा अन्य कोई नहीं है। (२) [मेरे] दुःख का वृक्ष अब रोकने से नहीं रुक रहा है; उसका मूल पाताल में और उसकी शाखाएँ आकाश में पहुँच गई हैं। (३) उसकी छाया समस्त पृथ्वी को आपूरित कर रही है, और [उसी के साथ] विरह की लता बढ़कर खजूर [जैसी] हो गई है। (४) इस दुःख से वन (जीवन) में कितने ही [अन्य] वृक्ष (दुःख) भी बढ़ जाने पर सिर उधाड़ कर खड़े हो रहे हैं। (५) इस दुःख ने पृथ्वी को आपूरित कर के सागरों को पाट दिया है, इसीलिए [समुद्रों की] कौड़ी [ऐसी] हो गई है कि उसका हृदय टूट कर फट गया है। (६) खजूर का बीज भी हृदय में फट गया है, किन्तु यह पत्थर का [मेरा] हृदय नहीं फट रहा है। (७) जहाँ पर मेरा प्रिय है, मैं योगिनी होकर दौड़ जाऊँगी, और मैं स्वयं बन्दी हो कर प्रिय को मुक्त कराऊँगी। (८) सूर्य को ग्रहण ने ग्रस लिया है, इसलिए [उसकी] कमलिनी पाट पर नहीं बैठ सकती है; (९) मैं भी अब उसी मार्ग में जाऊँगी जिसमें मेरे कान्त (स्वामी) गए हैं।"

टिप्पणी--(१) खंभ<स्कम्भ=खंभा। भारथ<भारत=महाभारत, युद्ध। (२) विरिखा<वृक्ष। (४) केत<कियत्=कितना। (५) साएर<सागर। कौड़ी <कपर्द। बिहर्<विहड्<वि+घट्=टूटना, फटना। (६) पाहन<पाषाण। (८) पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा। (९) बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग।

गोरा बादिल दुवौ पसीजे। रोवत रुहरि सीस पाँ भीजे।
हम राजा सौं इहै कोहाने। तुम्ह न मिलहु धरि येहु तुरुकाने।
जो मति सुनि हम आए कोंहाई। सो निआन हम माँथें आई।
जब लगि जियहिं न ताकहिं दोहू। स्यामि जिअत कस जोगिनि होहू।
उऐ अगस्ति हस्ति घन गाजा। नीर घटा घर आइहि राजा।
का बरखा अगस्ति की डीठी। परै पलानि तुरंगम पीठी।

बेधौं राहु छड़ाऔं सूरू। रहै न दुख कर मूल अँकूरू।
वह सूरज तुम्ह ससि सरद आनि मिलावहिं सोइ।
तस दुख महँ सुख उपनै रैनि माँझ दिन होइ ॥६१०॥

अर्थ—(१) गोरा और बादल दोनों पसीज गए (दयार्द्र हो गए) और रोते-रोते रक्ताश्रुओं से वे सिर से पैर तक भीग गए। (२) [वे कहने लगे,] "हम राजा से [जिस बात के न मानने पर] क्रुद्ध हुए, वह यही (इतनी) ही थी, 'हमारी इस बात को धर (मान) कर कि ये तुर्क हैं तुम बादशाह से मेल न करो', (३) और राजा की जिस मति (युक्ति) को सुन कर क्रुद्ध हो कर हम चले आए, वह मति (युक्ति) अन्त में हमारे ही मत्थे आई। (४) जब तक हम जीवित रहेंगे, द्रोह करने की बात नहीं सोच सकते हैं। किन्तु, स्वामी के जीवित रहते हुए तुम कैसे योगिनी हो रही हो? (५) अगस्त्य के उदित होने पर जब हस्त नक्षत्र का मेघ गर्जन करेगा, और [मार्ग का] जल घट जाएगा, राजा घर आएगा। (६) जब अगस्त्य की दृष्टि होगी, तब वर्षा क्या (कहाँ) रह सकती है? तब तुरगों (अश्वों) की पीठों पर पलानें पड़ेंगी। (७) मैं (हम) राहु (अलाउद्दीन) को विद्ध कर के सूर्य (रत्नसेन) को छुड़ाऊँगा (छुड़ाएँगे), और [तुम्हारे] दुःख का मूल अथवा अंकुर-कुछ भी न रहेगा। (८) वह सूर्य है और तुम शरद शशि हो, उसे लाकर हम तुमसे मिलाएँगे; (९) इस दुःख में ऐसा सुख उत्पन्न होगा कि जैसे रात्रि में दिन हो गया हो।

टिप्पणी—(१) पसीज् <पसिज्ज <प्रस्विद्=प्रस्वेद में आना, पिघलना, द्रवित होना। (४) ताक् <तक्क <तर्कय्=तर्क करना, विचार करना। दोह <द्रोह। स्यामि < स्वामिन्। (५) हस्ति <हस्त = हस्त नक्षत्र। (६) पलानि <पर्याण=अश्व-कवच। (५-६) तुल० हुए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा। (३४७.३)। (९) उपन् <उत्+पत्=उत्पन्न होना।

लेहु पान बादिल औ गोरा। केहि लै देउँ उपमा तुम्ह जोरा।
तुम्ह सावँत नाहि सरबरि कोऊ। तुम्ह अंगद हनिवँत सम दोऊ।
तुम्ह बलबीर जाज जगदेऊ। तुम्ह मुस्टिक औ माल कँदेऊ।
तुम्ह अरजुन औ भीवँ भुआरा। तुम्ह नल नील मेंड़ देनिहारा।
तुम्ह टारन भारन जग जाने। तुम्ह सो परसु औ करन बखाने।
तुम्ह मोरे बादिल औ गोरा। काकर मुख हेरौं बँदिछोरा।
जस हनिवँत राघौ बँदि छोरी। तस तुम्ह छोरि मिलावहु जोरी।
जैसें जरत लखा घिहँ साहस कीन्हेउ भीवँ।
जरत खंभ तस काढ़हु कै पुरुखारथ जीवँ ॥६११॥

अर्थ—(१) [पद्मावती ने कहा,] "हे गोरा और बादल, तुम पान (बीड़ा) लो; तुम्हारे जोड़ की उपमा किसे ले कर दूँ। (२) तुम (दोनों) सामंतों की समता का कोई नहीं है; तुम दोनों अंगद और हनुमान के समान हो। (३) तुम बलशाली वीर जाजा और जगद्देव हो; तुम मुष्टिक और मल्ल कंदेव (?) हो। (४) तुम अर्जुन और भूपाल भीम हो, और [समुद्र में] मेंड (सेतु) बाँधने वाले नल-नील हो। (५)

तुम [दूसरों के] भारों को हटाने वाले जगत् में प्रसिद्ध हो, तुम प्रशंसित परशुराम और कर्ण हो। (६) जब तुम, ऐ बादल और गोरा, मेरे हो, तब क्यों, ऐ बन्दीगृह से मुक्त करने वाले, मैं किसी [अन्य] का मुख देखूँ ? (७) जिस प्रकार हनुमान ने राम को बन्धन से मुक्त किया था, उसी प्रकार तुम भी [रत्नसेन का बन्धन] खोल कर [उसे मुझ से] मिलाओ। (८) जिस प्रकार जलते हुए लाक्षागृह में भीम ने साहस किया था, (९) उसी प्रकार तुम भी जी में पुरुषार्थ कर के जिस समय कि खंभा जल रहा है [और भवन--राज्य जल जाने को है], हमें निकालो।"

टिप्पणी--(३) जजा : जाजा हम्मीर का एक सामंत था, जिसने हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध में हम्मीर की ओर वीरता से लड़कर वीरगति प्राप्त की थी। इस का उल्लेख हम्मीर संबंधी समस्त रचनाओं में मिलता है। सब से प्राचीन उल्लेख कदाचित् 'प्राकृतपैंगल' के एक छंद में आता है, जिसमें उसका नाम जज्जल है। जगदेव : जगद्देव परमार मध्ययुग का एक प्रसिद्ध वीर हुआ है। यह गुर्जरेश सिद्धराज का एक सामंत था और उसके राज्य की रक्षा में इसने अपने पुत्र की बलि दी थी। (दे० धर्म युग, मार्च १४, १९५४ पृ० ११-१२,२५) : मुस्टिक<मुष्टिक। कंस का एक बलशाली मल्ल था जिसको बलदेव ने पराश्त किया था। माल कंदेउ : अमीर खुसरो ने 'तारीख-ए-अलाई' और 'आशिका' में एक मलकदेव का उल्लेख किया है (दे० इलियट, जिल्द २, पृ० ७६.५५०)। असंभव नहीं कि जायसी का माल कंदेउ वही हो। (४) अर्जुन और भीम : महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा अथवा मध्ययुग के अर्जुनवर्म देव और भीम चौलुक्य। (७) हनिवंत रावौ बँदि छोरी : कुछ रामकथा-ग्रंथों के अनुसार हनुमान ने महिरावण के बंदीगृह से राम और लक्ष्मण का उद्धार किया था (दे० ६१४.७)। (८) लखाग्रिह : लाक्षागृह। भीम ने जिस प्रकार जलते हुए लाक्षा-गृह से पांडवों को बचाया था, उसकी कथा महाभारत में मिलती है।

गोरा बादिल बीरा लीन्हा। जस अंगद हनिवँत बर कीन्हा।
साजि सुखासन तानहिं छातू। तुम्ह माथें जुग जुग अहिबातू।
कवँल चरन भुइँ धरत दुखावहु। चढ़हु सुखासन मँदिल सिधावहु।
सुनि सूरज कवँलहि जिय जागा। केसरि बरन बोल हियँ लागा।
जनु निसि महँ रबि दीन्ह देखाई। भा उदोत मसि गई बिलाई।
चढ़ि सो सुखासन झमकत चली। जानहुँ दुइज चाँद निरमली।
औ सँग सखी कमोद तराईं। ढारत चँवर मँदिल लै आईं।
देखि सो दुइज सिंघासन संकर धरा लिलाट।
कवँल चरन पदुमावति लै बैसारेन्हि पाट ॥६१२॥

अर्थ—(१) गोरा और बादल ने उसी प्रकार बीड़ा ले लिया, [जिस प्रकार राम के लिए] अंगद और हनुमान ने बल किया था। (२) [उन्होंने कहा,] "हम सुखासन सजा कर [उसका] छत्र तान रहे हैं। युग-यग तक तुम्हारे मस्तक पर अहिवात (सोहाग) बना रहे ! (३) अपने चरण-कमलों को भूमि पर रखती हुई तुम पीड़ित कर रही हो, अब तुम उस सुखासन पर चढ़ो और राजमंदिर को प्रस्थान करो।"

(४) सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुन कर कमलिनी (पद्मावती) का जीव जाग उठा, और वह वचन उसके हृदय पर केसर के वर्ण का (केसर का लेप) हो कर लगा। (५) [उसे ऐसा लगा] मानो रात्रि में ही सूर्य दिखाई पड़ा हो, [जिसके परिणाम-स्वरूप] प्रकाश हो गया हो तथा कालिमा विलीन हो गई हो। (६) वह [अतः] सुखासन पर चढ़ कर जगमगाती हुई इस प्रकार चल पड़ी मानो द्वितीया का निर्मल चन्द्र हो। (७) और उसके साथ की कुमुदिनियाँ और तारिकाएँ (उसकी सखियाँ अथवा परिचारिकाएँ) चामर ढारती हुई उसे राजमंदिर को ले आईं। (८) उस द्वितीया के चंद्र को सिंहासन पर [आसीन] देख कर शंकर ने उसे अपने मस्तक पर धारण किया। (९) तदनंतर पद्मावती के चरण-कमलों को ले कर उन परिचारिकों ने उन्हें पीढ़े पर बिठाया (रक्खा)।

टिप्पणी--(१) बीरा<बीडय<वीटक=सज्जित ताम्बूल। बर<बल। (२) सुखासन=एक प्रकार की पालकी गाड़ी : यथा : आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान। कहेउ बनावन पालकी सजन सुखासन जान। (राम चरित मानस २.१८६)। छात<छत्त<छत्र। (५) उदोत<उद्योत=प्रकाश। (९) पाट<पट्ट=फलक, पीढ़ा।

बादिल केरि जसोवै माया। आइ गहे बादिल के पाया।
बादिल राय मोर तूँ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा।
पातसाहि पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहि छाजा।
छत्तिस लाख तुरिअ जेहिं छाजहिं। बीस सहस हस्ती दर गाजहि।
जबहिं आइ जुरिहै वह ठटा। देखत जैस गगन घन घटा।
चमकहिं खरग सो बीज समाना। गल गाजहिं घुम्मरहिं निसाना।
बरिसहिं सेल बान घन घोरा। धीरज धीर न बाँधहिं तोरा।
जहाँ दलपती दलमलहिं तहाँ तोर का जोग।
आजु गवन तोर आवै मँदिल मानु सुख भोग ॥६१३॥

अर्थ--(१) बादल की यशोवती नाम की माता थी, उसने आकर बादल के पैर पकड़े। (२) उसने कहा, "ऐ, मेरे बादल राय, तू बालक है; तू क्या जाने कि युद्ध कैसा होता है? (३) बादशाह पृथ्वीपतियों का राजा है, और उसके सम्मुख होने पर हमीर को भी शोभा (श्री) नहीं मिली। (४) जिसके छत्तीस लाख तुरग शोभा देते हैं, और बीस वहस्र हाथी दल में गर्जन करते हैं। (५) उसका वह ठाट जभी आकर जुड़ेगा, तो ऐसी दीखेगा जैसे आकाश में घटा घिरती है। (६) जो तलवारें चमकेंगी वे बिजलियों के समान होंगी और जो निशान (धौंसे) घुमड़ेंगे वे [जैसे बादल] गड़-गड़ाएँ। (७) जो सेल (बर्छे) और बाण बरसेंगे वे जैसे घोर घन बरसेंगे। उनके सामने तेरा धैर्य धीरज न बाँधेगा (वह विचलित हो जाएगा)। (८) जहाँ पर दलपति दलित-मृदित हो जाते हैं, वहाँ (उस युद्ध में) तेरा क्या योग होगा? (९) आज तो तेरा गौना भी आ रहा है (तेरी विवाहिता नववधू आ रही है), इसलिए तू घर में रह कर सुख-भोग मान।"

टिप्पणी--(१) जसोवै<यशोवती। (२) बार<बाल=बालक। (४) तुरिअ

<तुरग=अश्व। दर<दल। (६) बीज<विज्जु<विद्युत। (७) सेल<शल्य = एक प्रकार का बर्छा।

मता न जानसि बालक आदी। हौं बादिला सिंघ रनबादी।
सुनि गज जूह अधिक जिउ तपा। सिंघ की जाति रहै नहिं छपा।
तब गाजन गलगाज सिंघेला। सौंहँ साहि सौं जुरौं अकेला।
अंगद कोपि पाँव जस राखा। टेकौं कटक छतीसौ लाखा।
को मोहि सौंहँ होइ मैमंता। फारौं कुंभ उचारौं दंता।
जादौं स्याम सँकरे जस टारा। बल्लव जस जुरजोधन मारा।
हनिवँत सरिस जंघ बर जोरौं। धँसौं समुंद्र स्यामि बँदि छोरौं।
जौं तुम्ह मात जसोवै कान्ह न जानहु बार।
जहँ राजा बलि बाँधा छोरौं पैठि पतार ॥६१४॥

अर्थ--(१) [बादल ने कहा,] "ऐ माता, तू मुझे आदि [अवस्था] का बालक न समझ; मैं बादल रणवादी सिंह हूँ, (२) जिसे सुनकर ही गज-यूथ जी में अधिक तप्त होता है; सिंह की जाति छिपी नहीं रहती है। (३) तब मेरा गर्जन सिंह-बालक का गलगर्जन [प्रमाणित] होगा जब मैं बादशाह के सम्मुख उससे अकेला भिड़ूँगा। (४) जिस प्रकार अंगद ने कुपित हो कर अपना पैर रोपा था, उसी प्रकार मैं भी [अटल होकर बादशाह की] छत्तीस लाख कटक को टेकूँगा। (५) कौन-सा मदमत्त [हाथी] (शत्रु) मेरे सम्मुख हो सकता है? मैं उसका कुंभ-फाड़ डालूँगा और उसके दाँत उखाड़ लूँगा। (६) यादव श्याम (कृष्ण) ने जिस प्रकार [कंस के द्वारा प्रेरित] शकटासुर को टाला (पछाड़ा) था, और जिस प्रकार बल्लव (भीम) ने दुर्योधन को मारा था [मैं भी उसी प्रकार उसके लिए प्रमाणित हूँगा]। (८) मैं हनुमान के सदृश जाँघों में बल जोड़ूँढ़ा (करूँगा) और [उनकी भाँति] समुद्र में धँसकर स्वामी का बंधन खोलूँगा। (८) यदि तुम माता यशोवती (यशोदा) हो, तो अपने [इस] कान्ह को बालक न समझो; (९) जहाँ पर मेरा राजा बलि [के सदृश] बँधा हुआ है, उस पाताल में प्रविष्ट हो कर मैं उसे मुक्त करूँगा।"

टिप्पणी--(१) माता<माता। (२) जूह<यूथ। (३) गाजन<गर्जन। सिंघेला=सिंह-शावक। (५) उचार<उच्चालय्=ऊँचा फेंकना, उखाड़ना। (६) सकर<शकट=शकटासुर। बल्लव=रसोइया: भीम ने विराट् के यहाँ जब भोजन बनाने का काम किया था तब उन्होंने अपना यही नाम रक्खा था। (७) हनिवँत <हनुमत=हनुमान: कुछ रामकथा ग्रंथों के अनुसार हनुमान ने अपने स्वामी राम और लक्षण को महिरावण के बंधनों से छुड़ाया था। स्यामि<स्वामिन्। (९) बलि: पुराण-प्रसिद्ध दानव-राज, जिसे छल कर वामन ने पाताल में भेज दिया था।

बादिल गवन जूझि कहँ साजा। तैसेहिं गवन आइ घर बाजा।
लिहें साथ गवने कर चारू। चंद्र बदनि रचि कीन्ह सिंगारू।
माँग मोंति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मँजूर बाँक तस जूरा।
भौहैं धनुक टँकोरि परीखे। काजर नैन मार सर तीखे।

घालि कचपची टीका सजा । तिलक जो देख ठाउँ जिउ तजा ।
मनि कुंडल डोलहिं दुइ स्रवना । सीस धुनहिं सुनि सुनि पिय गवना ।
नागिनि अलक झलक उर हारू । भएउ सिंगार कंत बिनु भारू ।
गवन जो आई पिय रवनि पिय गवने परदेस ।
सखी बुझावौं किमि अनल बुझै सो कहु उपदेस ।।६१५।।

अर्थ—(१) बादल ने ज्योंही युद्ध के लिए जान की तैयारी की, त्योंही उसके घर पर उसका गौना आ पहुँचा । (२) साथ में गौने की रीतियाँ लिए हुए चन्द्रवदनी ने रच कर शृंगार किया था । (३) उसने माँग में मोती भर कर सिन्दूर भरा था, और उसका बालों का जूड़ा ऐसा बाँका था मानो मयूर बैठा हुआ हो । (४) उसकी भौंहें ऐसे धनुषों के सदृश थीं, जो टंकार करके परीक्षित हो चुके थी ; [नेत्रों में] कज्जल [की प्रत्यंचा] देकर [उनके द्वारा] वह तीक्ष्ण [दृष्टि-] बाण मार रही थी । (५) उसने कृत्तिका की नक्षत्र माला [सदृश चुन्नियों] को डाल कर तिलक साजा था । उस तिलक को जो देखता, वह उसी स्थान पर अपने प्राण त्याग देता । (६) उसके दोनों कानों में मणियों के कुण्डल हिल रह थे, जो प्रिय (पति) का [युद्ध के लिए] गमन सुन-सुन कर [मानो] सिर पीट रहे थे । (७) उसकी नागिन [सदृश] अलकों के साथ उसके उर पर हार झलक रहा था ; किन्तु कान्त (पति) के विना यह सब शृंगार भार बन गया था । (८) [सखियों से उसने कहा,] "यह प्रिय रमणी जब गौने आई, तब प्रिय परदेश चले गए । (९) ऐ सखियो मैं [अपने हृदय की] आग कैसे बुझाऊँ ? जिस प्रकार वह बुझे, वह उपदेश तुम कहो ।"

टिप्पणी—(१) बाज्<वज्ज्<व्रज = जाना, पहुँचना । (३) मँजूर<मयूर । जूरा<जूट = बालों का जूड़ा । (४) परीखा<परीक्षित । तीखा<तिक्ख<तीक्ष्ण । (५) घाल्<घल्ल [दे०] = डालना । कचपची<कृत्तिप्रचित : तुल० तिलक सँवारि जो चूनी रची । दुइज माँहि जानहुँ कचपची । (४७२.४) टीका<तिलक । (७) रवनि<रमणी ।

मान गवन जस घूँघट काढ़ी । विनवै आइ नारि भै ठाढ़ी ।
तीखे हेरि चीर गहि ओढ़ा । कंत न हेर कीन्ह जिय पोढ़ा ।
तब धनि बिहँसि कीन्ह चखु डीठी । बादिल तबहिं दीन्हि फिरि पीठी ।
मुख फिराइ मन उपनी रीसा । चलत न तिरिया कर मुख दीसा ।
भा मन फीक नारि के लेखें । कस पिय पीठि दीन्हि मोहिं देखें ।
मकु पिय दिस्टि समानेउ चालू । हुलसा पीठि कढ़ावै सालू ।
कुच तूँबी अब पीठि गड़ोवौं । कहेसि जो हूक काढ़ि रस धोवौं ।
रहौं लजाइ तौ पिय चलै कहौं तो मोहि कह ढीठि ।
ठाढ़ि तिवानी का करौं दूभर दुवौ बसीठि ।।६१६।।

अर्थ—(१) मानवश गौने के जैसा ही घूंघट निकाले हुए वह स्त्री [बादल के सामने] आकर विनती करने के लिए खड़ी हुई । (२) तीक्ष्ण [दृष्टि से] देखकर उसने साड़ी पकड़ कर ओढ़ ली, किन्तु उसके कान्त (पति) ने उसकी ओर न देखा,

[क्यों कि] उसने अपना जी [युद्ध-गमन के लिए] मज़बूत कर लिया था। (३) तब उस स्त्री ने हँसते हुए चक्षुओं की दृष्टि डाली, किन्तु इस पर बादल ने मुड़कर उसकी ओर पीठ फेर ली। (४) उसने मुख फिरा (मोड़) कर मन में रिस उत्पन्न की कि [युद्ध के लिए] चलते समय स्त्री का मुख उसकी दृष्टि में न आए। (५) उस स्त्री ने [मन में] कहा, "[ऐसा लगता है कि] नारी की ओर से [प्रिय का] मन फीका हो गया किन्तु, मुझे देख कर प्रिय ने मेरी ओर पीठ क्यों कर ली? (६) कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रिय की दृष्टि में [मेरी] चाल समा गई हो, जो कि [उसके हृदय को पारकर] उसकी पीठ पर [दूसरी ओर] हुलस (निकल) आई हो, और उस [मेरी चाल के] शल्य को वह [मुझ से] निकलवा रहा हो? (७) अब मैं अपने कुचों की तूंबी उसकी पीठ में चुभाऊँ, और [उसके शरीर में] और जो हूक [उठी हुई] है, उसको निकाल कर [उसके साथ मैं भी] रस वहन करूँ। (८) यदि मैं लज्जित होकर [कहने से] रुक जाती हूँ तो प्रिय चल देता है, और यदि कुछ कहती हूँ तो मुझे धृष्ठ कहेगा। (९) मैं स्त्री खड़ी-खड़ी क्या करूँ? ये दोनों ही बसीठियाँ (मंत्रणाएँ) [मेरे लिए] दूभर [हो रही] हैं।"

टिप्पणी—(२) तीख<तिक्ख<तीक्ष्ण। पोढ़<प्रौढ़=पुष्ट, मजबूत। (६) साल<सल्ल<शल्य=चुभनेवाली वस्तु, शरीर में घुसा हुआ तीर आदि। (७) तूंबी<तुंबिका=चुभे हुए काँटे को निकालने के लिए किया जाने वाला एक उपाय। (९) तिवानि=स्त्री। दूभर<दुब्भर<दुर्भर=दुःख-पूर्वक जिसका निर्वाह किया जा सके।

मान किहें जौं पिअहि न पावौं। तजौं मान कर जोरि मनावौं।
कर हुँति कंत जाइ जेहि लाजा। घूँघट लाज आव केहि काजा।
तब धनि बिहँसि कहा गहि फेटा। नारि जो बिनवै कंत न मेंटा।
आजु गवन हौं आई नाहाँ। तुम्ह न कंत गवनहु रन माहाँ।
गवन आव धनि मिलन की ताईं। कवन गवन जौं गवनै साईं।
धनि न नैन भरि देखा पीऊ। पिय न मिला धनि सौं भरि जीऊ।
तहँ सब आस भरा हिय केवा। भँवर न तजै बास रस लेवा।
पायन्ह धरै लिलाट धनि बिनति सुनहु हो राय।
अलक परी फँदवारि होइ कैसेहुँ तजै न पाय ॥६१७॥

अर्थ—(१) [तदनंतर उस स्त्री ने सोचा,] "यदि मान करने से प्रिय को नहीं पाती हूँ तो मान को छोड़ती हूँ और हाथ जोड़ कर उसे मनाती हूँ। (२) जिस लज्जा के कारण कान्त (पति) हाथ से जा रहा हो, वह घूंघट और वह लज्जा मेरे किस काम आएँगे?" (३) तब उस स्त्री ने हँसते हुए [बादल का] फेंटा पकड़ कर कहा, "स्त्री जो विनय करती है, उसे कान्त (पति) नहीं मेटता है। (४) आज मैं, हे नाथ, गौने आई हूँ; [इस लिए] हे कान्त, तुम रण में न जाओ। (५) स्त्री [पति से] मिलने के लिए ही गौने आती है, इसलिए वह गौना कौन-सा यदि स्वामी [अन्यत्र] चला गया, (६) यदि स्त्री ने प्रिय को नेत्र (दृष्टि) भर न देखा, और प्रिय भी स्त्री को जी भर कर न मिला? (७) ऐसे अवसर पर केतकी (स्त्री) का हृदय समस्त

आशाओं-आकांक्षाओं से भरा हुआ होता है और भ्रमर (प्रिय) भी, जो वास और रस का ग्राहक होता है, उसे छोड़ता नहीं है। (८) यह स्त्री [अपना] ललाट [तुम्हारे] पैरों पर रखती है, हे राजा, उसकी विनती सुनो ; (९) उसकी अलकें बन्धन कारिणी हो कर उन [पैरों] पर पड़ी हुई हैं, और किसी प्रकार भी [उन] पैरों को छोड़ नहीं रही है।"

टिप्पणी--(२) घूंघट=अवगुण्ठन । (३) फेंटा=कमरबंद, फाँड़ । (७) केवा<केअअ<केतक=केतकी । (९) फंद<स्पन्द=बन्धन । पाय<पाअ<पाद=पैर ।

छाँड़ु फेंट धनि बादिल कहा । पुरुख गवन धनि फेंट न गहा ।
जौं तूँ गवन आइ गजगामी । गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी ।
जब लगि राजा न छूटि न आवा । भावै बीर सिंगारु न भावा ।
तिरिया पुहुमि खरग कै चेरी । जीतै खरग होइ तेहि केरी ।
जेहिं कर खरग मूठि तेहिं गाढ़ी । जहाँ न आँड न मोंछ न दाढ़ी ।
तब मुख मोंछ जीव पर खेलौं । स्यामि काज इंद्रासन पेलौं ।
पुरुख बोलि कै टरै न पाछू । दसन गयंद गीव नहिं काछू ।
तूँ अबला धनि मुगुध बुधि जानै जाननिहार ।
जहँ पुरुखन्ह कहँ बीर रस भाव न तहाँ सिंगार ।।६१८।।

अर्थ---(१) बादल ने कहा, "ऐ स्त्री, फेंटा छोड़, पुरुष के गमन के समय स्त्री फेंटा नहीं पकड़ती है। (२) ऐ गजगामिनी, यदि तू [अपने स्वामी के यहाँ] गौने आई है, तो मेरा गमन भी वहाँ हो रहा है जहाँ मेरा स्वामी है। (३) जब तक मेरा राजा [बन्दी गृह से] छूट कर नहीं आ जाता है, मुझे वीर रस ही अच्छा लगेगा, शृंगार नहीं। (४) स्त्री और पृथ्वी तो खड्ग की चेरियाँ होती हैं ; जो भी उन्हें जीत लेता है, वे उन्हें की होती हैं। (५) जिसके हाथ में खडग् होती है, उसकी मुट्ठी गाढ़ी (मज़बूत) होती है (उससे उसकी स्त्री और भूमि भी कोई नहीं छीन सकता है), किन्तु जहाँ (जिस व्यक्ति में) अंड (पुरुषत्व) नहीं, उसको मूछें और दाढ़ी भी नहीं होती हैं। (६) मेरे मुख पर मूँछें [सचमुच] तभी हैं जब कि मैं प्राणों पर खेल जाऊँ, और स्वामी के कार्य में इन्द्रासन को भी ढकेल दूँ। (७) पुरुष वचन दे कर पीछे नहीं हटता है, वह गजेन्द्र के दाँतों के सदृश होता है, कछुए की ग्रीवा के सदृश नहीं। (८) ऐ स्त्री, तू अबला और मुग्धबुद्धि की है; इस बात को जानने वाला ही जानता है (९) कि जहाँ पुरुषों को वीर रस [भाता है], वहाँ उन्हें शृंगार रस नहीं भाता है।"

टिप्पणी--(२) स्यामि<स्वामिन् । पुहुमि<पृथ्वी । चेरी<चेटी=दासी, सेविका । (५) मोंछ<मुच्छ<श्मश्रु । (६) पेल्<पेर<प्रेरय्=ढकेलना, ठेलना । (७) पाछु<पश्चात्=पीछे । गयंद<गजेन्द्र । गीव=ग्रीवा ।

जौं तुम्ह जूझि चहौ पिय बाजा । किहें सिंगार जूझि मैं साजा ।
जोबन आइ सौंहँ होइ रोपा । पखरा बिरह काम दल कोपा ।
भयउ बीर रस सेंदुर माँगा । राता रुहिर खरग जस नाँगा ।
भौहैं धनुक नैन रस साँधे । काजर पनच बरुनि बिख बाँधे ।

दै कटाख सो सान सँवारे । औ नख सेल भाल अनियारे ।
अलक फाँस गियँ मेलि असूझा । अधर अधर सौं चाहै जूझा ।
कुंभस्थल दुइ कुच मैमंता । पेलौं सौहँ सँभारहु कंता ।
कोपि सँघारहु बिरह दल टूटि होइ दुइ आध ।
पहिलें मोहि संग्राम कै करहु जूझि कै साध ॥६१९॥

अर्थ—(१) [स्त्री ने कहा,] "हे प्रिय, यदि तुम युद्ध में ही जाना चाहते हो, तो शृंगार करके मैंने युद्ध [इस प्रकार] सजा रक्खा है। (२) मेरा यौवन सम्मुख आकर [युद्ध] ठान रहा है, विरह ने पाखर [कवच] धारण कर लिया है और काम-दल कुपित हो उठा है। (३) मेरी माँग का सिन्दूर वीर रस [हो कर उसमें सम्मिलित] हो गया है और [माँग में झलकता हुआ] रक्तवर्ण का रुधिर नग्न खड्ग जैसा है। (४) भौंहों की धनुष पर मैंने नेत्रों के बाण लगा (चढ़ा) रक्खे हैं, कज्जल [उस धनुष की] प्रत्यञ्चा है, और बरौनियाँ विष-संश्लिष्ट [बाण] हैं। (५) कटाक्ष दे कर वे [बाण] शाण पर सँवारे (तीक्ष्ण किए) हुए हैं, और मेरे नखनुकीले बर्छे और भाले हैं। (६) मेरी अलकों का असूझ पाश [तुम्हारी] ग्रीवा में डाल कर [मेरे] अधर [तुम्हारे] अधरों से युद्ध करना चाहते हैं। (७) मेरे दोनों कुच मदमत्त [कुंजर] के कुंभस्थल हैं, उन्हें तुम्हारे सम्मुख प्रेरित कर रही हूँ, अब [अपने-आप को], हे कान्त, सँभालो। (८) तुम कुपित होकर इस विरह-दल का संहार करो कि जिससे यह टूट कर दो आधे हो जाएँ। (९) [इस प्रकार] पहले मुझ से संग्राम करके [अन्य] युद्ध की आकांक्षा करो।"

टिप्पणी—(१) बाज्<वज्ज्<व्रज् = जाना। (३) नाँग<नग्ग<नग्न। (४) पनच<प्रत्यञ्चा। (५) कटाख<कटाक्ष। सान<शाण = शान का पत्थर। (७) मैमंत<मदमत्त। पेल्<पेर<प्रेरय् = ठेलना, आगे बढ़ाना। (९) साध<सद्धा<श्रद्धा = आकांक्षा।

कैसेहुँ कंत फिरै नहिं फेरें। आगि परी चित उर धनि केरें।
उठे सो धूम नैन करुआने। जबहीं आँसु रोइ बेहराने।
भीजे हार चीर हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली।
भीजी अलक चुए कुच मंडन। भीजे भँवर कँवल सिर फुंदन।
चुइ चुइ काजर आँचर भीजा। तबहुँ न पिय कर रोवँ पसीजा।
छाड़ि चला हिरदै दै डाहू। निठुर नाहँ आपन नहिं काहू।
सबै सिंगार भीजि भुइँ चुवा। छार मिलाइ कंत नहिं छुवा।
रोएँ कंत न बहुरै तेहि रोएँ का काज।
कंत धरा मन जूझि रन धनि साजे सत साज ॥६२०॥

अर्थ—(१) कान्त जब किसी प्रकार भी लौटाने पर नहीं लौट रहा था तब उस स्त्री के चित्त और हृदय में आग लग गई। (२) उस आग का जो धुआँ उठा, उसके कारण उसके नेत्रों में कड़ुआहट आ गई जब कि उसके आँसू रो कर [नेत्रों से] अलग हो गए (निकल पड़े)। (३) उसके हार और चीर भींग गए और उसके हृदय पर की

चोली भीग गई, जो अछूती रह गई थी और जिसे उसके कान्त ने खोली भी नहीं थी। (४) [उन अश्रुओं से] उसकी अलकें भींग गई और उसके कुच-मंडन चूने लगे। उसके भ्रमर (स्तन-मुख) कमल (कुच) और [उन पर लटकता हुआ] उसके सिर का फुंदना (फुलड़ा) भीग गए। (५) आँखों का कज्जल इतना चुआ कि उसका अंचल भीग गया, तब भी प्रिय का रोयाँ न पसीजा (वह तनिक भी द्रवित न हुआ)। (६) स्त्री को छोड़ कर और उसके हृदय में दाह दे कर वह चल पड़ा; निष्ठुर स्वामी अपना किसी का नहीं [हुआ] है। (७) उसका समस्त शृंगार भीग कर भूमि पर चूता रहा, और उसको कान्त (पति) ने धूल में मिला कर [स्वतः] न छुआ। (८) जिस रोने से कान्त लौटता नहीं, उस रोने से ही क्या काम ? (९) [अतः] कान्त ने जब मन में युद्ध और रण का निश्चय कर लिया, स्त्री ने सत का साज साजा।

टिप्पणी—(२) बेहराय् <विहड <वि+घट् = वियुक्त होना, अलग होना। (४) कुच-मंडन=कुचों को विभूषित करने वाले अलंकरण। (५) पसीज् <प्रस्विद्= प्रस्वेदयुक्त होना, द्रवित होना। (८) बहुर् <बाहुड <व्याघुट्=लौटना।

गोरा बादल युद्ध खंड

मँते बैठ बादिल औ गोरा। सो मति कीज परै नहिं भोरा।
पुरुख न करहिं नारि मति काँची। जस नौसाबैं कीन्ह न बाँची।
हाथ चढ़ा इसिकंदर बरी। सकति छाँड़ि कै भै बँदि परी।
सजग जो नाहिं काह बर काँधा। बधिक हुतें हस्ती गा बाँधा।
देवन्ह चलि आई असि आँटी। सुजन कँचन दुर्जन भा माँटी।
कंचन जुरै भए दस खंडा। फुटि न मिलै माँटी कर भंडा।
जस तुरुकन्ह राजहिं छर साजा। तस हम साजि छड़ावहिं राजा।
पूरुख तहाँ करै छर जहँ बर कीन्हें न आँट।
जहाँ फूल तहाँ फूल होइ जहाँ काँट तहाँ काँट ॥६२१॥

अर्थ—(१) बादल और गोरा मंत्रणा करने बैठे; [उन्होंने कहा,] "वह बुद्धि (युक्ति) कीजिए कि भूल न पड़े। (२) पुरुष नारियों की [भांति] कच्ची बुद्धि (युक्ति) नहीं करते हैं, जिस प्रकार नौशाबा ने किया था और वह बच न सकी थी। (३) बली सिकंदर उसके हाथों में चढ़ (आ) गया था, किन्तु वह शक्ति (शक्ति का प्रयोग) छोड़ कर बंदी हो पड़ी। (४) जो सजग नहीं, वह बल [प्रयोग] में क्यों कंधा देता है ? [इसी कारण] बधिक के द्वारा [बलशाली] हाथी बाँधा गया (जाता है)। (५) देवताओं से [प्रारंभ होकर] यह आँच चली आई है, कि सुजन कंचन और दुर्जन मिट्टी हो गए (हो जाते हैं)। (६) दस खंड होने पर भी कंचन जुड़ जाता है, किन्तु मिट्टी का भांड फूट कर नहीं जुड़ता है। (७) जिस प्रकार तुर्कों ने छल किया है, उसी प्रकार हम भी छल करके [अपने] राजा को [बंदीगृह से] छुड़ाएँ। (८) पुरुष वहाँ छल करता है जहाँ वह बल करके कार्य करने में समर्थ नहीं होता है। (९) [जहाँ पर वह जैसा देखता है, वहाँ पर वह वैसा हो जाता है—] जहाँ फूल होते हैं, वहाँ वह फूल हो जाता है, और जहाँ काटे होते हैं, वहाँ वह काँटा हो जाता है।"

टिप्पणी—(१) भोर <भोल [दे०]=भूल, चूक। (२) नौसाबा <नौशाबा=

इस नाम की कोई रानी। (५) आँटी [<अट्=जाना]=चलन, परंपरा। (६) भांडा< भाण्ड=वर्तन। (७) छर<छल। (८) आँट्=पूरा पड़ना, कार्य करने में समर्थ होना।

सोरह सौ चंडोल सँवारे। कुँवर सँजोइल कै बैसारे।
साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू।
रचि बेवान तस साजि सँवारा। चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा।
साजि सबै चंडोल चलाए। सुरँग ओहार मोंति तिन्ह लाए।
भै सँग गोरा बादिल बली। कहत चले पदुमावति चली।
हीरा रतन पदारथ झूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहिं।
सोरह सै सँग चलीं सहेलीं। कँवल न रहा औरु को बेली।
रानी चली छड़ावै राजहि आपु होइ तेहि ओल।
बत्तिस सहस सँग तुरिअ खिंचावहि सोरह सै चंडोल ॥६२२॥

अर्थ--(१) [ऐसा निश्चय करके] उन्होंने सोलह सौ चंडोल सजाए, और [उनके भीतर] कुमारों को [शस्त्रास्त्र से] सुसज्जित करके बिठाया। (२) और पद्मावती का विमान सजाया (निर्मित कराया), जिसके भीतर ऐसे गुप्त ढंग से एक लोहार बिठाया कि सूर्य भी न जान सके। (३) उस विमान की रचना कर (करा कर) उसी प्रकार का उसका साज भी सँवारा--उसके चारों ओर सब चामर ढल रहे थे। (४) समस्त चंडोलों को सजा कर उन्होंने चलाया उनके ओहार अच्छे रंगों के थे और उनमें मोती लगे (टँके) हुए थे। (५) [पद्मावती के विमान के] साथ में बली गोरा और बादल हुए और यह कहते हुए वे चले कि पद्मावती चल रही है। (६) [उस विमान में] हीरे, रत्न और बहूमुल्य पत्थर झूल रहे थे और उस विमान को देख कर देवता भी भूल जाते थे। (७) [उन्होंने कहा,] "[पद्मावती की] सोलह सै सहेलियाँ भी चल रही हैं क्योंकि जब [चित्तौर में] कमलिनी (पद्मिनी) नहीं रही तो ये वल्लरियाँ (लताएँ) कौन [होती] हैं ?" (८) [इस प्रकार प्रकट रूप में] रानी (पद्मावती) स्वयं बन्धक (जमानत) हो कर राजा (रत्नसेन) को छुड़ाने चली। (९) बत्तीस सहस्र घोड़े उन सौलह सै चंडोलों को खिंचा रहे थे।

टिप्पणी--(१) चंडोल<चउडोल<चतुर्दोल=एक प्रकार की पालकी। (२) बेवान<विमान। (४) ओहार<अववाटक=पर्दा। (८) ओल<ओल्ल=बन्धक। (९) तुरिअ<तुरग=अश्व।

राजा बंदि जेहि की सौंपना। गा गोरा तापहँ अगुमना।
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्ह पाय गहि गोरा।
बिनवहु पातसाहि पहँ जाई। अब रानी पदुमावति आई।
बिनै करै आई हौं ढीली। चितउर की मो सिउँ है कीली।
एक घरी जौं अग्याँ पावौं। राजहिं सौंपि मँदिल कहँ आवौं।
बिनवहु पातसाहि के आगें। एक बात दीजै मोहिं माँगें।
हते रखवार आगें सुलतानी। देखि अँकोर भए जस पानी।

लीन्ह अँकोर हाथ जेइँ जाकर जीव दीन्ह तेहि हाँथ ।
जो वहु कहै सरै सो कीन्हे कनउड़ झार न माँथ ॥६२३॥

अर्थ—(१) राजा बंदीगृह में जिस को सौंपा हुआ था, गोरा आगे बढ़कर उसके पास गया। (२) उसे उसने दस लाख टके घूस में दिए, और तदनंतर उसके पैर पकड़ कर गोरा ने उससे निवेदन किया, (३) "बादशाह के पास जा कर यह निवेदन करो कि अब रानी पद्मावती आ गई है, (४) और वह [इस प्रकार] विनय कर रही है, 'मैं दिल्ली आ गई हूँ, किन्तु चित्तौर की कुंजी मेरे साथ है ; (५) यदि एक घड़ी के लिए आज्ञा पाऊँ, तो उसे राजा को सौंप कर बादशाह के मंदिर में आऊँ।' (६) और यह बात बादशाह के आगे जा कर [मेरी ओर से] निवेदन करो, [यही] एक बात माँग रही हूँ, जिसे आप मुझे दें।" (७) जो भी सुल्तानी रखवाले आगे थे, वे इस घूस को देख कर पानी जैसे [द्रवित] हो गए। (८) जिसने जिसका घूस [अपने] हाथों पर लिया, उसने अपने प्राण भी उसके हाथों में दे दिये, (९) क्योंकि वह (घूस देनेवाला) जो कुछ कहता है, उसे करने से ही निभता है, और जो कृतज्ञ है, वह [बिना उसका काम बनाए] माथा (सिर) नहीं झाड़ सकता है (उस कृतज्ञता से मुक्त नहीं हो सकता है) ।

टिप्पणी—(१) अगुमन = आगे ही । (२) टका < टंका = एक सिक्का । (४) सिउँ < समम् = साथ । (७) अँकोर = घूस, रिश्वत । कनउड़ = कृतज्ञ । (९) सर् < सरकना, निभना, चलना ।

लोभ पाप कै नदी अँकोरा । सत्तु न रहै हाथ जस बोरा ।
जहँ अँकोर तहँ नेगिन्ह राजू । ठाकुर केर बिनासहिं काजू ।
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा । दरब लोभ चंडोल न हेरा ।
जाइ साहि आगें सिर नावा । ऐ जग सूर चाँद चलि आवा ।
औ जावँत सँग नखत तराईं । सोरह सै चंडोल सो आईं ।
चितउर जेति राज कै पूँजी । लै सो आई पदुमावति कूँजी ।
बिनति करै कर जोरें खरी । लै सौंपौं राजहिं एक घरी ।
इहाँ उहाँ के स्वामी दुहूँ जगत मोहि आस ।
पहिलें दरस देखावहु तौ आवौं कबिलास ॥६२४॥

अर्थ—(१) घूस लोभ के पाप की नदी है ; उस नदी में हाथ यदि डुबो दिया, तो सत्य नहीं रह सकता है। (२) जहाँ घूस [चलता] है, वहाँ कर्मचारियों का राज्य रहता है, और वे स्वामी का कार्य विनष्ट कर देते हैं। (३) रखवालों (पहरेदारों) का जी घी [के सदृश मसृण] हो गया और द्रव्य के लोभ में उन्होंने चंडोलों को [खोल कर] नहीं देखा। (४) उन्होंने जा कर बादशाह के आगे सिर झुकाया और कहा, "ऐ जगत् के सूर्य, चंद्र (तुम्हारा प्रेम पात्र) चलकर आ गया है। और जितना भी उसका नक्षत्र-तारक-दल था, सोलह सै चंडोलों पर वह आया है। (६) चित्तौर में जितनी राजा की पूँजी है, उस-सब की कुंजी पद्मावती [साथ] लाई है, (७) और हाथ जोड़ कर खड़ी हुई वह विनती कर रही है, "मैं उसे एक घड़ी में राजा को सौंप

दूँगी। (८) इस लोक और परलोक के जो मेरे स्वामी हैं, औ दोनों जगत् में मुझे जिनकी आशा है, (९) पहले उनका दर्शन कराओ तो मैं [तुम्हारे] कैलास (शिवलोक) में आऊँ।"

टिप्पणी--(१) अँकोर=घूस, रिश्वत । सत्त<सत्य । (२) नेगी<नैगमिक=निगम के कर्मचारी, कर्मचारी। (५) तराई<तारिका। (६) कूँजी<कुञ्चिका। (९) कबिलास<कैलास=शिवलोक : जायसी के शिवलोक में ही इन्द्र और उसकी अप्सराएँ हैं ।

अग्याँ भई जाउ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि बिधि भरी।
चलि बेवान राजा पहँ आवा। सँग चंडोल जगत गा छावा।
पदुमावति मिस हुत जो लोहारू। निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू।
उठेउ कोपि जब छूटेउ राजा। चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा।
गोरा बादिल खाँडा काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े।
तीख तुरंग गँगन सिर लागा। केहु जुगुति कौ टेकै बागा।
जौं जिउ ऊपर खरग सँभारा। मरनिहार सो सहसन्हि मारा।
भई पुकार साहि सौं ससियर नखत सो नाहिं।
छर कै गहन गरासा गहन गरासे जाहिं ॥६२५॥

अर्थ--(१) [बादशाह की] आज्ञा हुई कि पद्मावती एक घड़ी के लिए [राजा के पास] चली जाए। फलतः [उसके भाग्य की] जो घरिया छूँछी थी, उसे विधाता ने पुनः भर दिया। (२) वह विमान चलकर राजा के पास आया, और साथ के चंडोलों से जगत् आच्छादित हो उठा। (३) पद्मावती के बहाने जो लुहार उसमें था, उसने निकल कर राजा का बंधन काटा और उसे जुहार किया। (४) राजा जब छूट गया, वह कुपित हो उठा, और घोड़े पर चढ़ कर सिंह के समान गर्जन कर उठा। (५) गोरा और बादल ने खाँडे निकाल लिए और [चंडोलों से] निकल कर कुमार [घोड़ों पर] चढ़-चढ़ कर खड़े हो गए। (६) [उनके] तेज़ घोड़ों के सिर आकाश से जा लगे। किसी युक्ति से भी कौन उनकी लगामों को टेकता? (७) यदि [किसी ने] अपने प्राणों के ऊपर (प्राणों की चिन्ता न कर) खड्ग सँभाल लिया, तो वह मरने वाला हज़ारों को मारता है। (८) बादशाह से पुकार हुई, "वे चंद्र और नक्षत्र (पद्मावती और उसकी सखियाँ) ये नहीं थे। (९) जिन्हें छलपूर्वक ग्रहण में ग्रसा गया था, वे ही [राजपूत] अब हमें ग्रहण में ग्रस कर जा रहे हैं।"

टिप्पणी--(१) छूँछि<तुच्छ=खाली। घरी<घटिका=[१] घड़ी, [२] घरिया। (२) बेवान<विमान। (४) गाज्<गज्ज्<गर्ज्=गर्जन करना। (५) खाँडा<खड्ड<खड्ग। (६) तीख<तिक्ख<तीक्ष्ण=तेज। (८) ससिअर<शशधर=चन्द्र। नखत<नक्षत्र।

लै राजहिं चितउर कहँ चले। छूटेउ मिरिग सिंघ कलमले।
चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ पारि जग कारी।
फिरि बादिल गोरा सौं कहा। गहन छूट पुनि जाइहि गहा।
चहुँ दिसि आउ अलोपत भानू। अब यह गोइ इहै मैदानू।

तूँ अब राजहिं लै चलु गोरा । हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा ।
दहुँ चौगान तुरुक कस खेला । होइ खेलार रन जुरौं अकेला ।
तब पावौं बादिल अस नाऊँ । जीति मैदान गोइ लै जाऊँ ।
आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ ।
खेलौं सोहँ साहि सौं हाल जगत महँ होइ ।।६२६।।

अर्थ--(१) वे जब राजा को ले कर चित्तौर चल पड़े, तो [ऐसा हुआ मानो] सिंहों के पंजों से मृग छूट गये हों, जिससे सिंह कुड़बुड़ा उठे हों। (२) बादशाह स्वयं [घोड़े पर] चढ़ा और चढ़ कर गुहार लगा, और उस की असूझ कटक ने जगत् में कालिमा डाल (कर दी)। (३) तब बादल ने मुड़ कर गोरा से कहा, "जहाँ हम ग्रहण से [किसी प्रकार] छूट पाए हैं, वहाँ हम फिर [ग्रहण में] पकड़े जाएँगे। (४) चारों ओर से भानु [का प्रकाश] लुप्त होता आ रहा है। अब तो यही गेंद और यही मैदान हैं (जीवन के अंतिम गेंद और अंतिम मैदान हैं)। (५) ऐ गोरा तू अब राजा को (आगे) ले चल, और मैं अब उलट (लौट कर) [बादशाह का] जोड़ा (प्रति-द्वन्द्वी) हो कर उससे [युद्ध में] जुटूँ (लगूँ), (६) और देखूं कि तुर्क (बादशाह) कैसा चौगान खेलता है। मैं खिलाड़ी बनकर उसके साथ रण में अकेला जुटूंगा (लगूँगा) (७) मैं बादल नाम तब पाऊँ जब कि मैदान में उसे जीत कर गेंद [निकाल] ले जाऊँ। (८) आज खड्ग रूपी चौगान की लकड़ी पकड़ कर रण में सिर की गेंद करूँगा, (९) बादशाह से आमने-सामने खेलूँगा जिससे जगत् में मेरी विजय हो।"

टिप्पणी--(२) गोहारी<गोहक्कार<गो+आकार=रक्षार्थ की गई पुकार। पार <पाड्<पातय्=गिराना। (४) गोइ=[चौगान की] गेंद: तुल० गोय [दे०]= गूलर का फल। (६-९) चौगान: मध्य युग का गेंद-बल्ले का एक खेल जो घोड़े पर चढ़ कर खेला जाता था। आजकल के 'गोल' की भाँति मैदान के दोनों छोरों पर दो-दो कूरियाँ बनी होती थीं जो हाल कहलाती थीं, विपक्ष की कूरियों में से होकर गेंद निकालने पर 'हाल' होता था और नक्कारा बजता था, जिससे कि दूर और निकट के सभी लोग सूचित हो जाएँ। (दे० आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० ३०९)

तब अंकम दै गोरा मिला । तूँ राजहिं लै चलु बादिला ।
पिता मरै जो सारै साथैं । मींचु न देइ पूत के माँथैं ।
मैं अब आउ भरी औ भूँजी । का पछिताँउ आइ जौं पूजी ।
बहुतन्ह मारि मरौं जौं जूझी । ताकहँ जनि रोवहु मन बूझी ।
कुँवर सहस सँग गोरैं लीन्हें । औरु बीर सँग बादिल दीन्हें ।
गोरहि समदि बादिला गाजा । चलै लीन्ह आगें कै राजा ।
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा । पुरुखन्ह देखि चाउ मन बाढ़ा ।
आउ कटक सुलतानी गँगन छपा मसि माँझ ।
परत आव जग कारी होत आव दिन साँझ ।।६२७।।

अर्थ--(१) तब (यह सुनकर) अंकपाली देकर गोरा [बादल से] मिला, [और उसने कहा,] "ऐ बादल, तू राजा को ले चल। (२) सार्थ को आगे बढ़ाने में यदि

[आवश्यकता होती है तो] पिता मरता है, वह पुत्र के मत्थे मृत्यु को नहीं कर देता है। (३) मैं ने आयु पूरी कर ली है और उसका [पूर्ण रूप से] भोग कर लिया है, इसलिए क्या पछतावा है यदि वह आकर पूरी हो गई है ? (४) यदि मैं युद्ध में बहुतों को मार कर मरता हूँ, तो मन में बुद्धि (विचार) करके उसके लिए मत रोना।" (५) गोरा ने एक सहस्र कुमारों को साथ लेकर और (शेष) वीरों को बादल के साथ कर दिया। (६) गोरा से मिल कर के बादल गर्जन कर उठा, और राजा को आगे कर के चलने को प्रस्तुत हुआ। (७) गोरा लौट कर [रण-] क्षेत्र में खड़ा हो गया, और पुरुषों (वीरों) को देख कर उसके मन में चाव (उत्साह) बढ़ गया। (८) सुल्तानी सेना आ रही थी, जिससे आकाश कालिमा (धूल) में छिप गया था। (९) जगत् में अंधकार होता आ रहा था और दिन ही में संध्या होती आ रही थी।

टिप्पणी--(१) अंकम<अंक=क्रोड़। (२) सार्<सारय्=आगे बढ़ाना, एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना। साथ<सत्थ<सार्थ=प्राणि-समूह, जो स्वरक्षार्थ मध्ययुग में झुंडों में चलता था। (३) भूँज<भुज्=भोग करना। पूज<पुज्ज<पूरय्= पूरा होना। (६) समद्<सम्+आ+दा=आलिंगन करना, गले मिलना। (७) ठाढ़< ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा। (८) माँझ<मज्झ<मध्य=में।

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँ काकरि होई।
जोबन तुरिअ चढ़ी सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी।
लट चौगान गोइ कुच साजी। हिय मैदान चली लै बाजी।
हाल सो करै गोइ लै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीच कै काढ़ा।।
भई पहार दुवौ वै कूरी। दिस्टि नियर पहुँचत सुठि दूरी।
ठाढ़ बान अस जानहुँ दोऊ। सालहिं हिए कि काढ़ै कोऊ।
सालहिं तेहि न जासु हियँ ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े।
मुहमद खेल पिरेम का घरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं हाल न होइ मैदान ॥६२८॥

अर्थ--(१) मैदान में हो (आ) कर अब गेंद पड़ गई है, देखना है कि खेल में हाल किसका होता है (२) [रानी चौगान की एक बाज़ी जीत चुकी हैं] यौवन के तुरग पर वह रानी चढ़ी थी, और खेल में वह अति चतुर [खिलाड़िन] जीत प्राप्त कर चली। (३) उसने लटों (अलकों) को ही चौगान [की लकड़ी] और कुचों को ही गेंद के रूप में सजाया था और वह हृदय के मैदान में बाज़ी ले (जीत) कर चल पड़ी। (४) [अब तो] हाल वही करेगा जो गेंद (अपने सिर) को ले कर बढ़ेगा, और उसे दोनों कूरियों (रानी के कुचों) के बीच से निकाल ले जाएगा। (५) वे दोनों कूरियाँ [जिन के बीच से यह गेंद निकालनी है] पहाड़ [जैसी दुर्लङ्घ्य] हैं। देखने में वे निकट ही हैं, किन्तु पहुंचने में व अत्यधिक दूर हैं। (६) वे दोनों मानों दो वाणों के जैसी खड़ी हैं और हृदय में ऐसी साल (चुभ) रही हैं कि (जी में होता है कि) उन्हें कोई खींच कर निकाल ले। (७) वे बाण उसे नहीं सालते (चुभते) हैं जिसके हृदय पर वे खड़े होते हैं, वे उसे सालते (चुभते) हैं जो उन्हें खींचकर निकालना चाहता

है। (८) मुहम्मद (जायसी) कहता है, प्रेम का खेल चौगान के खेल की कठिनाई वाली एक घड़ी है ; (९) यदि सिर को गेंद (करके) न दीजिए, तो मैदान में हाल नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—(१) गोइ=गेंद : तुल० गोय [दे०]=गूलर का फल। हाल=चौगान के खेल की वह स्थिति जब एक पक्ष विरोधी पक्ष की कूरियों में से हो कर गेंद बाहर निकाल देता है। इसी पर खेल की बाजी समाप्त होती है।(२) तुरिअ<तुरय<तुरग= अश्व। (३) चौगान=चौगान का बल्ला। (४) कूरी<कूट=मैदान के छोरों पर बने हुए दो-दो छहे जिनके बीच से हाल के लिए गेंद निकालनी होती है। (६) साल्=शल्य के समान पीड़ा पहुँचाना। काढ़्<कड्ढ<कृष्=खींचना, बाहर निकालना (७) ठाढ<ठड्ढ<स्तब्ध=खड़ा। (८) घरी : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' संस्करण में पाठ 'खरी' था, जिसके स्थान पर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'घरी' पाठ का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव होने के कारण स्वीकार्य है। चौगान के खिलाड़ी एक एक घड़ी पर बदले जाते हैं। (९) जौं<जउ<यदि।

(१-९) : चौगान के खेल के विवरण के लिए दे० ऊपर ६२६.७-९ की टिप्पणी तथा 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द १, पृ० ३०९।

फिरि आगें गोरैं तब हाँका। खेलौं आजु करौं रन साका।
हौं खेलौं धौलागिरि गोरा। टरौं न टारा बाग न मोरा।
सोहिल जैस इंद्र उपराहीं। मेघ घटा मोहिं देखि बिलाहीं।
सहसौं सीसु सेस सरि लेखौं। सहसौं नैन इंद्र भा देखौं।
चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू। कंस न रहा औरु को राजू।
हौं होइ भीवँ आजु रन गाजा। पाछें घालि दंगवै राजा।
होइ हनिवँत जमकातरि ढाहौं। आजु स्यामि सँकरें निरबाहौं।
होइ नल नील आजु हौं देउँ समुँद महँ मेंड़।
कटक साहि कर टेकौं होइ सुमेरु रन बेंड़॥६२६॥

अर्थ—(१) शत्रु-सेना के आगे मुड़ कर तब गोरा ने हाँक लगाई, "आज मैं खेल चलूंगा और युद्ध में साका करूँगा। (२) मैं धौलागिरि गोरा खेलूँगा, और हटाने पर भी न हटूँगा और न घोड़े की लगाम मोड़ूँगा।(३) मैं सोहिल जैसा हूँ, जो इन्द्र के ऊपर [प्रभाव रखता] है; मेघ-घटाएँ मुझे देख कर विलीन हो जाती हैं। (४) मैं अपने को सहस्र सिर वाले शेष के समान मान रहा हूँ, और मैं सहस्र-नयन इन्द्र हो कर [समस्त शत्रु-सेना को] देख रहा हूँ। (५) मैं आज चारों भुजाओं से युक्त चतुर्भुज (नारायण) हूँ, मेरे सामने कंस नहीं रह सकता, [तब] और कौन राजा है [जो टिक सकता है] ? (६) आज मैं भीम हो कर रण में गर्जन कर रहा हूँ और मैंने दंगवै राजा को अपने पीछे [अपनी रक्षा में] डाल लिया है। (७) मैं हनुमान होकर यमकर्त्तरी को ढाह रहा हूँ और आज स्वामी को संकट में से निवाह (निकाल) रहा हूँ। (८) आज मैं नल-नील हो कर समुद्र में मेंड दे रहा हूँ (सेतुबंध की रचना कर रहा हूँ)। (९) मैं बादशाह की सेना के रण में सुमेरु [सदृश अटल] बेंड़ा बनकर टेक (रोक) रहा हूँ।"

टिप्पणी––(१) हाँक्<हक्क् [दे०]=पुकार लगाना। साका<शाक=युद्ध में शत्रु के द्वारा पराजित और बन्दी होने की स्थिति स्पष्ट दिखाई पड़ने पर लड़ते हुए प्राण विसर्जित करने की प्रथा, जो संभवतः शकों से प्राप्त होने के कारण शाक>साका कहलाई। (२) बाग<वग्गा<वल्गा=लगाम। (३) सोहिल<सुहेल [अ०]=नक्षत्र-विशेष (अगस्त्य ?) जिसके उदित होने पर वर्षा समाप्त हो जाती है। बिलाय<वि+ली=विलीन होना। (६) हौं होइ भीवँ दंगवै राजा: इसमें एक लोककथा का उल्लेख है, जिसके लिए दे० १९६.८ की टिप्पणी तथा 'पदमावत में भीम और दंगवै' शीर्षक प्रस्तुत लेखक का लेख: 'हिन्दी अनुशीलन' भाग ११, अंक १, पृ० १२। (७) जमकातरि<यम-कर्त्तरी=यम की काती (कटार): दे० ३९४.३ तथा ६१४.७। (९) वेंड़ा=वह लड़की जो मार्गावरोध के लिए लगाई जाती है।

ओनै घटा चहुँ दिसि तसि आई। चमकहिं खरग बान झरि लाई।
डोलहिं नाहिं देव जस आदी। पहुँचे तुरुक बादि कहँ बादी।
हाथन्ह गहे खरग हिरवानी। चमकहिं सेल बीज की बानी।
सजे बान जानहुँ ओइ गाजा। बासुकि डरै सीस जनि बाजा।
नेजा उठा डरा मन इंदू। आइ न बाज जानि कै हिंदू।
गोरैं साथ लीन्ह सब साथी। जनु मैमंत सुंड बिनु हाथी।
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही। आवत अनी हाँकि सब लीन्ही।
रुंड मुंड सब टूटहिं सिउँ बकतर औ कुंडि।
तुरिअ होहिं बिनु काँधे हस्ति होहिं बिनु सुंडि।।६३०।। १२+३

अर्थ––(१) [जैसे गोरा ने यह कहा,] वैसे ही [शत्रु-सेना की] घटा उसके चारों ओर उन्नमित हो आई; उसमें खड्ग [बिजली की भाँति] चमकने लगे और बाणों की [वृष्टि के समान] झड़ी लग गई। (२) जिस प्रकार आदि (प्रमुख) देव (राजपुत्र) हट नहीं रहे थे, वैसे ही तुर्क भी वहाँ वादी के लिए वादी [बन कर] पहुँच गए। (३) वे हाथों में हीरे के वर्ण की तलवार लिए हुए थे। उनकी सेलें विद्युत् के वर्ण की [हो कर] चमक रही थीं। (४) उन्होंने जो बाण सजा रक्खे थे, वे मानो वज्र थे; वासुकि भी उनसे डर रहा था कि कहीं वे सिर पर न आ बजें। (५) उनके नेजे बज उठे, तो इन्द्र मन में डर गया कि कहीं वे उसे हिन्दू समझ कर उस पर न आ बजें (टकराएँ)। (६) गोरा ने अपने समस्त साथियों को साथ लिया; [वे ऐसे लगते थे] मानो बिना सूँडों के मदमत्त हाथी हों। (७) उन सबों ने मिलकर पहला उत्थान किया और उन सबों ने आती हुई [शत्रु] सेना को ललकार लिया। (८) उस युद्ध में समस्त रुंड-मुंड बख्तर और कुंडियों के साथ टूट रहे थे, (९) घोड़े बिना कंधों के हो रहे थे और हाथी बिना सूँडों के हो रहे थे।

टिप्पणी––(१) ओनव्<अवनम्=अवनमित होना, झुकना। (२) आदि=प्रमुख। बादि: 'जायसी ग्रंथावली' में पाठ 'बाद' था, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'बादि' पाठ का सुझाव दिया है, जो अधिक संभव है, इसलिए स्वीकार्य है। (३) हिरवानी<हीरक+वर्णिन्=हीरे (फौलाद) के वर्ण (धातु) की। (४) गाज<गज्ज<गर्ज=वज्र। (५)

नेजा<नेजः [फा०]=भाला, बरछा, साँग । इंद<इन्द्र । (६) मैमंत<मदमत्त । (७) उठौनी<उत्थान=हमला । (८) सिउँ<समम् =साथ । बकतर=बख़्तर [फ़ा०]=सन्नाह । कुंडि<टोप । (९) तुरिअ<तुरय<तुरग=घोड़ा ।

ओनवत आव सैन सुलतानी । जानहुँ पुरवाई अति बानी ।
लोहैं सैन सूझ सब कारी । तिल एक कतहुँ न सूझ उघारी ।
खरग पोलाद निरँग सब काढ़े । हरे बिज्जु अस चमकहिं ठाढ़े ।
कनक बानि गजबेलिं सो नाँगी । जानहुँ काल करहिं जिउ माँगी ।
जनु जमकाति करहिं सब भवाँ । जिउ लै चहहिं सरग अपसवाँ ।
सेल साँप जनु चाहहिं डसा । लेहिं काढ़ि जिउ मुख बिख बसा ।
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा । अंगद सरिस पाउ रन रोपा ।
सपुरुस भागि न जानै भएँ भीर भुइँ लेइ ।
असि बर गहें दुहूँ कर स्यामि काज जिउ देइ ॥६३१॥

अर्थ—(१) सुल्तानी सेना [इस प्रकार] झुकती चली आ रहा थी मानो अति-वर्ण वाली (उग्र) पुरवाई हो । (२) लोहे [के कवचों] के कारण समस्त सेना काली सूझ रही थी ; कहीं पर एक तिल बराबर स्थान भी [सैनिकों के शरीर पर] खुला हुआ नहीं दीख रहा था । (३) सभी ने निरंग (ख़ालिस) फ़ौलाद के खड्ग निकाल लिए, जो हिलने पर खड़ी बिजली के समान चमक रहे थे । (४) उनकी कनक वर्ण की जो गजबेल की नंगी तलवारें थीं; वे ऐसी लगती थीं मानो [विपक्षियों के] प्राण माँग कर उनका प्राणांत कर रही हों ।(५) वे सभी इस प्रकार घूम रही थीं मानो यम-कर्त्तरियाँ हों, जो [विपक्षियों के] प्राण ले कर स्वर्ग (आकाश) में भाग (उड़) जाना चाहती हों । (६) सेलें ऐसी थीं मानों साँप हों जो डसना चाहते हों, जो प्राण निकाल लेते हों और जिनके मुख में विष का निवास हो । (७) उनके सम्मुख गोरा रण में कुपित हुआ, और उसने अंगद के सदृश रण में अपने पैर रोप (जमा) दिए । (८) सत्पुरुष भागना नहीं जानता है, भीर (आक्रमण) होने पर वह भूमि लेता है (युद्ध भूमि में डट जाता है) ;(९) वह श्रेष्ठ तलवारें दोनों हाथों में पकड़े हुए स्वामी के कार्य में अपना जीवन देता है ।

टिप्पणी—(१) ओनव्<अवनम्=झुकना । वान<वण्ण<वर्ण । अति बानी : मेरे 'जायसी ग्रंथावली' पाठ में भूल से 'वानी' के स्थान पर 'बानी' छप गया है ।(३) पोलाद<फ़ौलाद [अ०]। निरंग=ख़ालिस, बिना मिलावट का । (४)गजबेल=फ़ौलाद से कुछ उतरा हुआ लोहा । (५) जमकाति<यमकर्तरी=यम की कटार । भवँ<भम्<भ्रम्=घूमना । अपसव्<अप+सृ=भागना, उड़ जाना । (७) सामुँह<सम्मुख । (८) सपुरुस<सप्पुरिस<सत्पुरुष । (९) स्यामि=स्वामिन् ।

भै बगमेल सेल घन घोरा । औ गज पेल अकेल सो गोरा ।
सहस कुँवर सहसहुँ सत बाँधा । भार पहार जूझि कहँ काँधा ।
लागे मरै गोरा के आगें । बाग न मुरै घाव मुख लागें ।
जैस पतंग आगि धँसि लेहीं । एक मुएँ दोसर जिउ देहीं ।

टूटहिं सीस अधर धर मारे। लोटहिं कंध कबंध निनारे।
कोई परहिं रुहिर होइ राते। कोइ घायल घूमहिं जस माँते।
कोइ खुर खेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे जनु जोगी।
घरी एक भा भारथ भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब बीते गोरा रहा अकेल ॥६३२॥

अर्थ--(१) बगमेल हुई (घोड़ों को लगाम छोड़ कर दौड़ाया गया), और बर्छे वाले सैनिक घोर (भयावने) मेघों की भाँति छा गए ; पुनः हाथी आगे बढ़ाए गए किन्तु [उनके सम्मुख] गोरा अकेला ही था। (२) [उसके साथ केवल] सहस्र कुमार थे। उन सहस्र कुमारों ने सत बाँधा, और उन्होंने युद्ध का पहाड़ जैसा भार (उत्तरदायित्व) अपने कंधों पर लिया। (३) वे गोरा के सामने ही मरने लगे, किन्तु मुख पर (सम्मुख से) घाव लगने पर भी उनकी लगामें नहीं मुड़ती थीं। (४) जिस प्रकार पतिंगे आग में कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार एक के मरने पर दूसरा प्राण देता था। (५) किन्हीं के सिर टूटते थे, जब वे उनके धड़ या अधर के मारे (काटे) जाने पर गिरते थे, और किन्हीं के कंधे कबंध (धड़) से अलग होकर [भूमि पर] लोट रहे थे। (६) कोई रुधिर से लाल हो कर गिरते थे, और कोई मत्त जैसे घायल घूमते थे। (७) कोई भोगी (गुज़ारेदार) खुरों की धूल से इस प्रकार भरे हुए थे मानो भस्म चढ़ा कर योगी पड़े हों। (८) एक घड़ी तक संग्राम हुआ, सवारों - सवारों की भिड़न्त हुई। (९) युद्ध कर के सब कुमार समाप्त हो गए, एकमात्र गोरा बच रहा।

टिप्पणी--(१) बगमेल = बाग मेल्ह (छोड़) कर घोड़े को दौड़ाने की क्रिया। बाग < बग्गा < वल्गा = लगाम। (२) काँध् = कन्धा लगाना, भार उठाना। (५) अधर = शरीर का नीचे का भाग। धर = धड़, कटि और सिर के बीच का भाग। निनार < णिण्णार [< निर्नगर ?] = अलग। (७) भोगी = भोग या गुज़ारा पाने वाले।

गोरैं देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा।
कोपि सिंघ सामुँह रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला।
लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसें सिंघ बिडारै घटा।
जेहि सिर देइ कोपि कर वारू। सिउँ घोरा टूटै असवारू।
टूटहिं कंध कबंध निनारे। माँट मँजीठि जानु रन ढारे।
खेलि फागु सेंदुर छिरिआवै। चाँचरि खेलि आगि रन ढावै।
हस्ती घोर आइ जो ढूका। उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका।
भै अग्याँ सुलतानी बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगें लिए पदारथ साथ ॥६३३॥

अर्थ—(१) गोरा ने देखा कि उसका सार्थ (दल) सब जूझ चुका (युद्ध करके मारा जा चुका) है, तो उसने अपना काल निकट आया समझ लिया। (२) कुपित हो कर वह सिंह सम्मुख रण में लग गया, और लाखों से (भिड़ने पर) भी वह अकेला होते हुए नहीं मुड़ रहा था। (३) उसने हाथियों की ठाट को इस प्रकार हाँक लिया जैसे सिंह उनकी घटा (पंक्ति) को फाड़ (तहस-नहस कर) देता हो। (४) जिसके

भी सिर पर वह कुपित हो कर तलवार चलाता था, वह सवार घोड़े के साथ टूट (कट) जाता था। (५) कंधे या कवंध जब अलग हो कर टूटते थे, तो [रक्त इस प्रकार बहता था] मानो रणक्षेत्र में मँजीठ के मटके ढुलका (गिरा) दिए गए हों। (६) वह [रणस्थल में] मानो फाग खेल कर सिन्दूर छिटका रहा था, अथवा चाँचर खेल कर [रणस्थल में] आग ढाह रहा था। (७) जो हाथी-घोड़े वहाँ आ ढुकते (पहुँचते) थे, [उसके प्रहार से] उनके शरीर से मानो रुधिर की आग की लपट उठने लगती थी। (८) सुल्तानी आदेश हुआ कि इसे शीघ्र हाथों में करो (पकड़ो); (९) रतनसेन आगे जा रहा है, और साथ में वह पदार्थ (पद्मावती) को लिए हुए है।"

टिप्पणी—(१) साथ<सत्थ<सार्थ=प्राणि-समूह, दल। (२) सामुँह<सम्मुख। (३) बिडार्<विदारय्=फाड़ना, तहस-नहस करना। (४) करवार<कृपाण। सिउँ< समम्=साथ। (५) माँट=मटका। (६) छिरिआव्=छिटकाना। (७) ढुक्=पहुंचना। भभूका=आग की लपट। (९) पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य पत्थर, हीरा।

सबहिं कटक मिलि गोरा छेंका। कुंजल सिंघ जाइ नहिं टेका।
जेहिं दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठायँन्ह आवा।
तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहाँ। गोरैं मींचु धरा मन माहाँ।
मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ।
जनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ की मोंछ हाथ को मेला।
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुएँ पार कोई घिसियावा।
करै सिंघ हठि सौंही डीठी। जब लगि जिऔ देइ नहिं पीठी।
रतनसेनि तुम्ह बाँधा मसि गोरा के गात।
जब लगि रुहिर न धोवौं तब लगि होउँ न रात ॥६३४॥

अर्थ—(१) समस्त [सुल्तानी] सेना ने मिलकर गोरा को घेर लिया, किन्तु कुंजरों के द्वारा सिंह नहीं रोका जा सकता है। (२) [वह सिंह] जिस दिशा में भी उठता (उठ कर जा पहुँचता) था, उसी दिशा को मानो खा डालता था। [अन्त में] वह लौट कर उस स्थान पर आया [जहाँ पर शाही सैनिक उसे घेर कर पकड़ना चाहते थे]। (३) तुर्क उसे बुलाते (ललकारते) थे और बोलती उसकी बाहें थीं (उत्तर में उसकी बाहें संहार करती थीं)। गोरा ने [अब] मन में मृत्यु को धारण (निश्चित) कर लिया। (४) पुनः [उसने सोचा,] जाजा और जगद्देव भी युद्ध करके मरे, जगत् में जीवित कोई नहीं रहा है। (५) [उसने कहा,] "यह न समझो कि गोरा अकेला है; [उसके अकेले होने पर भी] सिंह की मूछों पर हाथ कौन लगाताहै? (६) सिंह जीते-जी अपने आपको पकड़ने नहीं देता है, और वह मर जाए तो कोई भी उसे घसीट सकता है। (७) सिंह हठपूर्वक सम्मुख ही दृष्टि करता है, और जब तक जीवित रहता है, वह पीठ नहीं देता है (मुँह नहीं मोड़ता है)। (८) रत्नसेन को तुमने जो बन्दी किया, उससे गोरा के गात्र में कालिमा लग गई। (९) [उस कालिमा को] जब तक मैं गोरा अपने रुधिर से न धोऊँ तब तक मैं रक्त वर्ण का (मुँह दिखाने योग्य) नहीं हो सकता हूँ।"

टिप्पणी--(१) कुंजल<कुञ्जर = हाथी। (३) मीचु<मृत्यु। (४) जाजा जगदेउ : दे० ६११.३ की टिप्पणी। (५) मोंछ<मुच्छ<श्मश्रु=मूँछ। मेल्<मेलय्= लगाना, डालना। (६) पार्<पारय्=सकना। (७) सौंह<सउँह<सम्मुख। डीठि< दृष्टि।

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा। आइ सौहँ गोरा के बाजा।
पहलवान सो बखाना बली। मदति मीर हमजा औ अली।
मदति अयूब सीस चढ़ि कोपे। राम लखन जिन्ह नाउँ अलोपे।
औ ताया सालार सो आए। जिन्ह कौरौ पंडौ पिंड पाए।
लिंधउर देव धरा जिन्ह आदी। और को माल बादि कहँ बादी।
पहुँचा आइ सिंघ असवारू। जहाँ सिंघ गोरा बरियारू।
मारेसि साँगि पेट महँ धँसी। काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी।
भाँट कहा धनि गोरा तू भोरा रन राउ।
आँति सैंति करि काँधे तुरिअ देत है पाउ ॥६३५॥

अर्थ--(१) वीर सरजा सिंह पर चढ़ कर गर्ज उठा और वह गोरा के सम्मुख आ पहुँचा। (२) वह पहलवान और प्रशंसित बली था, और उसकी सहायता में अमीर-हम्ज़ा और अली थे। (३) [पुनः] उसकी सहायता में वे अयूब उसके सिर पर (उसके पीछे) चढ़ाई करके कुपित हुए, जिन्होंने [वीरता में] राम और लक्ष्मण के नामों को भी लुप्त कर दिया था। (४) और वे ताया सारलार भी आए जिन्होंने कौरवों और पाँडवों का [सा] पिंड (शरीर) पाया था और (५) जिन्होंने आदि लिंधउर (रण धवल?) देव को भी पकड़ा था; और कौन मल्ल [इस प्रकार] वादी के लिए वादी (जोड़ का तोड़) हो सकता था? (६) सरजा सिंह पर सवार हुआ वहाँ आ पहुँचा जहाँ पर बली सिंह गोरा था। (७) उसने [गोरा के] पेट में साँग मारी जो धँस गई, और जब उसने हुमक कर उस साँग को खींचा, [गोरा की] आँतें भूमि पर गिर पड़ीं। (८) भाँट ने कहा, "ऐ गोरा तू धन्य है, तू भोला [सदृश] रण-क्षेत्र का राजा है, (९) जो कि अपनी आँतों को बटोर कर और उन्हें कंधों पर रख कर घोड़े [की पीठ] पर पैर दे रहा है।"

टिप्पणी--(१) सरजा: यह पहले भी आ चुका है, और रत्नसेन के पास अलाउद्दीन के दूत के रूप में गया है। बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना, पहुँचना। (२) मीर हमजा< अमीर हमज़ा=एक प्रसिद्ध वीर जिसकी वीरता की कहानियाँ मध्ययुग में मुसलमानों में बहुत प्रचलित रही हैं। दे० 'दास्तान-ए-अमीर हमजा'। अली : हजरत मुहम्मद के दामाद और चौथे खलीफ़ा, जिन्हें जायसी ने सिंह के समान बली कहा है (१२.५)। (४) सलार<सालार=मुख्य नेता, पथ-प्रदर्शक। (३)-(५) अयूब, ताया तथा लिंधौर देव : इनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है, संभवतः मध्ययुग में इनकी वीरता की कहानियाँ प्रचलित थीं। (७) खस्=खिसकना, गिरना। (८) भोरा=भोला, प्रसिद्ध गूर्जर नरेश भीम चौलुक्य, जो पृथ्वीराज का समकालीन था और जिसने मुहम्मद ग़ोरी को पराजय दी थी। (९) तुरिअ<तुरय<तुरग=घोड़ा।

कहेसि अंत अब भा भुइ परना । अंत सो तंत खेह सिर भरना ।
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा । सरजा सारदूर पहँ आवा ।
सरजैं कीन्ह साँगि सौं घाऊ । परा खरग जनु परा निहाऊ ।
बज्र साँगि औ बज्र के डाँडा । उठी आगि सिर बाजत खाँडा ।
जानहुँ बजर बजर सौं बाजा । सबहीं कहा परी अब गाजा ।
दोसर खरग कुंडि पर दीन्हा । सरजैं धरि ओड़न पर लीन्हा ।
तीसर खरग कंध-पर लावा । काँध गुरुज हत घाव न आवा ।
अस गोरैं हठि मारा उठी बजर की आगि ।
कोइ न नियरें आवै सिंघ सदूरहि लागि ॥६३६॥

अर्थ--(१) [गोरा ने] कहा, "अंत में अब भूमि पर गिरना हुआ ही। अंत में वही तंत्र रहा कि सिर पर धूल भरना (डालना) हुआ !" (२) यह कह कर और गर्जन कर वह सिंह के समान दौड़ा और शार्दूल [के समान] सरजा के पास आ गया। (३) रजा ने [पुनः] साँगी से उस पर आघात किया, किन्तु [इस बार] उस पर गोरा का खड्ग इस प्रकार पड़ा जैसे वह [लोहे की] निहाई पर पड़ा हो। (४) साँगी वज्र (फौलाद) की थी और उसका दंड भी वज्र (फौलाद) का था ; उसके सिर पर जब [गोरा का] खाँडा वजा (टकराया), आग निकल पड़ी। (५) [ऐसा ज्ञात हुआ] मानो वज्र वज्र से टकराया हो, और सभी ने कहा कि अब गाज पड़ी (वज्र गिरा)। (६) दूसरा खड्ग उसने सरजा के लोहे के टोप पर दिया, तो सरजा ने उसे ढाल पर ले लिया। (७) तीसरा खड्ग उसने [सरजा के] कंधे पर लगाया, किन्तु [उसके] कंधे पर गुर्ज था, इसलिए [उस पर] भी घाव न लगा। (८) [फिर भी] गोरा ने इस प्रकार हठपूर्वक मारा था कि वज्र की (जैसी) अग्नि उठ पड़ी, (९) और कोई भी सरजा शार्दूल [की सहायता] के लिए उसके पास नहीं आ रहा था।

टिप्पणी--(१) तंत<तंत्र=युक्ति। (३) घाउ<घात=आघात। निहाउ< निहाति=निहाई, वह लोहा जिस पर रख कर तप्त लौह को घन से पीटा जाता है। (६) ओड़न=ढाल। (७) गुरुज<गुर्ज[फ़ा०]=एक प्रकार की गदा। (९) निअर< णिअड<निकट।

तब सरजा गरजा बरिवंडा । जानु सदूर केर भुअडंडा ।
कोपि गुरुज मेलेसि तस बाजा । जनहुँ परी परवत सिर गाजा ।
ठाठर टूट टूट सिर तासू । सिउँ सुमेरु जनु टूट अकासू ।
धमकि उठा सब सरग पतारू । फिरि गै डीठि भवाँ संसारू ।
भा परलौ सबहूँ अस जाना । काढ़ा खरग सरग नियराना ।
तस मारेसि सिउँ घोरैं काटा । धरती फाटि सेस फन फाटा ।
अति जौं सिंघ बरिअ होइ आई । सारदूर से कवनि बड़ाई ।
गोरा परा खेत महँ सिर पहुँचावा बान ।
बादिल लै गा राजहिं लै चितउर नियरान ॥६३७॥

अर्थ--(१) तब बलवान सरजा गरज उठा, उसके भुजदंड मानो शरभ के थे।

(२) उसने कुपित हो कर जब गुर्ज छोड़ी तो वह गुर्ज ऐसी टकराई मानो पर्वत के सिर पर वज्र पड़ा हो। (३) [गोरा का] ठाठर टूट गया और सिर टूट गया, मानो सुमेरु के साथ आकाश टूट पड़ा हो। (४) समस्त आकाश और पाताल में धमाका हुआ और सब की दृष्टि फिर गई, संसार इस प्रकार भ्रमित हुआ। (५) जब सरजा ने खड्ग निकाला तब तो सभी ने ऐसा जाना कि प्रलय हो गया, और आकाश निकट आ गया, (६) उस खड्ग से उसने [गोरा पर] ऐसा प्रहार किया। उसने घोड़े के साथ उसे काट डाला। उससे धरती फट गई और शेष का फण फट गया। (७) सिंह (गोरा) यदि अत्यधिक बली होकर भी आया तो शार्दूल (सरजा) से उसकी क्या बड़ाई? (८) गोरा रण-क्षेत्र में पड़ (गिर) गया, और उसने अपने सिर को [काट कर] बान (बानगी) के रूप में [अपने स्वामीके पास] भेज दिया। (९) उधर बादल राजा को ले गया और जाकर चित्तौर के निकट हुआ।

टिप्पणी—(१) बरिबंड<बलवंत<बलवत्=बलवान। सदूर<शार्दूल=शरभ। भुअडंड<भुजदण्ड। (२) गुरुज<गुर्ज [फ़ा०]=एक प्रकार की गदा। गाज<गज्ज=वज्र। (३) ठाठर<थट्ट [दे०]=सज्जा। सिउँ<समम्=साथ। (४) भवँ<भम्<भ्रम्=घूमना। (६) घोर<घोटक=घोड़ा। फाटि : मेरे 'जायसी-ग्रंथावली' में 'काढि' पाठ है, जो छापे की भूल से है। (७) बरिअ<बलिन्=बलवान, सबल, पराक्रमी। सारदूर<शार्दूल=शरभ। (८) बान<बण्ण<वर्ण=नमूना, बानगी।

पदुमावति मन अही जो झूरी। सुनत सरोवर हिय गा पूरी।
अद्रा महँ हुलास जस होई। सुख सोहाग आदर भा सोई।
नलिनि निकंदी लीन्ह अँकूरू। उठा कँवल उगवा सुनि सूरू।
पुरइनि पूरि सँवारे पाता। पुनि बिधि आनि धरा सिर छाता।
लागै उदै होइ जस भोरा। रैंनि गई दिन कीन्ह बहोरा।
अस्तु अस्तु सुनि भा किलकिला। आगें मिलै कटक सब चला।
देखि चाँद असि पदुमिनि रानी। सखी कमोद सबै बिगसानी।
गहन छूट दिनकर कर ससि सौं होइ मेराउ।
मँदिल सिंघासन साजा बाजा नगर बधाउ ॥६३८॥

अर्थ—(१) जो पद्मावती [रूपी कमलिनी] मन में जो झुलसी हुई थी, [सौभाग्य-सुख रूपी] सरोवर का नाम सुनते ही उसका हृदय आपूरित हो गया। (२) [ग्रीष्म-ताप के अनंतर] आर्द्रा नक्षत्र में जिस प्रकार [कमल-कुल में पुनः] उल्लास हो (छा) जाता है, उसी प्रकार पद्मावती का सुख, सौभाग्य और आदर [पुनः] हो गया। (३) नष्ट हुई नलिनी [लता] ने पुनः अंकुर लिया, और सूर्य (पति) का उदित होना सुन कर वह कमलिनी (पद्मावती) उठ (जाग) गई, (४) उसने अपनी लता को फैला कर पत्ते सँवारे और विधाता ने पुनः लाकर उसके सिर पर [सौभाग्य के कमल-पत्र का] छाता लगा दिया। (५) जैसा कि प्रभात होने पर होता है, उस प्रकार का उदय (सूर्योदय) लगने (ज्ञात होने) लगा; रजनी चली गई और दिन लौटा। (६) 'अस्तु', 'अस्तु' का शब्द सुन कर हिल्लोल-सा उठा, और आगे बढ़कर [राजा से] मिलने के लिए समस्त

कटक चल पड़ा। (७) पद्मिनी रानी को चन्द्र के जैसा देखकर उसकी सभी सखियाँ --कुमुदिनियाँ विकसित हो गईं। (७) सूर्य (रत्नसेन) का ग्रहण छूट गया, और अब चंद्र (पद्मावती) से उसका मिलन होगा, (९) [यह जानकर] मंदिर में सिंहासन साजा गया और नगर में बधावा बजाया गया।

टिप्पणी--(१) झूर् <ज्वल्=झुलसना, जलना। (२) अद्रा <आर्द्रा=वर्षा का प्रथम नक्षत्र। हुलास <उल्लास। (३) निकंद <निष्कन्द=कन्द (मूल) हीन, नष्ट। (४) पुरइनि <पुडइणी <पुटकिनी=कमल की लता। छाता <छत्त <छत्र=छत्राकार कमल-पत्र (दे० ६४३.४)। (५) उदै : मेरे 'जायसी-ग्रंथावली' पाठ में भूल से 'उहै' छपा है। बहोरा <व्याघुटन=वापस आना, लौटना। (६) अस्तु = हो, ऐसा ही हो। किलकिल= हिल्लोल। (९) बधाउ <वद्धावण <वर्धापन=उत्सव या आनंद सूचक वाद्य।

बिहँसि चंद दै माँग सेंदूरा। आरति करै चली जहँ सूरा।
औ गोहने सब सखी तराईं। चितउर की रानी जहँ ताईं।
जनु बसंत रितु फूली छूटी। कै सावन महँ बीरबहूटी।
भा अनंद बाजा पँच तूरा। जगत रात होइ चला सेंदूरा।
राजा जनहुँ सूर परगासा। पदुमावति मुख कँवल बिगासा।
कँवल पाय सूरुज के परा। सूरुज कँवल आनि सिर धरा।
दुंद मृदंग मुर ढोलक बाजै। इंद्र सबद सो सबद सुनि लाजै।
सेंदुर फूल तँबोर सिउँ सखी सहेली साथ।
धनि पूजै पिय पाय दुइ पिय पूजै धनि माँथ ॥६३६॥

अर्थ--(१) चंद्र (पद्मावती) माँग में सिन्दूर दे कर हँसता हुआ आरती करने वहाँ चला जहाँ पर सूर्य (रत्नसेन) था। (२) और उसके साथ तारिकाएँ उसकी सखियाँ हुईं तथा जहाँ तक (जितनी) भी चित्तौर की रानियाँ थीं, वे हुईं। (३) [ऐसा लग रहा था] मानो वसंत ऋतु फूल कर छूट (निकल) पड़ी हो, अथवा सावन में बीर बहूटियाँ [निकल पड़ीं] हों। (४) आनंदोत्सव हुआ और पंचतूर्य बजे, जगत् सिन्दूरित हो कर रक्तवर्ण का हो चला। (५) राजा [ऐसा लगता था] मानो सूर्य प्रकाशित हुआ हो, और [उसे देख कर] पद्मावती का मुख कमल विकसित हो उठा। (६) कमलिनी (पद्मिनी) सूर्य (रत्नसेन) के पैरों पड़ी और सूर्य (रत्नसेन) ने उस कमलिनी (पद्मिनी) को ला (ले) कर सिर पर धारण किया। (७) दुंदुभी, मृदंग, मुरज और ढोलक बज उठे तथा उन शब्दों को सुन कर इन्द्र (मेघों) का शब्द लज्जित होने लगा। (८) सिंदूर, तथा फूल, ताम्बूल के साथ और साथ में सखियों-सहेलियों को लेकर (९) स्त्री (पद्मा-वती) ने प्रिय के दोनों पैर पूजे और प्रिय ने स्त्री का मस्तक पूजा।

टिप्पणी--(२) गोहन=साथ। (४) पँचतूरा <पञ्चतूर्य=पाँच तूर्य। (७) दुंद < दुंदुहि <दुन्दुभि (?)=नगाड़ा। मुर <मुरज। (८) तँबोर <ताम्बूल। सिउँ <समम्=साथ।

पूजा कवनि देउँ तुम्ह राजा। सबै तुम्हार आव मोहि लाजा।
तन मन जोबन आरति करेऊँ। जीउ काढ़ि नेवछावरि देऊँ।
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम्ह पगु धरहु नैन हौं लावौं।

पाय बुहारत पलक न मारौं । बरुनिन्ह सेंति चरन रज झारौं ।
हिया सो मँदिल तुम्हारे नाहाँ । नैनन्हि पँथ आवहु तेहि माहाँ ।
बैठहु पाट छत्र नव फेरी । तुम्हरें गरब गरुइ हौं चेरी ।
तुम्ह जियँ हौं तन जौं अति मया । कहै जो जीउ करै सो कया ।
जौं सूरुज सिर ऊपर तब सो कँवल सुख छात ।
नाहिं तौ भरे सरोवर सूखै पुरइनि पात ॥६४०॥

अर्थ--(१) [पद्मावती ने कहा,] "हे राजा, तुम्हें कौन-सी पूजा दूँ ? तुम्हारा ही सब कुछ है, इसलिए [तुम्हें पूजा देते हुए] मुझे लज्जा आती है। (२) मैं तन-मन-यौवन तुमको आरती करती हूँ, और अपने प्राण निकाल कर उन्हें तुम पर न्यौछावर करती हूँ। (३) तुम्हारा मार्ग भरते हुए मैं अपनी दृष्टि बिछा रही हूँ ; तुम अपने पैर उस मार्ग पर रक्खो और मैं उन्हें नेत्रों से लगा लूँ। (४) तुम्हारे पैरों की धूल झाड़ते हुए मैं पलक न गिराऊँगी और बरौनियों से मैं तुम्हारे चरण-रज झाड़ूँगी। (५) मेरा हृदय, हे नाथ, तुहारा ही मंदिर है, मेरे नेत्रों के मार्ग से तुम उसमें आओ। (६) तुम सिंहासन पर नया छत्र फेरकर (गोलाई में फैला कर) बैठो, तुम्हारे गर्व से ही यह दासी भी गुर्वी है। (७) तुम जीव हो और मैं शरीर हूँ ; यदि तुम्हें अत्यधिक मया (स्नेहपूर्ण कृपा) है, तो [मुझे आदेश करो,] जीव (स्वामी) जो कुछ कहेगा, वह काया (सेविका) करेगी। (८) जब [तक] सूर्य सिर पर है, तभी [तक] कमलिनी के सिर पर सुख का छत्र है, (९) नहीं तो भरे सरोवर में भी पुटकनी (नलिनी लता) के पत्ते सूख जाते हैं।"

टिप्पणी--(२) नेवछावरि < णिवच्छ + आवलि = उतारे गए द्रव्यों का समह। (४) बोहार् [दे०] = झाड़ना। (६) पाट < पट्ट = फलक, सिंहासन। गरुइ < गुर्वी = भारी। (८) चेरी < चेटी = दासी। जौं < जउ < यदा = जब। (९) पुरइनि < पुडइणी < पुटकिनी = कमलिनी।

परसि पाय राजा के रानी । पुनि आरति बादिल कहँ आनी ।
पूजे बादिल के भुअडंडा । तुरिअ के पाउ दाबि कर खंडा ।
यह गज गवन गरब सिउँ मोरा । तुम्ह राखा बादिल औ गोरा ।
सेंदुर तिलक जो आँकुस अहा । तुम्ह माँथें राखा तब रहा ।
काज रतन तुम्ह जिय पर खेला । तुम्ह जिउ आनि मजूँसा मेला ।
राखेउ छात चँवर औ ढारा । राखेउ छुद्रघंट झनकारा ।
तुम्ह हनिवँत होइ धुजा बईठे । तब चितउर पिय आइ पईठे ।
पुनि गज हस्ति चढ़ावा नेत बिछावा बाट ।
बाजत गाजत राजा आइ बैठ सुख पाट ॥६४१॥

अर्थ--(१) रानी (पद्मावती) ने राजा के पैरों का स्पर्श किया और तदनंतर वह बादल के लिए आरती लाई। (२) उसने बादल के भुजदण्डों का पूजन किया, और उसके घोड़े के [पिछले] पैरों को दबाकर उसके हाथों (अगले पैरों) को मोड़ा। (३) फिर, उसने कहा, "यह गर्व-पूर्वक मेरा गज-गमन, हे बादल, तुमने और गोरा

ने रक्खा। (४) मेरे सिन्दूर और टीके को जो मेरे ऊपर अंकुश रूप थे, तुमने मेरे मस्तक पर रक्खा, तब वे रहे। (५) तुम रत्नसेन केलिए जीवन पर खेल गए, और तुम्हीं ने मेरे जीव को लाकर पुनः मेरी मंजूषा (काया) में डाला। (६) तुमने [राजा के] छत्र, चामर और ढाल को रक्खा, और तुम्हीं ने [मेरी] क्षुद्र घंटिका की झंकार रक्खी। (७) तुम हनुमान हो कर [चित्तौर-नरेश की] ध्वजा पर बैठे, तब मेरे प्रिय चित्तौर में आकर प्रविष्ट हो सके।" (८) तदनंतर [राजा को] हाथी पर चढ़ाया गया और मार्ग में नेत्र बिछाया गया (नेत्र की पट्टियाँ बिछाई गई)। (९) राजा बाजे-गाजे के साथ आया और सुख के सिंहासन पर बैठा।

टिप्पणी--(२) भुअडँड<भुजदण्ड। तुरिअ<तुरय<तुरग=अश्व। कर : घोड़े के अगले पैर। खंड्=तोड़ना, मोड़ना। (६) छुद्रघंट<क्षुद्रघंटिका=कटि-मेखला। (८) नेत<नेत्र=एक प्रकार का रेशमी वस्त्र। बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग। (९) पाट<पट्ट=फलक, सिंहासन।

निसि राजैं रानी कँठ लाई। पिय मरजिया नारि ज्यौं पाई।
रँग कै राजैं दुख अगुसारा। जियत जीव नहिं करौं निनारा।
कठिन बंदि लै तुरुकन्ह गहा। जौं सँवरौं जिय पेट न रहा।
खनि गड़ ओबरी महँ लै मेला। साँकर औ अँधियार दुहेला।
राँध न तहँवाँ दोसर कोई। न जनौं पवन पानि कस होई।
खिन खिन जेव सँडासिन्ह आँका। ओवहि डोंब छुआवहिं बाँका।
बीछी साँप रहहिं निति पासा। भोजन सोइ डसहिं हर स्वाँसा।
आस तुम्हारे मिलन की रहा जीव तब पेट।
नाहिं तो होत निरास जौं कत जीवन कत भेंट ॥६४२॥ ६८-१०

अर्थ—(१) रात्रि में राजा ने रानी को [इस प्रकार] गले से लगाया जैसे मरजीवा पति ने [अपनी] नारी को प्राप्त किया हो। (२) राजा ने प्रेमपूर्वक अपना दुख कहना प्रारंभ किया। [उसने कहा,] "[अपने कष्टों को स्मरण कर] मैं जीवित रहते हुए अपने प्राणों को अलग नहीं कर रहा हूँ [यही बहुत है], (३) [अन्यथा] तुर्कों ने कठिन कारागार में ले जाकर मुझे पकड़ रक्खा और उस का जब स्मरण करता हूँ जो पेट में जीव नहीं रहता है। (४) उन्होंने गर्त अपवरिका (गड्ढे की कोठरी) खन (खोद) कर उसमें लेकर मुझे डाल दिया, जहाँ पर सँकरापन और दुर्हेल्य अंधकार था। (५) वहाँ पर मेरे पास और कोई नहीं था : नहीं जान सका कि हवा-पानी कैसे होते हैं। (६) डोम क्षण-प्रतिक्षण ही संडसियाँ तप्त करके उनसे [मुझे] आँकते (दागते) थे, और वे आकर [मुझे] बाँका छुआते थे। (७) बिच्छू और सर्प नित्य ही पास रहते थे, और मेरा भोजन यही था कि हर साँस में ये डसते रहते थे। (८) तुम्हारे मिलन की आशा थी, तब (इस कारण) जीव पेट में रहा ; (९) नहीं तो यदि जीव निराश हो गया होता, तो कहाँ यह जीवन रहता और कहाँ यह मिलना होता ?"

टिप्पणी--(१) मरजिआ<मरजीवक=समुद्री गोताखोर जो समुद्र में डूब कर मोती आदि निकालता है। (२) रंग<प्रेम। अगुसार्<अग्र+सारय्=आगे बढ़ाना,

आगे ले चलना। (३) सँवर् <स्मृ=स्मरण करना। (४) गड<गर्त। ओबरि< <उव्वरिअ<अपवरिका=कोठरी। मेल<मेलय्=डालना। दुहेला=दुर्हेल्य। (५) राँध<राद्ध=पास। (६) जेव<ऐव=ही। सँडासी<संदंशिका=तप्त लौहादि पकड़ने का एक यंत्र। आँक्<अङ्क=अंकन करना तप्त शलाकादि से दागना। बाँका<बंक<वक्र= डोमों का लोहे का टेढ़ा छुरा जिससे वे बाँस के सामान बनाने के लिए बाँस काटते-फाड़ते हैं।

तुम्ह पिय भँवर परी असि बेरा। अब दुख सुनहु कँवल धनि केरा।
छाँड़ि गएउ सरवर महँ मोहीं। सरवर सूखि गएउ बिनु तोहीं।
केलि जो करत हँस उड़ि गएऊ। दिनअर मीत सो बैरी भएऊ।
गए भीर तजि पुरइनि पाता। मुइउँ धूप सिर रहा न छाता।
भइउँ मीन तन तलफै लागा। बिरहा आइ बैठ होइ कागा।
काग चोंच तस साल न नाहाँ। जसि बँदि तोरि साल हिए माहाँ।
कहेउँ काग अब लै तहँ जाहीं। जहँवाँ पिउ देखै मोहि खाहीं।
काग निखिद्ध गीध अस का मारहिं हौं मंदि।
एहि पछताएँ सुठि मुइउँ गइउँ न पिय सँग बंदि ॥६४३॥

अर्थ--(१) [पद्मावती ने कहा,] "हे प्रिय, तुम्हारी नौका तो इस प्रकार भँवर में पड़ी, और अब अपनी कमलिनी स्त्री का दुःख सुनो। (२) तुम मुझे सरोवर में छोड़ गए, और वह सरोवर तुम्हारे बिना सूख गया। (३) जो हंस उस सरोवर में केलि करता था, वह उड़ गया, और जो दिनकर [जैसा] मित्र था, वह भी वैरी हो गया। (४) इस भीड़ (संकट) को त्याग कर पुटकिनी के पत्र भी चले गए (न रह गए), और जब उनका छत्र सिर पर न रहा तो, मैं धूप में मर गई। (५) मैं तो मछली हो गई और मेरा शरीर तड़पने लगा; और विरह कौआ होकर [मेरे शरीर पर] आ बैठा। (६) किन्तु कौए की चंचु उस प्रकार नहीं साल रही थी, जैसा तुम्हारा बन्दी होना मुझे मेरे हृदय में साल रहा था। (७) कौए से मैंने कहा, "मुझे, अब तू वहाँ ले जा, जहाँ मेरे प्रिय मुझे देखें और तू मुझे वहाँ खा।" (८) किन्तु मैं ऐसी मंद ठहरी कि निषिद्ध पक्षी कौए, गिद्ध भी मुझे क्या (किस हेतु) मारते? (९) मैं इसी पछतावे में अत्यधिक मरती रही कि मैं भी प्रिय के साथ बन्दी हो कर न गई।"

टिप्पणी--(१) बेरा<बेडा [दे०]=नौका, जहाज। (३) दिनअर<दिनकर =सूर्य। (४) पुरइनि<पुडइणी<पुटकिनी=नलिनी लता। (६) चोंच<चञ्चु। साल्=शल्य(काँटे) की भाँति चुभना, कष्ट पहुँचना। (८) निखिद्ध<निषिद्ध= जिस के स्पर्शादि का निषेध हो।

तेहि ऊपर का कहौं जो मारी। बिखम पहार परा दुख भारी।
दूति एक देवपाल पठाई। बाँभनि भेस छरै मोहिं आई।
कहै तोरि हौं आदि सहेली। चलु लै जाउँ भँवर जहँ बेली।
तब मैं ग्यान कीन्ह सतु बाँधा। ओहि के बोल लागु बिख साँधा।
कहेउँ कँवल नहिं करै अहेरा। जौं है भँवर करिहि सैं फेरा।
पाँच भूत आतमा नेवारेउँ। बारहिं बार फिरत मन मारेउँ।

औ समुझाएउँ आपन हियरा । कंत न दूरि अहै सुठि नियरा ।
बास फूल घिउ छीर जस निरमल नीर मँठाहँ ।
तैस निकट घट पूरुख ज्यों रे अगिनि कठाहँ ॥६४४॥

अर्थ--(१) "और उस [दुःख] के ऊपर जो मार पड़ी, उसको क्या कहूँ ? भारी दुःख का विषम पर्वत ऊपर आ पड़ा। (२) देवपाल ने एक दूती भेजी, वह ब्राह्मणी के वेष में मुझे छलने के लिए आई। (३) वह कहने लगी, 'मैं तेरी आदि की सहेली हूँ। ऐ वल्लरी, चल, मैं तुझे ले चलूँ जहाँ वह भ्रमर (देवपाल) है।" (३) तब मैंने ज्ञान [उत्पन्न] किया और सत बाँधा, [क्योंकि] उसके बचनों में मुझे विष मिला हुआ ज्ञात हुआ। मैं ने कहा, 'कमलिनी आखेट नहीं करती है, यदि वह भ्रमर है तो स्वयं फेरा करेगा (आएगा)'। (६) मैं ने [शरीर के] पंचभूतों और आत्मा को निवारण किया, और बार-बार फिरते (डोलते) हुए मन को मारा। (७) मैं ने अपने हृदय को समझाया, 'कान्त (प्रिय) दूर नहीं है, अत्यधिक निकट है। (८) फूल में जिस प्रकार वासना होती है, दूध में घी होता है, और मठे में निर्मल नीर होता है (९) और जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि होती है, उसी प्रकार निकट ही घट में वह पुरुष भी है।"

टिप्पणी--(३) बेली<वेली [दे०]=लता। (४) साँधा<संधिअ<संहित=जोड़ा हुआ, लगाया हुआ। (५) अहेर<आखेट। सैं<स्वयं। (७) निअर<णिअड=निकट। (८) छीर<क्षीर=दूध। मठा<मट्ठ<मृष्ट=मसृण, चिकना, मट्ठा। (९) कठ<कट्ठ<काष्ठ=लकड़ी।

अंतिम पंक्तियों में प्रत्येक अंतःकरण में स्थित परमात्मा की ओर संकेत किया गया है।

सुनि देवपाल राव कर चालू । राजहिं कठिन परा जिय सालू ।
दादुर पुनि सो कँवल कहँ पेखा । गादुर मुख न सूर कर देखा ।
अपने रँग जस नाँच मँजूरु । तेहि सरि साध करै तँवचूरु ।
जब लहि आइ तुरुक गढ़ बाजा । तब लगि धरि आनौं तौ राजा ।
नींद न लीन्ह रैनि सब लागा । होत बिहान जाइ गढ़ लागा ।
कुंभलनेर अगम गढ़ बाँका । बिखम पंथ चढ़ि जाइ न झाँका ।
राजहि तहाँ गएउ लै कालू । होइ सामुँह रोपा देवपालू ।
दुवौ लरै होइ सनमुख लोहें भएउ असूझ ।
सतुरु जूझि तब निबरै एक दुहुँ महँ जूझ ॥६४५॥

अर्थ--(१) देवपाल राय की यह चाल सुन कर राजा के जी में कठिन साल उठ पड़ा। (२) [उसने कहा,] "दादुर (मेंढक) और वह भी कमलिनी को देख रहा है (उस पर दृष्टि डाल रहा है)! गादुर (चमगीदड़) कभी सूर्य का मुख नहीं देख सकता है। (३) मयूर जिस प्रकार अपनी उमंग में नाचता है, उसके सदृश नाचने की साध ताम्रचूड़ कर रहा है! (४) जब तक (जितनी देर में) आ कर तुर्क गढ़ में पहुँचते हैं, तब तक मैं उसे पकड़ लाऊँ, तो मैं राजा हुआ।" (५) उसने निद्रा नहीं ग्रहण की, सारी रात वह जागता रहा। सबेरा होते ही वह कुंभलनेर गढ़ जा लगा (पहुँचा)। (६) कुंभलनेर का गढ़ अगम्य और बाँका था, उसका मार्ग विषम था और उस पर

चढ़ कर [नीचे] झाँका न जा सकता था। (७) राजा (रतनसेन) को वहाँ काल ही ले गया। वहाँ पर सम्मुख हो कर देवपाल ने अपने आप को रोपित किया [और उसका मोर्चा लिया]। (८) दोनों ही सेनाएँ आमने-सामने हुईं, और लौह (शस्त्रास्त्र) [के चलने] से वहाँ असूझ हो गया। (९) इन [परस्पर के] शत्रुओं का युद्ध तभी निबट सकता था जब कि दोनों में से एक जूझ जाता (लड़ मरता)।

टिप्पणी--(१) साल<सल्ल<शल्य=काँटा, चुभने वाली वस्तु अथवा उसकी पीड़ा। (२) पेख्<प्रेक्ष्=देखना। (३) मंजूर<मयूर=मोर। सरि<सदृश। साध<सद्धा<श्रद्धा=इच्छा। तवँचूर<ताम्रचूड=कुक्कुट। (४) बाज्<वज्ज्<व्रज=जाना, पहुँचना। कुँभलनेर=चित्तौर के पास का एक स्थान, जहाँ का शासक इस रचना के अनुसार देवपाल राय था। (९) निबर्<णिवट्ट<नि+वृत्=निवृत्त होना, निबटना।

चढ़ि देवपाल राउ रन गाजा। मोहि तोहि जूझि एकौंझा राजा।
मेलेसि साँगि आइ बिख भरी। मेंटि न जाइ काल की घरी।
आइ नाभि तर साँगि बईठी। नाभि बेधि निकसी जहँ पीठी।
चला मारि तब राजैं मारा। कंध टूट धर परा निनारा।
सीस काटि कै पैरीं बाँधा। पावा दाउँ बैर जस साँधा।
जियत फिरा आइउ बलु हरा। माँझ बाट होइ लोहैं घरा।
कारी घाउ जाइ नहिं डोला। गही जीभ जम कहै को बोला।
सुद्धि बुद्धि सब बिसरी बाट परी मँझ बाट।
हस्ति घोर को काकर घर आना कै खाट ॥६४६॥

अर्थ--(१) देवपाल राय ने रण में चढ़ कर गर्जन किया, "ऐ राजा, मेरा-तेरा युद्ध अकेले-अकेले का हो।" (२) [यह कह कर] उसने आकर विषभरी साँग छोड़ी, और [किसी की] काल की घड़ी मिटाई नहीं जा सकती है। (३) वह साँग आकर [रतनसेन के] नाभि के नीचे बैठी (लगी) और उसकी नाभि विद्ध कर जहाँ पीठ थी, वहाँ जा निकली। (४) जब वह इस प्रकार मार चला, तब राजा (रतनसेन ने) [खड्ग] मारा, जिसके परिणाम-स्वरूप [देवपाल का] कंधा टूट गया और धड़ [कट कर] अलग जा पड़ा। (५) [देवपाल का] सिर काट कर रतनसेन ने अपने घोड़े के पायदान में [बाँधा]; देवपाल ने जैसा वैर किया था, वैसा ही दाँव (बदला) भी उसने पाया। (६) रतनसेन जीता लौटा, किन्तु उसका आयुर्बल हरा जा चुका था, अतः बीच रास्ते में ही वह लौह (साँगी) [के विष पूरित घाव] के द्वारा पकड़ा गया (आक्रान्त हो गया)। (७) उस काले सर्प [जैसी साँगी] के घाव के कारण उससे हिला नहीं जा रहा था, और यम (काल) ने उसकी जिह्वा पकड़ ली थी, इसलिए कौन कोई वाक्य कहता? (८) उसकी सुधि-बुधि सब विस्मृत हो गई, और मार्ग में ही [उसके प्राणों पर] डाका पड़ गया। (९) हाथी-घोड़े कौन किस के हुए हैं? उसे खाट पर करके घर लाया गया।

टिप्पणी--(१) गाज्<गज्ज्<गर्ज=गर्जन करना। एकोंझा [<एक=अकेला, अवज्जस्=जाना, गमन करना]=एक ही एक के जाने का क्रम। (४) धर=धड़।

पंरी<पदत्री = पायदान । साँध्<सं+धा = लगाना, मिलाना । (५) आइउ<आयु । (६) कारी<कालीय=कराइत सर्प । (८) बाट्<वट्ट<वर्त्म=[१] रास्ता, [२] बटपारी, राहज़नी, डाका ।

तेहि दिन साँस पेट महँ रही । जौ लगि दसा जियन की रही ।
काल आइ देखराई साँटी । उठि जिउ चला छाँड़ि कै माँटी ।
काकर लोग कुटुँब घरबारू । काकर अरथ दरव संसारू ।
ओहि घरी सब भएउ परावा । आपन सोइ जो बेरसा खावा ।
अहे जो हितू साथ के नेगी । सबै लाग काढ़ैं पै बेगी ।
हाथ झारि जस चला जुवारी । तजा राज होइ चला भिखारी ।
जब हुत जीव रतन सब कहा । जौं भा बिन जिय कौड़ि न लहा ।
　　गढ़ सौंपा बादिल कहँ किए तिलक सब देउ ।
　　छाँड़ी लंक भभीखन जेहि भावै सो लेउ ॥६४७॥

अर्थ--(१) उस दिन [उस समय तक] रत्नसेन के पेट में श्वास रही जब तक उसकी जीवन की दशा थी। (२) [तदनंतर] काल ने आकर अपनी साँटी (चाबुक) दिखाई और रत्नसेन का जीव उसकी मिट्टी को छोड़ उठ चला । (३) लोग, कुटुंब, घर-द्वार किस के होते हैं, और किसके अर्थ, द्रव्य तथा सांसारिक वैभव होते हैं? (४) उसी घड़ी [जब जीव जाता है] सब कुछ पराया हो जाता है, अपना वही होता है जो जीवन में भोगा और खाया जा चुका है । (५) [इसके पूर्व] जो अपने हित, साथी और आश्रित थे, वे ही सब, हो न हो, शीघ्र [मृत शरीर को] निकालने लगते हैं । (६) अब राजा हाथ झाड़ कर जुआड़ी की भाँति चल पड़ा, राज्य छोड़ कर और भिखारी हो कर वह चल पड़ा । (७) जब तक शरीर में जीव था, उसे रत्नसेन कहते थे, और जब [शरीर] बिना जीव का हो गया, तो वह कौड़ी मूल्य का भी न रहा । (८) [राजा ने मरते समय] चित्तौर गढ़ बादल को सौंपा, और सब देवों (हिन्दू सामन्तों) ने बादल को तिलक किया । (९) जब विभीषण ने लंका छोड़ दी, तब जिसे अच्छा लगे, वह उसे ले ।

टिप्पणी--(२) साँटी<सटा=जटा, चाबुक । (३) बार<वार<द्वार । (४) बेरस्<विलस्=विलास करना, भोग करना। (५) नेगी<नैगमिक= निगम या नगर के कर्मचारी, कर्मचारी । (८) टीका=तिलक । (९) भभीखन =विभीषण ।

पदुमावति नइ पहिरि पटोरी । चली साथ होइ पिय की जोरी ।
सूरुज छपा रैनि होइ गई । पूनिउँ ससि सो अमावस भई ।
छोरे केस मोंति लर छूटे । जानहुँ रैनि नखत सब टूटे ।
सेंदुर परा जो सीस उघारी । आगि लाग जनु जग अँधियारी ।
एहि देवस हौं चाहति नाहाँ । चलौं साथ बाहौं गल बाहाँ ।
सारस पंखि न जियै निनारे । हौं तुम्ह बिनु का जियौं पियारे ।
नेवछावरि कै तन छिरिआवौं । छार होइ सँग बहुरि न आवौं ।

दीपक प्रीति पतंग जेउँ जनम निबाह करेउँ ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ कंठ लागि जिउ देउँ ॥६४८॥

अर्थ––(१) पद्मावती नई पटोरी (रेशमी ओढ़नी) पहन कर प्रिय के साथ उसकी संगिनी (सहगामिनी) बन कर चली। (२) सूर्य (पति) छिप गया तो [स्त्री के लिए] रात्रि हो गई, जो [पद्मावती] पूर्णिमा की शशि थी वही अब अमावस्या की अंधकारमयी रजनी हो गई । (३) उसने बाल खोल दिए, [और उसमें गूथी हुई] मोतियों की लड़ियाँ [इस प्रकार] खुल (बिखर) गईं मानो रजनी में समस्त नक्षत्र टूटे पड़े हों। (४) उसके सिर को उघाड़ कर जो सिन्दूर डाला गया, उससे ऐसा लग रहा था मानो जगत् की अँधेरी रात्रि में आग लग गई हो। (५) [पद्मावती ने कहा,] "नाथ, मैं यही दिन चाहती थी कि तुम्हारे गले में तुम से [अपनी] बाहें वहन कराऊँ और तुम्हारे साथ चलूँ। (६) सारस पक्षी [जोड़ी से] अलग हो कर नहीं जीती है ; मैं भी [उसी प्रकार] हे प्यारे तुम्हारे बिना क्या जीवित रहूँ ? (७) इस शरीर को [तुम पर] न्यौछावर कर मैं [अपने शरीर को] बिखेरना चाहती हूँ ; [चाहती हूँ कि] यह तुम्हारे साथ राख हो जाए और मैं पुनः [इस जगत् में] न जाऊँ। (८) दीपक तथा पतिंगे की प्रीति की भाँति ही मैंने जन्म भर [प्रीति का] निर्वाह किया। (९) अब तुम्हारे चारों ओर न्योछावर हो कर और तुम्हारे गले लग कर मैं जीव (प्राण) दे रही हूँ।"

टिप्पणी––(१) पटोर<पट्ट+कूल=रेशमी ओढ़नी (दे० ३२९.१)। (२) पूनिउँ<पूर्णिमा। (५) बाह्<वाहय्=वहन करना। (६) निनार<णिण्णार<निर्नगर (?)=बाहर या अलग। पिआर<प्रियालु=प्यारा।(७) नेवछावरि<णिवच्छ+आवलि=वारे या उतारे गए पदार्थों का समूह।

नागमती पदुमावति रानीं । दुवौ महासत सती बखानीं ।
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं । औ सिवलोक परा तिन्ह डीठी ।
बैठौ कोइ राज औ पाटा । अंत सबैं बैठिहि एहि खाटा ।
चंदन अगर काढ़ि सर साजा । औ गति देइ चले लै राजा ।
बाजन बाजहिं होइ अकूता । दुऔ कंत लै चाहहिं सूता ।
एक जो बाजा भएउ बियाहू । अब दोसरें होइ ओर निबाहू ।
जियत जो जरहिं कंत की आसा । मुँए रहसि बैठहिं एक पासा ।
आजु सूर दिन अँथवा आजु रैनि ससि बूड़ि ।
आजु नाँचि जिय दीजिअ आजु आगि हम जूड़ि ॥६४९॥

अर्थ––(१) नागमती और पद्मावती रानियाँ, दोनों महासत्यनिष्ठ और सती कही जाती थीं। (२) दोनों [रत्नसेन की] खाट पर आ बैठीं और उनको शिवलोक दिखाई पड़ने लगा। (३) राज्य और सिंहासन पर कोई भी बैठे, अन्त में सभी इसी मरण-शय्या पर बैठते हैं। (४) चन्दन तथा अगुरु निकाल कर चिता सजाई गई, और लोग राजा [के शव] को गति देने के लिए ले चले। (५) बाजे अकूत (अगणित) हो कर बज रहे थे, और दोनों [रानियाँ] कान्त (पति) को लेकर [चिता पर] सोना चाहती

थीं। (६) एक [बार] जो बाजा बजा था, उस से विवाह हुआ था, अब दूसरे [बार के] बाजे से अन्त (जीवनान्त) का निर्वाह हो रहा है। (७) जो सतियाँ कान्त की आशा में [उसके विरह में] जीवित जलती हैं, वे उसके मरने पर हर्षपूर्वक। [उसके साथ] एक पास बैठती हैं। (८) [उन्होंने कहा,] "आज दिन ही में सूर्य अस्त हो गया, आज रात्रि ही में चन्द्रमा डूब गया। (९) आज हम [हर्षपूर्वक] नृत्य करते हुए प्राण देंगी, आज आग हमारे लिए ठंडी है।"

टिप्पणी--(१) बख़ान्=वक्खाण<व्याख्यानय्=वर्णन करना। (२) खाट<खट्वा=चारपाई। (३) पाट्<पट्ट=फलक, सिंहासन। (४) सर<शर=चिता। (५) अकूत=जिसका कूत (अनुमान) न किया जा सके, अगणित। (६) ओर<अवर<अपर=दूसरा छोर, अंत। रहस<रभस्=हर्ष, आनन्द। (८) अँथव्<अस्तम्+इ= अस्त होना, डूबना। (९) जूड़=ठंडा।

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भाँवरि दीन्हा।
एक भँवरि भै जो रे बियाहीं। अब दोसरि दै गोहन जाहीं।
लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ीं दुवौ कंत कँठ लाई।
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाईं। मुए कंठ नहिं छाँड़हिं साँई।
औ जौ गाँठि कंत तुम्ह जोरी। आदि अंत दिन्हि जाइ न छोरी।
एहि जग काह जो आथि निआथी। हम तुम्ह नाहँ दुहूँ जग साथी।
लागीं कंठ आगि दै होरीं। छार भईं जरि अंग न मोरीं।
रातीं पिय के नेह गइँ सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अँथवा रहा न, कोइ संसार ॥६५०॥

अर्थ--(१) चिता रच कर उन्होंने बहुतेरा दान-पुण्य किया, औ तदनंतर सात बार [पति के शव की] भाँवरे दीं। (२) एक बार भाँवरें तब हुई थीं जब वे ब्याही गई थीं, अब दूसरी बार भाँवरें दे कर वे [इस संसार से] पति के साथ जा रही थीं। (३) ले जा कर चिता के ऊपर उन्होंने वह खाट बिछाई और दोनों पति को गले लगा कर लेट गईं। (४) [उन्होंने कहा,] "जीवित अवस्था में, ऐ कान्त, तुमने हमें कंठ से लगाया था, तो तुम्हारे मृत होने पर हम तुम्हारा कंठ नहीं छोड़ेंगी। (५) और जो गाँठ तुमने, ऐ कान्त, हमसे जोड़ी थी, वह आदि और अन्त के लिए दी थी और वह खोली नहीं जा सकती है। (६) इस जग में क्या है? जो 'अस्ति' है वह भी 'नास्ति' है (जो अस्तित्ववान् ज्ञात होता है वह भी अन्त में अस्तित्वहीन ही हो रहता है)। किन्तु हम और तुम, हे नाथ, दोनों जगत् में साथी रहेंगे।" (७) वे होली की आग देकर [पति के] कंठ लग गईं, और [जल कर] राख हो गईं किन्तु उन्होंने शरीर को न मोड़ा। (८) वे प्रिय के स्नेह में अनुरक्ता [इस लोक से] गईं और [उनके जाने से] आकाश रक्त वर्ण का हो गया। (९) जो उदय हुआ, वह अस्त भी हुआ है, संसार में कोई [बना] नहीं रहा है।

टिप्पणी--(१) सर<शर=चिता। भाँवरि<भ्रामरी=फेरा। (२) गोहन=साथ। (३) पौढ़्=लेटना। (४) साइं=स्वामिन्। (५) गाँठि<गंठि<ग्रन्थि=विवाह के

समय की ग्रंथि । (५) आथि<अस्ति । निआथि<नास्ति । छार<क्षार=राख ।(९) उव<उग<उद्+गम्=उदय होना । अँथव्<अत्थम<अस्तम+इ=अस्त होना, डूबना ।

ओइ सहगवन भईं जब ताईं । पातसाहि गढ़ छेंका आई ।
तब लगि सो औसर होइ बीता । भए अलोप राम औ सीता ।
आइ साहि सब सुना अखारा । होइ गा राति देवस जो बारा ।
छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी । दीन्हि उड़ाइं पिरिथमी झूठी ।
जौ लगि ऊपर छार न परई । तब लगि नाहिं जो तिस्ना मरई ।
सगरैं कटक उठाई माँटी । पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़ घाटी ।
भा ढोवा भा जूझि असूझा । बादिल आइ पँवरि होइ जूझा ।
जौंहर भईं इस्तिरी पुरुख भए संग्राम ।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम ॥६५१॥

अर्थ--(१) [वे रानियाँ] जब तक में पति के शव के साथ सती हुईं, बादशाह ने आकर [चित्तौर] गढ़ को घेर लिया । (२) किन्तु तब तक वह समारोह हो बीता था, राम और सीता (रत्नसेन और पद्मावती) [जल कर] लुप्त हो चुके थे । (३) बादशाह ने आकर वह समस्त अखाड़ा (अखाड़े का विवरण) सुना, [और उसने कहा] "वह हो ही गया जिसका निवारण मैं रात-दिन करता रहा था !" (४) उसने एक मुट्ठी धूल उठा ली, और पृथ्वी को झूठी क़रार देते हुए उसे उड़ा दिया । (५) [उसने कहा,] "जब तक [मनुष्य के] ऊपर [उसके मरने और धरती में गाड़े जाने पर] धूल नहीं पड़ती है, तब तक ऐसा नहीं होता है कि उसकी तृष्णा मरे ।" (६) समस्त सेना ने मिट्टी उठाई, और जहाँ जहाँ पर गढ़ की घाटी थी, वहाँ-वहाँ पुल बाँधा । (७) ढोवा हुआ (सैनिक सहायता हुई) और असूझ युद्ध हुआ ; बादल [गढ़ की] पौरि पर हो (आ) कर जूझा (लड़ मरा) । (८) स्त्रियों ने जौहर (अग्नि में प्राण प्राण-विसर्जन) किया और पुरुषों ने संग्राम (लड़ते हुए प्राण-विसर्जन) किया । (९) बादशाह ने गढ़ को तोड़ डाला और चित्तौर में इस्लामी शासन हो गया ।

टिप्पणी--(१) सहगवन<सहगमन=पति के शव के साथ जलना । (२) औसर <अवसर=[नृत्य गीतादि का] समारोह । (३) अखारा<अक्षवाटक । आघाट = नर्तक-गायकादि की मंडली, अथवा नृत्य-गीतादि का आयोजन । बार्<वारय्=निवारण करने (४) छार<क्षार=राख, धूल । (६) घाटी=उत्तरण के उपयुक्त स्थल । (७) ढोवा= सैनिक पुञ्जीकरण, सैनिक सहायता । पँवरि<प्रतोली=मुख्य द्वार । (९) चूर्< चूरय्< चूर्णय्=चूर-चूर करना, तोड़ना ।

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा । सुना सो पेम पीर गा पावा ।
जोरी लाइ रकत कै लेई । गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ।
औ मन जानि कबित अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा । कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा ।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ।

कहँा सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ।
केइँ न जगत जस बेंचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ॥६५२॥

अर्थ--(१) मुहम्मद [जायसी] ने इस कविता को जोड़ कर (बना कर) सुनाया, और जिसने इसे सुना, वह प्रेम की पीड़ा पा [ले] कर गया। (२) [यह रचना] उसने रक्त की लेई लगाकर जोड़ी है, जो गाढ़ी प्रीति के नेत्र-जल (अश्रुओं) से भिगोई हुई थी। (३) और मन में यह जान कर ऐसा कवित्व किया कि संभव है यह जगत् में उसके चिह्न के रूप में रह जाए। (४) अब रत्नसेन जैसा राजा कहाँ है? और कहाँ [वैसा] सुआ है, जिसने ऐसी बुद्धि (युक्ति) निर्मित की थी? (५) अलाउद्दीन सुल्तान अब कहाँ है? और कहाँ वह राघव है जिसने [पद्मावती का] वर्णन किया था? (६) और कहाँ वह रूपवती पद्मावती रानी है? जगत् में कोई भी नहीं शेष रहा है, केवल उसकी कहानी शेष रही है। (७) वह पुरुष धन्य है, जिसका यश और जिसकी कीर्ति [शेष] हैं। [सुगन्ध युक्त] फूल [सूख कर] मर जाता है, किन्तु उसकी वासना नहीं मरती है। (८) संसार में किसने नहीं यश को बेचा और किसने नहीं उसे मोल लिया--किसने यश का सौदा नहीं किया? (९) जो इस कहानी को पढ़ेगा, वह मुझे दो वाक्यों में स्मरण करेगा।

टिप्पणी--(१) कबि<कविता (दे० २०७, २१.१, २३.१, २४.६)। (२) लेई<लेह्य=काग़ज जोड़ने के लिए मैदे या आटे से बना एक लेह। (३) कबित<कवित्व। (४) उपराज<उपरच्=निर्माण करना। (५) बखान<वक्खाण<व्याख्यान=वर्णन। (९) सँवर्<समर्<स्मृ=स्मरण करना।

मुहमद बिरिध बएस अब भई । जोबन हुत सो अवस्था गई ।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू । दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू ।
दसन गए कै तुचा कपोला । बैन गए दै अनरुचि बोला ।
बुद्धि गई हिरदै बौराई । गरब गएउ तरहुँड़ सिर नाई ।
सरवन गए ऊँच दै सुना । गारौ गएउ सीस भा धुना ।
भँवर गएउ केसन्ह दै भुआ । जोबन गएउ जियत जनु मुआ ।
तब लगि जीवन जोबन साथाँ । पुनि सो मींचु पराए हाथाँ ।
बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस ।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह केइँ यह दीन्ह असीस ॥६५३॥

अर्थ--(१) मुहम्मद [जायसी] कहता है, अब [मेरी] वृद्धावस्था हो गई; जो यौवन था, वह अवस्था चली गई। (२) बल गया तो वह शरीर को क्षीण करके गया; दृष्टि गई तो वह नेत्रों में [दृष्टि-क्षीणता का] पानी दे करके गई। (३) दाँत गए तो कपोलों को त्वचा मात्र करके गए, और बचन गए (शुद्ध-शुद्ध उच्चारण गया) तो वे भी अरुचि पूर्ण बोल (उच्चारण) दे करके गए। (४) बुद्धि गई, तो वह हृदय को बावला करके गई, और गर्व गया तो वह सिर को नीचे की ओर झुका करके गया। (५)

श्रवण गए तो [कानों को] ऊँचा दे करके सुनता हूँ; शरीर की गुरुता गई, तो सिर धुना (पिटा) [-सा] हो गया है। (६) केशों का कालापन गया, तो वह केशों को भुए की सफ़ेदी दे करके गया, और यौवन गया तो मैं मानो जीवित ही मृतक हूँ। (७) जीना तभी तक [जीना] है जब तक यौवन का साथ है, उसके बाद तो मृत्यु ही है, यदि दूसरे के सहारे [जीना] रहा। (८) वृद्ध जो सिर हिलाता है, वह इसी रिस से सिर धुनता है, (९) कि 'तुम वृद्ध हो और आढ्य हो', यह आशीर्वाद उसे किसने दिया था ?

टिप्पणी—(१) **बएस<वयस्=अवस्था।** (२) **खीन<क्षीण।** (३) **बैन<वयन <वचन।** (५) **गारौ<गौरव=गुरुता।** (६) **भुआ<भूत=कास के फूल जो श्वेत होते हैं।** (७) **साथ<सत्थ<सार्थ = प्राणि-समूह।** (९) **आढ<आढिअ<आदृत=सत्कृत, सम्मानित।**

शब्दानुक्रमणी

[इसमें टिप्पणी में आए हुए समस्त शब्द संकलित हैं। स्थल-संकेत की संख्याएँ क्रमशः छंद तथा उसकी पंक्तियों की हैं।]

५१५.३
अछरी<अप्सरस्=अप्सरा ३२.८ ४९.१, ९५.५, १९४.२, ४२९.४, ४४४.३
अछवाई=स्वच्छता ४६३.५, ४६५.२
अछूत<अस्पृष्ट १०६.५, ५९०.१
अजरावर<अजरामर=जरा-मृत्यु से परे ५२५.९,
अजुगत<अयुक्त=अयोग्य ४५०.४
अजैगिरि=स्थान विशेष ५००.५
अठखँभा=आठखंभों का कक्ष ३३०.१
अड़ा<अड्ड [दे०]=आड़ ७१.४
अडार्=डालना १०३.५, ४५१.५
अढ़व्=किसी कार्य के लिए नियुक्त करना ३५८.८
अत<इयत्=इतना ५१.४, ५१.८
अतिवानी<अतिवर्णिन्=अति के साथ होने वाला ३४५.१
अत्र<अस्त्र १०१.६, २६४.४
अदल [अ०]=न्याय १२.३
अदेस<आदेश=प्रणाम ९१.५, १३०.९, ३१०.९
अद्रा<आर्द्रा=वर्षा का प्रथम नक्षत्र ३४३.९, ३४४.४, ६३८.२
अधर=शरीर का नीचे का भाग ६३२.५
अधारी=योगियों की एक लकड़ी ३६१.७, ६०१.५, ६०३.३, ६०६.९
अनत<अन्यत्र ३४६.२
अनवन<अण्णवण्ण<अन्यवर्ण=अद्भुत वर्ण का ३७.४, ४८.५, ३२९.८
अनभला<अभद्र ६९.३
अनवट<अङ्गुष्ठ ११८.७, २९९.८
अनियाउ<अन्याय ९२.९ १९८.७,
अनिरुद्ध=प्रद्युम्नपुत्र २३३.७ २७४.३, २७४.४
अनी<अनीक=सेना १०४.१, ५१५.६ ५१९.६, ५२३.९
अनु=अवश्य, अनुमोदनात्मक अव्यय १८१.६, २०४.१, २१९.१, २५८.१, ३०५.१, ३०७.१, ३२६.१, ३७६.१, ३७६.४, ४१२.१, ४१६.१, ४३१.४, ४३५.१, ४४०.१, ४६२.१, ५३६.१, ५३७.१, ५६६.२
अन्हान<स्नान २९७.२
अपघात<अप्पघात<आत्मघात ४०९.६
अपछरा<अप्सरस्=अप्सरा २०९.३
अपराध=असफलता, असफलता-जनित कष्ट ५७२.९
अपसव्<अपसृ=हट जाना, भाग जाना १०३.२, २०३.७, २५८.४, ३०६.४, ६३१.५
अपाना<अप्पणय<अप्प+तणय (?)=अपना ७२.७
अपूर्<आपूरय्=आपूरित करना १६४.४, २१३.५, ३४६.८, ५१०.५, ५११.९
अबरन<अवर्ण=वर्णहीन ७.१
अबाबकर<अबूबक्र=मुसलमानों के एक खलीफ़ा १२.२
अभरक<अभ्रक २९४.७
अभरन<आभरण ८७.९, १११.८, १३३.४, २९५.७
अभाअ<अभाग=अयुक्त, अयोग्य अथवा बुरे स्थान का २६५.१, २७६.५
अभेरा=भिड़ंत ४३५.६
अभोग<अभोग्य १११.८
अमी<अमिअ<अमृत ७९.६
अमुरुख<मूर्ख ४०७.६
अमोल<अमोल्ल<अमूल्य १०९.१
अयान<अज्ञान १२४.८
अयूब=कोई पूर्ववर्ती मुसलमान वीर ६३५.३
अरंभ<आरभ्=आरंभ करना ४०२.८
अरगजा=एक प्रकार का सुगंधित लेप २८५.१, ३१८.९, ३२३.८, ३२८.८,

५६५.१

अरगला<अर्गला २६७.२

अरघ<अर्घ्य ३२८.६

अरघानि<आघ्राण=सुगंध ९९.३, ११७.९, १७८.८

अरजुन=महाभारत का प्रसिद्ध योद्धा ६११.४

अरथ जूझ<अर्थ युद्ध=शास्त्रार्थ १०८.७

अरदासि<अर्ज़दाश्त [फ़ा०]=आवेदन-पत्र ५३२.४, ५३३.१

अरध<अधस्=नीचे ५११.४

अरसी<अतसि=अलसी ३२२.३

अरिहन=शाक के रस को गाढ़ा करने के लिए मिलाया गया वेसन या आटा ५४८.३

अरुझ्<उत्+लुभ्= फँसना, उलझना, ६९.९, ५३३.४

अलँग=पार्श्व ५२२.७

अलख<अलक्ष्य ७.१

अलाई=अलाउद्दीन का ५२९.१

अली=मुसलमानों के चौथे ख़लीफ़ा ६३५.३

अलोप<आलुप्त=आच्छादित ३७२.२

अलोप्<आ+लुप्=आच्छादित होना ४२१.९

अल्हर=नव युवा ४४४.६

अवगाह<अवगाढ़=गंभीर, व्याप्त १.९, १८.७, ३१.१, १२१.९, १४३.१, २१५.६, २३८.२, ३४९.९

अवट्<आउट्ट<आवर्तय्=औटाना २३१.७, ३१३.९

अवधान=धरोहर ५०.६

अवधार्<अवधारय्=प्रस्तुत करना ८०.२

अवन<अवण्ण<अवर्ण=वर्णहीन, चमत्कार-हीन, ओछा २३.१, २६७.५, २८१.७, ४३६.४

अवभोग [<अवभुज्]=स्त्री के पैरों को मोड़ कर सिर की ओर ले जाने की संभोग-मुद्रा २९९.९

अवसान [फ़ा०]=होश-हवास १५५.८

अवास<आवास=भवन १६०.७

असवार<सवार[फ़ा०] २७७.३, २८१.५

असीस<आशिष् ५३.१, ८१.१

असु<अश्व ५१५.१

असुपति<अश्वपति=वह राजा जिसकी अश्व-सेना बलवती हो २६.६

असुमेध<अश्वमेध ३७७.९

असूझ<असुज्झ<अशोध्य=जो देखा-समझा न जा सके १४१.४, १४८.७, १६९.१

अस्तु=[ऐसा ही] हो १५८.४, ६३८.६

अस्थिर<स्थिर १५१.५

अहानि<आख्यान+इका १५.३, १८५.१, ४२६.५

अहिवरन<अहिवण्ण<अभिमन्यु=अर्जुनपुत्र २९४.१

अहिवात=सौभाग्य १३१.९

अहुठ<अर्धचतुर्थ । अध्युष्ठ=साढ़े तीन १२१.८, १२२.५, २६४.९, ५०८.९ ५१८.१, ५२६.८

अहेर<आखेट ३८.४, ८३.१, ३६४.१, ३९०.१, ४८७.५, ६४४.५

आइउ>आयु ६४६.५

आउ<आयु ४२.६, ५७.२, ६९.४, ३७५.८, ४०८.१, ५६१.१

आउझ<आओज्ज<आतोद्य=हुड़ुक की जाति का एक वाद्य ५२७.३

आएसु<आदेश ५६.५, १६.६, ८८.९, ९०.८, १८६.६, ३४०.७, ३७९.८, ५४०.८

आँक्<अंक=तप्त शलाकादि से लगाया गया चिह्न १६९.४, २००.२

आँक्<अंक=अंकित करना, तप्त शला-

कादि से दागना ५२९.७ ६४२.६

आँखि<अक्खी<अक्षि=आँख १३०.४, २१२.२

आँच<अच्चि<अर्चिस्=अग्नि ३०८.४

आँट्=पूरा पड़ना, समा सकना, कर पाना १६६.७, १८८.८ २३४.२, ५५८.५, ५६३.४, ५७४.४, ६२१.८

आँडी<अण्ड=गाँठ ५४५.४

आँत<अन्त्र=अँतड़ी ४६७.६

आँव<आम्र २८.१, ३१६.६

आँसु<अस्सु<अश्रु ६४.५

आक<अक्क<अर्क=मदार ३४६.६

आकर=खान ४७५.८

आख्<अक्खा<आ+ख्या=कहना ५८.३

आखर<अक्खर<अक्षर=अक्षर या वाक्य १९५.३, २००.२, २२४.९,

आगम<आगमन=प्रारंभ २२९.५,

आगर<अग्र=आगे, बढ़ कर, बढ़ा-चढ़ा १६.५, ८४.३, १३१.६, ३११.६, ३५६.२, ३९८.८, ५६०.६,

आगु<अग्ग<अग्र=आगे आने वाली स्थिति, भविष्य ८६.३, ९०.३, १२८.७, १३६.७, १३७.१, २२०.७. २३८.३,

आघ<अग्घ<अर्घ=मूल्य ५७२.९

आघौ<अग्घव=पूर्ति, तृप्ति ५७२.८

आछ्<अस्=२२.७, २४.९, ५५.८, १२८.८, २११.२, २२२.७, ३१०.८, ३७२६, ४१२.६, ५२७.२, ५७२.८, ५९३.२, ६०४.९

आछरि<अच्छरी<अप्सरस् १०२.७, १९०.३, २१०.१, २७७.७, २८२.९ २८९.८, ३८८.५, ४६०.९, ४६१.९, ४६५.२, ४८४.२, ५१८.७, ५६२.१

आढ<आढिअ<आदृत=सत्कृत, सम्मानित ६५३.९

आथ्<अस्=होना १४४.७, ५०९.५

आथि<अस्ति ४०१.८, ६५०.६

आदि=प्रथम, सर्वप्रमुख, १६०.१, १८२.३, ६३०.२

आदि<आर्द्रक=अदरक ५४९.२

आदित<आदित्य=आदित्यवार ३८२.१

आदेस<आदेश=नमस्कार २५८.९

आन्<आण्<आ+नी=लाना ८२.२, ९१,१, २६०.२, २७३.२, ३३०४, ३८६.१, ३९५.४, ४०६.४, ५४६.६

आन<अण्ण=अन्य ५६.१, ७७.३, ३५३.३

आन<आज्ञा=आदेश, सौगन्ध ८३.८, १२८.१, १८१.५, १८४.१

आफ्<अप्प<अर्पय्=अर्पण करना ३१५.९

आमोद=कड़ी सुगंध ५९.९

आर<आरओ<आरतस्=पास में ४३४.९

आरति<आर्ति=दुःख, पीड़ा ३०५.८

आरन<अरण्ण<अरण्य २.५

आरस<आदर्श ५६८.७, ५९४.४

आली<अलि=सखी ३७३.६

आवन<आगमन ३७९.२

आवरि<आवलि ३२.५

आहर<अहल<अफल २०४.६

इंछा<इच्छा १६४.९, १६५.९, १७७.६

इंद<इन्द्र २६.७, ३४१.५, ५१५.४ ६३०.५,

इंबिली<अम्लिका=इमली २८.९

इंगुर<हिंगुल २९४.७

इंदुर=चूहा ४.६

इसकंदर<सिकंदर [फ़ा०]=इस नाम का प्रसिद्ध जगत्-विजेता ४८७.९, ५०९.८ ५३७.३,

उंबर<उदुम्बर ४३६.६, ४४०.७

उकठ<उक्कट्ठ<उत्+कृष्ट=ऐंठा, सूखा, १९९.४

उगव् / उग्गव<उद्गम्=उदित होना,

निकलना १७५.९, ४१८.७

उघर्<उद्+घट्=खुलना २०.७, ४११.३

उघार्<उग्घाड<उद् + घाट्य = खोलना २०३.३, ४०२.१, ५५२.९, ५९०.१

उघेल्<उद्+घाटय् = खोलना ७२.३, २५१.२, ४०६.९, ४३९.२, ४५५.७

उचार्<उच्चालय् = उखाड़ना ६१४.५

उचाव्<उद्+चि = उठाना ३७३.४

उछर्<उच्छल्<उत्+शल् = उछलना ३२६.३

उछार्<उत् + शालय् = उछालना १५.५

उछाह<उत्साह = उत्सव ३९६.७

उजह्<उज्झ् = छोड़ देना ४८४.३

उजार<उज्जड [दे०] = बस्ती रहित स्थान १२५.५

उजारी<उज्जाडिअ [दे०] = उजाड़ा, हुआ ३५३.१

उजिअर<उज्ज्वल ८९.१, १००.२, ५३९.६

उजिआर<उज्ज्वल १६.२, २१.२, ५०.७, ५१.३, ९४.२, ९५.६, ११०.१, १२९.८, १९९.७, १७७.२, ४३१.५ ४४१.६, ४५३.६, ३६७.७

उजिआर<औज्ज्वल्य १८.१, ७३.२, १४५.५, २०३.४, २५०.४, २६०.७, २८३..५, २८९.७, ३३८.१, ३४८.१, ४३२.७, ४४२.२, ४५१.८, ५१८.३, ५३८.४, ५६५.९

उज्यार<उज्ज्वल ११.४, ७२.२

उठ्<उट्ठ<उत्+स्था = उठना, उदित होना १०९.९

उठान<उत्थान ४८३.८

उठौनी<उत्थान = हमला ६३०.७

उड़ैनी<उड्डहण+इका = डकैत स्त्री ४६९.४

उतंग<उत्तुङ्ग = ऊँचा ९४.४, ११३.६, ३६४.२, ४६७.३

उतर<उत्तर ५८.१, ७२.१

उतार्<उत्तार<अव+तारय्=नीचे डालना, ५४५.३

उतिमाह<उत्तमाह = उत्तम दिन ५०.१

उतिराय<उत+तृ=ऊपर आना ६५.५

उदंत = सञ्चाचार, सन्देश २३६.७

उदधि = समुद्र-विशेष ५१६.५, ५२२.२

उदपान = जलपात्र १२६.६

उदस् = बिछाई हुई वस्तु का समेटा जाना ५२९.७

उदासी = उदासीन ३७३.३

उदैगिरि = दक्षिण भारत का एक गढ़ ४९२.१, ४९८.६ ५००.७

उदोत<उद्योत=प्रकाश २८३.६, ३२५.६, ६१२.५

उदौ<उदय ५२.४

उपंग<उपाङ्ग = ढोल की भाँति का एक वाद्य ५२७.५

उपन्<उत्+पत् = जन्म लेना १७.८, ५०.९, ५२.५, १५३.२, १७३.२, १७७.२, १८३.७, २०९.१, २२०.१, २५४.१, ३१५.१, ४१९.२, ५८७.५, ६१०.९, ५६६.५

उपराज्<उपरच् = निर्माण करना ४.८, ११.२, ६५२.४

उपाय्<उप्पाय<उत्+पादय् = उत्पन्न करना ५.५

उपास<उपवास = भूखा रहना २०३.९, ५६३.९

उबट<उव्वट्ट<उद्+वर्त्म = मार्ग से हटा हुआ १३७.२

उबर्<उद्+वृ=शेष रहना, बच रहना ५४२.७

उबार्<उव्वार∠उदवर्तय् = बाहर निकालना ३४४.५, ४५७.६

उभा<उब्भिअ<ऊर्ध्वित = उठा हुआ

२९९.५,

उमत<उम्मत=धर्म, इस्लाम ११.६

उमर=मुसलमानों का एक खलीफ़ा १५.३

उमर<उदुम्बर=गूलर ४१२.२

उरेह्<उल्लिह्<उल्लिख्=रेखांकन करना, ४८.४, १६८.६, ४६८.५, ५९८.६

उरेह<उल्लेह्<उल्लेख=रेखांकन १.३, ४८.४ ४७१.३, ५१०.९, ५५२.६

उलथ्=उल्लस्त होना, ऊपर आकर प्रकट होना ३१.६, १०३.१, १५१.२, ३८९.२, ४७४.८, ६०८.२

उलू<उलूक ८७.५,

उव्<उग्ग्र<उद्+गम्=उगना, उदित होना २१.३, ६७.६, ९५.८, १५९.१, १७२.८, १८१.४, ४२३.९ ५७२.४, ६५०.९

उवट्<उव्वट्<उद्+वर्तय्=ऊँचा उठना २१३.६

उवार्<उव्वार<उद्+वर्तय्=वारना ३२८.६

उषा=अनिरुद्ध-पत्नी १९८.७, २३३.७, २७४.४

ऊखि<इक्षु=ईख ४.४

ऊगव्<उग्ग्<उद्गम्=उगना, उदित होना १०२.९

ऊजर<उज्ज्वल=निर्मल ५४३.४

ऊड्<उड्डी=उड़ना, भागना ५४७.९

ऊभ्<उब्भ<ऊर्ध्वय्=उठना, ऊँचा होना, उभड़ना ९८.१, ११२.९ २५०.२, ४३७.८, ५६४.८

ऊभ<उब्भ<उर्द्धित=उठा हुआ, उभड़ा हुअ ३८१.४, ४३५.४,

ऊभ<उब्भ=उठने की क्रिया उभड़ने की क्रिया २४३.२

ऊसर बगेरी=उसर का एक पक्षी ५४१.४

एक सवदी=एक समय में एक ही बात बोलने का नियम रखने वाला १८२.४

एकौंझा [<एक+अवज्जस् (दे०)= अकेला जाना] एक ही एक के जाने का क्रम ६४६.१

एत्<इयत्=इतना १०.६, १४१.६, ३८८.२, ४५६.१

एँठा<अतिष्ठित=अतिक्रान्त ४२२.४

ऐस<ईदृश्=इस प्रकार का ९८.१, ३९७.१

ऐहिक=इहलोक संबंधी ३६.८

ओछ<उच्छ<तुच्छ ७२.१, २६६.८, ५१९.९, ५५८.७, ५९०.७

ओझा<ओज्झा<उपाध्याय १२०.२, १९२.४

ओठँघ्<अवष्टम्भ्=पीठ टेकना ३६.५

ओड्=आड़ करना, रोकना ४६९.६, ५२०.७

ओड्सा<ओड्र देश=उड़ीसा ४९८.५

ओड़न=ढाल ६३६.६, १०१.१

ओत<तावत्=उतना १०१.१, १४९.३

ओध्<उद्+धा=उठ खड़ा होना २६४.२

ओधा<आविद्ध=बिंधा हुआ २६२.६

ओनंत<उन्नमित ५५.१, ६२.५

ओनव<अवनम्=झुकना, झुक कर नीचे आना २९८.९, ३४४.५ ४२५.३, ५१६.४, ६३१.१, ६३०.१

ओनाय्=सुनना ५३.७, ७४.७, ९५.७, १३६.९, १६८.५, ४९६.८, ५५४.८, ६०३.१

ओनाव्<अवनामय्=नीचे झुकाना ३१६.३, ४४३.९

ओबरी<उव्वरिअ<अपवरिका=भीतर का कक्ष, कोठरी १३३.९, ३३६.५, ५८०.२, ६४२.४

ओर<अवर<अपर=दूसरा छोर, अंत ७४.५, १२२.४, १४४.१, २५२.७,

२७८.२, ५९६.७, ६४९.६

ओरग्<ओलग्ग्<अव+लग्=सेवा करना २६.३, ९९.९, ४४६.१, ४५७.३

ओरगा<ओलग्गा<अवलग्न=सेवक, भृत्य ५२४.६

ओरगाना=सेवक अथवा भृत्य-समुदाय १२८.८

ओराय्<अवयर<अव+तृ=अवतरित होना ३१०.१

ओरी<अपर+इका (?)=छाजन का नीचे का छोर ३४६.५

ओल<ओल्ल=बन्धक ६२२.८

ओला<ओल्ला<आद्रय (?)=हिम ३५१.६

ओस V अवश्याय १३९.३, ४८९.९

ओहट<ओहट्ट [दे०]=अपसृत, ओझल २५५.४

ओहार्<अप+घट्=[परदे से] बन्द करना ३३६.५

ओहार<अवघाटक=पर्दा ६२२.४

औंध्<अव+धा=नीचा करना २६३.१

औगौन<अपगमन=पीछे हटना ५५९.९

औचक्=आश्चर्यचकित होना ५७२.६

औटन<आवर्तन ४२४.४

औट्<आ+वृत्=औटना ३११.३

औसर<अवसर=नृत्य-गीतादि का समारोह ६५१.२

औसि<अवश्य ५८५.६

कंगन<कंकण २९६.५, ३१८.६, ४६०.८

कँचुली<कञ्चुकी=साँप की केंचुल ४२३.३

कंठ=कंठा, कण्ठ-सूत्र ७७.६

कंठसिरी<कण्ठश्री=एक कण्ठाभरण १११.८

कंठा=कण्ठ-सूत्र ९३.६

कँडहार<कर्णधार १८.६

कंत<कान्त=प्रिय, पति ८४.५, ८६.६, ८८.९, १३१.१, २७९.८, २८६.४, ४२९.२

कंथा=गुदड़ों का बना वस्त्र १२४.५, १२६.५, १२९.६, १४३.५, १४६.२, १६७.४, २२८.२, २३७.७, २७६.७, ६०१.३, ६०२.६

कंथी=कंथाधारी योगी आदि ६००.३

कंध<स्कन्ध=पेड़ का वह भाग जहाँ से डालियाँ फूटती हैं ३५६.४

कँवल, कँवला=पद्मिनी २४७.१, ३७७.१

कँवला<कमला=एक प्रकार की नारंगी २४.६

ककनू<क़क़नूस [अ०] पक्षी-विशेष २०५.१

कचपची<कृत्ति-प्रचित=कृत्तिका से समृद्ध नक्षत्रमाला ११०.५, १५९.६, १६०.६, २९७.७, ४७२.४, ४७९.७, ६१५.५

कचूर<कच्चूर<कर्चूर=काली हल्दी ३१०.३

कचोर<कच्चोल<कच्चोलक=कटोरा, प्याला ११३.१, १९४.३, २६९.९, ४१७.५, ४८३.१,

कजरी / कजली वन=कज्जली तीर्थ १३०.७ ४९३.२, ५०९.८

कटकाई<कटकिका=छोटी सेना १२८.१

कटनंस=पक्षि-विशेष ३५८.७

कटवाँ=काटकर पकाया जाने वाल माँस ५४५.२

कटहर<कण्टफल=कटहल २८.२, ४३६.४

कटाख<कटाक्ष ४६९.५, ५६०.६, ६१९.५

कठ<कट्ठ<काष्ठ ६४४.९

कठहँडी<काष्ठ-भाण्डिका २८४.५, ५४९.९ ५६३.५

कठा<कट्ठ<कष्ट ३७०.१

कत<कुतः=किसलिए, कैसे ७२.३, ७८.२, १७२.६, २४३.४

कत<कुत्थ<कुत्र=कहाँ १२३.७, १५४.३,

४४०.६, ४८९.९

कदम<कदम्ब = पुष्प-विशेष ३७७.२

कनउड़ = कृतज्ञ ६२३.९

कनक-पत्र = सोने का पत्र २८३.९

कनक-पत्र = सोने के तारों से बना एक वस्त्र २८३.९, ४०९.४.

कनै = कनक १६०.५, २०६.९ ४०२.७

कपूरकांत = चावल-विशेष ५४४.३

कबि = कविता २०.७, २१.१, २३.१, २४.६, ४४६.४, ४४९.४, ६५२.१

कबित<कवित्व ६५२.३

कबिलास<कैलास = शिवलोक २६.५, २७.१, ३६.२, ४३.४, ४८.१, ४९.१, ५१.३, ९५.१, १४६.६, १५६.९, १६०.४, १९०.३, २०३.७, २०९.७, २१०.४, २७७.७, २८२.८, २८८.९, २८९.१, २९१.१, ३१३.७, ३७८.२, ३८८.५, ४६१.९, ५१८.७, ५५५.८, ५७५.३, ६२४.९

कमेंठ<कमंढ [दे०] = [१] दही का कलश, [२] स्थाली ४८१.८

कमल-पत्र = कमल की पंखुडियाँ ४७४.१, ४७६.६

कमान [फ़ा०] = तोप ५०६.१

कमोद = कुमुद ५९.८, २४९.१, ४६५.८

कया<काया १२७.३, ३८४.८, ४०१.१

कर्<कलय् = पीड़ा पहुँचाना ४७९.३

कर = [१] हाथ, [२] दण्ड ४८३.९

कर = घोड़े के अगले पैर ६४१.२

करन<करण=गति, क्रिया, विधान १०.१

करन<करण=जीविका का साधन ७१.६, ४११.५

करन<कर्ण=महाभारत का प्रसिद्ध योद्धा १७.२, ३४१.५

करनफूल<कर्ण-फुल्ल (?)=करना नामक पुष्प आकार की नकफुल्ली (?)

२९८.४, ४७५.५

करना<कर्ण = पुष्प-विशेष ३७७.७

करबर् = कलबल करना २९.३

करभँज = [१] एक प्रकार का पान, [२] किंगरी को बजाने वाली धनुही ३०९.४

करवत<करपत्र=आरा १००.७, ११४.८, १७२.२, २४६.९, ३०९.६, ४७२.५, ६०३.५

करवार<कृपाण ६३३.४

करसी<कारीस<कारीष=कंडे की आग ११४.८

करह<करभ = हस्ति-शावक १०३.७

करा<कला १६.५, ५२.६, ५७.३, ९६.५, १०१.२, १२०.४, १४३३५, १७७.४, १९५.१, २६७.६, ३०७.२, ३२७.४, ३३८.३, ३७४.२, ४५१.१, ४६०.४, ४६८.८, ४७२.१, ४८०.३, ४८१.२, ५५१.६, ५६५.७, ५६९.९, ५८४.७, ५९७.६

कराह<कडाह<कटाह = कड़ाह १७४.४

करिअ [कट=काष्ठ फलक, बाँस]=पतवार १८.५

करिआ = पतवार पकड़ने वाला १९.९, ५८.९

करिल<करिल्ल [दे०] = काला ६२.४

करिल<करिल्ल<करीर=करील ४२३.५

करिल<कडिल्ल [दे०] = कड़ाह ५४३.३

करिहाउँ<कटि ४१४.२

करि<कलिआ=कलिका ६२.३, ९४.६, ११७.७, १७१.३, १७८.१, १७९.५, १८४.२, २५०.८, ३१७.७, ३२७.४, ३२२.९, ४३८.३, ४४३.६

करील<करिल्ल<करीर ८७.४, ४३४.६, ४.४

करुअ<कटु ४.४, २६९.१, ५४७.२

करुवई = कड़ुआहट ५४८.६

करोइ < करव < करक = जलपात्र विशेष ३६१.७

करोरा < करोडग [दे०] = पात्र-विशेष ५६४.६

कलप् < क्लृप् = कतरना या काटना १७४.२, ३२१.९, ४०८.६

कलप्प < क्लृप्त = कतरा या काटा हुआ १२३.९

कलमुखी < कालमुख = काले मुख की २५७.२

कलव् = आग पर चढ़ा कर कुरकुरा करना ५४८.४

कलस < कलश १९१.८

कलाई < कलाइआ < कलाचिका = प्रकोष्ठ ११२.१, २०६.५, ३१८.६, ४६७.८, ४८२.१

कलि = चैन, सुख ६९.१, २५९.८

कलित = सज्जित ४९७.५

कवर < कवल = ग्रास २८४.९

कस् < कष् = कसना, परखना १७९.४

कसनी = कटि तक पहुंचने वाली एक प्रकार की चोली २८०.४, ३२९.२

कसौटी < कसवट्टिआ < कषपट्टिका ८३.५, १००.३

कहानी < कहाणय < कथानक = प्रसंग या प्रस्ताव १६४.१

काइं < किम् = क्या ५३८.९

काई = दर्पण का मोर्चा २१४.४

काउ < कआ+उ < कदापि ६९.४, ८६.५, २५२.७, ३२१.९, ३८९.३, ५१९.१

काँच < कच्च = शीशा १३३.८, ३७४.३

काँचा < कच्च = कच्चा २३१.३

काँजी < काञ्जिक = कोई रस जिसमें उफान आ गया हो १५२.४

काँट < कण्ट = काँटा १८८.९, ३०५.५, ३७७.८, ४१६.६, ४४९.७

काँठा < कण्ठ = कंठा, गले का एक आभरण ७९.५

काँडी < करण्डिका = कटहरा ५३८.२

काँथरी < कन्था + डी = गूदड़ों का बना हुआ बिछावन १४३.४, २०७.२

काँदन = व्यक्ति-विशेष २२.३

काँदौ < कद्दम < कर्दम = कीचड़ १४.७, ५१८.५

काँध् = कन्धे पर लेना ५८.७, ५३०.२, ६३२.२

काँध < स्कन्ध १५०.७

काँधा = कन्धे पर की साज ५१३.५

काँवरि < कम्बल १२९.६

काँवरि < कम्बिडी = बाँस की एक ऐसी फट्टी जिससे लटका कर बोझा ढोया जाता है ३६२.७-८

काँवरू < कामरूप = असम का प्रसिद्ध स्थान ३६९.३, ४४८.६, ४९८.६, ५८५.२

कागर < काग़ज़ [फ़ा०] १०.२, ३९८.२

काग < काक = कौआ ३५८.२

काछू < कच्छप = कछुआ ५७५.६

काजर रानी = चावल-विशेष ५४४.२

काटर = काटने वाला, बिगड़ैल २७३.६

काठ < काष्ठ १४४.६

काढ़् < कड्ढ + कृष् = खींचना, निकालना ५१.२, ५२.२, ७४.३, १११.२, ११२.४, १५२.२, १५५.९, १८०.३, २००.१, २०७.९, २४६.३, २४९.५, २५८.४, ३४९.१, ३६२.३, ३७३.५, ४०६.२, ४०९.९, ४२४.४, ४५०.३, ४८५.५, ५८६.७, ६२८.६

काढा < कड्ढिय < कृष्ट = निकाला हुआ १०४.७, ४६९.१

काती < कर्त्तरि = कटार २०३.५

काथ < क्वाथ (?) = कत्था ५०१.९

कादर<कातर ४५७.६

कान्ह<कण्ह<कृष्ण ३४१.७

कापर<कप्पड़<कर्पट = वस्त्र २७६.१, ३०८.२, ३३१.८, ५८६.२, ५९७.५

कामता = पूर्व वंग का एक प्रान्त ४९८.६

कायर<कातर १५०.१

कारन<कारण = पीड़ा, वेदना ३६०.३

कारी<कालिमा ४५४.७

कारी<कालीय = कराइत सर्प २६५.३, ६४६.६

कालि>कल्ल<कल्य = कल, आने वाला दिन, बीता हुआ दिन, ६०.५, १९७.३, १९८.१, १९८.९, ४०३.९, ४४७.३, ४९०.३, ४९३.९

कालिंजर = मध्य भारत का स्थान-विशेष ५००.५

कालिंद्री<कालिन्दी = यमुना ११४.६, ५९३.६,

कोह<कथम् = क्या १४३.२, १४८.२, १६६.४, २०४.५ २१०.२,

काहु<कआ+हु<कदा+अपि = कभी भी ८२.९

किआह = किंचित् कालापन लिए हुए लाल रंग का घोड़ा ४६.२

किंगरी<किन्नरी = एक प्रकार की तंत्री १२६.१, १३९.७, १६७.३, १९४.७, २४४.५, ३०९.३, ३६१.३, ६०१.८

कित<कित्त<कुत्र = कहाँ २२.९, ६०.५, ३१५.६

किरीरा<क्रीड़ा ५२.५, १५८.६, ३१७.२, ३१७.३, ३१७.४

किलकिल = हिल्लोल ९४.५, १५५.१, ६३८.६

कुआर = आश्विन मास ३४७.१

कुई<कुमुदिनी ६२.७, ३३२.४

कुंकुहँ<कुङ्कुम = केसर ३७.२, ११४.१, ५४५.३

कुंजल<कुञ्जर १७०.३, ६३४.१

कुंजी = कुञ्चिका २३.४

कुंडर<कुण्डल ११४.७, ११७.१

कुंडि = टोप ६३०.८

कुंत = एक प्रकार का बर्छा ५१८.६

कुंताहल = बर्छे का फल ५२०.६

कुंद्<कुन्थ् = [१] आलिंगन करना [२] कराहना, सीत्कार करना ३३९.८

कुंद = [१] कृश, [२] पुष्प-विशेष ३७७.१

कुंद = खराद १११.२

कुंदन = खरा सोना ४६८.१, ४७९.१

कुंदेरा<कुंदआर<कुन्दकार = कुंदीगर ११२.१, ४८१.१

कुंभकरन = रावण-भ्राता २६५.९

कुंभलनेर = चित्तौर के पास का एक स्थान ५०१.१, ५८४.१, ६४५.६

कुँभिलाय्<कुड्मलाय् = कुम्हलाना ५९१.२

कुँव = कूप ४३०.६

कुवर बेरास = चावल-विशेष ५४४.४

कुच-मंडन = कुचों को विभूषित करने वाले आभरण ६२०.४

कुवानी<कुवाणिअ<कुवाणिज्ज = कुवाणिज्य ७५.४

कुबुज<कुब्ज = कुबड़ा ३८८.६

कुमाइच<कूर्मिका = एक प्रकार की तंत्री ५२७.४

कूमाऊँ<कूर्माचल = उत्तर प्रदेश का एक पर्वतीय प्रान्त ४९८.७

कुर<कुल ३७४.७

कुरंग = लाख के रंग का घोड़ा ४६.३

कुरकुटा<कूट+कुटित = वह उबला हुआ चावल जो ऐंठ गया हो १२९.७, १३२.७, २९३.६, ३०३.५, ३०४.४

कुररी = पक्षि-विशेष १३५.७

कुरुआर<कुल्ल+आर<कूर्द+जाल = कूद-

फाँद ७१.३, ४२९.६
कुरुँभ<कूर्म ४०.२, ४५.९, २४१.७, २६५.६, ४९५.३, ४९७.९, ५१४.७
कुरुर्<कुरुल्[दे०]=कूजन करना ३४७.६
कुरुल् [दे०]=कूजन करना ३३.६, ३१६.७, ३३९.८
कुरेर<कल्लोल (?)=क्रीड़ा १८४.७
कुसस्थल दीप<कुश [स्थल] द्वीप २५.७
कुसुम=[१] पुष्प, [२] कुसुम का पुष्प ३७७.४
कुहुँक=कूक भरना, वेदनापूर्ण स्वर निकालना ५८८.९
कूँज<कुंच<क्रौञ्च १११.१, १८१.७, ५४१.३
कूँजी<कुञ्चिका ६२४.६
कूँजा<कुब्जक=पुष्प-विशेष ३७७.४
कूच<कुंच<क्रौञ्च १३५.७
कूरी<कूट=चौगान के छूहे जिनके बीच से गेंद निकालनी होती है ६२८.४
कूरा<कूड<कूट=ढेरी १९६.६, २०१.१, २३५.१
कंचुकी<कञ्चुकी=चोली, कंचुल ३८.६, ११३.३, ११५.३
केत<कियत्=कितना ३३.३, ३७७.८ ५७९.५, ५८९.४, ६०९.४
केत<केतकी १२५.६, २३४.२, ५६१.२
केतुकी=चावल-विशेष ५४४.७
केरा<केल<कदलि=केला ७१.२, ११८.२
केला<केल=कदलि ५७.९
केंव=जल-पक्षी-विशेष ५४१.६
केवरा<केतक=केवड़ा पुष्प ३५.२, ३६.४, २३६.४, २७४.४, ३०५.५
केवा<केअअ<केतक=केतकी पुष्प ३७२.६, ४३८.१, ५७०.१, ६१७.७
केवाँछ<कपिकच्छु=एक प्रकार की रोएँदार फली १६८.२
केवार<कवाड=कपाट ४१.८, १६४.५, २१७.६, ५५३.१
केसर=पुष्परेणु, किञ्जल्क ११४.१
केह<कीदृश=कैसा ३६३.४
केहरि=केसरिन् ५५.७, ११६.१, २५०.६, ४४२.७, ४६७.५
कैथ<कइत्थ=कपित्थ ४३६.२
कोइल<कोकिल २९.५, ३५७.५
कोईं<कुमुदिनी ५४.४, १२३.२, २४८.२, ३९९.३
कोंप<कुंपल<कुड्म [ल]=नया पत्ता ६२.५, २०१.९, ४२३.५, ४७८.२, ५९४.८
कोंपर=पान विशेष ५६२.२, ५६४.५
कोंवर<कोमल २८४.३, ४६८.३, ५४३.४
कोकाबेरी=कुमुदिनी-लता तथा फल ४३७.१
कोकाह=सफ़ेद रंग का घोड़ा ४६.३
कोट=परकोटा ३०.६, ७३.१, १६०.५, ५२५.७, ५२९.८
कोटवार<कोट्टपाल=कोट का रक्षक ४१.३, २१५.३
कोटी<कोडिअ<कोटिक = निकृष्टतम, पिशुन, चुगुलखोर ८७.६
कोठा<कोट्ठ<कोष्ठ=आवास ४३९.१
कोड<कोड्ड[दे०]=कौतुक, कुतूहल, कौतुक, ३.६, ३९.४, ५२.१, १८९.७, ३३२.९, ४३२.९, ५५४.५, ५५७.५
कोर=पलकों की संधि १७३.१
कोर<कोड<क्रोड=गोद ३९८.४
कोराहर<कोलाहल २९.७, ४३२.४
कोरव<कोलम्ब=बाँस ३५६.७
कोह=क्रोध २१८.८, २४३.१, २६१.२, ५३८.६,
कोहाय्<क्रुध्=क्रोध करना ५५९.९
कौकुत<कौतुक ५७१.१

१८२.९, २५४.६, २९६.९, ४३०.२, ४६३.२, ४६४.२, ४६६.५, ४६७.५, ४७६.१, ६५३.२

खीर<क्षीर=४३.१, ११४.२, १५०.८, १५१.१, ४६५.६, ४६६.७, ४८५.४

खीरा<क्षीरक (?) ४३६.४

खीरोदक<क्षीरोदक=दूधिए रंग का एक वस्त्र ३२९.३

खीह<खीव<क्षीव। क्षीव=उन्मत्त, प्रमत्त २९.४

खुंभी<कुकुरमुत्ते के आकार का एक कर्णाभरण ३८.२, ११०.५

खुँटिला=कान का आभरण-विशेष २९७.७

खुमरिहा=खुमार या नशा उतरने के समय की हल्की थकान-वाला व्यक्ति ३२०.२

खुरहुरी<खुद्दहुल्ली<क्षुद्रफुल्ली (?) २८.४, ५५०.१

खुरुक<खुडुक्का [दे०]=खटका, ५८.८, ७१.८

खूँट<छोर ११०.४

खूँट<खूंटी<खुंट [दे०]=कर्णाभरण विशेष ११०.४, २९७.७, ४७९.७

खूँद्<स्कुन्द्=पैरों से रौंदना, कुचलना, २१४.७, ५७५.७, ५७९.५

खूँझा<खुज्जाय<कुब्ज=कुबड़ा, टेढ़ा-मेढ़ा ४३६.९

खेम<क्षेम ६३.७, १४९.१

खेल्=क्रीड़ा या कौतुकपूर्वक आना या जाना १२७.९, १३४.५, १४०.३, १४६.५, १७६.५, १९३.३, १९४.६, २१७.७, २१८.२, २२२.७, २४४.६, ४८४.५, ६०३.१

खेल<केलि ३१७.६

खेव्<खिव्<क्षिप्=[नाव को] चलाना १४९.२, १५०.३, २०२.२, ३८७.५, ३९३.५

खेवक=नाव को खेने वाला १९.९, २०.१, १५७.७

खेवरा<खवग+डा<क्षपक=तपस्वी जैन मुनि ३०.८

खेवा<क्षेप्य=जो खेया जाए २०.१, १५७.७

खेवा<क्षेपण=खेया जाना ३९१.१

खेह [दे०]=धूल, मिट्टी १२६.३, १२९.३, ४५७.९, ५३१.९, ५४१.४, ५८२.५, ६०२.५

खैर<खइर<खदिर=कत्था ३०८.८

खोंचा=गड़ाने या चुभाने वाली लकड़ी ६९.८, ७१.४

खोंपा=बालों का जूड़ा ६१.१

खोज<चरण-चिह्ण ११७.३, ४०.३

खोटा<खोड [दे०]=दोषयुक्त, दुष्ट ३९६.४

खोरा<खोरय [दे०]=कटोरा २८३.३, २९०.३

खोह=खाईं, कन्दरा ४०.३, १३६.५

गंजन=अपमान, तिरस्कार, कष्ट ९८.३, ३१२.९

गँठिछोरा=उचक्का ३९.८

गंडा<गण्डक=चार चार की गणना ४२५.९, ६०४.१

गंधी<गन्धिक=सुवासिक, सुवासयुक्त ९६.७

गंध्रप<गन्धर्व ५९.८

गँवाव्=खो देना १४४.२

गगन=आकाश, शिवलोक ५०.४

गच [फ़ा०]=सुर्खी के चूने से पक्की की हुई छत या फ़र्श

गज झाँप=हाथी-घोड़ों की झूल ५१२.८

गजपति=वह राजा जिसकी गज-सेना प्रमुख रूप से बलवती हो २६.६, १४०.२

गजबेल=एक प्रकार का लोहा ६३१.४

गजर<गज्ज+ड=गर्जना, प्रहर-प्रहर पर पड़ने वाली घड़ियाल पर की अनवरत

चोट ४२.७

गड़=दो फलों वाला एक भाला जो हाथियों को नियंत्रण में रखने के लिए प्रयुक्त होता है ५१७.७

गड़<गर्त=गड्ढा ५८०.२, ६४२.४

गड़हन=चावल-विशेष ५४४.६

गड़ुआ< गड्डूक । गडुक=टोटी लगा हुआ एक प्रकार का जलपात्र २८३.४

गड़ौना=एक प्रकार का पान ३०

गढ़पति=वह राजा जिसको प्रमुख रूप से गढ़-बल प्राप्त हो १२०.६

गढ़भंजन=तोप-विशेष ५०७.७

गथ<ग्रथ=पूँजी ३८.८, ३९.८

गयंद<गजेन्द्र=बड़ा हाथी ४२९.७ ४४३.६, ४६३.३, ४९७.५, ५१४.२, ५१७.२, ६१८.७

गर्<गल्=गलना, ३११.८

गर<गल=गला १७४.५

गरगज=ऊँचाई पर से तोपें चलाने के लिए निर्मित टीला ५२५.२, ५२६.६, ५३०.७

गरास<ग्रास ५४५.२

गरिआर<गलिअ+डा<गलिका=दुर्विनीत, अड़ियल १५७.२

गरुअ<गुरु १३.७, १५७.३, ५१७.२, ५९९.४

गरुई<गुर्वी ३९९.५, ६४०.६

गरुर<गरुड २६४.९, ५२४.५

गरेठा<गरिष्ठ=[शीरे से] लथ-पथ ५५०.२

गेरर्=चारों ओर से घेरना ५२४.८

गलगाज्<गलगर्ज्=गड़गड़ाना ५०५.४, ५५५.६

गलसुई<गलसूचिका=गालों के नीचे लगाई जाने वाली तकिया २९१.६

गवन<गमन ११८.१, १२१.१, २८१.७, ५०१.४

गवालियर ५००.४

गवेंजा<गव्व+एज=गर्व का झोंका, गर्वोक्ति १४८.१

गवेंसी<गवेषिन्=खोज करने वाला ४०५.७

गह<ग्रह्=लेना १९६.३

गह=आनंद ४३२.२, ५२७.४

गहन<ग्रहण ६७.४, ८९.१, ५८८.३

गहना<गहणय[दे०]=आभूषण ११०.९

गहना<गहण [दे०]=बंधक ११०.९, ४६०.९

गहबरा<गह+वृत्त=हर्ष से आवृत्त, भावाकुल २१३.१, ३७८.२

गहीली<गहिल्ली<ग्रस्ता २५०.५, ३०२.९

गाँग<गंगा १५.९, १००.६, ३७४.४

गाँगगति=गंगा में डूब कर शरीर-त्याग करने की प्रथा १२७.६

गाँठि<ग्रन्थि २८१.९, ६५०.५

गाँथ्<ग्रथ्=गूथना १३५.३

गाँधी<गन्धिक=गंधी ३९.२

गाज्<गज्ज<गर्ज्=गर्जन करना ४१.५, १९६.७, २७७.१, ३५५.२ ३८८.३, ४२२.१, ४४४.३, ४४९.३, ५१७.१, ५१८.४, ५२१.६, ५२६.३, ५३४.१, ६२५.४, ६४६.१

गाज<गज्ज<गर्ज=बिजली, वज्र ०३.१, २६८.१, ५२६.५, ५८०.९, ६३०.४

गाजन<गर्जन ६१४.३

गाजना<ग़ज़ना=देश-विशेष ४२६.९

गाड़<गड्ड<गर्त्त=गड्ढा ५७९.५

गाढ़<कठिन ६८.७

गादुर<गीदड़ १३५.५

गानी<गणिन्=गजों का नायक, प्रमुख ४९७.७

गाभ<गब्भ<गर्भ=वृक्ष के तने के भीतर की लकड़ी ४८२.२

गारि<गालि=अपशब्द २६१.२

गारुरी<गारुडिक=मंत्र-शास्त्रज्ञ १२०.२ ४६९.८

गारौ<गारव<गौरव ३४४.८, ६५३.५

गाह् =ढूँढना, टोह लगाना, अनुभव करना ४५५.४

गिद्ध २६४.९

गिय<ग्रीवा ७२.३, ९७.७, ९९.७, १४३.४, २८६.२, ४६२.२, ५०७.६, ५६५.३

गिरही<गृहिन् ३७१.३

गिव<ग्रीवा ८०.४, १३३.४

गीव<ग्रीवा ७७.६, ९१.४, १११.१, २४०.३, २४४.३, ४४२.४, ४५३.८, ४५५.६, ४६७.२, ६१८.७

गुंजर् =गुंजार, करना गर्जन करना ४१.६

गुंजा=घुँघुची ३५.४

गुड़रू<पक्षि-विशेष २९.४, ५४१.४

गुदर<गुज़र [फ़ा०]=पेशी १२८.७, २४१.१

गुन्<गुणय्=गिनना, मनन करना, ७७.८, २४८.१, ३६६.१

गुन<गुण=[१] अच्छाई, [२] रस्सी ५४०.७

गुनना<गुणन=आकलन, विचार करना ८.४

गुर<गुरु=गुरु लखाव, गूढ़युक्ति २९२.६

गुरबरी=मीठी बड़ी ५४९.३

गुरुज<गुर्ज़ [फ़ा०]=एक प्रकार की गदा ६३६.७

गुर्र<गुर्र [अ०]=लाख के रंग का घोड़ा ४६.३

गुलाल=[१] गुलाल चूर्ण, [२] गुल्लाल: फूल ३७७.४

गुवा<गुवाक=एक प्रकार की सुपारी २८.८

गूँग<मूक (?) ५८५.५

गूँज्<गुञ्ज्=गुंजार करना, गर्जन करना २५३.६

गूँड्<गुण्ड्=आच्छादित करना ५१४.४

गूद<गूद : [फ़ा०]=मज्जा २६२.८

गेंडुआ<गेंदुअ<कन्दुक=गोल तकिया २९१.६

गेंद<कन्दुक २९८.६, ३१७.५, ४८०.२

गोइ<चौगान की गेंद [तुल० गोय (दे०) =गूलर का फल] ६२६.४, ६२८.१

गोट<गोल २२०.५, ४८३.६, ५२५.४

गोटिका<गुटिका=गोली २१७.१

गोटी<गुटिका=गोली ५५८.६

गोटेका<गोटिका<गुटिका=गोली २१७.२

गोत उचार<गोत्रोच्चार २८६.१

गोद<क्रोड=अंक ३१७.५

गोपीचंद=बंगाल के एक राजा जो योगी हो गए थे १३०.६, १६०.२, १९३.६, ३४१.६, ३६२.१

गोपीता<गोप+प्रीता=गोप-प्रिया १०२.७

गोरखनाथ=प्रसिद्धयोगी १६०.३, १८२.२, ३०३.९

गोसाईं<गोस्वामी=स्वामी ८.२, २२९.२ २८७.२

गोहन=साथ १८३.९, १८५.१, २०३.४, २७७.२, ४१०.७, ५१५.४, ६३९.२, ६५०.२

गोहराव्=गोहारी करना, उच्च स्वर से पुकारना ३७२.२

गोहार / गोहारी<गो+हक्कार<गो+आकार=गाय की पुकार, सहायता के लिए किसी त्रस्त की पुकार २६४.४, ३६९.६, ४५३.७, ५३०.३, ६२६.२

गोहूँ<गोधूम ३८०.३

गौन=हरिण-विशेष ५४१.२

गौर<ग़ोर=देश-विशेष ४२६.९

गौरवा = गौरैया पक्षी ३५८.५

गौड़ी = गौड़ क्षत्रिय स्त्री १८५.२

घउरी । घौरी <घओद <घृतोद = केले की फलियों का गुच्छा ३४.५, १८७.७

घँस् <घृष् = घिसना ४२२.९

घट = हृदय, शरीर ५०.५, ४०७.७

घट्ट = आहत करना २२४.९

घनतारा <घनताल = वाद्य-विशेष ५२७.७

घमोई <घमई [दे०] = तृण-विशेष ३६८.२

घरिआर = घड़ियाँ बजाने वाला घंटा ५५३.१

घरिआरी = घड़ियाल बजाने वाला ४२.२

घरी <घड़िआ <घटी = [१] घड़ी भर का समय [२] घरिया २१.७, ३४.९, ३५७.४, ४३०.७, ६२५.१

घाटी = संकीर्ण मार्ग, उत्तरण के उपयुक्त स्थल २१५.५, ५२२.३, ५३६.३, ६५१.६

घानि <घ्राण = सुगंध ६८.९

घाल् <घल्ल [दे०] = डालना, फेंकना ९०१., १७९.७, २०४.९, २३२.५, ३७३.६, ३७६.६, ५३४.९, ५६५.३, ५०५.३, ५९८.४, ६१५.५

घाउ । घाय <घात = घाव २३.६, ११९.२, २२७.८, ४०२.१, ४१६.९, ६३६.३

घाय : दे० 'घाउ'

घालि <घल्ल (?) = घेलुवा १४७.३, ४६४.३, ५१३.७

घिरिन परेवा <घूर्ण पारावत = घुमना या लोटना कबूतर १६८.७, ३५३.८

घिर्तकाँदौ = चावल-विशेष ५४४.४

घीउ <घृत = ४८५.४

घुन <घुण = कीट-विशेष १५८.९

घुर् <घूर्ण् = घूमना २९.३, ४८१.३

घुर्म् <घूर्ण् = घूमना १०८.४

घूँघट <अवगुण्ठन ६१७.२

घूंब् <घुम्म <घूर्ण् = घूमना ४५.१

घूम् <घुम्म् <घूर्ण् = चक्राकार फिरना. १०३.२

घेवर् = लेप करना, पोतना १९९.८, ५०३.६, ५१३.८, ५३१.८

घोर = भयानक ४२५.४

घोर <घोटक = घोड़ा ६३७.६

घौरी = दे० 'घउरी'

चउरा <चउरय <चत्वरक = चबूतरा ३६.४

चंग = एक प्रकार की डफ ५२७.५

चंडोल <चउडोल <चतुर्दोल = एक प्रकार की पालकी ४२२.३, ६२२.१

चंदन = चन्दन चीर, चँदनौटा ३२७.३, ५४.१

चंदन चीर = चँदनौटा, संदली रंग का रेशमी वस्त्र १६८.३, २९६.१, ३३५.२

चँदनौटा <चन्दन पट्ट = सँदली रंग का रेशमी वस्त्र ३२९.३

चँदेरी = स्थान-विशेष ५००.३

चँदोवा <चंदाअव <चन्द्रातप-क = चंदवा २९१.४

चंप् <[दे०] = दबाना ४१.३

चंपा <चम्पक ५०५.१

चंपानेरि = स्थान विशेष ५००.३

चक <चक्क <चक्र = भूमिखंड ३८१.१

चकचून <चक्रचूर्ण = चक्की में पीस कर किया गया चूर्ण ३०८.८

चकमक = एक प्रकार का पत्थर जिस की सहायता से आग बनाई जाती थी ५२०.८

चकवा-चकई = चक्रवाक-चक्रवाकी ३०३.५ ५४१.६

चकावूह <चक्रव्यूह २९४.१

चकोरी = चक्रवाकी (?) २३४.६

चक्कवै <चक्कवइ <चक्रपति = चक्रवर्ती

२६.८, ४६१.८, ४८९.४

चक्र=अस्त्र-विशेष १२६.४

चख । चखु<चक्षु ३२.७, १९५.८, ३३८.७

चतुरसम<चतुःसम=चंदन, अगुरु, केसर और कस्तूरी का सम भाग में लेप २७६.४, ३२३.७, ३३२.३

चतुर्दस विद्या<चतुर्दश विद्या : ४ वेद+६ वेदाङ्ग+पुराण+मीमांसा+न्याय+धर्मशास्त्र ४४६.९

चमक्<चमत्कृ=दीप्त होना १०७.८, ११०.२

चमेली<चम्पक मल्लिका ३७७.२

चरक=मत्स्य-विशेष ५४२.४

चरच्<चर्च्=अध्ययन करना, मन में गुनना १२०.३, १७३.१

चरज=पक्षि-विशेष ५४१.५

चरपट<चर्पटक (?)=बहुमिथ्यावादी ३९.८

चह्<वाच्छ्(?)=चाहना ८४.५

चाउ<चाप=उमंग १६३.८

चाँचर<चच्चरी<चर्चरी=वसंत का एक गीत १८९.७, ३३५.६, ३५२.५, ५३१.४,। ५३५.६

चाँटा=चींटी १५.१, १५६.६, १७४.३, ३५३.६

चाँड़<चण्ड=उग्र ४६.४

चाँप्<चंप [दे०]=दबाना ६९.२, ३९९.६

चाँप<चम्पक=पुष्प-विशेष ३७७.२

चाक<चक्क<चक्र=चक्का ४२.५, १११.४, १५५.६ ,३६७.४

चाख्<चक्ख [दे०]=स्वाद लेना १०६.५, १५४.९, ३१९.७

चाट्<चट्ट [दे०]=चाटना २२०.३

चाड़<चड्ड[दे०]=खाना ३५०.७

चाड़<चाडु<चाटु=प्रिय वाक्य,खुशामद ११३.२, ३०१.७, ३२५.५

चात्रिक=चातक २३२.४

चार=चलन २९२.२

चाल्ह=मत्स्य-विशेष' ५४२.४

चाह्=देखना १४५.३, ४७८.९

चाह=[कुशल] समाचार ३६१.२

चाहि=अपेक्षा १६.५, ४५.५

चिंता<चिंतय<चिन्तक=चिन्तन करने वाला ४४६.२, ४४९.३

चिकवा<चिक्क=वस्त्र-विशेष ३२९.४

चितउर=चित्तौर ३७७.९

चितरोख=पक्षि-विशेष ३५८.४

चितेरा<चित्रकार ४७४.१

चित्तरसारी<चित्रशालिका=चित्र सज्जित गृह २८२.२

चिनगी=चिनगारी ३६३.५

चिरकुट<चिर+कुट्ट<चिर+कुट्टित =फटकर चिथड़ा हुआ वस्त्र २७६.७

चिललाय्=चीत्कार करना ९७.६

चिहुर<चिकुर=केश ६७.७

चिहुट्=चिपकना ३१७.१

चीतल=हरिण-विशेष ५४१.२

चीर=वस्त्र-विशेष ३२९.४, ३३२.१

चुअ्<श्चुत्=चपकना ८७.७, ८८.२, १७५.३, ३१९.५

चुआव्<च्यावय्=टपकना २४९.२

चुक्क=नींबू और नारंगी के रसों से तैयार की गई एक प्रकार की खटाई ५४८.३

चुरु<चुलुअ<चुलुक्=चुल्लू ५९६.५

चुहचुही=पक्षि-विशेष ।२९.२

चूना<चूण्ण<चूर्ण २८९.४, ३०८.९, ३२१.३, ४३७.७, ५०१.९, ५८२.५, ५८३.६

चूपि=चुप्पी ५८०.१

चूर्<चूरय्<चूर्णय्=घंड-खंड करना, तोड़ना ७०.१, १३३.४, १८७.५, २०१.१, ३२७.४, ३८१.२, ३९९.७ ४०५.९, ४३२.९, ४३६.१, ५३२.३ ६५१.९

चूर<चूर्ण ४१.१, ३८७.४, ४८६.७

चूरा<चूड=[दे०] पैरों का वलय ११८.६, २९६.६, २९९.८

चेटक=जादू ३८.८, ३९.६

चेना=एक प्रकार का कर्पूर ४.१

चेर<चेड<चेट=सेवक २०.८

चेरी<चेडिआ<चेटिका=दासी ९१.७, ३०४.४, ३५७.७, ३६१.५, ३८५.३, ५९९.६, ६०१.१, ६१८.४, ६४०.६

चेला<चेड<चेट=शिष्य, भृत्य, १८.४, ८२.६, १२५.६, १३९.४, १४७.८, १६५.१, १७८.५, १९३.३, २१६.६, २३६.३, २४२.३, २५७.६, २५८.१, २९३.३, ३०३.७, ३३१.२

चेली<चेडिआ<चेटी=सेविका, शिष्या ६०५.६

चेल्हवाँस=पक्षि-विशेष ३५८.१

चोंच<चञ्चु २२३.६, ६४३.६

चोख<चोक्ख<चौक्ष=सुंदर, निर्मल, ४६३.८

चोप=स्निग्धता, उमंग २०१.८

चोप<चुप्प[दे०]=स्निग्ध ३२३.७

चोल=कञ्चुकी, चोली १८५.७

चोवा=भपके द्वारा तैयार किया गया एक सुगंधित द्रव ४४.८, १३०.३, १८४.७, २९०.५, ३१६.८, ४३५.२

चोवा<चोयग=त्वचा, खाल ४३५.२

चौक<चउक्क<चतुष्क=सामने के नीचे-ऊपर के चार दाँत १०७.१, २८५.४, ४७७.३

चौगान=मध्ययुग का एक प्रसिद्ध खेल ६२६.६, ६२८.३

चौंदंत=शतरंज के खेल की वह चाल जिसमें दोनों पक्षों के दो हाथी आमने सामने आ जाते हैं ५६७.८

चौदह गुन [तुल० 'चतुर्दस विद्या' ऊपर] २६९.२

चौपारी<चउप्पल्ली<चतुःपल्ली=चौपाल, चौकोर भवन ३६.५, ४४.५, २८९.३

चौवारा<चउव्वारअ<चतुर्द्वारक ३३७.४

चौरासी=घंटियों या घुँघरुओं की एक माला जो घोड़े के गले में पहनाई जाती है ५१३.५

चौरासी सिद्ध २६४.८

छंद<छद्म ९७.३, ३०६.३, ३१०.१, ४४८.९, ४५२.७

छठि<षष्ठी ५२.१

छतिवन<छत्रवत्=छाजन [में रहने] वाला ५९२.३

छत्तीसकुरी=छत्तीस कुलों के १८५.१, २७३.७

छप<छिप्<क्षिप्=छिपना छिपाना २९२.१, २९५.२, ३०२.२

छपा<क्षिप्त=छिपा हुआ २११.२

छप्पर<छद+पट=पत्तियों या फूस की छाजन ३५६.६

छर<छल २४०.७, ५८४.२, ५८४.७, ६२१.७,

छरहटा<छलहट्ट=छल-छद्म की हाट ३९.५

छहराय<छिटकना ३१८.५

छाएल=एक प्रकार के छपे वस्त्र ३२९.२

छांह<छाया ५०.१, २८८.४

छागर<छगल=बकरा ५४१.१

छाछ=मट्ठा ४५९.४

छाज्<छज्ज् [दे०]=शोभा देना १.८ ६.१, १३.२, ८४.४, ९७.१, ९९.१, १७६.२, २४०.६, २६५.८, ३००.१, ३०६.१, ३५६.७, ४७७.६, ४८०.१, ६०७.८

छाजन<छादन ३५६.१

छात<छत्त<छत्र ४७.४, ११५.९, १३१.८, ५००.९, ५५३.६, ५५८.७, ५९४.१, ६०१.६, ६०६.६, ६१२.२, ६३८.४

छाता<छत्तअ<छत्रक=छत्ता १५४.१

छान्हि<छादन=छप्पर ३५६.८

छार<क्षार=राख, धूल ३.९, १३०.२, १६६.२, २२९.३, २५९.३, २८७.७, ३४८.९, ३६५.३, ३५२.७, ४२७.७, ४९२.६, ५०९.२, ५११.८, ५३५.९, ५८२.६, ६५०.७, ६५१.४

छाला<खल्ला=चर्म १६७.१, २०७.३, ३६१.६, ५५०.७, ६०६.६

छाव्<छादय्=आच्छादित करना ३९१.३

छावा<छाव<शाव=बच्चा २०७.६

छिताई=देवगिरि के अलाउद्दीन कालीन शासक रामदेव की कन्या ४९२.१, ४९३.७

छिरिआव्=छिटकाना ६३३.६

छीज्<क्षी=क्षीण होना ३९८.३

छीज<क्षिया=क्षति ३२०.६

छीप<छिप्प<क्षिप्र=शीघ्र ५८७.७

छीपक<छिम्पक=छापदार ६२.१

छीपी<छिपय<छिम्पक=कपड़ा छापन वाला ३२९.५

छीर<क्षीर=दूध ६४४.८

छुद्रघंट<क्षुद्रघण्टिका=कटि मेखला ६४१.६

छुद्रावलि<क्षद्रावलि=क्षद्रघंटिका २९६.६

छुव्<छिव्<स्पृश्=छूना १६१.७

छूंछ<छुच्छ<तुच्छ=खाली ६७.२, ७५.७, ७६.४, १७६.१, २१९.६, २२५.८, ४१७.६, ४३०.७, ४३६.६, ५४६.८, ५५१.९, ६२५.१

छेंक्=घेरना, रोकना ७५.६, २४४.१

छोटी<छोट्डि [दे०]=लघु ४६६.२

छोह=कृपा ५३८.६

जउँन<यमुना १५.९, ४२८.४

जंगम=एक शैव संप्रदाय ३०.७, ३६०.७

जंत्र<यंत्र=वाद्य-यंत्र ५२७.३

जंत्र कमान=लोहे के धनुष जो चरखों की सहायता से खींच कर चलाए जाते थे ४९९.३

जंबू दीप<जम्बूद्वीप २५.६

जंभीर<जंबीर=एक प्रकार का नीबू ४३६.४

जगदेउ<जगद्देव=जगद्देव परमार जो गर्जरेश सिद्धराज का सामंत था और अपने समय का प्रसिद्ध वीर था ३४.४, ६११.३

जजमान<यजमान=यज्ञ कराने वाला, पुण्यात्मा ७७.२

जजा=हम्मीरदेव का एक प्रमुख सामंत जिसने हम्मीर की ओर से अलाउद्दीन से लड़ते हुए प्राण-विसर्जन किए थे ६११.३

जत्<यावत्=जितना २६२.४

जतखन=जिस क्षण ३२४.५

जनेऊ<जण्णोवईय<यज्ञोपवीत ७९.७

जम<जन्म ५९१.६

जमकातरि<जमकाति<यम कर्त्तरि=यम की कटार १६१.२, ६२९.७, ६३१.५

जमवार<यमद्वार=मृत्यु ३०१.४

जमाव्<जन्मापय्=जन्माना ४०८.४

जरम्<जन्म=जीवन ४४.४, ६०.९, ७५.५, ९८.७, १४४.१, २५७.३,

२८६.४, २८७.८, ३०१.३., ३४९.७, ३५६.३, ३६८.६, ५८९.९, ६०७.२,
जरी<जट+इका=जड़ २५६.२
जल कुकुटी=जलपक्षी-विशेष ५४१.५
जवास<यवास ३४६.६
जसोवै<यशोवती=बादल की माता ६१३.१
जहिआ<यदा=जब ३९३.२
जाउरि=चावल की नमकीन खीर २८४.७, ५५०.९
जाँवत<यावत्=जितना ५.२, ४८.४, ४९.९, ६६.६, १२०.२, १८३.३, २७५.७, ४५७.४, ४५८.६, ५४६.५,
जाँत<जंत<यंत्र=चक्की १४९.४
जाखिनी<यक्षिणी ४४७.६, ४५०.३
जाजा=हम्मीर का एक प्रमख सामंत जिसने उसके पक्ष में अलाउद्दीन से लड़ते हुए प्रोंण दिए थे ६३४.४
जाड़<जाडच=जड़ता, ठंडक से उत्पन्न ठिठरन ३५०.१, ३५१.३
जाति<ज्ञाति ७६.६
जाम्<जम्म्म्<जन्=उत्पन्न होना ५२.५, ५६१.९
जाम्<यम्=जम जाना, गाढ़ा होना १५२.३
जायफर<जातीफल २८.८
जार्<ज्वालय्=जलाना २३०.७
जार<जाल ७०.७
जाही<जाती=पुष्प-विशेष ३७७.५
जिय<जीव १४५.१, ३५६.३
जिअन<जिअनि=जीवन, जीविका ३.५, ४९२.७
जियवधा=जीव-वध करने वाला ५७८.१
जीभ<जिह्वा ८७.६, ५०६.६
जीरासारी=चावल-विशेष ५४४.३
जीह<जिह्वा ४१.६
जुआ<द्यूत ९१.१
जुगुति<युक्ति २१८.६
जुझारु<युद्धालु=युद्ध के लिए तत्पर २२.४
जुड़ाय्=शीतल होना १५९.३
जुर्<युज्=इकट्ठा होना २६०.१
जुलकराँ<जूल्करनैन=सिकंदर की एक उपाधि १३.५
जूझ्<युध्=युद्ध करना, लड़ मरना १०९.५, ४४५.४
जूझ<जुज्झ=युद्ध १९८.५, २४२.२
जूड़=ठंडा ११२.३, ६४९.९
जूड़्<युज् (?)=जुटना, इकट्ठा होना ५७५.१
जूनागढ़=स्थान-विशेष ५००.३
जूरी<जुड़िअ[दे०]=जुड़ी हुई ५६२.४
जूरा<जूट=बालों का जूड़ा ६१५.३
जूह<यूथ ५११.२, ५१६.७, ६१४.२
जूही<यूथिका=पुष्प विशेष ३७७.५
जेंव्<जिम्=जीमना, भोजन करना ५७.७, १२३.२
जेंवनार<जीवन वारि २८३.१, २८५.१, ५११.९
जेंवा=भोजन, भुक्ति, गुज़ारा ४८८.३
जेत<जेत्तिअ<यावत्=जितना १८९.४ ३२४.८, ४८८.७, ५५१.१, ६००.३
जेवा=एक प्रकार का शरीर त्राण ४९९.४
जेव<एव ४६२.६
जेह<यथा १७८.८, ४२२.७
जैतपत्र<जयपत्र २६६.९
जैफर<जातीफल ४३७.६
जैमारा<जयमाला २७८.६
जोई<जोइआ<योजिता=स्त्री ५८४.३
जोख्=तौलना ५१९.९
जोग<योग=जोड़ा, समकक्ष ६.४
जोग<योग्य ५२.६, ११८.९, १२६.८, १६२.२, २२०.२, ३०३.६, ४७५.१

जोग तंत <योगतंत्र २२१.९, २४६.१
जोगव् <योजय् (?) = रक्षा करना ९०.६, ६०५.९
जोति <ज्योति ६५.९
जोवन <यौवन ३३९.६
जोर् <योजय् = जोड़ना १७१.३, २३१.९
जोरा <जौलाँ [फ़ा०] = बेड़ी ५२५.१
जोरी = जोड़ी १७७.६
जोव् <जोअ [दे०] = देखना २१.९, ८२.५, १६५.७
जोहन् <जोअण <योजन=मिलाना, संबंध करना ५८७.१
जोहार [दे०] = प्रणाम, नमस्कार ४९.५, १८६.२
जौ <जौ <जउ = यदि ५८.१, ७०.४, ७८.५, ८६.४, ९२.२, १४२.६, १६२.८, १६८.२, १७३.५, २१२.४, २६८.१, ३१९.२, ५७९.९, ६२८.८
जौं <जओ <यतः = क्योंकि ७८.६, १२५.८, १७३.४, ३४८.४
जौं <जौ <जउ <यदा = जब ८२.८, १७९.१, २२१.७, ३००.४, ४७९.६, ६०५.१, ६४०.८
जौहर = शत्रु से मान रक्षा के लिए राजपूत स्त्रियों का अग्नि में प्राण विसर्जन ५३१.७
ज्यौं <जेम [दे०] = यथा १२५.९
झँख् [दे०] = संतप्त होना २८१.६, ३८०.१
झकोर् = झोंका देना १०३.४
झर् <क्षर् = झड़ना व अकना, चूना १७५.९, २०१.६
झरोखा = जालाक्ष ४५१.१, ४५२.१, ४५३.२, ४६९.२, ४८४.८, ५६७.३, ५६९.३
झलक् <ज्वल् १०७.८

झाँख् <झंख् [दे०] = संतप्त होना ३५७.८
झाँखर <झंखड [दे०] = कटीला पौदा १३७.६
झाँझर <जर्जर ४७३.७
झाँप् <झंप् [दे०] = आच्छादित करना ६१.२, २५१.४, ३८८.८, ३९९.६
झार् <शाडय् = झटकना, झाड़ना ९९.४
झार <ज्वाला १५३.१, २५३.१, ३२८.५, ३६५.३, ३६९.१, ३७०.५, ४२६.५, ४२७.४, ५०८.५
झार <झाड <शाट=झाड़, पेड़-पौदा १८७.१, १९९.४
झालर = चावल (?) २८४.२
झिनवा = चावल-विशेष ५४४.२
झिलमिल = वस्त्र-विशेष ३२९.३
झीन <क्षीण = हलका ५०.७, ११६.२, ३३६.२
झूठा <झुट्ठा [दे०] = अलीक, असत्य ८९.३
झूमक <झोम्बक = एक प्रकार का गीत १८६.३, ३४८.६
झुर् । झूर् <ज्वल् = जलना, सूखना, संतप्त होना ३४१.९, ३५७.४, ३६१.३, ४०८.६
झूर् <ज्वल्=संतप्त होना ७५.१, १६७.३, २३५.१, २५५.४, ३४८.६, ३५६.२, ३६७.२, ४५७.६, ६०३.२, ६३८.१,
झूर=शुष्क १४४.६, १५८.९
झूल्=झूलना ७१.१
झोर <झोड [दे०]=पेड़ से पत्रों को गिराना ३५२.२
झोल <झुल्ल=झकोरा १५७.५, ३५१.६, ३५१.९
झोली <झोलिका=थैला १८६.४
टँकोर=प्रत्यंचा की ध्वनि ३३३.३
टका <टंका=एक सिक्का ६२३.२

टट<तट ३६९.९

टाँक<टङ्क=परिमाण-विशेष ५२४.९

टाँड=टड्डा, बाहु का आभरण-विशेष ११२.६

टाक=मटका १३५.१, ५४५.६,

टाटी<टट्टिआ [दे०]=आड़, पर्दा ६९.१

टाड=टड्डा, बाहुका आभरण-विशेष २९९.५ ।३१८.६

टीका<तिलक ७९.७, १७६.९, ६१५.५ ६४७.८

टूट्<तु;<त्रुट्=टूटना, खंडित होना ९७.२, १५७.४

टूटी<त्रुटि=हानि २९२.७

टेंगनी=मत्स्य-विशेष ५४२.३

टेक=टेकने या थामने वाली वस्तु २.९, ३५६.२

टेसु<किंशुक १३४.९, २२८.३, ३०८.७, ३५३.३

टैआ=हाथी-घोड़ों के गले की पट्टी ५१२.८

टोडर=पैर का आभरण-विशेष ३९२.५

टोना<तंत्र=चेटक ३१४.४, ३६९.३, ५८५.२,

टोप=कुलाह ५१२.४

ठग्<स्थग्=भुलावा देकर किसी से कुछ छीनना ७०.५

ठट्ठा<थट्टा=सिंध का एक प्रांत ४९८.३

ठठिआरि<थट्ट(?)=ठाठ, ठठरी ३२५.९

ठाकुर<ठक्कुर=स्वामी ५७.४, २४२.४

ठाट<थ; [दे०]=साज ३५६.७

ठाट<थट्ट [दे०]=ठपूर १७६.२

ठाठर<थ; [दे०]=साज ६३७.३

ठाढ<ठड्ढ<स्तब्ध=हक्का बक्का, खड़ा ६०.१, ७५.१, १०४.७, १११.२, १५५.४, १९२.१, २१०.२, २६३.४, २६४.५, २९०.२, ३००.३, ३८६.९, ५०३.५, ५२३.९, ५३७.४, ५४६.१, ५५५.२, ५७२.१, ५८६.७, ६२७.७, ६२८.७

ठोर [दे०]=चञ्चु ५६.९, ७९.६, १४८.५

डँड<दण्ड=घड़ी ३६०.९

डँड<दण्ड=[१] मार्ग, पगडंडी, [२] योगियों का दण्ड ६०३.३

डंडवै<दण्डपति=दण्ड-नायक ५७७.६

डग<कदम २३.३

डगर=पगडंडी ५०९.५

डफार् [दे०]=भुकार छोड़कर रोना ३६३.६

डफार [दे०]=चल्लाहट २१३.१

डभक=डबडबाना २११.४

डस्<दंश्=काटना ४.२, ३७२.७

डह्<दह्=जलना १५२.१, १५९.२, १६०.३, २०६.८, ३५९.५, ३६५.७, ४२८.१, ४३२.२

डहक्=छतना ४४८.९

डहन<डयन=डैना ७०.३, ७९.५, १४८.६, १७६.३, ३९६.३

डाँड़<डंड<दण्ड ४२.४

डाँड़ी<दण्डिका=एक प्रकार की डोली ३८५.३

डाढ<डड्ढ<दग्ध २५४.४, ३१४.९, ४२३.७

डाभ<डब्भ<दर्भ=अंकुर, एक प्रकार की घास २१.४, ४७६.४

डाल<डल्ल=पिटिका ५८६.३

डास्=फैलाना, बिछाना २९१.५

डाह्<दह्=दग्ध करना २३०.८, ४१८.७

डाह<दाह १४४.१, २५३.२, ५७१.८

डिठियार=दृष्टिवाला ५७५.२

डीठ<दिट्ठ<दृष्ट=देखा हुआ १०१.५, १६९.९, २५८.३, ४२८.४, ४७७.९

डीठी<दृष्टि ४२७.२, ४३१.७, ४७७.४,

४८६.४, ६३४.७,
डुभकौरी=भिगोई हुई पकौड़ी ५४९.७
डेली<डल्ल [दे०]+इका=पिटिका ७०.१
डोर [दे०]=रस्सी, तागा ३५१.७
डोरिया=वस्त्र-विशेष ३२९.६
डोल्<दोलय्=हिलना ७९.८, १०८.४, १०९.९
डोल<दोल=हिंडोला ४७४.४
डोवँ<डोम=जाति-विशेष ४४१.६
ढंख<ढंख [दे०]=पत्र-फलहीन तरु-डाल, पलाश १०४.८, ५०८.२
ढंग [दे०]=भ्रमर ५६०.५
ढँढोर्<ढंढोल [दे०]=खोजना १४९.७
ढर<ढल् [दे०]=ढुलकना, गिरना २४३.५
ढह=गिरना २२१.६
ढांख<देखिए 'ढंख' ६६.२, १३७.५
ढाठ=एक प्रकार का बन्धन २४५.७
ढीठ<धृष्ठ=प्रलल्भ १७४.८
ढील्=शिथिल करना ६८.७
ढील<ढिल्ल [दे०]=शिथिल ४०६.८
ढुक्<ढुक्क<ढौक्=पहुँच जाना, उपस्थित होना ६९.१, ७०.४, ६३३.७
ढुरहुरी=ढुलकने वाली ५५०.७
ढूंगा=ठिंगना, नीचा ४०४.२
ढोवा=सैनिक सहायता अथवा पुञ्जीकरण ५२४.२, ५३६.५, ६५१.७
ढोई=मजदूरों आदि की मदद ५२६.१
तउअ=तब भी ३६९.९
तंत<तंत्र १९३.३, २९२.७, ४४९.४, ६३६.१
तंत्र<तंत=ताँत २४४.५
तंत्र<तंत=तंत्री, वाद्य विशेष ५२७.७, ६००.६, ६०६.७
तँबोर<ताम्बूल ३८.२, २९८.५, ३३६.४, ३८२.६, ४७६.२, ५९१.७, ६३९.८
तँबोर<ताम्बूलित ? =ताम्बूलरंजित ३२६.४
तचा<त्वचा ४२३.२
ततखन<तत्क्षण ६५.५, १३८.१
तन्=तनना, अकड़ना १९२.७
तन<तनु=शरीर ३५६.२, ३५६.३
तपति<तप्ति=ताप २९४.९
तबल [तु०]=एक प्रकार का बड़ा ढोल २३.३, ४९९.२, ५०४.७, ५१२.३, ५१५.१
तय्<तप्=तप्त होना ३१५.५
तरक्=तड़कना, चटखना, फटना १०७.९
तरई<तारिका ६२.७, १००.९, २९५.१, ३३२.४, ४६९.३, ५६१.४, ५६८.१
तरवा<तल=पाद-तल १३२.५
तरहेल=अधीनस्थ ४४३.८
तराई<तारिका १.६, १०.४, ६३.२, १६०.८, १६१.४, १९०.४, २७७.४, २८८.२, २९३.२, ३०३.४, ३२१.१, ३७०.३, ६२४.५
तरास्<त्रासय्=भयभीत करना ३४६.४
तरास<तरस=वेग, बल ४९६.९
तरासी<त्रस्ता ३२८.४
तराहि<त्राहि=रक्षा करो ११९.९
तरिवन<ताल-पर्ण=एक प्रकार का कर्णाभरण ५०७.३
तरिवर<तरुवर ६९.३, ३५८.९
तरुनापा<तरुणत्व ९.६, ४५९.७
तरेंडा<तरंडय<तरण्ड+क=तरी, २०२.८
तरफ्<तलफ्<तप् (?) तप्त=होना १५३.८,
तलाव<तलाग<तडाग=सरोवर ५११.९ ५५४.२
तलावरि<तलाग+डी<तडाग=छोटे सरोवर ३३.२
तवँचूर<ताम्रचूड ८५.३, १११.५, ४४२.४,

४८१.३, ६४५.३
तव्<तप्=तप्त होना ४१.८, ४६१.८,
तह<तथा ३८.४
तहरी=चावल की खिचड़ी ५५०.१
ताऊ<ताव<तावत्=तब तक ८६.५
ताँति<तंत<तंत्र=चमड़े का तार जो किंगरी में लगाया जाता है ३६१.८
ताँवत<तावत्=उतना, उतनी दूर तक ४५७.४
ताक्<तक्क<तर्क्=तर्क करना, विचार करना, देखना ६६.२, ६९.६, १५०.४, १९६.१, २०६.२, २४२.५, २७२.४, २७३.४, ३४५.७, ३५४.२, ३८९.४, ३९६.४, ४२१.४, ४७७.१, ४९१.६, ५०३.७, ५२५.४, ६१०.४
तागा<तग्ग [दे०]=सूत, सूत्र-कंकण २३०.२, २९९.७, ५६४.७
ताजन। तायन<ताज़ियान : [फ़ा०]=चाबुक ४६.४, ४८८.६
तात<तत्त=तप्त ११२.३, १३२.७, २०५.७, २८४.३, ३५९.२, ४२४.१
ताप्<तापय्=तप्त करना ३५०.१
ताया=कोई प्राचीन मुसलमान योद्धा ६३५.४
तार<तारक=तारा २९७.९
तारा<ताल=ताला २३.४
तारामँडर<तारा मण्डल=सितारों से टँका हुआ वस्त्र-विशेष १८४.३
तार<ताल=ताड़ वृक्ष २१६.१
तारा<ताल=ताली, हथोड़ी ५२९.७
तारी<त्राटक=टकटकी २३५.३
ताल<तल्ल [दे०]=बड़ा जलाशय ३३.१
तिक्ख<तीक्ष्ण=पैना ४६७.२
तिनु<तृण=घास-फूस ३५१.८, ३५६.२
तिर<तृ=तरना, तैरना १५०.१, ३६७.३
तिरि<तिरिअ<तिर्यञ्=तिरछा, बाँका १११.६, ४६७.२
तिरिआ<स्त्री १३२.१
तिरिछ<तिर्यच्=तिरछा, वक्र ४७४.६
तिवानि<स्त्री-वर्ण (?)=स्त्री ८६.४, ३००.३, ३७८.९, ४५७.६, ६१६.९
तिस<तृषा:=प्यासा ४८९.९
तीख<तिक्ख<तीक्ष्ण ५१५.४, ५६०.८, ५८६.७, ६१६.२, ६२५.६
तीतर<तित्तिर=पक्षि-विशेष ५४१.३
तीवइ<ती<स्त्री ११७.५
तुरंग<तुरग=घोड़ा १११.४
तुरकाना=तुर्कों की बस्ती ४५६.६
तुरुंज<तुरंज [फ़ा०]=एक प्रकार का नीबू ४३६.४
तुरै=तुरग ८६.७, १२८.६, १७१.४, २७३.७, ३६४.३, ३८५.७, ६१३.४, ६२२.९, ६२८.२, ६३०.८, ६३५.९, ६४१.२
तुल्=तुलना, पहुँचना ७१.३, १९०.१, ३८४.२, ३९६.१, २०५.२,
तूंबी<तुम्बिका ६१६.७
तूर<तूर्य २६०.६, ५२७.५
तेंदू<तिंदुय<तिन्दुक=वृक्ष-विशेष ४३६.२
तेत<तेत्तिअ<तावत्=उतना ९७.३, २८६.९, ४५६.४
तेतखन<तत्क्षण ३९६.३, ४५१.२, ४६०.१, ५१२.२, ५५२.३
तेलिया<तैलकन्द=विष-विशेष ४२२.७
तैस<तइस<तादृश १८०.६
तोख<तोष=प्रसन्नता ३१७.३
तोखार=तुखारिस्तान का घोड़ा २६.४, ४६.४, १५७.२, २७३.६, ५१२.५
तौ<तउ<तदा=तब १७३.४, १७९.५
थरि<स्थली=वसेरे का स्थान ३७१.९
थांभ<स्तम्भ ३५६.५
थाक्<थक्क<स्था=रहना, रुकना १३६.६

थाक् <थक्क=भ्रान्त होना १५७.३, ५३५.१

थाटी <थट्ट = समूह १४७.१

थाती <थत्तिअ <स्थातृ = धरोहर ३८६.५

थाना <स्थान = सैनिक केन्द्र ५३२.६

थार <थाल <स्थाल ११३.१, २८३.२, ३२५.५, ४८३.१

थाह <स्थाघ = गहराई की समाप्ति २३८.२, २५१.६

थिर <स्थिर १०१.७, १३७.१

थिरक् = क्षिप्रगति से पद-निक्षेप करना ४०१.६, ४२७.६

थीति <स्थिति = स्थिरता ३४३.३

थूनी <स्थूण = पेड़ का कटा हुआ धड़ ३५६.५ ४०७.३

थेघ् = थामना, टेकना ३६३.२, ५०८.६, ५२६.३

थोर <थोव <स्तोक = अल्प ७४.५, १३६.२, २४०.५

दंगवै = पाटण का एक पुराण कालीन शासक जिसे एक घोड़ी के लिए कृष्ण से युद्ध करना पड़ा था ३६१.२, ५०८.९, ५२६.८, ६२९.६

दंड <दण्ड = डंडा १२६.५

दंद <द्वन्द्व ३.६

दखिना <दक्षिणा ४६०.८

दगला = रुई भर कर बनाया गया गर्म अँगरखा २७६.७, ३४०.२

दत्त = दिया हुआ दान १४६.१, ३८६.३

दधि <उदधि = जलाशय २३४.७

दधि = समुद्र-विशेष ३९७.९, ५१६.५

दमन <दमयन्ती २५५.७

दयंत <दैत्य ४.७

दर [फ़ा०] = द्वार ४७.३

दर् <दल = सेना २६.३, १२९.८, २४१.३, २४२.२, २६४.६, २८०.५, ३६ ३३४.२, ४२५.२, ४९५.८, ५०१.२, ५१६.४, ५१८.२, ५२०.५, ५३०.९

दरमर <दलित-मृदित ५१७.३

दवँगरा = वर्षा का प्रथम जल ३'१४.७

दवाँवाँ <दमामः [फ़ा०] = नगाड़ा, डंका ४२७.१

दसन <दंसण <दर्शन = नेत्र १५८.५

दसौंधी <दश + बन्धिन् = दशम अंश का अधिकारी २६३.१

दह् = दग्ध होना २९.६, ३१०.३, ३५८.६

दहिनावर्त <दक्षिणावर्त = बाएं से दहिने मुड़ने की क्रिया १३८.९

दाइज <दायाद्य = विवाह में दिया गया द्रव्य २८६.९, २८७.१

दाउ <दाय = खेल की बाज़ी ४१२.८, ४२४.३

दाउदखानी = चावल-विशेष ५४४.२

दाख <द्राक्षा = अंगूर ५६.९, ६२.५, ११३.७, १५४.४, २५४.९, ४३६.३, ५५३.५

दाग्—दाग़ [फ़ा०] <जलाना = तप्त, लौहादि से चिन्हित करना २००.२, ६०४.६

दाग <दाग़ [फ़ा०] = तप्त लौहादि से आँके जाने का चिह्न २००.२

दादुर <दद्द र <दर्दुर = मेंढक २४.९, ३३७.३, ४४१.३

दाध् = दग्ध करना, दग्ध होना १५२.२, ३६०.२, ३६४.९

दाना <धान्य = नाज ७०.३

दानी <दानिन् = दान लेने वाला ३८६.९, ३८७.१

दामन <दमयन्ती ४१७.६

दाय = खेल का दाँव ४१३.२

दारय् < = फाड़ना ४३९.३

दारिवँ <दाडिम ५६.९, ६२.५, १०५.६, १०७.९, ११३.७, ४३७.५

दारू [फा०]=बारूद ५०६.४, ५०७.१, ५२५.२
दावा<दवा=दावाग्नि ३७०.४
दिआर<दियार [अ०]=प्रदेश १७७.२
दिढ़<दृढ़ ८१.३, २९५.८
दिनअर<दिनकर=सूर्य १.६, ३५५.८, ५२१.२, ६४३.३
दिप्<दिप्प<दीप=चमकना ३२.६, ४७.४, ५२.३, १०७.३, ११०.८, ३१५.६, ३८८.७, ४१७.४, ५२३.३, ५६६.१
दिब्ब<दिव्य=तप्त लौहादि, जिन्हें सत्य प्रमाणित करने के लिए उठाया जाता था २३०.१
दिया<दीअअ<दीपक ५०.७, १००.२, १४९.६, १९०.६, १९५.७, २३८.६, २४६.८, २८२.४, ३६२.५, ३८३.८,
दिया दीप<दीउ द्वीप (?) २५.५
दीप<द्वीप ९४.२, ९५.६, १२५.३, १३७.९, १३९.८
दुआदस बानी<द्वादशवर्णिन्=खरा [सोना] ९३.४, १००.८
दुइजि<द्वितीया ५५.३, १०१.१, २९७.६
दुंद<दुंदुहि<दुन्दुभि (?) १८९.२, ३४४.१, ४९५.२, ५५१.९, ५७७.७ ६३९.७
दुखंत-साकुंतला<दुष्यन्त-शकुन्तला २००.६
दुत<द्रुत=शीघ्र ५८६.१
दुपहरी=पुष्प विशेष १०६.२
दुहेल<दुर्हेल्य ९८.१, १७१.६, २००.१, २४८.७, ४१०.८, ५७६.२, ५८८.५, ६४२.४
दुहेली=दुर्हेल्य दुःखग्रस्ता २५४.२, ५८१.१
दूबर<दुर्वल ३५६.५
दूभर<दुब्भर<दुर्भर=जिसका निर्वाह करना कठिन हो ३४६.१, ३४९.१, ६१६.९
दूलह<दुल्लह<दुर्लभ ५८५.६
देव [फा०]=दैत्य ३९१.१, ४९४.१
देवगिरि=दक्षिण का प्रसिद्ध राज्य ४९८.६, ५००.७
देवहरा<दिवह+डा<दिवस ३३५.९
देवारी<दीपावलि=दीपों की पंक्ति १९०.७, ३४८.५
देसंतर<देशान्तर १७.५
देसरा<देश+डा ३५९.८
देहुला=चावल-विशेष ५४४.३
दोल=झूला, हलचल १५७.५, ४९०.४
दोह<द्रोह ६१०.४
दोहाग<दोहग्ग<दौर्भाग्य=दुष्टभाग्य८९.२
धँधारी=गोरखधंधा १२६.४
धँधोर=चक्करदेने वाली हवा १६७.४, ६०६.४
धज<ध्वज=तना ५५.१
धाजा<ध्वजा=३४४.२, ५०७.४
धना<धान्या=धनिया ३८२.४, ५४५.५
धनि<धन्या=स्त्री ८९.१, १०२.८, २०७.५, २२६.१, २३२.१, २४७.८, २८६.५, ३०१.१, ३०२.८, ३०९.१, ३२०.१, ३३३.१, ३३५.२, ३३८.६, ३८०.१, ३९८.९, ४१८.८, ४२९.२, ४७५.१, ४८५.१, ४८६.१, ६०४.९
धनुकार<धाणुक्क<धानुष्क=धनुष चलाने में पटु ५१४.९
धमारि=वसंत का एक औद्धत्यपूर्ण नृत्य गीत ३३५.५, ३५३.१
धर=धड़, शरीर का सिर के नीचे का भाग १४३.८, १९२.९ २१९.५, ६३२.५, ६४६.४
धरक=धड़कन, घबराहट २४४.२
धरमसार<धर्मशाला ६००.१
धरहरि=रोक थाम, बीच बचाव २०३.२, ३३४.८

घरहरिआ=रोक थाम या बीच बचाव करने वाला ४४४.९

धवलसिरी>धवलश्री=श्वेत रोली ३७.५

धसमस् = धसमसना, हिलना १४.६

धाइ<धात्री ८५.४, ८७.१, १६९.६, १७२.१, ५९१.१

धानुक<धाणुक्क<धानुष्क=धनुष चलाने में पटु १०२.६, ४६९.६, ५०४.५

धाव् =दौड़ना १४४.३

धाह=धाड़, चिल्लाहट ४०४.५

धिक्<दह् (?)=तप्त होना ३०८.४, ४९३.५, ५५७.८

धुंगार=एक प्रकार की मसाले की छौंक ५४७.२, ५४८.४

धुंध=धुंधलापन ३६५.१

धुन्<धू=धुनना ३७८.१

धुव=ध्रुव नक्षत्र १०१.५, १०९.८

धूत<धूर्त ३९.८, ४५२.७

धोर<धुर=अग्रभाग, शाखाएँ ५५.१

धौर<धवल ३४४.२

धौरहर । धौराहर<धवलगृह ४४.२, ४८.२, ४८.७, ५४.२, २७८.१, २८८.१, २८८.८, ३३१.७, ४५०.८, ४५४.१, ४६९.१, ५११.६, ५५५.९, ५५७.१, ५६९.२

धौरी<धोरणी=पंक्ति ५१६.२

नई<नमित=झुकी हुई ४८१.४

नँघाव्<लङ्घापय्=लँघाना ५९९.७

नंस्<नश् = भागना, नष्ट होना, बिगड़ना ३१८.२, ३४३.७

नंस<नाश ३१६.७

नकटा = पक्षि-विशेष ५४१.६

नक्ख<नख=वनस्पति-विशेष ५४७.६

नखत<नक्षत्र ६७.४, १००.९, १०४.५, १०७.५, १६०.७, ५१५.५, ५२१.३, ५६३.१, ६२५.८

नग<णग्ग<नग्न ९९.५

नगवासी<नाग पाशिक ९७.४

ननँद<णणंदा<ननान्दृ=पति की बहिन ६०.७

नय्<नम् ५८६.८

नयन=[१] नेत्र, [२] छाजन के छिद्र ३५६.६

नर = नरकुल, बाँस की कमाचियाँ जिन्हें जोड़ कर बहेलिया लग्गी बनाता है १७६.६

नरपती<नरपति २६.७

नरवर=स्थान-विशेष ५००.२

नराज् = नाराज़ होना, क्रुद्ध होना १४७.५

नरियर<नालिकेर २८.४

नरिया=मत्स्य-विशेष ५४२.४

नल-दमावति<नल-दमयन्ती २००.७

नव्<नम्=नमित होना, झुकना १३.४, १७०.६, २७७.३, २७८.७, ३८१.६, ४३७.५, ५५२.८

नवगिरही=नवग्रह-संबंधी नगों से जटित बाहुका आभरण-विशेष ३९२.५

नवनाथ=नाथ-संप्रदाय के नौ प्रसिद्ध योगी २६४.८

नस<णसा [दे०]=नाड़ी ४८४.५

नस्ट<नष्ट=नष्टार्थ, जिसकी सम्पत्ति चली गई है ७४.२

नाइत<णायत्त [दे०]=समुद्री व्यापारी ५३७.६

नाई<न्याय १५.३, २०३.५, ४९३.१

नाँकी = नियंत्रण-केन्द्र २१५.४

नाँग<णग्ग<नग्न ६१९.३

नाँघ्<लङ्घ् = लाँघना ७४.४, १४१.९, १५१.८, ५५६.१

नाँठा<णट्ठ<नष्ट २२३.७, ४२१.२

नागसुर = वाद्य-विशेष ५२७.५
नागेसरि = नागकेसर पुष्प, ३७७.६, ४२९.६, ४३४.५
नाच<नृत्य ३९.४
नात<ज्ञाति = सजातीय ७.३
नाती<नप्तृ = पुत्री का पुत्र २६६.७
नाथ्<नस्त करना = नाक में डोरी पिन्हाना २१६.३
नाथ<णत्थ<नस्त = नकेल, नथ, नासिका का आभरण-विशेष १५.४, १४२.८
नाथ = योगी १४७.८
नाद = वाद्य ५५७.८
नारँग<नारंग = नारंगी ४३६.३
नार<नाल १११.१
नारी<नाडि = नाड़ी १२०.३, ४४५.८
नारी<नलिका = तोप ५०४.३, ५०७.१
नाव्<नामय् = नमित करना ८०.३, १७१.७, २७८.७, ३३४.७
नाव<नौका ५८.९
नावत<नापित = नाई १९२.४
नास्ति = नहीं है, अनस्तित्व की स्थिति २२१.५, २४५.६
नाह<नाथ = स्वामी ६२.८, ८३.४, ८६.६
निअर<णिअड<निकट २७.१, १२०.३, १२१.९, १५५.९, १५९.८, २५५.४, ३५०.३, ३९१.६, ४५७.१, ५८४.६, ६३६.९, ६४४.७
निअराय् = निकट होना ३८९.२,
निआथि<णत्थि, नास्ति ४०१.८
निआन<निदान १३०.२, १६१.६, ३८४.७
नित<नित्य ९.९, ३७२.८
निकंद<निष्कन्द = कन्द हीन, नष्ट ६३८.३
निकस्<णिक्कस्<निर्+कस् = निकलना १५९.४
निखिद्ध<निषिद्ध ६४३.८
निखेध = निषिद्ध विषय १९७.७
निजु = ठिकाने का, निश्चित ३६०.७, ३६६.४
निठुर<णिट्ठुर<निष्ठुर ७८.२
निडेर् = बाहर निकालना ३९०.७
नित<नित्य ४७.३, ७८.६
निति = निमित्त १६३.७, ३०७.४, ३०८.४, ३१४.३
निनार<णिण्णयर<निर्नगर = बाहर किया हुआ, खालिस, अलग ८०.२ ९१.५, १५६.५, २२७.३, ३११.३, ३१३.६, ३७९.७, ६३२.५
निपात<निष्पत्र १८३.७, ३५९.५, ३५८.९, ५२०.३
निबर्<णिवट्ट<नि+वृत् = निवृत्त होना, निबटना ६४५.९
निबह्<निर्वह् = निभना १४१.५
निबहुर = वह स्थान जहाँ से कोई वापस न जाता हो ५८१.३, ६०३.६
निबाह<निर्वाह १५६.३
निबेरा<निर्वृत्ति = छुटकारा, मुक्ति २६१.५
निमिख<निमेष २.८
निरंग = ख़ालिस, बिना मिलावट का ६३१.३
निरख<णिरिक्ख<निर्+ईक्ष् = भली भाँति देखना ४७९.२
निरार<निरालय = घर से बाहर, पृथक् १५.६, १४०.५, २१३.३, २६१.७, ३२५.२, ४७९.४
निरास<निराश = निराश्रित, निरपेक्ष ५.७, ३०.६, ११४.९, २०२.७, २१०.७, २१९.९, २४४.४
निरुवार् = पकड़ कर निकालना ५४२.५
निसर्<णिस्सर<निर्+सृ = बाहर निकलना १९५.९, ४५०.१, ४५४.६, ५१०.२, ५८८.७, ६०७.३
निसस्<णीसस्<निर्+श्वस = निःश्वास लेना ११९.५, ४३०.५

निसान<निशान [फ़ा०] = वाद्य ४७.३
निसु = संपूर्णरूप से १२४.८
निसेनी<णिस्सेणि<निःश्रेणि = सीढ़ी २६७.४
निसोग<णिस्सूग<निःशूक = निष्करुण ५७.८
निहाउ<निहाति = निहाई ६३६.३
निहार्<निभालय् = देखना
नींद<निद्रा १२९.५
नींबि<निम्ब ४३६.१
नीक<णिक्क [दे०] = निर्मल ४३५.१
नीवी, नीवींबंध = नारा, ईजारबंद २९९.६
नेग = पुरस्कार १२०.१, २८२.६
नेगी<नैगमिक = कर्मचारी ६२४.२, ६४७.
नेजा<नेज: [फ़ा०] = भाला ६३०.५
नेत<नेत्र=वस्त्र-विशेष ३३६.५, ४८५.७, ६४१.८
नेम<नियम १४८.८
नेवछावरि<णिवच्छ [दे०] + आवलि = वारे गए पदार्थों की राशि १२५.९, २१०.६, २६२.३, २८६.८, ३०५.९, ३१५.९, ६४०.२, ६४८.७
नेवत<निमंत्रण २७५.१
नेवती = एक प्रकार का पान ३०९.४
नेवर्<नि + वृत् = लौट जाना, छोड़ना समाप्त होना २५९.१, ५८४.१
नेवार्<निवारय् = निवारण करना ४३४.१
नेवारी = पुष्प-विशेष ३०७.१
नेह<स्नेह १२२.३, १५१.९, ३००.६,
नै<नइ<अनइ (?) = और १४६.४
नै<नव = नवीन २३७.१
नैहर<णाइहर<ज्ञातिगृह = माता पिता का घर ६०.३, ३७८.६
नौजि<नैव = नहीं ही ३६९.२
नौसाबा<नौशाबा = इस नाम की कोई ऐतिहासिक रानी ६२१.२
नौसेरवाँ<नौशेरवाँ = प्रसिद्ध न्यायी मुसलमान शासक १५.२
पंख<पक्ष = डैना १०४.९, १५०.२
पंखि<पक्षिन् = पक्षी १०.३, ५६.६ ५८.४, ६८.१, ९४.२, १६२.१, १८२.५, ३५०.६, ३५४.८, ४२७.४, ४४१.३
पँखुरी<पंख + डी<पक्ष = पत्र ३१.५, ४८५.२
पँखेरू<पक्षधर = पक्षी १२७.८, २२८.४, २८२.५, ३६६.३
पंचतूर<पञ्चतूर्य ६३५.४
पंडव = महाभारत के योद्धा ५७६.७
पंडुआ = पश्चिम वंग की एक प्रसिद्ध स्थान जो किसी समय उसकी राजधानी था ४९८.६
पंडुआई = पंडुआ का बना हुआ ३२९.२
पंडुक = पक्षि-विशेष ३५८.३, ५४१.४
पंथ = मार्ग ८८.५
पँवरिआ = प्रतोली रक्षक ५५२.८
पँवरी<पओली<पतोली = मुख्य द्वार ३६.२, ४०.२, ४१.४, ४४.३, २१५.३, २१७.६, २५६.४, ५२७.१, ५२९.४, ५३४.५, ५५२.४, ६५१.७
पँवरी<पादत्री = जूठी, खड़ाऊँ १३७.३
पँवार<प्रवाल ३७.४, १०५.४
पईठा<पईट्ठ<प्रविष्ट २४९.५, ४३१.७, ४८६.४
पएज<प्रतिज्ञा ५८३.३, ५८५.८
पख<पक्ष १६२.५
पखर = अश्व-कवच ४९९.५
पखाउझ<पक्खाउज्ज<पक्षातोद्य = मृदंग की भांति का वाद्य-विशेष ५२७.३
पखान<पाषाण १७९.६, ५६६.५
पखार्<प्रक्षालय् = धोना १३१.५, ५४५.१ ५४७.१

पगार<प्राकार=परकोटा ४८३.७

पच्=पकना ३०८.५

पछताउ<पश्चात्ताप ५७.७, ७५.१, ४११.९, ५६८.९

पछिलगा । पछिलागू<पश्चात्+लग्न २३.३, १३६.७

पछियाउरि=भोजन के अंत में परसा जाने वाला मीठा व्यंजन २८४.७, ५५०.९

पटुवा<पट्टवायक=रेशमी वस्त्रों का बुनकर ३२९.१, ३८५.४

पटोर<पट्टकूल=रेशमी ओढ़नी ३२९.२, ३५१.७, ६०१.३, ६०२.६, ६४८.१

पढ़ा<पढिअ<पठित=पढ़ा हुआ ७६.९

पढ़िना=मत्स्य-विशेष ५४२.१

पढ़िनी=चावल विशेष ५४४.५

पत<प्रत्यय=विश्वास ९३.२

पतंग=पतिंगा ५०२.५

पतार=पाताल ५०९.१

पति<पत्ति<प्रत्यय=विश्वास २२२.४

पतीय्<पत्तिअ<प्रति+इ=प्रतीति करना ५७१.९

पत्रावलि=पत्रभंगी, कस्तूरी आदि से मुख पर बनाई हुई फूल पत्तियाँ २९७.३, ४७१.२

पदारथ<पदार्थ=बहुमूल्य मणि ३७.४, ५२.६, ७३.५, १७९.१, २१३.४, ४१०.५, ५८३.२, ६३३.९

पदिक=माला के मध्य में लगने वाली चौकी ७३.५, २१३.४, ४१७.७, ४१८.१, ५८३.२

पदुमिनि=पद्मिनी जाति की स्त्री २५.१, ३२.१, ३६.९, ५३.५

पनच्<प्रत्यञ्चा ४७३.२, ६१९.४

पनवार<पर्णमाल=पत्तल ८३.१, २८३.९

पना<पर्ण=पन्ना ४३८.६

पपीहा<पप्पीअ [दे०] =चातक २९.४, २२६.९

पबार्<पवाड़<प्रपातय्=दूर हटाना, फेंकना १५१.४, १९२.३

पब्बै<पव्वइ<पर्वत ४५.६, २४१.४, ५१०.७, ५२५.५

पयान<प्रयाण ८२.२, १३६.१, १३९.१, ३४२.७, ३७२.४, ४२१.८, ४५७.१, ४९५.४, ५०१.४, ५०५.१, ५११.१

पर्<पड्<पत्=पड़ना ११८.४, २१४.७, ३१०.१

पर<पट्ट=फलक, पल्ला १४९.४

पर<परम्=हो न हो ४३९.५

परकाया परवेस<परकायप्रवेश=एक के जीव के दूसरे की काया में प्रविष्ट होने की कला २५८.८, ६००.८

परकार<प्रकार ५९६.१

परकीरति<प्रकृति ४६३.१

परख्<परीक्ष्=परीक्षा लेना, जाँच करना २१५.१

परगस्<प्रकाशय् ९६.३

परजर्<पज्जल्<प्रज्वल्=अतिशय दग्ध होना २००.२, ६७०.१

परदाह<प्रदाह ४७२.५

परबता<पर्वतक=पर्वत का निवासी ७६.५, १६४.२

परभात<प्रभात=चमकीला ३५९.५

परला<प्रलय १५५.७, ५२६.७

परवान<प्रमाण २६९.५, ५३७.५

परस्<स्पृश्=स्पर्श करना १९.७, १९१.५, ४१८.३,

परस<स्पर्श [मणि] ४४.३, ५२.५, १७८.७, ४८७.४

परस<स्पर्श २०१.४, ४१९.६,

परसबद=अनाहत शब्द २५९.६

परहाँसी <मत्स्य विशेष ५४२.४
परहेल् =प्रहेला करना, कर्त्तव्य में असावधानी करना ८९.८
पराई <परकीया ३८०.२
परापति <प्राप्ति १९५.४
पराय् <पलाय् <परा+अय् =भागआना, ६९.५, ५१८.९
परावग्र <परायग=परकीय, पराया १८१.२
परास <परस् <स्पृज्=स्पर्श करना १७४.५
परास <पलाश=ढाँक के पत्ते १८३.५, ३०८.७, ३७०.४, ५०८.२
परिगह <परिग्रह=४९५.८, ४९६.१
परिगाह् <पडिगाह <प्रतिगृह=ग्रहण करना ३६१.२
परिछाही <प्रतिच्छाया १०९.७, २४५.३
परिछेव <परि+च्छद्=भली भांति विद्ध करना, छिन्न भिन्न करना ३०५.५
परिभौ <परिभव=पराभव, तिरस्कार ३४०.८
परिमल=भीनी सुगंध अथवा किसी सुगंधित पुष्प से बनाया गया पुष्पसार ५९.९, ११७.८, ३३५.५, ३३६.२
परिहर <परिहृ=त्याग करना ४३०.९
परिहँस <परिहास ११६.३
परीखा <परीक्षित ६१५.४
परेख् <प्रेक्ष्=देखना ५५१.२
परेवा <पारेवय < पारावत = पक्षि, विशेष (कबूतर), संदेशवाहक पक्षी, ६८.२, ७२.४, ७७.१, ९३.६, १११.३ १३०.७, १७६.४, १८१.७, १९२.३, २२४.१, २५७.३, २६१.६, २६९.३, ३५८.३, ३७२.६, ३७५.२, ४१५.१, ४३२.६, ५०२.१, ५३४.४
परेह=तरकारी का रस्सा ५४५.६, ५४७.८
परेह <परिहिअ <परिहित=पहना हुआ ६०६.८
परोस् <परिविष्=भोजन परसना २८४.१
पलंक <प्लक्ष (?)=द्वीप-विशेष २०६.३, ३५५.३
पलँग <पर्यंक=२९१.५
पलट् <परि+अस्=बदलना, लौटना ४२५.२, ४९४.१
पलान् <पर्याणय्=अश्वकवच आदि से सुसज्जित करना ३४७.३
पलानी <पर्याण=घोड़े हाथियों का साज ४९५.९, ६१०.६
पलुह <प्ररुह=अंकरित होना २०२.५, २५४.४, ३२०.७, ३४३.९, ३४७.२, ३५४.९, ४२३.४, ४३२.१, ४७८.४, ५७०.६, ५९१.६
पलुहाव <प्ररोपय्=अंकुरित करना, हराभरा करना ४२८.७
पवनि=विभिन्न अवसरों पर उपहार पुरस्कार पाने वाली जातियाँ १८५.८
पसाउ <प्रसाद=उपहार, कृपाभाव २९२.३, ५६६.६
पसार <प्रसार ३७.५
पसार् <प्रसारय्=प्रसार करना ४१.६, ६३.३ २२०.६, २४८.६, ३४६.३, ३९९.१, ५२०.४,
पसीज् <पसिज्ज <प्रस्विद्=पसीना छोड़ना, पिघलना २०२.५, २२८.७, ३४२.३, ५१७.६, ६१०.१, ६२०.५,
पसेउ <पसेअ=प्रस्वेद २२५.२
पहल <पहल्ल <प्रथित=फैलाया हुआ, फुलाया हुआ ३५१.२
पहारू <प्रहरिन् १७३.३
पहिर <परि+धा=पहिनना ११२.५
पहुँची=कुहनी के नीचे बाहों का कवच ५१२.४

पहूँच<पहुत्त<प्रभूत=पहुँचा हुआ १६१.१
पाइ<पाअ<पाद = चरण ३२.५
पाउ<पाअ<पाद=चरण २३७.९, ३७५.९, ५०६.८
पाऊ<पाउआ<पादुका=खड़ाऊं ४०९.५, ५८६.४
पाएल<पाद=कटक २९९.८
पाँख<पंख<पक्ष = डैना १०.३, ६६.२, ६९.९, ७०.१, ९३.७, १३८.२, २२३.३, ४४०.७
पाँखी<पंखि = पक्षन् ४.५, १०४.९, ३६७.९
पाँजर<पञ्जर ३४१.९, ३६९.७
पाँन<पण्ण<पर्ण=पत्र, पत्ता ४७८.२
पाँडे<पंडिअ=पण्डित ४१०.१
पाँति<पंक्ति ३२.४
पाँव<पाअ<पाद = चरण १४७.९
पाँवरी<पादत्री=सीढी ३०.१
पाँवरी<पादत्री=जूती, खड़ाऊँ १२६.७, १६७.६, २७६.८, ३६१.५, ६०१.६, ६०३.४
पाँसा<पार्श्व = चौसर का पाँसा ४४.६, ४५४.८
पाक<पक्क<पक्व=पक्का ४७७.१
पाकर = वृक्ष-विशेष ४३६.६
पाखर = पक्खर, अश्व कवच, पक्खर से सुसज्जित अश्व सेना ४९६.२, ५१३.४, ५१४.१
पाछु<पच्छ<पश्चात्=पीछे १२८.९, ६१८.७
पाजी<पदाति ४१.२
पाट<पट्ट = पीढ़ा, सिंहासन १३.२, ४७.४, ४९.४, ८३.२, १०१.५, १२९.१, १७६.२, २२०.३, २५६.१, २८५.४, २५९.७, २९०.९, ३३०.१, ३७४.९, ४०३.४, ४२४.९, ४३४.२ ४८३.२, ५५५.६, ५७०.१, ५९५.३, ५७३.५, ६०७.५, ६०९.८, ६१२.९, ६४०.६, ६४१.९, ६४९.३
पाट महादेई<पट्ट महादेवी = पट्ट महिषी ३४३.१
पाट<पट्ट = चौड़ाई, फैलाव १५६.६
पाटा<पट्ट = काष्ठ फलक, पल्ला ३९६.७, ३९७.२, ४००.२,
पाटि<पट्टिका = महानदी और गोदावरी के बीच की पट्टी ४९८.५
पाटि<पट्टिका=बालों की पट्टी ४७१.२
पाठ = शास्त्र १०८.८
पाढित<पाठित = पढ़ाया हुआ, मंत्र ११.५, ४४८.६, ५८५.२
पातर<पत्रल<पत्तल = पतला १५६.७
पाती<पत्री १८८.८, २२९.८, ३७५.२ ५०१.३
पान<पण्ण<पर्ण = पत्ता ताम्बूल, सज्जित ताम्बूल ३९.१, ११४.२ २८५.२, ३०८.८, ३२१.३, ४६६.७, ४७६.१, ५४९.८
पानी<पानीय = कान्ति ५७.३
पापर<पप्पड़<पर्पट = पापड़ ५८६.३
पाय<पाअ<पाद=पैर १२९.१, १३१.५, १६३.१, २२३.३, २४३.८, २३५.१, २८७.९, ४६३.२
पायँ<पाअ<पाद=चरण ६०५.२, ६०५.३
पार्<पारय् = सकना, समर्थ होना १०.१, ११३.९, १४६.७, १४९.२, १५२.७, १७२.९, १९६.५, २०७.८, २३०.७, ३०४.८, ३८५.२, ३८९.५, ४४३.३, ५८०.३, ५९०.७, ६३४.६,
पार्<पाड्<पातय् = गिराना ६२६.२
पार = दूसरा (दूर का) किनारा ४०५.५
पारस<स्पर्श [मणि] ६५.१, ३०३.२, ४७२.६, ५७१.६

पारी<पाली=पंक्ति, पक्ष २६६.९

पाल<पालि=तालाब का बाँध ३१.८, ६७.५

पालक<पर्यंक=पलँग ५९२.५

पालक पीढ़ी<पर्यंक पीट=सीढ़ियों के बीच में पड़ने वाली चौड़ी सीढ़ी ५५३.३

पाला=तुषार ३४०.१, ३५१.१

पालौ=पल्लव १८३.७

पाव्<पाअ<प्राप्=पाना १२४.२, १६९.९

पावस<प्रावृट्=वर्षा ऋतु ३३७.१, ३५९.८, ४२४.२, ४२७.३

पास<पार्श्व=पक्ष, पहल १६५.२, ३८८.५, ४१८.६, ४४१.३

पासा<पार्श्व=चौपड़ का पाँसा ३८.७, ३१२.१, ३१३.१

पाह<पार्श्व ४०४.८, ४०८.३

पाहन<पाषाण ६६.७, १०७.८, २०२.४, २०५.५, ३१५.६, ३८९.३, ४०२.६, ४२८.२, ५२३.४, ५३३.५, ६०९.६,

पाहुन<पाहुण<प्राघुण=पाहुना ३८०.५, ४१९.१, ५६१.६

पिअर<पीअ+डा=पीत ७७.४, १०५.३, ११६.३, १६९.४, १८३.७, २११.४, २५२.४, ३५२.२, ३५८.७, ४३९.४, ५९४.९

पिअराई<पीतता ९०.६

पिआर<प्रियालु ५८.४, ६०.८, १९६.५, २४६.५, २६१.७, ३०१.५, ३२४.३, ३२५.२ ३३८.१, ३९९.४, ४३१.१, ४६५.१, ६४८.६

पिआरी<प्रिय+आलि ८३.४, ८९.४, ३७९.७, ४३५.३

पिआस<पियासा ८०.८, २२७.१

पिआसा<पियासत्=प्यासा, २२७.४ २३४.५

पिंगल=छंद : सूत्र १०८.८

पिंगला=भर्तृहरि की प्रेयसी १९३-७, २०८.३, ५९५.८

पिंगला=दक्षिण नाड़ी २३५.३

पिदार=पक्षि-विशेष ५४१.६

पिनाकि<पिनाकी=एक प्रकार की तंत्री ५२७.४

पिरीत<प्रीत=प्रेमपात्र, प्रिय १३१.४, ३८१.७

पिरोव्<पूरय्=पूरना, गूंथना ८२.५

पीउ<प्रिय १३५.५, १७१.८, २२६.४, ३१५.८, ४६३.४

पीउ [दे०]=चातक ३११.६, ३४३.२, ५६४.२

पींड<पिण्ड २८.२

पीठि<पिट्ठ<पृष्ठ ४०७.७, ४१५.५

पीठ्=किसी व्यंजन को पिट्ठी से तैयार करना ५४९.२

पीर[फ़ा०]=महात्मा १९.८

पुख<पुष्य=वर्षा का एक नक्षत्र ३४४.७

पुछारि<पिच्छ+आलु=मोरिनी ९७.४, १११.२, ३५८.१, ४४२.१, ५४१.३

पुतरी<पुत्तली २९०.२, ३९८.२

पुरइनि<पुडइणी<पुटकिनी १५८.८, २५२.१, ५५५.४, ६३८.४, ६४०.९, ६४३.४

पुरबिला<पूर्वीय=पूर्ववर्ती १९८.७

पुरव्<पूरय्=पूरा करना, भरना, १६५.७, ३७६.९

पुरोव्<पूरय्=पूरना, भरना ४०२.३

पुहुप<पुष्प ८४.७, ३१८.८, ४४९.७

पुहुमि<पृथ्वी १३.७, ११६.१, ३३३.१, ५५६.१, ५६१.१, ६१८.४,

पूंछ<पुच्छ<प्रच्छ्=पूछना ८१.५

पूंछि<पिच्छ=दुम ४१.६, ४६.७

पूज्<पुज्ज<पूरय्=पूरा पड़ना १७.३,

४४.६, ५१.८ ८४.६, १०३.१, ११२.८, १५०.२, १५८.७, १६२.८, १७१.२, १८३.१, २०९.२, २४६.२, ३३२.७, ३७७.४, ३७७.६, ४३१.४, ४३७.७, ४३७.९, ४३८.७, ४४८.२, ४५६.४, ४६०.५, ६२७.३

पूनिउँ<पूर्णिमा ५१.४, २९७.१, ३३८.२, ६४८.२

पूर<पूरय् = भरना, [फूंक] भरना, ऐंठन देना १६७.३, २४५.५, २९६.६, २९७.३, ३३२.२, ३६१.४, ३६७.२, ४१४.८

पूरी<पूरिय<पूरित २४.६, ३२७.४,

पूरी = व्यंजन विशेष २८४.३, ४८३.४ ५४३.७, ५८६.३

पेई=पेटिका २१४.६

पेंडी<पिण्डिका=पान का वह पत्ता जो लता की पींड के पास होता है ३०९.२

पेंडी<पिण्ड=पेड़ के तने का वह भाग जो भूमि के नीचे रहता है ५०५.७

पेख्<प्रेक्ष्=देखना ६४५.२

पेखन<पेणक्खनअ<प्रेक्षणक=खेल-तमाशा ३९.५

पेटार<पेटाल = वड़ी पेटारी ३८५.४, ३८८.९, ५८५.३

पेटारी<पेटिका=सन्दूक २६३.२

पेम<प्रेम ६३.७

पेमचा = वस्त्र-विशेष ३२९.६

पेराक = गुझिया ५५०.७, ५८६.२

पेल्<पेर्<प्रेरय् = ठेलना, ढकेलना ४५.६, १४६.५, १७०.५, ३३४.५, ५१६.६, ५२०.२, ६१८.६, ६१९.७

पैंत<पइत्ति<प्रवृत्ति=जुए की चाल, अथवा<पणित=जुए पर लगाया गया धन २१५.७

पै<परम्=हो न हो ८१.६, १४२.१, २२९.१, २६८.१, ३११.७, ३७६.५, ३७७.९, ४५५.६, ५९५.४

पैग<पग=पग ३८.३, ६९.२

पैज<पइज्जा<प्रतिज्ञा ३३३.४, ४४७.५

पैठ्=प्रविश् ६४.४

पैनाई<प्रकीर्णता (?)=तीक्ष्णता १५६.७

पैरी<पदत्री=पायदान २७६.८, ६४६.४

पैसार<प्रवेश ६४.४, १९१.१, ५९१.९

पोंछ्<पुछ्<प्र+उ ञ छ्=पोछना ७२.१

पोंछ<पिच्छ=पूँछ, दुम ५९३.७

पोखर<पुष्कर=तालाब ४२५.५

पोच<पोच्च [दे०]=असार, मलिन ५८.६

पोढ<प्रौढ़=समर्थ, प्रगल्भ, कठोर ४२८.३, ६१६.२

पोती<पोत्तिअ<पौतिक=सूती वस्त्र १५४.६

पोती<पोत्ती [दे०]=काँच की गुरिया ४३८.५, ५८३.३

पोरि<पर्वन्=ग्रंथि, गाँठ, हड्डी का जोड़ ४५३.४

पोलाद<फ़ौलाद=[अ०] ६३१.३

पौढ़्<पवड्ढ [दे०]=लेटना, सोना, २९१.७, ६५०.३

पौनारि<पद्मनलिका ११२.८, ३०२.७, ४८२.२, ५९१.४

प्रस्थाव<प्रस्ताव=प्रसंग, प्रकरण ३४०.७

प्रेमावती २३३.७

फंद<स्पन्द=फन्दा, बन्धन ९९.८, ४७०.६, ६१७.९

फनिग<फदिङ्गा=कीट विशेष १२५.६, १८२.४

फरजीबँद<फ़र्ज़ीबन्द=शतरंज की एक चाल ५६७.६८

फरहर्<फरफराव्=२६४.७ फड़फड़ करना

फरहरी < फल+फली ७१.३

फाँद् < फंद् < स्पन्द् = फँसना ७०.९

फाँद < स्पन्द = फंदा, बंधन ७१.९, ७२.३, ७७.६, ९७.२, २४४.६

फाँस < पाश = फन्दा २४४.३

फाग < फग्गु < फलगु=वसंत ३५.९, १८६.४, २०४.४, ३२६.९, ३३५.६, ३५२.५

फारी < फाडिय < स्फाटित=एक प्रकार का उत्तरीय ३२९.३

फिट् [दे०] = नष्ट होना ४०१.९

फिरंगी = फँरासीसी ५२५.३

फील < फ़ील [फ़ा०] हाथी ५६७.७

फुँदिया = फुलड़े वाली अँगिया ३२९.२

फुर < फुड < स्फुट = स्पष्ट, ठीक ४१२.१, ५५३.९

फुलवारि < फुल+वाडिआ = पुष्पवाटिका ३५.१, ४७.२, १८४.८, १८६.१, १८८.२, २७०.६

फुलहारी < फुल्लकारिन् (?) =फूल बनाने वाला (?) ३९.१

फुलाएल < फुल्ल + तैल = फुलेल ६३.९, २७६.६

फूल < फुल्ल = पुष्प १७३.७, २९६.४, ३२७.८

फूल डालि = फूलों की डलिया १८५.८

फेफर् < स्फीती-कृ = स्फीत करना, फुलाना, फैलाना ३९०.५

फेटा = कमरबंद, फाँड़ ६१७.३

फेनी = व्यंजन-विशेष ५५०.८, ५८६.२

फेर [दे०] = चक्कर, पुनरागमन ८०.७, ३५७.४

फेर [दे०]=घेरा, फैलाव १६२.६

फोंक = फुक्का, वह सरकंडा जो वाण में लगा होता है ५२४.३

फोरा < फोडअ < स्फोटक १६९.७

बंद [फ़ा०] = बन्धन २८०.४

वंदन < वन्दन [-माला] = वन्दनवार २७५.७

वंदनवार < वन्दन-माला = मांगलिक अवसरों पर बाँधी जाने वाली पत्र-माला २८५.३, ४२६.३

बँदि < बन्दी ७७.२

बंदिवान = बन्दी गृह ५७८.१, ६०४.४

बंध = बन्धन ३५६.४

बँवर = लता ३८१.५

वंसकारि < वंशिका+डी = बाँसरी १८९.३

वइरि < वदर = वैर ४३६.२

वईठ < बइट्ठ < उपविष्ठ = वैठा हुआ १०१.५, ४७७.४, ४७७.८

बएस < वयस् = अवस्था ६५३.१

बकचुन < मुचुकुन्द = पुष्प-विशेष ३७७.५

बक़त < वत्तख़ [फ़ा०] = पक्षि-विशेष ४००.४

बकतर < बख़्तर [फ़ा०]=सन्नाह ६३०.८

बकति < वक्ति = उक्ति, वचन २५२.९, ४५३.१

बकाउ = बकावली पुष्प ३७७.५

बकौरी < बकावली = चावल - विशेष ५४४.५

वखान < बक्खाण < व्याख्यान = वर्णन २४.३, ३९.३, ९४.८, १७७.३, १७९.३, १९५.१, २९६.७, ६५२.५

बखान् < बक्खान् < व्याख्यानय् = वर्णन करना ४९.२, ४२६.८, ५५१.१, ६४९.१

बगमेल = वल्गा (बाग) + मेल् (छोड़ना) कर घोड़े को दौड़ाने की क्रिया ६३२.१

बगर् < वि+कृ = फैलना, तितर-बितर होना ४७१.३

बघार् < वग्घार् < व्या+घृ = छौंक देना ५४५.३, ५४७.३

बचा < वचस् = वचन १६४.१

बजागि<वज्राग्नि १८०.२, २५०.३, ३६३.२, ५२३.४,
बज्जर<वज्र २०६.७
बज्र<वज्र=फ़ौलाद ४१.२, ४१.८
बटई=पक्षि-विशेष ५४१.३
बटपार<वट्ट+पाडय<वर्त्म+पातक = रास्ते में डाका डालने वाला १३६.५, १५१.६
बटवाँ=पीसकर पकाया जानेवाला [मांस] ५४५.२
बड़हन = चावल-विशेष ५४४.६
बड़हर<वडहर<वट+फल २८.२, ४३६.४
बड़ौना=एक प्रकार का पान (ताम्बूल) ३०९.३
बतीसी = दंत-पंक्ति १०७.२
बदन<वदन=मुख ४२३.९
बधाउ<बधाव<वद्धावण<वर्धापन= हर्ष-सूचक वाद्य ४२६.१, ६३८.९
बनफती<वनप्फति<वनस्पति २२८.५, ३५३.५
बनवारी<वर्ण-मालिका=सोने के वान (वर्ण) परखने की शलाकाएँ ८३.५
बना<वण्ण<वर्ण ४३८.६
बनान [<वन्]=बनावट ४१.५
बनाफति<वनप्फति<वनस्पति १८३.५
बनावरि<वाणावलि १०४.३
बनिज<वाणिज्य=व्यापार ७४.६, ७५.१
वनिज<वणिज्य=व्यापार का सौदा ७९.२, २१८.५
वनिजारा<वणिजारय< वाणिज्यकारक =व्यापारी २१८.१
बया = पक्षि-विशेष ३५८.५
बर्<बल्<ज्वल्=जलना २९१.३, ३६२.५, ४०२.५, ४१२.६
बरजन<वर्जन=निषेध ७.९

बर<वर<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक १५७.१, १७४.१, ३५१.८, ३५६.२
बर<बल २४०.७, ३१६.२, ४०२.७, ४०६.२, ५७२.९, ५८४.७, ६१२.१
बर<वट ४३६.६
बरत्<वर्तय्=बर्तना ९०.८
बरन<वर्ण=रँग २.६, ४५.४, ५४६.५
बरनक<वर्णक २५.२
बरम्हाऊ=ब्राह्मणों द्वारा दिया जाने वाला आशीर्वाद २६३.५
बरात<वर-यात्रा २७५.९, २८२.१
बराती<वर-यात्री २७९.५, २८१.५
बरिअ<बलिन्=बलवान् १५.७, ६३७.७
बरिवंड<बलवंत<बलवत् = बलवान २६६.२, २७८.८, ६३७.१
बरु<वरम्=अपेक्षाकृत अधिक, भले ही, बहुत हुआ तो १४२.५, १४२.७, १६८.४, १७०.१, २४२.६, २४८.३, २५३.७, ३२४.६, ३४१.३, ३५७.२, ३८५.६, ३९३.७, ४३०.९
बरुनी=पलकों के बाल १०४.१
बरोक<वरौत्क्य=वरिच्छा ५३.९, १२०.९, २६९.६, २७४.२
बरोठा<द्वार+[प्र] कोष्ठ=द्वारों वाला प्रकोष्ठ, खुली बैठक ५८७.२
बरौरी=[उड़द की] बड़ी ५४९.७
बलय<वलय=चूड़ी २८०.४, ३२१.२
बलि=प्रसिद्ध पौराणिक दानव-राज १७.२, २६५.४, ३४१.४, ६१४.९
बल्लव=रसोइया, भीम का अज्ञात वास का नाम जब वे रसोइए का कार्य करते थे ६१४.६
बसंत=वसन्तोत्सव, वसंत की पूजा
बसगति=बस्ती ५५४.१
बसा=बर्र २९९.६

बसाव्=सुवास युक्त करना ३२.२
बसी<वसिअ<उषित=बासी, पर्युषित ३२२.३
बसीठ<वसिट्ठ<वसिष्ठ (?) = दूत ११.६, २१७.९, २१८.१, २१९.७ २६८.९, ५३७.९
बसेरा=पड़ाव ४१.९
बहराव्=बहलाना, सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना ३३५.९
बहाव्<वाहय्=फेंकना ३२०.५
बहिर<वधिर ८०.६, ४५३.३, ५८५.५
बहुर्<वाहुड्<व्याघुट्=लौटना ५३.१, ९५.२, १३३.१, २२३.१, २३६.१, २५८.९, ३४९.५, ४१९.९, ४२२.१, ४३२.२, ५८१.३, ६२०.८
बहुल = बहुतेरा ३९.२, ७०.२, ४१०.६, ४२२.२
बहोर्=वापस लाना १०३.४
बहोर्<वाहुड्<व्याघुट्=लौटना ७४.८, ६३८.५
वाउ<वायु ३८९.१
बाउर<वाउल<वातूल=वातग्रस्त, बावला १०.७, ३९.७, ८२.९, १२१.१, १२७.५, १४४.४, १५१.९, १६५.१, १७८.३, २०२.६, २३८.३, ३२२.६, ३४२.१, ३४५.२, ४०७.६, ४१३.४, ४४७.४, ४४९.६, ४५३.३, ४६९.२, ४९६.९
बाँक<बंक<वक्र=सुन्दर, विचित्र ३२.७, ४०.३, ४६.४, १०३.१, १११.४, २१५.१, २३८.८, २७६.८, २९८.१, ४३४.६, ४३५.४, ५०४.२, ५२६.२, ५३९.७, ५५२.५
बाँक<बंक<वक्र=एक प्रकार का टेढ़ा छुरा ५८०.४, ६४२.६
बाँच्<वञ्च<व्रज्=जाना, बचाना २१७.५
बाँद<बन्दः [फ़ा०]=दास १८.९, ६८.२, ६८.३
बाँधी<बन्धित=संश्लिष्ट १०४.३
बाँद<बन्द [दे०]=कैदी ९७.५, ९९.९
बाँधौ<बान्धव ५००.६
बाँब=मत्स्य-विशेष ५४२.३
बाँसपोर=एक प्रकार का महीन मल मल जो बाँस की एक पोर में अँट जाता था ३२९.३
बाक<वाक्य=बोल ३५६.४
बाग<वग्गा<वल्गा=लगाम १०३.३, ६२९.२, ६३२.१
बाघ<बग्घाअ [दे०]=साहाय्य, मदद ५७२.९
बाज्<वज्ज्<व्रज्=जाना, पहुँचना ९.७ १४७.५ १६१.३, २७२.५, २७४.७, ४६२.२, ५१६.४, ५१७.१, ५५९.७, ५८०.९, ६१५.१, ६१९.१, ६३५.१, ६४५.४
बाजन<वाद्य=बाजा २७४.८
बाजु<वज्ज<वर्ज=बिना २.९, १२४.१, १९६.९, २९४.६
बाझ्<वध्=बँधना, फँसना ५४२.९
बाट<वट्ट<वर्त्म=मार्ग ३७.१, ६८.६, ७५.२, १४०.१, २३७.८, २७५.८, ३९१.९, ३९६.७, ४१३.८, ४१५.२, ४५४.८, ४८५.७, ५८९.४, ५९५.३, ६०९.९, ६४१.८, ६४६.८
बाढ़ि<वाड्ढि<वृद्धि ७४.३, १५५.८, ३५०.२
बात<वत्ता<वार्त्ता ३६.७, ७९.२, ८७.२, ९६.१, १०६.२, १०८.१, १६९.६, २५७.१, ३५६.३, ४२९.१, ६०८.१
बाती<वत्तिआ<वर्त्तिका=वत्ती २३४.४, ३०८.६, ३१५.३, ३४९.२
बाद<वाद=बाजी ६३.३
बादि=व्यर्थ ही ३६७.२, ५८८.६

६५.६
बिगास < विकास = प्रकाश ३४७.७
बिछिया < वृश्चिका = पैरों की उँगलियों का एक आभरण २९९.८
बिछुर् < विछुड् [दे॰] = अलग होना ५८.३ ६२.८, १३१.४
बिछुरा < विच्छुडिअ < विच्छुटित = बिछुड़ा हुआ ४०८.२
बिछूना, विच्छिण्ण < विच्छिन्न (?) = अलग किया हुआ १७५.५, ५८३.६
बिछोव् = अलग करना ५८१.६
बिछोव < विच्छेद ४०८.८, ४१५.७
बिजुरी < विज्जु < विद्युत् = बिजली २६५.६
बिजैगिरि = दक्षिण भारत का एक स्थान ५००.६
बिज्जु < विज्जु < विद्युत् ४४३.४
बिटंड < वितंडा = बकवाद २६७.५
बिडार् < विदारय् = फाड़ना, तहस-नहस करना ६३३.३
बितंत < वितंत्र = वाद्य-विशेष ५२७.७
बिथा < व्यथा १४२.४, ३७९.४
बिथुर् < वि + स्तृ = फैलना, तितर-बितर होना ८९.६, ३८२.५, ५७९.२, ५८२.८
बिदाई < विदाअ [अ॰] = प्रस्थान ५८.५
बिधंस् < वि + ध्वस् = नष्ट-भ्रष्ट करना १७०.३, १९७.८, ३१८.१
बिनती / बिनाती < विज्ञप्ति = निवेदन ८०.२, १४१.३, १९८.२, २६९.१, ३१९.१, ३७५.१, ३९३.१
बिनव् < विण्णव् < विज्ञपय् = निवेदन करना १६.९, २०.८, १२९.१, १९२.१, २६७.१, २८७.६, २९५.३, ३००.२, ३७४.१, ३७७.५, ४०३.८,
बिनै । बिनौ < विज्ञप्ति १२०.६, १६५.८, २७६.२, ३७७.१
बिरह = वियोग ३५६.२
बिरिक्ख / बिरिख < वृक्ष ४३.४, ६०९.२
बिरोर् < मक्खन अलग करना ४५९.४
बिर्ख < वृष = बैल १३५.५
बिलँबाय् < बिलम्बय् = विलंब करना २०८.१
बिलाय् < वि + ली = विलीन होना १६१.६ २८४.८, ४४०.४, ५४३.५, ५५९.४, ५७९.२
बिसँभारा < विसम्भार = बेचेत ११९.३
बिसमौ < विस्मय = विषाद २४७.४
बिसर् < विसर् । विस्सर् < वि + स्मृ = भूलना ५.३, ७१.७, २२६.३, २४४.४, ३६०.४, ४२२.५
बिसवार < वेसवार = एक प्रकार की छौंक ५४७.२
बिसवास् < विसास् < वि + शस् = मारना, वध करना ८०.३, २०२.१, ३१०.७, ४६३.६
बिसहर < विषधर = सर्प ६२.४, ९९.३, १९२.५, ५८५.३
बिसाइँध < बिस + गन्ध = कमल-नाल की दुर्गंध-विशेष ४२९.६, ४४१.२, ४४१.५
बिसार < विषालु । विषाक्त ९९.५, ४७०.४
बिसुर् < विसुर् [दे॰ ?] = खिन्न होना ४५०.१
बिसेख् < विशेषय् = गुण आदि द्वारा दूसरों से भिन्न करना, व्यवच्छेद करना, विशेषणों से अन्वित करना ८.५, ७३.३, ११५.४, २८९.५, ३०२.६, ३३१.३, ३६६.५, ५७३.२
बिहंग < विहग ३६४.५
बिहफै < विहप्फइ < वृहस्पति ३८२.१
बिहर् < विहड् < वि + घट् = फटना ३५४.७, ५०५.४, ६०९.५
बिहान < विहाण [दे॰] = प्रभात ५२.२, ३२१.१, ५५२.१
बिहाय् < वि + हा = दूर होना १६८.५, ५६९.८

बिहाव् <वि+हा=परित्याग करना, व्यतीत करना ५२.१, ५७०.८

बिहून् <विहुण् <वि+धू=पृथग् करना १२१.५, २९४.३

बींझ <विन्ध्य १३७.४, ३७१.९

बीज <विज्ज <विद्युत् ३२.५, ११०.६, १५७.१, २०३.५, २७३.४, ३०२.२, ३४४.३, ३४६.४, ४६१.१, ४६९.४ ४७७.३, ५१६.७, ५१८.३, ५७१.८, ६१३.६

बीजानगर <विजयनगर=दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध स्थान ५२८.१

बीड़ी <बीटि=पान के बीड़े से छोटे आकार में लपेटी हुई कोई पत्ती [यथा बेल की] २९०.६

बीदर=दक्षिण का प्रसिद्ध स्थान ३२९.६, ४९८.४, ५७७.३

बीन <वीणा ३८.३, १०८.२, ५२७.४

बीर=भाई ३६१.१, ३९२.५

बीर बहूटी <इन्द्र गोपा ३३७.२, ३९७.८, ४७१.५

बीरा <वीडग <बीटक=सज्जित ताम्बूल २९०.६, ५०१.९, ५०२.६, ५८४.५, ६१२.१

बीरौ <विडव <विटप १८८.७, २९३.५, ३७६.३, ४१४.२, ४७८.४

बुंद <विन्दु=बूंद १४३.९

बुक्का [दे०]=मुष्टि, अभ्रक चूर्ण जो मुट्ठियाँ भर-भर कर फेंका जाता है १८९.६

बुझ् <वि+धम्=बुझना १८०.३, २४३.७, २५३.३, २७०.१, २९४.९

बुझाव् <विध्मापय्=बुझाना १५३.३, १९९.७, २५३.९, ३७०.८, ४९४.२

बुड्ड <ब्रुड्=डूबना १०९.९, ३८९.७

बुरुद <बुर्द [फ़ा०]=शतरंज के खेल की स्थिति-विशेष ५६७.९

बुर्ज [अ०]=किसी ऊँचे स्तंभ या मीनार का ऊपरी भाग ५२५.७

बुलाह <बोल्लाह [फ़ा०]=पीले रंग की गर्दन और पूँछ वाला घोड़ा ४६.४

बेकरार <बेक़रार [फ़ा०]=अशांत ६४.२, २४९.७, ३२१.४, ३९९.८, ४००.५, ४८५.१

बेगर=मत्स्य-विशेष ५४२.३

बेगरी=चावल-विशेष ५४४.५

बेझ <वेज्झ <वेध्य १०२.६, २४९.७, ३४४.६, ४७३.१

बेटा <वि: [दे०]=पुत्र २६८.४

बेड़=बेड़ा, अर्गला ६२९.९

बेड़िआ <विड <विट=भँडुआ ११२.७

बेध् <व्यध्=विद्ध करना ३७७.८

बेना <वीरण=खस, उशीर ४.१, ३७.६, ३३६.४

बेनी <वेणी=चोटी ९९.४, ४४२.२

बेनी <वेणी=त्रिवेणी १००.५

बेरस् <विलस्=विलास करना १२९.२, ५९३.५, ६४७.४

बेरा <बेडय [दे०]=नौका, जहा १४२.७, ६४३.१

बेरा <वेला=समय २५९.६, ४११.२

बेराय् <वि+ली=विलीन होना ४६१.७

बेरास <विलास ३.३, ३७३.१

बेल <विल्व ११३.२

बेली <वेली [दे०]=लता ३५.१, ४३.५, ६२.२, १८८.१, ३४३.५, ३७७.२, ६४४.३

बेवहरिआ <व्यवहारिन्=धन उधार देने वाला ७५.६

बेवहार <व्यवहार=उधार ७५.६

बेवान <विमान ३८४.२, ४२६.४, ६२२.२, ६२५.२

बेसरि<द्वि+स्रग+इका=नासिका का आभरण-विशेष १०५.२, ३१८.७, ४४२.५

बेसा<वेश्या ३८.१

बेसाह्<वि+साधय्=क्रय करना ७८.७, १२८.३, ३८८.४

बेसाह्<वि+साध्य=क्रय की जाने वाली वस्तु ३७.७

बेसाहना<वि+साधनीय=क्रय की जाने वाली वस्तु ७४.८

बेह<वेह<वेध=छिद्र ११२.९, ४७३.९

बेहड़<विहडिय<विघटित=बस्ती से अलग का प्रान्त ३४५.८, ५०६.९

बेहर<विघटित<अलग किया हुआ, पृथक् ८.८, ४८.९, १५०.९, ४९९.७, ५४७.५, ५४९.१, ५९८.४

बेहराय्<वि+घट्=फटना २३७.७, ३८०.४, ६२०.२

बैठक=कुएँ की जगत ३०.१

बैन<वयण<वचन ९.३, २४.१, ५६.७, ८०.५, १०८.२, २०१.८, २११.४, २३२.४, २५०.७, ३३७.२, ४४२.३, ४४३.२, ४७८.१, ५८९.७, ५९५.१, ५९८.१, ६५३.३

बैपारी<व्यापारिन् ७४.२

बैरख<बैरक़ [तु०]=झंडा, पताका ५०५.५, ५११.५

बैरागा<विरागिन् १२१.१

बैरि<बइर<वदर=बैर ५७.९, ७१.२

बैल<बइल्ल<बलीवर्द १५७.२

बैस<वयस् ४९.६, ६०२.२

बैसंदर<वैश्वानर=अग्नि २२६.७, २६४.७, २६६.३

बैसाखी<वैशाखिन्=चलने के लिए टेकी जाने वाली एक प्रकार की लकड़ी ४०९.३, ४१३.७

बोल [दे०]=कथन ७९.८, ८१.४

बोलसरि<वकुलश्री=पुष्प-विशेष ३७७.६

बोव्<वप्=बोना, बीज डालना ५३१.३

बोहार् [दे०]=झाड़ना, झाड़ू देना १६७.७, २६६.४, ६४०.४

बोहित<बोहित्थ [दे०]। वहित्र=प्रवहण, जलयान १८.४, १४२.४, १४६.४, १४७.१, १४८.९, ३८७.१, ४१०.४, ३९४.६, ५४०.७

बूक<बुक्का [दे०]=मुट्ठी ५६२.८

बूझ्<बुज्झ्<बुध्=जानना १३४.३, १६३.६, ४४५.७

बूड़<बुड्ड<ब्रुड्=डूबना २१४.१, ३५०.४, ३५९.५, ४११.१

बौरा<वाउल<वातूल=बावला २०३.१, ३८८.१, ३९४.८

ब्रिस्टि<वृष्टि ५२३.६

भंग<भङ्ग=झुकाव २६७.९

भँभीरी<भम्भाराली=एक प्रकार की मक्खी जो बहुत भन्-भन् करती है ३४५.६

भँव् : दे० 'भवँ'

भँवर=दे० 'भवँर'

भख<भक्ख<भक्ष्य ६६.६, १३२.७, ३१०.६

भज्=सेवा करना २३.२

भभीखन<विभीषण ६४७.९

भभूका=आग की लपट ६३३.७

भभूति<विभूति २७६.४, ६०१.४

भर<भरिअ<भरित=भरा, प्रौढ़ १७०.७, २४६.१

भरथरी<भर्तृहरि १३२.४, १९३.६, २०८.३, ५९५.८

भल<भल्ल<भद्र=अच्छा १३०.६, १३६.३, ३९२.१

भवँ। भँव्<भम्<भ्रम्=घूमना ५१.७,

१०३.२, ११७.१, १३१.७, २४०.२, २४७.७, ३९६.१, ४८६.५, ६३१.५, ६३७.४

भवँर=काले रंग का घोड़ा ४६.२

भसम<भस्म=राख ३६१.४

भसमंत<भस्म+अन्त=भस्म-शेष २०४.९, २४८.९, ३४९.७

भाख्<भाष्=कहना २९.५, ९२.६, ४०७.२

भाखा<भाषा=बोली २४.५

भाग<भाग्य ८४.८, ११८.५

भाउ<भाव=सौन्दर्य १११.७

भाँग<भंग=नष्ट ४९२.७

भाँज्<भञ्ज्=हिलाना, तोड़ना ६.९, ४१०.१, ५१२.७

भाँट<भट्ट ४४.७

भाँड़<भाण्ड=बर्तन ४२.४, १२७.५, ६२१.६

भाँवरि<भ्रामरी=प्रदक्षिणा ११९.३, १५४.२, ६५०.१

भागीरथी=गंगा ३६८.७

भाठी<भट्टिआ<भ्राष्टिका=भट्ठी १५४.५

भात<भत्त<भक्त=चावल १३२.७, २८४.१

भार<भ्राष्ट्र=भाड़ ३५४.५

भारथ<पार्थ। भारत=अर्जुन, महाभारत युद्ध २६४.२, ३४१.५, ६०९.१

भाल<भल्ल=भाला ४१६.९

भावसती<भास्वती=एक प्रसिद्ध ज्यौतिष-ग्रंथ १०८.८

भिंग<भृङ्ग [राज]=पक्षि-विशेष २९.५

भिखारि<भिक्षाकारिन् ३.७, ४३.८, ७४.२, १२९.२, २१७.८ २२४.७, २६१.१, ३०५.४, ३०८.१, ४५३.९, ४५४.५, ४५९.१, ४६१.३

भीनि<भिन्न १०७.२, १९६.८, २६५.९, ३६१.२

भीर=आकुलता ३८४.६

भीवँ=महाभारत के प्रसिद्ध वीर ६११.४, ६२९.६

भीवँसेन<भीमसेन=एक प्रकार का कर्पूर ४.१

भुअपती<भूपति ३६.७

भुअंग<भुजंग=सर्प ११४.३, ११५.४, ४७०.३, ४७६.७

भुअडंड<भुजदण्ड २६६.२, ४६७.८, ६३७.१, ६४१.२

भुआ<भूत=सेमल की रूई, कास का फूल ८९.५, ९२.१, ६५३.६

भुइं<भूमि ५२.३, ६९.२, १२९.५

भुई<भूइ<भूति=राख ४५५.७

भुँजइलि=पक्षि-विशेष ३७०.६, ४३८.५

भुगुति<भुक्ति=भोजन ३.१, ४.९, ६.७, ६६.४, ७२.५, १२६.८, १३५.७, १९५.४, २१८.६, ३१४.६, ३३२.८, ५१९.६

भुमिआ<भूम्य=भूमि से संबंधित ४२५.६

भुम्मि<भूमि ३३०.३

भूँज्<भृज्=भूनना ३५४.५

भूँज्<भुज्=भोगना ३.२, ५६८.४, ६२७.३

भूँभुरि=तप्त धूल ६०१.६

भूख<भुक्खा<बुभुक्षा ८०.८

भूल्<भुल्ल्<भ्रंश=विस्मृत होना, भूलना, भटकना ७०.६, ७७.३, ९५.२, ५१०.४

भृंगि<भृङ्गी=कीट-विशेष १६८.९, २३१.६

भेई<भेइअ<भेदित=भिगोई ५४३.६

भेउ<भेद ८१.५, २२५.२, ४४६.२, ५३३.६

भेंट्<भिट्ट=मिलना, गले मिलना १७५.८

भोकस<पुक्कस<पुल्कस=एक घृणित मानी गई जाति, अथवा<बुक्कस=चाण्डाल ४.७

भोगी < भोगिन् = भोग या गुज़ारा पाने वाला २४१.२, ६३२.७

भोज < भोज्य २७१.४

भोज = मध्ययुग का प्रसिद्ध परमार शासक ७३.८, २१२.६, २६४.१, ४१६.१

भोथ = मत्स्य-विशेष ५४२.३

भोर = सवेरा २९.२, ३७५.७

भोर < भोल [दे०] = भूल, चूक ६२१.१

भोरा = भोला, गुर्जरेश भीम चौलुक्य ६३५.८

भोरा < भोल < भद्द < भद्र ६४.६

भोल < भोलविय < भोलिअ [दे०] = वञ्चित, बुद्धि से वञ्चित ९.१

भौंह < भ्रू ५५.४

भौकंप < भूकम्प ५०६.६

मँगुरी = मत्स्य-विशेष ५४२.३

मंछ < मच्छ < मत्स्य ३९०.१, ४४१.३, ५४७.१, ५७८.९

मंजन < मज्जण < मार्जन = शरीर-शुद्धि २७६.४, २९६.१, २९७.२

मँजार < मार्जार = बिल्ली ३६९.६

मँजारी < मार्जारी = बिल्ली ५६.३, ५७.५, ६६.१, ६७.१, ६८.६, ७२.२, ८७.२, १७६.४

मँजीठ < मञ्जिष्ठा १०६.३, ३०८.५

मँजूर < मयूर = मोर ८५.९, ८६.५, १११.५, ११४.४, ३०२.४, ३६९.६, ४६९.९, ४८०.८, ४८१.१, ६१५.३, ६४५.३

मँजूसा < मञ्जूषा ७७.२, ५७६.२

मँझ < मध्य = में ६३.१

मंडप = देवालय का भीतरी भाग, देवालय ३०.३, १९१.१

मंडर < मण्डल ३२८.१

मँडराय् < मण्डलाय् = मंडलाकार उड़ना १४८.४, ४०१.६

मुंडलगढ़ = राजस्थान का स्थान-विशेष ५१६.३

मंत्रा < मात्रा = सामान १२८.७

मंद = बुरा ८५.५

मँदारा < मन्द + आरअ < मन्द + कारक = बुरा कार्य करने वाला ७६.३

मँदिल < मन्दिर ८५.१

मंसूर १२४.४, २६०.६

मकु = कदाचित् १६८.५

मखदूम < मख़दूम [अ०] = वह जिसकी ख़िदमत (सेवा) की जाए १८.९

मगर < मकर १४१.४, १४४.५

मगर = मगर जाति के निवास का पर्वतीय प्रदेश ४९८.७

मघा = वर्षा का एक प्रमुख नक्षत्र ५६४.४

मच्छ < मत्स्य १४१.४, १४४.५

मछिंदर नाथ = गोरखनाथ के गुरु १६०.३, २३८.४

मठा < मट्ठ < मृष्ट = मसृण, मट्ठा ६४४.८

मढ़ < मठ = मंदिर १३४.७, १८३.९, १८९.५, २२७.६

मढ़ी < मठिका = मंदिर १९४.१, २१७.३

मतँग < मत्ताङ्ग = मदगज १७१.५

मतवारा = तोपों में प्रयुक्त बारूद का गोला ५०४.६

मता < माता ६१४.१

मथ् < मंथ् = मंथन करना १२४.१

मथवाह = महावत ४६४.७

मदन-सहाय = मद (काम) के सहायक, कामोत्तेजक २७७.१

मधुकर = चावल-विशेष ५४४.३

मधुमालती = एक प्रेम-कथा की नायिका २३३.६

मनई < मानव ११६.९

मन् = मानना, जानना ३७४.७, ३८८.७

मनस् = मन में इच्छा करना ३०६.४, ३६३.१

मनुहार = खुशामद ३१७.२

मनोरा<मन्द्+ओल<मन्द+आर्द्रच=एक उत्सव जो स्त्रियों के द्वारा वर्षा के बीतने पर मनाया जाता है १८६.३, ३४८.७

मनोहर<एक प्रेम-कथा का नायक २३३.६

मयंक<मृगाङ्क=चन्द्रमा १०१.३

मया<माया=स्नेहपूर्ण कृपा ५८.१, ७८.१, ९१.७, १८२.३, २१४.१, २२४.५, ४५९.१, ५४०.४, ५७४.५

मर<मृत १९२.३, १९६.७

मरगज<मृदित-गञ्जित=मला-दला ३१८.९, ३२३.८

मरजिआ। मरजीआ<मर जीवय< मरजीवक [दे०] = समुद्र में गोता लगाने वाला ३३.९, १४९.६, २१५.८, २३४.३, २३८.६, ४०१.७, ४१२.६, ४४९.९, ६४२.१

मरन-धजा=मरण-ध्वजा ५०३.५

मरौही = मरणासन्न ३९८.७

मल्हनंस=एक राजपूत जाति ५०३.४

मसवासी = मास भर किसी तीर्थ में निवास करने वाला ३०.४

मसिआर<मशअल [अ०] = मशाल २६६.४, २७७.४, २८३.५, ५०९.९

मसौरा<माँस+वडग<मांस+वटक= मांस का बड़ा ५४६.७

मस्ट<√मृष्=मौन ७२.९

महनारंभ<मन्थनारम्भ १५५.५, ४९५.३

महर=पक्षि-विशेष ३५८.६

महरा<महल्ला<महत्=सरदार ३९२.६, ४२४.३

महाउत=हस्तिचालक ४५.७

महाजन=श्रेष्ठी ३७.२

महापातर<महापात्र २६८.८

महिमंड=पृथ्वी का कीचड़, पृथ्वी की धूल १४.४

महिरावण=रावण का एक पुत्र ३९४.९

मही<महिअ<मथित=वह मठा जिसमें से मक्खन निकाला हुआ हो ४५९.४, ५४९.५

महु<मधूक=महुआ वृक्ष २८.५

महुअ=महुए के फूल के रंग का घोड़ा ४६.३

महुअरि<मधुकरी=फूँक कर बजाया जाने वाला वाद्य-विशेष ५२७.५

महुस्थल दीप<मधुस्थल द्वीप (?) २५.७

माँख<अमृष्=अमर्ष करना २२२.२

माँग्<मार्गय्=माँगना ३२०.८, ४५५.२

माँग<मग्ग<मार्ग (?) २९६.२

माँछ<मच्छ=मत्स्य ५७५.६

माँझ<मञ्झ<मध्य २७९.५, ४८४.१, ६२७.८

माँट=मटका ६३३.५

माँटी<मट्टिआ<मृत्तिका=मिट्टी ८१.४, १६६.७, ४०७.५, ५४२.६

माँठ=बड़ी मठरी ५५०.७, ५८६.२

माँड़<मण्डअ<मण्डक=एक प्रकार की रोटी २८४.२, ५४३.२, ५६२.४

माँड़ौ<मण्डप २७५.५, ५००.३, ५१९.५

माँडौ<मण्डप=वर्त्तमान मांडू ४९८.४, ५६६.४

माँत्=मत्त होना १०३.२, ४७४.२

माँत=मत्त ११४.५, ३२२.३, ५०६.५

माँस<मांस ३५७.५

माँह<माघ=मास-विशेष ३५१.१

माँहुट<माघवत्=माघ का ३५१.५

माखी<मक्षिका ४.५, २१२.२

माढ़ी<मठिका=मंदिर, भवन ५९२.५

माथ<मत्थ<मस्तक १४७.९

मादर=मर्दल ५५४.५

मानसरोदक=मानसरोवर ३१.१

मानुस<मानुष=मनुष्य ५८.४, १६६.२

माया<माइ<मातृ=माँ १२९.१, १३०.१

माया=स्नेहपूर्ण कृपा १४०.४, १८२.७, २९५.४, ५६६.८

मारा=माला २९९.१, ४३०.४, ४५१.३

मारी<मालिका=माला ३१८.६, ५०४.३

माल<मल्ल २०१.१

मालकँदेऊ : मलकदेव (?) ६११.३

मालती=पुष्प-विशेष, कलिका, कुमारी कन्या ५९.८, ९९.३, १६९.२, २३९.३, ३७७.२

माला=जपमाला ३६१.६

माह<मज्झ<मध्य=में ८३.४

माहेसुर<माहेश्वर ३०.७

मित<मित्र ३७२.९

मिरगारन<मृगारण्य १३९.१

मिरगिसिरा<मृगशिरा=नक्षत्र-विशेष ३४३.९

मीच<मीचु<मृत्यु ३.५, ७५.३, ११४.७, १४२.२, १४६.६, २१६.५, ३०६.६, ४३१.७, ५०२.९, ६३४.३

मीर<अमीर [फ़ा०] ४५७.८

मुअ्=मृत होना ९७.६

मुअ<मृत २३६.१, ३९५.९, ४१३.१, ४२२.७

मुँगौछी=मूँग की पीठी का एक व्यंजन ५४९.३

मुँगौरा<मुग्ग+वडअ<मुद्ग+वटक=मूँग का बड़ा ५४९.३

मुंद्रामु द्रा=कानों का छल्ला १२६.६, ४०९.४

मुंद्रा<मुद्रा १९३.८

मुकुत<मुक्त ४२१.३

मुकुताहल<मुक्ताफल=मोती १११.८, १५८.६

मुगुधावती=एक प्रेमकथा की नायिका २३३.४

मुर्=मुड़ना ३२१.६, ३२३.६

मुरुकुरी<मुरुक्कि=इमरती (?) ५५०.७

मुर<मुरज=वाद्य-विशेष ६३९.७

मुरसिद<मुर्शिद [अ०]=आध्यात्मिक उपदेश करने वाला, गुरु १९.८

मुरुझ्<मुर्छ्=कुम्हलाना २८१.२

मुस्टिक<मुष्टिक=कंस का एक मल्ल जिसका उल्लेख कृष्ण-कथाओं में मिलता है ६११.३

मुहताज [अ०]=आश्रित, अपेक्षित १३.९

मूँगा<मुग्ग<मुद्ग=प्रवाल ८२.४, १२५.२

मूँज<मुञ्ज=मूँज की रस्सी ३५६.३

मूँठि<मुष्टि ९३.७, ११२.५, ४६८.५

मूँद्<मुद्द्<मुद्रय=मुद्रित (बंद) करना ११३.२, ३८८.९, ५७९.५

मूर<मूल=पूँजी ३७.९, ७५.२

मूस्<मुष्=चुराना १२४.७, १४५.६, १५१.७, २१४.६, २३९.७, ५५८.२

मृगावती=एक प्रेमकथा की नायिका २३३.५

मेंजा<मेचक=मेढक १४८.१

मेंट<मिट्=मिटाना २१२.८

मेंढा<मेष ५४१.१

मेंथौरी=मेंथी की बड़ी ५४९.४

मेखला=करधनी १२६.४

मेघौना<मेघ वर्ण=बादल के रंग का एक रेशमी वस्त्र ३२९.४

मेद=एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य जो किसी जानवर की नाभि से बनता था ३६.४, ४७.६, २९०.७, ३३६.२

मेर<मेल, मिलन २१२.७, ५९५.६

मेरव्<मेलय्=मिलाना ८१.९, १९१.८, ३०८.८

मेराउ<मेलावय<मेलापक=मिलन १११.७, १६२.७, १९९.८

मेल्<मेलय्=डालना, मिलाना, डेरा

डालना, पड़ाव करना ७२.३, ८२.६, ९८.५, १३४.१, १७६.५, १७८.६, २१७.७, २१८.२, २२२.७, २२९.१, २३५.८, ३०२.१ ३४८.९, ३६५.९, ३७९.६, ३८२.४, ६४२.४, ६०५.६, ६३४.५

मेलान = पड़ाव १३६.३

मेह<मेघ = बादल ३४३.४, ४२७.९

मेहरी < महिलिया < महिलिका = महिला १३२.६

मैन < मयण < मदन=मोम ३२.८, १६६.३, २७३.५

मैन < मयण, मदन = काम ३४२.४

मैंनावती = गोपीचंद की माता ३६२.१

मैमंत < मयमत्त < मदमत्त १७०.२, २४२.१, ३००.५, ३१८.३, ४४४.६, ४६३.३, ५१७.७, ५९४.१ ६१९.७, ६३०.६

मैल < मइल < मलिन् = मैला २२६.८

मोइ = मत्स्य-विशेष ५४२.३

मोंछ < मुच्छ < श्मश्रु ४९१.७, ६१८.५, ६३४.५

मोकर < मुच् = मुक्त करना ६१.१

मोख < मोक्ख < मोक्ष ११.९, ९७.९, १३०.५, २२२.६, २३९.६, ३१७.३, ३८७.३, ६००.१

मोगर < मोग्गर < मुद्‌गर=मोंगरी ५७८.३

मोट मांसु = शरीर के कुछ अंगों का मांस जो मोटा होता है ४६४.५

मोंति < मौक्तिक=मोती १००.६, १२५.२, १३३.८, २८९.४, ३४७.५, ४६८.७

मोंतीचूर < मौक्तिक चूर्ण ४३.२

मोर् < मोड् < मोटय् = मोड़ना २४६.९, २९८.२

मोरँड < मोरंड < मयूराण्ड=मोदक २८४.६, ५५०.५

मोहन = मुग्ध करने की विधि ५८७.१

मौर् < मुकुलय् = मुकुलित होना ३५३.४

मौर < मउड < मुकुट १३५.३, २७६.९, ५१२.७

रंग = प्रेम, क्रीड़ा ५९४.९, ६४२.२

रँचा < रञ्च = लेश ३०८.५

रकत < रक्त = रुधिर ११६.९

रख्या < रक्षा ४८०.८

रच् < रञ्ज् = रँगना ३४९.४

रजबार < राजद्वार ५१४.१

रजाउरि < राज्य + आवलि = राज्यकार्य ३३०.५, (दे० 'रजियाउरि')

रजाएसु < राजादेश ५६.२, ८०.१, २१७.८, २१८.२, २२९.९, २६७.४, ३३१.१

रजियाउरि < राज्य + आवलि=राज्यकार्य १३३.२, (दे० 'रजाउरि')

रट् = रोना, चिल्लाना १२६.२

रतसारी < रक्तशालि = चावल - विशेष ५४४.३

रता < रत्त < रक्त = अनुरक्त १३३.२

रती < रक्तिका = घुँघुची ६०८.३

रथवाह = रथ खींचने वाला पशु ४६.८, ५१३.१

रन < अरण्य १०४.८

रनथँभउर < रणस्तम्भपुर = राजस्थान का स्थान-विशेष ४९१.३, ४९४.७, ५००.२

रवाब = सारंगी की जाति का एक वाद्य ५२७.३

रमाएन < रामायण = राम का [लंका का] अभियान ३९१.३

रर् < रड् < रट्=रोना-चिल्लाना, ३५०.९, ३५६.५, ४१४.९

रवनि < रमणी ६१५.८

रस् = चखना १५४.४

रस् = धीरे-धीरे बहना १०६.६

रसा < रसित = रस-सिक्त ३१४.२

रसोई<रसवती २६६.३, ५४०.८, ५९६.१
रहँट<अरहट्ट<अरघट्ट=कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र ३४.९, ४२.८, ४३०.७
रहचह=रभस् (हर्ष) से चहकना २९.३
रहस<रभस्=हर्ष ३२.६, ५४.३, ५२.१, ६०.२, १३३.५, १७५.५, २७०.६, २९०.४, ३०१.१, ३३२.९, ४२५.४, ४२७.५, ४३२.३, ५२९.७, ५५४.५, ६४९.७
राइ<रागिन्=प्रेमी ५२९
राई<राइअ<राजित=शोभित ३०१.२
राउ<राअ<राजा ८७.५
राउत<राअउत्त<राजपुत्र ५५८.१
राएमुनी=पक्षि-विशेष ५६०.३
राँक<रंक=निर्धन व्यक्ति ४५८.६
राँच्<रच्च्<रञ्ज्=अनुरक्त होना २३१.३, ५४२.६
राँध<राद्ध=परिपक्व, निकट लाया हुआ १८१.६, २४०.१, ४३८.९, ६४२.५
राग=टाँगों का एक प्रकार का कवच ४९९.४, ५१२.४
राज्=चमकना ४४९.४
राजकुँवर<राजकुमार २३३.५
राणा<राजन्य (?) १३४.२
रात्=रक्तवर्ण का होना ३५३.३
रात<रत्त<रक्त=लाल, सुंदर, अनुरक्त, प्रसन्न ३१.५, ३३.४, ३४.३, ३४.४, ५९.४, ७९.५, ८७.७, ९३.९, १०६.७, १०८.१, ११८.३, १६७.५, १६९.६, १८३.७, १९५.५, २०९.४, २१६.३, २२२.१ २२६.१, २९६.४, ३००.७, ३०७.८, ३५९.२, ४२९.१, ४४०.४, ४७४.२, ४८६.६, ५८६.६, ६०६.६, ६०८.१
रामरासि=चावल-विशेष ५४४.४
रामा=रमणी, स्त्री ५२.८, १९८.५
राय=राजा १३४.२
रायभोग=चावल-विशेष ५४४.२
रायहंस=चावल-विशेष ५४४.७
रावन : √राव्<रञ्जय्=प्रसन्न करना २८.६
राव्<रम्=रमण करना ३१६.९, ३२३.६, ३२४.१, ४३९.५, ४८९.५
रावन<रमण=पति ५२.९, ३०४.१, ३२३.६, ३२४.१, ४७५.२
रावन<रमण तथा रावण २८०.५, ४०२.७
राही<राधिका ४२८.१
राह<राहु ६१.३
राहु<राधा=राधावेध की पुतली १०२.५, १९७.७, २३४.९, ३१६.४, ४७३.५, ४९१.४, ५६१.७
रिंकवछ=एक प्रकार का वड़ा ५४९.८
रिनि<ऋण ७४.३
रिस [दे०]=क्रोध ८५.४
रीछ<रिच्छ<रिक्ष=भालू ३९०.६
रीझ्<रिज्झ्<ऋध्=समृद्ध होना, आकृष्ट होना ११७.४, २११.५
रीरि<रीढक=पीठ के बीच की हड्डी ३९४.५, ३९५.५
रीसि<सदृश् १११.१
रुंड=सिर से रहित शरीर २०७.२
रुख<रुख़ [फ़ा०]=मुख, ऊँट ५६९.५
रुदवा=चावल-विशेष ५४४.२
रुहिर<रुधिर ८७.७, ५१९.२
रूख<रुक्ष=रूखा, रसहीन ८४.९, १२९.७, २२६.८, ५६३.६, ५९०.८
रूख<रुक्ख<वृक्ष २०१.५, ३६३.८, ५१०.६
रूठा<रुट्ठ<रुष्ट ८९.३, १२५.४
रूप<रौप्य=चाँदी ३७.३, २६२.९,

२९३.५, ३१४.६, ३५७.३

रूप सहाइ<रूप या सौन्दर्य-निदर्शन में सहायक १९९.३

रूप माँजरि<रूपमञ्जरी=चावल-विशेष ५४४.७

रूम=देश-विशेष ४८३.५

रूस्<रुष्=क्रोध करना १५१.७

रूसा<रूसिअ<रुष्ट २७०.४

रूह<रुध्=रोकना ५११.३

रेंग<रिग्ग्<रिङ्ग=धीरे-धीरे चलना या सरकना १४७.१, १५७.४

रेवँ=टाँगना, लटकाना ३६८.४

रेह=एक प्रकार का क्षार ३६३.४

रैता=रायता ५४८.२

रैन<रयण<रत्न=रत्नसेन ५९२.४

रैनि<रयणी<रजनी=रात्रि १४.३, २७.३, १००.२, १५८.३, २३९.८, २४७.६, ४०४.४, ४५४.३, ४५८.१, ५११.५, ५२१.६ ५६५.५

रोक<रूवग<रूपक=रूपया १२०.८, ५८९.१

रोझ<ऋष्य=नीलगाय ४८७.७, ५४१.२

रोटा<रोट्टग[दे०]=बड़ी रोटी २२०.५

रोठा<लोट्ठ<लोष्ठ=डला ४३९.१

रोप्=थामना १९४.४

रोर<रोल=रव, कोलाहल १३३.७, ५३८.८

रोव्<रुद्=रोना ६४.७

रोवँ<रोमन् ९७.४, १३०.३

रोवन<रुदन ७८.४

रोसन<रौशन [फ़ा०]=प्रकाशित २०.३

रोहितास=स्थान-विशेष ५००.६

रोहू<रोहिअ<रोहित=मत्स्य - विशेष १४८.२, ५४२.१

रौताई<राजपुत्रता=रावतपन ६३.७

लंक=कटि ३२.३, ४०२.७

लंक=लङ्का २५.६, ३५५.३

लँगूर<लाङ्गूलिन्=बड़ी पूँछवाला बन्दर २०६.६

लक्खन<लक्ष्मण १२०.४

लख्<लक्ख्<लक्षय्=जानना, देखना २१२.१, ३१९.४,

लखन<लक्खन<लक्षण ४९.८, ५२.८, ७३.९, १९३.५, ३९८.१

लखमिनी<लक्ष्मणा=लक्ष्मी ३९७.५, ४०३.१, ४१५.१, ४१९.२, ४२१.५

लखाग्रिह<लाक्षागृह=लाख का घर जिसमें से पांडवों को भीम ने बचाया था ६११.८

लगी<लग्ग<लग्न=बाँस के टुकड़ों को जोड़ कर बनाई गई लंबी लकड़ी ७०.५

लगुन<लग्गूण=लगा रहने वाला, संग करने वाला ५७३.९

लगुना=हरिण-विशेष ५४१.२

लच्छि<लक्ष्मी ५२.६, १२९.२, ४२१.२, ४४९.६

लटा=लुब्ध १२६.२, ३४७.१, ६०६.४

लवा=पक्षि-विशेष ३५८.५, ५४१.३

लस्=शोभित होना ३२५.६

लह्<लभ्=प्राप्त करना, शोभा प्राप्त करना १६३.१, ५२४.६

लहक्=नवस्फूर्ति युक्त होना, लपकना ४२४.७ ४२५.६, ४७०.४

लहर=एक प्रकार का लहँगा ३२९.१

लहु<लघु ४६६.५

लाँब<लम्ब=दीर्घ ४६६.३

लाग<लग्ग<लग्न=संबद्ध, सम्मिलित १२८.७, १४७.३

लाड़<लड्ड [दे०]=प्यार ३०१.७

लाड़ू<लड्डुअ<लड्डुक=मोदक ११३.१

लाभी<लाभिन्=लाभ करने वाली ३२१.८

लालि<ललिल<लाल=खुशामद २९५.२, ४६७.९, ४७४.७

लाव्<लागय्=लगाना १०३.४, २१६.१, २२३.१, २७६.१, २७८.४

लासा<लासय<लासक=चेप ६९.८, ७०.४

लाह<लाभ १४५.३, २०१.४

लिंधौर देव<रणधवलदेव (?) ६३५.५

लिलार<ललाट ३८८.७

लीक<रेखा ३७५.४

लीप्<लिप्=लीपना ५०.८

लील्<णिगल्<निगल्=निगलना ६८.७, १५५.९

लील<नीलक=नीले रंग का घोड़ा ४६.२

लुआरी [<लूआ [दे०]=मृगतृष्णा] =पूर्य की किरणों से तप्तवायु ३५५.१

लुचुई=एक प्रकार का व्यंजन २८४.३, ५४३.६

लुर्<लुल्=लोल होना ९९.३, २९८.२, ३२१.६, ४७०.५, ४७४.३, ६०८.७

लूक<लुक्क<उल्का ३६३.३, ३७०.३, ५२३.३

लूकी<लुक्क<उल्का ३६५.४

लूस्<लूषय्=विनाश करना, मटियामेट करना १९७.८, ३३४.६, ४४३.१

लेई<लेह=कागज़ जोड़ने-चिपकाने के लिए प्रयुक्त लेह ६५२.२

लेजिम=एक प्रकार का धनुष जिसमें प्रत्यंचा लोहे की होती थी ४९९.४

लेंजुरि=चावल विशेष ५४४.३

लेजुर<रज्जु ५८१.७

लेदी=पक्षि-विशेष ५४१.६

लेस्<लिश्=प्रकाशित करना ११.३, १८.२, ३७६.४, ४७०.१

लैनू<नवनीत ५४९.५

लोग<लोक १९३.५

लोट्<लोट्ट<लुठ्=लोटना ९९.६

लोन<लवण=लावण्यपूर्ण ५३.६, ५४.७, ८३.६, ८४.५, ८७.८, ९४.७, ९६.९, ११०.२, ३१४.४, ३३७.३, ४६१.७, ५६९.४, ५९४.६, ५९८.३, ४२९.३,

लोना=कामरूप की एक प्रसिद्ध तांत्रिक स्त्री ३६९.३, ४४८.६, ५८५.२

लोभा<लुब्भ=लुब्ध ११८.१

लोयन<लोचन ४४२.३

लोवा<लोपाक=लोमड़ी ४.६, १३५.६

लोहडा=लोहे की कड़ाही ५५० ३

लोही<लोही<लोहित=रक्त ६०८.३

लौक्=लपलपाना, चमकना ४७०.८, ५७१.८

लौका<अलाबु ४३६.४

वानी<वर्णिन्=वर्ण का ३१.२, १७२.६, ५६४.१

वार्<उव्वार्<उद्+वर्तय्=त्याग करना, न्यौछावर करना १६७.७, ५८९.१, ६०८.३

वार<आरओ<आरतस्=वह [छोर] जो पहले पड़ता हो ३३.१, १०४.३, १४३.१, २०२.९, ४०५.५

वारने=न्यौछावर ४१६.६

वोढ<वोढु<वोढृ=वहन करने वाली वस्तु, खींचने वाली वस्तु, रस्सी १५२.४ ४०६.४

संक्<शङ्क्=डरना ४२१.९

संकलप्<संकल्पय्=संकल्प करके दान करना १४२.३

सँकार<सकाल=सबेरा १११.५

सँकेत्<सं+केतय्=सकेलना ६७.९, ५९०.४

सँकेत<संकीर्णता=तंगी, संकट २५१.७

सँघात<संघात=समूह १२.६

संखदराउ<शंखद्राव=अम्लवेतस ४३४.४

संच्<सं+चि=संचय करना ३८६.५, ४९३.८

सँच<संचय=परिचय ४२३.२

सँचार्<संचारय्=चलाना २४८.६

सँजूत<संजुत्त<संयुक्त=तैयार, काम पर डटा हुआ १४७.६

सँजोअ्<सं+योजय्=संयुक्त करना, संबद्ध करना ५१२.२

सँजोअ<संयोग १०१.७, २२२.३

सँजोइल<संजोअ (<संयोग)+इल्ल= तैयार, मुस्तैद २४१.२

सँडसी । सँडासी<संदंशिका=यंत्र-विशेष ५८०.५, ६४२.६

संध=मत्स्य-विशेष ५४२.२

संधान=अँचार-चटनी २८४.६, ५५०.५

संपुट=बँधी हुई पंखुड़ियाँ २५०.९

सँभार्<सम्भालय्=सँभालना १५०.५

सँभार<सम्भाल=देखभाल १५२.८,३२८.२

सँवर<स्मृ=स्मरण करना ६६.७, ८४.१, १३४.४, १६४.२, २०९.९, २२५.६, २७१.७, ३००.३, ३७३.२, ४२२.३, ५७४.१, ६४२.३

सँवराव्<समराव्<स्मारय्=स्मरण कराना २२४.२

सँवार्<समारचय्=ठीक करना, दुरुस्त करना, सजाना ३६.८, १८१.३, २८२.३, २९७.१, ३७६.१

संसार-तिलक=चावल-विशेष ५४४.६

संसौ<संशय १९१.२

सकति<शक्ति ७२.३, १२१.४, १४२.१, ५१९.८, ५७५.६

सकर<शकट=शकटासुर ६१४.६

सग<स्वक=अपना, आत्मीय ७.३

सगबगाय्=चकपकाना, चौंकना ४७०.४

सगर<सगल<सकल २७५.२, ३५३.२

सगुनी=चावल-विशेष ५४४.५

सजा<सज्झाय<स्वाध्याय=शास्त्र का पठन २३.२

सजौना=सज्जा ५३६.२

सत<सत्त<सत्व=शक्ति ७५.८, २५०.५

सत<सत्य ९३.१, १४४.९, १४८.८, ३९३.८, ४१७.१, ६०५.५, ६२४.१

सतकुल<सत्कुल ४६२.३

सतबरग=पुष्प-विशेष ३७७.७

सति । सती=सत्यनिष्ठ १४६.१, २०४.७, ४१७.१

सती<सत्ति<शक्ति ३०.७

सतुरु<शत्रु ३७५.३

सतुरु साल<शत्रु-शल्य=एक तोप का नाम ५०७.७

सतें<सत्रा [स+त्रा]=साथ, से १२२.१

सत्त<सत्य ९२.१, ३८६.३

सदूर<शार्दूल=शरभ ३०२.४, ३४७.९, ४६२.५, ६३७.१

सनमंध<सम्बन्ध ४७५.८

सनाह<संनाह ५१२.४

सपत<शपथ ५३७.५

सपन<स्वप्न ६६.९

सपनावती=एक प्रेमकथा की नायिका २३३.३

सपुरुस<सप्पुरिस<सत्पुरुष ६३१.८

समंद [फ़ा०]=घोड़ा, बादामी रंग का घोड़ा ४६.२, ५१३.२

समद्<सम्+आदा=आलिंगन करना २९९.९, ३८४.१, ४१९.३, ५३१.५, ५३३.९, ६२७.६

समाप्=प्राप्त होना १८२.९

समाय्<संमा<सम्+मा=अँटना १७०.७, १७१.२, २०५.९, २५८.३, २६२.९, २८०.८, ३२५.३

समीर=एक सुगंधित वनस्पति जिससे एक प्रकार का परिमल बनता था ५०२.६

समीरी=समीर (पुदीना या अन्य किसी सुगंधित वनस्पति) से तैयार किया हुआ

परिमल २९०.६

समुँह<सम्मुख ३३४.२

समूच<समुच्चिय<समुच्चित=समूचा ४८५.३

समूह<संमुह<संमुख ५२०.२

समेट्=बटोरना, इकट्ठा करना २०५.६

सयान<सज्ञान १२.२, ५४.१, ५६.१, ९२.८, १७१.१, १७५.४, २४८.१, ३०३.१, ३२२.१

सर<शर=सरकंडा, बाण, चिता २०४.७, ३५१.५, ४००.८, ४००.९ ६४९.४, ६५०.१

सर्<सृ=जाना, निभना ५८०.६, ६२३.९

सरग<स्वर्ग=आकाश ६२.९, ६७.९, ९६.५, ९९.४, १२८.६, १४३.८, १४७.३, १४९.४, १५०.५, १५३.१ २४१.८, २२३.२, २५४.५, २७७.८, ४७४.७, ४८९.७, ५०५.९, ५०९.१ ५२९.६, ५७१.३

सरगदुआरी<स्वर्ग द्वार ६०३.९

सरजा=अलाउद्दीन का भृत्य-विशेष ६३५.१

सरवरि=सादृश्य, समानता, होड़ ६.३, १०१.३, ३३३.७

सरवन<श्रवण=कान १३०.४

सरवन<श्रमण=एक पितृभक्त मुनि जिनका वध दशरथ के द्वारा हुआ था ३६२.६-९, ३६८. ३-६

सरवान=एक प्रकार का तम्बू ४९५.६

सरसुती<सरस्वती=सरस्वती कण्ठाभरण नामक अलंकार-ग्रंथ १०८.८

सरसुर=बाणासुर ३३.७

सरांदीप<सरन द्वीप २५.५

सरा<शर=चिता ९२.५, ५३१.६

सराग<शलाका १५४.७, २५३.५

सरागिनि<शराग्नि=सरकंडे की आग २००.३

सरि<सदृश्=सादृश्य १५.२, १७.३, ५३.९, १०२.७, १०३.१, १०७.९, ११६.१, १७१.१, २७२.६, ३३२.७, ३७४.८, ४३१.४, ४४०.८, ४६०.५, ४६१.४, ४६२.९, ४९३.६, ५९७.९, ५९९.२, ६४५.३

सरि<सरिअं<सृतम्=अलम्, सीमा २२.१, २२१.३, २६१.८

सरेख्<संलिख्=सत्यता आँकना, परखना ५६९.३

सरेख<सल्लेहिय<संलेखित=तपस्या आदि से जिसने अपने शरीर को क्षीण किया हो, ज्ञानी ८८.६, १२७.२, १३८.१, ३२३.१, ३४५.२, ३८०.५, ३९५.२, ४४७.४, ४५२.२, ५७५.२

सरौत<शिरोपट्ट ३०९.६

सलार<सालार [फ़ा०]=प्रधान नेता २२.३, ६३५.४

सलोन<स+लवण=लावण्ययुक्त ५०.२, ११२.६, २९९.५, ३१८.६, ४४३.२

सवति<सपत्नी ४३४.२

सवन<श्रवण=कान ८०.६, ४४५.१

सवेर<सवेला १५७.८

ससा<शशक=खरगोश ५४१.२

ससिअर<शशधर=चन्द्रमा २०२.७, २९३.३, ३०७.१, ६२५.८

सह=साथ ३२५.४

सहगवन<सहगमन=पति के शव के साथ जलना ६५१.१

सहदेउ<सहदेव=कुन्तीपुत्र ७९.७, ८१.५,

सहदेसी=अपने ही देश का वासी ३७१.१

सहलंगी<सहलग्नीय=साथ लगने वाला १३८.३

सहराव्=सहलाना १३२.५

सहाय=सहायक, सखी १८६.१, ५५२.२, ५५६.७

सहार<सहआर<सहकार=एक प्रकार का सुगंधित आम ३३६.८

सहिवाँरू<सम्भाल (?) १५०.३

सहुँ<सम्मुख ४७३.३

साईं<स्वामिन् ६५०.४

साउज<साउज्ज<श्वापद=जंगली जंतु २.५, १०४.९

सायर<सागर १५०.१, २२५.५, २५३.८, ५१०.६, ५१९.२, ६०९.५

साँकर<संकीर्ण १५६.३, ५८०.३

साँकर<सङ्कट ४२१.३

साँख<सांख्य=तत्व-चिन्तन ३७२.३

साँच=साँचा २६२.९

साँझ<सन्ध्या १११.५

साटी<सटा=चाबुक ४०७.५, ६४७.२,

साँठि<संठिइ<संस्थिति ३८.९, ७४.९, १२८.४, ३५६.३

साँथरी<स्रस्तरी=बिछौना १३९.२

साँध्<सं+धा=जोड़ना, लगाना, मिलाना, बाण को धनुष पर रखना ५५.४, ९०.७, १०४.१, १०९.२, ११३.५, १७६.६, २९८.३, ५५०.५, ५८४.२, ५८६.१, ६०६.४, ६४४.४

साँबर<शम्बल=पाथेय १२८.२, १४२.३ ४२१.३

साँस<संस<सांश=अंशों के साथ, समग्र रूप से १७४.६

साँस=छिद्र ५७८.२

साँसौ<संशय ४५६.३

साका<शाक=पराजय निश्चित समझ कर राजपूतों की लड़ मरने की प्रथा ७३.८, ५०३.७, ५३५.१, ६२९.१

साखी<साक्षिन् ६३.२, ८५.७, ८६.९, १०४.६, १३०.४, २४२.९, २७३.१, ४८२.९

साज्<सज्ज्<सृज्=निर्माण करना, बनाना ४४.२, ४८.१, ९५.५, ११३.२, १३८.४, १६४.३, २०५.१, २७४.७, ४८०.१

साज्<सज्ज्<सञ्ज्=आलिंगन करना ७९.१, १७६.९

साज्<सज्ज्<सस्ज्=तैयार करना ८७.१, २७७.१, ३०१.९, ४४९.४

साज<सज्ज=आडंबर १२३.४

साजा<सज्जिअ<सर्जित=निर्मित ४८.१

साजन<सजण<स्वजन ३०१.८, ३४३.८

साढ़ी<सढा<सटा=दूध के ऊपर की बालाई ४५९.३

साथ<सत्थ<सार्थ=व्यापारी-समूह, टोली ६४.३, ७५.८, ७८.८, ३६४.३, ४०१.८, ४०४.३, ६२७.२, ६३३.१, ६५३.७

साथी<सत्थिअ<सार्थिक=सार्थ का सदस्य १४४.७, १५८.३, २२१.४, २४२.१, ३३०.२, ४०१.८

सादूर<शार्दूल=शरभ ४१९.६, ४८७.५

साध<सद्धा<श्रद्धा=आकांक्षा, वाञ्छा १२३.८, १५३.६, १६१.३, २११.८, ६१९.९, ६४५.३

सान<शाण ३८.४, ६१९.५

सामुँह<सम्मुख ५७७.५, ६३१.७, ६३३.२,

सार्<सारय्=सिद्ध करना, चलाना, ले जाना, सरकाना ६.७, ३०९.६, ५१२.७, ५४२.८, ५५९.३, ६२७.२

सारँग<शाङ्र्ग=मृग ३२.३

सारँग<शार्ङ्ग=सींगों से बना हुआ धनुष ५६०.४

सार=फौलाद ५१२.४

सारदूर<शार्दूल=शरभ ४८९.२, ६३७.२, ५५५.६

सारस=पक्षि-विशेष ३४१.८, ४००.७, ५४१.३

सारि<शारि=चौसर की गोट ३८.६,

४४.५, ३१२.१, ३१३.१, ५५४.९

सारि<शारि=गज कवच ४९७.१, ५१४.३

सारी<साडिआ<शाटिका=साड़ी १८४.५

सारी<सारिका=मैना ४३५.७

सारौ<सारिक=मैना २९.२, ४३२.३

साल्<शल्यय्=शल्य की भाँति पीड़ा पहुँचाना २५५.८, ३४७.८, ६२८.६, ६४३.६

साल<सल्ल<शल्य २४७.९, २४८.७, ५८४.१, ६१६.६, ६४५.१

सास<शास=आदेश ४६.६

सासु<श्वश्रू ६०.७

सासुर=श्वसुर-गृह ६०.५

सावँकरन<श्यामकर्ण=अश्व-विशेष २६.४

साहि=साही, जन्तु-विशेष ५२४.५

सिअर<शीतल १९५.२, ३३५.७, ३३६.३, ३३७.८, ३४९.६

सिआला<शीतकाल ३४०.१

सिउँ<समम्=साथ १८८.९, १९४.१, २०३.३, २४३.४, २४६.६, २६९.१, २८२.८, २८६.३, ५१७.५, ५३६.८, ५५०.४, ६२३.४, ६३०.८, ६३३.४, ६३७.३, ६३९.८

सिंघिनी<शङ्खिनी ४६२.८, ४६४.१

सिंघोरी=सिन्दूर की डिब्बी २९०.३

सिकरी<श्रृंखला ९९.७

सिखरन<श्रीखण्ड (?)=दही और चीनी का घोल ५५०.४

सिखावन<सिक्खावण<शिक्षण=सीख ७५.३

सिगरी<सगल<सकल १५.३

सिंगनाद<श्रृङ्गनाद १३६.१

सिंगार<श्रृङ्गार=शोभा, सजावट ९९.१

सिंगारहार=पुष्प-विशेष ३७७.३

सिंगी<श्रृङ्ग=सींग का बाजा १२६.४, १३४.१, ३६१.४, ६०६.३

सिंगी=मत्स्य-विशेष ५४२.३

सिंघल<सिंहल=द्वीप-विशेष २५.१

सिंघेला=सिंह-शावक ६१४.३

सिदिक<सिद्क़ [अ०]=सत्यनिष्ठा १२.२

सिद्दीक<सिद्दीक़ [अ०]=सत्यनिष्ठ १२.२

सिधाय्<सिध्=जाना २२७.७

सिधार्<सिध्=जाना २४८.४

सिरजनहार<सर्जन-कारिन्=निर्माता ४०७.१

सिराय्<शीतलाय्=शीतल होना ३३०.८

सिराय्<सिर्<सृज्=छोड़ कर जाना, बीतना ३५७.२, ५७४.३

सिराव्<शीतलय्=शीतल करना ३५९.२ ५४७.६

सिरी<श्री=बिंदिया, मस्तक का एक आभरण २९७.५, ४७२.७

सिरी<श्री=हाथियों का सिर का कवच ५१३.५, ५१४.४

सिरी पंचमी<श्री पञ्चमी १८३.१

सिलंध=मत्स्य-विशेष ५४२.२

सिलार=पक्षि-विशेष ५४१.६

सीउ<शिव=शिवत्व (कल्याण) की भावना १४२.१, ३२४.६

सीउ<सीउ<शीत १.७, २५५.२, २५९.२, ३२४.४, ३३९.१, ३४९.३, ३५२.१, ४१८.७, ५६५.४, ५६६.३

सींच्<सिच्=सींचना, छिड़कना ३४२.६

सीझ्<सिज्झ्<सिध्=निष्पन्न होना, पकना ११४.८, ११७.४, २११.५, ५४४.१, ५४५.२, ५४८.१, ५५२.१

सीप<सुत्ति<शुक्ति २.३, ६४.५, ११०.१, १३९.९, १७१.९, २१५.८, २३४.४, ३१०.२, ३१७.९, ३६०.५, ५६२.१

सीपी<सुत्ति<शुक्ति ७९.३, ४७९.१

सीस<शीर्ष=स्तबक १११.१

सीसा<सीस=धातु-विशेष ८९.६

सुआ<शुक २९.२, ५४.५
सुकुवार<सुकुमार ४६६.७
सुखदेउ<शुकदेव ६०४.५
सुखबास=सुखनिवास २२६.३, २९१.१ ३३५.४, ३३७.५
सुखमन<सुषुम्णा=मध्य की नाड़ी २३५.३
सुखासन=एक प्रकार की पालकी गाड़ी ६१२.२
सुखिर<सुषिर=वाद्य-विशेष ५२७.७
सुजान<सुज्ञान=सयाना ५६.६
सुठि∧सुट्ठु<सुष्ठु ७४.६
सुदरसन<सुदर्शन=पुष्प-विशेष ३७७.४
सुदैवच्छ=एक प्रेम कथा का नायक २३३.४
सुद्ध<शुद्ध=सुधि या चेत में आया हुआ ३०४.१
सुधि<शुद्धि=स्मृति, चेतना १९९.१, ४००.३
सुनरास=एक प्रकार का पान ३०९.२
सुन्नि<शून्य २३५.३
सुपारी<शूर्पारिका ३०८.८, ५०१.९
सुभर=भली भाँति भरा हुआ १०३.८, १७४.६, २९६.९, ४३०.८, ४६६.५
सुमर<स्मृ ३०५.२
सुमेरु=माला के बीच की मणि १७४.५
सुरुज-गरह=जन्मपत्री में सूर्य का अनिष्ट-कारी ग्रह होना ४५०.३
सुरखुरू<सुर्खरू [फ़ा०]=तेजस्वी, कांतिवान् २०.२
सुर मंडल < स्वर-मण्डल=वाद्य-विशेष ५२७.३
सुलक्खन<सुलक्षण २३६.८
सुलग्=[आग का] भली-भाँति लगना (जलना) ३४९.६
सुलग<सुलग्ग<सुलग्न=अच्छी तरह से लगा हुआ १८०.७
सुलगाव्=[आग को] भलीभाँति उदीप्त करना १२५.६
सुलेमाँ<सुलेमान=प्रसिद्ध यहूदी बादशाह ४९४.३, ५७७.१
सुसार=सुरस २८३.१, ४०३.५, ५४०.९
सुस्ताय्=स्वस्थ होना, विश्राम करना ५७४.३
सुहाग<सोहाग<सौभाग्य=विवाह का गीत २७५.४
सुहेल [अ०]=अगस्त तारा (?) १७५.९
सूँड=हाथियों के सूँड का कवच ५१४.४
सूक<शुक्र १०५.२
सूझा<सुज्झ<शुद्ध १०९.५
सूध<शुद्ध=सीधा ८८.४, ४२२.३, ४७४.६
सून<शून्य १२१.५, २९४.३, ३६५.१, ३६९.२, ६०२.९
सूर<सूर्य ४१.१, ४९०.५
सूर<शूर=योद्धा ४९०.६
सूरुज क्रांत<सूर्यकान्त ४६८.८, ४८१.६
सेई<सेवित ५३४.३
सेंती<सइं<समम्=साथ, से ३८८.२ ३९७.५
सेंदूर्<सिन्दूरय्=सिन्दूरित करना ३३२.२
सेंदूर<सिन्दूर १००.१
सेंध<संधि=छिद्र, विवर १२४.७, २१४.६, २१५.७, २१७.४, २३८.९, २३९.१, २६५.२
सेंवर<शाल्मली ९२.१, २०२.३, ५९४.५
सेज<शय्या ८०.४
सेत<श्वेत २.६, ४५.३, ९७.३, ११९.६, ३००.५, ३४४.२, ४२८.४, ४४३.४, ५१४.२, ५३९.५, ५९८.७
सेत<श्वेत=पर्वत-विशेष ४२६.९, ४९८.८
सेनि<श्रेणि=अग्रभाग ५९७.८
सेल<शल्य=एक प्रकार का बर्छा ५१७.५, ६१३.७
सेवती<शतपत्रिका=पुष्प-विशेष ३७७.२

सेवरा<सेवडअ<श्वेत पट+क=श्वेतांबर साधु ३०.८

सेवाती<स्वाति १३९.९, १७१.९, ४१४.९, ४४९.८

सैं<सइं<स्वयं ६४.३, ८६.९, १०८.९, १३१.३, १३४.३, २८९.३, ४९२.२, ५३९.१, ६४४.५

सैंत्=संचित करना ३८७.७, ३८९.६, ४११.५, ४५९.४

सैचान<सञ्चान=एक जाति का बाज़ ३५०.७, ४८७.७

सोआ<सुप्त ३५३.७ ?

सोंटिआ<सोंटाबरदार, वैत्रिक १२८.१, २६६.४

सोंध<सुगन्ध<८४.८

सोंध=सुगन्धित ५४५.३

सोंधा<सुगन्धक=सुगंधयुक्त पदार्थ ३९.२, २९०.८

सोझ=सीध में ५४०.७

सोत<स्रोत=रोमकूप १०४.७, १३०.५, १७४.३, २१३.९, २२८.१, २६२.६, ४७३.८, ५३६.५

सोती<स्रोत=जल की धारा १००.६, ३७४.६

सोन<शोण=सोनभद्र ५९९.४

सोन<स्वर्ण=सोना ३५७.३

सोनहा<श्वान ४१९.५, ४८७.६

सोनार<स्वर्णकार ८९.७, ३५७.३

सोवन<सोअण<स्वपन=शयन ७८.४

सोवनार<शयनागार २९०.१, २९१.१, ३३६.५

सोहर<फूलना, खुल पड़ना ४७०.२

सोहाग=सौभाग्य ८९.२, ९०.३, ३१७.४, ३५७.३

सोहाय्<शोभय्=शोभित होना ३३५.१

सोहारी=घी में कढ़ी हुई सादी पूरी २८४.३, ५४३.७

सोहावा<सुहावय<सुखायक=सुखजनक ७६.१, १५८.२, ३३७.१

सोहिल<सुहेल [अ०] =अगस्त तारा (?) ४७५.५, ४७५.६, ६२९.३

सौं<सउंह<सम्मुख ३२.७, १०२.१, १०४.३, २१७.६

सौं<समम्=साथ, से ३७.९, ७६.४, ७९.८, ९४.८, १७४.५

सौंप्<समप्प्<सम्+अर्पय् ६८.५

सौंह<सउँह<सम्मुख १६.६, ११४.७, १५३.४, १६१.८, २४२.७, २७१.२, २७९.२, ३८१.९, ४२७.२, ४४४.५, ४७५.२, ४९५.५, ५२०.१, ५२१.७, ५२९.१, ५२९.३, ५६८.५, ६३४.७

सौर<सउड=चादर ३३५.४, ३४०.२, ३५०.४

स्याम<शाम=सीरिया ४८५.५

स्यामि<स्वामिन् ३१७,४, ४३७.२, ४६४.८, ५१८.८, ५७५.९, ५९२.७, ५९७.८, ६१०.४, ६१४.७, ६१८.२, ६३१.९

हँकार<हक्कार<आ+कारय्=पुकारना ७२.३, ८५.४, ९७.९, १८२.३

हंडा<भाण्ड=एक प्रकार का बड़ा बर्त्तन ५४५.७

हँथौड़ा<हस्त+कटक=हाथ का कड़ा ३७.३

हड़ावरि<हड्ड+आवलि<अस्थि+आवलि =अस्थि माला २०७.२

हथोरी<हस्तपुटी ११२.२, ४८२.३

हनिवँत<हनुमत् १२०.५, ६११.७, ६१४.७

हमजा<हमज़ा=एक प्रसिद्ध वीर ६३५.२

हमीर=प्रसिद्ध राजपूत वीर ५३४.५

हर<गृह=घर ३७८.९

हरि = बन्दर ८६.७

हरिअ < हरित = सब्जा घोड़ा ४६.३

हरिअर < हरिअ+डा < हरित=हरा २७.५, ९३.९, ३३६.९, ३३७.४, ४२४.५

हरी < हृता = वंचिता १११.२

हरुव < हलुअ < लघुक १५७.३, ३५१.८, ५९९.४

हरेउ < हिरात, हिरात का निवासी ४९८.२, ५३२.५, ५७७.३

हस्ति < अस्ति [सं०]=अस्तित्व २२१.५, २४५.६

हस्ति < हस्त = वर्षा का नक्षत्र-विशेष ३४७.३, ६१०.५

हहर् । हहल् 'हा' 'हा' करना ३४२.४, ३५१.२

हाँक् < हक्क [दे०]=प्रेरणा करना, पुकार लगाना १९६.१, ६२९.१

हाँक < हक्का [दे०] = पुकार १३६.६ ३४२.८

हाँडी < भाण्डिका ५४५.४

हाँसुल = मेंहदी के रंग का घोड़ा ४६.२

हाट < हट्ट = बाज़ार ३७.१, ७४.५, ७५.२

हाड़ < हड्ड < अस्थि २३०.४, ३५०.८, ३५५.७, ३९४.४, ३९५.९, ४६८.७

हाड़ी < हड्ड < अस्थि ५०३.५

हारिल = पक्षि-विशेष ३५८.३, ५४१.५

हाल = चौगान की खेल में जीत ६२८.१

हिअ < हृदय ५६.७ ८२.५

हिअरा < हृदय ३५०.३

हिआउ = पौरुष १५८.९, १६३.४

हिंडोर < हिन्दोल = झूला ७१.१, १०३.७, ३३७.७, ३४५.४

हिरक = हिलगना, पास आना ३३७.८, ४४२.९, ४७५.९

हिरकाव् = हिलगाना, शरीर से सटाना, पास लाना १०५.५

हिरवानी < हीरक + वर्णिन् = फौलाद की ६३०.३

हिलोर < हिल्लोल ६१.८, १०३.४, ११९.३, १४७.५, १५५.२, २८९.६ ५९६.६

हिवंचल < हिमाञ्चल ३५४.२

हुड़ुक = वाद्य-विशेष ५२७.६

हुलस् < उल्लस् = हर्षित होना ५५.६, ६२.२, ११३.४, २८०.२

हुलास < उल्लास २९.१, ३३.६, १५८.२, १८३.२, २२६.३, २७९.२, ३५२.४, ४२४.२, ६३८.२

हूल = त्वरा, शीघ्रता २१७.२

हेतिम < हातिम = यमन का एक प्रसिद्ध दानी १७.२, १४५.७

हेम = हेमकूट ४२६.९, ४९८.८

हेर् [दे०] = देखना, खोजना ६४.७, ७४.६, ८४.१, १०४.३, १२४.२, १६१.८, ४१६.५

हेराय् = गुम होना १२४.२

हेराब् [दे०]=खोजवाना, ढुँढ़वाना ६४.७

हेवँ < हिम २.१

हेवंत < हेमन्त ३४०.१, ३५९.८

हैंगुरि = चौगान की लकड़ी ४८३.६

होनी = दिनचर्या ९४.७

होम < हवन १६४.७

हौंसर < हौसल: [फ़ा०] = उमंग, अरमान १७५.२

शुद्धि-पत्र

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३.४	जीम्	जीभ
३०.८	बानपस्ती	बानपरस्ती
५६.२	सनाव	सुनाव
६२.७	क्रँवल	कँवल
६३.७	बेमा	पेमा
६३.८	ररेम	परेम
६६.७		बढ़ाइए:––
	पाहन महँ न पतंग बिसारा।	
	जहँ तोहिं सँवर दीन्ह तुइँ चारा।	
७१.१	मरब	गरब
७७.९	धुँध	धुंध
८६.९	सै	सैं
९७.२	बहु	वहु
१०७.१	श्याम	स्याम
१०९.१	किर	किए
११५.२	बाग	नाग
११६.१	बाहूँ	काहूँ
११६.२	झींना	झीनी
११७.६	झोंका	झोंपा
११७.८	बासन	बासना
१२३.१	समुझय	समुझहु
१३१.१	बनबासू	दीन्ह बनबासू
१४६.८	जीवन के	जीवन कै
१७७.४	जाइ	न जाइ
१७८.६	मेढ़	मढ़
१८३.१	क	कै
१८९.५	सिबाईं	सिधाईं
१९०.५	भूलें	भूले
२०६.५	तुम्हारे	तुम्हरे
२१०.९	देउ	देउँ

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२१.९	जेउ, करे	जेउँ करै
२२२.३	के	कै
२२२.५	मारे	मारै
२२२.८	देदु	देहु
२२३.९	कहुँ	केहुँ
२२५.६	लिखि	लिखी
२२६.२	कँवलि	कँवल
२२६.६	ओ	औ
२२७.४	पनि	पानि
२२७.६	दरस	दरसन
२२७.८	रमा	रहा
२२८.९	फिर	फिरि
२२९.८	सौ	सो
२३०.८	मसम	भसम
२३०.९	साहि	ताहि
२३२.१	पुति	पुनि
२३५.६	मरि	भरि
२३५.९	झारें	झारैं
२३९.१	ज़गि	जोगि
२४५.९	करें	करैं
२४६.२	मिले	मिलै
२४६.३	धरौ	धरौं
२४७.१	रोवें	रोवैं
२५७.९	सिद्ध	सिद्धि
२६५.३	किसुन	किरसुन
२७२.६	राजि	राज
२७४.५	सगर	सरग
२७८.४	लेखा	खेला
२८६.९	तत	तेत
२९३.४	जागू	जोगी

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९८.२	दरस	सरद
३०७.५	महादेवा	महादेव
३१२.७	खेलौ	खेलौं
३१५.९	आकौं	आफौं
३१७.२	मुनिहारी	मनुहारी
३२३.२	कूल	फूल
३२९.१	पटवन्ह	पटुवन्ह
३३६.४	चरिच	चरचि
३३८.२	उर	उए
३३८.७	जारी	जोरी
३४२.४	हार	हारि
३४९.३	जानवा	जनावा
३९०.२	अँधियरा	अँधियारा
३९६.७	मए	भए
३९७.३	सहै	सहे
४०२.७	बार	बर
४०८.५	मरे	मरै
४४०.७	भाँखा	माँखा
४४९.९	आअ	आस
४५३.७	का	ना
४५७.७	झूराहिं	झुराहिं
४६१.७	देखबसि	देखसि
४७३.१	स्माम	स्याम
४७४.७	चलसिं	चलहिं
४९४.९	जरैं	जरै
५०४.३	धरी	धरीं
५०८.६	श्यामु	स्यामु
५१९.१	अधाऊ	अघाऊ
५२१.१	सूरज	सूरुज
५३१.८	घेवर	घेवरे
५३७.५	बिधु	बिनु
५४५.१	सिरमल	निरमल
५५६.६	बैठि	बैठ
५६५.४	तहैं	रहैं
५६५.८	सिमिर	तिमिर

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९२.२	आछरि	आछहि
६०८.५	के	कै
६११.३	मालकँडेऊ	माल कँदेऊ
६१४.६	सँकरे	सँकरै
६१८.३	न छूटिन	छूटि न
६३५.६	सिध	सिघ
६४३.१	परे	परी
	अर्थ	
४०.५	उसमें के	उसके
४६.७	भागते थे	भाँजते थे
५५.३	(आबेठी)	[आ बैठी]
६९.८	[व्याध उसका]	[उस व्याध का]
६९.९	उसके कहाँ पंखे	उसके पंखे
७१.२	बैर	बैरी
९०.६	(पेड़)	(प्रेम)
९१.९	[क्योंकि] जो	[क्योंकि]
९३.४	द्वादस	द्वादश
९३.७	मैं मुट्ठी भर	मुट्ठी भर
१००.८	पदातित	प्रवाहित
१०३.३	उलय	उलथ
१०३.६	भँवर-चक्रा	भँवर-चक्र
१०६.२	दुपरिये के	दुपहरिए के
१०६.४	[डाल]	[लाल]
१०६.५	भी रक्खा है	भर रक्खा है
१०६.५	हैं [अस्पष्ट]	(अस्पृष्ट) हैं
१०८.२	वह उस रसना	वह रसना
१०८.८	कण्ठाभरण (अलंकार), सरस्वती	सरस्वती-कंठाभरण,
११०.५	बहने हुए	पहने हुए
११५.५	कला करके	कृष्ण कला करके
११६.२	(बई)	(बर्र)
११६.९	जौर	और
१३५.३	गूँथे मालिन	मालिन गूँथे
१४६.५	उसके साथ	उसके साथी

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६.६	शवि लोक	शिव लोक	२९७.५	(पहिना)	(पहिनी)
१५५.२	जाता [रहा	जाता रहा]	३०४.९	कुछ-कुछ	कुछ
१६३.८	[पहुँचाने का]पर	[पहुँचने का]	३०९.२	–पाद-मूल–	(पाद-मूल)
१७१.७	जब सूर्य को	सूर्य को	३१०.१	योगियों को	"योगियों को"
१७२.३	भला भाँति	भली भाँति	३११.६	इसलिए [मैं	[इसलिए मैं
१७७.५	[तुझ]में सोने	[तुझ] सोने में	३१३.४	भार	मार
१९१.८	ही मानता	की मानता	३१४.३	(महादेव) के	[महादेव के]
२०१.९	(समाप्त)	(समाप्ति)	३१७.७	गुहयांग	गुह्यांग
२०४.३	अपने पाप	अपने आप	३१८.२	श्रृंगार] वह	श्रृंगार] था, वह
२०६.९	रो सके	रोक सके			
२०९.५	शव (समाचार)	शब्द (समाचार)	३१८.५	मोटी	मोती
२१६.१	दशम्	दशम	३२६.५	अति (प्रिय)	अलि (प्रिय)
२२४.५	[कन्तिु]	[किन्तु]	३३५.८	ऐसा तो	ऐसा वसंत तो
२३५.६	हीरामणि	हीरामणि ने	३३७.५	दंपति ऊँचे	दंपति
२३६.१	पाया	पाई	३४०.१	शीतकाल	शीतकाल का
२३८.५	यदि मच्छ	यदि मच्छ हो	३४२.१	वियोग	वियोग में
२४०.९	उसका	उन पर	३४२.७	[निकले] जा रहे हैं,	[निकले] जा रहे हैं, उन्हें कौन रक्खेगा ?
२४५.९	[मैं]	[यह]			
२४८.३	[किसी को] विरह	विरह			
			३५०.६	विमुक्ता	वियुक्ता
२४९.७	बेकार	बेक़रार	३६६.८	आँखे	दोनों आँखें
२५०.३	सभी के	सभी को	३७४.२	यदि, हे गोस्वामी	हे गोस्वामी,
२५७.२	पड़ता	न पड़ता			
२६१.५	(-ऋण)	स्नेह [-ऋण]	३७८.१	गाने की	गौने की
२७६.१	जिसमें	जिनमें	३७८.१	धक् से	धक्क सा
२८०.१	(प्रेम) को	(प्रेमी) को	३८७.१	भी गए	भर गए
२८९.५	सबके सब दर्पण हों	दर्पण हो	३९१.६	क्षेत्र	क्षेम
			३९२.२	पथ-प्रदर्शन	पथ-प्रदर्शक
२९०.४	अंग में स्वामिनी के	[स्वामिनी] के अंग में	३९५.३	(पतिंगा)	(पतिंगी)
			४०१.५	[दय-निवासी]	[हृदय-निवासी]
२९२.३	अपटने	उपटन			
२९४.४	बुद्ध पारद	बद्ध पारद	४१२.४	होगी	कहाँ होगी
२९५.८	करके	कर	४१२.४	कहाँ इस प्रकार	(५) अब कहाँ इस प्रकार
२९७.२	देखने के लिए	न देखने के लिए	४२४.४	पटने की	घटने की

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२४.५	यातो	मानो
४२५.५	पोखरे	पोखर
४२६.४	छिप	धिक
४२८.५	रहा	रही
४३०.३	उसके	उसने
४३०.३	निर्मल	जैसे निर्मल
४३२.१	फलों से फल	फूलों से फूल
४३६.६	कशकों	मशकों
४३८.५	भुजदल	भुजइल
४३९.३	कमल की पंखुड़ियों	कमल के पत्तों
४३९.५	न हँस-हँस कर	तू हँस-हँस कर
४४०.३	जल-भरती	जल-मरती
४४०.८	करनी हूँ	करती हूँ
४४२.२	मैं	मैं ने
४४५.८	यमुना और	और यमुना
४५०.३	परास्त	पराभूत
४५५.३	वर्जित	वर्णित
४५६.८	की आभा न	का आभास
४५७.१	और	और जाते जाते
४६१.२	(जिसे)	(जिससे)
४६१.८	खंडणों	खंडों
४६४.५	विष	विस
४६८.१	कुन्द	कुन्दन
४६९.९	मुँह फेर रक्खा	हार मान चुका
४७५.३	नासिका के	नासिका ने
४७७.९	वही वह	वही
४७८.५	भी	भर
४७९.३	बेकलते	वे कलते
४८१.३	ऊँचा	ऊँची
४८१.५	तीन	तिर्यक्
४८७.६	नग है	नग
४८७.८	(रत्नसेन) उसने	उस (रत्न-सेन) ने
४९६.३	फुरंग	कुरंग

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९६.६	प्रकांक्षित	प्रशंसित
४९८.५	[भूमि को]	[युद्ध-भूमि को]
५००.२	नखल	नरवर
५००.३	चोपानेर	चाँपानेर
५००.५	कालिंजल	कालिंजर
५११.४	रही हैं	रही थीं
५११.४	रहे हैं	रहे थे
५११.९	ताल तालाबों	ताल-तालाबों और गढ़
५१२.७	छाया [बार-बार] में	छाया में [बार बार]
५१३.५	(चौंरी) चामर [की डोरी]	चामर [की डोरी]
५१७.६	गजेंद्र	गजेन्द्रों
५१९.९	था	या
५२१.४	सर्ग	स्वर्ग
५२७.१	[नृत्य] का	[नृत्य का]
५२८.६	अपनी धनुषें	अपने धनुष
५३२.२	आकर	आते समय
५३५.७	(प्रिय पति)	प्रिय (पति)
५३९.१	[बसीठों]	[बसीठों ने]
५४१.६	पिछे	पिद्दे
५४४.८	ऐसे	ऐसी
५४६.५	भर्ज्य	भ्रज्ज्य
५५१.९	[की भाँति] का-सा	का-सा
५५२.८	जहाँ	जिनसे
५५३.५	भर्ज्य	भ्रज्ज्य
५५४.३	गढ़	मढ़
५५५.७	[प्रकार थे]	[प्रकार के]
५६४.६	कटोरे	करोरे
५६८.५	उसे	उससे
५६९.४	स्वर्ग	स्वर्ण
५७६.६	मनो	मानो

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८९.३	काले मुख की नेत्र	नेत्र काले मुख की
५९४.८	निकलने समय	निकलते समय
६००.२	यती	योगी, यती
६०१.३	तपस्था	तपस्या
६०४.५	योग	भोग
६०८.५	लाल (५)	(५)
६१३.५	घटा	घन घटा
६१५.४	चुके थी	चुके हों
६१६.७	साथ मैं भी] रस वहन करूँ	[घाव को ओषधि] रस से धो दूँ
६२०.३	जिसे	जो
६२१.५	आँच	आँट
६२१.७	तुर्कों ने	तुर्कों ने राजा से
६२२.७	कौन	और कौन
६२९.५	रह सकता	रह सका
६३७.६	किया। उसने	किया कि उसने
६४०.४	तुम्हारे चरण-रज	तुम्हारी चरण-रज
	टिप्पणी	
३३.६	कुरुल (दे दे	कुरुल्[दे०]=
८५.३	'अँकरू' का सुझाव	'अँकूरू' का सुझाव

छंद पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९४.४	दया :	यथा :
१००.७	द्वादश<करपत्र	<करपत्र
१००.८	दुअररस	दुआदस< द्वादश
१०५.३	[बिख<बाँधी, बन्धकी< विष=बंधित	बिख बाँधी <विष-बन्धित
१४८.९	मारिकत	मारिफ़त
२९३.५	९६०८–९	९६.८–९
३१५.९	आघ्	आफ्
३२०.९	पेय	प्रेम
३२९.६	जिसके	जिसकी
३७६.९	इस छंद .... किया है	[इस टिप्पणी को बाद के छंद के साथ पढ़ना चाहिए]
४०४.५	घार	धाह
४८३.९	करदबाना	करद बनाना
५१५.३	पृ० ३.५	५०३.५
५२३.४	भुंजनीक	मुंजनीक
५२७.७	=वतंत, वितंत शिखर, धनतार	<तत, वितत सुषिर, घन-ताल
५३८.९	में हबीब	प्रो० हबीब